ब्रिटिशकालीन भारत
का
इतिहास

[British Rule in India]

विद्याधर महाजन
आर० आर० सेठी

A. No. 1245

ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास

1245

ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास

[BRITISH RULE IN INDIA]

लेखक

विद्याधर महाजन

एम० ए० (आनर्ज़), पी-एच० डी०

प्राध्यापक, इतिहास विभाग,

पंजाब युनिवर्सिटी कैंप कालेज, नई दिल्ली

तथा

आर० आर० सेठी

एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष, इतिहास विभाग,

तथा प्रिंसिपल, पंजाब यूनिवर्सिटी कैंप कालेज, नई दिल्ली

१९६०

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

दिल्ली — जालन्धर — लखनऊ

By the Same Authors

Mughal Rule in India	6·50
मुग़लकालीन भारत का इतिहास	6·00
British Rule in India and After	9·00
India Since 1526 (Including Mughal Rule in India)	14·00
भारत का इतिहास (१५२६ से आगे)	15·00
पी० ई० राबर्ट्स— ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास	8·50

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
आसफ़अली रोड नई दिल्ली
फव्वारा दिल्ली
लाल बाग लखनऊ
माईहीरां गेट जालन्धर

मूल्य १०·००

ौरीशंकर शर्मा, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, फव्वारा दिल्ली द्वारा प्रकाशित एवं
श्यामकुमार गर्ग द्वारा हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

दूसरे संस्करण की प्रस्तावना

यह हर्ष की बात है कि थोड़े ही समय में इस पुस्तक का पहला संस्करण हाथों-हाथ बिक गया। मैं विद्यार्थियों का इस उत्साह के लिये बहुत आभारी हूँ। इस पुस्तक को उपयोगी बनाने के लिये मैंने बहुत प्रयत्न किया है। इसमें कई स्थानों पर नई चीज़ें दी गई हैं जो कि पहले संस्करण में न थीं। मैं आशा करता हूँ कि पाठकगण इस पुस्तक को पहली पुस्तक से सब प्रकार से अधिक लाभदायक पायेंगे।

III / M 10,
लाजपतनगर, नई दिल्ली
२५-१०-५६

विद्याधर महाजन

विषय-सूची (Contents)

पृष्ठ

अध्याय १ भारत में यूरोपीय जातियों का आगमन
(Advent of Europeans in India) १–१०
(क) भारत में पुर्तगाली १
(ख) अल्बुकर्क ३
(ख) भारत में पुर्तगाली साम्राज्य की असफलता के कारण ... ६
(ग) भारत में डच ८
(घ) भारत में डैनमार्क वासी ९

अध्याय २ अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना तथा विकास
(Rise and Growth of English East India Company) ११–१६
(क) अंग्रेजी कम्पनी की स्थापना तथा विकास ... १२
(ग) फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी १५

अध्याय ३ दक्षिण में प्रभुत्व के लिए अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों का संघर्ष
(Anglo-French Struggle for Supremacy in the Deccan) १७–२९
(क) कर्नाटक का प्रथम युद्ध १७–९
(ख) हैदराबाद राज्य का उत्थान १९–२०
(ग) कर्नाटक का दूसरा युद्ध २०–१
(घ) कर्नाटक का तीसरा युद्ध २१–२
(ङ) अंग्रेजों की सफलता के कारण २२–५
(च) डूप्ले का मूल्यांकन २५–९

अध्याय ४ बंगाल में अंग्रेज (The English in Bengal) ३०–५८
(क) ब्लैकहोल ३०
(ख) प्लासी का युद्ध ३२
(ग) मीर जाफ़र ३३–६
(घ) मीर कासिम ३६–४३
(ङ) क्लाइव का दूसरी बार गवर्नर के रूप में बंगाल में आना ४३–६
(च) बंगाल का द्वैध शासन (Dual Government of Bengal) ४६–५१
(छ) क्लाइव की विदेश नीति ५१–४
(ज) क्लाइव का मूल्यांकन ५४–६

अध्याय ५ वारेन हेस्टिंग्ज (Warren Hastings) ५६–७५
(क) वारेन हेस्टिंग्ज़ के सुधार ५६–६२
(ख) वारेन हेस्टिंग्ज की अवध नीति ६२

पृष्ठ

(ग) रुहेलों का युद्ध ६२
(घ) नन्दकुमार का मुकदमा ६३
(ङ) चेतसिंह का मामला ६४
(च) अवध की बेगमें ६४
(छ) रैगुलेटिंग ऐक्ट तथा कौंसिल ६५
(ज) वारेन हेस्टिंग्ज़ तथा उच्चतम न्यायालय ६६
(झ) वारेन हेस्टिंग्ज़ की विदेश नीति, प्रथम मराठा युद्ध ... ६८–७०
(ञ) द्वितीय मैसूर युद्ध ७०
(ट) वारेन हेस्टिंग्ज़ का मूल्यांकन (Estimate) ... ७१–४
(ठ) सर जान मैकफ़र्सन ७४

अध्याय ६ **लार्ड कार्नवालिस तथा सर जान शोर**
(Lord Cornwallis and Sir John Shore) ७६–९०

(क) कार्नवालिस की विदेश नीति ७६–७७
(ख) कार्नवालिस के सुधार (Reforms) ७७–८५
    (i) सार्वजनिक सेवाओं में सुधार ७७
    (ii) न्यायिक सुधार ७८
    (iii) पुलिस सुधार ८१
    (iv) बंगाल की स्थायी भूमि-व्यवस्था ...
    (Parmanent Settlement of Bengal) ... ८१–५
(ग) कार्नवालिस ने हेस्टिंग्ज़ के कार्य को पूरा किया ... ८५–८
(घ) सर जान शोर ८८–८९

अध्याय ७ **लार्ड वैल्ज़ली (Lord Wellesley)** ९१–१०५

(क) १७९८ में भारत की अवस्था ९१–२
(ख) सहायक प्रणाली (Subsidiary System) ... ९२–४
(ग) मैसूर का चौथा युद्ध ९४–५
(घ) टीपू का चरित्र ९५–६
(ङ) तंजौर, सूरत और कर्नाटक ९६
(च) अवध ९६–९७
(छ) फ्रांसीसी खतरे के विरुद्ध कार्रवाई ९७
(ज) मराठों का दूसरा युद्ध ९७–८
(झ) होल्कर के साथ युद्ध ९८
(ञ) वैल्ज़ली का मूल्यांकन ९८–१०२
(ट) लार्ड कार्नवालिस १०२
(ठ) सर जार्ज बार्लो १०२–३
(ड) लार्ड मिण्टो १०३–४

पृष्ठ

अध्याय ८ लार्ड हेस्टिंग्ज़ तथा एमहर्स्ट
(Lord Hastings and Amherst) **१०६–१५**
(क) लार्ड हेस्टिंग्ज़ … … १०६
(ख) नेपाल के साथ युद्ध … … १०६–७
(ग) पिण्डारियों के साथ युद्ध … … १०७–८
(घ) तीसरा मराठा युद्ध … … १०८–९
(ङ) आन्तरिक सुधार—कानूनी (न्याय सम्वन्धी) … ११०–११
(च) माल विभाग के सुधार … … १११
(छ) शिक्षा … … १११
(ज) समाचारपत्र … … १११
(झ) मूल्यांकन … … ११२–३
(ञ) जान ऐडम्ज़ … … ११३
(ट) लार्ड एमहर्स्ट … … ११३
(ठ) वर्मा का प्रथम युद्ध … … ११३–१४
(ड) भरतपुर पर अधिकार … … ११४–१५
अध्याय ९ पेशवाओं का उत्थान और पतन
(Rise and Fall of the Peshwas) **११६–१४६**
(क) वालाजी विश्वनाथ … … ११६–२०
(ख) वाजीराव … … १२०–२४
(ग) वालाजी वाजीराव … … १२४
(घ) पानीपत का तृतीय युद्ध … … १२४–२६
(ङ) पानीपत के युद्ध में मराठों की पराजय के कारण … १२६–२९
(च) माधवराव … … १२९–३१
(छ) नारायणराव … … १३१–३२
(ज) मांधवराव नारायण … … १३२
(झ) वाजीराव द्वितीय … … १३२
(ञ) महादजी सिन्धिया … … १३२–३५
(ट) नाना फड़नवीस … … १३६
(ठ) पेशवाओं के समय मराठों की शासन-प्रणाली … १३७–४१
  (i) हज़ूर दफ्तर … … १३७
  (ii) ग्राम … … १३७–३८
  (iii) न्याय-व्यवस्था … … १३८–३९
  (iv) पुलिस-व्यवस्था … … १३९
  (v) सेना … … १३९–४०
  (vi) राजस्व के स्रोत … … १४०–४१
(ड) मराठों के पतन के कारण … … १४१–४६

पृष्ठ
अध्याय १० **बैंण्टिक से आकलैंड तक** (Bentinck to Auckland) १४७–६०
(क) वित्तीय सुधार … … १४७–५०
(ख) प्रशासनीय सुधार … … १५०
(ग) शिक्षा सम्बन्धी सुधार … … १५०–५१
(घ) सामाजिक सुधार … … १५१–५५
(ङ) सार्वजनिक कार्यों में सुधार … … १५५
(च) भारतीय रियासतों के साथ सम्बन्ध … … १५५–५६
(छ) १८३३ का चार्टर एक्ट … … १५६
(ज) बैंण्टिक का मूल्यांकन … … १५६–७
(झ) सर चार्ल्स मैटकाफ … … १५७
(ञ) लार्ड आकलैण्ड … … १५७–८
(ट) भारतीय रियासतों के साथ सम्बन्ध … … १५८
(ठ) लार्ड आकलैंड का मूल्यांकन (Estimate) … १५८–९
अध्याय ११ **एलनबरा तथा हार्डिंग** (Ellenborough and Hardinge) १६१–६७
(क) सिन्ध का अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना … १६१–६५
(ख) ग्वालियर से युद्ध … … १६५
(ग) एलनबरा का वापिस बुलाया जाना … … १६५–६
(घ) लार्ड हार्डिंग … … १६६
अध्याय १२ **महाराजा रणजीतसिंह तथा उसके उत्तराधिकारी** (Maharaja Ranjit Singh and his Successors) १६८–९२
(क) अंग्रेजों तथा सिक्खों के सम्बन्ध … … १६९–७२
(ख) रणजीतसिंह की नागरिक व्यवस्था … … १७२–७६
    (i) दफ़्तरे आबवाबिलमाल … … १७२
    (ii) नज़राना … … १७२–३
    (iii) ज़ब्ती … … १७३
    (iv) आबकारी … … १७३
    (v) वजूहाते-मुकर्ररी … … १७३
    (vi) चौकियात … … १७३
    (vii) भू-राजस्व प्रणाली … … १७३–४
    (viii) दफ़्तरे-आबवाबिल-तहवील … … १७४–७५
    (ix) दफ़्तरे-तौभियात … … १७५
    (x) दफ़्तरे-मवाजिब … … १७५
    (xi) दफ़्तरे-रोज़नामचा-इख़राजात … … १७५
    (xii) प्रादेशिक विभाग तथा स्थानीय व्यवस्था … १७५
    (xiii) न्यायिक व्यवस्था … … १७५–६
(ग) रणजीतसिंह की सरकार … … १७६–७

पृष्ठ
(घ) रणजीतसिंह की सेना … … १७७–८२
(i) फौजे-ग्राम अथवा नियमित सेना … … १७७
(ii) फौजे-खास अथवा फ्रांसीसी सेना (सैन्य दल) … … १७८–९
(iii) घुड़सवार सेना … … १७९
(iv) तोपखाना … … १८०
(v) फौजे-बेकवायद अथवा अनियमित सेना … १८०–८१
(vi) भरती तथा वेतन … … १८१–८२
(ङ) रणजीतसिंह का व्यक्तित्व … … १८२–३
(च) रणजीतसिंह का मूल्यांकन (Estimate) … १८३–४
(छ) सिक्खों की शक्ति के अन्तिम ह्रास के सम्बन्ध में … रणजीतसिंह का उत्तरदायित्व … १८४–५
(ज) १८३९ से १८४५ तक पंजाब की राजनीति … १८५–६
(छ) प्रथम सिक्ख युद्ध … … १८६–८
(ज) लाहौर की सन्धि … … १८८–९
(झ) द्वितीय सिक्ख युद्ध … … १८९–९२
अध्याय १३ लार्ड डलहौज़ी (Lord Dalhousie) १९३–२०७
(क) डलहौज़ी की सफलताएँ–पंजाब … … १९३–४
(ख) द्वितीय वर्मा युद्ध … … १९४–५
(ग) व्यपगत का सिद्धान्त … … १९५–७
(घ) बरार का अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना … १९७
(ङ) अंग्रेजों तथा अवध के सम्बन्ध … … १९७–२०१
(च) उपाधियों तथा पेन्शनों का हटाया जाना … २०१–२
(छ) डलहौज़ी के प्रशासनिक सुधार … … २०२
(ज) सैनिक सुधार … … २०२–३
(झ) तार तथा रेल … … २०३
(ञ) वाणिज्यिक सुधार … … २०३
(ट) सार्वजनिक निर्माण विभाग … … २०३
(ठ) डाक पद्धति … … २०३
(ड) १८५४ का वुड का खरीता … … २०३–४
(ढ) विद्रोह के सम्बन्ध में डलहौज़ी का उत्तरदायित्व … २०४–५
(ण) डलहौज़ी की निरन्तर अस्वस्थता … … २०५
(त) डलहौज़ी का मूल्यांकन … … २०५–६
अध्याय १४ ग़दर (The Mutiny) Culture २०८–२२६
(क) ग़दर का स्वरूप … … २०८–९
(ख) विद्रोह के कारण … … २०९–१३
(i) राजनैतिक … … २०९–११

पृष्ठ

(ii) धार्मिक … … २११
(iii) सैनिक … … २११–१३
(iv) तात्कालिक … … २१३
(ग) विद्रोह का विस्तार तथा दमन … … २१३–१४
(घ) विद्रोह की असफलता के कारण … … २१४–१६
(ङ) विद्रोह का प्रभाव … … २१६–१८
(च) विद्रोह के सम्बन्ध में थॉम्पसन तथा गैरेट के विचार … २१८–२०
(छ) विद्रोह के सम्बन्ध में मौलाना आज़ाद के विचार … २२०–२४
(ज) विद्रोह के विषय में डा० सेन की सम्मति … २२४–२५
(झ) डा० आर० सी० मजूमदार का मत … … २२५

अध्याय १५ कैनिंग से लिटन तक (Canning to Lytton) २२७–२३९
(क) लार्ड कैनिंग … … २२७–३०
(ख) लार्ड एलगिन … … २३०–३१
(ग) सर जान लारैन्स … … २३१–३३
(घ) लार्ड मेयो … … २३३–३४
(ङ) लार्ड नार्थब्रुक … … २३४–६
(च) लार्ड लिटन … … २३६–७
(छ) लिटन का मूल्यांकन (Estimate) … … २३७–९

अध्याय १६ रिपन से एलगिन तक (Ripon to Elgin) २४०–५२
(क) लार्ड रिपन … … २४०–४१
(ख) स्थानीय स्वराज्य … … २४१–२
(ग) शिक्षा के सम्बन्ध में हण्टर आयोग … … २४३
(घ) वित्त का विकेन्द्रीकरण … … २५३–४
(ङ) इलबर्ट बिल … … २४४–७
(च) लार्ड डफ़रिन … … २४७
(छ) पंजदेह का मामला … … २४७–८
(ज) तृतीय बर्मा-युद्ध … … २४८–४९
(झ) लार्ड लैन्सडौन … … २४९–५१
(ञ) लार्ड एलगिन द्वितीय … … २५१–२

अध्याय १७ लार्ड कर्ज़न (Lord Curzon) २४३–६७
(क) कर्ज़न की विदेश नीति … … २५३
(ख) कर्ज़न की कबायली क्षेत्र की नीति … … २५३–४
(ग) अफ़ग़ानिस्तान … … २५४–५५
(घ) फारस की खाड़ी … … २५५–७
(ङ) कर्ज़न का आन्तरिक प्रशासन … … २५७–६१
(i) अकाल … … २५७–८

पृष्ठ

(ii) कृषि … … २५८–९
(iii) रेलें … … २५९
(iv) पुलिस के सुधार … २५९–६०
(v) फौजी सुधार … … २६०–१
(च) वित्त का विकेन्द्रीकरण, १९०४ … … २६१
(छ) भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, १९०४ … २६१–२
(ज) नौकरशाही ढाँचे का सुधार … … २६२
(झ) कलकत्ता निगम (Calcutta Corporation) … २६२–३
(ञ) प्रेज़ीडेंसी गवर्नरों का पद … … २६३
(ट) अधिकारप्रियतापूर्ण नीति … … २६३–४
(ठ) बंगाल का बँटवारा … … २६४–५
(ड) लार्ड कर्ज़न का मूल्यांकन (Estimate) … २६५–७
अध्याय १८ लार्ड मिण्टो से डा० राजेन्द्रप्रसाद तक (Lord Minto to Dr. Rajendra Prasad) २६८–७७
(क) लार्ड मिण्टो द्वितीय … … २६८
(ख) आंग्ल-रूसी प्रतिनिधि सम्मेलन … … २६८–९
(ग) चीन के साथ व्यापार … … २६९
(घ) मिण्टो-मार्ले सुधार … … २६९
(ङ) लार्ड हार्डिङ्ग … … २६९
(च) दिल्ली दरबार, १९११ … … २६९–७२
(छ) लार्ड चैम्सफोर्ड … … २७२–३
(ज) लार्ड रीडिंग … … २७३
(झ) लार्ड इर्विन … … २७३–४
(ञ) लार्ड विलिंगडन … … २७४–५
(ट) लार्ड लिनलिथगो … … २७५
(ठ) लार्ड वेवल … … २७५–६
(ड) लार्ड माउण्टबेटन … … २७६–७
(ढ) चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, जून १९४८––जनवरी १९५० २७७
(ण) डा० राजेन्द्रप्रसाद, १९५० … … २७७
अध्याय १९ संवैधानिक विकास (Constitutional Development) २७८–३६२
(क) रैगुलेटिंग ऐक्ट … … २७८–८३
(i) ऐक्ट की धाराएँ … … २७८–८०
(ii) ऐक्ट की अलोचना … … २८०–३
(ख) १७८१ का संशोधनात्मक अधिनियम … … २८३–४
(ग) डण्डास बिल … … २८४–५
(घ) फ़ॉक्स इण्डिया बिल … … २८५–६

पृष्ठ

(ङ) पिट्स इण्डिया ऐक्ट … … २८७–८
(च) १७९३ का चार्टर ऐक्ट … … २८८–९
(छ) १८१३ का चार्टर ऐक्ट … … २८९–९०
(ज) १८३३ का चार्टर ऐक्ट … … २९०–९५
(झ) १८५३ का चार्टर ऐक्ट … … २९५–७
(ञ) १८५८ का अधिनियम … … २९७–३००
(ट) १८५८ का साम्राज्ञी का घोषणा-पत्र … … ३००–३
(ठ) १८६१ का भारतीय कौंसिल ऐक्ट … … ३०३–५
(ड) १८९२ का भारतीय कौंसिल ऐक्ट … … ३०५–१०
(ढ) मिण्टो-मार्ले सुधार, १९०९ … … ३१०–१६
(ण) मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार (१९१९) की कारणभूत परिस्थितियाँ … … ३१६–९
(त) अगस्त घोषणा … … ३१९–२१
(थ) १९१८ की सिफारिशें … … ३२१–२२
(द) १९१९ के अधिनियम की मुख्य धाराएँ … ३२२–७
(ध) द्वैध शासन की पद्धति का प्रचलन … … ३२७–३२
(न) भारत सरकार का अधिनियम, १९३५ … … ३३२–३८
(प) १९४० का सुझाव … … ३३८–९
(फ) क्रिप्स प्रस्ताव, १९४२ … … ३३९–४४
(ब) केबिनट मिशन स्कीम … … ३४४–९
(भ) संविधान सभा … … ३४९–५०
(म) भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, १९४७ … ३५०–१
(य) भारत का नया संविधान, १९५० … … ३५१–६०

अध्याय २० **केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभाओं का विकास**
(Growth of Central and Provincial Legislatures) ३६३–७३
(क) केन्द्रीय विधान सभा का विकास … … ३६३–९
(ख) प्रान्तीय विधान सभाओं का विकास … … ३६९–७३

अध्याय २१ **राष्ट्रवादी आन्दोलन का विकास**
(Growth of the Nationalist Movement) ३७४–४१०
(क) राष्ट्रवादी आन्दोलन के कारण … … ३७४–९
(ख) काँग्रेस की स्थापना … … ३७९–८२
(ग) सूरत में फूट … … ३८२–४
(घ) चरमवाद का उदय (Rise of Extremism) … ३८६–९३
(ङ) होम रूल आन्दोलन … … ३९३–४
(च) आतंकवादी आन्दोलन (Terrorist Movement) … ३९४–९९

पृष्ठ

(छ) असहयोग आन्दोलन
(Non-Co-operation Movement) … ३९९–४०२
(ज) स्वराज्य पार्टी … … ४०२–५
(झ) नेहरू रिपोर्ट … … ४०५
(ञ) १९३० का स्वाधीनता दिवस … … ४०५–६
(ट) भारत छोड़ो आन्दोलन … … ४०७–८

अध्याय २२ भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विकास
(Development of Muslim Communalism in India) ४११–३१
(क) सर सैय्यद अहमदखां का कार्य … … ४१२–३
(ख) बैंक का कार्य … … ४१३–४
(ग) लखनऊ समझौता, १९१६ … … ४१७–८
(घ) पाकिस्तान का विचार … … ४२१–२३
(ङ) पाकिस्तान का प्रस्ताव, १९४० … … ४२३–५
(च) पाकिस्तान की माँग के कारण … … ४२५–७
(छ) डा० लतीफ़ की योजना … … ४२७–८
(ज) राजगोपालाचार्य का फार्मूला … … ४२८–९
(झ) मंत्रिमंडल मिशन … … ४२९–३०

अध्याय २३ आधुनिक भारत के नेता (Leaders of Modern India) ४३२–४७
(क) दादाभाई नौरोजी … … ४३२–४
(ख) गोपालकृष्ण गोखले … … ४३४–७
(ग) बाल गंगाधर तिलक … … ४३७–४२
(घ) महात्मा गांधी … … ४४२–७

अध्याय २४ वित्त का विकेन्द्रीकरण (Decentralisation of Finance) ४४८–५६

अध्याय २५ न्यायपालिका का विकास (Growth of the Judiciary) ४५७–६७

अध्याय २६ भारत में स्थानीय स्वराज्य का विकास
(Growth of Local Self-Government in India) ४६८–७८

अध्याय २७ भारत में समाचारपत्रों का इतिहास
(The History of the Press in India) ४७९–९६

अध्याय २८ शिक्षा का इतिहास (History of Education) ४९७–५०९

अध्याय २९ धार्मिक और सामाजिक विकास Culture
(Religious and Social Development) ५१०–५२५
(क) राजा राममोहन राय … … ५१०–३
(ख) ब्राह्म समाज … … ५१३
(ग) प्रार्थना समाज … … ५१३–४
(घ) रामकृष्ण मिशन … … ५१४
(ङ) आर्यसमाज … … ५१५–६

पृष्ठ

(च) सती का बन्द करना … … ५१७–२२

(छ) बाल-हत्या का उन्मूलन … … ५२२–३

(ज) विधवा-विवाह … … ५२३–४

अध्याय ३० आँग्ल-अफ़ग़ान सम्बन्ध (Anglo-Afghan Relations) ५२६–४२

(क) प्रथम अफ़ग़ान युद्ध … … ५२७–३२

(ख) जान लारैन्स की पूर्ण अप्रगति की नीति (Policy of Masterly Inactivity) … ५३२–६

(ग) द्वितीय अफगान युद्ध … … ५३७–४१

अध्याय ३१ भारतीय रियासतें (The Indian States) ५४३–६७

(क) रिंग-फेन्स नीति … … ५४३–४

(ख) आधीन अलगाव की नीति (Policy of Subordinate Isolation) … … ५४४–६

(ग) अधीनस्थ संघ की नीति (Policy of Subordinate Union) … ५४६–७

(घ) भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व (British paramountcy in India) … ५४७–५४

(ङ) १६३५ के भारत सरकार के अधिनियम के आधीन अखिल भारतीय फैडरेशन … … ५५४–८

(च) रियासतों का भारत में प्रवेश … … ५५८–६६

ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास

अध्याय १

भारत में यूरोपीय जातियों का आगमन

(Advent of Europeans in India)

भारत में पुर्तगाली (Portuguese in India)—यह बात सर्वविदित है कि मध्य युग की यूरोपीय मण्डियों में भारतीय माल की भारी माँग थी। यह माल या तो स्थल मार्ग से यूरोप पहुँचता था अथवा थोड़ा स्थल और थोड़ा समुद्री मार्गों से। तुर्की लोगों की शक्ति बढ़ जाने से बाधाएँ पैदा हो गईं। स्थल मार्ग के व्यावहारिक रूप में बन्द हो जाने के कारण भारत को नए मार्ग खोजने की आवश्यकता पड़ी।

इस सम्बन्ध में पुर्तगाली लोगों ने अगुआई की। पुर्तगाली राजकुमार हैनरी ने (१३९३-१४६०) जो सर्वसाधारण में नौवाहक (Navigator) के रूप में प्रसिद्ध है, इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कार्य किया। उसने वैज्ञानिक ढंग पर नाविकों के प्रशिक्षण के लिए नियमित विद्यालय की नींव डाली। जो लोग भी नौ-संचालन के कार्य में लगे, उन सबको उसने प्रोत्साहन दिया। पुर्तगालियों के इन प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि अफ्रीका के प्रायः सम्पूर्ण तटीय भाग से पुर्तगाली परिचित हो गए। उन लोगों ने १४७१ ई० में भूमध्य रेखा (Equator) को पार किया तथा सन् १४८१ ई० में काँगो नदी तक पहुँच गये।

सन् १४८७ ई० में बाएथोलोमियो डाईज़ (Diaz) ने उत्तमाशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) को पार किया। द्वितीय जॉन ने उसका संरक्षण किया था।

सन् १४९७ ई० में एम्मानुल राजा के संरक्षण में वास्कोडिगामा ने अपना अभियान आरम्भ किया। उसने डाईज़ वाले मार्ग का ही अनुसरण करते हुए आशा अन्तरीप को पार किया। इस मार्ग से वह मौज़म्बीक पहुँचा। उसे एक भारतीय पथ-प्रदर्शक की सहायता प्राप्त हुई और वह अप्रैल, १४९८ में भारत के लिए चल पड़ा। एक मास की यात्रा के पश्चात् वह कालीकट पहुँचा। राजा ज़मोरिन ने उसका स्वागत किया तथा उसे कुछ सुविधाएँ भी प्रदान कीं।

अरब के लोगों को वास्कोडिगामा का भारत में आगमन तनिक भी अच्छा न लगा। उन्होंने पुर्तगालियों के विरुद्ध अनेक प्रकार की बातें फैला दीं। परिस्थितियाँ प्रतिकूल समझकर वास्कोडिगामा लगभग तीन मास भारत में रहकर वापिस चला गया।

डॉडवैल के मतानुसार, "चार प्रकार से पुर्तगाली अनुपम रूप से भाग्यशाली थे। मालाबार के तट पर आकर उनका सम्पर्क असंख्य छोटे-छोटे सरदारों से हुआ जो परस्पर वैमनस्य करते थे, जिसके परिणामस्वरूप उनमें से एक की शत्रुता का परिणाम दूसरे से मित्रता का होना अवश्यम्भावी था। पुनश्च, कोचीन और कालीकट का प्रदेश उस समय निवासियों की आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त चावल पैदा नहीं करता था। इनकी

आवश्यकता की पूर्ति कोरोमण्डल तट से मुसलमानों के जलपोत अन्न लाकर करते थे। इस प्रकार यह प्रदेश समुद्र की ओर से रसद बन्द कर देने पर बड़ी कठिन परिस्थिति में पड़ जाता था। पुनः, पन्द्रहवीं शताब्दी की समाप्ति के समय में ये लोग भारतवर्ष पहुँचे और उस समय उन्हें कोई बड़ा राज्य नहीं मिला जो उनकी स्थापना में कोई सतत अथवा प्रभावशाली बाधा उत्पन्न कर सकता। अन्त में जो भी कठिनाइयाँ उन्हें झेलनी पड़ीं और विजय करनी पड़ीं उनका एकमात्र हल यही था कि युद्ध के लिये उनके जहाज उस समय भारत के समुद्री क्षेत्र में मिलने वाले जहाजों से कहीं अधिक शक्तिशाली होने चाहिएँ; यह अन्तिम साधन ही पुर्तगालियों की शक्ति को पूर्व में जमा देने के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण था। स्थल-युद्ध के दृष्टिकोण से, भारतवर्ष में एक सैनिक साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न देखने के लिये उनका राष्ट्र बहुत ही छोटा था। उन्होंने यथाशक्ति मुसलमान राज्यों को नष्ट करने का प्रण किया था और इस कारण वे शस्त्रहीन असहाय व्यापारियों की स्थिति में नहीं रह सकते थे। समुद्री क्षेत्र में प्रभुत्वशाली होना उनकी सफलता की कुंजी थी। जिन भौगोलिक स्थितियों के कारण भारत में समुद्री-शक्ति का जन्म हुआ उसकी निरन्तर प्रगति नहीं हुई। हिन्द महासागर में भिन्न-भिन्न ऋतुओं में सतत रूप से बहनेवाली हवाओं के कारण भारतीयों को विशेष ऋतुओं में अदन और बसरा से गुजरात, बंगाल से मलाक्का और मलाक्का से मालाबार सरलता से और नियमित रूप से व्यापार करने की सुविधा थी। किन्तु इन हवाओं की नियमितता और शक्ति के कारण इनके विरुद्ध समुद्री यात्रा करना निषिद्ध कर दिया था। तूफान और ज्वार उन आदिकाल के नाविकों के लिये इतने डरावने थे कि वे इनका मुकाबला करके जीवन रक्षा करने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। पूर्वी नाविक और जहाज विश्वस्त हवाओं में यात्रा करने के अभ्यस्त थे। अन्ध महासागर के तूफानों से टक्कर लेने के लिये बनाये गये जहाजों के सामने पूर्व के जहाज बड़े ही कमज़ोर थे। इसका पहला परिणाम तो यह था कि पुर्तगालियों के जहाज बहुत बुरी ऋतु में भी समुद्र में ठहर सकते थे जबकि उनके शत्रु उस ऋतु में सबसे निकट की बन्दरगाह में भागकर शरण लेते थे। दूसरे, पुर्तगाली अपने जहाजों पर तोपखाना प्रयोग कर सकते थे। इसके विपरीत तोप के झटके से भारतीय जहाजों को पहले गोले में ही टुकड़े होने की आशंका रहती थी।" (The Cambridge Shorter History of India, PP. 379-80)

सन् १५०१ में वास्कोडिगामा भारत में दूसरी बार आया। उसने कन्नानोर में एक कारखाने की स्थापना की तथा वह १५०३ ई० में पुर्तगाल लौट गया। अरबों का विरोध होने पर भी पुर्तगाली कालीकट, कोचीन तथा कन्नानोर में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित करने में सफल हुए। उन्होंने अरबों पर अत्याचार किए तथा उनका दमन किया। वास्कोडिगामा के भारत से जाने के पश्चात् पुर्तगालियों को अनेक कष्ट हुए। राजा ज़मोरिन ने कोचीन में पुर्तगालियों पर आक्रमण किया, किन्तु पराजित हुआ। इससे पुर्तगालियों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

डी अलमेडा (De Almeida) (**१५०५-९**)—भारत में पुर्तगाली अधिकृत प्रदेशों का पहला वायसराय डी अलमेडा था। वह इस पक्ष में नहीं था कि स्थल स्थानों को अत्यधिक अपने अधिकार में किया जाए। वह चाहता था कि उसके देशवासी अपनी समुद्री

शक्ति के विकास पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करें। उसके विचार में "यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि जब तक समुद्र पर तुम्हारा प्रभुत्व है, तब तक तुम भारत पर अपना प्रभुत्व बनाए रखोगे और यदि तुम्हारे पास वह शक्ति नहीं है, तब समुद्र के तटवर्ती एक दो दुर्गों का अधिक महत्त्व नहीं।" यह नीति यथार्थ में ही "ब्लू वाटर" नीति कही गई है। अलमेडा तथा उसका पुत्र, ये दोनों १५०९ ई० में मिश्रवासियों से हार गए तथा मारे गए।

अल्बुकर्क (Albuquerque) (१५०९-१५)—वह भारत में दूसरा पुर्तगाली वायसराय था। श्री स्टीफ़न्स ने उसकी नीति के सम्बन्ध में चार बातों का उल्लेख किया है। प्रथम, उसने व्यापार के लिए कुछ आवश्यक स्थानों पर अधिकार करना चाहा तथा उस पर सीधा शासन करने की इच्छा की। दूसरे, उसने कुछ चुने हुए जिलों में वहाँ के निवासियों के साथ मिश्रित विवाह को प्रोत्साहित करने के लिए उपनिवेशों के रूप में संगठित करना चाहा। तीसरे, जब वह अपनी इन दोनों बातों में सफल न हुआ तब उसने दुर्ग बनाने की इच्छा की। चौथे, जब यह कार्य भी उसे असम्भव प्रतीत हुआ तब उसने स्थानीय व्यापारियों को पुर्तगाल नरेश के प्रभुत्व को स्वीकृत करने तथा अपने लिए भेंट लेने की इच्छा की।

अल्बुकर्क एक महान् विजेता था। उसने १५१० में गोआ पर विजय प्राप्त की तथा उसे अपने अधिकार में ले लिया। यह स्थान पुर्तगाली साम्राज्य का प्रधान कार्यालय बन गया। उसने दूर-पूर्व में मलाक्का पर विजय प्राप्त की तथा गर्म मसाले वाले छोटे द्वीपों को हस्तगत करने के लिए संघर्ष तथा प्रयत्न किया। सन् १५१५ में उसने फ़ारस की खाड़ी के द्वीप ओर्मज़ को जीता। उसने कोचीन नरेश की आज्ञा से कोचीन में एक दुर्ग का निर्माण किया।

उसने प्रशासन-व्यवस्था के लिए बहुत से पुर्तगाली अफसरों को नियुक्त किया। प्रशासन-कार्य में मुसलमानों के साथ अन्याय किया गया तथा हिन्दुओं का स्वागत हुआ। उन्हें शासन-व्यवस्था की विभिन्न शाखाओं में स्थान मिला। उनके लिए स्कूल स्थापित किए गए। हिन्दुओं की पंचायतों का बहिष्कार नहीं किया गया। हिन्दू अफसरों के नेतृत्व में रहने वाले भारतीय फौजियों का स्वागत किया गया। उसने भारतीय स्त्रियों के साथ पुर्तगालियों के विवाहों को भी प्रोत्साहन दिया।

अल्बुकर्क महान् व्यक्ति था। उसे वस्तुतः *भारत में पुर्तगाली साम्राज्य का संस्थापक कहा जा सकता है।* "उसके चरित्र में ऐसे चिह्न थे, जो विशेष रूप से प्राच्य लोगों को रुचिकर थे। उसकी वीरता, उसकी कठोर सत्यशीलता, पूर्णता तथा उसकी दानशीलता—ये सभी उसके गुण थे। लोग उससे डरते थे तथा प्रेम भी करते थे। वह ऐसा व्यक्ति न था कि किसी असफलता से भयभीत हो जाए। वह तब तक चुप न बैठता था, जब तक वह अपने संकल्प को पूरा न कर ले। वह पूर्ण देशभक्त था तथा उसकी स्वार्थहीनता बहुत बढ़ चढ़कर थी।" इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि अपने देशवासियों के द्वारा उसे अल्बुकर्क महान् कहा जाता था। कहा जाता है कि जब सन् १५१५ में उसकी मृत्यु हुई "तब उससे यूरोपीय तथा भारतीय लोगों को समान दुःख पहुंचा क्योंकि सभी उसे समान रूप से प्रेम करते थे। उसके मृतक शरीर को गोआ में दफनाया गया।"

डॉडवैल के मतानुसार, "उसके बहुत से गुण वही थे जिनके कारण महान् अंग्रेज क्लाइव प्रसिद्ध हुआ। दोनों महान् सेना-नायक थे, जिनका साहस और अन्तर्दृष्टि कठिनाइयों के साथ अधिक तीव्र होती थी। दोनों अडिग धैर्यवान और असंख्य शत्रुओं से लोहा लेने के लिए उद्यत रहते थे। वे बड़े ओजस्वी थे, जिनसे उनके अनुयायियों को प्रेरणा प्राप्त होती थी। दोनों ही भाग्यशाली थे और उनके शत्रु उनसे भय खाते थे। दोनों ही विश्वासघात के कार्य कर सकते थे किन्तु दोनों ही इसका प्रयोग इतना कम करते थे कि लोगों का उनमें विश्वास बना रहता था। दोनों में ही आवश्यक तथ्य को परखने की तथा व्यर्थ की बातों का निराकरण करने की कुशलता थी। अपनी पीढ़ी में अल्बुकर्क ही अकेला व्यक्ति था जिसने यह समझा कि समुद्री शक्ति के आधार पर निर्मित साम्राज्य अधिक दिन नहीं टिक सकता। पुर्तगाल के घोर विरोध होने पर भी अल्बुकर्क ने गोआ को पूर्व में पुर्तगाल की शक्ति का केन्द्र बनाने पर जोर दिया, जहां एक बड़ी बन्दरगाह में जहाज़ों की मरम्मत की जा सके, नये आदमी भरती किये जा सकें, नई रसद प्राप्त की जा सके और इस विशाल नगर से सेना प्राप्त की जा सके। वास्तव में उसका विचार सत्य भी था। एक शताब्दी पश्चात् जब पुर्तगाल जीवन और मरण के संघर्ष में फंसा, वह गोआ में एकत्रित किए गये साधनों के आधार पर ही लगभग पचास वर्ष तक इस संघर्ष को चलाता रहा। (The Cambridge Shorter History of India, P. 384).

अल्बुकर्क की मृत्यु के पश्चात् भी पुर्तगालियों की शक्ति बढ़ती ही गई। उन्होंने १५३४ ई० में दिऊ (Diu) तथा बसीन (Bassein) पर अधिकार किया। चार वर्षों के पश्चात् उन्होंने दमन को जीता। उसी वर्ष उन्हें गोआ में कारखाना स्थापित करने की अनुमति प्राप्त हुई। १५४५ ई० में दिऊ के किले पर गुजरात के राजा ने आक्रमण किया, किन्तु उसकी सफलतापूर्वक रक्षा की गई। १५७१ ई० में बीजापुर, अहमदनगर तथा कालीकट के शासकों ने संगठित रूप से पुर्तगालियों को खदेड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु वे गोआ पर अधिकार करने में असफल रहे।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में पुर्तगालियों के आगमन के कारण पारस्परिक हितों में संघर्ष की भावना बढ़ी। जैसा कि प्रायः कहा जाता रहा है, यह संघर्ष ईसाइयों तथा मुसलमानों में नहीं था, बल्कि आयातकों तथा निर्यातकों में था। भारतीय आयात करने वालों ने, जिनमें से बहुत से मुसलमान थे, पुर्तगालियों का नए ग्राहकों के रूप में स्वागत किया। अरब तथा मिस्र के ग्राहकों ने नए प्रतियोगियों के रूप में उनका विरोध किया क्योंकि उन्हें आशंका थी कि वे उनके मौजूदा एकाधिकारों में बाधक सिद्ध होंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि पुर्तगालियों ने कालीकट के शासक से मालाबार तट की मुख्य बन्दरगाह को हड़प लिया तथा उन केन्द्रों में मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये, जहाँ से उन्हें काली मिर्च मिलने की सम्भावना थी।

पुर्तगाली केवल इस बात से सन्तुष्ट नहीं थे कि उन्हें व्यापार में भाग मिल गया। वे उसे नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में दृढ़ निश्चयी थे। ऐसा करने में वे समर्थ हो गए क्योंकि उन्होंने एक सुदृढ़ नौ सेना को संगठित किया, जिसके कारण उन्हें समुद्रों पर नियंत्रण करने में सहायता मिली। उन्होंने संकीर्ण सागर की रक्षा करने के लिए किले भी बनाए। उन्होंने एक केन्द्रीय संगठन स्थापित किया, जिसके अधीन सैनिक प्रगति चलती

रहती थी तथा जिस पर नौ सेना को आधारित किया जा सकता था।

जहाँ तक पुर्तगालियों द्वारा व्यापार पर नियन्त्रण करने का सम्बन्ध है, कुछ मार्गों तथा सब मार्गों पर कुछ उपयोगी वस्तुओं पर पुर्तगाली साम्राज्य के लाभ के लिए एकाधिकार प्राप्त कर लिया गया। इन बन्दिशों के अतिरिक्त भारतीय तथा अन्य जहाज पर्याप्त शुल्क देने पर निश्चित बन्दरगाहों के मध्य यात्रा के लिए अनुमति-पत्र प्राप्त कर सकते थे। अनुमति-पत्र के बिना यात्रा करने वाले जहाज़ों को रोका जा सकता था तथा उन्हें ज़ब्त किया जा सकता था। पुर्तगालियों द्वारा मार्गों पर नियन्त्रण के लिए रखी गई तोपवाली नौकाएँ उनके विरोधियों की भारी तथा कष्टकारी नौकाओं की तुलना में अधिक शक्तिशालिनी थीं। इन उपायों द्वारा पुर्तगालियों ने १६वीं शताब्दी में सभी मुख्य व्यापारी मार्गों पर अपना अधिकार जमाए रखा। यह सत्य है कि कुछ माल स्थलमार्ग से यूरोप पहुँचता रहा, किन्तु इसका मुख्य कारण पुर्तगाली अधिकारियों में रिश्वत लेने की प्रवृत्ति का बढ़ना था, और जिसे वह निजी लाभ का स्रोत समझते थे तथा जिन्हें निषिद्ध माल के गुजरने के लिए रिश्वत दी जा सकती थी।

भारत के पश्चिमी तट पर स्थित पुर्तगाली अधिकृत बस्तियाँ पुर्तगाली साम्राज्य का संविलयी अंग थीं। साथ ही भारत के पूर्वी तट पर कुछ कम नियन्त्रित रूप की बस्तियाँ बस गईं। बंगाल में विभिन्न स्थानों पर तथा कोरोमंडल तट पर पुर्तगाली व्यापारी स्थानीय अधिकारियों की स्वीकृति से बस गए। तथापि अपने राष्ट्र के नाम पर उन्होंने अपनी बस्तियों में दुर्ग बना लिये, स्थानीय शासन के अधिकार ग्रहण कर लिये तथा अन्त में उन्होंने कुछ मामलों में गोआ स्थित पुर्तगाली वायसराय के अधिकारों का उल्लंघन किया। इस प्रकार पुर्तगाली बस्तियाँ अराजकता का केन्द्र बन गईं तथा कुछ अवस्थाओं में लुटेरों (जलदस्युओं) का आश्रय-स्थान बन गईं।

भारत में पुर्तगालियों के आगमन से कोई महान् तात्कालिक प्रभाव न पड़ा। राजनीतिक क्षेत्र में उनके गोआ पर अधिकार के कारण उनकी बीजापुर के साथ शत्रुता हो गई। उन्होंने विजयनगर के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखे, मुसलमानों के विरुद्ध उसके संघर्ष में उन्होंने उसे कोई विशेष सहायता प्रदान न की। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार पुर्तगालियों के आगमन के कारण तात्कालिक अस्पष्ट राजनीति में एक की वृद्धि मात्र हो गई। युद्ध में उन्होंने तोप तथा बन्दूक चलाने की विद्या के उच्च स्तर को स्थापित किया। उन्होंने अजेयता का ऐसा दृष्टान्त प्रस्तुत किया, जिससे उन्हें अपने कार्य में अत्यधिक सहायता मिली।

जहाँ तक व्यापार वाणिज्य का सम्बन्ध है, यह नहीं कहा जा सकता कि व्यापार में विकर्षण के कारण भारतीय माल के निर्यात में भारी विस्तार हुआ। यह सम्भव है कि काली मिर्च पश्चिमी यूरोप में पहले की अपेक्षा अधिक पहुँची हो। तथापि एक मात्र नवीन स्थिति यह थी कि पश्चिमी अफ्रीका तथा ब्राज़ील में भारतीय सूती माल की नई मण्डियाँ खुलीं। पुर्तगाली आयात-व्यापार के विकास में सफल नहीं हुए। उनके द्वारा मोल लिये गए अधिकांश माल का मूल्य चाँदी के सिक्कों में दिया जाता था। वे प्रसाधन सामग्री (शृंगार वस्तु) तथा यूरोप की नवीन वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ भी माल नहीं बेच पाते थे। उन्होंने भारत में जो उल्लेखनीय सेवा की, वह थी तटवर्ती व्यापार की प्रभावशाली

नीति। मालाबार तट के सभी प्रदेशों में जलदस्युओं के दल रहते थे, जिनका निर्वाह मुख्य रूप से इसी बात पर था कि वे छोटे-छोटे जहाज़ों पर आक्रमण करते रहते थे। ऐसे जहाज भारी संख्या में गुजरात तथा लंका, मद्रास व बंगाल आदि प्रदेशों के बीच आते जाते रहते थे। पुर्तगालियों ने इन जहाज़ों के नाविकों को ऐसी नौकाएँ प्रदान कीं, जिनमें तोपें थीं। इसके कारण भारतीय व्यापार मार्ग में काफ़ी सुरक्षा की भावना स्थापित हो गई। तथापि हमें लाईसेंस फीस अथवा रिश्वत के रूप में भारतीय व्यवसाय पर उनके द्वारा प्राप्त किए गए धन का भी स्मरण रखना चाहिए, चाहे वह वाणिज्य तटीय हो अथवा विदेशी।

१७ वीं शताब्दी के आरम्भ से पुर्तगालियों की शक्ति का ह्रास आरम्भ हो गया। इसका एक विशेष कारण यह था कि १५८० में स्पेन के फिलिप द्वितीय के समय में पुर्तगाल स्पेन का ही एक भाग बना दिया गया था। स्पेन की अपनी अवस्था उस समय अच्छी न थी। उससे यहा आशा करना कठिन था कि वह पुर्तगालियों के हितों की रक्षा कर सकेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि पुर्तगाली एक-एक करके अपने अधिकृत प्रदेश खो बैठे। डचों ने उन्हें एम्बोयना से खदेड़ दिया। १६२२ में ईरान की सरकार ने ओर्मज का प्रदेश छीन लिया। डचों ने १६४० में मलाक्का पर अधिकार कर लिया। १६५६ में उन्हें लंका से निकाल दिया गया। १७३९ में मराठों ने बेसिन को प्राप्त कर लिया। १८ वीं शताब्दी के मध्य भाग से पुर्तगालियों के अधिकार में भारत में सिर्फ गोआ, दमन तथा दिऊ के प्रदेश थे। [अभी पिछले दिनों भारत सरकार ने पुर्तगाल सरकार से कहा कि वे भारत में पुर्तगाली अधिकृत स्थानों के सम्बन्ध में बातचीत करें। क्योंकि पुर्तगाली सरकार ने ऐसा करने से इंकार कर दिया, इसलिए भारत सरकार ने लिस्बन में अपने दूतावास को बंद करने का निश्चय कर लिया है।]

भारत में पुर्तगाली साम्राज्य की असफलता के कारण (Causes of failure of Portuguese Empire in India)—भारत में पुर्तगाली साम्राज्य की असफलता के कई कारण थे :

(१) अल्बुकर्क की मृत्यु के पश्चात् पुर्तगाल सरकार की ओर से कोई शक्तिशाली व्यक्ति भारत में नहीं आया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में पुर्तगाली साम्राज्य असंगठित होना आरम्भ हो गया।

(२) भारत में पुर्तगाली प्रशासन में भ्रष्टाचार का बोलबाला था। अधिकारियों के वेतन कम थे। इसलिए उनको किसी से रिश्वत लेने में कोई संकोच न था। अधिकांश पुर्तगाली अफ़सर स्वार्थी थे। उन्हें लोगों के कष्टों की परवाह न थी। उन्हें अपनी जेबें गरम करने की अधिक चिन्ता थी; उनका उचित या अनुचित साधनों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं था।

(३) पुर्तगालियों की धार्मिक नीति भी उनके विनाश का एक प्रमुख कारण थी। पुर्तगालियों ने भारत में Inquisition प्रारम्भ की तथा उन्होंने उन लोगों पर अत्याचार किए, जो ईसाई नहीं थे। उन्होंने भारतीयों को ईसाई बनाने के लिए सब प्रकार के उपायों का उपयोग किया। उनके कठोर तथा नृशंस बर्ताव के कारण लोगों के मन में कटुता पैदा हुई। १५४० ई० में गोआ द्वीप में समस्त हिन्दू-मन्दिरों को पुर्तगाल नरेश की आज्ञा से नष्ट कर दिया गया। संत फ्रांसिस के अनुयायी 'मिशनरी' १५१७ में यहाँ आए तथा गोआ

उनके प्रबल प्रचार का केन्द्र बन गया। भारत में पुर्तगाली अधिकारियों ने जनता की ओर तनिक भी ध्यान न दिया। गोआ के नागरिक अधिकारियों ने अपने नरेश को १५५२ में लिखा—"भारत में आपके वायसराय अथवा अन्य अधिकारियों में न्याय की भावना नहीं है। उनका एकमात्र उद्देश्य हर प्रकार से धन बटोरना है।"

(४) मुगल साम्राज्य की स्थापना भी पुर्तगालियों की असफलता का एक कारण थी। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुर्तगालियों को किसी बड़े विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। १५५६ में अकबर के गद्दी पर बैठने के पश्चात् मुगल शक्ति बढ़ने लगी। मुगल लगभग सारे भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में एक प्रकार से सफल हुए। इन परिस्थितियों में भारत में पुर्तगाली प्रभुत्व के विकास के लिए कोई भी स्थान न रहा।

(५) पुर्तगाल एक छोटा सा देश है। उसके पास इतने स्रोत नहीं थे कि भारत जैसे देश को जीत सके। साथ ही उसकी शक्ति भी दो ओर बँटी हुई थी––भारत-स्थित पुर्तगाली बस्तियों में तथा ब्राज़ील में। कुछ समय के पश्चात् पुर्तगालियों ने भारत की अपेक्षा ब्राज़ील की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया।

(६) १५८० में पुर्तगाल स्पेन के अधिकार में हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि स्पेन के हितों का प्राधान्य हो गया तथा पुर्तगाली हित गौण हो गए। स्पेन के लाभ के लिए पुर्तगाली उपक्रमों पर अनेक पाबन्दियाँ लगा दी गईं। लिस्बन का, जो कभी यूरोप का गोदाम था, महत्त्व खत्म हो गया। स्पेन के अधिकारी भारत-स्थित पुर्तगाली प्रदेशों में भेजे गए तथा इन लोगों ने धन बटोरने का अधिकाधिक प्रयत्न किया। उन्होंने इस बात की चिन्ता नहीं की कि इसका देश के निवासियों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। स्पेन के इन चाटुकारों के कारण देश में पुर्तगाली हितों का नाश हो गया।

(७) भारत में डच तथा अंग्रेज़ प्रभुत्व की वृद्धि के कारण देश में दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वी उत्पन्न हो गए। पुर्तगालियों के लिए उनका मुकाबला करना उनकी शक्ति के बाहर की बात थी। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे पुर्तगाली साम्राज्य नष्ट हो गया।

(८) भारत में आने वाले पुर्तगालियों में बहुत से गुण थे, जैसे व्यक्तिगत शौर्य, विजयोल्लास, वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय गौरव की भावना। किन्तु इनमें बहुत से क्रूर, राजनीति से अनभिज्ञ तथा हठी थे। प्रारम्भिक सफलता के कारण उनमें आन्तरिक दर्प उत्पन्न हुआ। इस कारण यह स्वाभाविक था कि वे एशियावासियों के प्रति प्रजा का दृष्टिकोण अपनाने लगे। यूरोप से पुर्तगाली स्त्रियाँ कम संख्या में आईं, इसलिए उन्हें बाध्य होकर भारतीय स्त्रियों से विवाह करना पड़ा। उन्हें आशा थी कि इस प्रकार के व्यवहार से, भारत की पुर्तगाली बस्तियों में, सैनिक और नाविक अधिक संख्या में मिलेंगे। लेकिन दुर्भाग्य से इस प्रकार की मिश्रित जाति, मूल जाति से निकृष्ट और साहसहीन रही। किन्तु उनमें दर्प, लोभ तथा भ्रष्टाचार की प्रबल भावना का उदय हुआ। शौर्य के अवसर कम होने लगे तथा इसके स्थान पर कुटिलता और अन्याय बढ़ने लगा। भारतवासी पुर्तगालियों से घृणा करने लगे। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि समय की गति के साथ भारत में उनके साम्राज्य की जड़ें खोखली हो गईं।

पुर्तगाल की असफलता के कारणों के विषय में डॉडवैल का मत है कि सोलहवीं शताब्दी के अन्त में पुर्तगाल का साम्राज्य तीव्रता से नष्ट हो रहा था। राजकर्मचारी

भ्रष्ट और दुर्ग टूटे-फूटे और शस्त्ररहित थे। व्यापार अवनति पर था। सबसे महत्त्वपूर्ण था पुर्तगाली संघ की अक्षुण्णता का नष्ट हो जाना। कोचीन के राजा ने जिस समय पुर्तगालियों से सहयोग किया वह इनके अनुशासन पर मुग्ध हो गया। इनका अनुशासन इतना कठोर था कि यदि राजा का सेवक भी उनका नेतृत्व करता तो वे उसकी आज्ञा मानते। किन्तु १५९७ से १६०० के काल में फ्रांसको डि गामा गोआ का राज्यपाल था। उसका बड़ा अपमान किया गया। उसके महान् पूर्वज वासकोडिगामा की मूर्ति को, जिस दिन वह अपने देश के लिये रवाना हुआ, नीचे उतार कर तोड़ डाला गया। चालीस आदमियों ने उसके जहाज पर जाकर उसका बुत बनाकर फांसी देकर लटका दिया। इस पतन के कुछ कारण तो स्पष्ट हैं। पुर्तगाल एक छोटा सा देश था और उसने दो महान् कार्य किये जिनमें ब्रजील की विजय और भारतीय समुद्रों पर विजय करना था। इन दोनों कार्यों ने उसके नागरिकों का बड़ी संख्या में बलिदान लिया। जहाज़ों पर और गर्म जलवायु में असाधारण मौतें हुईं। कुछ वीर और साहसी लोगों ने, जिन्होंने पूर्व में पुर्तगालियों की स्थिति बनाई, लौटकर स्वदेश गये ही नहीं। जाति में से श्रेष्ठ तत्त्व निकल जाने के पश्चात् शीघ्रता से पतन आरम्भ हो गया। शेष लोगों के साहसिक कार्य उनके पूर्वजों के समान नहीं थे। १५३८ में आवश्यक सेना तैयार करने में कठिनाइयाँ आईं। बन्दियों को साधारण क्षमा दान का लालच दिया गया और देशद्रोहियों को इस शर्त पर क्षमा कर दिया गया कि वे भारतवर्ष में जाकर रहें। मृत्युदण्ड प्राप्त अपराधियों को भारतवर्ष भेजकर स्थाई देशनिकाला दे दिया गया। क्रमशः कम अपराध करने वालों को तीन वर्ष या उससे अधिक समय तक भारतवर्ष में कार्य करने की शर्त पर क्षमा कर दिया गया। पुर्तगालियों की बस्तियों को हीन नागरिक चरित्र के लोगों से भर दिया गया। ये लोग भारतवर्ष के निम्नतम वर्ग की स्त्रियों के साथ रहकर सन्तान द्वारा अपनी संख्या बढ़ाने लगे।

इसके साथ-साथ पुर्तगाली मानसिक रूप से जड़ हो गये थे। जहाज़ बनाने और सामुद्रिक यात्रा सम्बन्धी कलाओं में उन्होंने जो आश्चर्यजनक प्रगति की वह समाप्त हो गई। वे भारत के समुद्रों में श्रेष्ठ रहे किन्तु वासकोडि गामा और अल्बुकर्क के समय तक जहाज़ बनाने, चलाने और युद्ध करने की कला को सीखे हुए लोगों से अधिक निपुण लोगों से लड़ने के अवसर पर उनका अन्त अवश्यम्भावी था। वास्तव में गोआ को इनकी प्रतिष्ठा का कब्रिस्तान ही बनना था। (The Cambridge Shorter History of India, P. 391)

भारत में डच (The Dutch in India)—इतिहास के विद्यार्थी फ़िलिप द्वितीय के विरुद्ध नैदरलैण्ड के विद्रोह से परिचित ही हैं। यह बात सर्वविदित ही है कि फ़िलिप के समस्त प्रयत्नों के उपरान्त भी वे अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल हो गए। यह उस सफलता प्राप्ति के समय की ही बात है कि आम्स्टर्डम (Amsterdam) के व्यापारियों के एक दल ने भी १५९२ में डच कम्पनी की स्थापना की। इसके तीन वर्ष पश्चात् कॉर्नीलियस हाउटमैन भारत के लिए चल पड़ा तथा १५९७ में बहुत से माल के साथ लौटा। इस प्रकार डचों के लिए भारतीय टापुओं का समुदाय खुल गया। डचों की यह सफलता इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि बहुत-सी अन्य कम्पनियाँ भी आरम्भ की गईं। १६०२ में समस्त डच कम्पनियों को

डच ईस्ट इण्डिया कंम्पनी में मिला दिया गया। इसके लिए एक चार्टर (अधिपत्र) तैयार किया गया। इससे उक्त कम्पनी को पूर्वी व्यापार का एकाधिकार मिल गया। साथ ही उसे इस बात का भी अधिकार प्राप्त हो गया कि आवश्यकता पड़ने पर वह युद्ध तथा सन्धि भी कर सकती है। उसे उपनिवेशों पर अधिकार करने तथा किले बनाने का अधिकार भी प्राप्त हो गया।

डच कम्पनी का मुख्य उद्देश्य व्यापार करना था। डचों ने अपना ध्यान सुदूरपूर्व में मसाले वाले द्वीपों पर केन्द्रित किया। उन्होंने अपना एकाधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने द्वीपों के मुखियों, मुख्याधिकारियों को हॉलैण्ड के अधिकार को स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। इस बात का प्रयत्न किया गया कि व्यापार का एकाधिकार बना रहे।

यह सच है कि डच तथा अंग्रेज़ पूर्व में मित्र रूप में दाखिल हुए। दोनों प्रोटैस्टेंट विचारधारा के समर्थक थे, तथा स्पेन व पुर्तगाल, जो कैथोलिक विचारधारा के पोषक हैं, के विरोधी थे। आगे जाकर इन दोनों--डचों तथा अंग्रेज़ों—में भी मतभेद आरम्भ हो गया। डच इस बात के लिए दृढ़-संकल्प थे कि व्यापार पर उनका ही एकमात्र अधिकार हो। इन दोनों शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता इतनी बढ़ी कि १६२३ में अम्बोयना के रक्तपात का पूर्ण उत्तरदायित्व डचों पर ही है। इस दुःखद काण्ड के पश्चात् अंग्रेज़ गरम मसाले वाले द्वीप को छोड़ने पर विवश हो गए तथा उन्होंने मुख्य रूप से भारत में ही शरण ली। क्रामवैल के समय में डचो को ८५ हजार पौण्ड की क्षतिपूर्ति देनी पड़ी।

१६४१ में डचों ने पुर्तगालियों से मलाक्का का प्रदेश जीत लिया। १६५८ में उन्होंने श्रीलंका पर क़ब्जा कर लिया। भारत में उनके अधिकार में मद्रास तट पर नागापट्टम तथा बंगाल में चिन्सुरा के प्रदेश थे। आरम्भ से अन्त तक भारत में डचों की स्थिति महत्त्वपूर्ण नहीं रही।

भारत में डैनमार्क वासी (The Danes in India)–अन्य यूरोपीय व्यापारियों के प्रोत्साहन पर डैनमार्क के निवासियों ने भी भारतीय व्यापार में साझीदार बनने का विचार किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने तन्जौर जिले में ट्रानक्वेबर के स्थान पर एक आबादी की स्थापना की। १६७६ में उन्होंने सीरामपुर पर क़ब्जा कर लिया। इतने पर भी डैनमार्क निवासी भारत में अपनी नींव दृढ़ न कर सके तथा परिणामस्वरूप उन्होंने अपनी भारतीय बस्तियाँ १८४५ मे ब्रिटिश सरकार को बेच दीं।

Questions for Revision

1. Trace the history of the rise of the Portuguese power in India and account for its decline.

2. What were the aims of the Portuguese in India ? How far did they succeed in attaining them ?

3. "His (Albuquerque's) lofty vision was accompanied by a commanding character and by tenacity of purpose which few leaders have possessed; he had a genius for civil administration as well as for war, while in diplomacy he could meet orientals with their own weapon." Discuss.

4. Discuss the Portuguese Indian policy under Albuquerque in the light of the Portuguese failure to found a lasting Empire in the East.

5. "Though the earliest in the East, Portugal could not establish any permanent dominion in India." Why ?

6. "The high-handed policy of the Dutch in the Malaya Archipelago was a blessing in disguise for the English." Discuss.

7. Give a brief, critical and comparative account of the progress and decline of the Dutch and French commercial and political enterprises in India.

अध्याय २

अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना तथा विकास

(Rise and Growth of English East India Company)

अन्य यूरोपीय जातियों के समान अंग्रेज भी भारत तथा सुदूर-पूर्व में पैदा होने वाली वस्तुओं के इच्छुक थे। १५८८ में स्पेनिश आर्मेडा पर उनकी विजय के पश्चात् उनकी सीधे व्यापार करने की इच्छा बढ़ने लगी। सितम्बर १५९९ में लॉर्ड मेयर की अध्यक्षता में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसमें भारत के साथ सीधे व्यापार करने के लिए एक संस्था बनाने का निश्चय किया गया। ३१ दिसम्वर, १६०० को महारानी एलिजावेथ ने पूर्वी प्रदेशों के साथ व्यापार करने वाले लन्दन के व्यापारियों की कम्पनी तथा उनके गवर्नर को एक अधिकार-पत्र प्रदान किया। इस अधिकार-पत्र के कारण लन्दन कम्पनी को पण्य तथा व्यापार का अवाध प्राधिकार मिला कि वे पूर्वी प्रदेशों तथा एशिया व अफ्रीका के भागों में तथा उनके साथ तथा एशिया, अफ्रीका, अमरीका के किसी भी द्वीप, वन्दरगाह, शरण-स्थान, खाड़ी, नगर, कस्वों व स्थानों तथा अन्तरीप बोना एस्प्रैंज़ा से मिगेलन की सीमाओं से पार के प्रदेशों में तथा उनके साथ व्यापार कर सकते हैं। यह अधिकार-पत्र १५ वर्षों के लिए दिया गया था तथा दो वर्षों की पूर्व सूचना से उसे रद्द भी किया जा सकता था। यह सच है कि जेम्स प्रथम ने एक नया अधिकार-पत्र प्रदान किया जिसके कारण १६०० का शासन पत्र स्थायी (perpetual) हो गया, किन्तु इसको तीन वर्ष की सूचना देकर समाप्त किया जा सकता था। ऐसा उस समय सम्भव था जव यह प्रमाणित हो जाए कि यह एकाधिकार बहुसंख्यक जन-साधारण के हितों का घातक है।

आरम्भ में लन्दन कम्पनी ने अलग-अलग यात्राएँ संगठित कीं। वास्तव में जो कार्य किया गया वह यह था कि वहुत से लोगों ने यात्रा के लिए धन संग्रह किया तथा सफलता से जो लाभ हुआ वह आपस में बाँट दिया गया। चन्दा देने वालों की कमी न थी क्योंकि कम्पनी को प्राप्त लाभ अत्यधिक थे। कुछ अवस्थाओं में तो यह लाभ ५००% तथा ६००% था। संयुक्त स्टॉक उद्यम १६१२ में प्रारम्भ हुआ। पहली दो यात्राएँ गरम मसाले वाले द्वीपों की ओर की गईं। अंग्रेजी कम्पनी ने बन्ताम में एक कारखाना खोला तथा वहाँ कुछ व्यापार किया। उसे डचों की ओर से कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। तीसरी यात्रा में कप्तान हाकिन्ज़ को भेजा गया। उसका जहाज सूरत जाकर रुका तथा वहाँ वह अंग्रेजों के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए जहाँगीर के दरवार में पहुँचा। दरवार में उसका समुचित स्वागत हुआ तथा अंग्रेजों को सूरत में कोठियाँ वनाने की अनुमति मिल गई। बाद में मुगल दरवार में पुर्तगाली प्रभाव के कारण ये रियायतें खत्म कर दी गईं।

१६१२ ई० में कप्तान वैस्ट ने सूरत के समीप स्वाली पुर्तगाली नौका समुदाय (जहाजी बेड़ों) को पराजित किया। इस विजय का यह परिणाम निकला कि पुर्तगाली प्रभाव कम हो गया तथा अंग्रेज कम्पनी को सूरत में कारखाना खोलने की अनुमति प्राप्त हो गई।

१६१५ ई० में सर टामस रो को इंग्लैंड के *सम्राट् जेम्स प्रथम* की ओर से जहाँगीर के दरबार में भेजा गया। उसे मुगल सम्राट् की ओर से अंग्रेजी कम्पनी के लिए कुछ व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हो गईं। विरोध होने पर भी मुगल सम्राट् ने यह सब कुछ किया।

१६२२ में ईरान नरेश की सहायता से अंग्रेजों ने पुर्तगालियों के आर्मूज़ पर कब्जा कर लिया। अंग्रेजों ने आरामगाँव तथा मसूलीपट्टम में अपने व्यापार केन्द्र स्थापित किए। १६४० में अंग्रेजों ने मद्रास में एक जगह खरीदी। उन्हें फोर्ट सेंट जॉर्ज नामक स्थान पर रक्षित कारखाने खोलने की अनुमति भी प्राप्त हो गई। १६३३ में बालासोर तथा हरिहरपोर में कारखाने स्थापित किए गए। १६५१ में हुगली में एक कारखाना स्थापित किया गया। १६६१ में लन्दन कम्पनी को चार्ल्स द्वितीय द्वारा नाममात्र १० पौण्ड वार्षिक किराए पर बम्बई का द्वीप प्राप्त हो गया।

१६८८ में बंगाल स्थित अंग्रेज व्यापारियों और गवर्नर शाइस्ताखान में झगड़ा हुआ। उस समय सर जोसिया चाइल्ड अंग्रेजी कम्पनी का गवर्नर था तथा उसने इंग्लैण्ड के सम्राट् को मुगल सरकार के विरुद्ध युद्ध घोषित करने की प्रेरणा दी। अंग्रेजों की बुरी तरह पराजय हुई। औरंगजेब की शक्ति से उनका कोई भी मुकाबला न था। सूरत के अंग्रेजी कारखाने पर अधिकार कर लिया गया तथा अंग्रेजों को मुगल इलाकों से चले जाने की आज्ञा हुई। अन्त में शान्ति स्थापित की गई। अंग्रेजों को वापिस आने की अनुमति मिल गई। १६९० में उन्हें औरंगजेब से कलकत्ता के स्थान पर एक कारखाना खोलने की अनुमति मिल गई। १६९६ में उस स्थान पर एक दुर्ग बनाया गया और उसे फोर्ट विलियम का नाम दिया गया। अंग्रेजी कम्पनी ने सुतानाती, कालिकाता तथा गोविन्दपुर के गाँव खरीद लिये। इस प्रकार कलकत्ता नगर का विकास होने लगा।

१७१४ में कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई प्रैजिडैन्सियों की ओर से जॉन सरमन के नेतृत्व में सम्राट् फरुखसीयर के दरबार में एक संयुक्त प्रतिनिधि-मण्डल भेजा गया। विलियम हैमिल्टन की सहायता से, जिसने सम्राट् को एक रोग से अच्छा किया था, सरमन जुलाई १७१७ में तीन फरमान प्राप्त करने में सफल हो गया। इन आज्ञाओं से ३००० रुपये वार्षिक के बदले कम्पनी के बंगाल में बिना किसी कर के व्यापार करने के अधिकार को संपुष्ट कर दिया गया। अंग्रेज कम्पनी को इच्छानुसार कोठियाँ बनाने तथा कलकत्ता के आस-पास अतिरिक्त प्रदेशों को किराए पर लेने की अनुमति मिल गई। हैदराबाद प्रान्त के सम्बन्ध में कम्पनी को देनदारी से सब प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। केवल मद्रास के लिए कम्पनी को कुछ किराया देना पड़ता था। गुजरात प्रान्त में सूरत के स्थान पर सब प्रकार के करों के सम्बन्ध में कम्पनी को १०,००० रुपया वार्षिक देने की स्वीकृति प्राप्त हो गई। अंग्रेज कम्पनी द्वारा बम्बई में टंकित रुपये के सिक्कों का सारे मुगल साम्राज्य में प्रचलन हो गया। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सरमन द्वारा प्राप्त सुविधाओं तथा रियायतों के कारण अंग्रेजी कम्पनी के प्रभुत्व तथा सम्पन्नता में वृद्धि हो गई।

यहाँ प्रसंगवश लन्दन कम्पनी में किए गए विभिन्न परिवर्तनों का उल्लेख करना उचित होगा। १६१५ में कम्पनी को अधिकार दिया गया कि वह अपने कप्तानों को आज्ञाएँ प्रदान कर सके। भारी अपराधों के सम्बन्ध में ज्यूरी के निर्णय को ही मान्य समझा

जाता था। १६२३ में कम्पनी को अधिकार दिया गया कि वह अपने अध्यक्षों तथा मुख्य अधिकारियों को इस प्रकार के अधिकार प्रदान कर सके कि वे कम्पनी के सेवकों द्वारा किए गए अपराधों का दण्ड दे सकें। भारी अपराधों के सम्बन्ध में ज्यूरी ही परीक्षण कर सकती थी।

लन्दन कम्पनी को अस्सादा कम्पनी के विरोध का सामना करना पड़ा। इस कम्पनी को १६३५ में सुदूर-पूर्व के साथ व्यापार करने का प्रमाणपत्र प्राप्त हुआ। इसने मडगास्कर में अस्सादा नामक स्थान पर कोठियाँ बनाईं तथा तेजी से व्यापार करना आरम्भ कर दिया। इससे लन्दन कम्पनी को बड़ी हानि हुई। अन्त में दोनों कम्पनियों में समझौता हुआ तथा अस्सादा कम्पनी लन्दन कम्पनी में मिला दी गई।

लन्दन कम्पनी को इंग्लैण्ड में गृहयुद्ध के कारण धक्का लगा, किन्तु क्रामवैल के समय में उसे लाभ हुआ। १६२३ में अम्बोयना के हत्याकाण्ड के कारण कम्पनी को ८५,००० पौण्ड क्षतिपूर्ति के प्राप्त हुए। १६५७ के अधिकार-पत्र के अधीन कम्पनी को ज्वइन्ट-स्टाक की आवश्यकता हुई। हण्टर के शब्दों में, "लन्दन कम्पनी को एक मध्ययुगीन तथा दुर्बल व्यापारी संस्था के स्थान पर आधुनिक उत्साहपूर्ण तथा पथ-प्रदर्शक संयुक्त स्कंध समवाय (Joint Stock Company) का रूप मिल गया।" १६५७ के अधिकार-पत्र के अनुसार कोई भी व्यक्ति कम्पनी का सदस्य वन सकता था जो ५ पौण्ड प्रवेश के रूप में तथा कम से कम १०० पौण्ड कम्पनी के *स्टाक* में देने के लिए प्रस्तुत हो। ऐसे ही सदस्य को साधारण अधिवेशन में मताधिकार मिल सकता था, यदि उसके पास कम से कम ५०० पौण्ड का *स्टाक* हो। जो व्यक्ति १००० पौण्ड अथवा उससे अधिक का *स्टाक* रखते थे, वे ही समितियों के सदस्य चुने जा सकते थे। गवर्नर तथा उप-गवर्नर का कार्यकाल दो वर्ष कर दिया गया।

१६६१ में रैस्टोरेशन (Restoration) के पश्चात् चार्ल्स द्वितीय ने एक नया अधिकार-पत्र जारी किया। कम्पनी को अपने कारखानों की सुरक्षा के लिए युद्ध-पोत, सैनिक तथा गोलाबारूद भेजने का अधिकार दिया गया। वे किले भी बना सकते थे। उन्हें कमाण्डर तथा अफ़सर चुनने का भी अधिकार था तथा वे अपने अधिकार से कमीशन भी प्रदान कर सकते थे। वे किलों पर अपनी शक्ति का उपयोग कर सकते थे तथा शासन कर सकते थे। उन्हें गवर्नरों तथा अन्य अफ़सरों की नियुक्ति के अधिकार थे। गवर्नर तथा उसकी परिषद् को व्यापक न्यायिक प्राधिकार दिए गए कि "वे उक्त गवर्नर व कम्पनी के तथा उनके अधीन सभी व्यक्तियों के सभी मामलों में राज्य के कानूनों के अनुसार निर्णय कर सकें, चाहे वे मामले फ़ौजदारी हों अथवा दीवानी।" जहाँ कोई गवर्नर न था वहाँ कारखाने के प्रमुख प्रतिनिधि (नियोगी) तथा परिषद् को अधिकार दिया गया कि वे अपराधियों को दण्ड के लिए ऐसे स्थान पर भेज सकें जहाँ कोई गवर्नर तथा परिषद् हो। अपराधियों को इंग्लैण्ड भी भेजा जा सकता था।

१६८३ के अधिकार-पत्र ने कम्पनी को किसी भी अन्य शक्ति के साथ युद्ध अथवा शान्ति रखने के पूर्ण अधिकार प्रदान किए। कम्पनी को इस बात का भी पूर्ण अधिकार दिया गया कि वह एक दृढ़ सेना की भरती कर सके, उसे शस्त्रास्त्र से सुसज्जित, शिक्षित तथा पूर्णरूप से से तैयार कर सकें। अधिकार-पत्र द्वारा कम्पनी को इस बात का भी

अधिकार दिया गया कि ऐसे न्यायालय का निर्माण किया जाए, जिसमें दीवानी कानूनों में निपुण एक व्यक्ति हो तथा कम्पनी द्वारा नियुक्त दो सहकारी शामिल हों।

१६८६ के अधिकार-पत्र द्वारा कम्पनी को इस बात का भी अधिकार दिया कि वह एडमिरल तथा अन्य समुद्री अधिकारियों को नियुक्त कर सके। कम्पनी को इस बात का सामान्य अधिकार दिया गया कि वह सिक्कों के टंकन का कार्य भी कर सकती है।

१६९३ के अधिकार-पत्र द्वारा कम्पनी की पूँजी में ७४४,००० पौण्ड की वृद्धि की गई। किसी भी व्यक्ति को ५१०,००० पौण्ड से अधिक पूँजी लगाने की अनुमति नहीं थी। पूँजी के प्रत्येक एक हज़ार पौण्ड के लिए सदस्य को एक मत देने का अधिकार था, किन्तु कोई भी सदस्य १० से अधिक मतों का प्रयोग नहीं कर सकता था। गवर्नर तथा उप-गवर्नर के वेतन निश्चित कर दिए गए। १६९४ के अधिकार-पत्र ने अफ़सरों की नियुक्ति में rotation के नियम को आवश्यक कर दिया। गवर्नर और उप-गवर्नर दो वर्ष से अधिक के लिए अपने पद पर काम नहीं कर सकते थे। २४ समितियों में से ८ समितियों का चुनाव प्रतिवर्ष होने का नियम बनाया गया।

यहाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के "सैण्डिस" वाले मामले का उल्लेख करना वाँछनीय है। इस मामले में कम्पनी ने श्री सैण्डिस के विरुद्ध इस आधार पर कार्यवाही की कि उसने बिना अधिकार-पत्र के सुदूर-पूर्व के स्थानों के साथ व्यापार किया था। मुकदमा कम्पनी के पक्ष में हुआ। कम्पनी ने रैडब्रिज़ जहाज़ को रोका, जो टेम्ज़ नदी में खड़ा था, तथा जिसे सुदूर-पूर्व के प्रदेशों को भेजा जाना था। कम्पनी की कार्यवाही को चुनौती दी गई। ऐसा कहा गया कि कम्पनी को जहाज़ रोकने का कोई अधिकार नहीं था। १९ जनवरी १६९४ को हाउस आफ़ कामन्स ने प्रस्ताव स्वीकृत किया कि "इंग्लैण्ड के प्रत्येक व्यक्ति को सुदूर-पूर्व के प्रदेशों के साथ व्यापार करने का समान अधिकार है, जब तक पार्लियामेंट के किसी अधिनियम द्वारा ऐसा करने की निषेधाज्ञा न हो।" यद्यपि पार्लियामेंट के प्रस्ताव में कानून की सी शक्ति नहीं थी, तो भी इससे ऐसा प्रभाव हुआ कि बिना अधिकार प्रवेश करने वालों को प्रोत्साहन मिला। क्योंकि कम्पनी उनको रोकने के लिए दृढ़-संकल्प थी, इसलिए कठिनाई का होना आवश्यक था।

इस समय श्री मांटेगू अर्थ मन्त्री (चांसलर) थे। उन्हें राज्य के लिए वित्त की आवश्यकता थी तथा इसके लिए वे उपायों और साधनों की खोज कर रहे थे। व्यापार की सब सुविधाएँ उन लोगों को देना स्वीकार किया गया, जो पौण्ड ८% की दर से सरकार को २० लाख दे सकते थे। लन्दन कम्पनी ने सात लाख पौंड देने का प्रस्ताव किया। यह राशि अपर्याप्त थी। किन्तु एक नई कम्पनी उतनी राशि देने को तैयार हो गई, जितनी की आवश्यकता थी। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश पार्लियामेंट ने १६९८ में एक विधेयक पास किया। इसके द्वारा राज्य के लिए २० लाख पौण्ड स्टर्लिंग की ऋण के रूप में माँग की गई। इसके बदले में 'जनरल सोसाइटी' को सुदूर-पूर्व के प्रदेशों को व्यापार-सम्बन्धी एकमात्र अधिकार देने की स्वीकृति का वचन दिया गया। लन्दन कम्पनी को अपने व्यापार को १७०१ में बन्द करने के लिए तीन वर्षों की अवधि की सूचना दी जानी थी।

अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए पुरानी कम्पनी ने नई कम्पनी में ३,१५,०००

पौण्ड के हिस्से खरीद किये। दोनों कम्पनियों में कुछ समय के लिए घातक प्रतिस्पर्धा रही। इसका परिणाम यह हुआ कि नई कम्पनी को बहुत हानि होने लगी। अन्त में १७०२ में एक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार, "पुरानी कम्पनी सात वर्षों तक अपना पृथक् अस्तित्व रख सकती थी, किन्तु दोनों कम्पनियों का व्यापार इंग्लिश कम्पनी के नाम से सम्मिलित रूप से चलना था। दोनों के सम्मिलित (संयुक्त) लाभ के लिए दोनों कम्पनियों को १२-१२ प्रबन्धकों का चुनाव करना था और इस प्रकार इन चौबीस प्रबन्धकों की देख-रेख में ही कम्पनी का कार्य होना था। सात वर्षों की अवधि व्यतीत हो जाने पर पुरानी कम्पनी को अपने अधिकार-पत्र सौंप देना था।" नई कम्पनी को "सुदूर-पूर्व के द्वीपों के साथ व्यापार करने वाली इंग्लैण्ड के व्यापारियों की संयुक्त कम्पनी" इस नाम से व्यापार करना था। मार्च १७०९ में लन्दन कम्पनी ने सम्राज्ञी ऐन को अपने अधिकार-पत्र सौंप दिए।

फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी (French East India Company)—जिस प्रकार अन्य यूरोपीय जातियाँ भारत के साथ व्यापार करने तथा लाभ प्राप्त करने की इच्छुक थीं, उसी प्रकार फ्रांसीसियों ने अपने भाग्य की परीक्षा करने का विचार किया। १६११ में फ्राँस के बारहवें लुई ने पूर्वी व्यापार करने के लिए एक कम्पनी को पूर्णाधिकारयुक्त अधिकार-पत्र प्रदान किए, किन्तु यह प्रयत्न निष्फल हुआ। १६६४ में कोल्बर्ट तथा चौदहवें लुई के नेतृत्व में एक नई कम्पनी का आरम्भ हुआ। फ्रांस की सरकार ने फ्रांसीसी कम्पनी के इलाके की रक्षा करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। फ्रांसीसी कम्पनी को भारत में ही व्यापार करना था। मध्य में मडग़ास्कर मध्यस्थान के रूप में काम आना था। दिसम्बर १६६७ में मनोनीत डायरैक्टर जनरल फ्रांसिस केरन द्वारा सूरत में पहला फ्रांसीसी कारखाना स्थापित किया गया। दिसम्बर १६६९ में एक अन्य फ्रांसीसी कारखाना मसूलीपट्टम में खोला गया। इसे खोलने में गोलकुण्डा के नवाब भी सहायक सिद्ध हुए, जिन्होंने कम्पनी को आयात तथा निर्यात करों से छूट प्रदान कर दी। १७६२ में केरन को वापिस बुला लिया गया तथा फ्रांसिस मार्टिन ने उसका स्थान ले लिया।

भारत में फ्रांसीसी कम्पनी के संस्थापकों में मार्टिन का स्थान वस्तुतः उल्लेखनीय है। अपनी नियुक्ति के प्रथम वर्ष में ही उसने बीजापुर नरेश शेरखान लोदी की अनुमति से पाण्डिचेरी की बस्ती की स्थापना की। अपनी सरकार से सहायता प्राप्त न होने पर भी वह भारत की भूमि में पाण्डिचेरी को फ्रांसीसियों की प्रमुख बस्ती के रूप में बना सका। यह सच है कि १६९३ में पाण्डिचेरी को डचों को सौंपना पड़ा, क्योंकि डचों की सेना अच्छी थी। किन्तु १६९७ में रिज्विक की सन्धि के अनुसार यह बस्ती पुनः फ्रांसीसियों को मिल गयी। मार्टिन को दुबारा पाण्डिचेरी का गवर्नर नियुक्त किया गया। १७०६ में मार्टिन की मृत्यु हो गई।

चन्द्रनगर, बालासोर तथा कासिम बाज़ार में भी फ्रांसीसियों की अपनी बस्तियाँ थीं। मालाबार तट पर फ्रांसीसियों ने १७२५ में माही प्राप्त किया। १७३९ में उन्होंने कोरोमंडल तट पर करीकल भी प्राप्त कर लिया।

मार्टिन की मृत्यु के पश्चात् कुछ समय तक फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के

कार्यों में कुछ अव्यवस्था रही, किन्तु १७२६ के पश्चात् स्थिति सुधरने लगी। १७३५ में ड्यूमस पाण्डिचेरी का गवर्नर बना। उसे दिल्ली सरकार से सिक्के बनाने की अनुमति मिल गई। १७३६ में तन्जौर की राजगद्दी दिलाने में सहायता देने के कारण पुरस्कार-स्वरूप उसे करीकल मिला। यह उस समय की बात है जबकि फ्रांसीसी कम्पनी का अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी से संघर्ष हुआ।

Questions for Revision

1. Give some account of the struggle between the Old and the New East India Companies till Godolphin's award of 1708.
2. Give an account of the beginning of the French East India Company.

अध्याय ३

दक्षिण में प्रभुत्व के लिए अंग्रेज़ों तथा फ्रांसीसियों का संघर्ष

(Anglo-French Struggle for Supremacy in the Deccan)

अंग्रेज़ों तथा फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनियों में प्रभुत्व के लिए संघर्षों का वर्णन करने से पूर्व यह उचित होगा कि कर्नाटक की लड़ाइयों के समय की स्थितियों का स्पष्टीकरण किया जाए। संक्षेप में स्थिति यह थी कि अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक गैर-सरकारी उद्योग था और उसमें कार्य प्रारम्भ करने की शक्ति तथा उपक्रम था। यह एक सम्पन्न कम्पनी थी तथा वहुत-सा व्यापार इसके अधिकार में था। कम्पनी के रिकार्ड से यह बात भली प्रकार से प्रमाणित होती है। इसके अधिकारी अपने-अपने पदों पर पूर्ण परिश्रम से कार्य करते थे तथा अंग्रेजों को अपने उज्ज्वल भविष्य की आशा थी। इसकी तुलना में फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक प्रकार से राज्य के संरक्षण के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी तथा इसमें स्वाभाविक व्यापारी कार्यशीलता दृष्टिगोचर नहीं होती थी। इस पर राज्य का अत्यधिक नियंत्रण था। इस से फ्रांसीसी कम्पनी के अधिकारियों की किसी कार्य को स्वयं करने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती थी। उनका व्यापार भी अधिक नहीं था तथा इसके परिणामस्वरूप फ्रांसीसी कम्पनी असम्पन्न थी। उनकी महत्त्वपूर्ण बस्ती भी एकमात्र पाण्डिचेरी थी। चन्द्रनगर की अवस्था असन्तोषजनक थी। बम्बई की तुलना में ये स्थान कुछ भी नहीं थे। अंग्रेज़ी कम्पनी की उन्नति तथा विकास का विवरण महत्त्वपूर्ण तथा सन्तोषजनक था। परिणामस्वरूप अंग्रेज अपनी अंग्रेज़ी कम्पनी के सम्बन्ध में गर्व की भावना का अनुभव करते थे। केवल इस कारण से ही फ्रांसीसी अपनी कम्पनी के प्रति हतोत्साहित नहीं थे। प्रभुत्व के इस संघर्ष में अंग्रेज़ों की अपेक्षा फ्रांसीसियों के मार्ग में अनेक बाधाएँ थीं। डूप्ले की कार्य कुशलता तथा प्रभाव इन सब परिस्थितियों को परिवर्तित नहीं कर सका।

कर्नाटक का प्रथम युद्ध (First Carnatic War), (१७४६-४८)—दक्षिण में फ्रांसीसी तथा अंग्रेज़ी कम्पनियों में कर्नाटक के तीन युद्ध हुए। इन युद्धों से दक्षिण में फ्रांसीसियों का प्रभुत्व सदा के लिए लोप हो गया। कर्नाटक का प्रथम युद्ध तो केवल आस्ट्रिया के उत्तराधिकार वाले युद्ध की प्रतिध्वनि थी। यह युद्ध यूरोप में आस्ट्रिया की राज्यगद्दी पर मेरिया थरेसा के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में हुआ। पूर्व स्वीकृति के होने पर भी प्रशिया के फ्रैड्रिक महान् ने सिलेसिया पर अधिकार कर लिया। उसने व्यंगपूर्वक कहा कि मेरिया थरेसा के पिता को इस निश्चयात्मक स्वीकृति की अपेक्षा, जो रद्दी काग़ज से अधिक महत्त्व नहीं रखता, अधिक सेना की व्यवस्था कर देनी चाहिए थी। इस उत्तराधिकार के लिए आस्ट्रियन युद्ध का समाचार १७४४ में भारत पहुँचा। किन्तु युद्ध की अफवाहें १७४० से चल रही थीं तथा दोनों पक्ष एक दूसरे को निकालने की तैयारियाँ कर रहे थे।

इस समय डूप्ले पांडिचेरी का गवर्नर था। ऐसा कहा जाता है कि अपनी स्थिति

सुदृढ़ न देख कर, डूप्ले ने मद्रास के गवर्नर को यह सुझाव दिया कि वह तटस्थ रहे। अंग्रेज़ गवर्नर ने यह सुझाव स्वीकार नहीं किया। वह अपनी सरकार से फौजों तथा अन्य युद्ध-सामग्री की आशा कर रहा था तथा उसे आशा थी कि वह उनकी सहायता से फ्रांसीसियों को भारत के बाहर खदेड़ देगा। डूप्ले फ्रांसीसियों के बचाने के लिए अभी प्रयत्नशील था। अन्त में उसने कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन से अपील की। नवाब ने अंग्रेज़ी तथा फ्रांसीसी इन दोनों कम्पनियों को न लड़ने के लिए कहा, जिससे देश की शान्ति भंग न हो। अंग्रेज़ों को कर्नाटक के नवाब के अधिकार को चुनौती देना पसन्द नहीं आया। इसलिए उन्होंने उसकी आज्ञा का पालन किया। ब्रिटिश फौजें भारत गईं, किन्तु कमाण्डर बॉर्नेट शीघ्र ही मर गया।

डूप्ले ने मारिशस के गवर्नर ला बौर्डोना को भी सहायता के लिए लिखा था। इसका परिणाम यह हुआ कि ला बौर्डोना नौ सेना के साथ शीघ्र ही जुलाई १७४६ में कारोमंडल तट पर आ पहुँचा। फ्रांसीसी तथा ब्रिटिश सेनाओं की कुछ समय के लिए मुठभेड़ हुई, किन्तु कुछ समय के पश्चात् अंग्रेज़ फौजें लंका के लिए रवाना हो गईं। अपनी स्थिति दृढ़ समझ कर डूप्ले ने ला बौर्डोना से कहा कि वह मद्रास को घेर ले। जब उसने ऐसा किया, तो अंग्रेज कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन के पास पहुँचे कि वे फ्रांसीसियों को मद्रास से चले जाने तथा शान्ति स्थापित करने को कहें। डूप्ले ने अनवरुद्दीन को इस शर्त पर मद्रास सौंपने का वचन दे दिया कि वह फ्रांसीसियों को उसे जीतने की अनुमति दे। नवाब मान गया। सितम्बर १७४६ में मद्रास फ्रांसीसियों के अधिकार में आ गया। डूप्ले तथा ला बौर्डोना में मतभेद उत्पन्न हो गया। ला बौर्डोना ने एक लाख पागोडे (सिक्के) की घूँस ले ली तथा ४०,००० पौण्ड लेकर अंग्रेज़ों को मद्रास लौटा दिया। डूप्ले ने ला बौर्डोना के किये हुए कार्य का विरोध किया तथा मद्रास पर पुनः अधिकार कर लिया। जब अनवरुद्दीन ने उसे मद्रास सौंपने को कहा, तो उसने इन्कार कर दिया। परिणामस्वरूप नवाब ने फ्रांसीसियों के विरुद्ध लड़ने के लिए सेना भेजी। मद्रास के समीप अडियार अथवा सेंट थोम के युद्ध में फौजें पराजित हुईं। इस लड़ाई में फ्रांसीसियों को सफलता प्राप्त हुई तथा नवाब की सेना पराजित हुई। अडियार का युद्ध भारतवर्ष के निश्चयात्मक युद्धों में से एक माना जाता है।

इस युद्ध से यह सिद्ध हो गया कि घुड़सवार सेना की अपेक्षा तोपखाने सहित अनुशासन में काम करने वाली पैदल सेना कहीं अधिक उत्तम होती है।

डूप्ले ने सेंट डेविड दुर्ग पर भी अधिकार करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह इसमें सफल नहीं हो सका। अंग्रेज़ों ने पांडिचेरी पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, किन्तु फ्रांसीसियों ने सफलतापूर्वक उसकी रक्षा की।

कर्नाटक के प्रथम युद्ध की समाप्ति ऐक्स-ला-शिपेल की सन्धि के साथ १७४८ में हुई। इस सन्धि का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ों को मद्रास पुनः वापिस मिला तथा फ्रांसीसियों को उत्तरी अमरीका में लुइवर्ग मिला। यद्यपि इस सन्धि से कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ तथापि प्रो० डाडवैल के कथनानुसार, भारतीय इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण घटना है। उनके शब्दों में, "इससे समुद्री शक्ति के अत्यधिक प्रभाव का प्रदर्शन हुआ तथा भारतीय फौजों की युद्ध-पद्धति पर यूरोपीय युद्ध-पद्धति के महत्त्वपूर्ण होने का प्रदर्शन हुआ। इससे यह भी

स्पष्ट हो गया कि भारतीय राज्य के हृदय में कौनसा राजनीतिक विनाश घुन की भाँति अपना कार्य कर रहा है।"

हैदराबाद राज्य का उत्थान (Rise of Hyderabad State)—द्वितीय कर्नाटक युद्ध की घटनाओं का वर्णन करने से पहले यह आवश्यक है कि हैदराबाद राज्य के उत्थान का वर्णन किया जाय। इस राज्य को "निज़ाम-उल-मुल्क" ने बनाया। १७१३ में इसे दक्कन के छः सूबों का राज्यपाल बनाया गया। निज़ाम महत्त्वाकांक्षी और सिद्धान्तहीन व्यक्ति था और इसने इन सूबों का स्वतन्त्र राज्य करने की ठान ली। इस ध्येय में सफल होने से पहले उसे बड़े ऊँच-नीच देखने पड़े। वह १७१५ में देहली वापिस बुलाये जाने तक दक्कन का राज्यपाल बना रहा। उसे भिन्न-भिन्न स्थानों पर राज्यपाल बनाया गया। उसे मुरादाबाद, पटना और उज्जैन भेजा गया। १७१९ में उसे वापिस बुलाकर, अकबराबाद, इलाहाबाद, मुलतान और बुरहानपुर के चार राज्यों में से किसी एक को चुनने के लिए कहा गया। उसे यह आज्ञा रुचिकर नहीं हुई और वह आत्मरक्षा की तैयारी करने लगा। वह सीधा नर्मदा पहुँचा और मई १७२० में उसे पार कर गया। मई १७२० में इसने असीराबाद और बुरहानपुर के दुर्ग विजय किये। क्रमशः जून और जुलाई १७२० में इसने खंडवा और बालापुर के स्थान पर मुग़ल सेना को परास्त किया। इन विजयों के कारण वह दक्कन के छः सूबों का स्वामी हो गया और मुग़ल सम्राट् ने इसे राज्यपाल की उपाधि प्रदान की।

१७२२ में उसे मुग़ल साम्राज्य का वज़ीर नियुक्त किया गया। वज़ीर होने के नाते इसने मुग़ल साम्राज्य के तीव्रता से होते हुए विनाश को रोकने का प्रयत्न किया किन्तु कार्य को असम्भव पाकर वह १७२४ में दक्कन चला गया। उसका यह कार्य विश्वासघात समझा गया और मुग़ल सेना के विरुद्ध अक्टूबर १७२४ में शाकर-खेडा के स्थान पर युद्ध में विजयी हुआ। १७२५ में निज़ाम ने हैदराबाद विजय किया। जून १७२५ में उसे क्षमा कर दिया गया और उसे औपचारिक रूप से दक्कन का स्वामी नियुक्त करने की आज्ञा प्रसारित हुई। उसे मालवा और गुजरात के राज्यपाल के पद से हटा दिया गया। १७२५ के पश्चात् निज़ाम-उल-मुल्क ने अपना ध्यान दक्कन के सुधार में लगाया और बिना किसी बाधा के वह हैदराबाद राज्य का निर्माण करने में सफल हुआ। १७४८ में अपनी मृत्यु के समय तक वह इस कार्य में लगा रहा। किन्तु उसे मराठों से जो अपनी शक्ति से सबको विजय करने में दृढ़ संकल्प थे, लड़ना पड़ा। १७२७ से १७३१ के समय में निजाम मराठों में फूट पैदा करने में सफल रहा किन्तु अन्त में असफल रहा। बाजीराव पेशवा ने निजाम को पालखेड़ के युद्ध में परास्त किया और मुंगी-शेगांव की सन्धि करने पर बाध्य कर दिया। निज़ाम ने मराठों को चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने की अनुमति दे दी।

१७३७ में निज़ाम को मुग़ल राज्य का प्रधान मंत्री नियुक्त किया गया और "आसफ-जाह"—अर्थात् सम्राट् सुलेमान के मंत्री आसफ के समान आदरणीय—की उपाधि दी गई। निज़ाम के सम्मुख प्रमुख समस्या मराठों से निपटने की थी। किन्तु १७३८ में भोपाल के निकट बाजीराव ने स्वयं निज़ाम को परास्त किया। निज़ाम को "दुराई-सराय" की सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार सारा मालवा, नर्मदा और चम्बल नदियों के बीच का प्रदेश बाजीराव को देना पड़ा। जब नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया उस

समय निज़ाम देहली में था। किन्तु वह दक्कन लौट गया और १७४८ में अपनी मृत्यु तक अपनी शक्ति बनाने में लगा रहा। मृत्यु से पहले वह हैदराबाद राज्य को ठोस आधार पर खड़ा कर गया।

यदुनाथ सरकार के मतानुसार, "एक चौथाई शताब्दी तक आसफ जाह मुग़ल साम्राज्य का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति रहा। सर्वसाधारण उसे औरंगज़ेब की नीति और परिपाटी का एकमात्र प्रतिनिधि मानते थे। दरबार के युवक सरदार उसे पिता तुल्य मानकर आदर करते थे। मूर्ख और चाटुकार उसकी अनुशासन और प्रशासन की ईमानदारी के कारण उससे घृणा करते थे। वह निर्विवाद रूप से तत्कालीन भारत का सर्वश्रेष्ठ सेनानायक था। शासन और कूटनीति में भी वह कम नहीं था। हमें उसके एक सच्चे प्रशासक की दूरदर्शिता और सहिष्णुता के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। उसने मुबारिज़ खां के बचे हुए साथियों को उदारता से अपना बना लिया। अपने पुत्र नासिरजंग के विद्रोह को नष्ट करने के पश्चात् एक सन्दूक, जिसमें उसके अपने दरबार के ३८ सरदारों के विद्रोहात्मक करारनामे थे, बिना खोले ही नष्ट कर दिया। इससे भी अधिक, उसकी बुद्धिमत्ता का परिचय इस घटना से मिलता है कि जब नादिरशाह ने मुहम्मदशाह की अयोग्यता से घृणा करके देहली का सिंहासन आसफजाह को देना चाहा तो उसने यह कहकर कि "मैं अपने स्वामी के साथ विश्वासघात नहीं करूँगा" मना कर दिया।" (Cambridge Historyof India, Vol. IV, P. 385)

कर्नाटक का दूसरा युद्ध (Second Carnatic War), १७४८-५४—अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के मध्य होने वाले युद्धों के दो पक्ष हैं। एक ओर आसफ़जाह निज़ामुलमुल्क की मृत्यु मई १७४८ में हुई। उसके द्वितीय पुत्र नाज़िर जंग तथा उनके पौत्र मुजफ़्फ़र जंग[1] में संघर्ष था। दोनों दक्षिण के अधिपति होने के अभिलाषी थे। मुजफ़्फ़र जंग चंदा साहेब के साथ मिल गया, जो अर्काट का नवाब बनना चाहता था। चंदा साहेब[2] ने डूप्ले के साथ समझौते की बातचीत आरम्भ की। डूप्ल भावी महत्त्व को तभी अनुकूल समझता था, यदि चंदा साहेब तथा मुजफ़्फ़र जंग दोनों की सहायता की जाए। इस नए प्रस्ताव से प्राप्त होने वाले लाभों को प्राप्त करना कठिन नहीं था। मुजफ़्फ़र जंग और चंदा साहेब ने फ्रांसीसियों की सहायता से अगस्त १७४९ में अनवरुद्दीन को अम्बर के युद्ध में हराया। अनवरुद्दीन मारा गया और उसके पुत्र मुहम्मद अली ने त्रिचनापल्ली के दुर्ग में शरण ली। चंदा साहेब शेष कर्नाटक पर नियन्त्रण प्राप्त करने में समर्थ हो गया।

---

[1] वह आसफ़जाह की पुत्री का बेटा था।

[2] चंदा साहिब, अर्काट के नवाब दोस्त अली का दामाद था। १७३२ में उसके श्वसुर ने उसे त्रिचनापल्ली विजय करने के लिये भेजा। उसने तंजोर और मदुरा पर भी अधिकार करना चाहा, किन्तु मराठों के विरोध के कारण असफल रहा। चन्दा साहिब ने अर्काट विजय करने की सोची, जब उसके श्वसुर को १७४० में मराठों ने मार डाला। किन्तु वह अपने उद्देश्य में असफल रहा। मराठों ने उससे त्रिचनापल्ली भी छीन लिया। मराठों ने उसे पकड़कर सात वर्ष कैद में रखा। पहले तीन वर्ष उसने बरार में बिताये। १७४४ में उसे सितारा ले जाया गया। मराठों ने उससे मुक्ति के लिये लाखों रुपयों की माँग की। उसने पेशवाओं से मित्रता करने का प्रयत्न किया, किन्तु असफल रहा। १७४८ में वह सितारा से भाग निकला और एक नई सेना बनाने में सफल रहा।

पांडिचेरी को घेरने के आक्रमण के सम्बन्ध में अधिक जोर नहीं दिया गया। उसने तंजौर के राजा के साथ कार्यवाही करने में बहुत सा समय व्यर्थ में गँवा दिया। जिस प्रकार फ्रांसीसियों ने मुजफ़्फ़र जंग तथा चंदा साहेब की सहायता की उसी प्रकार अंग्रेजों ने नासिर जंग की सहायता की। नासिर जंग ने १७५० में सफलता प्राप्त की। मुजफ़्फ़रजंग पराजित हुआ, पकड़ा गया तथा बंदी हुआ। भाग्य-चक्र में परिवर्तन हुआ। नासिरजंग की सेनाओं ने उसका साथ न दिया, वह पकड़ा गया तथा मार दिया गया। ऐसे समय में मुजफ़्फ़र जंग ने कंपनी को ५०,००० पौण्ड दिया। उसने उसे जागीर भी दी, जिसकी आय १०,००० पौण्ड वार्षिक थी। चंदा साहेब को अर्काट के नवाब के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

इंगलिश कम्पनी ने प्रस्तावित परिवर्त्तनों को मानने से इनकार कर दिया। जो लोग परिवर्तन के विरोधी थे, उनका नेता गवर्नर सांडर्ज़ था। ऐसे समय में क्लाइव घटना-स्थल पर प्रकट हुआ तथा उसने अर्काट पर अधिकार कर लिया। उसे अर्काट से दूर रखने के प्रयत्न असफल हुए। यहाँ तक कि जब चंदा साहेब ने अपने पुत्र के आधीन अपनी आधी फौज अर्काट को छुड़ाने के लिए भेजी, तब भी पूर्व की अपेक्षा अच्छी सफलता प्राप्त हुई। क्योंकि चंदा साहेब की आधी फौज त्रिचनापल्ली से अर्काट भेज दी गई, त्रिचनापल्ली का घेरा छोड़ देना पड़ा। चन्दा साहेब स्वयं पराजित हुआ तथा मारा गया। सम्पूर्ण कर्नाटक अंग्रेजों के हाथ में आ गया।

डूप्ले ने इस परिस्थिति से बचना चाहा, किन्तु वह सफल न हो सका। अंग्रेजों को फ्रांसीसियों के विरुद्ध एक विजय के पश्चात् दूसरी विजय प्राप्त हुई। अंग्रेज तथा फ्रांसीसी कमिश्नरों के मध्य सम्मेलन हुआ, किन्तु यह अपने उद्देश्य में सफल न हुआ। सम्मेलन के थोड़ी देर बाद युद्ध पुनः आरम्भ हो गया। इससे पूर्व कि कुछ अधिक प्रयत्न किया जा सकता, १७५४ में डूप्ले को वापिस बुला लिया गया तथा वह १७६४ में मर गया।

डूप्ले के पश्चात् गोडेहियू ने कार्य-भार संभाला। उसने अंग्रेजों के साथ शान्ति के समझौते की शर्तों के सम्बन्ध में बातचीत की। एक नई सन्धि के अनुसार दोनों जातियों ने भारतीय राज्यों के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न करने में सहमति प्रकट की। फ्रांसीसियों तथा अंग्रेजों को अपनी पुरानी स्थिति प्राप्त हो गई। अंग्रेजों को उत्तरी सिरकार्स में एक कस्बा प्राप्त हुआ। बुसनी दक्षिण में रहा तथा अपने प्रभाव से लाभ उठाता रहा। ऐसा कहा जाता है कि १७५५ की सन्धि के अनुसार गोडेहियू ने अपना वह सब कुछ बलिदान कर दिया, जिसके लिए डूप्ले ने संघर्ष किया था। स्वयं डूप्ले के कथनानुसार, गोडेहियू ने "देश के नाश तथा जाति के अपमान पर हस्ताक्षर कर दिए।" फ्रांसीसियों ने वह सब कुछ देना स्वीकार कर लिया, जो उन्होंने अब तक अधिकार में किया था। चाहे सन्धि बुद्धिमत्ता-पूर्ण हो अथवा नहीं, एक बात तो निश्चित ही है कि इससे अंग्रेज अधिक शक्तिशाली हो गए। इससे उनको काफी आराम भी मिल गया, जिसकी उनको आवश्यकता थी। यह कर्नाटक की तीसरी लड़ाई के पूर्व समय की अवस्था है।

कर्नाटक का तीसरा युद्ध (Third Carnatic War), १७५६-६३—फ्रांसीसी तथा अंग्रेज कम्पनी के मध्य शान्ति अस्थायी थी। यूरोप में १७५६ में सात-वर्षीय

युद्ध आरम्भ हुआ और शीघ्र ही दोनों जातियों ने भारत में भी लड़ना आरम्भ कर दिया। फ्रांसीसी सरकार ने गवर्नर तथा कमाण्डर-इन-चीफ़ के रूप में काउण्ट लाली को भेजा। अत्यंत कठिनता से लाली भारतवर्ष में पहुँचा क्योंकि अंग्रेजों का सामुद्रिक प्रभुत्व अधिक था। उसे आरम्भ में कुछ सफलता प्राप्त हुई। वह सेंट डेविड के किले पर अधिकार करने में समर्थ हो गया। उसने दक्षिण से बुस्से को भी बुलवाया। यह उसकी भूल थी। ज्यों ही बुस्से चला गया, फ्रांसीसी प्रभाव समाप्त हो गया। सलावत जंग अंग्रेजों के साथ मिल गया तथा उन्हें उत्तरी सरकार्स दे दिया। लाली ने मद्रास को हस्तगत करना चाहा, किन्तु असफल रहा। उसे विवश होकर पांडीचेरी लौटना पड़ा तथा जनवरी १७६० में वैण्डीवाश के युद्ध में सर आयर कूट से पराजित हुआ। यह युद्ध निश्चयात्मक (decisive) था। इससे फ़्रांसीसियों का भाग्य सदैव के लिए पलट गया। बुस्से बंदी बना लिया गया। करीकल अप्रैल १७६० में हाथ से निकल गया। लाली ने जनवरी १७६१ में पांडीचेरी में हथियार डाल दिए। अप्रैल १७६१ में जिंजी पर अधिकार कर लिया। फ्रांसीसी वास्तव में सब कुछ खो बैठे थे। पेरिस की सन्धि के पश्चात् युद्ध-बन्दियों की अदला-बदली हुई। लाली को फ्रांस लौटा दिया गया, किन्तु उसका विरोध हुआ और उस पर मुकदमा चला। पैरिस की सन्धि (१७६३) द्वारा फ्रांस की बस्तियाँ उनको पुनः मिल गईं, किन्तु फ्रांसीसियों को वहाँ दुर्ग-रचना करने का अधिकार नहीं दिया गया। यह सत्य है कि लार्ड वैल्ज़ली के समय में फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों को कुछ कष्ट दिए थे किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कर्नाटक के तीन युद्धों ने पूर्ण रूप से भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना के सब अवसर नष्ट कर दिए।

अंग्रेजों की सफलता के कारण (Causes of English Success)—(१) इस प्रसंग में अंग्रेजी कम्पनी की सफलता तथा फ्रांसीसी कम्पनी की असफलता के कारणों पर वाद-विवाद करना उचित है। प्रथम तो यह कहना उचित है कि अंग्रेजी कम्पनी एक गैर-सरकारी उद्यम था। इससे लोगों में आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न हुई। वे जानते थे कि यदि वे परिश्रम करेंगे, लाभ प्राप्त होगा, तथा यदि उन्होंने आलस्य किया, वे बरबाद हो जाएँगे। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी कम्पनी सम्पन्न हो गई। उसकी अवस्था इतनी दृढ़ थी कि वह सरकार को ऋण दे सकती थी। दूसरी ओर फ्रांसीसी कम्पनी अपनी सरकार का एक विभाग मात्र थी। इसमें आत्म-विश्वास की कमी थी तथा वह पूर्ण रूप से अपनी उस सरकार पर निर्भर करती थी, जो १८वीं शताब्दी में बहुत बुरी अवस्था में थी। फ्रांसीसी सरकार के राज्य में होने वाली भ्रष्टाचार की झलक फ्रेंच कम्पनी में दीख पड़ती थी। इसके अलावा फ्रांसीसी सरकार की ओर से हिस्सेदारों को लाभ के कुछ निश्चित अंश का आश्वासन था। इसके कारण भी फ्रांसीसी कम्पनी के अधिकारियों में उपक्रम (Initiative) का अभाव था। अंग्रेजी कम्पनी का गैरसरकारी होने का एक और भी लाभ था। उनकी सरकार के किसी भी प्रकार के परिवर्तन का भारत-स्थित अंग्रेजी कम्पनी के भाग्य पर कुछ भी प्रभाव न हुआ।

(२) अंग्रेजों की सफलता का एक और कारण उनकी समुद्री शक्ति का प्रभुत्व था। इस कारण अंग्रेज जब कभी चाहते, वे भारत को सहायता भेज सकते थे। कोई भी उनके मार्ग में बाधा डालने वाला न था। भारत-स्थित फ्रांसीसी बस्तियों तथा फ्रांस की

फ्रांसीसी बस्तियों में यही मुख्य बात थी, जिससे इनके पारस्परिक सम्बन्ध में एक खाई-सी उत्पन्न हो गई थी। फ्रांसीसी लोग जब कभी भारत में आते थे, तब वे इस बात का प्रयत्न करते कि वे मार्ग में अंग्रेजों के सम्पर्क में न आवें। इसका परिणाम यह होता कि कई बार मार्ग में महीने तथा वर्ष लग जाते थे। काउण्ट लाली के सम्बन्ध में तो विशेष रूप से ऐसा ही हुआ। यद्यपि वह फ्रांस से बहुत शीघ्र चल पड़ा, जिससे वह समय पर भारत पहुँच जाए, किन्तु मार्ग में विवशतापूर्वक ठहरने के कारण वह भारत बहुत देर से पहुँचा।

(३) अंग्रेजों की समुद्री शक्ति का मुख्य स्थान बम्बई था। इसका परिणाम यह था कि वे बम्बई में अपने जहाज सुरक्षापूर्वक रख सकते थे तथा जैसे ही उन्हें अवसर मिलता था, वे अपनी कार्रवाई आरम्भ कर सकते थे। वे वहाँ अपने जहाजों की मरम्मत भी कर सकते थे। फ्रांसीसियों की समुद्री शक्ति का अड्डा फ्रांस के द्वीप में था, जो बहुत दूर था। इसका परिणाम यह था कि वे कोई भी कार्रवाई तुरन्त नहीं कर सकते थे।

(४) अंग्रेजों के पास भारत में तीन प्रसिद्ध स्थान थे—कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई। इसका परिणाम यह था कि यदि शत्रु इनमें से किसी स्थान को जीत लेता तो भी दो स्थान शेष थे। यदि शत्रु एक ही समय में दो स्थान भी जीत लेता, तो भी अंग्रेजों के पास एक स्थान सदैव रहता क्योंकि तीनों स्थान एक दूसरे से दूर थे। तीनों स्थानों को एक ही समय पर जीता नहीं जा सकता था। फ्रांसीसियों के पास भारत में केवल एक ही महत्त्वपूर्ण स्थान था और वह था पाण्डिचेरी। माही तथा चन्द्रनगर जैसे शेष स्थान किसी भी समय जीते जा सकते थे तथा वे सदैव अंग्रेजों की दया पर ही रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि पाण्डिचेरी के पतन के साथ फ्रांसीसी अपना सब कुछ हार गए।

(५) फ्रांसीसी भारत में उलटे मार्ग से प्रविष्ट हुए। दक्षिण का प्रदेश उपजाऊ न था, वह पूर्ण रूप से अनुपजाऊ था। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांसीसियों द्वारा दक्षिण की फौजी सफलता ने उनकी क्षतिपूर्ति न की। उनका उपक्रम असफल रहा। दूसरी ओर अंग्रेज भारत में ठीक मार्ग से प्रविष्ट हुए। वे बंगाल से रवाना हुए। उसकी भूमि अत्यन्त उपजाऊ थी। लोगों के पास बहुत सी सम्पत्ति थी, परिणामस्वरूप अंग्रेजों को विजय के पश्चात् बहुत सा धन मिला। इसके अतिरिक्त गंगा नदी के मार्ग से अंग्रेज बंगाल की ओर से देश के भीतरी भागों में प्रवेश कर सकते थे। अच्छी सड़कों के अभाव में नदियों के कारण संचार तथा यातायात के साधन सुगम थे।

(६) फ्रांसीसियों की एक और भूल यह थी कि उन्होंने व्यापारिक बातों को सीमा सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षाओं की अपेक्षा गौण स्थान दिया। इसके कारण फ्रांसीसी कम्पनी निर्धन हो गई। उसका सारा धन युद्धों में व्यर्थ चला गया। फ्रांसीसी सरकार यूरोप तथा अमरीका में व्यस्त रहने के कारण डूप्ले की महत्त्वाकांक्षापूर्ण योजनाओं का पूर्ण समर्थन करने की स्थिति में नहीं थी। दूसरी ओर अंग्रेज समुद्री शक्ति की ओर सदैव ध्यान देते थे तथा अपने व्यापार में कभी उपेक्षा नहीं करते थे। अंग्रेजी कम्पनी के डायरेक्टरों के निर्देशों में बढ़ते हुए व्यापार पर अधिक महत्त्व दिया जाता था। इसी तथ्य के कारण अंग्रेजी कम्पनी सम्पन्न तथा वैभवशाली रही।

(७) अंग्रेजों के सौभाग्य की एक और बात यह थी कि उनके पक्ष में बहुत से बड़े व्यक्ति थे। डूप्ले की अपेक्षा क्लाइव का व्यक्तित्व ऊँचा था। लारेन्स का व्यक्तित्व भी

ऐसा ही था। सर आयरकूट भी ऐसे ही व्यक्ति थे। न तो काउण्ट लाली और न बुस्से सर आयरकूट की तुलना में समकक्ष थे। इसके साथ ही फ्रांसीसी अधिकारी प्रायः आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। वे सहयोग से कार्य न कर सकते थे। इससे उनका विनाश हुआ। यह बात सर्वविदित है कि डूप्ले तथा ला बौर्डोना मद्रास के प्रश्न पर सहयोग न कर सके तथा दूसरे ने पहले का साथ छोड़ दिया। दूसरी ओर अंग्रेज सदैव एक दूसरे की सहायता करते थे और यही उनकी उन्नति का रहस्य था।

(८) फ्रांसीसी सरकार उस समय पूर्ण रूप से जर्जरित अवस्था में थी। वह भारत स्थित फ्रांसीसी अधिकारियों द्वारा की गई सेवाओं की प्रशंसा तक नहीं करती थी। यह बात सर्वविदित है कि लाली फाँसी पर लटकाया गया, डूप्ले पर मुकदमा चलाया गया, तथा वह अन्त में धनहीन अवस्था में मर गया। दूसरी ओर, अंग्रेज़ अधिकारियों में भूलों के होते हुए भी, ब्रिटिश सरकार अपने अधिकारियों की प्रशंसा करती थी। यह बात सर्वविदित है कि लार्ड क्लाइव के विरुद्ध आलोचना के होते हुए भी, अन्त में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसमें उसे भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का संस्थापक माना गया। यही बात वारेन हेस्टिंग्ज़ के सम्बन्ध में हुई। यद्यपि उस पर अभियोग लगाया गया, उसे आदरपूर्वक मुक्त कर दिया गया तथा बाद में अपने देशवासियों द्वारा उसे सब प्रकार का सम्मान प्राप्त हुआ।

(९) डा० वी० ए० स्मिथ के कथनानुसार, "न तो बुस्से और न डूप्ले अलग-अलग रूप में, और न दोनों मिलकर ऐसी सरकार के विरुद्ध सफलता प्राप्त कर सकते थे, जिसका समुद्री मार्गों तथा गंगा घाटी पर नियंत्रण हो। फ्रांसीसी असफलता के लिए डूप्ले, लाली तथा अन्य छोटे लोगों के व्यक्तिगत दोषों पर ज़ोर देना व्यर्थ है। न तो सिकन्दर महान् और न नैपोलियन ही भारत के साम्राज्य को जीत सकते थे, यदि वे पांडिचेरी को अपना मोर्चा बनाकर चलते और ऐसी शक्ति से उलझते, जिसके अधिकार में बंगाल था और जिसका समुद्र पर अधिकार था।"

(१०) अलफ्रैड लायल के कथनानुसार, "भारत में व्यापारिक अथवा फ़ौजी सफलता की दो मुख्य शर्तें ये थीं—तटीय प्रदेशों में दृढ़ मोर्चेबन्दी तथा ऐसी नौसेना का होना, जो यूरोप के साथ संचार का मार्ग खोल सके। अँग्रेज़ समुद्र पर अपना गौरव बढ़ा चुके थे तथा फ्रांसीसी स्थल पर भी अपनी शक्ति खो रहे थे। उनकी असफलता का मुख्य कारण दुर्भाग्य तथा व्यक्तिगत अयोग्यता नहीं है (क्योंकि उसे पूरा किया जा सकता था), अपितु परिस्थितियों का सामूहिक संयोग है जिसके कारण उस समय फ्रांसीसियों को अंग्रेज़ों से कड़ा संघर्ष करना पड़ा।

डॉडवैल के मतानुसार, अंग्रेज़ों की सफलता का मुख्य कारण उनकी सेना द्वारा सामुद्रिक सत्ता की स्थापना करना था, जिसके कारण वे बंगाल और इंगलैण्ड से सेना, धन और रसद प्राप्त करते थे, उन्हें यथास्थान पहुँचाकर अपनी सेना के मोर्चों को सँभाल सकते थे और फ्रांसीसियों की रसद बन्द कर सकते थे। इसके कारण लाली (Lally) बड़ी कठिनाई में पड़ गया और जो शक्ति डूप्ले ने संचित की थी वह इस समुद्री शक्ति के प्रथम सम्पर्क में ही समाप्त हो गई। यह शक्ति उस समय निष्क्रिय थी जिस समय डूप्ले अपनी कूटनीति का बाना बुन रहा था। उस समय भी बुसे (Bussey) के अभियानों से फ्रांसी-

सियों की सेना के लिए कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ था किन्तु बंगाल से अंग्रेज़ इस कठिन समय में सेना और धन भेजते रहे थे। अन्त में लाली अपने चरित्र की कमियों के कारण एक असाध्य कार्य में फँस गया। एक नेता के रूप में वह शीघ्रगामी, क्षुद्र बुद्धि और क्रोधी था। वह रसद सम्बन्धी प्रबन्ध करने की आशा अन्य व्यक्तियों से करता, और अपने सलाहकारों द्वारा जिनके साथ वह दुर्व्यवहार कर चुका था, पैदा की जा सकनेवाली कठिनाइयों के विषय में कभी विचार नहीं करता था। पुनश्च, कोई भी व्यक्ति एक ही समय में अँग्रेज़ों से युद्ध तथा पान्डिचेरी के शासन की दुर्व्यवस्था को नहीं सुधार सकता था। इस बात को जानकर कि उसे प्रशासन सुधार करने का कार्य सौंपा गया है, कम्पनी के सारे लोग इस प्रयत्न में लगे थे कि वह बड़े अपयश के साथ योरोप लौट जाय। (The Cambridge Shorter History of India, page 434).

डूप्ले का मूल्यांकन (Estimate of Dupleix)—निस्संदेह फ्रांसीसी कम्पनी द्वारा भारत भेजे जानेवाले सर्वश्रेष्ठ फ्रांसीसियों में से एक डूप्ले था। वह ही ऐसा व्यक्ति था जिसने भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य को स्थापित करने का स्वप्न देखा। उसने भारतवर्ष की राजनीतिक अवस्था का भली प्रकार से विश्लेषण किया तथा इसी परिणाम पर पहुँचा कि यदि एक राज्य को दूसरे राज्य के विरुद्ध सहायता दी जाए तो फ्रांसीसी अपनी साधन-सामग्री में वृद्धि कर सकते हैं तथा अन्त में इस देश में अपना साम्राज्य स्थापित कर सकते हैं। यह बात ऊपर बताई जा चुकी है कि इस कार्य को प्रारम्भ करते हुए उसने पूर्ण कुशलता का परिचय दिया। वह कर्नाटक की राजगद्दी पर चन्दा साहेब को बिठलाने में सफल हो गया। उसे दक्षिण की गद्दी पर मुजफ़्फ़र जंग को बिठाने में भी सफलता प्राप्त हो गई। जब मुजफ़्फरजंग की मृत्यु हुई तब वह उसके स्थान पर सलावतख़ां को बिठाने में समर्थ हो गया। उसे सलावतजंग से उत्तरी सरकार्स प्राप्त हुआ। बुस्से को सलावतजंग के साथ ठहराया गया। ऐसा प्रतीत होता था कि दक्षिणी भारत में फ्रांसीसी प्रभाव वृद्धि पर है, किन्तु परिस्थितियाँ बदल गईं। क्लाइव इस बीच में प्रकट हुआ तथा उसने अर्काट पर अधिकार कर लिया। चन्दा साहेब डूप्ले के कथनानुसार कार्य न कर सका तथा उसने तंजौर में अपना समय व्यर्थ खोया जबकि उसे चाहिए था कि वह त्रिचनापल्ली में शीघ्र ही मुहम्मदअली के साथ विरोध समाप्त कर देता। चन्दा साहेब की ओर से होनेवाली इस देर का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ों को तैयारी का समय मिल गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्त में चन्दा साहिब पराजित हुआ तथा डूप्ले की योजना असफल हो गई।

यह सत्य है कि डूप्ले क्लाइव के समान कुशल कूटनीतिज्ञ था, किन्तु क्लाइव एक महान् सैनिक भी था, जबकि डूप्ले ऐसा नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि डूप्ले क्लाइव की तुलना में नहीं ठहर सकता था। इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं कि जहाँ डूप्ले असफल हुआ, वहाँ क्लाइव सफल हुआ।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि डूप्ले के मार्ग में निरन्तर बाधाएँ उपस्थित रहीं। उसके पास धन की कमी रही तथा उसकी सेनाएँ भी अपर्याप्त थीं। यदि उसके पास पर्याप्त धन होता तो वह भारतीयों में बहुत से लोगों को सेना में भरती कर लेता। किसी भी व्यक्ति के लिए ऐसे सैनिकों का साथ पाना असम्भव था, जिनको वेतन

देन का वचन तो दिया जाता किन्तु मिलता नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि डूप्ले की योजनाएँ पूर्ण न हो सकीं।

आलोचकों का कहना है कि डूप्ले के स्वामी भारत में भावी फ्रांसीसी साम्राज्य की उन्नति की अपेक्षा अपने लाभ का अधिक ध्यान रखते थे। यह भी ठीक है कि डूप्ले को अंशतः दोष मिलना चाहिए क्योंकि उसने अपनी योजनाओं के सम्बन्ध में अपनी सरकार से खोलकर कभी कुछ नहीं बताया, किन्तु जब कभी उसने ऐसा किया, तो किसी भी व्यक्ति ने अधिक उत्साह नहीं दिखाया। इसका एकमात्र यह परिणाम हुआ कि उसे वापिस बुला लिया गया।

इतिहास में डूप्ले का चित्रण दुःखान्त नाटक के नायक के रूप में होगा। उसे उसके भाग्य तथा देशवासियों ने साथ नहीं दिया। उसने ठीक ही कहा कि "उसने अपने यौवन, भाग्य तथा जीवन तक का बलिदान कर दिया।" वह युद्धों के व्यय के लिए अपनी जेब से ही धन व्यय कर चुका था।

ऐलफ़िंस्टन के कथनानुसार, "डूप्ले पहला व्यक्ति था जिसने अनुशासित सिपाहियों का पूर्ण उपयोग किया, वह पहला व्यक्ति था जिसने समुद्र की बन्दरगाहों को छोड़ दिया तथा देश के मध्य भाग तक अपनी सेनाओं को ले गया। वह पहला व्यक्ति था जिसने मुग़लों की झूठी शान के भ्रम को पहचाना तथा अपने उद्देश्य की ओर ध्यान दिया। यह डर ऐसा था, जिसके द्वारा दुर्बल मन वाले लोग इससे भयभीत थे।"

मल्लेसन के कथनानुसार, "डूप्ले एक महान् प्रशासक तथा कूटनीतिज्ञ था। उसमें संगठन की महान् शक्ति तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए गहरी लगन थी।"

राबर्ट्स के शब्दों में डूप्ले भारतीय इतिहास में एक उल्लेखनीय तथा वीर व्यक्तित्व है। यद्यपि हम पुराने असमीक्षात्मक अनुमान को छोड़ भी दें तथापि उसके वास्तविक महत्त्व के अधिकार को नहीं छोड़ सकते। उसके राजनीतिक विचार साहसपूर्ण तथा काल्पनिक थे। उसने कुछ वर्षों के लिए पूरब में फ्रांस के नाम को बहुत ऊँचा चमकाया। उसने भारतीय नरेशों तथा नेताओं में इतनी प्रसिद्धि को प्राप्त किया, जो अब तक और कोई प्राप्त नहीं कर सका तथा उसने अपने समकालीन अंग्रेज़ों में भय की भावना पैदा की। यह उसकी व्यक्तिगत शक्ति तथा उसके चातुर्य के प्रति श्रद्धाञ्जलि है।

डॉडवैल के मतानुसार, डूप्ले की नीति में स्थायी सफलता के आधारभूत तत्त्वों की कमी थी। उसकी नीति योरोप के युद्ध में अधिक नहीं चल सकती थी। यदि उसे वापिस बुलाया ही नहीं जाता तो कूट (Coote) और अन्य अंग्रेज पदाधिकारियों ने पाण्डिचेरी पर घेरा डालकर, उसे विजय करके नष्ट कर दिया होता। जिस प्रकार सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में पूर्वीय देशों में साम्राज्य की स्थापना सामुद्रिक शक्ति पर आधारित थी उसी प्रकार अठारहवीं शताब्दी में इसका आधार मूलरूप से राजनैतिक प्रभाव को फैलाने पर था। किन्तु जैसा कि बाद में सिद्ध हुआ, यह साधन फ्रांस के पास नहीं था। डूप्ले की सफलता अस्थायी अनुकूल परिस्थितियों के कारण थी। उसने अपना अभियान आस्ट्रिया के उत्तराधिकार युद्ध के पश्चात् किया। अंग्रेज़ों का प्रमुख हथियार, उनकी समुद्री शक्ति उस समय स्तब्ध थी। वे पाण्डिचेरी की ओर रसद और गोला-बारूद ले जानेवाले जहाज़ों

की रोकथाम, तोड़-फोड़ या टक्कर नहीं ले सकते थे। इन परिस्थितियों का लाभ उठाए बिना डूप्ले के लिए यह असम्भव था कि वह इतनी शानदार विजय प्राप्त कर सका होता, जैसी कि उसने वास्तव में प्राप्त की। (The Cambridge Shorter History of India, page 427)

यह बात प्रायः कही जाती है कि "भारत को अंग्रेजों के जीतने के लिए उस मार्ग का अनुसरण करना पड़ा, जो फ्रांस की बुद्धि ने उसके लिए खोला था। अंग्रेजों की सफलता के कारणों को संक्षिप्त रूप से वर्णित करते हुए जेम्स मिल ने बताया है कि भारत पर विजय प्राप्त करने के लिए दो आवश्यक खोजें इस प्रकार थीं— (१) यूरोपीय अनुशासन के विरुद्ध देशी (भारतीय) सेनाओं का कमजोर होना तथा (२) देशी लोगों को यूरोपीय लोगों की सेवा में रहते हुए इस प्रकार के अनुशासन की शिक्षा देने की सुविधा प्राप्त होना तथा ये दोनों खोजें फ्रांसीसियों को ही सूझीं। बहुत से लेखकों का मत है कि डूप्ले की असफलता के कारण फ्रांसीसी समुद्री सेना के अफसरों का प्रभाव-हीन सहयोग, अच्छे फौजी सेनाध्यक्षों का अभाव, सैनिक संघर्ष के संकटकालीन क्षणों के अवसर पर दुर्भाग्य का होना तथा फ्रांसीसी मन्त्रिमण्डल की हार्दिक भावना की न्यूनता आदि थे।

सर अल्फ्रैड लायल ने स्वीकार किया है कि डूप्ले एक ऐसा बुद्धिमान् तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से दूरदर्शी व्यक्ति था जिसने उन सब बाधाओं के विरुद्ध वीरतापूर्वक संघर्ष किया, किन्तु उसका यह भी कहना है कि अंग्रेजों के पक्ष में क्लाइव तथा लारेन्स जैसे सेनापति थे, जो डूप्ले आदि फ्रांसीसी फौजी अफसरों की अपेक्षा अधिक गुणवान थे। एक मात्र बुस्से को ही अपवादस्वरूप कहा जा सकता है। बुस्से एक अत्यन्त योग्य व्यक्ति था, किन्तु उसे हैदराबाद में फौजी डिक्टेटर के रूप में अपने भाग्य-निर्माण का अधिक ध्यान था। उसे इस बात की उतनी चिन्ता नहीं थी कि कर्नाटक में अंग्रेज तथा फ्रांसीसी सेनापतियों के मध्य जो विषम संघर्ष चल रहा था और जिससे कोई लाभ होने वाला न था, उसमें वह भाग ले सके। जब दुर्भाग्य ने डूप्ले तथा लाली पर अपना अधिकार कर लिया, तब उसने दोनों के प्रति अनुदारतापूर्वक व्यवहार किया। अलफ्रैड एलफ़िस्टन के साथ इस बात में एकमत है कि "डूप्ले पहला व्यक्ति था, जिसने अनुशासित सैनिक का पूर्ण उपयोग किया। वह पहला व्यक्ति था, जिसने समुद्र पर के बन्दरगाहों को छोड़ दिया तथा जिसने महाद्वीप के भीतर अपनी सेनाओं को प्रविष्ट करवाया। इन सबसे बढ़कर यह कहना होगा कि वह ऐसा पहला व्यक्ति था, जिसने मुगलों की महान् शक्ति की मिथ्या भावना का पहले-पहल पता लगाया।" किन्तु उसका मत है कि डूप्ले को एशियाई युद्ध-कला तथा राजनीति का प्रथम अनुसन्धानकर्त्ता नहीं माना जा सकता। सभी प्राच्य राज्यों तथा फौजों की कमजोरी का पता देर से चल चुका था। भारत विदेशी आक्रमणों का सामना करने की योग्यता नहीं दिखा सका था। दक्षिण भारत के नरेश जिन सैनिकों पर विश्वास करते थे, वे उत्तर के वे लोग थे, जिनसे धन देकर काम लिया जा सकता था अर्थात् जो भाड़े के टट्टू थे। बर्नियर का मत था कि तुरेन के सैनिकों का एक दल उतना ही कार्य कर सकता था, जितना मुगलों की सम्पूर्ण सेना कर सकती थी। तत्कालीन यूरोपीय सैनिकों के लिए यह सामान्य ज्ञान की बात थी कि कर्नाटक के अनुशासन-हीन सैनिकों की टुकड़ियों को थोड़े से अस्त्रों से सुसज्जित तथा अनुशासनयुक्त सैनिक टुकड़ियों से भगाया जा सकता था। इस बात में

कोई नवीनता नहीं थी, जब कि फ्रांसीसियों ने कुछ एक सैनिक देशी टुकड़ियों को अपनी सेवा के लिए ड्रिल का अभ्यास कराया। मुगल सेना में सदैव कुछ यूरोपीय अफसर होते थे तथा मराठों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही सूचना प्राप्त है।

अलफ्रैड डूप्ले को इस बात का श्रेय देने को उद्यत है कि वह पहले-पहल यूरोपीय विजय की ओर उत्साह, योग्यता तथा देश-प्रेम की भावना से अग्रसर हुआ, किन्तु वह इस बात को मानने के लिए उद्यत नहीं कि यदि डूप्ले के प्रति फ्रांसीसी सरकार की अन्धदृष्टि को छोड़ दिया जाए तो उसके साथियों अथवा अधीनस्थ कर्मचारियों की महान् भूलों तथा स्वयं डूप्ले की अन्तिम अस्वीकृति के कारण फ्रांस भारत में इंगलैंड को हटा देता। उसके मतानुसार ऐसा विचार सम्पूर्ण स्थिति का अपूर्ण सर्वेक्षण है। विस्तृत राजनीतिक परिवर्तन किसी एक छोटी लड़ाई अथवा एक प्रान्तीय सेनाध्यक्ष अथवा राज्यपाल (गवर्नर) के किसी विषम क्षण पर निर्भर नहीं करता। ऐसा होने का एक ही कारण नहीं होता, अपितु इसके बहुत से कारण होते हैं।

उक्त विचारों के होते हुए भी अलफ्रैड लायल ने डूप्ले के प्रति यह श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है—"डूप्ले मौलिक तथा उत्साहपूर्ण राजनीतिक अन्तःप्रेरणा का व्यक्ति था। उसका स्वभाव उद्धत तथा नैतिक दृष्टिकोण से निडर था। वह प्राच्य उपनिवेश की विस्तृत तथा कुछ एक साहसी योजनाओं में प्रवृत्त हो जाता था। उसमें निपुणता की कमी नहीं थी; कभी-कभी उसमें शक्ति की कमी तथा लगातार समर्थन का अभाव हो जाता था और इसीलिए वह कभी-कभी अपने कार्य में असफल हो जाता था। उसने देखा कि जब तक यूरोपीय कम्पनी अपनी बस्तियाँ स्थिर रख सकी अथवा अयोग्य तथा अस्थायी भारतीय सरकारों की प्रसन्नता पर व्यापार जारी रखती रही, तब तक स्थिति अत्यन्त विषम अथवा भयंकर रही। उसके विचार में इसका सही मार्ग यह था कि स्वतन्त्रता को दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया जाए, स्वामित्व के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाए अथवा किसी यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वी का मुकाबिला किया जाए, जो उसके मार्ग में बाधा पहुँचाए तथा यदि अंग्रेज उसके लिए पर्याप्त शक्तिशाली न होते, वह सम्भवतः जीत जाता। उसने एक सामान्य भूल यह की कि उसने व्यर्थ के प्रदर्शन पर बल दिया तथा भारतीयों के साथ अपने कार्य-व्यवहारों में चातुर्य-पूर्ण कपट-प्रबन्ध का आश्रय लिया, जबकि एक यूरोपीय व्यक्ति को प्राच्यों के विरुद्ध अपने शस्त्रों द्वारा सामना नहीं करना चाहिए, अपितु उनके शस्त्रों के अनुसार सामना करना चाहिए। उसका यह दावा कि उसे कर्नाटक के नवाब के रूप में स्वीकार कर लिया जाना चाहिए, एक विषम राजनीतिक भूल थी तथा उसमें सन्दिग्ध प्रामाणिकता का अंश मिला हुआ था, क्योंकि यह बात अंग्रेजों के लिए नितान्त असम्भव थी कि वे ऐसी स्थिति को स्वीकार करते, जिसके द्वारा उनकी बस्तियाँ निरन्तर शंका तथा भय की अवस्था में रहें।" तथा "इतना होने पर भी हम उसे १८वीं शताब्दी में फ्रांस तथा इंगलैंड में निरन्तर चलने वाले संघर्ष में, जो लम्बा तथा थका देने वाला था तथा जो समुद्र-पार के उपनिवेश के लिए लड़ा जा रहा था—सबसे उल्लेखनीय व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।" यद्यपि यह बात उसकी शक्ति से बाहर की थी कि वह भारत में दोनों जातियों के अन्तिम भाग्य को प्रभावित कर सकता तथापि उसकी योजनाओं का यह परिणाम था कि "हमने फ्रांसीसियों के विरुद्ध स्वयं वही सब कुछ प्राप्त कर लिया जो फ़्रांसीसियों ने हमारे विरुद्ध अपने लिए प्राप्त करने की इच्छा

की।" इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि "डूप्ले के अतिरिक्त अन्य बहुत से लोगों ने भारतीय साम्राज्य के सम्बन्ध में पूर्व से ही धारणा बना रखी थीं तथा एक से अधिक स्पष्ट मस्तिष्क वाले समीक्षकों ने समझ रखा था कि किस प्रकार आसानी से सारा देश एक यूरोपीय शक्ति से अधीन कर लिया जाएगा।"

Questions for Revision

1. Trace the course of the struggle between the French and the English for political supremacy of the Deccan, and account for the success of the latter.

2. Account for the failure of the French to establish an empire in India.

3. Explain the reasons for the failure of the French East India Company to establish political power in India.

4. Illustrate the influence of sea power in the struggle between the English and the French in India.

5. "Clive's capture of Arcot proved to be the turning point in the contest between the French and the English." Discuss.

6. "Plassey, Panipat and Pondicherry are names which represent the three critical stages in the growth of English Indian rule."(Trotter) Discuss.

7. Dupleix is a striking and brilliant figure in Indian history. His political conceptions were daring and imaginative and he aroused a dread in his English contemporaries which is at once a tribute to his personal power and testimony to their sagacity." Discuss.

8. "The schemes of Dupleix, despite their grandeur were doomed to inevitable failure." Why was this ?

9. "Like all able men, he loved power and both from policy and inclination, was not adverse to a certain theatrical pomp and display." Do you agree with this estimate of Dupleix ?

10. Dupleix was "the first who made an extensive use of disciplined sepoys; the first who quitted the ports on the sea and marched an army, into the heart of the continent; the first above all, who discovered the illustration of the Mughal greatness." (Elphinstone) Discuss.

11. It is my opinion there never can be peace in the province while Dupleix stays in India. He neither values men nor money, nor anything but what can gratify his own ambition. The continued ill-success of his troops would have made anybody but him reflect and be glad of the terms offered; but he talks not like the governor of Pondicherry but as Prince of the Province (Major Lawrence in 1754). Discuss.

अध्याय ४

बंगाल में अंग्रेज़ (१७५७-१७७२)

(The English in Bengal, 1757-1772)

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुग़ल साम्राज्य छिन्न-भिन्न होना आरम्भ हो गया तथा साम्राज्य के कई भाग विभिन्न नवाबों के आधीन स्वतन्त्र हो गए। बंगाल में १७४० तक अलीवर्दीखान[1] ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। उसमें अनुपम कार्य-क्षमता तथा असाधारण योग्यता थी। मराठों ने उसे बहुत कष्ट दिया, किन्तु अन्त में उसने उन्हें उड़ीसा का प्रान्त देकर उनके साथ समझौता कर लिया। चौथ के रूप में उसने छः लाख रुपये वार्षिक देने का वचन दिया। उसने अंग्रेज़ों के साथ भी मित्रतापूर्ण व्यवहार बनाया, लेकिन यह आज्ञा नहीं दी कि वे अपनी बस्तियों में *क़िले* बनवा सकें। वह १७५६ तक शासन करता रहा।

अलीवर्दीखान की मृत्यु के पश्चात् उसका पोता सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना। उस समय उसकी आयु २४ वर्ष की थी। वह केवल स्वेच्छापूर्ण स्वभाव वाला न था, अपितु अत्यन्त लालची भी था। उत्तराधिकार के पश्चात् उसका बंगाल में अंग्रेज़ों के साथ संघर्ष शुरू हो गया। इस संघर्ष के बहुत से कारण थे। "सप्तवर्षीय युद्ध" छिड़ने की आशंका से अंग्रेज़ों ने बंगाल में अपनी बस्तियों में दुर्ग बनाने प्रारम्भ कर दिए। क्योंकि उन्होंने वह सब कुछ नवाब की अनुमति के बिना किया, इसलिए नवाब ने उन्हें आज्ञा दी कि वे इन दुर्गों को गिरा दें, किन्तु अंग्रेजों ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। इससे नवाब के लिए उनके साथ झगड़े का बहाना मिल गया। इसके साथ ही अंग्रेजों ने सिराजुद्दौला के प्रतिद्वन्द्वी शौकतजंग का पक्ष का पक्ष लिया। अंग्रेजों ने बंगाल के एक धनी व्यापारी को शरण दी तथा उसे नवाब के सुपुर्द करने से इनकार कर दिया, यद्यपि इस सम्बन्ध में नवाब ने उसकी माँग की। यह भी हुआ कि जो व्यापारिक सुविधाएँ अंग्रेज़ों को सरकार की ओर से प्रदान की गई थीं, वे उनका अनुचित उपयोग कर रहे थे।

ब्लैकहोल (Blackhole)—इस सबका परिणाम यह हुआ कि सिराजुद्दौला ने कासिम बाजार में अंग्रेजी कारखाने पर अधिकार कर लिया तथा कलकत्ता के नगर पर भी अधिकार जमा लिया। १४६ व्यक्तियों को, जिनमें एक स्त्री थी, पकड़ लिया गया तथा उन्हें रात्रि के समय एक बहुत छोटे से कमरे में बन्द कर दिया गया। गर्मी इतनी

---

[1] अलीवर्दीखान तुर्क था। यह भारतवर्ष आया और १७२६ में इसने बंगाल में राजसेवा स्वीकार की। वह युद्ध और कूटनीति में कुशल था। वह अपनी मोर्चाबन्दी बड़ी सूझ-बूझ से करता था। वह शीघ्र ही बंगाल का एक प्रमुख सेनानायक माना जाने लगा और फिर इसने बिहार विजय किया। उसने कठिन परिश्रम द्वारा दिल्ली दरबार में ख्याति प्राप्त की और उसे महावत जंग की उपाधि दी गई। उसने मुगल सरकार की निर्बलता से लाभ उठाकर पटना से मुर्शिदाबाद पर धावा किया। १७४० में युद्ध हुआ जिसमें अलीवर्दीखान की जीत हुई। इस प्रकार १७४० में वह बंगाल का राज्यपाल बना। बंगाल की राजधानी में एकत्रित धनराशि प्राप्त करने के पश्चात् उसने मुगल सम्राट् को दो करोड़ रुपये भेंट करके अपने पद को स्थायी कर लिया।

अधिक थी तथा स्थान इतना कम था कि उनमें से १२३ व्यक्ति दम घुट जाने के कारण मर गए। उनमें से केवल २३ व्यक्ति बचे और उनमें से एक हालवेल था। यह दुर्घटना "ब्लैकहोल" के नाम से विख्यात है।

इस सम्बन्ध में काफी वाद-विवाद है कि यह दुर्घटना वास्तविक है अथवा काल्पनिक। कुछ ऐतिहासिकों का कथन है कि ब्लैक होल दुर्घटना कभी नहीं घटी। ऐसा कहा जाता है कि १४६ व्यक्तियों को एक छोटे से कमरे में बन्द कर देना संभव नहीं है, जबकि कमरे की लम्बाई २२ फुट तथा चौड़ाई १४ फुट हो। इसके अतिरिक्त उस समय के मुसलमानों की रचनाओं यथा 'सैर मुताखरीन' तथा 'रियास-उस्सलातीन' में इस घटना का बिल्कुल वर्णन नहीं है। यह कहा जाता है कि ब्लैकहोल की कहानी केवल इसलिए गढ़ी गई ताकि भारत-स्थित अंग्रेजों के क्रोध को भड़काया जाए, तथा इस उद्देश्य की पूर्ति में काफी सफलता मिली। केवल हालवेल ही ऐसा व्यक्ति था, जिसने इस दुर्घटना का उल्लेख किया है; लेकिन उसके कथन पर कठिनता से विश्वास किया जा सकता है। सम्भवतः उसने यह कार्य पद-वृद्धि प्राप्त करने के लिए किया हो।

सत्य जो कुछ भी हो, जब ब्लैकहोल दुर्घटना का समाचार मद्रास में पहुँचा तो वहाँ के अंग्रेज भड़क उठे। शीघ्र ही एडमिरल वाट्सन तथा क्लाइव को बंगाल भेजा गया ताकि वे ब्लैकहोल दुर्घटना का बदला ले सकें। वे बिना अधिक कठिनाई के कलकत्ता पर अधिकार करने में समर्थ हुए। सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर आक्रमण किया और उस युद्ध से कोई निश्चय न हो सका। अन्त में शान्ति स्थापित की गई तथा नवाब ने अंग्रेजी कम्पनी को पुनः सुविधा दी। उनको इस बात की भी अनुमति प्रदान की गई कि वे कलकत्ता में दुर्ग बना सकते हैं। सप्तवर्षीय युद्ध छिड़ने के कारण अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों से चन्द्रनगर छीन लिया।

यद्यपि दिखावे के तौर पर क्लाइव ने सिराजुद्दौला के साथ समझौता कर लिया था, तथापि उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि वह ब्लैकहोल दुर्घटना का बदला लेगा। उसने नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा। नवाब के कोषाध्यक्ष रायदुर्लभ, नवाब के सेनापति मीर जाफ़र, बंगाल के सबसे सम्पन्न बैंकर जगत सेठ—इन सब को नवाब के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उभारा गया। षड्यन्त्र की विस्तृत शर्तें अमीचन्द की मार्फत निश्चित की गईं। यह निश्चय किया गया कि क्लाइव को शीघ्र ही प्लासी की ओर कूच कर देना चाहिए। मीर जाफ़र को नवाब का साथ छोड़कर अपने आधीन सारी सेनाएँ लेकर क्लाइव के साथ मिलना चाहिए। नवाब को गद्दी से उतारा जाना था तथा उसके स्थान पर मीर जाफ़र को बिठाए जाने का निश्चय किया गया। किन्तु जब सभी विस्तृत बातों के सम्बन्ध में निश्चय हो गया तो अमीचन्द ने सारे षड्यन्त्र की पोल खोलने की धमकी देते हुए ३० लाख रुपए की माँग की। वह चाहता था कि सन्धि में धनादि का उल्लेख होना चाहिए। जब क्लाइव को इस माँग का पता चला, तो उसे बहुत ठेस पहुँची, किन्तु उसने मन में यह निश्चय कर लिया कि वह अमीचन्द के साथ यथोचित व्यवहार करेगा। उसने सन्धि की दो प्रतियाँ तैयार करवाईं। एक प्रति सफेद कागज पर थी तथा दूसरी लाल कागज पर थी। जो सन्धि सफेद कागज पर लिखी गई थी, उसमें अमीचन्द को तीस लाख रुपए देने का कोई उल्लेख न था और लाल कागज पर लिखे जाने वाले सन्धि-पत्र में इसका उल्लेख

थी। जब क्लाइव ने एडमिरल वाट्सन को झूठी सन्धि पर हस्ताक्षर करने को कहा, तो उसने इनकार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि क्लाइव ने झूठी सन्धि पर वाट्सन के जाली हस्ताक्षर कर दिए। क्लाइव के इस कार्य की सब ओर से निन्दा की गई, किन्तु क्लाइव ने औचित्य के नाम पर इस कार्य को उचित ठहराया है।

प्लासी का युद्ध (Battle of Plassey)—जब सब कुछ तैयार था, तब क्लाइव ने नवाब सिराजुद्दौला को एक पत्र लिखा, जिसमें बंगाल में अंग्रेजों के कष्टों की शिकायत की गई। उसने अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए प्लासी की ओर कूच किया। आरम्भ में क्लाइव के लिए स्थिति बहुत गम्भीर प्रतीत हुई। उसे न लड़ने का परामर्श दिया गया। तो भी उसने शत्रु के साथ युद्ध करने का दृढ़ निश्चय किया। उसके तोपखाने ने शत्रुओं में गड़बड़ पैदा कर दी। ऐसे समय में मीर जाफ़र क्लाइव से आ मिला। ज्योंही यह घटना घटी, युद्ध समाप्त हो गया। क्लाइव को सस्ती तथा निचयात्मक विजय प्राप्त हुई। सिराजुद्दौला मुर्शिदाबाद और वहाँ से पटना भाग गया लेकिन फिर पकड़ा गया और मीर जाफ़र के पुत्र मीरन के हाथों मारा गया।

प्लासी के युद्ध का यह परिणाम हुआ कि मीर जाफ़र को बंगाल की गद्दी पर बिठाया गया। उसने चौबीस परगने तथा एक करोड़ रुपए कम्पनी को दिए। उसने कम्पनी के अन्य अंग्रेज अफसरों को भी उपहार दिए। क्लाइव का हिस्सा ३,३४,००० पौण्ड था।

एडमिरल वाट्सन के शब्दों में, "प्लासी का युद्ध कम्पनी के लिए ही नहीं, अपितु सामान्य रूप से ब्रिटिश जाति के लिए असाधारण महत्त्व रखता था।" एक समकालीन इतिहासज्ञ ने अंग्रेज़ों के लिए प्लासी के महत्त्व का इन शब्दों में वर्णन किया है—"बहुत से लोग जिन्होंने चिरकाल के प्रयत्नों तथा विभिन्न कष्टों के फलों को सम्पूर्ण रूप से खो दिया होता, तथा जो किसी अन्य शक्ति के सत्तारूढ़ हो जाने पर अवश्य भिखारी हो जाते, वे पुन: भाग्य की दृष्टि से सौभाग्यशाली हैं तथा उनमें से कुछ लोगों ने तो पहले ही अपना सामान भी अपनी मातृभूमि को भेज दिया है, यह उन्हें अपने मातृ-स्नेह से प्राप्त होने वाली सहायता का उचित बदला था, तथा जैसे-जैसे इन घटनाओं ने वर्तमान युग तथा वर्तमान प्रशासन-व्यवस्था को विशेषता प्रदान की है, इसी प्रकार उनका प्रभाव आनेवाले समय में अनुभव किया जाएगा। इलाकों के प्राप्त हो जाने के कारण कम्पनी को पर्याप्त व्यवस्था का अवसर प्राप्त है, जो उचित प्रबन्ध के आधीन न केवल उसके लिए अधिक उपयुक्त है, अपितु जाति के लिए भी तथा इस भूमि से प्राप्त आय, कलकत्ता का सिक्के बनाने का कारखाना तथा पटना में शोरे का पट्टा—इन सबकी लगभग वार्षिक आय एक लाख पौंड है, इससे भविष्य के खतरों से अपनी रक्षा की जा सकती है तथा और अधिक व्यय की भी आवश्यकता नहीं।

अंग्रेजी कम्पनी द्वारा एक हिन्दुस्तानी प्रान्त के गवर्नर के पराजय तथा अपमान ने इसकी प्रतिष्ठा तथा शक्ति में वृद्धि कर दी। इसके अतिरिक्त प्लासी के युद्ध ने बंगाल के पूर्ण भ्रष्ट राजनीतिक जीवन का पर्दाफ़ाश किया। इससे यह पता चलता है कि हिन्दू लोग प्रान्त में मुस्लिम शासन से पूर्ण रूप से असंतुष्ट थे। तथा किसी भी ऐसे व्यक्ति का साथ देने को तैयार थे, जो मुस्लिम शासन की समाप्ति के लिए समर्थ हो। किन्तु फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि प्लासी के युद्ध ने भारत में अथवा बंगाल में ब्रिटिश शक्ति को

दृढ़तापूर्वक स्थापित किया। अंग्रेजों को अभी उस स्थिति के प्राप्त करने के लिए पचास वर्ष और लड़ना था।

मीर जाफ़र (Mir Jafar) १७५७-६०—मीर जाफ़र १७५७ से १७६० तक बंगाल का नवाब रहा। वह न तो बुद्धिमान था और न चुस्त। उसमें इतनी क्षमता भी न थी कि वह अपने हाथों से प्रान्त की प्रशासन-व्यवस्था को चला सके। इस दौरान में वह नाम-मात्र का नवाब था और वास्तविक शक्ति तो क्लाइव के हाथों में थी। साथ ही वह सब ओर से बाधाओं से घिरा हुआ था। उसके कोष में धन नहीं था। जब वह राजगद्दी पर बैठा, उसके पास इतना भी धन नहीं था कि वह अपने पहले वचनों को पूर्ण कर सकता। वास्तव में अंग्रेज़ी कम्पनी को मानना पड़ा कि आधा धन ३१ अक्तूबर, १७५७ तक चुका दिया जाए तथा शेष रकम की अदायगी, तीन वर्षों में, प्रत्येक छमाही की बराबर किस्तों में कर दी जाए। पहले-पहल कम्पनी को ७२,७१,६६० रुपए प्राप्त हुए। ९ अगस्त, १७५७ को कम्पनी को १६,५५,३५८ रुपए मिले। ३० अगस्त, १७५७ को कम्पनी को १५,९९,७३७ रुपए का सोना, हीरे तथा नक़द प्राप्त हुए। कलकत्ता कौंसिल के अन्य सदस्यों को भी बड़ी-बड़ी रकमें मिलीं। इन सबका परिणाम यह हुआ कि मीर जाफ़र धन की समस्या के कारण घबरा गया। उसके पास सैनिकों को देने के लिए पैसा न था और उनमें से कुछ ने तो विद्रोह कर दिया। अंग्रेज़ी कम्पनी ने भी किस्तों की प्राप्ति के लिए उस पर दबाव डाला, किन्तु उसने ऐसा करने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

मीर जाफ़र ने दुर्लभराय तथा रामनारायण जैसे हिन्दू अधिकारियों को दबाने का प्रयत्न करके भी भूल की। इससे देश में असन्तोष हुआ। क्लाइव के प्रयत्नों से मीर जाफ़र तथा दुर्लभराय व रामनारायण में परस्पर समझौता स्थापित किया गया।

उधर मीर जाफ़र को डचों से भी भय था। बंगाल में डचों की ओर से भय का वास्तविक कारण ब्रिटिश तथा डचों की आपसी स्पर्द्धा थी। यद्यपि वे अंग्रेज़ों तथा नवाब के संघर्ष के समय तटस्थ रहे किन्तु वे अपने भविष्य के बारे में चिन्तित थे। "वास्तव में इस समय डचों की बंगाल में वही स्थिति थी, जो अंग्रेज़ों की दक्षिण में तब होती, यदि साण्डर्स डूप्ले की योजनाओं के विरुद्ध कुछ न करता। डच नेता बिसडम तथा बर्नेट के सम्बन्ध में अंग्रेज़ों के प्रभुत्व को समाप्त करने के प्रयत्न के लिए वही कारण दिए जा सकते हैं, जो कारण फ्रांसीसियों के विरुद्ध सांडर्स तथा क्लाइव के लिए दक्षिण में प्रस्तुत हुए।"

१७५९ में गंगा में ६-७ जहाज़ प्रकट हुए जिनमें ३०० यूरोपियन तथा ६०० मलाया-निवासी थे। अंग्रेज भी मुकाबले के लिए तैयार हो गए। डचों को कर्नल फ़ोर्ड ने बिड्डेरा के स्थान पर पराजित किया। डच जहाज़ी बेड़े को भी हरा दिया गया तथा उन पर अधिकार कर लिया गया। उन्होंने अंग्रेज़ों के साथ समझौता कर लिया। उन्होंने अपने आपको आक्रमणकारी स्वीकार कर लिया तथा हर्जाना देना स्वीकार किया। ऐसे अवसर पर मीर जाफ़र का पुत्र मीरन घटना-स्थल पर उपस्थित हुआ। वह डचों के विरुद्ध जला-भुना बैठा था। तथापि उसने नेताओं से बातचीत की और सोच-विचार के पश्चात् "उन्हें क्षमा कर दिया तथा उनकी व्यापार सम्बन्धी सुविधाओं के लिए निम्न शर्तों के अनुसार काफी आश्वासन दिए। वे कभी युद्ध न करेंगे, फौजें नहीं रखेंगे और न भरती करेंगे। वे चिन्सुरा, कासिम बाज़ार तथा पटना के कारखानों के लिए एक सौ पच्चीस यूरोपीय

सैनिकों से अधिक न रख सकेंगे तथा शेष सैनिकों को देश से बाहर भेज देंगे। इन शर्तों में से किसी का उल्लंघन करने पर उन्हें निर्वासन के रूप में कठोर दण्ड दिया जाएगा।"

बिडुेरा के युद्ध के पश्चात् डच भारत में आगे बढ़ने में समर्थ न हो सके। भारत में उनकी गुजर-बसर अंग्रेजों के सद्-व्यवहार पर आधारित थी।

अली गौहर का घेरा (Invasion of Ali Gohour)—अली गौहर मुगल सम्राट् आलमगीर का ज्येष्ठ पुत्र था। उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और बिहार पर आक्रमण कर दिया। उसे अवध के शुजाउद्दौला के सबसे बड़े भाई मुहम्मद कुलीखान तथा इलाहाबाद के सूबेदार ने सहायता दी। अली गौहर पटना तक बढ़ गया तथा उसे घेर लिया। लेकिन वह क्लाइव से पराजित हुआ। इस सहायता के लिए क्लाइव को मीर जाफर से कलकत्ता के दक्षिण प्रदेश की भूमि से होने वाली राजस्व की आय मिली। यह स्थान क्लाइव की जागीर के रूप में प्रसिद्ध हुआ। १७६० में अली गौहर ने, जो अब सम्राट् शाह आलम कहलाता था, उस पर पुनः आक्रमण कर दिया। लेकिन पुनः पराजित हुआ। सरकार के शब्दों में, "स्वतन्त्रता की सब आशाएँ लुप्त हो गईं। विवशता और समर्थकों के अभाव में दिल्ली के सम्राट् ने अंग्रेजों से दया की प्रार्थना की।"

पी० ई० राबर्ट्स के अनुसार, "१७५६ की स्थिति की १७६० की स्थिति के साथ तुलना करने पर प्रकट होता है कि उसकी सफलता बिना किसी असत्य की सम्भावना के महत्त्वपूर्ण थी। १७५६ में बंगाल में अंग्रेज साम्राज्य के उक्त प्रान्तों में यद्यपि सबसे अधिक सम्पन्न तथा समृद्ध यूरोपीय जाति के रूप में थे तथापि वे केवल एक सम्पन्न बस्ती वाले व्यापारी-वर्ग के रूप में मान्य थे। उक्त बस्ती में कलकत्ता के आस-पास के कुछ गाँव सम्मिलित थे, जिन्हें कुछ प्रादेशिक अधिकार प्राप्त थे और जिनके आधीन कासिम बाजार, ढाका, बालासोर, जगदिया तथा पटना में कुछ कारखाने अथवा एजेंसियाँ थीं। वर्नियर जैसे चतुर विचारकों, जो १७वीं शताब्दी के अन्त में एक फ्रांसीसी डाक्टर के रूप में कार्य करते थे तथा कर्नल मिल ने जो प्लासी के लगभग दस वर्ष पूर्व देख चुके थे, अपनी सम्मति प्रकट की कि भारतीय फौजें प्रशिक्षित यूरोपीय सेनाओं के मुकाबले में असफल रहेंगी। ब्रिटिश लोगों ने बंगाल के नवाब की शक्ति का सामना करने का अभी तक स्वप्न में भी विचार नहीं किया था।

वे अलीवर्दीखान के कठोर तथा कठिन नियन्त्रण के प्रति कभी-कभी विरोध प्रकट करने पर भी घुटने टेक चुके थे। यह जरूरी था कि उसके साथ अच्छा बर्ताव जारी रखा जाए क्योंकि कारखाने असुरक्षित थे तथा नवाबों की पुश्तैनी आदत थी कि जब कोई गम्भीर झगड़ा होता तो वे उन कारखानों को सब ओर से घेर लेते थे। वे उस समय तक सब प्रकार का व्यापार बन्द कर देते थे, जब तक दूसरे पक्ष के लोग घुटने न टेक दें।

१७६० तक यह स्थिति पूर्ण रूप से बदल गई। ब्रिटिश लोग बंगाल में प्रभुत्व प्राप्त कर रहे थे। फ्रांसीसी तथा डच शक्ति समाप्तप्राय हो गई थी। उनकी सैनिक तथा राजनीतिक शक्ति खत्म हो चुकी थी। उपाधि-प्राप्त प्रान्तीय नवाब कम्पनी का सेवक-मात्र रह गया था। ब्रिटिश प्रभाव कलकत्ता से बढ़कर बंगाल तथा बिहार से होता हुआ अवध की दक्षिणी सीमा तक पहुँच गया था। इस सम्पन्न प्रदेश के अधिकार के कारण मद्रास में भी अंग्रेजों की स्थिति पूर्ण रूप से बदल गई। यह महान् परिवर्तन मुख्य रूप से

क्लाइव के ही कारण हुआ था। वह पूर्ण रूप से पृष्ठभूमि पर काम कर रहा था। "ज्यों-ज्यों हम उस समय के रिकार्डों का अधिकाधिक अध्ययन करते हैं उतना ही अधिक उसकी तीव्र बुद्धि, पूर्ण निश्चय-शक्ति तथा अपने साथियों पर उसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है।"

मीर जाफ़र का गद्दी से हटाया जाना (Deposition of Mir Jafar)--१७६० में मीर जाफ़र के गद्दी से उतारे जाने के बहुत से कारण थे। उसका कोष खाली था। उसके पास न तो कम्पनी को किश्तों के रूप में देने के लिए पैसा था और ना ही कम्पनी के कर्मचारियों को रिश्वतें देने के लिए धन था। कम्पनी के कर्मचारियों ने सोचा कि यदि बंगाल की सरकार में कोई परिवर्तन हुआ तब उन्हें नए उत्तराधिकारी से रिश्वत और उपहार आदि मिलने की अधिक आशा थी। अली गौहर तथा डचों के आक्रमणों के कारण मीर जाफ़र को काफ़ी रुपया व्यय करना पड़ा। जब मरहठों ने बंगाल पर आक्रमण किया तब उसे पुनः अंग्रेजों से सहायता माँगनी पड़ी। तथापि अंग्रेजी कम्पनी के प्रत्येक हस्तक्षेप के कारण "बंगाल पर कम्पनी का और भी अधिक नियन्त्रण होता गया तथा उसके कर्मचारियों को सँभालना कठिन हो गया। कम्पनी के लिए इन फौजों को रखने का भार उसके साधनों पर भारी बोझ था तथा मीर जाफ़र, जिसका कोष समाप्त हो रहा था, इन खर्चों को पूरा न कर सकता था।"

मीर जाफ़र के पुत्र मीरन की मृत्यु के पश्चात् बंगाल की स्थिति और भी चिन्ताजनक हो गई। मीर जाफ़र का जामाता मीर कासिम बंगाल का नवाब बनने के स्वप्न देखने लगा। रंगपुर तथा पूर्निया के फौजदार के रूप में वह अपने चातुर्य का परिचय दे चुका था। कलकत्ता कौंसिल को भी उसने मना लिया। सितम्बर १७६० में उसने अंग्रेजी कम्पनी के साथ सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार उसने अंग्रेजी कम्पनी को बर्दवान, मिदनापुर तथा चिट्टागांग के तीन जिले देने स्वीकार कर लिये। उसने मीर जाफ़र के नाम कम्पनी की रकम की अदायगी भी स्वीकार कर ली। कर्नाटक के युद्धों के लिए भी उसने ३ लाख रुपया देने का वचन दे दिया। उसने वान्सिटार्ट को ५०,००० पौण्ड, हाल्वेल को २७,००० पौण्ड तथा कलकत्ता कौंसिल के अन्य सदस्यों को २५,००० पौण्ड प्रति सदस्य देना स्वीकार कर लिया।

जब कलकत्ता कौंसिल तथा मीर कासिम के बीच यह निश्चय हो गया, तब वान्सिटार्ट मीर जाफ़र की स्वीकृति लेने के लिए मुर्शिदाबाद गया। मीर जाफ़र ने इस नई सन्धि के प्रति दृढ़ विरोध प्रकट किया। किन्तु उसे यह निश्चय हो गया कि उसके विरोध से कुछ होने वाला नहीं। उसने घोषणा की, "यदि मीर कासिम को एक बार स्वीकृत कर लिया गया, तो उसके जीवन का एक दिन के लिए भी कोई महत्त्व नहीं। ऐसी स्थिति में इन शर्तों पर नवाब रहने की अपेक्षा वह कलकत्ता जाकर आराम से रहना अधिक पसन्द करेगा।" मीर जाफ़र ने गद्दी छोड़ दी और वह कलकत्ता चला गया। वहाँ वह मीर कासिम के पेंशनर के रूप में जीवन व्यतीत करने लगा। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मीर जाफ़र का गद्दी से उतारा जाना "निष्ठापूर्वक की गई सन्धि का उल्लंघन है।" कलकत्ता कौंसिल के सदस्यों की इस सम्बन्ध में जितनी भी निन्दा की जाए, वह कम है। उनका कर्त्तव्य था कि वे उसका "पूर्ण समर्थन" करते। उसका गद्दी से उतारा जाना

"हमारे राष्ट्रीय चरित्र पर एक ऐसा कलंक है, जिसे धोया नहीं जा सकता।" सम्भवतः मीर जाफ़र योग्य था। १७५७ में उसने अपने स्वामी को धोखा दिया था।

मीर कासिम (Mir Kasim), **१७६०-६३**—यह सब स्वीकार करते हैं कि १७५६ के बाद से बंगाल के नवाबों में मीर कासिम सबसे योग्य नवाब था। फौजदार के पद पर रहते हुए वह अपने प्रशासकीय गुण का परिचय दे चुका था। वह एक ऐसा व्यक्ति था, जो अपने व्यक्तित्व के कारण लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता था। उसके समकालीन लोगों ने उसकी बुद्धि तथा सहृदयता के गुणों की प्रशंसा की है। वन्सीटार्ट के शब्दों में "उसने कम्पनी का ऋण चुका दिया तथा अपनी फौजों का शेष वेतन आदि का रुपया भी चुकता कर दिया। उसने अपने दरबार के खर्चे बहुत घटा दिए, जो उसके पूर्ववर्ती शासकों की आय में घुन के समान लगे थे। उसने देश के जमींदारों के अधिकारों को कम करके देश का शासन अपने अधिकार में कर लिया। इससे पूर्व जमींदार प्रान्त की शान्ति में लगातार बाधक सिद्ध होते थे।" गुलाम हुसैन ने मीर कासिम की इन शब्दों में प्रशंसा की है, "सरकार के कार्यों की उलझनों तथा विशेष रूप से वित्तीय कठिन गुत्थियों को सुलझाने में; वैयक्तिक मतभेदों की जाँच-पड़ताल तथा निश्चय करने में, अपनी सेनाओं को तथा अन्य घरेलू कर्मचारियों को नियमित वेतन देने में, योग्य व्यक्तियों तथा विद्वानों का आदर करने में, तथा पैसा खर्च करने में सब किस्म की ऊँच-नीच को ध्यान में रखने आदि में वह निस्सन्देह अपने समय का अद्वितीय व्यक्ति तथा असाधारण शासक था।"

मीर कासिम ने अपने शासन का आरम्भ अत्यन्त निपुणता से किया। उसने बंगाल तथा बिहार के उन विद्रोही जमींदारों का दमन किया जिन्होंने पहले नवाब का विरोध किया था। उसने पुराने अधिकारियों को गबन किए हुए धन को लौटाने के लिए विवश किया। उसने कुछ अतिरिक्त आबवाब और कर लगाए। उसने यूरोपीय लोगों के समान अपनी सेना का संगठन किया। उसने मुंघेर में छोटी तथा बड़ी बंदूकों तथा तोपों के निर्माण का प्रबन्ध किया।

मीर कासिम ने अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से मुंघेर परिवर्तित कर दी। इस परिवर्तन के लिए अनेक कारण प्रस्तुत किए गए हैं। नवाब को अपने स्थायी निवास के लिए एक सुदृढ़ तथा किलेबन्द (सुरक्षित) स्थान की आवश्यकता थी तथा मुर्शिदाबाद से यह कार्य पूर्ण न होता था। मुंघेर उसके लिए सन्तोषजनक किला मात्र था। उसे कई आवश्यक सुधार करके और अधिक मज़बूत और काम का बनाया जा सकता था। नवाब को आशा थी कि वह मुंघेर में जीवन के एक नए अध्याय का आरम्भ कर सकेगा क्योंकि वह पुरानी राजधानी के वातावरण तथा वहाँ के छल-कपट तथा भ्रष्टाचार आदि से पूरे तौर पर मुक्त हो सकेगा। मुर्शिदाबाद पुराने नवाबों का केन्द्र था तथा अब भी उनके नामों के साथ सम्बद्ध था। मीरकासिम के अहम्भाव के लिए किसी ऐसे नए स्थान की आवश्यकता थी, जहाँ वह अपनी नई सत्ता को जमा सके। राजधानी के इस परिवर्तन के कई प्रत्यक्ष तथा मनोवैज्ञानिक पहलू थे। साथ ही मीर कासिम के हृदय में एक भ्रम था कि कम्पनी मीर जाफ़र को कभी न कभी पुनः सत्तारूढ़ कर देगी। एलिस व कौंसिल में विरोधी सदस्यों के रुख ने इस सन्देह को और भी पक्का कर दिया। इन परिस्थितियों में नवाब ने पुरानी राजधानी को बदलना तथा ऐसे नए स्थान पर निवास करना उचित समझा, जो

कलकत्ता से दूर हो। इसका कारण था यदि मीर जाफर की पुनः नियुक्ति हो तो वह आक्रमण का मुकाबला कर सके अथवा बचकर अवध जा सके। नवाब ने इसलिए भी कलकत्ता से दूर रहना चाहा जिससे अंग्रेजों की ओर से कम निरीक्षण तथा हस्तक्षेप हो तथा वह बिना किसी बाधा के एक सेना का संगठन कर सके, और अन्त में अंग्रेजों की शक्ति को उखाड़कर पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थापना कर सके।

राजधानी के मुर्शिदाबाद से हटाकर मुँघेर ले जाने के पश्चात् नवाब ने कम्पनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत देशी व्यापार की ओर अपना ध्यान दिया। १७१७ के एक फ़रमान (आदेश) द्वारा अंग्रेजी कम्पनी को निःशुल्क सामुद्रिक व्यापार करने की सुविधा प्रदान की गई थी। तथापि कम्पनी के कर्मचारियों ने देश की अव्यवस्थापूर्ण आन्तरिक अवस्था से लाभ उठाना आरम्भ किया तथा उस सुविधा को प्रत्येक प्रकार के निजी व्यापार तक फैला दिया। नवाब को धन की आवश्यकता थी तथा उसने देखा कि कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा किए जाने वाले गैर-कानूनी निजी व्यापार के कारण उसे बहुत सी होने वाली आय से वञ्चित होना पड़ रहा है, इसलिए उसने उसे समाप्त करने का निश्चय कर दिया। नवाब से प्राप्त निर्देशों के आधार पर जिलों में स्थित उसके अफसरों ने अंग्रेज व्यापारियों की नौकाओं को दस्तक होने पर भी रोकना आरम्भ कर दिया। अंग्रेजों ने इसका विरोध किया। ढाका स्थित प्रमुख अफसर तथा कौंसिल ने अक्तूबर १७६२ में इस प्रकार लिखा : "प्रत्येक चौकी पर हमारी नौकाएँ ठहराई जाती हैं, हमारे व्यक्तियों का अपमान किया जाता है तथा झण्डे को अत्यन्त अपमानपूर्ण ढंग से प्रयोग में लाया जाता है।" उसी मास चिट्टागाँग स्थित प्रमुख अफसर अथा कौंसिल ने इस प्रकार लिखा : "हमारा व्यापार नवाब के लोगों द्वारा पूर्ण रूप से ठप्प हो गया है। हमारी नौकाओं को चौकियों से नहीं गुजरने दिया जाता। जमींदार अनुचित करों की माँग करते हैं तथा यह घोषित करते हैं कि उन्हें ऐसा करने के लिए कासिम अलीखान की ओर से आज्ञाएँ प्राप्त हैं।" लखीपुर से प्राप्त एक रिपोर्ट इस प्रकार थी, "इन थोड़े दिनों में प्रत्येक नौका, जिसे हमने नदी में से भेजा है, विभिन्न चौकियों पर रोक ली गई हैं तथा इस बात का भी ध्यान नहीं रखा गया कि उन्हें मुख्य अफसर के दस्तक प्राप्त हैं।" कटवा के फौजदार ने अंग्रेजों की १५० नौकाओं को रोका, यद्यपि उनके पास कम्पनी के दस्तक थे। इन सब तथ्यों से यह पता चलता है कि नवाब ने कम्पनी के कर्मचारियों के चुंगी से छूट वाले व्यापार को रोकने का निश्चय कर लिया।

कम्पनी के व्यापार के सम्बन्ध में सब प्रकार की बाधाओं की सूचनाएँ प्राप्त हुईं। एलिस (Ellis) ने स्थानीय आमिल द्वारा जहानाबाद के जुलाहों तथा धोबियों के व्यापार में होने वाले हस्तक्षेप की शिकायत की। जिलादारों को नवाब के निर्देश दिए गए कि वे किसानों को ऐसी हिदायतें करें कि वे अंग्रेज़ों के साथ किसी प्रकार का कार्य-व्यवहार न रखें। नवाब ने अचानक ही देश में चुंगियों की संख्या बढ़ा दी, जिससे अंग्रेज़ों के निजी व्यापार पर कड़ी नजर रखी जा सके। उन स्थानों पर नए चुंगी-केन्द्र स्थापित किए गए, जहाँ पहले कोई भी नहीं था। चौकियों पर सिपाहियों की संख्या में वृद्धि कर दी गई, जिससे अंग्रेज़ी नौकाओं को अच्छी प्रकार से रोका जा सके। नवाब ने इस बात की भी शिकायत की कि कम्पनी के कारखानों की संख्या में वृद्धि हो गई है।

नवाब का सबसे गम्भीर ग्रारोप कम्पनी के गुमाश्तों का लुटेरापन तथा लालच था। उनके सम्बन्ध में उसने इस प्रकार लिखा : "गुमाश्ते, जो ग्रापके महानुभावों की ग्रोर से देश में गए हैं, इस बात की परवाह किए बिना, कि कोई उनको क्या कहता है, धृष्टतापूर्वक ग्रपने यातायात को जारी रखने के लिए हिंसापूर्ण साधनों का प्रयोग करते हैं। जब कभी गोला स्थापित किया जाता है, तब वे जमींदार, ताल्लुकदार तथा किराएदार (ग्रसामी) के समान कार्य करते हैं तथा मेरे ग्रफसरों के लिए कोई ग्रधिकार नहीं छोड़ते। इसके ग्रतिरिक्त वे ग्रन्य लोगों का माल ग्रपने माल के साथ उनके दस्तकों के संरक्षण में भेज देते हैं।" नवाब के काफी ग्रारोप सही थे। गुमाश्ते सामान्य रूप से ऐसे नीच तथा धूर्त लोग थे, जिनका निष्ठुरतापूर्ण व्यवहार स्पष्ट रूप से कलंक था। उनके स्वामी प्रायः उनका समर्थन करते थे। सहानुभूति तथा सहयोग के ग्राश्वासन के कारण ग्रंग्रेज़ी प्रतिनिधि जहाँ कहीं भी जाते थे, वहाँ वे नीचतापूर्ण ग्रत्याचार करते थे। वे किसानों को विवश करते थे कि वे ग्रपने माल को मण्डी के भाव से नीचे कीमत पर बेचें ग्रौर ऐसे माल को भी जिसे वे बहुत ऊँची कीमत पर खरीद लाए हों। उन्होंने लोगों से जबरदस्ती बड़े-बड़े उपहार लिये तथा इस बहाने उन्हें लूटा। उन्होंने निजी व्यापारियों से कुछ पैसे लेकर दस्तक बेचे। सार्जन्ट ब्रेगो ने मई १७६२ में इस प्रकार लिखा : "कोई सज्जन यहाँ गुमाश्ता बेचने, खरीदने के लिए भेजता है। वह शीघ्र ही ग्रपने ग्रापको ग्रफसर मानने लगता है ग्रौर चाहता है कि प्रत्येक निवासी उसका माल खरीदे ग्रथवा ग्रपना माल बेचे। इनकार करने पर सजा या कैद की ग्राज्ञा जारी हो जाती है। पहले सार्वजनिक न्यायालयों में न्याय होता था, किन्तु ग्रब प्रत्येक गुमाश्ता स्वयं न्यायालय बन गया है ग्रौर प्रत्येक घर न्यायालय बन गया है। वे जमींदारों को भी स्वयं दण्ड देते हैं तथा इस बहाने होने वाली क्षति के लिए धन ऐंठते हैं।" ढाका के फौजदार ने सितम्बर १७६२ में इस प्रकार लिखा : लक्खीपुर तथा ढाका के कारखानों के गुमाश्ते व्यापारी लोगों को इस बात के लिए विवश करते हैं कि वे तम्बाकू, कपास, लोहा तथा ग्रन्य वस्तुग्रों को बाजार के भाव से ग्रधिक कीमत पर खरीदें तथा उनसे जबरदस्ती रुपए ऐंठें। इसके ग्रतिरिक्त वे चपरासियों से सीधे धन लेते हैं तथा उनसे करार तोड़ने के कारण उन्हें जुर्माना देने के लिए विवश करते हैं। इन कार्रवाइयों के कारण ग्रौरंगूस तथा ग्रन्य स्थान नष्ट हो चुके हैं। लक्खीपुर कारखाने के गुमाश्तों ने तहसीलदार से जबरदस्ती ताल्लुकेदारों के ताल्लुक ग्रपने प्रयोग के लिए ले लिये हैं तथा वे किराया नहीं देते। इन हस्तक्षेपों के कारण देश बर्बाद हो चुका है। इस कारण किसान न तो ग्रपने घरों में रह सकते हैं न मालगुजारी ग्रदा कर सकते हैं।" ग्रप्रैल १७६२ में हेस्टिंग्ज़ ने इस प्रकार लिखा : "मैं ग्रापके सम्मुख एक शिकायत रखने की ग्रनुमति चाहता हूँ। इसे दूर किया जाना चाहिए। यदि इस ग्रोर पूर्ण ध्यान न दिया गया, तो नवाब तथा कम्पनी के मध्य दृढ़ तथा स्थायी सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न ग्रसफल सिद्ध होंगे। मेरा ग्रभिप्राय उन ग्रत्याचारों के सम्बन्ध में है, जो ग्रंग्रेज़ों के नाम पर किए गए हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह दोष हमारे ग्राश्रित लोगों तक ही सीमित नहीं, ग्रपितु सारे देश में उन लोगों तक प्रचलित है, जो छलपूर्वक हमारे सिपाहियों का रूप धारण करते हैं, ग्रथवा जो ग्रपने ग्रापको हमारा गुमाश्ता बताते हैं।" वेरेलेस्ट के कथनानुसार, "ग्रंग्रेज़ एजेन्टों ग्रथवा गुमाश्तों ने लोगों के पीड़ा देने तक सन्तोष न करके सरकार के प्राधिकार का उल्लंघन भी

किया है तथा वहाँ मनचाहा नवाब के अफसरों को दण्डित किया।"

अंग्रेज़ों के गैर-सरकारी व्यापार से उत्पन्न होने वाले झगड़े इतने गम्भीर तथा अधिक हो गए कि नवाब तथा कम्पनी के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। शिकायतें तथा विरोधी शिकायतें बढ़ने लगीं। युद्ध से बचने का एकमात्र उपाय समझौता था तथा मि० वेन्सिटार्ट ने मुंघेर जाने का निश्चय किया, जिससे झगड़े के कारणों को शान्तिपूर्वक सुलझाया जा सके। जब वेन्सिटार्ट नवम्बर १७६२ में मुँघेर पहुँचा तब उसके तथा उसके दल के साथ "पूर्ववत् आदर तथा मित्रतापूर्ण" व्यवहार किया गया। नवाब ने वेन्सिटार्ट से अपनी शिकायतें सुनाईं। उसने स्पष्ट किया कि कम्पनी के कर्मचारियों का निजी व्यापार कम्पनी के फरमानों से अधिक नहीं। उसके प्रशासन पर इस निजी व्यापार का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इसलिए देश में कानून तथा शान्ति स्थापित करना कठिन था। उसे चुँगी की मदद में भारी हानि हो रही थी। कम्पनी की सुरक्षा में असंख्य लोग अपना माल चुँगी के बिना रोकटोक के इधर-उधर भेजने लगे। निजी व्यापार की अनियमितताओं के कारण उसकी सरकार की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। कम्पनी के गुमाश्तों तथा कर्मचारियों ने लोगों पर अत्याचार किए। कारखानों के लोगों के पास खेत, ताल्लुके, गंज तथा गोले थे। वे लोगों को उधार देते तथा उनसे उधार लेते थे। वे अपने अधीनस्थ लोगों को संरक्षण देते थे। वे विभिन्न स्थानों पर सिक्के गढ़ते थे। वे माल के क्रय-विक्रय में शक्ति का प्रयोग करते थे।

नवाब ने माँग की कि अंग्रेज़ों के निजी व्यापार पर पूर्ण रूप से रोक लगा दी जाए, किन्तु वेन्सिटार्ट बिना कौन्सिल की स्वीकृति के इस सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति नहीं दे सकता था। ऐसा होने पर भी वेन्सिटार्ट कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा बिना चुँगी के चलने वाले व्यापार के सम्बन्ध में प्राप्त सुविधाओं को लौटाने के लिए तैयार हो गया। वेन्सिटार्ट यह भी मान गया कि कारखानों के मुखियों को इस प्रकार के निर्देश दिए जाएँगे कि वे किसानों का दमन नहीं करेंगे तथा उनके आश्रितों का संरक्षण करेंगे। फौजदारों को अनुमति प्रदान करने की स्वीकृति दे दी गई कि वे अपराधी गुमाश्तों पर मुकदमे चला सकें। चिट्टागाँग तथा लक्खीपुर के मुख्य अधिकारियों को स्वयं नमक-क्षेत्र चलाने की अनुमति नहीं दी गई। कारखानों के मुख्य अफसरों तथा गुमाश्तों को किसी भूमि को किराए पर देने अथवा खरीदने के सम्बन्ध में रोक लगा दी गई तथा जमींदारों अथवा सरकारी अफसरों के साथ लेन-देन के सम्बन्ध में भी बन्धन लगा दिए जाने का निश्चय किया गया। कारखानों के मुख्य अफसरों तथा गुमाश्तों से यह अधिकार छीन लिया गया जिससे वे सरकार के दलालों अथवा जुलाहों के कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सकें। अंग्रेजों तथा गुमाश्तों की ठोस सोने चाँदी की ईंटों (bullion) को अंग्रेजी टकसालों में ढालने पर भी मनाही कर दी गई। ऐसा निश्चय किया गया कि कम्पनी के आयात तथा निर्यात व्यापार को चुँगी-मुक्त रखा जाएगा। देशी व्यापार के सम्बन्ध में कम्पनी के दस्तक को स्वीकार न करने का भी निश्चय किया गया। यह निश्चय हुआ कि देशी व्यापार के सम्बन्ध में सब प्रकार के माल पर नियमानुसार चुँगी अदा की जायगी। इस प्रकार की चुँगी एक ही बार माल भेजने से पूर्व दिए जाने का निश्चय किया गया।

चौकीदारों द्वारा निरीक्षित होने के पश्चात् माल को नहीं रोका जाएगा। यदि

कोई व्यक्ति बिना किसी दस्तक (अनुमति-पत्र) के अथवा कम्पनी के अप्रमाणित दस्तक को प्रयोग में लाए, तो ऐसी स्थिति में उसका माल जब्त करने का निश्चय किया गया। गुमाश्तों को खरीदने अथवा बेचने में शक्ति का प्रयोग न करने की हिदायत की गयी। उन्हें निर्देश दिया गया कि वे कानून को अपने हाथों में लेने के स्थान पर अपनी सब शिकायतें फौजदारों के सम्मुख करें।

कई कारणों से डा० नन्दलाल चटर्जी ने वेन्सिटार्ट द्वारा नवाब के साथ होने वाले समझौते की आलोचना की है। उसके मतानुसार, वेन्सिटार्ट ने कौंसिल में विचार-विनिमय करने से पूर्व ही नवाब से अपनी योजना पर बातचीत करके मूर्खतापूर्ण कार्य किया। उसे यह बात पहले से ही सोचनी चाहिए थी कि उसके साथी उसका विरोध करेंगे। उसे यह नहीं भूलना चाहिए था कि उसे कौंसिल की ओर से मूलभूत परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं था। उसने नवाब की इच्छा को स्वीकार किया जिससे गुमाश्तों तथा कम्पनी के अन्य अधीनस्थ कर्मचारियों को फौजदारों के नियंत्रण में रखा जा सके। उसे विभिन्न कारखानों में कम्पनी के सिक्के बनाने के कार्य में रोक लगाने पर स्वीकृति नहीं देनी चाहिए थी। कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों के व्यापारियों में कोई स्पष्ट भेद निश्चित नहीं किया गया। वेन्सिटार्ट ने नवाब से उपहार स्वीकार करके एक भूल की तथा नवाब की ओर से उसे दी गई रियायतों के उपलक्ष में घूँस समझा गया।

कलकत्ता में कौंसिल ने वेन्सिटार्ट तथा मीर कासिम के बीच हुए समझौते को अस्वीकार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि नवाब ने चुंगी को पूर्ण रूप से बन्द करने का निश्चय किया। अंग्रेज़ों ने इसका विरोध किया तथा इस बात पर जोर दिया कि अन्य व्यापारियों की अपेक्षा उनके साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाए। पटना के अंग्रेज़ी कारखाने के मुख्य अफसर एलिस का विचार था कि यह अंग्रेजों का अधिकार तथा माँग थी। उसने पटना नगर पर अधिकार करने का प्रयत्न भी किया। लेकिन उसका प्रयत्न असफल हो गया। उसकी टुकड़ी नष्ट की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि कि सन् १७६३ में अंग्रेजों तथा मीर कासिम में युद्ध छिड़ गया।

जून १७६३ में मेजर ऐडम्ज़ को मीर कासिम के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भेजा गया। नवाब की सेनाओं के साथ बहुत सी लड़ाइयाँ लड़ी गईं तथा उनमें सबसे प्रसिद्ध लड़ाइयाँ कटवाह, गिरिआ, सूती तथा उदयनाला की थीं।

जब मीर कासिम ने देखा कि उसका पक्ष दुर्बल पड़ गया तो वह पटना की ओर चल पड़ा। उसने निराशा की स्थिति में हिन्दुस्तानी बन्दियों को मृत्यु-दंड की आज्ञा दे दी। बन्दियों में राजा रामनारायण, राजा राजवल्लभ आदि व्यक्ति थे। जब अंग्रेज़ बन्दियों की बारी आई तो उसने अपने अधिकारियों को सभी अंग्रेज़ बन्दियों को मारने की आज्ञा दे दी। किन्तु उनका उत्तर इस प्रकार था : "नहीं, इन्हें शस्त्रसहित मुक्त कर दीजिए तब हम उनके साथ मृत्यु-पर्यन्त लड़ने को प्रस्तुत हैं। हम सिपाही हैं, जल्लाद नहीं।" परन्तु यह कार्य जर्मन अफसर वाल्टर रहेनहार्डर ने पूरा किया। वह सुमरू के नाम से प्रसिद्ध है। उसने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि वे जेल की छत पर चढ़ जाएँ तथा बन्दियों पर गोली चला दें। इसका परिणाम यह हुआ कि एक भी व्यक्ति न बच सका।"

मीर कासिम की पराजय के पूर्व ही बंगाल के भावी नवाब के रूप में मीर जाफ़र

का नाम घोषित किया जा चुका था। यह कार्य जुलाई १७६३ में ही किया जा चुका था। नया नवाब मान गया कि अंग्रेज़ अपने दस्तकों (Dustucks) द्वारा अपना व्यापार करते रहेंगे, उन पर देश के किसी भाग में कोई कर आदि नहीं लगेंगे। केवल नमक के लिए रौना अथवा हुगली मण्डी की कीमत पर २½% कर लगाने की आज्ञा दे दी गई थी। इसके साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि "कासिम अली खान के द्वारा, जो परवाना (आज्ञा) सबके लिए व्यापार के कर से छूट के सम्बन्ध में दो वर्षों के लिए जारी किया गया था, उसको बदल दिया जाएगा तथा पूर्व की भाँति कर प्राप्त किया जाएगा।" मीर जाफ़र ने अंग्रेज़ी कम्पनी को होने वाली सब हानियों की क्षति-पूर्ति करने का भी वचन दे दिया। किन्तु उसकी राज्यगद्दी पुष्पशैय्या नहीं थी। दस्तकों के नाम पर भ्रष्टाचार बढ़ने लगे। सरकारी मालगुजारी भी इकट्ठी न हो सकी।

बक्सर का युद्ध (Battle of Buxar)—१७६३ की पराजयों के पश्चात् मीर कासिम अवध को चला गया। सम्राट् शाह आलम भी अवध में था। अवध के नवाब अपने राज्य की वृद्धि के लिए बंगाल की ओर देखते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अवध के नवाब तथा अंग्रेज़ों में झगड़ा अनिवार्य था। मीर कासिम ने अवध के नवाब वज़ीर की बुन्देलखण्ड के विद्रोहियों के दमन में सहायता की। दोनों दलों के मध्य में समझौता हुआ कि "वज़ीर के गंगा को पार करने तथा शत्रुओं के प्रदेश में प्रवेश करने पर मीर कासिम उस दिन से लेकर जब तक युद्ध चलता रहेगा, उसकी फौज के व्यय के लिए ११ लाख रुपया प्रतिमास देगा।" कुछ साहसी फ्रांसीसी भी उनके साथ सम्मिलित हो गए। कुछ अनिश्चयात्मक लड़ाइयाँ हुईं। अक्तूबर १७६४ में बक्सर का प्रसिद्ध युद्ध हुआ। मुनरो ने भी कासिम तथा अवध के नवाब वजीर को हराया। मई १७६५ में शुजाउद्दौला अन्तिम बार पराजित हुआ तथा अवध पूर्ण रूप से अंग्रेजों के अधीन हो गया। मुगल सम्राट् अंग्रेज़ों से मिल गया तथा मीर कासिम ने अपने जीवन के शेष दिन घुमक्कड़ के रूप में बिताए।

इतिहासकारों ने बक्सर के युद्ध को बहुत महत्त्व दिया है। ब्रूम के शब्दों में "भारत का भाग्य बक्सर के युद्ध पर निर्भर था।" सर जेम्स स्टीफ़न के कथनानुसार, "अंग्रेज़ी प्रभुत्व की दृष्टि से बक्सर के युद्ध का प्लासी के युद्ध की अपेक्षा अधिक महत्त्व है।" इस युद्ध में कड़ा मुकाबला हुआ। अंग्रेज़ों की ओर ८४७ व्यक्ति मारे गए तथा घायल हुए। शत्रु पक्ष के दो हजार व्यक्ति हताहत हुए। इस युद्ध में केवल बंगाल का नवाब ही नहीं, अपितु भारत का सम्राट् तथा उसका नाममात्र प्रधान मन्त्री भी पराजित हुआ। यदि प्लासी के युद्ध के कारण अंग्रेज़ी कम्पनी को बंगाल की गद्दी पर एक कठपुतली को बिठाने का अवसर मिल गया, तो यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बक्सर के युद्ध से तो और भी अधिक प्राप्त हुआ। इसके कारण अंग्रेज़ों को प्रान्त की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर अधिकार करने का अवसर मिल गया। रैम्ज़े म्योर के कथनानुसार, "बक्सर के युद्ध ने बंगाल पर कम्पनी के शासन को पूर्ण रूप से लागू कर दिया।"

मीर कासिम का मूल्यांकन (Estimate of Mir Kasim)—मीर कासिम एक योग्य, सावधान तथा दृढ़ प्रशासक था। सरकार के सामान्य कामों में उसकी असाधारण योग्यता थी। सुधार तथा कार्य-कुशलता के प्रति उसके मन में अपूर्व उत्साह था। उसने

अपने पूर्ववर्ती नवाबों के प्रशासन को सुधारने के लिए महान् बल, धैर्य तथा तीव्र इच्छा प्रदर्शित की। उसने वित्त की पुनर्व्यवस्था की। उसने राजस्व तथा न्याय विभागों को पुनः संगठित किया। उसने सेना का निर्माण पाश्चात्य पद्धति के अनुसार किया। उसने ताल्लुकेदारों की शक्ति को नियन्त्रित किया। उसने स्वयं कठोर परिश्रम किया। वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से कार्य लेना जानता था। वह अनथक रूप से निरन्तर कार्य करता था। वह उन लोगों के चरित्र का चतुर पारखी था। वह एक दृढ़ अनुशासक था। उसके कठोर व्यवहार के कारण उसके अधीनस्थ कर्मचारी उससे डरते थे। उसने जालसाजी, घूँसखोरी तथा लापरवाही को दूर करने का पूरी शक्ति से प्रयत्न किया। उसने समय की पाबन्दी तथा अनुशासन को नियमपूर्वक लागू किया। गुलाम हुसेन के कथनानुसार, नवाब अपने युग का सबसे अधिक उल्लेखनीय शासक था, क्योंकि प्रशासन तथा वित्त की वैधानिक समस्याओं के सम्बन्ध में उसकी प्रतिभा उल्लेखनीय थी। मनुष्य के चरित्र तथा उसकी भावनाओं के अध्ययन में उसकी अन्तर्दृष्टि थी। वह फिजूल खर्च पर कठोर नियंत्रण रखता था, किन्तु कंजूसी भी प्रकट न होने देता था तथा सेनाओं को नियम से वेतन देता था।

गुणों के साथ उसमें कमियाँ भी थीं। उसमें व्यक्तिगत साहस तथा युद्ध-कौशल की कमी थी। वह अभिमानी तथा महत्त्वाकांक्षी था। साथ ही डरपोक तथा कायर था। उसमें सैनिक गुण न थे। छोटे से छोटे खतरे में भी मीर कासिम घबरा जाता था तथा संघर्ष का शान्तिपूर्वक सामना न कर सकता था। वह महत्त्वाकांक्षा तथा कायरता का मिश्रण था।

वह दूसरों पर विश्वास न करता था। वह प्रत्येक अफसर पर सन्देह करता था, चाहे वह छोटा हो या बड़ा। किसी व्यक्ति को दण्ड देने के लिए केवल सन्देह का होना ही पर्याप्त था। किसी अधीनस्थ कर्मचारी को छोटी सी भूल के लिए दण्डित किया जा सकता था अथवा जेल में भेजा जा सकता था। नवाब इतना निर्भर न करने योग्य व्यक्ति हो गया था कि किसी भी व्यक्ति को उसके भविष्य के सम्बन्ध में विश्वास न था। इस प्रकार के भय तथा दमन की अवस्था से राज्य की नींवें दृढ़ किए जाने की आशा न की जा सकती थी। नवाब कपट, षड्यन्त्र तथा विश्वासघात में विश्वास रखता था। रामनारायण, राजवल्लभ, नौबतराय, सीताराम, सादुल्ला तथा गुरगिन आदि महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नवाब के हाथों कष्ट पा चुके थे। ऐसे छोटे-छोटे व्यक्तियों की संख्या का अनुमान करना कठिन है जिन्हें नवाब के हाथों कष्ट उठाना पड़ा। प्रत्येक कार्य नवाब में संनिहित था इसलिए सरकार की नींव का जड़ से हिलना जरूरी हो गया था।

कहा जाता है कि पटना में अंग्रेज कैदियों की हत्या सबसे अधिक पाशविक कार्य नहीं था। भारतीय राजनीतिक बन्दियों की गर्दनों पर रेत की बोरियाँ बाँधकर मुँघेर में गंगा में डुबो दिया गया। जैटिल के मतानुसार, नवाब ने अंग्रेज़ बन्दियों की हत्या के औचित्य के सम्बन्ध में अपनी भावना व्यक्त की : "यदि मैं अंग्रेज़ों के हाथ में पड़ जाऊँ, तो वे मुझे जीवित नहीं रहने देंगे। मैं अपना राज्य खो रहा हूँ, किन्तु फिर भी मुझे इस बात का सन्तोष है कि मेरे शत्रुओं को मेरे पतन में कोई सुख नहीं होगा क्योंकि इससे पूर्व मैं उन्हें मृत्यु की गोद में सुला दूँगा।"

नवाब ने अपने शासन में धनी लोगों का योजनापूर्वक दमन किया। सच तो यह है

कि उसके राज्य में बहुत थोड़े धनिक शेष रहे । पूर्ववर्ती शासन के अफसरों को अपनी पिछली कमाई नवाब को सौंपनी पड़ती थी । उनमें से अधिकांश लोगों को सम्पूर्ण सम्पत्ति जब्त करने के बाद जेलों में डाल दिया जाता अथवा मृत्यु-दण्ड दिया जाता । इस प्रकार नवाब ने अपना कोष भरा । इसका परिणाम यह हुआ कि किसानों की दशा भी अत्यन्त दयनीय हो गई । आम लोगों की दशा भी बिगड़ गई ।

नवाब अपने समय के सारे ऐबों का शिकार था । उसने अपने हरम (अन्तःपुर) में नवीन स्त्रियों को भरने का यथाशक्ति पूर्ण प्रयत्न किया । इसका परिणाम यह हुआ कि अत्यन्त व्यभिचारादि के कारण उसका स्वास्थ्य गिर गया तथा अच्छे से अच्छे डाक्टर भी उसे स्वास्थ्य प्रदान न कर सके ।

ऐसा कहा जाता है कि नवाब एक सिद्धान्तहीन व्यक्ति था । उसने अपने ससुर को गद्दी से उतारने की भूल की ।

नवाब का स्वभाव बड़ा तीखा था । इस तरह वह हृदयहीन तथा निर्दयी हो गया । इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उसका कोई मित्र नहीं रहा, बल्कि उसके सम्बन्धी भी उससे घृणा करने लगे । भीतर ही भीतर प्रत्येक व्यक्ति उससे डरता और सभी उससे घृणा करते थे ।

नवाब गणित और ज्योतिष का पण्डित था । उसने बहुत सा रुपया विद्वानों, कवियों तथा पवित्रात्माओं पर व्यय किया । उसकी इच्छा थी कि लोग उसे ज्ञान-विज्ञान का संरक्षक मानें ।

डा० नन्दलाल के शब्दों में, मीर कासिम के चरित्र का सार इस प्रकार था : "बदनाम सिराजुद्दौला से अधिक क्रूर तथा सनकी मीर जाफ़र से अधिक चतुर और धोखेबाज हैदरअली से अधिक जिद्दी और महत्त्वाकांक्षी, शुजाउद्दौला से अधिक लालची और गाँठ का पूरा, मुहम्मद अली से अधिक शक्की मिजाज़ और तेज़, शाह आलम की अपेक्षा अधिक साहित्यिक और अहंभाव वाला, निजाम अली की अपेक्षा अधिक डरपोक और घबराने वाला था । किन्तु इसके विपरीत उसमें सिराजुद्दौला के समान बुद्धि, मीर जाफर के समान चुस्ती, हैदर जैसी वीरता, मुहम्मद अली के समान फराखदिली, शाह आलम जैसी बहादुरी और निजाम की जैसी मेधावी बुद्धि का सर्वथा अभाव था । उस काल के भारत-स्थित मुगल शासकों में मीर कासिम का चरित्र सबसे जटिल है ।"

यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित है कि मीर जाफर दूसरी बार जुलाई १७६३ से फरवरी १७६५ तक बंगाल का नवाब रहा । जब १७६५ में उसकी मृत्यु हुई, तब कलकत्ता कौंसिल ने उसके द्वितीय पुत्र निज़ामुद्दौला को बंगाल की गद्दी पर बिठाया । परन्तु सारे अधिकार अंग्रेज़ी कम्पनी के हाथों में रहे । फरवरी १७६५ के समझौते के अनुसार नए नवाब ने अपने गौरव की रक्षा, आन्तरिक शान्ति तथा मालगुज़ारी इकट्ठा करने के लिए फौजें रखने की स्वीकृति दे दी । अंग्रेज़ों को नवाब के अफसरों की नियुक्ति करने का अधिकार मिल गया । उस समय बंगाल की स्थिति असन्तोषजनक थी । सर्वत्र अराजकता, गड़बड़, रिश्वत, घूँसखोरी तथा निष्कर्षण का बोलबाला था । यह अवस्था थी जब क्लाइव १७६५ में दूसरी बार बंगाल का गवर्नर बनकर आया ।

क्लाइव का दूसरी बार गवर्नर के रूप में बंगाल में आना, १७६५-६७ (Clive's

Second Governorship of Bengal)--क्लाइव का कार्य-काल इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उसने उन राजनीतिक तथा प्रशासकीय समस्याओं को सफलतापूर्वक सुलझाया जो कम्पनी के सामने १७६५ में थीं। स्थिति पर पूर्ण नियन्त्रण के कारण सब विरोधी शान्त हो गए और कम से कम कुछ समय के लिए शान्ति का वातावरण उत्पन्न हो गया।

प्रशासकीय सुधार कुछ कठिन थे। सुविधापूर्ण व्यवस्था तथा अन्य कारणों से कम्पनी के नियमित कर्मचारियों का नैतिक पतन हो चुका था। इस प्रकार की एक प्रथा चल पड़ी थी कि बंगाल सरकार में जब कभी कोई परिवर्तन होता था तब कम्पनी के कर्मचारियों को उपहार मिलते। मीर जाफ़र के पुत्र निजामुद्दौला के गद्दी पर बैठने के अवसर पर १७६५ में मन्त्रियों तक से उपहार लिये गए। इस सम्बन्ध में होने वाली सबसे बुरी बात यह हुई कि यह सब कुछ तब हुआ जब कम्पनी की ओर से ऐसी विशेष आज्ञाएँ निकलीं कि किसी प्रकार की भेंट न ली जाए तथा प्रत्येक कर्मचारी से इस प्रकार की प्रसंविदा (Covenant) पर हस्ताक्षर लिये गए कि वे भविष्य में कोई उपहार अथवा भेंट नहीं लेंगे। कर्मचारियों की यह धारणा थी कि क्योंकि स्वयं क्लाइव पहले उपहार ग्रहण करता रहा है, वह उनके विरुद्ध कोई भी कार्यवाही न कर सकेगा, किन्तु उनका यह विचार ठीक नहीं था। क्लाइव कम्पनी की आज्ञा को मनवाने के लिए दृढ़-संकल्प था। वह इस बात को बिलकुल भूल गया कि वह जागीर से तीस हजार पौण्ड वार्षिक प्राप्त कर रहा है। क्लाइव ने समस्त नागरिक तथा फौजी कर्मचारियों से माँग की कि वे ऐसे प्रतिज्ञापत्रों पर हस्ताक्षर करें कि वे भेंट स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने ऐसा सोचकर यह किया कि क्लाइव कुछ समय के पश्चात् शिथिल हो जाएगा तथा अपनी आज्ञाओं में तदनुसार सुधार कर देगा। किन्तु, कम्पनी के कर्मचारियों ने देखा कि क्लाइव कम्पनी के प्रति अपने कर्त्तव्य को भली भाँति निभाने में वस्तुतः प्रस्तुत है।

जब क्लाइव कलकत्ते आया, तब उसने देखा कि कम्पनी के उच्चाधिकारियों की बहुत कमी है। इसका कारण यह था कि कम्पनी के कर्मचारियों के वेतन बहुत कम थे तथा योग्य व्यक्ति इन हालात में काम करने को प्रस्तुत नहीं थे। उसने देखा कि निम्नाधिकारी समस्त मुख्य पदों पर काम कर रहे हैं तथा भारतीय व्यापारियों को अपने पत्र (Pass) बेचकर लाभ कमा रहे हैं। क्लाइव को यह भी पता चला कि तीन वर्ष से क्लर्क के रूप में कार्य करता हुआ एक व्यक्ति किसी विभाग का सचिवपद सम्भाले हुए है। फौज का कोषाध्यक्ष (Paymaster) भी केवल एक क्लर्क ही था। अकाउण्टेंट का पद भी ऐसा ही व्यक्ति सँभाले हुए था। लार्ड क्लाइव की इच्छा थी कि वह गैर-सरकारी व्यापार को इस प्रकार नियन्त्रित करे कि प्राप्त हुए लाभ में से अधिक वेतन दिए जाएँ तथा योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति हो। यद्यपि क्लाइव की इच्छा यह थी कि कम्पनी के कर्मचारियों के वेतन बढ़ा दिए जाएँ, किन्तु वह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका, क्योंकि कम्पनी के डायरैक्टरों ने इस बात का विरोध किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए ऐसे साधनों को अपनाना पड़ा, जो आपत्तिजनक थे।

नमक के व्यापार पर कम्पनी का एकाधिकार था। क्लाइव ने निश्चय किया कि वह उस अधिकार का प्रयोग करके उससे जो लाभ होगा उससे असैनिक तथा सैनिक कर्मचारियों के अतिरिक्त भत्तों की व्यवस्था करेगा। लाभ में से गवर्नर को १७,५००

पौण्ड वार्षिक मिलना था, फौजी कर्नल अथवा कौंसिल के सदस्यों को ७,००० पौण्ड तथा इनसे छोटे अधिकारियों को कुछ कम प्राप्ति होनी थी।

कम्पनी के कर्मचारियों को अधिक वेतन देने के उद्देश्य से व्यापारी कम्पनी का प्रारम्भ करना कम्पनी की आज्ञाओं के विरुद्ध कार्य था। क्लाइव का यह विचार था कि कम्पनी उसके कार्यों पर ध्यान नहीं देगी, किन्तु जब डायरेक्टरों को इस बात का पता चला तो उन्होंने उसके रद्द किए जाने की आज्ञा दी। किन्तु, जब तक वह बंगाल में रहा उसने उन आज्ञाओं को स्थगित रखा। उसे इस बात की आशा रही कि वह इंगलैंड वापस जाकर, उन आज्ञाओं के विरुद्ध आज्ञाएँ प्राप्त कर लेगा। डायरेक्टरों की जिद पर कम्पनी के कार्य को समाप्त करना पड़ा। डाडवैल के शब्दों में, "इस विषय में क्लाइव के विरुद्ध व्यर्थ में अभियोग लगाया गया है। उसके प्रस्तावों का वास्तव में यह अभिप्राय था कि उन सब सुविधाओं को जारी रखा जाए, जो पुरानी प्रथा के अनुसार चल रही थीं। आय में वृद्धि व्यय की पूर्ति के लिए की जा रही थी।" जिस बात के लिए लार्ड क्लाइव की निन्दा की गई उसी के लिए लार्ड कॉर्नवालिस की आगे जाकर प्रशंसा हुई। क्लाइव की भूल सम्भवतः उसकी चतुराई थी।

कम्पनी के कर्मचारियों की ओर से उसके सुधारों के सम्बन्ध में दृढ़ अवरोध चल रहा था। जब क्लाइव तत्कालीन लालच के विरुद्ध गरजा तथा उसने यह घोषणा की कि "भावना की प्रत्येक चिनगारी तथा सार्वजनिक भावना अमर्यादित तथा अनियमित लिप्सा में समाप्त हो गई," उस समय वे समझ न सके कि क्लाइव स्वयं बोर्ड से ऊपर कैसे है। उन्होंने एक संगठन बनाया। क्लाइव द्वारा दिए गए निमन्त्रणों तथा भोजों का बहिष्कार किया गया। स्मृति-पत्र तैयार किए गए। किन्तु जब कम्पनी के कर्मचारियों ने देखा कि क्लाइव हठी है, तो उन्होंने उसके सामने घुटने टेक दिए।

लॉर्ड क्लाइव को सैनिक प्रशासन की ओर भी ध्यान देना पड़ा। ऐसा करने में उसे एक कठिन स्थिति का सामना करना पड़ा। कई वर्षों से अंग्रेजी कम्पनी इस बात का प्रयत्न कर रही थी कि वह अपने फौजी अधिकारियों के भत्ते अथवा युद्ध-क्षेत्र के भत्तों को कम कर दे। वे भत्ते इसलिए दिए जाते थे कि युद्ध-क्षेत्र में दैनिक जीवन की आवश्यकताओं पर फौजी शिविरों की अपेक्षा अतिरिक्त व्यय होता है। दुगुने भत्तों का आरम्भ कर्नाटक के युद्धों में हुआ था। चन्दा साहेब तथा मुहम्मद अली ने फ्रांसीसी तथा अंग्रेज सैनिकों को दुगुने भत्ते दिए। मीर कासिम ने ऐसा ही किया। किन्तु जब अंग्रेज़ी कंपनी को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी का अधिकार प्राप्त हुआ, तो सैनिकों को दुगुने भत्तों के देने का उत्तरदायित्व कम्पनी पर पड़ा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कम्पनी के डायरेक्टरों ने इस सम्बन्ध में व्यय कम करने की आज्ञाएँ दी हों।

लार्ड क्लाइव ने इस सम्बन्ध में एक विस्तृत योजना बनाई। कम्पनी के दस्तों को तीन ब्रिगेडों में बाँटा गया। प्रत्येक भाग में यूरोपीय पैदल सेना की एक टुकड़ी, एक तोपखाने (कम्पनी) की टुकड़ी, सिपाहियों के छः बटेलियन तथा हिन्दुस्तानी घुड़सवारों का एक दस्ता था। एक फौजी कमान मुंघेर में थी, दूसरी बाँकीपुर में तथा तीसरी इलाहाबाद में। क्लाइव ने आज्ञा दी कि मुंघेर अथवा पटना की छावनियों में रहने वाले अधिकारी उन अधिकारियों की अपेक्षा आधे भत्ते लेंगे, जो त्रिचनापल्ली में लेते थे। जब वे

युद्ध-भूमि में होते थे, तब उन्हें बंगाल तथा बिहार की सीमाओं में उचित भत्ता दिया जाता। किन्तु यदि वे सीमा पार करके अवध चले जाएँ, तब उन्हें दुगुने भत्ते प्राप्त करने का अधिकार था। कप्तान के लिए इस कटौती का अभिप्राय था तीन, छः अथवा बारह रुपये प्रतिदिन।

फौजी अधिकारियों ने नए नियमों का विरोध करने के लिए संगठन बनाया। यह तय किया गया कि वे एकबारगी अपने कमीशनों से त्याग-पत्र दे देंगे। इस प्रकार की कार्यवाही के लिए सर राबर्ट फ्लैचर ने उन्हें उकसाया। किन्तु लार्ड क्लाइव इस सम्बन्ध में दृढ़-निश्चयी था कि वह सब प्रकार के विरोध का दमन कर देगा। उसने नए नियमों को कार्यान्वित किया। उसने शीघ्र ही उन लोगों के त्यागपत्र स्वीकार कर लिये। उनके स्थान पर नियुक्ति के लिए मद्रास से अफसर मँगवाए। क्लाइव ने स्वयं तीन ब्रिगेडों के मुख्य स्थानों का निरीक्षण किया। वह स्वयं सैनिक अनुशासन को भली प्रकार समझ लेना चाहता था। धीरे-धीरे अफसरों ने परस्पर लड़ना आरम्भ कर दिया तथा विद्रोह फूट पड़ा। फ्लैचर तथा छः अन्य अधिकारियों को निकाल दिया गया। जिन्हें निरपराध समझा गया, उन्हें तीन वर्षों के करार पर हस्ताक्षर करवाकर कार्य पर आने की आज्ञा दे दी गई।

आर्थिक कठिनाई के समय कम्पनी के कर्मचारियों की सहायता के लिए क्लाइव ने "लार्ड क्लाइव निधि" के नाम से निधि चालू की। पैंशन की पद्धति शुरू होने से पूर्व इस निधि से कर्मचारियों को काफी फायदा हुआ। यह निधि मीर जाफ़र द्वारा क्लाइव को दी जाने वाली ५ लाख रुपये की धनराशि से चलाई गई थी।

बंगाल का द्वैध शासन (Dual Government of Bengal)—क्लाइव के द्वारा परिचालित बंगाल के द्वैध शासन की व्याख्या करना सरल नहीं है। बंगाल के शासन के सम्बन्ध में यह मात्र नियन्त्रण ही नहीं था जो अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा बंगाल के नवाब में हुआ। स्थिति इस प्रकार की थी : मुगल सम्राट् वायसराय के रूप में, बंगाल का सूबेदार अथवा नवाब के रूप में अधिकारों का प्रयोग करता था (१) दीवानी—मालगुजारी तथा असैनिक न्याय तथा (२) निजामत—सैनिक अधिकार तथा फौजदारी न्याय। जैसे कि सर जेम्स स्टीफ़न बताते हैं कि नवाब ने वास्तव में कम्पनी को निजामत की स्वीकृति फरवरी १७६५ में प्रदान की। अगस्त १७६५ में सम्राट् शाह आलम ने कम्पनी को दीवानी के सब अधिकार प्रदान कर दिए। इस प्रकार कम्पनी को दीवानी के अधिकार सम्राट् से तथा निज़ामत के अधिकार सूबेदार से प्राप्त हुए। यहाँ तक तो स्थिति स्पष्ट थी। किन्तु कठिनाई यहाँ उत्पन्न हुई कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों ने अब तक स्वयं दीवान अथवा नाज़िम के रूप में अपने ऊपर उत्तरदायित्व नहीं लिया था। प्रशासन का नाममात्र का उत्तरदायित्व डिप्टी नायब अथवा नायब पर था, जिसे नवाब उनकी स्वीकृति से नियुक्त करता था। इसी प्रकार का एक डिप्टी बिहार के लिए नियुक्त किया गया। किन्तु सारा प्रशासकीय उत्तरदायित्व कई वर्षों तक स्थानीय कर्मचारियों द्वारा चलता रहा। अन्त में १७६९ में अंग्रेज़ निरीक्षकों को जिन्हें बाद में कलक्टर का नाम दिया गया, नियुक्त किया गया ताकि वे देशी मालगुजारी के अफसरों पर नियन्त्रण रख सकें। किन्तु स्थिति के सुधरने की अपेक्षा इसमें अधिक गड़बड़ उत्पन्न हो गई तथा रिश्वतखोरी भी बढ़ गई।

यह थी शासन की द्वैध पद्धति, जिसे क्लाइव ने बंगाल में चलाया। यह पूछा जाता है कि क्लाइव ने प्रान्त की शासन-व्यवस्था सँभालने में आनाकानी क्यों की, जब कि वह आसानी से ऐसा कर सकता था। नवाब तो अंग्रेज़ों के हाथ में कठपुतली मात्र था। वास्तव में सारी शक्ति तो अंग्रेज़ों के हाथों में थी। वह उनके कब्जे में था तथा उसका जीवन उन पर निर्भर करता था। क्लाइव अपने पद को ख़त्म करके तथा सरकार का सीधा नियन्त्रण हाथ में लेकर भारी सेवा कर सकता था। डॉडवेल ने कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया में लिखा है कि इस योजना की सबसे बड़ी हानि यह थी कि वह उत्तरदायित्व से अधिकारों को जुदा करती थी। अंग्रेज़ों को प्रान्तों का नियन्त्रण तो दिया गया किन्तु वे प्रशासन के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करते थे तथा उन्हें किए हुए किसी त्रुटिपूर्ण कार्य के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता था। १७७० में बंगाल के भीषण अकाल के समय यह बात स्पष्ट हुई। कम्पनी के कर्मचारियों ने जनता के प्रति अपने किसी कर्त्तव्य का अनुभव नहीं किया जो हज़ारों की संख्या में मरने के लिए छोड़ दिए गए। इस सब दुर्दशा का उत्तरदायित्व क्लाइव द्वारा आरम्भ किए गए द्वैध-शासन को दिया जा सकता है। श्री पी० ई० राबर्ट्‌स ने इस पद्धति की आलोचना इन शब्दों में की है, "शक्ति और उत्तरदायित्व के इस अलगाव के कारण शीघ्र ही फिर से उभड़ने वाली पुरानी बुराइयाँ प्रकट हो गईं।"

किन्तु जैसे कि डॉडवैल लिखता है, इस प्रणाली के जो कि १७६५ में आरम्भ हुई, कुछ सामयिक लाभ भी थे। यह समय की आवश्यकता के अनुकूल थी। इससे नवाब पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया गया, जो उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। इससे वैदेशिक शक्तियों की शिकायतों तथा अपनी सरकार की माँगों के सम्बन्ध में आश्वासन प्राप्त हो गए। क्लाइव को अब तक स्मरण था कि किस प्रकार प्रत्यक्ष अधिकारों की प्राप्ति के साथ ही डूप्ले की योजनाओं में अंग्रेज़ों के प्रति अत्यन्त विरोधी भावनाएँ उत्पन्न की गईं थीं। सम्राट् के प्रार्थना-पत्रों अथवा नवाब के आज्ञा-पत्रों अथवा परवानों का, यद्यपि वे अंग्रेज़ी प्रभुत्व के बिना व्यर्थ थे, कूटनीतिज्ञ परिपाटी के गम्भीर उल्लंघन के बिना पैरिस अथवा हेग में विरोध न हो सकता था। ऐसा समझा गया कि पूर्ण औपनिवेशिक अधिकारों से कम कोई भी प्रभुत्व इंगलैण्ड में कानूनी कठिनाइयों को प्रोत्साहित करेगा अथवा पार्लियामैण्ट के हस्तक्षेप का कारण बनेगा। "संक्षेप में दीवानी अधिकारों की स्वीकृति से बंगाल की समस्याओं के पूर्ण नियन्त्रण की प्राप्ति के लिए विशेषतया कम्पनी के हितों की रक्षा हो गई तथा इससे औपनिवेशिक कार्यों में भी विधिवत् कोई असुविधा नहीं हुई।"

इस सम्बन्ध में लार्ड क्लाइव के विचार ये थे, "राजनीति के सम्बन्ध में, पहली बात, जो मैं आपके विचारार्थ प्रस्तुत करता हूँ, वह है सरकार के संगठन की पद्धति। हम इतना समझते हैं कि दीवानी के अधिकारों की प्राप्ति के समय से वे अधिकार, जो प्रान्तों के सूबों को प्राप्त थे अब पूर्ण रूप से ईस्ट इण्डिया कम्पनी को प्राप्त हो गए हैं। अब उनके पास नाममात्र के अधिकार तथा प्रभुत्व की छाया ही शेष है। ये नाममात्र के अधिकार चाहे वे कितने ही अर्थहीन हों, इसलिए अत्यन्त आवश्यक हैं कि जिससे लोग यह समझें कि हमारा सम्मानपूर्ण व्यवहार उसकी स्वीकृति से चल रहा है। इससे विदेशी शक्तियों का

जो भी संघर्ष अथवा नोंक-झोंक चलती रहती है, उस पर प्रभावी नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है, इसमें बाह्य रूप से हमारे अपने अधिकारों के उल्लेख की भी आवश्यकता नहीं रहती तथा उनके द्वारा वर्णित सब वास्तविक कष्टों अथवा शिकायतों को भली प्रकार से दूर किया जा सकता है। इसलिए सदा इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि सूबे की सत्ता है तथा यद्यपि समस्त आय कम्पनी की है, सीमावर्ती अधिकार अभी तक देश के उच्च अधिकारियों के हाथों में है, जो उसके तथा इस प्रेज़िडैन्सी के सम्मिलित नियन्त्रण में हैं।"

राबर्ट्स के कथनानुसार, क्लाइव भी इस अभियोग से इनकार नहीं कर सकता कि उसके द्वारा चलाई गई पद्धति अपूर्ण थी। उसकी सम्मति में क्लाइव पूर्णता का दावा कर भी नहीं सकता था क्योंकि उसे वास्तविक स्थिति से उलझना पड़ा था। वह इस बात को मानता था कि नवाब के पास "केवल नाममात्र के अधिकार थे" तथापि स्थिति के अनुसार आवश्यक था कि हम इन नाममात्र के अधिकारों का आदर करें। वेरेलस्ट हमें बताता है कि "प्रान्तीय सरकार की पूर्ण सत्ता का हस्तगत करना असम्भव था क्योंकि प्रथम तो शासन-कार्य के लिए अपेक्षित कम्पनी के कर्मचारियों की संख्या अत्यन्त सीमित थी। इसके साथ ही वे प्रशासन-कार्य से बिलकुल अनभिज्ञ थे क्योंकि वे कम्पनी की नौकरी में केवल मुंशी अथवा लिपिक (Writers) मात्र ही थे।"

डा० नन्दलाल चैटर्जी के मतानुसार, "क्लाइव द्वारा संस्थापित द्वैध शासन बेतुका और अव्यावहारिक था। वह भूल गया कि शक्ति का विभाजन अराजकता तथा गड़बड़ के बिना असम्भव था। बंगाल प्रान्त की दीवानी व्यवस्था के धारण करने से एक उत्तरदायी प्रशासक की कार्य-कुशलता की अपेक्षा कार्य-कुशल योजना बनाने वाले व्यक्ति के सनकी चातुर्य का ही प्रदर्शन होता था। यह एक स्वार्थ सिद्ध करने का तरीका था, जो पद के आनन्द लूटने के लिए ही बनाया गया था। परन्तु उसकी मूलभूत कर्त्तव्य-भावनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। यह निश्चय ही ऐसा उपाय था, जिससे देशी शक्तियों तथा विदेशी जातियों को धोखा दिया जा सके, जिन्हें क्लाइव क्रुद्ध नहीं करना चाहता था। उसने स्पष्ट रूप से बंगाल में होने वाली राजनीतिक क्रान्ति को छिपाने के लिए एक अच्छे पर्दे के रूप में इसके औचित्य की पुष्टि की। अब नवाब राज्य का एक पैन्शनर था तथा नाममात्र का शासक था। उसके पास किसी प्रकार का अधिकार न रह गया था। किन्तु क्लाइव ने इस बात का आग्रह किया कि उसके नाम तथा नाममात्र के अधिकारों को रहने दिया जाय। बाहर से उसने एक सुविधापूर्ण पर्दे के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की। इसके सम्बन्ध में उसने सोचा कि उसे उतार फेंकना मूर्खता होगी और परिणाम खतरनाक होगा। छल-कपट से घृणा रखने का ही दूसरा नाम दीवानी था।

द्वैध-शासन-प्रणाली के दुःखद अमानवीय कृत्यों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भीतरी प्रशासन पूर्ण रूप से बिगड़ गया। नवाब में कानून तथा न्याय को लागू करने की शक्ति नहीं रही। दूसरी ओर अंग्रेज शासन के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने को उद्यत न थे। परिणाम यह हुआ कि देश में अव्यवस्था हो गई। जमींदारों की दुष्टता और नीचता तथा नवाब के अफसरों और कम्पनी के कर्मचारियों के लोभ की सीमा न थी। किसानों, जुलाहों तथा व्यापारियों पर अनेक प्रकार के अत्याचार हो रहे थे और उन्हें

लूटा-खसूटा तथा तंग किया जा रहा था। लोगों को अपील करने तक का अधिकार नहीं था। बहुत से लोगों को निराशा में अपने घरबार तक छोड़ने के लिए बाध्य किया गया तथा वे भिखारी तथा आवारा लुटेरे बन गए। देश उजड़ गया। बंगाल के इतिहास में प्रान्त की कभी ऐसी दुर्दशा नहीं हुई, जैसी क्लाइव के राज्यकाल में हुई।

१७६५ से १७७२ तक वास्तविक शासन दो भारतीय अधिकारियों के हाथों में था जो नायब दीवान कहलाते थे। कम्पनी की स्थिति "दीवान" की थी, अर्थात् दीवानी के वास्तविक अधिकार कम्पनी के हाथ में थे। उस समय बँगाल में मुहम्मद रज़ा खान नायब दीवान था तथा बिहार में राजा शिताबराय था। १७६९ में ब्रिटिश पर्यवेक्षक (Supervisors) नियुक्त किए गए, जिन्हें "कलैक्टरों के ऊपर नियन्त्रण सम्बन्धी अधिकार दिए गए, किन्तु वे दैनिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे।" इस पद्धति का यह दोष था कि यद्यपि कम्पनी की वित्तीय स्थिति शोचनीय थी, तथापि इसके कर्मचारी बहुत समृद्ध होकर इंग्लैंड लौटते थे।

मुर्शिदाबाद के रैज़िडैंट (ब्रिटिश अधिकारी) बैचर ने १७६९ में इस प्रकार लिखा: "अंग्रेज़ होने के कारण यह बात सोचते हुए दुःख होता है कि जब से कम्पनी को दीवानी अधिकार प्राप्त हुए हैं, इस देश के लोगों की अवस्था पहले की अपेक्षा बिगड़ी ही है। यद्यपि मुझे यह कहने में संकोच होता है, किन्तु वास्तविक तथ्य यही है। यह सुन्दर देश जो निरंकुश स्वेच्छाचारी सरकार के अधीन सुखपूर्ण तथा वैभवशाली था, इस समय बर्बादी की ओर जा रहा है, यद्यपि वास्तविक प्रशासन में अंग्रेजों का इतना अधिक हाथ है।"

साथ ही डायरैक्टरों को इस बात का पूरा शक था कि नायब दीवान सरकारी आय का बहुत बड़ा भाग हड़प रहे हैं, जो वास्तव में कम्पनी के कोष में जाना चाहिए था। द्वैध-शासन को समाप्त करने के उद्देश्य से १७७२ में हेस्टिंग्ज़ की नियुक्ति हुई थी। कोर्ट ऑव डायरैक्टर्स ने निश्चय किया था कि "वे दीवान के रूप में कार्य करें।" वास्तव में उसे तीन पर्यवेक्षकों (Supervisors) का स्थान लेना था। कम्पनी के डायरैक्टरों ने लिखा: "हम तुम्हें पूर्ण अधिकार सौंपते हैं जिससे सुधार कार्य पूर्ण हो जाए।" यद्यपि उसे कुछ बातों में निश्चित हिदायतें दी गईं तथापि कुछ सीमा तक यह सत्य है, जैसा कि लार्ड थिनलो कहते हैं कि "उसे इस बात की आज्ञा दी गई थी कि वह द्वैध शासन के पूर्ण ढाँचे को भंग करेगा। उसे कम्पनी के निर्देशानुसार बंगाल सरकार के लिए एक विशेष ढंग का सरकारी ढाँचा बनाना था। सम्पूर्ण योजना उसके अपने निर्णय तथा स्वविवेक पर छोड़ दी गई।"

द्वैध सरकार के उत्सादन से इतना ही लाभ हुआ कि भविष्य में कम्पनी अपने कर्मचारियों के माध्यम से सरकारी मालगुजारी इकट्ठी कर सके। किन्तु वास्तव में इसका अभिप्राय यह था कि वह सम्पूर्ण नागरिक प्रशासन व्यवस्था के लिए उत्तरदायी बन गई। हेस्टिंग्ज़ के इन शब्दों में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं: "इस देश के संविधान में कम्पनी का अधिकार तथा इंग्लैंड की राज्यसत्ता की नींव डाल दी गई।" पहला पग था कि बंगाल तथा बिहार के नायब दीवानी के पदों को खत्म कर दिया गया तथा ग़बन के कारण मुहम्मद रज़ा खान तथा राजा शिताबराय को दण्डित किया गया। लम्बे मुकदमे तथा एक वर्ष से अधिक समय के लिए कारावास में रहने के पश्चात् दोनों छोड़ दिए गए। मुकदमा केवल वैधानिक कार्यवाही थी। यह इसलिए की गई थी जिससे उन्हें हटाया जा सके।

यद्यपि वारेन हेस्टिंग्ज़ इस कार्यवाही के विरुद्ध था, लेकिन इससे उद्देश्य की पूर्ति हो गई।

द्वैध-शासन का जन्मदाता क्लाइव था और उसको खत्म करने वाला वारेन हेस्टिंग्ज़ था। यह सदैव के लिए नहीं बनाया गया था। यह तो अन्तरिम योजना थी। यह एक प्रकार की ऐसी व्यवस्था थी जो काम चलाने के लिए बनाई गई थी। इसका उद्देश्य १७६५ में अंग्रेजों के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना था। यह अंग्रेजों की प्रतिभा की उपज थी, जो इस बात में विश्वास करते हैं कि धीरे-धीरे आगे बढ़ा जाए। इसमें गलतफहमी की सम्भावना बनी रहती है। लेकिन अन्त में उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है।

डा० नन्दलाल चैटर्जी का कहना है कि क्लाइव ब्रिटिश भारत की नियमित डाक प्रणाली (Postal System) का वास्तविक संस्थापक था। उसने उन नींवों को स्थापित किया, जिन पर उसके उत्तराधिकारियों ने आधुनिक डाक प्रणाली का बाद में निर्माण किया। उसके द्वारा आरम्भ की गई डाक प्रणाली मुख्य रूप से पुराने डाक संगठन का ही विकसित रूप था, जिसमें घुड़सवार अथवा रनर (Runner) डाक लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे तथा एक दूसरे को पहुँचाते थे। केवल इस बात की आवश्यकता थी कि रनर्स का योग्य तथा स्थायी कर्मचारी वर्ग संगठित किया जाए तथा क्लाइव ने यह कार्य डाक-मार्गों के ज़मींदारों के सुपुर्द किया। उनसे डाक ले जाने के लिए रनर्स की माँग की गई। उनके लगान पर उतनी छूट कर दी गई, जितना व्यय उन लोगों को दौड़ने वाले हरकारों को रखने पर होता था।

१७६६ में क्लाइव ने बंगाल प्रान्त में डाक का पूर्ण संगठन किया तथा बंगाल के बाद अन्य सब प्रान्तों में। नई प्रणाली के अनुसार डाक का नियन्त्रण डाक-मास्टर के अधीन होता था, जिसमें उसके कुछ सहायक उसकी सहायता कर देते थे। कलकत्ता से डाक राजभवन से भेजी जाती थी। जो पत्र भेजने होते थे उनको प्रति रात्रि स्थानों के अनुसार छाँटा जाता था। डाक व्यक्तिगत रूप से डाक मास्टर अथवा उसके सहायकों को भेजनी होती थी। विभिन्न केन्द्रों के पत्र अलग थैलों में भेजे जाते जाते थे। डाक के थैलों पर कम्पनी की सील मुहर लगती थी। कारखानों के मुख्य अधिकारी अथवा रैज़िडेंट (देशी राज्यों में रहने वाले भारत सरकार के प्रतिनिधि) ही अपने-अपने क्षेत्र की डाक खोलते थे। इन अधिकारियों को कलकत्ता भेजे वाने वाले पत्रों के सम्बन्ध में भी इसी नियम का पालन करना पड़ता था।

हरकारों की प्रणाली दोषपूर्ण थी तथा परिणामस्वरूप डाक के थैलों के पहुँचने में देर हो जाती थी। इसमें आश्चर्य नहीं कि क्लाइव ने नये नियम बनाए। उनके अनुसार डाक के थैलों को निश्चित अवधि में क्रमशः क्रम संख्या दिए जाने का निश्चय किया गया। थैले भेजने का दिन तथा समय तथा थैलों अथवा पैकेटों की संख्या उन टिकटों पर लगाए जाने का निश्चय किया गया, जो उन थैलों पर लगाए जाते थे। रैज़िडेंट अथवा कारखाने के प्रमुख अफसरों को नियमित रूप से प्रत्येक थैले आदि की पहुँच की रसीद उस इलाके के रैज़िडेंट को भेजनी होती थी, जहाँ से थैला उक्त स्थान पर पहुँचा हो। यदि कोई थैले आदि गुम हुए पता चलें, तो हरकारों को दण्ड दिए जाने का निश्चय हुआ। ऐसा दण्ड हानि का सन्तोषजनक कारण न बताने पर दिया जाता था। प्रत्येक पैकेट पर गवर्नर तथा कम्पनी

की सील मुहर का लगाना आवश्यक था, जिससे उसे गन्तव्य स्थान पर पहुँचने से पूर्व न खोला जा सके।

यह बात उल्लेखनीय है कि क्लाइव द्वारा संस्थापित डाक-प्रणाली केवल सरकारी कार्यों के लिए प्रयोग में लाई गई। अन्य व्यक्ति इसका प्रयोग न कर सकते थे।

विदेश नीति (Foreign Policy)—डा० नन्दलाल चटर्जी के कथनानुसार, क्लाइव द्वारा प्रारम्भ की गई तथा दीवानी के युग तक लागू की गई विदेशनीति एक प्रकार की सावधानतापूर्ण मध्यम मार्ग था, जिसका आधार वास्तविक सम्भावनाओं की वास्तविकता और जोखिम पर था, जो उस स्थिति से परम्परागत सम्बद्ध थे तथा जिनसे बंगाल सब ओर से घिरा हुआ था। इस नीति का मूल आधार यह था कि प्रान्त की तत्कालीन सीमाओं से बाहर किसी प्रदेश को न जीता जाए तथा न उन्हें अपने आधीन करने का प्रयत्न ही किया जाए। बंगाल की सुरक्षा ही अपने आप में एक भारी समस्या थी। क्लाइव ने डायरैक्टरों को भेजे जाने वाले पत्रों में से एक में लिखा, "कुछ और आगे जाने पर मेरी सम्मति में एक योजना है, जो इतनी महत्त्वाकाँक्षापूर्ण तथा फिज़ूल है कि कोई भी गवर्नर तथा कौंसिल बुद्धि से उसको क्रियान्वित नहीं कर सकती, जब तक कि कम्पनी के हितों की पूर्ण प्रणाली को ही पूर्ण रूप से बदला नहीं जाता।" उसने आगे लिखा, "नवाब के उपनिवेशों की सीमाएँ आपके सब प्रश्नों का उत्तर देने के लिए पर्याप्त हैं। हमारे विचार में ये सीमाएँ न केवल आपके उपनिवेशों, बस्तियों के लिए तथा उन पर प्रभाव के लिए ही काम दे सकती हैं, अपितु आपके व्यापार के लिए भी उपयोगी हो सकती हैं क्योंकि, यदि हम अधिक सीमाओं के लिए प्रयत्न करते हैं, तो आप इतने बड़े राजस्व तथा दृढ़ नींव वाली शक्ति के लिए खतरे का कारण बनते हैं। इसका उपभोग आप इस समय कर रहे हैं तथा कोई पर्याप्त लाभ प्राप्त होने आशा भी नहीं दीखती।"

इस नीति का आधार निम्नलिखित विचार थे—

दूरस्थ उपनिवेश आर्थिक तथा फौजी दृष्टिकोण से बंगाल के लिए एक भार सिद्ध हो सकता है। दूसरे, युद्ध तथा विजय के खतरे कम्पनी के व्यापार के लिए अनुकूल नहीं हो सकते। तीसरे, बंगाल के बाहर आक्रमण से देशी शक्तियों से गम्भीर कष्ट भड़कने की सम्भावना थी। चौथे, बंगाल की अपनी उपज क्लाइव के शब्दों में 'इतनी अधिक थी, जितनी इस सम्बन्ध में महत्त्वाकाँक्षा की जा सकती थी।' पाँचवें, केवल शान्तिपूर्ण नीति ही देशी शक्तियों को शान्त रख सकती थी तथा इससे देशी शक्तियों के पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का भी नाश हो सकता था। इसके साथ ही इससे उन्हें इस बात का भी आश्वासन प्राप्त हो सकता था कि हमारा उद्देश्य विजय तथा उपनिवेश प्राप्त करना न होकर खुला व्यापार करने की सुरक्षा प्राप्त करना है, जिससे समान रूप से उन्हें और हमें लाभ हो। छठे, बंगाल की सुरक्षा का लक्ष्य अधिक हितकारी था। इसके विपरीत समीपस्थ शक्तियों की विचार-विभिन्नता तथा अलग-अलग हितों के कारण उनके प्रति आक्रमणात्मक नीति हानिकारक थी। सातवें, यदि अंग्रेज़ी नीति का आधार विजय प्राप्त करना होता तो क्लाइव को इस बात की आशंका थी कि कम्पनी एक के पश्चात् अन्य प्रदेश को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहेगी। आठवें, जब पर्याप्त संख्या में अंग्रेज अफसर बंगाल के प्रशासन-कार्य के लिए ही प्राप्त न होते थे, तब इस प्रान्त के अतिरिक्त

सरकार का उत्तरदायित्व ग्रहण करने का प्रश्न ही प्रस्तुत नहीं होता । अन्त में यह बात भी विचारणीय है कि "क्लाइव इस तथ्य से परिचित था कि कम्पनी की पूंजी सम्वन्धी व्यापारिक आवश्यकता ही इतनी अधिक थी कि दूर-दूर के युद्धों के लिए धन की व्यवस्था करना असम्भव था ।"

क्लाइव को अवध के नवाब वज़ीर तथा सम्राट् शाह आलम से भी निबटना पड़ा। यह पहले ही बताया जा चुका है कि इस समय दोनों अंग्रेज़ों के हाथों में थे तथा उनको अपने पक्ष में करने के लिए प्रयत्नशील थे । अंग्रेज़ों की फौजों के सम्मुख अवध अरक्षित था । क्लाइव ने देखा कि वेन्सिटार्ट मुग़ल सम्राट् को पहले ही अवध सौंपने का वचन दे चुका था । क्लाइव के विचार में यह कदम मूर्खतापूर्ण था । शाह आलम के लिए अवध पर अपना अधिकार रखना असम्भव हो गया । सिराजुद्दौला के साथ परामर्श आरम्भ हुआ । अन्त में इलाहाबाद की सन्धि पर अगस्त १७६५ में हस्ताक्षर हुए । इस सन्धि के अनुसार अवध के नवाब वज़ीर के अधिकार में कोरा, इलाहाबाद, चुनार के जिलों तथा ग़ाज़ीपुर सहित बनारस की ज़मींदारी के अतिरिक्त अपना सारा राज्य आगया । नवाब वज़ीर ने युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए १५ लाख रुपए देने स्वीकार कर लिये । उसने अंग्रेज़ी कम्पनी के साथ सुरक्षासन्धि भी कर ली, जिसके द्वारा अंग्रेजों ने उसकी सीमाओं की रक्षा के लिए वचन दिया । नवाब ने फौज आदि रखने का व्यय देना स्वीकार कर लिया । नवाब वज़ीर ने अपने समस्त राज्य की सीमा में अंग्रेज़ी कम्पनी को बिना किसी कर आदि के बन्धन के व्यापार करने की स्वीकृति भी दे दी । उपर्युक्त उपबन्धों का परिणाम यह हुआ कि अवध को एक बफर (Buffer) स्टेट बना दिया गया । अवध के सम्बन्ध में क्लाइव की स्थिर नीति का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि १७६५ से १८५६ तक क्लाइव के उत्तराधिकारियों ने इस नीति का पालन किया । रैम्ज़े म्योर के शब्दों में, "अवध के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखना एक ऐसी निश्चित नीति थी, जो मरहठों की भयानक शक्ति के विरुद्ध उपयोगी थी ।"

लॉर्ड क्लाइव ने शाह आलम के साथ भी समझौता किया । उसे कोरा तथा इलाहाबाद के जिले प्रदान किए गए, जो अवध के नवाब वजीर से प्राप्त हुए थे । अंग्रेजी कम्पनी ने कर के रूप में २६ लाख रुपए वार्षिक देने का वचन दिया । इसके बदले में मुगल सम्राट ने अंग्रेजी कम्पनी को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी प्रदान की ।

मुगल सम्राट् के साथ समझौते के सम्बन्ध में बहुत से लोगों ने अनेक प्रकार की आलोचनाएँ की हैं । यह कहा गया कि लार्ड क्लाइव ने मुगल सम्राट् के साथ अत्यन्त उदारता का व्यवहार किया । सर आयर कूट ने दिल्ली की ओर कूच करने का तथा शाह आलम के नाम पर भारत को विजय करने का पक्ष लिया था । यह सत्य है कि सैनिक दृष्टिकोण से इस प्रकार की विजय संभव थी, किन्तु लार्ड क्लाइव इस साहस को खतरनाक समझता था । उसके विचार में अधिक आगे बढ़ने की योजना इतनी अधिक मूर्खतापूर्ण थी कि कोई भी गवर्नर तथा कौंसिल इसको गम्भीरतापूर्वक अपना नहीं सकती थी । क्लाइव की बुद्धि की परीक्षा इस तथ्य से होती है कि क्लाइव ने विदेशियों के विरुद्ध अपनी सीमाओं को भली प्रकार बनाए रखा । यदि १७६५ में ब्रिटिश सीमाएँ अनावश्यक रूप से बढ़ा दी जातीं तो प्रतिरक्षा की समस्या और भी गम्भीर हो जाती ।

डा० नन्दलाल चैटर्जी के कथनानुसार, "क्लाइव को दूसरी बार विशेष रूप से इसलिए भेजा गया था कि वह कम्पनी की सम्पूर्ण सरकार को सुधार सके तथा उसके कार्यों की बुराइयों को खत्म कर सके। अपने आगमन के समय उसने देखा कि प्रान्त की अवस्था बहुत खराब थी। किसी भी कार्य से प्रशासन कार्य की गति का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगता था। कम्पनी के सब कर्मचारियों में स्वार्थ की भावना दृष्टिगोचर होती थी। सब क्षेत्रों में विलास, लोभ तथा आदर्शहीनता की भावना व्याप्त थी। आकस्मिक तथा अनुचित रूप से धन की प्राप्ति के कारण क्लर्क जैसे कम्पनी के छोटे से कर्मचारी से लेकर बड़े-से-बड़े कर्मचारी तक में भ्रष्टाचार की वृद्धि हो रही थी। घूंसखोरी सर्वत्र व्याप्त थी। क्लाइव पूर्ण रूप से इस बात से परिचित था कि दमन कितना तथा कितने प्रकार का चल रहा है तथा इनके कारण अंग्रेज कितने बदनाम हो रहे हैं। उसने स्वयं स्वीकार किया कि ऐसी शिकायतों को गिनाना असम्भव है, जो उसके सम्मुख इस देश के निर्धन निवासियों ने प्रस्तुत कीं। प्रान्त में किसी प्रकार की शान्ति तथा कानून नहीं था तथा नवाब की सरकार केवल उपहास मात्र ही थी। किसान करों के बोझ से दबे जा रहे थे तथा दुःखी थे, जिसके कारण उनका शोषण हो रहा था। दलाली तथा घूंसखोरी दैनिक कृत्य बन गए थे। इनका सारा बोझ वास्तव में भूख से मरते हुए किसानों पर ही पड़ता था। बंगाल का व्यापार कम्पनी के कर्मचारियों का अपवित्र एकमात्र स्वत्वाधिकार हो गया था तथा उनके गुमाश्ते तथा सहस्रों भारतीय व्यापारी निर्धनता का जीवन व्यतीत करने को विवश हो गए थे, क्योंकि दस्तक की रियायत का अत्यन्त दुरुपयोग हो रहा था।" इसी लेखक के कथनानुसार, "क्लाइव सुधारक के रूप में पूर्णतया उपयुक्त था। वह काम लेने में कुशल तथा दृढ़-प्रतिज्ञ था, डिक्टेटर के समान कठोर था, तथा निरीक्षक के रूप में योग्य था। वह जानता था कि विरोधियों का सामना किस प्रकार किया जाए तथा उसमें इतनी योग्यता थी कि अपनी आज्ञाओं को मनवा सके। वह गुणों का पारखी तथा इतना योग्य था कि बिना पक्षपात के लोगों को छाँट सकता था। वह उत्साही, साहसी तथा निष्पक्ष व्यक्ति था। अपने कार्यों में साहसी होते हुए भी निर्णय करने में शान्त-चित्त था। उसकी परिश्रम तथा व्यापार को समझने की अद्भुत शक्ति थी। एक अच्छे प्रशासक के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है उसमें वे सब विद्यमान थे। उसे बंगाल में किसी भी स्थिति का सामना करने के लिए सभी प्रकार के विस्तृत तथा स्वेच्छापूर्ण अधिकार मिले हुए थे।

"किन्तु उसकी सभी अच्छी भावनाओं तथा उल्लेखनीय योग्यताओं के बावजूद भी, क्लाइव प्रशासक के रूप में वास्तविक सफलता प्राप्त करने में असफल हुआ। इन कारणों को खोजना कठिन नहीं। असावधान तथा लापरवाह होने के कारण वह अपने सम्मुख किसी ऊँचे आदर्श को स्थापित न कर सका तथा सब विषयों में सदैव शीघ्रता का ही ध्यान रखता रहा। वह केवल तात्कालिक स्थिति पर ही विचार करता था तथा उससे आगे सोच-विचार नहीं करता था। उसके सामने केवल 'आज' का ही प्रश्न रहता था और उसका विचार था कि 'कल' अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा। गम्भीर भूलें कर बैठने का एकमात्र कारण यह था कि वह अपने दृष्टिकोण में अनुदार था। कम्पनी को विस्तृत साम्राज्य तथा अत्यधिक राजस्व की प्राप्ति हो गई थी। ऐसी आशा की जाती थी कि इन परिस्थितियों

में नवीन तथा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपेक्षित था। किन्तु क्लाइव, कम्पनी की स्थिति को एक दुकानदार के दृष्टिकोण से देखता था। इसलिए वह इस तथ्य को समझने में असफल रहा कि बंगाल के लोगों को अच्छी सरकार का आश्वासन अपेक्षित है।"

क्लाइव १७६७ में भारतवर्ष से चला गया। उस समय उसका स्वास्थ्य बिल्कुल गिर चुका था। उसने पार्लियामैण्ट में प्रवेश किया तथा आरम्भ में उसकी अत्यन्त प्रशंसा की गई। लेकिन उसके आलोचकों ने उसे तंग करना शुरू किया। १७७३ में कर्नल बर्गोयिने ने लार्ड क्लाइव के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया: "निर्वाचन समिति के सदस्य तथा ब्रिटिश फौजों के मुख्य सेनापति के रूप में अपने प्रभाव के कारण उसने २,३४,००० पौण्ड प्राप्त किए तथा ऐसा करते हुए उसने अपने उन अधिकारों का दुरुपयोग किया, जो उसे निष्ठापूर्वक सौंपे गए थे। इससे सार्वजनिक कर्मचारियों के सम्मुख बुरा दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ तथा इससे राज्य का अपमान तथा अहित हुआ।" प्रस्ताव इस रूप में स्वीकृत नहीं हुआ। लम्बे वाद-विवाद के पश्चात् निम्न प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ: "राबर्ट क्लाइव ने अपने देश के प्रति महान् तथा उल्लेखनीय सेवाकार्य किया।"

क्लाइव का मूल्यांकन (Estimate of Clive)—भारत में क्लाइव के कार्यों के सूक्ष्म परीक्षण से पता चलता है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति उसकी सेवाएँ महान् हैं। १७५१ में अर्काट की सुरक्षा तथा उसके हस्तगत करने का श्रेय उसे ही प्राप्त हुआ। लारैन्स के सहयोग से उसने डूप्ले की सब योजनाओं को व्यर्थ कर दिया। जनरल लारैन्स से उसे युद्ध-विद्या की तथा साण्डर्स से उसे कूटनीति की शिक्षा मिली। १७५६ में उसने घरिया के सशक्त लुटेरों को कुचलने में मरहठों का साथ दिया। प्लासी पर विजय के कारण उसने बंगाल में ब्रिटिश शक्ति की नींव रखी तथा उसके विस्तार के लिए भूमि तैयार की। बंगाल में दूसरी बार गवर्नर बनने की कालावधि में उसने अवध को बफर स्टेट के रूप में स्थापित किया। वह न केवल एक महान् योद्धा था, वरन् एक महान् प्रशासक तथा राजनीतिज्ञ भी था। लार्ड चैथम ने उसकी तुलना प्रशिया के फ्रैडरिक महान् से की है। बर्क के कथनानुसार, "उसने भारत में ब्रिटिश राज्य की गहरी नींव डाली। उसने स्वयं कठिनाइयाँ झेल कर आने वाले शासकों के लिए स्पष्ट मार्ग का निर्माण किया जिस पर चल कर कम प्रतिभा वाले उत्तराधिकारी भी अपनी मंजिल पर पहुँच सकें।" पी० ई० राबर्ट्स के शब्दों में, "उसके दोषों के होते हुए भी, क्लाइव के सभी शब्दों तथा कार्यों पर उसके व्यक्तित्व की छाप थी।" रण-कौशल, राजनीतिक संघर्ष में शानदार साहस तथा दृढ़ता, उसका नैतिक साहस, जिसके कारण वह अपने प्रभावहीन तथा विद्रोही अधीनस्थ कर्मचारियों का मुकाबला करता था, वाद-विवाद की शक्ति तथा ओज तथा इन सब गुणों के कारण लार्ड मैकाले का यह कथन पूर्ण रूप से सत्य है कि हमारे देश ने शायद ही ऐसे व्यक्ति को जन्म दिया होगा जो शस्त्र और राजनीति दोनों में उससे बड़ा हो।

यहाँ प्रसंगवश उन दो विचारों का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है, जो क्लाइव के चरित्र से न्याय-संगत नहीं हैं। सर चार्ल्स विल्सन के कथनानुसार, उसकी योजनाओं में नीति-कुशलता का कुछ भी अंश दृष्टिगोचर नहीं होता है। कई अवसरों पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसने सैनिक कार्यवाहियों के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति प्रदर्शित की। शत्रुओं को ढूंढकर कर उन पर टूट पड़ना उसके अभिन्न सिद्धान्त रहे हैं तथा उसकी

सफलताओं का मुख्य कारण उसका व्यक्तिगत शौर्य तथा असंख्य जनता को प्रेरणा देना है। ये निर्णय उसने भली प्रकार सोच-विचार कर नहीं किए। हॉरेस वालपोल ने क्लाइव का उल्लेख इन शब्दों में किया है—"यद्यपि लार्ड क्लाइव इतना स्पष्टवादी तथा साहसी व्यक्ति था कि उसने अपने षड्यन्त्र का सम्पूर्ण आवरण मान लिया, किन्तु वे लोग इतने अनुदार थे कि वे उस पर हत्या, जालसाजी तथा विद्रोह के अभियोग लगाना न भूले तथा उनके इस व्यवहार के कारण वह बहुत क्रुद्ध हुआ।"

लार्ड क्लाइव भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का संस्थापक था। बंगाल के निवासियों के नाश का भी कारण था। भ्रष्टाचार, दमन तथा कुशासन-व्यवस्था जिनके कारण वहाँ की प्रजा अनेक वर्षों तक पीड़ित रही—का एक बड़ा कारण वह स्वयं था। उसकी धन-लिप्सा का उन्माद इतनी सीमा तक बढ़ गया था कि अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। बंगाल का कोष कुछ लुटेरे लोगों द्वारा लूट लिया गया। ऐसी स्थिति में उन्हें कोई भी वश में न कर सकता था। उसने नवाब को कठपुतली के समान इतना शक्ति तथा अधिकार-हीन कर दिया कि वह किसी का हित नहीं कर सकता था तथा उत्तरदायित्व से दूर भागता था। उसकी योजनाओं में कुछ भी मौलिकता तथा नवीनता नहीं थी। वह डूप्ले तथा बुस्से के पद-चिह्नों पर चला। उसकी सफलता का कारण परिस्थितियों तथा धोखेधड़ी का संयोग मात्र है, प्रतिभा का नहीं। हम डा० वी० ए० स्मिथ के इन शब्दों के साथ अपने कथन का उपसंहार कर सकते हैं—"मुझे यह असम्भव लगता है कि एक निष्पक्ष इतिहासज्ञ इस बात से इनकार करे कि क्लाइव प्रत्यक्ष रूप से एशियाई कुचक्रों का सामना करने को प्रस्तुत था। इसके विपरीत वह बहुत लोभी था तथा इसके लिए उसने सिद्धान्तों की तनिक भी परवाह नहीं की। इस कारण ऐतिहासिक विद्वान् उसे वह प्रशंसा प्रदान नहीं कर सकते, जो उसके वीरतापूर्ण कार्यों के कारण उसे मिलनी चाहिए। उसकी सबसे बड़ी विशेषता उसकी दृढ़ निश्चय-शक्ति थी जिसके कारण उसे प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त हुई, वह कार्य चाहे सैनिक हो अथवा नागरिक। उसकी सैनिक योग्यता तथा नेतृत्व के गुण का पर्याप्त प्रदर्शन बंगाल तथा दक्षिण में मिलता है। राजनीतिज्ञ के रूप में उसकी विशेषताएँ मुख्य रूप से उसके पुनः प्रशासन में प्रकट होती हैं, जबकि उसने असाधारण कठिनाइयों का अपूर्व साहस के साथ मुकाबला किया।"

लार्ड कर्ज़न के कथनानुसार, "युद्ध के अच्छे पारखी कप्तान के समान महान् व्यक्तियों से ऐसा सुना गया है कि फौजी प्रतिभा में वह मार्लबरो के समान था तथा टुरेन से भी बढ़कर था तथा प्रशासक व राजनीतिज्ञ के रूप में तो वह और भी महान् था क्योंकि वह उन लोक सेवाओं (Civil Services) का वास्तविक संस्थापक था, जो डेढ़ शताब्दी से भी अधिक समय से भारत में अंग्रेज़ी राज्य की कीर्ति का कारण बनी रहीं। हम क्लाइव के प्रति इसलिए अनुग्रहीत हैं कि भारतवर्ष अंग्रेजों के लिए सेवा का स्थान रहा है तथा अंग्रेज वायसरायों के लिए शासन करने का। उसकी भूलों के लिए उसे क्षमा कर दो। उनकी परवाह मत करो। उसकी सफलताओं को स्मरण करो। वे ऊँची भावना थीं; अन्तिम दृश्य पर एक आँसू बहाओ, वह दुःखान्त था, किन्तु उपेक्षणीय नहीं। क्या क्लाइव ऐसा प्रथम भारतीय दूत था, जिसे अपने देशवासियों की ओर से कृतघ्नता का शिकार होना पड़ा ? क्या इससे उसने एक शिक्षा नहीं ग्रहण की, जो उसने दूसरों को भी सिखाई

कि मनुष्य को सहन करना चाहिए ?"

बंगाल (१७६७ से १७७२ तक) (Bengal from 1767 to 1772)—राबर्ट्स के मतानुसार, क्लाइव के जाने के पश्चात् तथा वारेन हेस्टिंग्ज़ की नियुक्ति के पूर्व दो सामान्य योग्यता वाले व्यक्तियों ने बंगाल के गवर्नर के रूप में कार्य किया। ये दो व्यक्ति थे—वेरेल्स्ट (१७६७-६९) तथा कार्टियर (१७७०-७२)। उनके दुर्बल शासन के आधीन बंगाल के निवासियों को बहुत कष्ट उठाने पड़े। बंगाल सरकार के द्वैध शासन के कारण उनके कष्ट और भी बढ़ गए। अंग्रेज चाहते थे कि सब कार्य नवाब करे तथा नवाब कुछ भी नहीं करता था। जनता कम्पनी तथा नवाब की भूलों का परिणाम भोगती थी। ऐसा कहा जाता है कि बहुत से कृषकों ने अपने खेतों को छोड़ दिया तथा वे आवारा और डाकू बन गए।

कम्पनी के कर्मचारी अपना निजी व्यापार चलाते रहे तथा अपने लिए धनादि जोड़ते रहे। वे नमक, सुपारी तथा अन्य प्रकार की वस्तुओं के व्यापार में एकाधिकार से भी फायदा उठाते रहे। कोई भी व्यक्ति कम्पनी के कर्मचारियों तथा उनके गुमाश्तों को उनके निजी व्यापार करने से नहीं रोक सकता था। सरकार ने स्थिति की गम्भीरता को अनुभव किया, किन्तु स्थिति सुधारने में अपने आपको असमर्थ पाया।

इससे बढ़कर १७७० के अकाल की भारी मार पड़ी। वास्तव में एक-तिहाई जनसंख्या इसमें काल का ग्रास बनी। बिहार में यह अकाल अत्यन्त भीषण रूप धारण किए हुए था। डिप्टी गवर्नर राजा साहब राय ने सूचित किया कि पटना की गलियों में प्रतिदिन ५० से अधिक निर्धन व्यक्ति मृत्यु का ग्रास बनते थे। किसी दिन तो यह संख्या तिगुनी से भी अधिक हो जाती थी। सर डब्ल्यू० हण्टर ने अकाल का चित्रण इन शब्दों में किया है, "किसानों ने अपने ढोर बेच दिये, उन्होंने अपने खेती के औजार भी बेच दिए। वे अपने बीजों का धान्य भी हड़प गए। उन्होंने अपने पुत्र-पुत्रियों को बेचने की ठानी तो ग्राहक भी न मिले। उन्होंने वृक्षों के पत्ते और जंगलों की घास तक को खा डाला तथा जून १७७० में दरबार के रैज़िडैन्ट (ब्रिटिश अधिकारी) ने इस बात की पुष्टि की कि जीवित प्राणी मृतकों के मृत शरीरों से अपनी उदर-पूर्त्ति कर रहे थे।"

जब कष्ट आते हैं, तो वे इकट्ठे समूह में आते हैं। अकाल के पश्चात् ज्वर तथा चेचक भी भीषण रूप में फूट पड़ा। मुर्शिदाबाद की गलियाँ मृतकों तथा मरणासन्न व्यक्तियों के ढेर से भर गईं। कम्पनी के कर्मचारी बंगाल निवासियों की सहायता न करके स्थिति का पूरा फ़ायदा उठा रहे थे। वे चीजों को मंहगे दामों पर बेच रहे थे। मालगुजारी में किसी प्रकार की रियायत नहीं हो रही थी। यदि कुछ व्यक्तियों का भूमि-कर उनकी मृत्यु के कारण वसूल नहीं किया जा सका, तो उस कमी को दूसरों से पूरा कर लिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों को अवर्णनीय कष्टों का सामना करना पड़ा। लन्दन के व्यापारियों से इससे अच्छे व्यवहार की आशा नहीं की जा सकती थी। यह हालत १७७२ तक चली, उस समय वारेन हेस्टिंग्ज़ ने बंगाल के रूप में कार्यभार सम्भाला।

Questions for Revision

1. Describe the events which led to the growth of English power in Bengal till the end of Lord Clive's second governorship.

2. Explain the circumstances that led to the foundation of British dominion in Bengal.

3. Which was more important from the point of view of the East India Company; the Battle of Plassey or that of Buxar ?

4. Estimate the political importance of the Battle of Plassey.

5. Compare the position of the British in Bengal in 1756 A. D. with that in 1760 A. D. Estimate the part played by Clive in effecting this change and discuss the different views on his moral character, with special reference to the acceptance of presents from Mir Jafar.

6. "The Revolution of 1756-57 was not primarily or solely the conquest of an Indian province by a European trading settlement. It was rather the overthrow of a foreign (Mohammedan) government by the trading and financial classes native (Hindu and British)." (Roberts). Discuss with reference to relevant details the implications of the above statement.

7. "The change from Mir Jafar to Mir Kasim carried with it the certainty of a new struggle." (Dodwell). Do you agree ?

8. "Twice, therefore, in about three years (1757-60) the Calcutta merchants had played the part of King-makers". (Trotter). Discuss.

9. "An incomparable man indeed and the most extraordinary prince of his age". How far do you agree with this estimate of Mir Kasim's character ?

10. Write a critical note on Mir Kasim's policy toward the British.

11. "The whole attempt of the native princes to imitate the military methods of Europe proved a delusion and a snare." (Lyall). How far do you agree with this view, keeping in mind the attempts of Mir Kasim, the Marathas and the Sikhs in this direction ?

12. Critically examine the work of Robert Clive during his second governorship of Bengal.

13. "Our island has seldom produced a man more truly great than Robert Clive, either in arms or in Council." (Macaulay). Examine and discuss.

14. Critically examine the value of Clive's work in Bengal as conqueror and administrator. To what extent did he succeed in reforming the company's Administration ?

15. Discuss the Dual System of government in Bengal as established by Clive in all its bearings.

16. Comment on the statement : "Although Clive did not completely purify the administration, yet he initiated and maintained reforms of considerable magnitude."

17. "Power divorced from responsibility is the worst imaginable

mode of government." Explain this dictum with special reference to Clive's dual system.

18. "Clive was a man of insight rather than of foresight." (Dodwell). Elucidate this statement in the light of his work in Bengal.

19. "Lord Clive's career in India may briefly be summed up as follows : first a merchant, then a soldier, and then a statesman." Discuss.

20. Discuss the political significance of the grant of the Diwani by Emperor Shah Alam II to the British East India Company.

21. "We accomplished for ourselves against the French exactly everything that the French intended to accomplish for themselves against us." (Clive in 1762). Elucidate the statement.

अध्याय ५

वारेन हेस्टिंग्ज़ (१७७२-८५)

(Warren Hastings, 1772-85)

वारेन हेस्टिंग्ज़ १८ वर्ष की आयु में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लेखक के रूप में भरती हुआ था। कुछ समय के पश्चात् वह कासिम बाजार के रैज़िडैण्ट के रूप में नियुक्त हुआ, जहां उसने अपनी योग्यता का कुछ परिचय दिया। जब सिराजुद्दौला ने कासिम बाजार पर अधिकार कर लिया, तब इसे भी बन्दी बना लिया गया, किन्तु यह बच निकला। १७६१ में वह कलकत्ता कौंसिल का सदस्य बनाया गया। वह कुछ वर्षों के लिए अपनी मातृभूमि को गया तथा लौटने पर मद्रास कौंसिल के सदस्य रूप में कार्य-भार सम्भाला। कार्टियर के अवकाश ग्रहण करने पर वह १७७२ में बंगाल का गवर्नर नियुक्त हुआ। रैगुलेटिंग एक्ट पास होने के पश्चात् वह बंगाल का गवर्नर जनरल बना।

जब वारेन हेस्टिंग्ज़ ने बंगाल के गवर्नर के रूप में कार्यभार सम्भाला, तब उसे बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। देश में अराजकता और गड़बड़ थी। वास्तव में शासन-व्यवस्था थी ही नहीं। कम्पनी के कर्मचारी लोगों पर अत्याचार कर रहे थे। उस समय कम्पनी की कुछ भी आय नहीं थी। कोष खाली था। कम्पनी के, कर्मचारी अपने भाग्यों का निर्माण कर रहे थे। नाम-मात्र के लिए भी न्यायपूर्ण शासन-व्यवस्था नहीं थी। प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन अपेक्षित था। इन कष्टों के अतिरिक्त मराठों के कारण भी खतरा था। सम्राट् शाह आलम ने अंग्रेजों की सुरक्षा छोड़ दी थी और वह मराठों की शरण में चला गया था। दक्षिण में हैदरअली एक और खतरा था। वारेन हेस्टिंग्ज़ को इन सभी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

वारेन हेस्टिंग्ज़ के सुधार (१) प्रशासनिक सुधार (Warren Hastings' Reforms--Administrative Reforms)—वारेन हेस्टिंग्ज़ ने बहुत से सुधार किए तथा उन्हें चार भागों में बाँटा जा सकता है--प्रशासनीय, राजस्व सम्बन्धी, वाणिज्यिक तथा न्याय सम्बन्धी। प्रशासनीय सुधारों के सम्बन्ध में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने बंगाल में द्वैध शासन को समाप्त करने का निश्चय किया, जिसे लार्ड क्लाइव ने १७६५ में स्थापित किया था। कम्पनी को प्रान्त की शासन-व्यवस्था का उत्तरदायित्व सम्भालना था। उसके कर्मचारियों को दीवान के रूप में अपने कर्मचारियों द्वारा भूमि कर राजस्व इकट्ठा करने का कार्य करना था। मुहम्मद रज़ा तथा राजा साहब राय, जो बंगाल तथा बिहार के सहायक (नायब) दीवान थे, उन पर अभियोग लगाया गया तथा उन्हें अपने पद से हटा दिया गया, उन्हें आदरपूर्वक मुक्त किया गया, किन्तु उद्देश्य पूरा किया जा चुका था। खजाना मुर्शिदाबाद से कलकत्ता परिवर्तित कर दिया गया। बंगाल के नवयुवक नवाब को मुन्नी बेगम के नियन्त्रण में छोड़ दिया गया, जो मीर जाफ़र की विधवा थी। उसकी पैन्शन भी ३२ लाख से १६ लाख कर दी गई।

(२) मालगुजारी के सुधार (Revenue Reforms)—यद्यपि कम्पनी ने

बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के दीवानी अधिकार १७६५ में प्राप्त कर लिये थे, तथापि उसने अपने अधिकार में अभी मालगुज़ारी इकट्ठा करने का कार्य अपने हाथों में नहीं लिया था। यह कार्य आमिलों के हाथों में सौंपा गया। आमिल ठेकेदारों से अच्छे नहीं थे, और किसानों को बहुत कष्ट सहन करना पड़ता था। यद्यपि १७६९ में निरीक्षक नियुक्त कर दिए गए, तो भी कोई सुधार नहीं हुआ। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने एक समिति नियुक्त की तथा इसके अध्यक्ष ने जानकारी प्राप्त करने के लिए बंगाल के कुछ भागों का दौरा किया। उस समिति ने यह निष्कर्ष निकाला कि कम्पनी स्वयं राजस्व इकट्ठा करने का कार्य करे। इसका परिणाम यह हुआ कि वारेन हेस्टिंग्ज़ ने मालगुज़ारी इकट्ठा करने तथा प्रशासन-व्यवस्था के लिए कलैक्टरों को नियुक्त किया। देशी अफसरों को उनकी सहायता के लिए कहा गया। पाँच वर्षों के लिए सबसे ऊँची बोली बोलने वालों के लिए व्यवस्था की गई। सारे संगठन के निरीक्षण के लिए कलकत्ता में एक मालबोर्ड स्थापित किया गया। यह देखा गया कि सबसे ऊँची बोली बोलने वाले व्यक्ति को भूमि देने की प्रणाली भी दोषपूर्ण थी। परिणामस्वरूप १७७७ में एक वर्ष के लिए भूमि को देने की प्रणाली अपनाई गई। मुगल सम्राट् शाह आलम के ब्रिटिश सुरक्षा छोड़ने के कारण वारेन हेस्टिंग्ज़ ने उसे २६ लाख वार्षिक देना बन्द कर दिया। उसने मुगल सम्राट् से कोरा तथा इलाहाबाद के जिले भी अधिकार में ले लिये तथा अवध के नवाब को पच्चास लाख पर बेच दिए। उसने अर्थ विभाग के हिसाब को सरल तथा उचित बना दिया तथा उसने भूमि पर काम करने वालों की रक्षा के लिए बहुत से कानून बनाए। उसने बहुत से आबवाबों को करों की सूची में से निकाल दिया। साहूकारों को रोक दिया गया कि वे काश्तकारों को रुपये उधार न दे सकें।

(३) **वाणिज्यिक सुधार** (Commercial Reforms)——उसने कम्पनी के कर्मचारियों के दस्तक के उपयोग पर पाबन्दी लगा दी और इस प्रकार कम्पनी की आय में वृद्धि में की। देश में बहुत सी सीमा शुल्क चुंगियों तथा चौकियों के कारण देश के व्यापार के विकास बाधा हो रही थी। परिणामस्वरूप उसने उनको हटा दिया। भविष्य में कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, पटना तथा ढाका ये केवल पाँच ही चुंगी घर रखने का निश्चय किया गया। नमक, सुपारी तथा तम्बाकू को छोड़कर सभी वस्तुओं पर करों में २½ प्रतिशत की सामान्य छूट दी गई। इन सब सुधारों का परिणाम यह हुआ कि व्यापार में सुधार हुआ। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने गर्व से कहा कि "माल प्रान्त के दूरवर्ती प्रदेशों तक बिना किसी बाधा के पहुँचता है।"

(४) **न्याय सम्बन्धी सुधार** (Judicial Reforms)——वारेन हेस्टिंग्ज़ ने न्याय विभाग में भी बहुत से सुधार किए। १७७२ में उसने प्रत्येक जिले में सभी दीवानी मुकदमों के लिए एक दीवानी अदालत की व्यवस्था की, जिससे मालगुजारी इकट्ठा करने में सुविधा हो। इस अदालत की अध्यक्षता कलैक्टर के अधीन थी। आवश्यकता पड़ने पर कलकत्ता में सदर दीवानी अदालत में अपील करने की व्यवस्था की गई। सदर दीवानी अदालतों में गवर्नर तथा कम से कम कौंसिल के दो सदस्य होते थे। इसी प्रकार फौजदारी (दण्डिक) अदालतों की भी व्यवस्था की गई। फौजदारी अदालत में जिले का काजी तथा मुफ्ती बैठते थे तथा उनके साथ कानून की व्याख्या के लिए दो मौलवी होते थे। कलैक्टर

का कर्त्तव्य था कि वह इस बात का ध्यान रखे कि फौजदारी के मुकदमों में गवाहियाँ ठीक प्रकार से दी जाएँ तथा उनकी जाँच हो। उनका निर्णय न केवल उचित ढंग से और पक्षपातरहित हो, बल्कि फैसले खुली अदालतों में घोषित किए जाएँ। फौजदारी अदालतें सदर निजामत अदालत द्वारा निरीक्षित होती थीं। इन अदालतों पर नाज़िम द्वारा नियुक्त दारोगा अदालत की अध्यक्षता करता था। दारोगा अदालत में सदर काज़ी, सदर मुफ्ती तथा तीन मौलवी होते थे। सदर निज़ामत अदालत की कार्यवाही पर गवर्नर तथा कौंसिल का निरीक्षण होता था।

अदालतों में कार्यवाही के सुधार से सम्बन्धित उचित उपवन्ध किया गया। अदालतों को न केवल अपनी कार्यवाही का रिकार्ड रखना पड़ता था, बल्कि उसे सदर दीवानी अदालत को भी भेजना पड़ता था। परगनों के मुख्य जमींदारों को अधिकार दिया गया कि वे मुकदमों को सुन सकें, जिससे रैय्यत को न्याय के लिए दूर न जाना पड़े। यह भी व्यवस्था की गई कि स्वीकृति से पंच फ़ैसला (Arbitration) हो सके। विवाह, उत्तराधिकार, जातीय तथा धार्मिक मामलों में मुसलमानों के लिए कुरान तथा हिन्दुओं के लिए शास्त्रों के अनुसार निर्णय होते थे। ५००० रुपये तक के लिए मुफस्सिल अदालतों के अन्तिम निर्णय होते थे। अन्य मुकदमों में अपील की जा सकती थी। फौजदारी अदालतों को मृत्युदण्ड देने का अधिकार नहीं था। सदर अदालतों को १०० रुपये से अधिक जुर्मानों की पुष्टि करनी होती थी। डाकुओं को उनके अपने देहातों में ही दण्ड दिया जाता था तथा उनके परिवारों को दास बना दिया जाता था। उनके देहातों से जुर्माने वसूल किए जाते थे और जो पुलिस अधिकारी उन्हें पकड़ते थे, उन्हें पुरस्कार दिए जाते थे। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने १७७४ में कुछ परिवर्तन किए। बंगाल, विहार तथा उड़ीसा के तीन प्रान्तों को छः भागों में बाँट दिया गया तथा इनमें से प्रत्येक भाग में अंग्रेज कम्पनी के ४, ५ नियमित कर्मचारियों की एक कौंसिल बनाई गई। प्रत्येक डिविज़न में बहुत से जिले सम्मिलित थे तथा कलैक्टर के स्थान पर एक दीवान अथवा आमिल कार्य करता था। कौंसिल मालगुज़ारी इकट्ठी करती तथा न्यायाधीश के समान भी कार्य करती थी। प्रान्तीय अदालत में अपील का उपवन्ध भी था।

१७८० में न्याय-सम्बन्धी प्रणाली में पुनः परिवर्तन किया गया। प्रत्येक डिविज़न में दीवानी अदालत खोलने की व्यवस्था की गई। अदालत की अध्यक्षता दीवानी अदालत के व्यवस्थापक को करनी थी। इस पद पर एक अंग्रेज तथा प्रसंविदा के अन्तर्गत नियुक्त कम्पनी के कर्मचारी ही हो सकता था। प्रान्तीय अपील वाले न्यायालयों से न्याय सम्बन्धी अधिकार छीन लिये गये। १००० रुपये तक के लिए दीवानी अदालत के निश्चय अन्तिम होते थे तथा यदि राशि इससे अधिक हो तो सदर दीवानी अदालत में अपील की जा सकती थी।

कलकत्ता के उच्चतम न्यायलय तथा कौंसिल में लगातार विरोध रहता था। परिणामस्वरूप वारेन हेस्टिंग्ज़ ने उच्च न्यायालय के सर एलिजाह इम्पे को सदर दीवानी अदालत का एकमात्र न्यायाधीश नियुक्त किया। इम्पे दो वर्षों तक इस पद पर रहा। इसके बाद इंग्लैंड में उसकी आलोचना हुई, इससे वह त्यागपत्र देने पर विवश हो गया। लेकिन उसने बहुत से सुधार किए, इस कारण आसपास के स्थानों की न्याय-व्यवस्था में सुधार हुआ।

१७८१ में दीवानी अदालतों के सुपरिन्टैण्डेंटों को मैजिस्ट्रेट के रूप में कार्य करने का उपबन्ध भी हुआ। उन्हें संदिग्ध अपराधियों को गिरफ्तार करने में सहायता करनी पड़ती थी। गिरफ्तार करने के पश्चात् उन्हें पास के समीपस्थ फौजदारी न्यायालयों में मुकदमा चलाने के लिए भेज दिया जाता था।

वारेन हेस्टिंग्ज़ ने कलकत्ता में एक नया विभाग खोला। इस विभाग का अध्यक्ष फौजदारी अदालतों का रिमैम्ब्रेंसर कहलाता था। उसे आसपास की फौजी अदालतों से विवरण तथा सूचियाँ इकट्ठी करनी पड़ती थीं। उसका कर्त्तव्य यह था कि वह इन विवरणों को अलग-अलग छाँटे तथा उनके उद्धरण संग्रहीत करे, किन्तु यह कार्य बहुत उपयोगी न था।

वारेन हेस्टिंग्ज़ की अवध की नीति (Warren Hastings' Oudh Policy)—वारेन हेस्टिंग्ज़ ने अवध के प्रति पुरानी बफर (Buffer) नीति बरती। उसका निश्चय था कि वह नवाब के साथ अच्छे सम्बन्ध रखेगा, क्योंकि उसे मराठों से खतरा था। १७७२ में उसने बनारस की सन्धि को अन्तिम रूप दिया, जिसके द्वारा अवध के नवाब को कोरा तथा इलाहाबाद ५० लाख में बेच दिए गए। यह भी निश्चय हुआ कि यदि नवाब धन दे, तो अंग्रेजी कम्पनी, आवश्यकता पड़ने पर उसे ब्रिटिश फौज की सहायता प्रदान करेगी।

रुहेलों का युद्ध (The Rohilla War)—रुहेलखण्ड के लोगों पर मराठे निरन्तर आक्रमण करते थे। परिणामस्वरूप उनके शासक ने अवध के नवाब वजीर के साथ १७७२ में एक सन्धि की। दोनों पक्षों में यह निश्चय हुआ कि यदि मराठे रुहेलखण्ड पर आक्रमण करें तो नवाब वज़ीर रुहेलों की सहायता करेगा तथा उसकी सहायता के उपलक्ष में उसे चालीस लाख रुपए प्राप्त होंगे। ठीक अगले वर्ष मराठों ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण किया, किन्तु उन्हें ब्रिटिश तथा अवध की फौजों के आने पर लौटना पड़ा। अवध के नवाब वजीर ने रुपए की माँग की तथा रुहेलों से बचना चाहा। अन्त में अवध के नवाब वजीर ने अंग्रेज कम्पनी के साथ सन्धि की कि यदि उसे रुहेलखण्ड जीतने के लिए फौजी सहायता प्राप्त हो तो वह युद्ध का खर्च सहन करने को तैयार है तथा अतिरिक्त चालीस लाख रुपए भी अदा कर सकता है। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने सन्धि की शर्तें स्वीकार कर लीं। ब्रिटिश फौजें भेज दी गईं। रुहेलखण्ड जीत लिया गया। उनका नेता हाफ़िज रहमत खान मारा गया। बीस हजार के लगभग रुहेले देश से निकाल दिए गए। नवाब के सिपाहियों ने रुहेलखण्ड के निरपराध लोगों पर अत्याचार किए तथा प्रदेश अवध में मिला दिया गया।

रुहेलखण्ड के प्रति हेस्टिंग्ज़ की नीति का प्रबल विरोध किया गया है तथा यह उस पर चलाए गए अभियोग का एक कारण है। निस्सन्देह वारेन हेस्टिंग्ज़ के सम्मुख दो बातें थीं, जिनके कारण उसे इस कार्य को करना पड़ा। उसे कम्पनी के लिए अधिक धन की आवश्यकता थी और धन की प्राप्ति उसे अवध के नवाब से हो सकती थी। रुहेलखण्ड की स्थिति महत्त्वपूर्ण थी तथा अवध द्वारा उस पर अधिकार हो जाने से अवध की मराठों के आक्रमणों से रक्षा हो सकती थी। यदि किसी नीति को उसके परिणामों से आँका जाए, तो हेस्टिंग्ज़ की रुहेलों के प्रति नीति न्यायपूर्ण थी। रुहेले इतने शक्तिशाली नहीं थे कि वे मराठों के आक्रमणों से अपने आपको बचा सकते थे तथा यह एक मूर्खता का कार्य होता यदि उन्हें मराठों के हाथों में पड़ने की अनुमति दे दी जाती। इससे बंगाल की सुरक्षा को भयं-

कर धक्का लगता। किन्तु ऐसा कहा जाता है कि रुहेलों ने कम्पनी के विरुद्ध कुछ भी नहीं किया था तथा परिणामस्वरूप इस बात में कोई नैतिक कारण नहीं कि अवध को अँग्रेजों की ओर से केवल धन के लिए सहायता दी जाए। अंग्रेजों के शस्त्रास्त्र किराए पर दिए गए। साथ ही यह कार्य डायरेक्टरों की हिदायतों के विरुद्ध था। इस प्रकार के हस्तक्षेप के कारण एक अनुचित उदाहरण पेश हुआ। कोई भी व्यक्ति धन देकर ब्रिटिश फौजों की सेवाएँ प्राप्त कर सकता था।

नन्दकुमार का मुकदमा (Trial of Nand Kumar)—नन्दकुमार बंगाल का एक अत्यन्त प्रभावशाली ब्राह्मण था। वह न केवल ऊँचे समाज में उठता बैठता था वरन् राजनीतिक क्षेत्रों में भी उसका प्रवेश था। उसे उन ज़मींदारों के साथ मिलकर कुचक्र रचने का दोषी पाया गया जिन्होंने अंग्रेजी कम्पनी के विरुद्ध षड्यन्त्र किया था।

जब वारेन हेस्टिंग्ज़ तथा कौंसिल के सदस्यों में मतभेद हुआ तो नन्दकुमार ने उसका लाभ उठाना चाहा। उसने वारेन हेस्टिंग्ज़ पर मुहम्मद रज़ा ख़ान को बर्खास्त करने का तथा कई सार्वजनिक पदों को बेचने का अभियोग लगाया। फ़िलिप फ्रांसिस ने हेस्टिंग्ज़ की उपस्थिति में अभियोग-पत्र पढ़ा। नन्दकुमार ने इच्छा प्रकट की कि अपने अभियोग-पत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिगत रूप से उसकी सुनवाई हो। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने अपने कौंसिल बोर्ड में नन्दकुमार के सम्मुख बहस करने से इनकार कर दिया। उसने अपने सलाहकारों को अपने निर्णय के लिए अनुमति देने से इनकार कर दिया। उसने सभा को बर्खास्त कर दिया तथा वहाँ से चला गया। उसकी अनुपस्थिति में कौंसिल के अन्य सदस्यों ने नन्दकुमार को भीतर बुलाया तथा अभियोगों के सम्बन्ध में सुनवाई करने का निश्चय किया।

किन्तु नन्दकुमार को अचानक गिरफ्तार कर लिया गया तथा जालसाज़ी के अभियोग में बन्दी बना लिया गया। गवर्नर जनरल की कौंसिल ने इस बात का विरोध किया। किन्तु सुप्रीम कोर्ट ने जालसाज़ी के अभियोग में नन्दकुमार को अपराधी घोषित किया। उसे फाँसी का दण्ड हुआ और वह फाँसी पर लटका दिया गया।

नन्दकुमार के मुकदमे तथा दण्ड औचित्य और न्याय के सम्बन्ध में आक्षेप किया गया है। उच्च न्यायालय पर "कानूनी कत्ल" करने का अभियोग लगाया गया। अदालतों का कहना है कि मुकदमा तथा दण्ड दोनों गैर-कानूनी थे। इस सम्बन्ध में मतभेद है कि जालसाज़ी के सम्बन्ध में १७२८ का अंग्रेजी कानून कलकत्ता पर लागू होता है अथवा नहीं।

यह भी कहा गया है कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर एलिजाह इम्पे तथा वारेन हेस्टिंग्ज़ में एक षड्यन्त्र था। नन्दकुमार का दण्ड तथा फाँसी उसी षड्यन्त्र के परिणाम थे, किन्तु यह कहा जाता है कि अकेले मुख्य न्यायाधीश ने ही नन्दकुमार का मुकदमा नहीं सुना अपितु उच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों ने भी उसे सुना। उसे सब न्यायाधीशों ने ही अपराधी सिद्ध नहीं किया अपितु जूरी के सदस्यों का भी यही मत था। तथापि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उच्च न्यायालय ने सरकारी गवाहों की परीक्षा इस प्रकार से ली कि नन्दकुमार की सुरक्षा की समस्त कार्यवाही गड़बड़ हो गई। यह ऐसी विधि थी, जो अभूतपूर्व थी। इसके साथ ही उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने

नन्दकुमार को इस बात की भी अनुमति नहीं दी कि वह सपरिषद् सम्राट् (King-in-Council) से अपील कर सके। यद्यपि यह ऐसा मामला था, जिसमें अपील करने की अनुमति मिलनी चाहिए थी, किन्तु ऐसा करने से इनकार कर दिया गया। इन सब तथ्यों के कारण उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के सम्बन्ध में अनेक बातें कही गई हैं।

पी० ई० राबर्ट्स से मतानुसार, "यह अत्यन्त संदिग्ध बात है कि क्या उच्च न्यायालय भारतीयों के सम्बन्ध में ऐसे अधिकार रखता था। वास्तव में इसमें कोई सन्देह नहीं कि जालसाजी के कारण अंग्रेजी कानून के अनुसार मिलने वाला मृत्यु-दण्ड भारत में इस घटना के बहुत समय पश्चात् तक प्रचलित नहीं था, जबकि नन्दकुमार की तथाकथित जालसाज़ी की घटना हो चुकी थी।"

चेतसिंह का मामला (Case of Chet Singh)——बलवन्तसिंह चेतसिंह का पिता तथा अवध के नवाब का आश्रित था। वह बनारस का प्रथम राजा था। १७७५ में अवध के नवाब ने बनारस कम्पनी के सुपुर्द कर दिया। परिणामस्वरूप कम्पनी का प्रभुत्व चेतसिंह पर हो गया। वह प्रति वर्ष कम्पनी को भूमि का लगान देता था तथा उस में वृद्धि नहीं की जा सकती थी। उसे लिखित समझौते के अनुसार विवश कर दिया गया कि वह कठिनाई के समय अपने नए स्वामियों की सहायता करेगा। १७७८ में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने चेतसिंह को ५ लाख रुपए की विशेष राशि देने को कहा तथा उसने उक्त राशि प्रदान कर दी। अगले वर्ष फिर वैसी ही माँग की गई। तथा उसे भी संकोचवश पूर्ण कर दिया गया। १७८० में चेतसिंह को दो हजार घोड़े देने को कहा गया। राजा ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए एक सहस्र घोड़े देने का आश्वासन दिया। यद्यपि हेस्टिंग्ज़ ने अपनी माँग में कमी कर दी, तो भी राजा उसें पूरा न कर सका। राजा निश्चित राशि भी न दे सका। वारेन हेस्टिंग्ज़ आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त कठिनाई में था। उसने चेतसिंह पर पच्चास लाख का जुर्माना कर दिया तथा उसे प्राप्त करने के लिए बनारस चल पड़ा। चेतसिंह ने वारेन हेस्टिंग्ज़ के सम्मुख घुटने टेक दिए, लेकिन हेस्टिंग्ज ने उसे गिरफ्तार करवा दिया। राजा बच कर भाग गया। दंगे हुए तथा रुधिर बहा। कुछ कठिनाई के साथ स्थिति को सम्भाला गया। अन्त में राजा को गद्दी से उतार दिया गया तथा उसके भतीजे को उसके स्थान पर गद्दी पर बिठाया गया। उससे दुगुनी राशि की माँग की गई।

चेतसिंह के साथ वारेन हेस्टिंग्ज़ के दुर्व्यवहार के सम्बन्ध में कड़ी आलोचनाएँ की गई हैं। यह कहा गया है कि यदि अंग्रेज़ कम्पनी आर्थिक कठिनाई में पड़ी हुई थी, तो चेतसिंह को सहायता के लिए विवश नहीं किया जा सकता था। इसके साथ ही वारेन हेस्टिंग्ज़ बहुत कठोर था। उसका व्यवहार अन्यायपूर्ण, अनुचित तथा जबरदस्ती का था। यह तो एक प्रकार का स्पष्ट अत्याचार था। वारेन हेस्टिंग्ज़ का वास्तविक उद्देश्य भी पूर्ण न हो सका क्योंकि चेतसिंह का कोष फौजों ने लूट लिया तथा वारेन हेस्टिंग्ज़ के हाथों कुछ भी न लगा।

अवध की बेगमें (Begums of Oudh)——अवध के नवाब वजीर को अंग्रेजी कम्पनी का बहुत सा रुपया देना था, किन्तु वह इस स्थिति में नहीं था कि कुछ भी दे सके। वारेन हेस्टिंग्ज़ को रुपए की बहुत जरूत थी। नवाब वजीर ने वारेन हेस्टिंग्ज़ को कहा कि

वह तभी रुपए दे सकेगा, यदि उसे माता तथा नानी के कोष तथा जागीरें संभालने की अनुमति मिले। वे अवध की बेगमों के नाम से विख्यात थीं। यद्यपि १७८१ की चुनार की सन्धि द्वारा कलकत्ता कौंसिल से बेगमों को जागीरें तथा कोष रखने का आश्वासन मिल चुका था, हेस्टिंग्ज़ ने अवध के नवाब को उन पर अधिकार करने की अनुमति दे दी। नवाब अपनी माता तथा नानी के विरुद्ध कार्यवाही करने से हिचकिचाता था, किन्तु वारेन हेस्टिंग्ज़ ने उसे ऐसा करने के लिए विवश कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश फौजों को यह कार्य करने को कहा गया। बेगमों का महल घेर लिया गया। दो हीजड़ों को जो परिचारक के रूप में कार्य करते थे, प्रत्येक उपाय से पीड़ित किया गया तथा उन्हें विवश किया गया कि वे कोष को सौंप दें। इस प्रकार प्राप्त किए हुए कोष से नवाब वजीर कम्पनी के ऋण को चुकाने में सफल हुआ।

डा० वी० ए० स्मिथ ने वारेन हेस्टिंग्ज़ के इस कार्य के औचित्य का सामयिक आवश्यकता के दृष्टिकोण से समर्थन किया। उसके कथनानुसार, समय की आवश्यकता के कारण हेस्टिंग्ज़ ने सन्धियों को तोड़ने में तथा बेगमों पर कुछ दबाव डालने में औचित्य का परिचय दिया। उसने यह भी कहा कि भारतीय स्तर के अनुसार बेगमों के साथ नरम व्यवहार किया गया। इसके साथ ही वारेन हेस्टिंग्ज़ को व्यक्तिगत रूप से कम्पनी की फौजों द्वारा की गयी अत्याचारपूर्ण कार्रवाइयों की जानकारी नहीं थी। तो भी इस प्रकार का बचाव किसी पक्षपातहीन पाठक को प्रभावित करने में अपर्याप्त है। यह प्रमाणित किया जा चुका है कि जब यह दुःखान्त घटना घट रही थी, उस समय वारेन हेस्टिंग्ज़ ही कर्त्ताधर्ता था। वास्तव में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने अवध के नवाब को, जो अपनी माता तथा नानी के विरुद्ध कुछ भी कार्यवाही करने में हिचकिचा रहा था, विवश किया कि वह वैसा करे। समय की आवश्यकता अथवा महत्त्व का सिद्धान्त अंग्रेज फौजों तथा नागरिक कर्मचारियों द्वारा किए हुए बर्बरतापूर्ण अत्याचारों के औचित्य को कदापि सिद्ध नहीं करता। सर अलफ्रेड लायल के कथनानुसार, ब्रिटिश अधिकारियों के नेतृत्व में स्त्रियों तथा हिजड़ों से धनकोष छीनने के लिए व्यक्तिगत अत्याचार तथा नवाब को इस प्रकार के अमानुषिक कार्यों के लिए प्रोत्साहन देना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता, न ही उस दोष से बचाव ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह प्रमाणित किया जा सके कि अवध की बेगमों का चेतसिंह से कुछ भी सम्बन्ध था। यदि ऐसा होता तो यह हेस्टिंग्ज़ का कर्तव्य था कि वह अपने आक्षेप को सिद्ध करने के लिए साक्ष्य देता।

रैगुलेटिंग ऐक्ट तथा कौंसिल (Regulating Act and Council)––१७७३ में रैगुलेटिंग एक्ट स्वीकृत हुआ तथा इसके द्वारा कलकत्ता में उच्चतम न्यायालय तथा गवर्नर जनरल की कौंसिल की स्थापना करने के सम्बन्ध में अनुमति मिली। इस कौंसिल में चार सदस्यों की नियुक्ति होती थी। गवर्नर जनरल को केवल एक निर्णयात्मक मत (वोट) देने का अधिकार ऐसे अवसर के लिए दिया गया, जब परस्पर दोनों ओर के मत बराबर हों। चार सदस्यों में तीन इंग्लैंड से आए और उनके नाम ये थे :—क्लेवरिंग, मानसन तथा फ्रांसिस। अपनी नियुक्ति के समय केवल बार्वेल ही भारत में था। प्रारम्भ से ही इंग्लैंड से आने वाले तीनों सदस्यों ने वारेन हेस्टिंग्ज़ का विरोध करना प्रारम्भ कर

दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि कई अवसरों पर वारेन हेस्टिंग्ज़ की बात न मानी गई और उसे ऐसा काम करने के लिए बाध्य होना पड़ा, जिसे वह स्वयं स्वीकार नहीं करता था। कौंसिल के बहुमत ने रुहेलों के युद्ध का विरोध किया। लखनऊ से ब्रिटिश रैज़िडैन्ट को वापस बुला लिया गया। इसी प्रकार कौंसिल के सदस्यों ने जागीर तथा कोष के सम्बन्ध में अवध की बेगमों के अधिकार स्वीकार कर लिये। इसी कौंसिल ने नन्दकुमार को आज्ञा दी कि वह स्वयं कौंसिल में वारेन हेस्टिंग्ज़ को नीचा दिखा सके।

अपनी कौंसिल में वारेन हेस्टिंग्ज की स्थिति इतनी कठिन थी कि एक अवसर पर उसने अपने एजेंट (प्रतिनिधि) को आज्ञा दी कि वह कम्पनी को उसकी ओर से त्यागपत्र सौंप दे। किन्तु कुछ समय के पश्चात् स्थिति सुधर गई। १७७६ में मानसन की मृत्यु हो गई। १७७७ में क्लेवरिंग की पेचिश से मृत्यु हो गई। १७८० में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने आपसी झगड़े में फ्रांसिस को घायल कर दिया और वह इंग्लैंड चला गया। यह ठीक ही कहा गया है कि "कौंसिल के सदस्य मर गए, बीमार पड़े तथा भाग गए।"

वारेन हेस्टिंग्ज़ तथा उच्चतम न्यायालय (Warren Hastings and Supreme Court)—रैगुलेटिंग ऐक्ट के कारण कलकत्ता में उच्चतम न्यायालय की स्थापना भी हो गई। दुर्भाग्य से उच्चतम न्यायालय के अधिकारों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा गया था। इसके कारण कलकत्ता के उच्चतम न्यायालय में तथा कम्पनी की अदालतों में क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विरोध हो गया। दोनों के मध्य अनेक झगड़े हुए। कौसजुराह के राजा के मुकद्दमे में दोनों ओर से खुला संघर्ष हुआ। इस मामले में उच्च न्यायालय ने राजा की गिरफ्तारी के लिए आज्ञा-पत्र निकाला। राजा के बचाव के लिए केवल एक ही उपाय था कि वह जमानत देकर अपने आपको मुक्त कर ले। ऐसा करने के स्थान पर राजा ने अपने आपको छिपा लिया तथा इस प्रकार गिरफ्तारी की आज्ञा के पालन में उसने अपने आपको बचा लिया। गिरफ्तारी के वारंट, बिना निश्चित स्थान पर पहुँचे, वापस कर दिए गए। कलैक्टर ने वारेन हेस्टिंग्ज़ को सूचित किया कि राजा एक जमींदार है तथा वारन्ट से बचने के लिए अपने आपको छिपाए फिर रहा है। परिणामस्वरूप कम्पनी की मालगुजारी इकट्ठी नहीं हुई। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने चीफ एडवोकेट से परामर्श लिया तथा राजा को निर्देश दिया कि वह उच्चतम न्यायालय के समक्ष न तो प्रस्तुत हो तथा न ही किसी प्रकार की बहस करे। इस प्रकार उसे न्यायालय के क्षेत्र सम्बन्धी अधिकार को मानने से रोक दिया गया। सरकार की ओर से एक सामान्य सूचना प्रकाशित कर दी गई कि जमींदारों पर उच्चतम न्यायालय के क्षेत्र-सम्बन्धी अधिकार लागू नहीं होते, जब तक वे स्वयं अपनी स्वीकृति से उन्हें नहीं मानते।

उच्चतम न्यायालय ने चुनौती को स्वीकार कर लिया तथा एक और आज्ञा द्वारा राजा की भूमि तथा सम्पत्ति को हस्तगत करने की आज्ञा दे दी। उच्चतम न्यायालय के सार्जेन्ट के नेतृत्व में साठ व्यक्ति उस आज्ञा के अनुसार कार्रवाई करने के लिए भेज दिए गए। राजा ने शिकायत की कि उच्चतम न्यायालय द्वारा भेजे गए व्यक्तियों ने उसके घर में प्रवेश किया तथा उन्होंने उसके नौकरों को मारा और घायल किया है। वे उसके अन्तःपुर (ज़नानखाने) के द्वार जबरन तोड़कर भीतर प्रविष्ट हुए। उन्होंने उसके धार्मिक पूजा-स्थान से आभूषण ले लिये, तथा उन्होंने उसके कृषकों को लगान देने से रोका।

गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद् ने राजा को आदेश दिया कि वह उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई आज्ञाओं का पालन न करे। साथ ही कम्पनी की फौजों को आज्ञा दी गई कि वे "शैरिफ" के दल का अवरोध करें तथा उन्हें बन्दी बना लें। वास्तव में कम्पनी की फौजों ने अदालती कर्मचारियों के दल को पकड़ लिया तथा उन्हें कलकत्ता लाया गया। उच्चतम न्यायालय ने एडवोकेट जनरल तथा अन्य उन अधिकारियों के विरुद्ध कार्रवाई की, जिन्होंने शैरिफ के दल को गिरफ्तार किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि एडवोकेट जनरल को जेल में डाल दिया गया।

बाबू काशीनाथ ने गवर्नर जनरल तथा कौंसिल के सदस्यों के विरुद्ध अनधिकार प्रवेश के कारण अलग-अलग रूप में व्यक्तिगत अभियोग लगाया। आरम्भ में गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल के सदस्य उच्चतम न्यायालय के सम्मुख पेश हुए किन्तु बाद में उन्होंने उच्चतम न्यायालय की किसी भी आज्ञा को मानने से इनकार कर दिया। बंगाल के मुख्य अंग्रेज निवासियों ने एक प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर किए और उन्होंने उसे ब्रिटिश पार्लियामेंट की सेवा में भेजा जिसके अनुसार प्रार्थना की गई थी कि उच्चतम न्यायालय को उसके अधिकारों के प्रयोग करने से रोका जाए। परिणामस्वरूप १७८१ का एक संशोधित कानून स्वीकृत हुआ। नए कानून के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह था कि उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों के अनुसार "कलकत्ता में बन्दी हुए कुछ लोगों को कुछ सहायता दी जाए तथा गवर्नर जनरल, उसकी कौंसिल तथा उन सभी अधिकारियों को दोषमुक्त किया जाए जिन्होंने उच्चतम न्यायालय के कार्यों में अपनी आज्ञा अथवा अधिकार से विरोध प्रकट किया।" १७८१ के कानून ने उच्चतम न्यायालय के अधिकारों को सीमित तथा कम कर दिया तथा इस प्रकार उच्चतम न्यायालय तथा अदालतों के मध्य शान्ति हुई।

प्रो० डेवीज़ के अनुसार, "रैगुलेटिंग एक्ट का हेस्टिंग्ज़ के जीवन में महत्त्व कठिनाई से ही अंकित किया जा सकता है। इसके कारण उसके जीवन में एक महान् उल्लेखनीय वर्णन किया जाता है, क्योंकि उसके प्रशासन के शेष भाग का सम्पूर्ण समय इसी एक्ट के प्रभाव में ही व्यतीत होना था। वह एकमात्र ऐसा भारतीय गवर्नर जनरल था जिसे दुःखद भाग्य को सहन करना पड़ा। उसके परिणाम सामान्य रूप से भारत के प्रति गम्भीर होने थे, किन्तु व्यक्तिगत रूप से उसके लिए वे बरबादी से कम न थे। यदि कोई ऐसा व्यक्ति संसार में था जिसने पार्लियामेंट के एक्ट द्वारा अपने जीवन को बरबाद किया हो तो वह वारेन हेस्टिंग्ज़ ही था। आगामी बीस वर्षों के उसके जीवन की कहानी का सरलतापूर्वक दो वाक्यों में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है—पार्लियामेंट इस एक्ट को स्वीकार करके उसके कष्टों तथा कठिनाइयों का मुख्य कारण बनी, जिनसे उसे शीघ्र ही उलझना पड़ा, तथा पार्लियामेंट (संसद्) ने उसके कार्यों के लिए तथा कठिनाइयों से मुक्त होने के लिए ग्रहण किए मार्ग के लिए उस पर जो अभियोग लगाया तथा चलाया, उसके कारण संसद् की लापरवाही तथा गलती का उत्तरदायित्व उस पर ही डाल दिया गया। सम्भवतः यदि किसी व्यक्ति पर इस सम्बन्ध में अभियोग चलना चाहिए था, तो वह लार्ड नार्थ था, जो इस एक्ट (अधिनियम) का रचयिता तथा लागू करने वाला था।"

उसी लेखक के अनुसार, "एक्ट के गुणों अथवा विशेषताओं के सम्बन्ध में साम-

यिक सम्मतियां अनेक प्रकार की थीं। तृतीय जार्ज के विचार इससे स्वाभाविक रूप से सहमत थे तथा उन्होंने उसके आसानी से स्वीकृत हो जाने पर प्रसन्नता प्रकट की। स्वाभाविक रूप से तथा समान रूप से दूसरी ओर कम्पनी तथा उसके मित्रों ने इस पर रोष प्रकट किया तथा उसका बहिष्कार तथा विरोध किया। बर्क ने इसका प्रबल विरोध करते हुए इसे जातीय अधिकार, जातीय विश्वास तथा स्वाभाविक न्याय का उल्लंघन करने वाला बताया। कुछ अन्य लोगों ने इसमें कई खामियाँ मानीं जिनमें अत्याचार तथा अज्ञान की भावना का उल्लेख करना आवश्यक है।

अज्ञान का उल्लेख, तो निस्सन्देह, किन्तु स्पष्ट रूप से प्रकट है। उस पर आश्चर्य प्रकट करने की आवश्यकता नहीं। एक्ट की रचना करने वाले भारत के सम्वन्ध में पूर्ण रूप से अपरिचित थे तथा लॉर्ड क्लाइव को छोड़ कर उन्होंने किसी अन्य ऐसे व्यक्ति से परामर्श करना उचित नहीं समझा, जो उन्हें अच्छा परामर्श अथवा शिक्षा दे सकते थे। लॉर्ड नॉर्थ हेस्टिंग्ज़ के विचारों पर ध्यान देता, किन्तु उससे पूर्व, कि वह किसी प्रकार का परामर्श दे पाता, एक्ट स्वीकार कर लिया गया। इस सम्बन्ध में सारा सन्देह उन मंत्रियों पर होता है जो सम्राट् के लिए भारत के फैले हुए संरक्षणपूर्ण अधिकारों में से बड़ा भाग प्राप्त करने का विचार करते थे। उनके सामने भारत को ऐसी सरकार देने का इतना अधिक ध्यान न था जो उचित तथा व्यवहार्य हो। एक्ट के समर्थकों तथा विरोधियों दोनों की आँखों में मुख्य विचारणीय प्रश्न ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार मात्र थे। एक्ट के सम्बन्ध में एक आधुनिक सम्मति यह है कि संक्षेप में यह एक कठिन समस्या को हल करने के लिए न्यायपूर्ण प्रयत्न था। यदि ऐसा मान भी लिया जाए तो भी यह तथ्य शेष रह जाता है कि इसे स्वीकार करके लार्ड नार्थ ने मन्त्री के रूप में दुगुनी उपाधि प्राप्त की––ऐसा मंत्री, जिसने ब्रिटेन के पूर्वी तथा पश्चिमी साम्राज्य को खो दिया हो। वह व्यक्ति, जिसके कारण इस प्रकार के कलंक से वह बच गया––वारेन हेस्टिंग्ज़ था।

वारेन हेस्टिंग्ज़ की विदेश नीति, प्रथम मराठा युद्ध (Foreign Policy of Warren Hastings : First Maratha War)—१७७२ में माधव राव की मृत्यु के पश्चात् नारायणराव पेशवा बना, किन्तु राघोबा के भड़काने पर उसकी हत्या कर दी गई। राघोबा स्वयं पेशवा बनना चाहता था। नाना फड़नवीस ने राघोबा के विरुद्ध नारायण राव के भावी सुपुत्र का पक्ष लिया। राघोबा ने अंग्रेज़ों से सहायता माँगी। सूरत की सन्धि (१७७५) के अनुसार राघोबा ने अंग्रेज़ों की सहायता के बदले बम्बई सरकार को साल्सिट तथा बसीं देना स्वीकार कर लिया। यह सब कुछ गवर्नर जनरल की जानकारी के बिना किया गया। अंग्रेज़ों ने साल्सिट पर आक्रमण कर दिया तथा अरास्स नामक स्थान पर मराठों को पराजित कर दिया। गवर्नर जनरल तथा कलकत्ता कौंसिल दोनों ने सूरत की सन्धि को स्वीकार न किया। पुरन्धर की सन्धि के नाम से १७७६ में एक और सन्धि स्वीकृत की गई।

इसके अनुसार पुरन्धर की सन्धि के पश्चात् अंग्रेज़ों द्वारा हथियाये हुए सारे प्रदेश जिनमें बसीन भी था, पेशवाओं को लौटा देने थे। सालसत्ती द्वीप तथा बम्बई के पास के छोटे-छोटे द्वीप अंग्रेज़ों के पास रह गये। भड़ोंच नगर अंग्रेज़ों के पास छोड़ दिया गया। अंग्रेज़ों ने जो प्रदेश गुजरात में जीता था वह पेशवा और गायकवाड़ को लौटा देना था।

अंग्रेज़ों को धन से अथवा अन्य किसी प्रकार से रघुनाथ राव की सहायता नहीं करनी थी। उसे अपना निवासस्थान चुनना था और पेशवा को उसके निर्वाह के लिए २५०० रुपये प्रतिमास देना था, किन्तु दोनों ही पक्ष सहमत नहीं हुए। किन्तु कम्पनी के संचालकों ने सूरत की सन्धि को स्वीकार किया और युद्ध जारी रखा गया। अंग्रेज हार गये और उन्हें वरगांव का सम्मेलन बुलाना पड़ा जिसके अनुसार उन्होंने राघोवा को सुपुर्द करना, सारे हथियाये हुए प्रदेश वापस करना तथा अंग्रेज़ बन्दी छुड़ाने के लिए मुक्ति-धन देना स्वीकार किया। वारेन हेस्टिंग्ज ने इन शर्तों को मानने से इनकार कर दिया। गोडर्ड ने बंगाल से सूरत की ओर कूच कर दी। उसने अहमदावाद पर अधिकार करके बड़ोदा के गायकवाड़ से सन्धि कर ली। जब वह पूना की ओर बढ़ा तो परास्त हुआ। मेजर पोपहेम ने ग्वालियर जो सिन्धिया की राजधानी थी; छीन लिया। कर्नल गामक ने सिन्धिया की छावनी पर सहसा आक्रमण किया। १७७९ में अंग्रेज़ों के विरुद्ध एक संघ बनाया गया जिसमें निज़ाम, हैदरअली और मराठे सम्मिलित थे, किन्तु वारेन हेस्टिंग्ज़ नागपुर के राजा को घूंस देने और सिन्धिया से सुलह करने में सफल हुआ।

परिणामतः १७८२ में सालबाई की सन्धि हुई। इसके अनुसार सालसत्ती का द्वीप तथा थाना का दुर्ग अंग्रेज़ों के पास रहना स्वीकार हुआ। अंग्रेज़ों ने जो खर्च रघुनाथ राव पर किया उसके लिए उनको बारह लाख रुपया देना तय हुआ। रघुनाथ राव को निर्वाह के लिये तीन लाख पचास हज़ार रुपया दिया जाना था और वह राज्य से पूर्णतः पृथक् हो जायगा। अंग्रेज़ों के पास उनके द्वारा गुजरात में जीता गया प्रदेश रहने देना तथा गायकवाड़ के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना था।

स्मिथ के अनुसार, सालबाई की सन्धि भारत के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है, किन्तु हेस्टिंग्ज़ की मराठा-नीति की निन्दा की जाती है। यह उल्लेखनीय है कि अंग्रेज़ों को पुरन्धर की सन्धि से जो कुछ मिला था उससे अधिक कुछ नहीं मिला। सेना और धन का व्यय व्यर्थ रहा। मराठों के दृष्टिकोण से सालबाई की सन्धि एक बड़ी त्रुटि थी। यह सिन्धिया की स्वार्थपरता और घबराहट के कारण हुई। यदि युद्ध चलता रहता तो इतिहास कुछ और ही प्रकार से लिखा जाता। मराठों से सन्धि करके वारेन हेस्टिंग्ज़ ने बड़ी नीति से काम लिया जो उसके दक्षिण के युद्धों में अमूल्य थी।

कीने के मतानुसार, "इस सन्धि ने इतिहास में एक युग का निर्माण किया। इस सन्धि द्वारा वास्तविक रूप से एक वर्गमील क्षेत्र भी अपनी सीमा में बढ़ाये बिना, भारत के दक्षिण में अंग्रेज़ों की सत्ता सर्वोपरि हो गई। मैसूर को छोड़कर सारे राज्यों ने अंग्रेज़ों को महान् शान्ति-स्थापक मान लिया।" सर देसाई के मतानुसार, "यह सन्धि जो लगभग एक वर्ष से बन रही थी, भारतीय इतिहास में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। अंग्रेज़ों ने मराठों के विरुद्ध अपनी शक्ति की परीक्षा की और ऐसी हार खाई कि उन्हें अपनी स्थिति संभालना कठिन हो गया। नाना महादजी को इस गन्दे वायदे की त्रुटियाँ और न्यूनतायें बताता रहा रहा और इस पर ज़ोर देता रहा कि उपटन और वाडगान की सन्धियों पर पूरा अमल होना चाहिये। किन्तु महादजी के पास और कोई चारा नहीं था और यह बात मानने योग्य है कि उसने इस सौदे में अधिक-से-अधिक लाभ उठाने की चेष्टा की। थाना का दुर्ग और उर्वर सालसती का द्वीप खोकर मराठा जाति को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। शर्तों को कठोरता

से पालन करने का आश्वासन प्राप्त करके महादजी ने अपना व्यक्तिगत महत्त्व ऊँचा कर लिया। हेस्टिंग्ज़ ने अपनी व्यक्तिगत मित्रता का हाथ बढ़ाकर और राजकीय मामलों में उसे पूरी छूट देकर सम्मानित किया। इसके कारण ब्रिटिश राजनीति ने उस पर अविश्वास प्रगट किया और महादजी ने भविष्य में अपनी उन्नति के लिए आधार बनाया (New History of the Marathas, Vol. III, Pp. 119–120)

डा० शान्तिप्रसाद वर्मा के अनुसार, सालबाई की सन्धि भारतीय राजनीतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। किन्तु कीने ने व्यर्थ ही भारत में ब्रिटिश साम्राज्य पर इसके प्रभाव को बढ़ाकर बताया है। कीने से स्मिथ ने इसे कम महत्त्व दिया है। उसने यह लिखा कि इस सन्धि ने मराठों की दुर्धर्ष शक्ति से कम से कम २० वर्ष के लिए शान्ति प्राप्त कर ली। किन्तु साथ ही इसके द्वारा "सर्वोपरि" न सही किन्तु निश्चित रूप से अंग्रेजों को भारत में एक महत्त्वपूर्ण नियन्त्रण करने वाली शक्ति बना दिया। किन्तु उसने यह लिखकर कीने की व्याख्या की है कि, "विना किसी नये क्षेत्र को जीते इसने निर्विवाद रूप से अंग्रेजों को भारत की राजनीति को नियन्त्रण करने वाला तत्त्व बना दिया। १८१८ के पश्चात् उनका भारतवर्ष में सर्वोपरि शक्ति बन जाना इस ही सन्धि का परिणाम था।" वारेन हेस्टिंग्ज़ ने इस विषय में तथ्य रूप से नम्रता से ही कहा है कि "यह मेरे काल के सबसे कठिन समय की सफल सन्धि वार्ता थी।" अंग्रेजों के दृष्टिकोण से सालबाई की सन्धि स्पष्ट रूप से पराजय थी। जानसे और बानाजी के मतानुसार, "बिना एक वर्गइंच क्षेत्र प्राप्त किये" वाक्य से गवर्नर जनरल ने जो सम्मान का बलिदान दिया, उसकी गंध आती है। वह सन्धि जिसमें गायकवाड़ की राजनैतिक स्वतन्त्रता मानी गई थी एक कागज़ के टुकड़े की तरह फाड़ दी गई। फतहसिंह गायकवाड़ युद्ध से पहले की स्थिति दासता में आ गया। मराठे बिना संकोच के अंग्रेजों के बेड़ों पर आक्रमण करते थे। फिर भी हमें विश्वास दिलाया जाता है कि सालबाई की सन्धि से भारत के प्रायद्वीप में अंग्रेजों की सत्ता सर्वोपरि हो गई थी।" डा० वर्मा के मतानुसार, मराठा सरदारों की वफादारी पहले कभी भी कसौटी पर नहीं कसी गई। वह इस बार परख पर खरी उतरी। राघोबा को छोड़कर कोई भी मराठा सरदार अंग्रेजों से नहीं मिला। सबने मराठा संघ की सहायता के लिए यथाशक्ति योगदान किया। सारे पारस्परिक भेदभाव भुला दिये गये। थोड़े मतभेद थे किंतु उन्हें स्पष्ट रूप से कहा जाता था। निर्बलताओं को सहन किया गया और इस महान् कार्य के प्रति किये गए सब बलिदानों का सम्मान किया गया। सालबाई की सन्धि मराठा राज्य के दो प्रसिद्ध नेताओं के सम्मिलित गठजोड़ का परिणाम थी। नाना फड़नवीस और महादजी, दोनों ने युद्ध में अतुल पराक्रम से अंग्रेजों के अत्याचारों के उठते हुए ज्वार को अपनी सीमाओं से परे खदेड़कर और अपने खोए हुए प्रदेश पुनः प्राप्त करके, २० वर्ष तक मराठा साम्राज्य की रक्षा की। (A Study in Maratha Diplomacy, Page 390).

द्वितीय मैसूर युद्ध, १७८०-१७८४ (Second Mysore War)—इससे पूर्व कि हम मैसूर के दूसरे युद्ध की चर्चा करें, प्रथम मैसूर युद्ध (१७६६-६९) की कुछ चर्चा करना अभीष्ट प्रतीत होता है। १७६६ में निज़ाम, मरहठों तथा अंग्रेजों ने हैदरअली के विरुद्ध एक सँयुक्त मोर्चा संगठित किया। उसके लिए यह शक्ति के परे की बात थी कि वह इन तीनों का मुकाबला कर सकता। इसलिए परिणामस्वरूप उसने मरहठों तथा निज़ाम

से मुकाबला किया। तब निज़ाम की सहायता से उसने अंग्रेजों की फौजों पर आक्रमण कर दिया, किन्तु १७६७ में कर्नल स्मिथ ने उसे हरा दिया। इस अवसर पर निज़ाम ने हैदर अली का साथ छोड़ दिया तथा वह अंग्रेजों के पक्ष में हो गया। अंग्रेजों ने निज़ाम से समझौता कर लिया तथा उसने उत्तरी सरकारों के लिए भेंट देना स्वीकार कर लिया। अंग्रेजी कम्पनी ने भी हैदरअली के साथ सुरक्षात्मक तथा आक्रमणात्मक समझौता कर लिया।

हैदरअली सारे कर्नाटक भर में आग तथा तलवार के बल से आगे बढ़ता गया तथा मद्रास के समीप जा पहुँचा। मद्रास सरकार डर गई तथा परिणामस्वरूप उसने हैदर अली के साथ सन्धि कर ली। ऐसा निश्चय हुआ कि दोनों पक्ष विजित स्थानों को वापस कर देंगे। इस सन्धि द्वारा सुरक्षात्मक युद्ध में एक दूसरे की सहायता का निश्चय हुआ। इस प्रकार से प्रथम मैसूर युद्ध समाप्त हुआ।

द्वितीय मैसूर युद्ध के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि इसका तात्कालिक कारण अंग्रेजी कम्पनी द्वारा माही तथा अन्य फ्रांसीसी उपनिवेशों पर अधिकार था। हैदर अली ने इसका विरोध किया, किन्तु अँग्रेजी कम्पनी ने उसकी उपेक्षा कर दी। उसने बदला लेने की सोची। सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध के बीच में हैदर अली ने संपूर्ण कर्नाटक का सफ़ाया कर दिया। कर्नल बैली के नेतृत्व में रहने वाली अंग्रेज फौज की टुकड़ी को घेर लिया गया तथा उसे घुटने टेकने को विवश कर दिया गया। १७८० में हैदरअली ने अर्काट पर अधिकार कर लिया। सर आयरकूट ने १७८१ में पोर्टो नोवो के स्थान पर हैदरअली को हराया। शोलिंगूर के स्थान पर अंग्रेजों को पुनः थोड़ी सी सफलता प्राप्त हुई। अंग्रेजों ने नेगापट्टम तथा त्रिन्कोमाली पर अधिकार कर लिया। इस अवसर पर एक फ्रांसीसी जहाजी बेड़ा प्रकट हुआ तथा उसने त्रिन्कोमाली को प्राप्त कर लिया। हैदर अली ने अंग्रेजों से कुडुलोर को पुनः जीत लिया। दुर्भाग्य से १७८२ में युद्ध के मध्य में वह मर गया। हैदरअली की मृत्यु के पश्चात् सुलतान टीपू ने युद्ध जारी रखा, किन्तु टीपू अपने पिता के समान प्रतिभाशाली नहीं था। कुछ समय अधिक तक युद्ध चलता रहा तथा अन्त में १७८४ में मंगलोर की संधि पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि द्वारा दोनों पक्षों ने एक दूसरे को विजित स्थानों के वापस करने तथा कैदियों की अदलाबदली के सम्बन्ध में स्वीकृति प्रदान कर दी।

वारेन हेस्टिंग्ज का मूल्यांकन (Estimate of Warren Hastings)—यह बात वारेन हेस्टिंग्ज के पक्ष में महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है कि कम्पनी के एक साधारण मुंशी से वह बंगाल के गवर्नर जनरल के पद तक पहुँचा। देश में उसे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, इनके होते हुए भी उसे बहुत कुछ सफलता हुई। यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि जो कुछ सफलता उसने भारत में प्राप्त की, वह भारत के विरोध तथा इंग्लैण्ड में समर्थन के न होते हुए भी प्राप्त हुई। कौंसिल में उसके साथी सदा उसका विरोध करते तथा उसे यथाशक्ति तंग करने का प्रयत्न करते रहते थे। उसे बहुत से युद्ध लड़ने पड़े और यह उस समय की स्थिति है जब उसे अपनी मातृभूमि से व्यावहारिक रूप से कोई भी सहायता प्राप्त नहीं हो रही थी, क्योंकि वे लोग उत्तरी अमरीका के जीवन-मरण के संघर्ष में व्यस्त थे। सभी योरोपीय राज्य अमरीका के स्वतन्त्रता-युद्ध से उत्पन्न स्थिति का दुरुपयोग कर रहे थे जबकि उसकी अपनी (अंग्रेजी) सरकार अमरीकन उपनिवेशों को हरा

रही थी, यह बात वारेन हेस्टिंग्ज़ के पक्ष में है कि वह भारत में ब्रिटिश स्थिति को दृढ़ करने में समर्थ हुआ।

यह सच है कि उसनें कई भूलें कीं। उन भूलों के कारण इंग्लैंड लौटने पर उस पर मुकद्दमा चलाया गया। मुकद्दमा १७८८ से १७९५ तक चलता रहा। मुकद्दमे के कारण असुविधा तथा व्यय के होने पर भी उसे अन्त में आदरपूर्वक निर्दोष ठहराया गया।

लॉर्ड मैकाले के कथनानुसार, "वारेन हेस्टिंग्ज़ ने दोहरी सरकार को तोड़ दिया। उसने सभी कार्यों को अंग्रेजी हाथों में सौंप दिया। अराजकता के बावजूद भी उसने शांति स्थापित की। एकमात्र क्षेत्र, जिसमें ब्रिटेन ने कुछ भी नहीं खोया, वह क्षेत्र वह था, जिसमें उसके हित हेस्टिंग्ज़ के हाथ में सौंप दिए गए थे। योरोपीय तथा एशियाई शत्रुओं के अधिकतम होने के बावजूद भी पूर्व में हमारी कम्पनी की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई।"

अपने अभियोगों का उत्तर देते हुए वारेन हेस्टिंग्ज़ ने इस प्रकार घोषणा की "मैंने उन उपनिवेशों का, जो वहाँ (भारत में) आपके पास थे, विस्तार किया तथा उन्हें संवारा। मैंने उनकी रक्षा की। मैंने इसकी फौजों को प्रभावपूर्ण तथा कम खर्च उपायों से अज्ञात तथा भड़के हुए उन प्रदेशों में तुम्हारे अधिकृत उपनिवेशों के समर्थन के लिए भेजा। मैंने बम्बई को अपमान तथा अवनति से तथा मद्रास को पूर्ण हानि तथा अपमान से बचाया। मैंने उन युद्धों को शान्त करने का प्रयत्न किया, जो आपके तथा दूसरों के कारण प्रारम्भ हुए, मेरे कारण नहीं। मैंने शत्रुओं का दूर-दूर तक पीछा किया।"

वारेन हेस्टिंग्ज़ उन योग्य व्यक्तियों में से सबसे अधिक आयुवाला था, जिसने भारत का साम्राज्य इंग्लैण्ड को सौंपा। वह अत्यन्त प्रतिभाशाली था। उसमें असीमित शक्ति तथा दृढ़ संकल्प की भावना भरी थी। वह पहला विदेशी शासक था जिसने भारत के नरेशों का विश्वास प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

लार्ड कर्ज़न के मतानुसार, "मुझे सन्देह है कि सार्वजनिक मामलों के सम्पूर्ण इतिहास में किसी व्यक्ति पर इतनी निर्दयता से दोषारोपण किया गया हो, अथवा इतनी दृढ़ता से उस पर अभियोग चलाया गया हो। प्रतिशोध लेने वाले शत्रुओं से घिरा हुआ, अपनी कौंसिल में प्रतिदिन अपमानित तथा पराजित, अपने साथियों द्वारा नीच दोषों अथवा अभियोगों से कलंकित, निरन्तर ऐसी स्थितियों से जूझता हुआ, जिनसे घिर कर कोई वीर-से-वीर मनुष्य भी घबरा जाए, जिसका कोष खाली हो, जिसके कर्मचारी असन्तुष्ट हों, जिसका स्वास्थ्य लगातार गिर रहा हो, हेस्टिंग्ज़ ने ऐसा धैर्य, सहनशीलता, साधनों की अनेकविधता, आत्म-संयम प्रकट किया, जिसकी ऐसे चरित्र से आशा की जा सकती है। वह पूर्णरूप से जागरूक तथा सावधान था। अपनी शक्ति और योग्यता के सम्बन्ध में भली प्रकार जानता था।" (भारत में ब्रिटिश सरकार, प्रथम भाग, पृ० १५२)।

प्रो० ए० एम० डेविस के कथनानुसार—"हेस्टिंग्ज़ सदा विवाद का विषय रहा है तथा रहेगा। उसे मित्रों तथा शत्रुओं दोनों से कष्टों तथा कठिनाइयों का समान रूप से सामना करना पड़ा। विरोधियों से, जिन्होंने पर्याप्त तथा अरुचिकर निन्दा की तथा प्रशंसकों से, जिन्होंने उसके जीवन में केवल बुद्धिमत्ता तथा योग्यता के ही दर्शन किए हैं। अधिकांश अंग्रेज़ क्लाइव तथा हेस्टिंग्ज़ में जो जानकारी रखते हैं, वह उन्हें मैकाले के प्रभावशाली लेखों अथवा साहित्य से प्राप्त हुई है, किन्तु मैकाले के प्रसिद्ध लेखों के प्रशंसकों

को—उन लेखों के रंग-बिरंगे धब्बों, जिनमें क्लाइव द्वारा प्लासी से पूर्व रात्रि व्यतीत करने का वर्णन मिलता है अथवा इंग्लैंड में वेस्टमिन्स्टर हाल में होने वाले हेस्टिंग्ज़ के अभियोग का वर्णन है,—यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि मैकाले ने पक्षपातपूर्ण विचारों को अपनाया तथा कुछ घटनाओं का तो पूर्व-निर्णीत ढंग से वर्णन किया। वे लोग, जिनकी सहानुभूति हेस्टिंग्ज़ के साथ है, प्रायः यह इच्छा करते हैं कि एक इतिहासकार को जिसमें मैकाले के समान लेखनी तथा शक्ति है, हेस्टिंग्ज़ की सुरक्षा अथवा पक्ष में लिखना चाहिए था।

"कुछ अंशों में क्लाइव का कार्य एक बार ही सदा के लिए हो गया। हेस्टिंग्ज़ का कार्य अब भी परीक्षण की स्थिति में है क्योंकि उसने भारत में हमारे शासन तथा परम्पराओं की कुछ नींवें रखीं। यह कार्य एक राजनीतिज्ञ तथा एक विद्वान् का था तथा उसके भारतीय साहित्य तथा धर्म के अतीत इतिहास के सम्बन्ध में प्रयत्न प्रशंसा से बढ़कर थे।"

उसी लेखक के मत में, "भारत में वारेन हेस्टिंग्ज़ की सफलताओं का मूल्यांकन अन्य सामान्य साम्राज्यनिर्माताओं की कसौटी पर नहीं कसना चाहिए—कितनी लड़ाइयाँ जीती गईं अथवा कितने शत्रु नष्ट किए गए, कितना प्रदेश (कितने वर्ग मील) जीता गया तथा अपने साम्राज्य में मिलाया गया, कितनी लूटमार की गई तथा कितनी प्रसिद्धि प्राप्त की गई। उसके सेनापतियों ने कुछ ही लड़ाइयाँ जीतीं। केवल रुहेलों तथा चेतसिंह को हराया गया। लूटमार नहीं की गई। यश भी कम मिला। विजय के सभी कृत्रिम प्रमाण अपेक्षाकृत कम उपलब्ध हैं। वाह्यरूप से उसने अपने पद अथवा विश्वास को स्थिर रखने की अपेक्षा बढ़-चढ़कर कोई भी कार्य नहीं किया। उसने महान् संघर्ष में से कम्पनी को सुरक्षापूर्वक बचाया तथा उसके क्षेत्र तथा स्रोतों में किसी प्रकार की कमी नहीं होने दी। वास्तव में उसने अपने प्रशासन के आरम्भ काल की अपेक्षा बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। इसके लिए हमें उसके शासन-कार्य के आरम्भ तथा अन्त में भारत साम्राज्य की स्थिति तथा विस्तारादि की तुलना करनी होगी। एक ओर मद्रास तथा बम्बई के तट पर दो कमजोर प्रदेश थे, बंगाल का प्रान्त विस्तृत होते हुए भी अकाल-ग्रस्त, अराजकता से पूर्ण तथा कमजोर शासन था। एक देशी राज्य से कमजोर समझौता सा चल रहा था। कोई मित्र नहीं था। कोई सुरक्षा न थी। खजाना दिवालियों के समान खाली था। अफसर भ्रष्टाचार पूर्ण थे। नेता अयोग्य थे। दूसरी ओर एक ऐसे साम्राज्य का निर्माण हो रहा था, जो अपने आप में भारत में सर्वाधिक दृढ़ राज्य बन गया था। जो सुरक्षित नींवों पर निर्मित था, जिसका पालन-पोषण अनेक प्रकार की सन्धियों तथा समझौतों से हो रहा था, जो काफी दृढ़ हो चुका था, क्योंकि उसे भारतीय जनता के बड़े भाग से आदर तथा सद्भावना प्राप्त हो चुकी थी। आवश्यकता इस बात की थी कि उसी योग्य राजनीतिज्ञ को शासन का अधिकारी रखा जाए, जिससे राष्ट्र एक महान् शक्ति बन जाए। यह तुलना हेस्टिंग्ज़ की सफलता का अच्छा परिचायक है।

एक अन्य लेखक के अनुसार, उसने अपने शत्रुओं के विरुद्ध भी असाधारण शक्ति, साहस तथा चातुर्य से काम लिया। उसे इसमें सफलता प्राप्त हुई। उसे भारतीय पिट अथवा पूर्व का चैथम कहना उसके साथ न्याय करना होगा।

रॉबर्ट्स के शब्दों में, "हेस्टिंग्ज़ महत्तम अंग्रेज शासक था। वह ऐसा व्यक्ति था

जिसमें कुछ नैतिक दोष थे तथा जो दोष प्रचुर मात्रा में थे, उसकी सूझबूझ और कार्यक्षमता महान् थी, उसमें अथक शक्ति तथा सहनशीलता थी, जो केवल किसी महान् राजनीतिज्ञ में ही दृष्टिगोचर होती है।"

पिट का इण्डिया एक्ट (१७८४) (Pitt's India Act)—यह एक्ट १७८४ में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार एक नियन्त्रक-बोर्ड का निर्माण हुआ। इंग्लैंड सरकार ने एक प्रकार का दोहरा नियन्त्रण स्थापित कर दिया। यह पद्धति १८५८ तक जारी रही। इण्डिया एक्ट में १७८६ में कुछ परिवर्तन हुए! इसका उद्देश्य लॉर्ड कार्नवालिस को विशेष अधिकार देना था।

सर जान मैकफ़र्सन (**फरवरी, १७८५—सितम्बर, १७८६ तक**) (Sir John Macpherson)—जब लार्ड वारेन हेस्टिंग्ज़ ने १७८५ में भारतवर्ष को छोड़ा, तब सर जान मैकफ़र्सन, जो गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का वरिष्ठ सदस्य था, बंगाल का गवर्नर जनरल बना। अपने कार्यकाल में उसने बहुत से सुधार किए जिस कारण कंपनी के खर्चों में कमी की जा सके। इन दिनों महदाजी सिन्धिया बहुत शक्तिशाली था। उसने मुग़ल सम्राट् पर नियन्त्रण प्राप्त किया तथा उससे उसे आगरा तथा दिल्ली के प्रान्त प्राप्त हुए। उसने अंग्रेजी कम्पनी तक से भी चौथ की माँग की, किन्तु कम्पनी ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। लार्ड कार्नवालिस ने १७८६ में मैकफ़र्सन को मुक्त किया।

Questions for Revision

1. Attempt a critical estimate of the difficulties and achievements of Warren Hastings as Governor-General of India.

2. "Warren Hastings did not introduce fixed principles. He tried various measures one after the other." Discuss.

3. "His was, therefore, essentially a period of experiments." Explain this with reference to the reign of Warren Hastings.

4. How far was the foreign policy of the East India Company under Warren Hastings conducive to the growth of the British power in India?

5. Carefully discuss the foreign policy and revenue administration of Warren Hastings. What were the principal defects in the revenue system of his time?

6. "Hastings made no conquest, but his subsidiary system paved the way for the final overthrow or defeat of every power that sought to hinder the growth of our Eastern Empire." Discuss.

7. Enumerate the circumstances under which the Regulating Act was passed. What were its objects? Discuss critically the main provisions of the Regulating Act of 1773 and point out its defects and its importance and state how these defects were removed.

8. "The treaty of Salbai (1782) was neither honourable to the English name nor advantageous to their interests." (Lyall). If so, why did Warren Hastings agree to the terms of this treaty? How did

it affect the position of the Poona Government, of Mahadaji Scindhia and of Haider Ali ?

9. "One of the greatest Englishmen who ever ruled India." Is it a correct estimate of the character and achievements of Warren Hastings ?

10. "The valour of others required, I enlarged, and gave shape and consistency to the dominion which you hold there." Explain how far this summing of his administration by Warren Hastings is true.

11. In the final defence of his administration which he wrote on his way home, Warren Hastings remarks : "The seed of this wonderful production was sown by the hand of calamity. It was nourished by fortune, and cultivated and shaped by necessity." Comment on the statement by bringing out its historical significance.

12. "Hastings was perhaps the greatest Englishman who ever ruled, a man who with some ethical defects possessed in a superabundant measure the mobile and fertile brain, the tireless energy and the lofty fortitude which distinguishes only the supreme statesman." (Roberts). Discuss.

13. Review critically the character and achievements of Warren Hastings, taking note of the different views on the subject.

14. What was Warren Hastings' contribution to the consolidation of British rule in India ?

15. "I gave you all···and you have rewarded me with confiscations, disgrace and a life of impeachment." (Warren Hastings) Comment.

16. "Indians and Anglo-Indians alike venerate Hastings' name, the former as their first beneficent administrator, the latter the most able and the most enlightened of their own class. If Clive's sword acquired the Indian Empire, it was the brain of Hastings that planned the system of civil administration and his genius that saved the Empire in its darkest hour." (J. S. Cotton) Discuss.

अध्याय ६

लार्ड कार्नवालिस तथा सर जान शोर

(Lord Cornwallis and Sir John Shore)

लार्ड कार्नवालिस, १७८६-१७९३ (Lord Cornwallis)—वारेन हेस्टिंग्ज़ के विपरीत लार्ड कार्नवालिस इंग्लैण्ड के एक सम्पन्न परिवार से सम्बन्धित था। बंगाल के गवर्नर जनरल के रूप में उसकी नियुक्ति से पूर्व अमरीका के स्वतन्त्रता-युद्ध में वह उत्तरी अमरीका में अंग्रेजी फौजों का मुख्य सेनापति रह चुका था। उसने ही यॉर्क टाऊन में घुटने टेक कर, हथियार छोड़ कर अमरीका के स्वतन्त्रता-युद्ध की समाप्ति की थी। उसने अत्यन्त संकोच के साथ गवर्नर जनरल का पद सम्भाला था। उसके लिए ही पिट के भारतीय कानून में संशोधन किया गया था, जिससे वह गवर्नर जनरल तथा मुख्य सेनापति के अधिकारों का सम्मिलित रूप में उपयोग कर सके। उसे यह अधिकार भी दिया गया कि यदि वह उचित समझे तो अपनी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों के मत को न माने। अपने सात वर्ष के गवर्नर जनरल के काल में वह नियंत्रण बोर्ड (Board of Control) तथा इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री का विश्वासपात्र बना रहा। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि वह बहुत कुछ कर सका। कार्नवालिस के कार्यों का वर्णन दो शीर्षकों के अधीन किया जा सकता है—उसकी विदेश नीति तथा आन्तरिक सुधार।

विदेश नीति (Foreign Policy)—जहाँ तक उसकी विदेश नीति का सम्बन्ध है, वह इस सम्बन्ध में दृढ़ संकल्प था कि "भारतीय रियासतों के कार्यों में पिट के भारतीय कानून के अनुसार किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है कि पिट के भारतीय एक्ट में निम्नलिखित धारा का उल्लेख है—जहाँ तक इस जाति की इच्छा का आदर तथा नीति के अनुसार विजय तथा उपनिवेश की वृद्धि की योजनाओं का सम्बन्ध है, गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद् भारत के किसी नरेश अथवा राज्य (रियासत) के विरुद्ध डायरैक्टरों अथवा निर्वाचन समिति की विशेष अनुमति के बिना किसी प्रकार के युद्ध अथवा व्यापारिक विरोध (नाकाबन्दी) की घोषणा नहीं करेंगे तथा न ही इस प्रकार की किसी सन्धि में पड़ेंगे, जिससे किसी भारतीय रियासत अथवा नरेश से किसी प्रकार के युद्ध करने की आवश्यकता पड़े।" इस नीति के अनुसार कार्नवालिस ने शाह आलम के पुत्र को उसकी दिल्ली की राज्यगद्दी लेने के लिए सहायता देने से इनकार कर दिया। उसने महदजी सिन्धिया को अवध के मामलों में हस्तक्षेप करने के विरुद्ध कठोर चेतावनी दी, किन्तु वह सुलतान टीपू से युद्ध न टाल सका।

मैसूर का तीसरा युद्ध, १७९०-९२ (Third Mysore War)—लार्ड कार्नवालिस ने टीपू से युद्ध करने के विचार से निज़ाम तथा मराठों के साथ एक समझौता किया। १७८८ में कार्नवालिस को निज़ाम से गण्टूर मिला तथा निज़ाम ने अंग्रेजी फौजों को मंगलौर की सन्धि के अनुसार कुछ इलाके पुनः लेने को कहा। अंग्रेजों ने उन जिलों पर टीपू के अधिकार को स्वीकार कर लिया था, जिनपर अब निज़ाम अपना दावा कर रहा

था। इतना होने पर भी कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध निज़ाम को फौजें देने की स्वीकृति दी। इससे टीपू बिगड़ गया। उसने ट्रावनकोर पर आक्रमण कर दिया। इससे पूर्व अंग्रेजी कम्पनी के साथ उसका सम्बन्ध मित्रतापूर्ण था। अब युद्ध आरम्भ हो गया। आरम्भ में, मराठों तथा निज़ाम की सहायता के होते हुए भी, स्थिति अंग्रेजी कम्पनी के पक्ष में नहीं थी। १७९० में कार्नवालिस ने स्वयं कमान सम्भाली। उसने बंगलोर पर अधिकार कर लिया तथा टीपू को पराजित किया, किन्तु रसद के अभाव के कारण उसे वापिस होने पर विवश होना पड़ा। १७९२ में कार्नवालिस ने टीपू के पर्वतीय किलों पर अधिकार कर लिया तथा श्रीरगपट्टम तक बढ़ा। मराठों ने मैसूर के प्रदेश को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया। अपनी स्थिति निराशापूर्ण समझ कर टीपू ने शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया तथा १७९२ में श्रीरंगपट्टम की सन्धि की गई। उसे युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में ३½ करोड़ देने का वचन देना पड़ा। अंग्रेजों, निज़ाम तथा मराठों ने प्राप्त किया हुआ प्रदेश परस्पर बाँट लिया। अंग्रेजों को मालाबार, कुर्ग, डिन्दीगल तथा बारहमहल प्राप्त हुए। मराठों को मैसूर के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश मिला तथा निज़ाम को मैसूर के उत्तर-पूर्व का प्रदेश।

आलोचकों का कहना है कि कार्नवालिस आसानी से सुलतान टीपू को राज्यगद्दी से उतार सकता था तथा इस प्रकार सम्पूर्ण मैसूर को अपने राज्य में मिला सकता था। यदि वह १७९२ में ऐसा कर लेता तो लार्ड वैल्जली के समय में चौथे मैसूर युद्ध की आवश्यता ही न पड़ती, किन्तु लार्ड कार्नवालिस ने ऐसा न करके बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य किया। उसने सावधानता की नीति का प्रयोग किया। सम्भव था कि मराठे तथा निजाम उसको धोखा देते। ऐसे कार्य के लिए डायरैक्टर तथा नियंत्रण बोर्ड के सदस्य अनुमति न देते। फ्रांस के साथ युद्ध अवश्यम्भावी था तथा इंग्लैंड के अधिकारी शान्ति स्थापित करने के लिए कह रहे थे। कार्नवालिस सम्पूर्ण मैसूर का शासन-प्रबन्ध सम्भालने को उत्सुक था। इसलिए उसने जान-बूझ कर संयम से काम लिया। इसके साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि यदि कार्नवालिस सुलतान टीपू के सम्पूर्ण इलाके को हस्तगत कर लेता तो उसे वह सम्पूर्ण प्रदेश मराठों तथा निज़ाम के साथ मिलकर परस्पर बाँटना पड़ता। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, जबकि कार्नवालिस ने इस प्रकार लिखा—"हमने अपने शत्रु को बिना अपने मित्रों को भड़काए पर्याप्त रूप से कमजोर कर दिया है।"

कार्नवालिस के सुधार (Reforms of Cornwallis)—लार्ड कार्नवालिस ने बहुत से सुधार किए। उसका सम्बन्ध कम्पनी की सेवा, न्याय विभाग तथा बंगाल की भूमि की स्थायी व्यवस्था से था।

सार्वजनिक सेवाओं में सुधार (Reform of Public Services)—अंग्रेजी कम्पनी के कर्मचारी अयोग्य तथा भ्रष्ट थे। उनका बहुत सा समय निजी व्यापार करने में लग जाता था। वेतन कम होने के कारण वे भ्रष्ट थे। कार्नवालिस इस सम्बन्ध में दृढ़ था कि कम्पनी के कर्मचारी दयानतदार तथा योग्य हों। वह कम्पनी के डायरैक्टरों को इस बात के मनाने में सफल हो गया कि कम्पनी के कर्मचारियों को अच्छे वेतन मिलें। उसने स्थानों की संख्या कम कर दी, किन्तु वेतन बढ़ा दिए। उसने कम्पनी के कर्मचारियों से माँग की कि वे अपना पूरा समय कम्पनी की सेवा में लगाएँ। निजी व्यापार पूर्ण रूप से बन्द कर दिया गया। कार्नवालिस ने उन अंग्रेजों की बात मानने से इनकार कर दिया, जो डायरैक्टरों

तथा नियन्त्रण बोर्ड के सदस्यों से उसके लिए सिफारिशी पत्र लाते थे। एक अवसर पर तो उसने डंडस जैसे प्रभावशाली व्यक्ति को कृतज्ञ करने से इनकार कर दिया। यह सज्जन नियन्त्रण बोर्ड का अध्यक्ष था।

नियुक्तियाँ करते समय वह इस बात का ध्यान रखता था कि सबसे अच्छी नौकरियाँ यूरोप निवासियों को तथा विशेष रूप से अंग्रेजों को दे। उसे विश्वास हो गया था कि भारतीय विश्वास के योग्य नहीं तथा उनको सरकार की निम्न नौकरियों पर ही नियुक्त करने की अनुमति दी जा सकती है। इस प्रकार का दृष्टान्त संसार के किसी देश के इतिहास में अभूतपूर्व है कि अपने ही देश की सरकार के समस्त उत्तरदायी पदों से भारतीयों को बहिष्कृत रखा जाए। कार्नवालिस भारतीयों के साथ घृणापूर्ण व्यवहार करता था। वह सम्पूर्ण जाति को विश्वास के अयोग्य समझता था तथा उसका विचार था कि भारतीय आदरपूर्ण व्यवहार के योग्य नहीं हैं। कार्नवालिस की इस पद्धति से कम्पनी के अधीन उपनिवेशों की जनता की स्थिति सुधरने के स्थान पर बिगड़ती गई। कार्नवालिस भारतीय अधिकारियों से वही निष्ठा और योग्यता प्राप्त कर सकता था, जैसे कि अंग्रेजों तथा यूरोपवासियों से, यदि वह उनको भी वैसे ही वेतन देता।

न्यायिक सुधार (Judicial Reforms)—कार्नवालिस ने १७८७, १७९० तथा १७९३ में न्यायिक सुधार किए। जो सुधार उसने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में किए उन्होंने मद्रास तथा बम्बई में आदर्श का काम दिया।

१७८७ के इन सुधारों का उद्देश्य व्यय में कमी करना था। जिलों की संख्या ३६ से २३ कर दी गई तथा प्रत्येक जिले के लिए अंग्रेजी कम्पनी का कोई न कोई अंग्रेज कर्मचारी कलैक्टर के रूप में नियुक्त किया गया। उसका काम न केवल मालगुजारी इकट्ठा करना था अपितु उसे मैजिस्ट्रेट तथा न्यायाधीश के रूप में भी कार्य करना था। कलैक्टर को तीन प्रकार के जुदा कार्य करने होते थे। उन्हें एक साथ नहीं मिलाया जा सकता था और न ही एक ही समय में उनका उपयोग ही किया जा सकता था। मालगुजारी की अदालत में बैठे हुए वह मैजिस्ट्रेट आदि के अधिकारों का प्रयोग नहीं कर सकता था। माल अदालत के निर्णयों के विरुद्ध कलकत्ता के माल बोर्ड में अपील की जाती थी। माल विभाग के मामलों में अन्तिम अपील कौंसिल स्थित गवर्नर जनरल तक ले जाई जा सकती थी।

दीवानी मुकद्दमों के सम्बन्ध में सदर दीवानी अदालत तक अपील की जा सकती थी (यदि मुकद्दमे में १००० से अधिक की रकम फँसी हुई हो)। सामान्यतया सदर दीवानी अदालत का निर्णय अन्तिम होता था, किन्तु यदि ५००० से अधिक रुपयों का मुकद्दमा हो तो कौंसिल स्थित सम्राट् की सेवा में अपील ले जाई जा सकती थी।

रजिस्ट्रार के पद बनाने के सम्बन्ध में कार्रवाई की गई। फुटकर दीवानी अदालत के न्यायाधीश के रूप में कलैक्टर को अधिकार दिया गया कि वह २०० रु० तक के मुकदमे रजिस्ट्रार को भेज सकता है। रजिस्ट्रार के निर्णय तभी वैध होते थे जब उन पर न्यायाधीश के रूप में कलैक्टर उनकी पुष्टि करता था।

१७८७ की पद्धति का एक बड़ा दोष यह था कि कलैक्टर के हाथों में बहुत से अधिकार केन्द्रित हो गए। ये अधिकार न केवल नियन्त्रण से परे थे अपितु व्यवहार में भी अनियन्त्रित थे। कलैक्टर, मैजिस्ट्रेट तथा न्यायाधीश के कार्यों का एक व्यक्ति के हाथों में

केन्द्रित करना अधिकार के अलग रखने की पद्धति से विरुद्ध था। इससे न्याय विभाग, कार्यपालिका विभाग से स्वतन्त्र नहीं हो सकता था।

कार्नवालिस ने १७९० में देश के फौजदारी कानून में कुछ सुधार किए। सदर-निज़ामत-अदालत कलकत्ता स्थानान्तरित कर दी गई। ऐसा विधान बनाया गया कि उस अदालत को अपने विचारणीय विषय पर विचार करने तथा निश्चय के लिए वह सप्ताह में कम से कम एक बार तो अवश्य अपना कार्य करे। एक से अधिक बार भी वह अपना कार्य कर सकती थी। उसे अपने किए हुए कार्य का नियमित लेखा भी रखने का नियम था। उसे अधिकार दिया गया कि वह गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद् को भी कुछ मुकद्दमे दया प्रार्थना के रूप में भेज सकती हैं। सदर निज़ामत अदालत पर नवाब के नियन्त्रण को पूर्ण रूप से हटा दिया गया। यह कार्य गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल को मुख्य काजी तथा दो व्यक्तियों की सहायता से करना होता था।

लार्ड कार्नवालिस ने चार अन्य अदालतों की स्थापना के सम्बन्ध में भी कार्रवाई की। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के तीन प्रान्तों को चार भागों में बाँट दिया गया तथा इनमें से प्रत्येक के लिए एक इस प्रकार के न्यायालय स्थापित करने का कार्यक्रम बनाया गया। ऐसे प्रत्येक न्यायालय पर अंग्रेजी कम्पनी के दो कर्मचारियों को अध्यक्षता करनी थी। मुख्य काजी तथा मुफ्तियों की नियुक्ति कौंसिल स्थित गवर्नर जनरल करते थे तथा अपने कार्य को ठीक न कर सकने अथवा अयोग्यता अथवा अन्य कारण से उन्हें वे ही अलग भी कर सकते थे। प्रत्येक ऐसी अदालत को अपने क्षेत्राधिकार में मुकद्दमों को निपटाने के लिए स्थान-स्थान पर कार्य करना पड़ता था। मैजिस्ट्रेटों को इस न्यायालय के निर्णय कार्यान्वित करने पड़ते थे। मृत्यु-दण्ड तथा आजन्म कारावास के सम्बन्ध में इस अदालत के निर्णय को मुख्य निज़ामत अदालत से पुष्ट कराना होता था।

जिले के कलैक्टर को मजिस्ट्रेट बना दिया गया। उसका कार्य यह था कि वह हत्यारों, डाकुओं, चोरों, मकान के ताले तोड़ कर घुसने वालों तथा शान्ति भंग करने वाले अन्य व्यक्तियों को दण्ड दे। यदि प्रारम्भिक जाँच के पश्चात् कलैक्टर यह समझता कि अभियुक्त के विरुद्ध उचित मुकद्दमा नहीं बनता, तो वह उसे छोड़ देता था। यदि वह समझता कि अभियुक्त किसी सामान्य अपराध का अपराधी है, तो वह उसे कुछ दण्ड भी दे देता, किन्तु गम्भीर मामलों में उसका कर्तव्य होता था कि वह या तो अभियुक्त को फौजदारी जेल में भेज देता, ताकि उसकी सुनवाई सर्किट अदालत में हो सके। वह उसे तब तक जमानत पर मुक्त भी कर सकता था जब तक कि सर्किट अदालत की बैठक न हो। कुछ मुकद्दमे ऐसे हुआ करते थे, जिनमें न्यायाधीश को बन्दियों को मुक्त करने का अधिकार नहीं था। ऐसे मुकद्दमे हत्या तथा डकैती के हुआ करते थे।

कार्नवालिस ने देखा कि अदालती अधिकारियों के कम वेतन होने के कारण उन्हें समाज के निम्न भाग में से लिया जाता था। वे रिश्वत लेने के लिए आकर्षित होते थे। कार्नवालिस ने ऐसे पदों के लिए अच्छे वेतनों का प्रबन्ध किया जिससे चरित्रवान् तथा योग्य व्यक्ति कानूनी अथवा न्याय विभाग में प्रविष्ट हों। उसने अधिक होने वाले व्यय के लिए यह कारण दिया कि न्याय-व्यवस्था के लिए ऐसा करना आवश्यक है।

१७९३ में कार्नवालिस ने कुछ और परिवर्तन किए। माल अदालतें तोड़ दी गई।

माल अदालतों के ऐसे सब मुकद्दमे साधारण दीवानी अदालतों को हस्तांतरित कर दिए गए। तीनों प्रान्तों के प्रत्येक जिले में एक-एक दीवानी अदालत स्थापित कर दी गई। इस प्रकार की सब अदालतों की अध्यक्षता के लिए कम्पनी के किसी नियमित कर्मचारी की नियुक्ति होनी थी। पद ग्रहण करने के समय न्यायाधीश को आवश्यक शपथ लेनी पड़ती थी। दीवानी अदालतें, दीवानी तथा फौजदारी दोनों प्रकार के मुकद्दमे सुनती थीं किन्तु उनका फौजदारी मुकद्दमों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। सामान्य रूप से मुकद्दमे हिन्दू अथवा मुसलमान कानून के अनुसार सुने जाते थे, किन्तु यदि किसी विशेष विषय में कोई निश्चित धारा होती थी तो उस मुकद्दमे का निर्णय न्याय, समन्याय तथा शुद्ध अन्तःकरण से किया जाता था।

उसी वर्ष एक ऐसा नियम बनाया गया जिसके अनुसार कम्पनी के कर्मचारी भी न्यायालयों के सम्मुख उपस्थित किए जा सकते थे। ऐसी धारा बना दी गई कि भारत-निवासी किसी ब्रिटिश प्रजाजन के विरुद्ध दीवानी अदालतों में मुकदमा चला सकते थे, यदि उस मुकद्दमे में ५०० रुपए से अधिक की राशि का उल्लेख हो। यदि ऐसी राशि पाँच सौ से अधिक होती थी, तब ऐसा मुकदमा कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत किया जा सकता था।

वे मुकद्दमे भी, जिन में सरकार स्वयं एक पक्ष होती थी, सामान्य दीवानी अदालतों द्वारा सुने जा सकते थे। इस प्रकार की धाराएँ बनाई गईं, जिनके अनुसार तीन प्रान्तों के लिए चार प्रान्तीय अदालतें अपीलों के लिए निश्चित कर दी गईं। उनके मुख्य स्थान कलकत्ता, मुर्शिदाबाद, ढाका तथा पटना रखे गए। प्रत्येक अपील वाली अदालत पर अंग्रेजी कम्पनी के तीन नियमित कर्मचारियों को अध्यक्षता करनी होती थी। इन अदालतों को मौलिक तथा अपील सम्बन्धी क्षेत्राधिकार दिए गए। १,००० तथा उससे कम रुपयों के मुकद्दमों के सम्बन्ध में उनके निर्णय अन्तिम हुआ करते थे। यदि राशि अधिक होती थी, तब मुख्य दीवानी न्यायालय में अपील की जा सकती थी।

मुख्य दीवानी न्यायालय १००० रुपए से अधिक की अपीलें सुनने का अधिकार रखते थे। पाँच हजार रुपए तक के मुकद्दमों में उनके निर्णय अन्तिम होते थे। यदि राशि इससे अधिक हो, तो सपरिषद्-सम्राट् की सेवा में अपील भेजी जा सकती थी। मुख्य दीवानी न्यायालय को इस बात का भी अधिकार दिया गया कि वह सामान्य अदालतों के कार्य का नियन्त्रण तथा निरीक्षण भी कर सके।

एक अन्य उपबन्ध द्वारा यह भी निश्चय किया गया कि ५० रुपए से कम के मामलों को निबटाने के लिए मुन्सिफों की नियुक्ति की जाए। ऐसे मुन्सिफों की संख्या कार्य के अनुसार निर्भर करती थी। मुन्सिफों के कार्य-विवरण दीवानी अदालतों को पुष्टि के लिए भेजे जाते थे। वे अपना कार्य अवैतनिक रूप से करते थे तथा परिणामस्वरूप घूंसखोरी तथा रिश्वत की शिकायतें होती थीं।

१७९३ में कार्नवालिस ने उन अदालती फीसों को हटा दिया, जो पहले मुकद्दमा करने वाले देते थे। उसका विचार था कि इतना कार्य शेष इसलिए है कि न्याय की व्यवस्था में अयोग्यता तथा शिथिलता है। कलक्टर से मजिस्ट्रेट के अधिकार छीन लिये गए। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे अब केवल मालगुजारी का ही कार्य करना होता था।

कार्नवालिस ने वकालत के व्यवसाय को भी नियमित करने का प्रयत्न किया। ऐसी व्यवस्था की गई कि भविष्य में वकील सरकार द्वारा निर्धारित फीसें ही ले सकेंगे। यदि वे इस नियम का उल्लंघन करेंगे, तो उन्हें अयोग्य घोषित किया जा सकता था। पहले नियमों को प्रकाशित करने की पद्धति ठीक नहीं थी तथा परिणामस्वरूप यह निश्चय करना कठिन हो जाता था कि देश के वास्तविक कानून क्या हैं। ऐसा नियम बनाया गया कि भविष्य में जो भी आज्ञाएँ और नियमादि किसी वर्ष प्रकाशित हों, वे सब प्रकाशित की जाएँ तथा एक ही जिल्द में इकट्ठे कर दिये जाएँ। इससे जानकारी प्राप्त करने तथा सूचना मिलने में सुविधा हो गई।

कार्नवालिस को उसके द्वारा किए गए न्याय-सम्बन्धी सुधारों के कारण महान् प्रशंसा मिलनी चाहिए। यद्यपि उसकी इस बात के लिए आलोचना हुई कि उसने शासन-व्यवस्था पर व्यय में वृद्धि कर दी, किन्तु उसने सुधारों के पक्ष में इसलिए बल दिया क्योंकि वह समझता था कि वे न्याय के योग्य व्यवस्था के लिए तथा देश की शान्ति तथा समृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। उसका विचार था, अंग्रेजी कम्पनी भारतीय लोगों से बहुत-सा धन भूमिकरों आदि के रूप में लेती है, इसलिए न्याय-व्यवस्था में कंजूसी करना अपराध है। तो भी उसकी पद्धति में कुछ न्यूनताएँ थीं। उसने उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर तथा न्याय विभाग के महत्त्वपूर्ण पदों पर भारतीयों को नियुक्त करने में अत्यन्त सावधानी से काम किया। भारतीयों को केवल मुन्सिफों के रूप में नियुक्त किया गया। यह नीति लार्ड विलियम बैण्टिङ्क के समय तक चली, जब कि उसमें परिवर्तन कर दिया गया।

पुलिस सुधार (Police Reforms)—पहले जमींदार पुलिस अधिकारों का उपयोग करते थे। उनका यह कर्त्तव्य था कि वे शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखें तथा सन्दिग्ध व्यक्तियों को गिरफ्तार करें। वे स्थानीय पुलिस दस्तों का नेतृत्व भी करते थे। जो सुधार कार्नवालिस ने इस सम्बन्ध में किया, वह यह था कि उसने जमींदारों से पुलिस अधिकार ले लिये। उसने जिलों को छोटे इलाकों में बांट दिया तथा प्रत्येक ऐसे इलाके को दारोगा अथवा सुपरिण्टैण्डैण्ट के हवाले कर दिया, जिस पर जिला स्थित कम्पनी के प्रतिनिधि की देखरेख होती थी। पुलिस की नौकरियों में भी यूरोप के लोग नियुक्त किए गए तथा उनके वेतन तथा कार्य निश्चित कर दिए गए।

बंगाल की स्थायी भूमि-व्यवस्था, १७९३ (Permanent Settlement of Bengal)—कार्नवालिस का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की स्थायी भूमि-व्यवस्था करना था। जब १७६५ में अंग्रेजी कम्पनी को बंगाल की दीवानी प्राप्त हुई, यह पाया गया कि जोतने वाले मजदूर अथवा किसान जमींदार को निश्चित धनराशि अथवा उपज वार्षिक रूप में देते हैं। इस प्रकार जमींदार केवल लगान इकट्ठा करने वाला था। उसका अधिकार धीरे-धीरे पुश्तैनी हो गया था। इस प्रकार जमींदारी, जो मूलरूप में एक ठेकेदारी पद्धति थी, भूमि जायदाद के समान हो गई। जमींदार लगान प्राप्त करता था, उसका ९/१० भाग वायसराय को देता था तथा १/१० भाग अपने लिए रखता था। उसे जमींदारी उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती थी तथा वह जब चाहता था उसे बेच सकता था अथवा अपने अधिकार, किसी दूसरे व्यक्ति को आज्ञा लेकर, दे सकता था

तथा यदि राज्य उससे उसकी भूमि छीन ले तो वह क्षतिपूर्ति की माँग कर सकता था। वह अपने क्षेत्र में शान्ति बनाए रखने के लिए उत्तरदायी था। १७६५ में लगान इकट्ठा करने का काम भारतीय लोगों पर ही छोड़ दिया गया, किन्तु १७६९ में ब्रिटिश निरीक्षक उनके नियन्त्रण के लिए नियुक्त किए गए। इस परिवर्तन के हो जाने पर भी स्थिति में सुधार नहीं हुआ। १७७२ में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने पञ्चवर्षीय बन्दोबस्त चलाया, किन्तु उसे १७७७ में छोड़ दिया गया क्योंकि यह प्रयोग असफल सिद्ध हुआ। पुरानी वार्षिक व्यवस्था पुनः चलाई गई। १७८४ में पार्लियामेन्ट के एक एक्ट द्वारा कम्पनी के डायरेक्टरों को वार्षिक व्यवस्था छोड़ देने तथा लगान इकट्ठा करने के स्थायी नियम बनाने को कहा गया।

जब लार्ड कार्नवालिस भारत में आया तब उसने देखा कि "कृषि तथा व्यापार नष्ट हो रहा है, जमींदार तथा खेतिहर मजदूर किसान दिन-प्रतिदिन और अधिक निर्धन होते जा रहे हैं तथा जाति में केवल साहूकार ही समृद्धिशाली हैं।"

कम्पनी के डायरेक्टर भी मालगुजारी के लगातार घटते जाने से काफी चिन्तित थे। यह भी पाया गया कि वार्षिक मालगुजारी के कारण जमींदार पूरी रकम नहीं चुका पाते थे तथा इससे किसी को भी लाभ नहीं पहुँचता था। उन्होंने सिफारिश की कि स्थायी व्यवस्था हो जाने से सरकार तथा प्रजा दोनों को लाभ होगा। उन्होंने इस बात का भी विरोध किया कि अस्थायी किरायेदार तथा किसानों को क्यों लगाया जाए, जब कि उन्हें न तो राज्य के प्रति और न ही किसान मजदूरों के प्रति कोई रुचि है। वे मजदूरों का यथाशक्ति दमन करते थे। कार्नवालिस को ये सब हिदायतें मिलीं, किन्तु उसने अनुभव किया कि उनका पालन करना सम्भव नहीं है। माल-व्यवस्था में कुछ परिवर्तन पहले ही किए जा चुके थे, जिनका उद्देश्य विकेन्द्रीकरण था। मालविभाग का बोर्ड कलक्टरों पर नियन्त्रण रखता था, जो भूमि-कर को इकट्ठा करने के उत्तरदायी थे। १७८७ तथा १७८८ में कलक्टरों ने वार्षिक व्यवस्था की। १७८९ में यह व्यवस्था दशवर्षीय कर दी गई। लगान की व्यवस्था के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ थीं। एक पक्ष के नेता ज़ेम्स ग्राण्ट थे, जो इस बात पर जोर देते थे कि जमींदारों के कोई स्थायी अधिकार नहीं हैं—न तो भूमि के स्वामी होने के नाते और न लगान इकट्ठा करने के अधिकारी होने के नाते। राज्य उनकी ओर से अपनी माँगों के सम्बन्ध में किसी निश्चित सीमा से बँधा हुआ नहीं था। दूसरे पक्ष के नेता सर जान शोर थे। इस पक्ष का विचार था कि जमींदार भूमि के स्वामी हैं तथा राज्य उनसे लगान प्राप्त करने का ही अधिकार रखता है। ठीक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक था कि वास्तविक लगान का अंश तथा जमींदारों और कृषकों द्वारा प्राप्त व दिये जाने वाले लगान के पूर्ण व्योरे का निश्चय किया जाए। सर जान शोर इस पक्ष का था कि दस वर्षों के लिए जमींदारों से सीधा फैसला कर लिया जाय। अन्य ऐसे अधिकारी भी थे जो जमींदारों के साथ इस प्रकार की स्थायी व्यवस्था के पक्षपाती थे। कार्नवालिस इस पक्ष का था कि यदि दशवर्षीय व्यवस्था की जाए तो वही दोष होंगे, जो वार्षिक व्यवस्था में पाए जाते हैं। इससे जमींदारों को पर्याप्त प्रेरणा नहीं मिलेगी कि वे प्रान्तों में फैले हुए वनों को साफ कर सकें। सर जान का यह भी विचार था कि यदि स्थायी व्यवस्था की जाय तो निश्चित आँकड़े अथवा पैमाइश न होने के कारण बंटवारे में अन्याय की भावना

प्रविष्ट हो सकती है। १७६० में दशवर्षीय व्यवस्था के नियम प्रकाशित किए गए तथा यह बतलाया गया कि उस अवधि के अन्त में यह व्यवस्था सम्भवतः स्थायी कर दी जाएगी। डायरेक्टरों की आज्ञानुसार मार्च १७६३ में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की भूमि-व्यवस्था स्थायी कर दी गई। इस व्यवस्था में लगान की दरें जितनी भी ऊँची हो सकती थीं, उतनी कर दी गई। वास्तव में ये दरें १७६५ की अपेक्षा दुगुनी थीं। "ये दरें इतनी ऊँची इसलिए करनी सम्भव हो सकीं, क्योंकि इन्हें अन्तिम तथा स्थायी घोषित किया गया।"

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भूमि की स्थायी व्यवस्था शीघ्रता में सोची हुई योजना नहीं थी। इसका विचार पूर्णरूप से कार्नवालिस को ही नहीं आया, अपितु अनेक स्थायी अधिकारियों ने इस परिवर्तन के सम्बन्ध में सिफारिश की। नई व्यवस्था कई वर्षों की जाँच से प्राप्त सूचना के आधार पर आधारित थी। इंग्लैण्ड के अधिकारियों का भी पूर्ण समर्थन इस योजना को प्राप्त था क्योंकि इसकी स्वीकृति इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री पिट, नियन्त्रण बोर्ड के प्रधान डण्डस तथा डायरेक्टरों ने दी थी।

उपबन्ध (Provisions)—स्थायी भूमि व्यवस्था ने जमींदारों को भूमि के सम्बन्ध में स्वामित्व के सीमित अधिकार प्रदान कर दिए। राज्य के सब अधिकार, जो नज़राने अथवा फीसों की बिक्री के सम्बन्ध में थे, वे सब छोड़ दिए गए। जमींदारों से मजिस्ट्रेटों के सब अधिकार ले लिये गए। उन्हें किसी प्रकार का पुलिस कार्य भी नहीं दिया गया। जब तक वे सरकार को नियमित रूप से लगान देते रहे, उन्हें उनके काश्तकारों के साथ सम्बन्ध के विषय में स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता रहा। यदि वे लगान नहीं देते थे तो उनकी भूमि के कुछ भाग को लगान की वसूली के लिए कुर्क कर दिया जाता था।

स्थायी भूमि-व्यवस्था के हानि-लाभ (Merits and Demerits of Permanent Settlement)—इतिहासज्ञों के स्थायी भूमि-व्यवस्था के सम्बन्ध में विरोधी मत हैं। मार्शमेन के विचार में "यह एक साहसी, वीर तथा बुद्धिमत्तापूर्ण कदम था। इस प्रादेशिक आज्ञापत्र के उचित प्रभाव से, जिसके कारण पहली बार ही भूमि के सम्बन्ध में अधिकार तथा रुचि की भावना उत्पन्न हुई थी, जनसंख्या में वृद्धि हुई, खेती की सीमाओं में विस्तार हुआ तथा लोगों के स्वभावों तथा आराम में सुधार हुआ।" आर० सी० दत्त के अनुसार, "यदि किसी जाति की सम्पन्नता तथा प्रसन्नता बुद्धि तथा सफलता की कसौटी है, तो १७६३ की स्थायी भूमि-व्यवस्था भारत में ब्रिटिश जाति द्वारा किए गए कार्यों में सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण तथा सफलतम कार्य है।" उन्होंने आगे कहा कि "स्थायी भूमि-व्यवस्था भारत में अंग्रेजों के गत डेढ़ शताब्दी के शासन का एक ऐसा कार्य है जिसके कारण यहाँ के निवासियों के आर्थिक हित की सबसे अधिक रक्षा हुई है।" दूसरी ओर होम्ज़ ने इन शब्दों में स्थायी भूमि-व्यवस्था की निन्दा की है, "स्थायी व्यवस्था एक भयानक भूल थी। यहाँ के कृषकों ने इससे कुछ भी लाभ नहीं उठाया। जमींदार अपने लगान समय-समय पर चुकाने में असमर्थ रहे तथा उनकी जायदाद सरकार के लाभ के लिए बेच दी गई।" इन मतों के होते हुए भी, स्थायी व्यवस्था की हानियों तथा लाभों पर अलग-अलग चर्चा करना अभीष्ट प्रतीत होता है।

लाभ (Merits)—(१) राज्य को जनता की ओर से लगान की निश्चित आय के सम्बन्ध में आश्वासन मिल गया। उसे वार्षिक बोली के परिणाम पर निर्भर न रहना

पड़ा। यदि एक जमींदार अपना लगान नहीं चुकाता था, तो उस लगान की प्राप्ति उसकी भूमि के एक भाग को बेचकर की जा सकती थी।

(२) जमींदार जानते थे कि उन्हें सरकार को एक निश्चित धनराशि लगान के रूप में देनी है। यदि वे भूमि में अधिक परिश्रम तथा पूँजी लगाएँगे तथा उसमें से अधिक लाभ उठाएँगे, तो इसमें उन्हीं को लाभ होगा क्योंकि उसी अंश में सरकार का भाग (लगान) तो बढ़ने का प्रश्न ही नहीं। लगान तो निश्चित ही था, चाहे जमींदार अपनी भूमि पर अधिक कृषि करे अथवा कम। स्थायी व्यवस्था के समय भूमि के बहुत से भाग वनों से युक्त थे तथा व्यवस्था के पश्चात् वे साफ कर दिए गए।

(३) कार्नवालिस ने सोचा कि बंगाल की स्थायी भूमि-व्यवस्था से एक आज्ञाकारी वर्ग बनने में वैसी ही सुविधा होगी जैसे कि बैंक आफ इंग्लैंड ने विलियम तथा मेरी के सम्बन्ध में बनाई थी। जमींदारों से, जिन्हें भूमि का स्वामी बनाया गया था, यह आशा की जाती थी कि वे अंग्रेजी कम्पनी के शासन की उनके प्रतिद्वन्द्वियों तथा विरोधियों से रक्षा करेंगे। आगे जाकर सन् '५७ के गदर में पता चला कि ये जमींदार ब्रिटिश सरकार के आज्ञाकारी रहे। इस बात में कुछ भी आश्चर्य नहीं, जैसे कि सेटन कार कहते हैं कि स्थायी व्यवस्था के राजनीतिक लाभ इसकी आर्थिक बुराइयों के समान थे।

(४) स्थायी व्यवस्था ने ब्रिटिश सरकार को लोकप्रियता तथा दृढ़ता की भावना प्रदान की और इस प्रकार इसने प्रान्त को भारत में सबसे अधिक स्वस्थ तथा सम्पन्न बनाने में सहायता प्रदान की।

(५) स्थायी व्यवस्था के कारण कम्पनी के योग्यतम कर्मचारी कानून विभाग के कार्यों के लिए मुक्त हो गए। पहले उन्हें प्रतिवर्ष अपना बहुत-सा समय सबसे अधिक बोली देने वाले व्यक्ति को लगान इकट्ठा करने के कार्य में लगाने तथा उस राशि को प्राप्त करने में लगाना पड़ता था।

(६) स्थायी व्यवस्था के कारण सामयिक तथा अस्थायी (कुछ समय के लिए) व्यवस्था के दोषों से बचने का अवसर मिल गया। उस अस्थायी व्यवस्था की अवधि कितनी ही लम्बी क्यों न हो, तथापि इससे आर्थिक गड़बड़, बचाव, धन का छिपाव, तथा भूमि का कृषि से जान बूझकर अलग करना आदि दुष्परिणाम हुए।

(७) यह सच है कि सरकार भविष्य में लगान की वृद्धि नहीं कर सकती थी, किन्तु इसे परोक्ष रूप से इससे लाभ हुआ। प्रजा के सम्पन्न होने के कारण सरकार को उन पर अन्य उपायों द्वारा कर लगाने से धन की प्राप्ति हुई।

(८) स्थायी भूमि कर सस्ता, समान तथा निश्चित होता है। इसके वे सभी लाभ हैं जैसा कि एडम स्मिथ ने अपनी कर सम्बन्धी व्याख्या में बताए हैं।

हानियाँ (Demerits)—(१) स्थायी व्यवस्था का जमींदारों पर सामयिक प्रभाव अत्यन्त हानिकारक हुआ। उनमें से बहुत से अपने मजदूर कृषकों से लगान प्राप्त न कर सके तथा परिणामस्वरूप सरकार को समय पर धन न चुका सके। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी भूमि बेच दी गई।

(२) आशा के विपरीत जमींदारों ने अपने भूमि-खण्डों के विकास में अधिक रुचि न ली। वे केवल एक अनुपस्थित भूस्वामी बन गए, जो कलकत्ता तथा जिले के केन्द्र नगरों

में रहते थे और जिनका निर्वाह कृषक मजदूरों से प्राप्त आय से होता था। यह बात ठीक ही कही गई है कि यद्यपि कार्नवालिस बंगाल में अंग्रेज जमींदारों का एक वर्ग बनाना चाहता था, किन्तु वास्तव में आयरलैंड के जमींदारों का एक वर्ग अस्तित्व में आ गया।

(३) स्थायी व्यवस्था ने काश्तकारों के अधिकारों की उपेक्षा की। उन्हें पूर्ण रूप से स्वामियों की दया पर छोड़ दिया गया, जो किसी भी समय उन्हें बेदखल कर सकते थे। जमींदार अपने किराएदारों से यथेच्छ धनराशि प्राप्त कर सकते थे। यह सत्य है कि कार्नवालिस ने यह नियम बना रखा था कि "जमींदारों को अपने किरायेदारों का एक रजिस्टर रखना चाहिए तथा उन्हें पट्टे देने चाहिएं। उनमें उन्हें जो किराया देना हो, उसका भी उल्लेख होना चाहिए और यदि कभी इन नियमों का उल्लंघन हो, तो किराएदार को दीवानी अदालत में उसके विरुद्ध होने वाली कार्रवाई के प्रतिकार का उपाय करना चाहिए" किन्तु दुर्भाग्य से इस प्रकार के रजिस्टर नहीं रखे गए तथा पट्टे भी कहीं कुछ थोड़े ही व्यक्तियों को दिए गए। दीवानी अदालतों से सुरक्षा प्राप्त करने की पद्धति अत्यन्त मँहगी थी, तथा निर्धन किराएदार यह अनुभव करते थे कि वे इससे लाभ नहीं उठा सकते। इस प्रकार की दुर्व्यवस्था उस समय तक जारी रही जब तक सरकार ने किरायेदारों को शरण न दी तथा तत्सम्बन्धी कानून स्वीकृत करके उनको सुरक्षा प्रदान कर दी।

(४) सरकार ने सदा के लिए अप्राप्त वृद्धि का अपना भाग खो दिया। घाटे का अनुमान लगभग ४½ करोड़ था।

(५) बंगाल में १८९३ तक भूमि सम्बन्धी रिकार्ड नहीं थे तथा परिणामस्वरूप जमींदारों तथा मुज़ेरों में खर्चीली मुकद्दमेबाज़ी चलती रही।

सेटन कार अपनी आलोचना इस प्रकार संक्षिप्त रूप से लिखता है—"स्थायी व्यवस्था से जमींदारों के हितों की आंशिक सुरक्षा हुई। मुज़ेरों की सुरक्षा स्थगित कर दी गई तथा राज्य के हितों को स्थायी रूप से बलिदान कर दिया गया।" पी० ई० राबर्ट्स के अनुसार, "यदि स्थायी व्यवस्था अन्य दस अथवा बीस वर्षों के लिए स्थगित कर दी जाती, तो भूमि की क्षमता अच्छी प्रकार से निश्चित की जा सकती। कार्नवालिस बहुत-सी भूलों तथा अनियमित कार्रवाइयों से बच सकता था तथा सुधार किए जा सकते थे यदि इतने विस्तृत विषय के सम्बन्ध में योग्यतर अफसरों का एक वर्ग प्रशिक्षित किया जा सकता।"

कार्नवालिस ने हेस्टिंग्ज़ के कार्य को पूरा किया (Cornwallis completed the work of Hastings)—डा० एस०पी० नाल ने ठीक ही कहा है कि कार्नवालिस के कार्य के सम्बन्ध में यह अतिशयोक्ति अथवा भ्रमपूर्ण नहीं है कि उसने वह कार्य पूरा किया जिसे हेस्टिंग्ज़ ने आरम्भ किया था। १७७२ में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के द्वैधशासन को हटा दिया था, जिसे लार्ड क्लाइव ने १७६५ में स्थापित किया था। कार्नवालिस के न्याय-सम्बन्धी तथा पुलिस के सुधारों ने उस वैधानिक परिवर्तन को पूर्ण कर दिया।

वारेन हेस्टिंग्ज़ इस परिणाम पर पहुँचा था कि कम्पनी के कर्मचारी तब तक अपने कार्य में दयानतदार नहीं हो सकते जब तक उनके वेतन बढ़ा न दिए जाएं तथा जब तक उनके निजी व्यापार को बन्द न कर दिया जाए। १७७४ में उसने सर्वोच्च कौंसिल के

सदस्यों के व्यापार करने पर रोक लगा दी थी तथा कमीशन के रूप में उनकी आय में वृद्धि कर दी थी। १७८१ में उसने माल विभाग के सदस्यों के लिए निश्चित वेतन-क्रम को आरम्भ किया तथा कमीशन के रूप में उसकी आय का एक प्रतिशत देना भी स्वीकार किया। कार्नवालिस को इस सम्बन्ध में एक पग और आगे बढ़ने में भी सफलता प्राप्त हो गई। उसने सभी उच्च कर्मचारियों के लिए अच्छे वेतन-स्तर तथा भत्तों की सुविधा प्रदान की, किन्तु निजी व्यापार की रोक के सम्बन्ध में वह सभी अधिकारियों को पूर्ण रूप से रोकने में सफल न हो सका।

वारेन हेस्टिंग्ज़ ने यह अनुभव कर लिया था कि उन भारतीय अफसरों के हाथ में अधिकार देना खतरे से खाली नहीं, जो रिश्वत लेने के आदी हैं। उसने कलैक्टर को ज़िला फौजदारी अदालत का व्यवस्थापक बना दिया था। अंग्रेज़ न्यायाधीशों के स्थान पर भारतीय न्यायाधीशों को नियुक्त करना अगला पग था। वारेन हेस्टिंग्ज़ द्वारा भारतीय मैजिस्ट्रेटों की नियुक्ति का प्रयोग, जिनका कार्य फुटकर पुलिस का निरीक्षण करना, तथा विचाराधीन कैदियों की गिरफ्तारी तथा न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करना था, सफल नहीं हुआ। परिणामस्वरूप वारेन हेस्टिंग्ज़ ने इन पदों को तोड़ दिया। ऐसा करते हुए उसने दीवानी अदालतों के न्यायाधीशों को मजिस्ट्रेटों के अधिकार दे दिये।

लगान विभाग को दीवानी अधिकारों से अलग करने का जो कार्य कार्नवालिस ने किया था, उसे वारेन हेस्टिंग्ज पहले ही देख चुका था जिसने इस प्रकार का परिवर्तन करना १७८० में ही आरम्भ कर दिया था। उसने जो न्याधाधीश नई दीवानी अदालतों के लिए नियुक्त किए वे माल-विभाग से बिल्कुल सम्बन्ध न रखते थे। कार्य का बंटवारा एकांगी ही था, क्योंकि कलैक्टरों को अभी तक इस बात का अधिकार था कि वे माल विभाग के मुकद्दमों का निर्णय कर सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि दीवानी न्यायाधीशों तथा कलैक्टरों के कार्यक्षेत्रों में लगातार संघर्ष रहता था। सम्भव है कि यदि वारेन हेस्टिंग्ज़ भारत में कुछ देर और कार्य करता, तो वह भी स्थिति में वैसे ही सुधार करता जैसे कार्नवालिस ने १७९३ में किये।

मुस्लिम कानून के स्थान पर अंग्रेजी फौजदारी कानून को बदलने के सम्बन्ध में कार्नवालिस वारेन हेस्टिंग्ज से कुछ ही आगे बढ़ा। हेस्टिंग्ज़ का यह विचार था कि जब तक बंगाल का संविधान "अंग्रेजी संविधान के समान पूर्ण न हो, तब तक अंग्रेजी संविधान से ऐसा कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता, जिसे इस देश की स्थिति तथा स्वभाव पद्धति के अनुसार ठीक प्रकार से लागू किया जा सके।" वारेन हेस्टिंग्ज ने केवल यही व्यवस्था सम्बन्धी परिवर्तन किया था कि डाकुओं तथा उनके परिवारों को कड़ा दण्ड दिया जाए। बहुत से मामलों में उच्चतम न्यायालय ने मुस्लिम कानून के अनुसार निश्चित निर्धारित दण्ड को बदलने के लिए हस्तक्षेप किया। निस्सन्देह कार्नवालिस ने वारेन हेस्टिंग्ज़ की अपेक्षा अधिक व्यवस्था सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग किया। तथापि वह मुस्लिम फौजदारी कानून में सावधान था। यद्यपि इंग्लैण्ड के फौजदारी कानून की मुख्यता के सम्बन्ध में उसके विचार अत्यन्त दृढ़ थे, उसने मुस्लिम फौजदारी कानून में अधिक परिवर्तन नहीं किए। सामान्य रूप से जो काम हेस्टिंग्ज ने आरम्भ किया, उसे ही कार्नवालिस ने जारी रखा। उसे अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा कम हस्तक्षेप, आलोचना तथा बाधा का सामना करना पड़ा।

लार्ड कार्नवालिस की दीवानी पद्धति उससे पूर्व की उन पद्धतियों पर आधारित थी, जिसका संग्रह वारेन हेस्टिंग्ज़ तथा सर एलिजाह इम्पे ने किया था तथा जिसके लिए सर जेम्स स्टीफ़न ने भी प्रशंसा के शब्द कहे थे।

इन्हीं कारणों से ऐसा कहा जाता है कि यदि नागरिक शासन की नींव वारेन हेस्टिंग्ज़ ने रखी, तो उसका ढाँचा लार्ड कार्नवालिस ने खड़ा किया।

लार्ड कर्जन के कथनानुसार, लार्ड कार्नवालिस एक सामान्य योग्यता वाला व्यक्ति था, उसका चरित्र शुद्ध था। व्यवहार-कुशलता पर्याप्त मात्रा में थी तथा कर्त्तव्य के प्रति अतिमानव एवं न थकने वाली लगन थी। इसका भारतीय प्रशासन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। कार्नवालिस उन व्यक्तियों में से एक था जिन पर सरकार अपने कार्य को स्पष्ट रूप से कुशलतापूर्वक करने के लिए निर्भर कर सकती है। बीस वर्षों के लिए उसने एक ऐसे व्यक्ति के रूप में कार्य किया, जिसने मन्त्रिमण्डलों के अव्यवस्थापूर्ण कार्यों को सुदृढ़ नींव पर रखा। यहाँ तक कि उसकी असफलताएँ भी उसके विरुद्ध प्रभावी न हो सकीं। यार्कटाउन की पराजय के कारण उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई न की गई, बल्कि उसे अन्य ऊंचा पद प्राप्त हुआ। बीस वर्षों के पश्चात् एमियन की सन्धि, जिसके सम्बन्ध में वार्तालाप करने के लिए कार्नवालिस भेजा गया था, हस्ताक्षर होने के बाद पुरानी प्रमाणित हो गई किन्तु किसी ने भी उसके सूत्रधार को दोषी करार नहीं दिया। सदैव इसी बात का अनुभव किया गया कि कार्नवालिस ने दयानतदारी से तथा उचित व्यवहारकुशलता से अपने कर्त्तव्य का पालन किया। उसके सम्मुख सदैव देश के प्रति सम्मान की भावना रही। वह कभी किसी प्रकार की हीन भावना से प्रेरित नहीं हुआ। इस प्रकार, प्रतिभा के सम्बन्ध में उसमें किसी प्रकार का छल का भाव नहीं था तथा वह अपने सामान्य आध्यात्मिक गुणों के कारण ब्रिटेन की आन्तरिक तथा विदेशी नौकरी में एक पद से दूसरे पद पर कार्य करता रहा। ऐसा समझा गया कि वह अपने प्रत्येक पद अथवा कार्य में सफल रहा। (भारत में ब्रिटिश राज्य, प्रथम भाग--पृ० १६६-६७)

"कार्नवालिस का प्रशासन कार्य, जिसकी अवधि में सात वर्षों की लगातार वृद्धि की गई, इतना होने पर भी कि वह बार-बार वापस जाने की इच्छा प्रकट करता रहा, उसके अनेक आन्तरिक सुधारों के कारण उल्लेखनीय है। इन सुधारों के सम्बन्ध में उसने ऐसे साहस से कार्य किया, जिसकी प्रशंसा करने की अधिक आवश्यकता नहीं। उसने शासकीय भ्रष्टाचार तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध कार्रवाई की, जो सरकारी नौकरी में अब भी व्यवहार में आते थे। उसने क्लाइव के उस भूले हुए मार्ग पर पग बढ़ाया जिसके अनुसार लेखकों को अच्छे वेतन देने की व्यवस्था की गई तथा जिससे उन्हें इस प्रकार के भ्रष्टाचार में पड़ने की आवश्यकता ही न पड़े। दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों में सुधार किए गए तथा सैनिक नौकरियों में अयोग्यता के विरुद्ध सख्त कार्रवाई की गई। इनमें अयोग्यता काफी सीमा तक बढ़ गई थी। बंगाल की स्थायी भूमि-व्यवस्था के साथ कार्नवालिस का नाम सम्बद्ध है, किन्तु वह वास्तव में उसके नागरिक परामर्शदाताओं का कार्य था, जिनमें से योग्यतम व्यक्ति सर जान शोर था। उसने भूमि-व्यवस्था के सम्बन्ध में दस वर्षों की अवधि का सुझाव दिया था जो दुर्भाग्यवश स्वीकार न किया जा सका। उक्त भूमि-व्यवस्था की प्रणाली को अब एक भूल समझा जाता है तथा इसे अन्य किसी प्रान्त में भी

प्रयोग में नहीं लाया गया। कार्नवालिस की सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता उसका निर्भीकतापूर्ण साहस था, जिसके कारण उसने शासकीय भ्रष्टाचार का सब प्रकार से विरोध किया तथा उसने लन्दन के सर्वाधिक उच्च तथा महत्त्वपूर्ण सूत्रों द्वारा डाले गए निर्लज्ज दबाव को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इन सूत्रों में प्रिंस ग्राफ़ वेल्ज़ भी सम्मिलित हैं। सर जान शोर ने उसके सम्बन्ध में लिखा, "वह अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ था। वह दयावान, सुशील, मिलनसार, अच्छे स्वभाव वाला, न्यायशील तथा व्यवहारकुशल था। जब उसने कार्यभार सम्भाला, तब उसका कार्य कठिनाइयों तथा असुविधाओं से पूर्ण था, किन्तु अब उसे अपने कार्यों में उत्साह, सचाई तथा पूर्ण व्यवहार-कुशलता के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।"

कार्नवालिस के चरित्र के अध्ययन तथा उसके प्रशसान-कार्य के सर्वेक्षण से हम पर उस सेवा का अत्यधिक अच्छा प्रभाव पड़ता है, जो प्राच्य पराधीनता की स्थिति में की जा सकती है अथवा जो निस्सन्देह किसी भी अवसर पर उद्देश्य की स्पष्ट दयानतदारी की भावना, पूर्ण निःस्वार्थपरायणता, कर्त्तव्य के प्रति पूर्णनिष्ठा से की जा सकती है। कार्नवालिस ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया तथा न ही उसके लिए प्रयत्न किया जो असाधारण हो, किन्तु उसने अपनी ओर से कार्यों को और भी अच्छा बनाने के सम्बन्ध में पूर्ण प्रयत्न किया। इसके साथ ही उसने प्रत्येक कार्य में सन्तोष तथा दृढ़ता की एक भावना को व्याप्त करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया।

सर जान शोर, १७९३-९८ (Sir John Shore)—यह बात सत्य है कि लार्ड कार्नवालिस अंग्रेजी कम्पनी के किसी गैर फौजी अधिकारी के बंगाल के गवर्नर-जनरल के रूप में नियुक्ति का विरोधी था, किन्तु जब १७९३ में कार्नवालिस भारत से विदा हुआ, तब उसके स्थान पर सर जान शोर ने कार्यभार सम्भाला। वह सर्वोच्च कौंसिल का वरिष्ठ सदस्य तथा भूमिसुधार के सम्बन्ध में उसके साथ घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्ध रखता था। अपने कार्य-काल में सर जान शोर ने पिट के भारतीय कानून में निर्दिष्ट तटस्थता की नीति का पालन किया। इस नीति का पालन इतनी कठोरता से किया गया कि इससे भारत में अंग्रेजी कम्पनी के सम्मान को धक्का लगा। सर जान मैल्कम के शब्दों में "यह बात इस व्यवस्था की घटनाओं से प्रमाणित हो गई कि राजनीतिक लाभ का कोई स्थान नहीं छोड़ा जा सकता, जब तक कि वह लगातार किसी शत्रु द्वारा हस्तगत न हो तथा प्रभाव छोड़ने का अभिप्राय शक्ति का परित्याग नहीं, अपितु उस शक्ति को अंग्रेजी सरकार के विरोधी हाथों में जाने देना है।" सर जान के समय की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना मराठों का निज़ाम पर आक्रमण तथा १७९५ में खारदा के युद्ध में निज़ाम की पराजय थी। निज़ाम ने अंग्रेजों से सहायता माँगी, किन्तु सर जान शोर ने इस आधार पर ऐसा करने से इनकार कर दिया कि इससे भारतीय रियासतों के आन्तरिक मामलों में अंग्रेजी कम्पनी के फँसने की आशंका थी। इस व्यवहार से निज़ाम असन्तुष्ट हो गया और उसे मराठों की अपमानजनक शर्तों को स्वीकार करना पड़ा। किन्तु बाद में निज़ाम अपनी स्थिति दृढ़ करने में सफल हो गया क्योंकि मराठों में परस्पर फूट थी। कुल मिलाकर निज़ाम को अधिक हानि न हुई तो भी निज़ाम मन में अंग्रेजों के इस व्यवहार को भूल न सका और न ही वह उन्हें क्षमा कर सका।

सर जान शोर ने अवध के मामलों में हस्तक्षेप किया। नवाब की १७९७ में मृत्यु हुई। उसके स्थान पर उसका एक अयोग्य पुत्र राज्यगद्दी पर आरूढ़ हुआ। आरम्भ में सर जान शोर ने उसके उत्तराधिकार को स्वीकार कर लिया किन्तु जब उसे पता चला कि वह एक दासी का पुत्र है, तो उसने अपने निर्णय में परिवर्तन कर दिया तथा उसके स्थान पर स्वर्गीय नवाब के एक भाई को गद्दी पर बिठाया। उसने नए नवाब के साथ एक सन्धि की। इस नई सन्धि के अनुसार अवध की सुरक्षा का भार अंग्रेज कम्पनी पर आ गया। नवाब ने ७६ लाख की वार्षिक रकम देनी स्वीकार की। उसने इलाहाबाद का किला भी अंग्रेजी कम्पनी को दे दिया। उसने इस बात का वचन दे दिया कि वह किसी विदेशी राज्य के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध तथा पत्र-व्यवहार आदि नहीं रखेगा। यह सन्धि सम्भवतः काबुल के ज़मानशाह के आक्रमण की आशंका से की गई, जो उस समय पंजाब में था।

१७९५ में बंगाल के यूरोपीय अफसरों ने भयानक विद्रोह कर दिया। वे शासन पर अपना अधिकार करना चाहते थे। स्थिति इतनी गम्भीर थी कि सर जान शोर को विद्रोहियों के साथ बहुत सी रियायतें करनी पड़ीं। स्थिति को सम्भालने में असफल होने के कारण सर जान को १७९८ में वापिस बुला लिया गया तथा उसके स्थान पर लार्ड वैल्ज़ली गवर्नर-जनरल बने।

लार्ड कर्ज़न के मतानुसार, "यह नहीं कहा जा सकता कि अपने पाँच वर्षों के शासन-काल में शोर ने कोई विशेष अथवा असाधारण कार्य किया।" वह एक विशेष ढंग का तथा सर्वश्रेष्ठ सरकारी अफसर था। वह एक राजस्व विशेषज्ञ, सरल स्वभाव, मन्द-बुद्धि, प्रतिष्ठित, मिलनसार व्यक्ति था, जो सब प्रकार के प्रदर्शन से घृणा करता था। वह शान्तिप्रिय तथा कम व्यय पसन्द करने वाला था। वह अत्यधिक धार्मिक तथा पवित्र था। वह रविवार को कार्य करने से इनकार कर देता था, यद्यपि गिरजाघर की प्रार्थना में वह सम्मिलित न भी रहा हो। अन्त में उसने इंग्लैंड लौटने पर क्लाफिन सम्प्रदाय में प्रवेश कर लिया। जैसा कि मेजर टूने ने—जो हेस्टिंग्ज़ के अङ्ग-रक्षकों में से एक था—कहा था, "एक भला व्यक्ति, किन्तु ग्रे हाउण्ड कुत्ते की नाक के समान कठोर।" शोर में एक विद्वान की सी रुचि थी। वह उर्दू, फारसी तथा अरबी का ज्ञाता था। उसने लैटिन में डायरी लिखी। उसने अपना ग्रीक भाषा का ज्ञान बनाए रखा तथा उसने १८वीं शताब्दी के ढंग के सामान्य पद्य लिखे तथा अनुवाद किए। जब तक वह भारत में रहा, उसका स्वास्थ्य अच्छा न रहा तथा सदैव पत्नी तथा परिवार की अनुपस्थिति के कारण क्रुद्ध रहता था।

कम व्यय के सम्बन्ध में शोर के विचार अत्यन्त दृढ़ थे तथा इनके कारण वह हेस्टिंग्ज़ के शासन-काल का कठोर आलोचक था। वह फ्रांसिस दल अथवा विरोधी दल का लोकप्रिय सदस्य समझा जाता था। इसके बाद हेस्टिंग्ज़ ने अपनी व्यक्तिगत घनिष्ठता से उसको अपने पक्ष में कर लिया। विशेष रूप से उसके इंग्लैंड लौटने पर। उसके इस प्रकार के विचार-परिवर्तन के कारण विलियम हिके को अपने संस्मरणों में यह लिखना पड़ा, "मि० जान शोर अकस्मात् तथा बिना किसी कारण के हेस्टिंग्ज़ के दृढ़ विरोधी तथा पुराने शत्रु के स्थान पर उसका घनिष्ठ मित्र बन गया।" (भारत का ब्रिटिश शासन, प्रथम भाग, पृ० १७१-१७२)

Questions for Revision

1. "A very great blunder as well as gross injustice was committed when a settlement was made with the Zamindars alone and rights of property every bit as good as theirs were ignored." How far is this a just criticism of Lord Cornwallis' Permanent Settlement ?

2. "Upon this famous Permanent Settlement historians have passed diametrically opposite judgments." Discuss.

3. "The Permanent Settlement, in contrast to the chaotic system which it supplanted, had many fairly obvious advantages." Discuss.

4. "He (Cornwallis) committed himself to a policy, which in regard to the three interested parties—the Zamindar, the Ryot, and the Ruling Power—assured the welfare of the first, somewhat, postponed the claims of the second, and sacrificed the interests of the third." Discuss.

5. "The Permanent Settlement disappointed many expectations and produced several results that were not anticipated." (Baden Powell). Discuss.

6. Give some account of the development of the judicial system of Bengal till the time of Lord Cornwallis.

7. "If the foundation of civil administration had been laid by Warren Hastings, the structure was raised by Lord Cornwallis." Discuss the statement noting what reforms were carried out by Warren Hastings and what by Cornwallis.

8. "It must remain the verdict of history that Cornwallis merely developed under happier auspices what Warren Hastings had begun, that in that part of this policy which was his own, he embarked from the false premises that reform in India meant making it like the England of his ideals; and that he made serious and abiding mistakes from the best of motives in the world." Discuss.

9. "It may be said that in so far as the Pitt's India Act, and Cornwallis as its executor, departed from the principles of Warren Hastings, experience has proved that they were wrong." Comment.

10. What you understand by the policy of Non-Intervention ? At what periods and with what result was this policy adopted ?

11. Estimate the relative value of the contributions of Clive, Warren Hastings and Cornwallis to the evolution of British Indian administration.

12. "Lord Cornwallis was a public servant who upheld national and not private traditions. His service was to the Crown and the people whom he governed, and he thus embodied fitly the new spirit of Indian rule." (Dodwell). Discuss it with reference to his principal measures.

अध्याय ७

लार्ड वैल्ज़ली (१७९८-१८०५)

(Lord Wellesley)

लार्ड वैल्ज़ली ३७ वर्ष की आयु में बंगाल का गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। वह भारतवर्ष के महत्तम अंग्रेज शासकों में से एक था। उसकी तुलना में यदि कोई अन्य व्यक्ति ठहर सकते हैं तो वे हैं लार्ड क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्ज़ तथा डलहौज़ी। वास्तविक उद्देश्य प्राप्ति में वह सबसे आगे निकल गया।

१७९८ में भारत की अवस्था (Condition of India in 1798)—जब लार्ड वैल्ज़ली भारत में गवर्नर-जनरल के रूप में आया, तब भारत की अवस्था अत्यन्त गम्भीर थी। निज़ाम इसलिए क्रुद्ध था क्योंकि सर जान शोर के समय में मराठों द्वारा आक्रमण किए जाने पर अंग्रेजी कम्पनी ने उसकी सहायता नहीं की थी। वह रेमाण्ड नामक फ्रांसीसी अफसर के अधीन नियमित फौजी टुकड़ियों को संगठित तथा प्रशिक्षित कर रहा था। अंग्रेजी कम्पनी के साथ मित्रता अथवा समझौता करने के सम्बन्ध में वह उदासीन था। मरहठे भी निज़ाम पर विजय प्राप्त करने के कारण अपने आपको प्रमुख समझने लग गए थे। उनके साधन विस्तृत थे तथा वास्तव में वे ही सम्पूर्ण मध्य भारत पर नियन्त्रण कर रहे थे। सिन्धिया के पास भी शक्तिशाली सेना थी, जिसकी कमान तथा शिक्षा पेरोन नामक एक फ्रांसीसी के हाथ में थी। निस्सन्देह भारतीय रियासतों में महत्त्वपूर्ण स्थानों पर फ्रांसीसी अधिकारियों का कार्य करना अंग्रेज़ कम्पनी के लिए वास्तविक खतरे का एक मूल कारण था। सुलतान टीपू भी अभी लार्ड कार्नवालिस के द्वारा किए गए उस अपमान को नहीं भूला था, जिसके द्वारा उसे अपना आधा प्रदेश छोड़ना पड़ा; साथ ही क्षतिपूर्ति के रूप में धनराशि तथा दो पुत्रों को अंग्रेजों के सुपुर्द करना पड़ा था। वह अंग्रेजी कम्पनी का वास्तविक शत्रु था और प्रकट रूप से था। वह मारिशस तथा रीयूनियन के फ्रांसीसी गवर्नर से परामर्श कर रहा था। अपने फौजियों के प्रशिक्षण के लिए उसने फ्रांसीसी अफसर नियुक्त कर रखे थे। नैपोलियन के आक्रमण का खतरा था। वह पूर्व के मार्ग से आगे बढ़ रहा था।

इस प्रकार देश की राजनीतिक स्थिति ठीक नहीं थी। अंग्रेजी कम्पनी के पास पर्याप्त साधन-सामग्री नहीं थी। अब यह लार्ड वैल्ज़ली की बुद्धि, वीरता तथा कार्यकुशलता पर निर्भर करता था कि वह स्थिति को ठीक प्रकार से सम्भाले। अगले सात वर्षों में लार्ड वैल्ज़ली अंग्रेजी कम्पनी के शत्रुओं को पराजित करने तथा झुकाने में सफल रहा। उनमें से कई लोगों ने तो बिना किसी प्रयत्न के ही घुटने टेक दिए। इससे पूर्व वह अपने कार्य को समाप्त कर सकता, उसे त्यागपत्र देना पड़ा।

एक बात जो यहाँ लार्ड वैल्ज़ली के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है, वह यह है कि जब वह भारत आया तो उसने अनुभव किया कि हस्तक्षेप न करने की नीति बिल्कुल व्यावहारिक नहीं है। इसका कारण भारत की राजनीतिक अवस्था थी। किसी शक्तिशाली

बड़ी शक्ति की अनुपस्थिति में प्रत्येक राज्य अपनी इच्छानुसार कार्य करता था। शान्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई भी आश्वासन नहीं दे सकता था। उन दिनों ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण शक्ति नहीं थी, जिसके प्रति कोई शक्ति अथवा राज्य शिकायत अथवा आवश्यकता होने पर सहायता की प्रार्थना कर सकता। इन परिस्थितियों में लार्ड वैल्ज़ली इस परिणाम पर पहुँचा कि या तो अंग्रेजी कम्पनी देश में प्रभुत्वशाली शक्ति बने अथवा देश को छोड़ दे और कोई मध्यमार्ग नहीं था। उसके मन में यह विश्वास प्रबल था।

सहायक प्रणाली (Subsidiary System)—लार्ड वैल्ज़ली का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि उसने बहुत सी भारतीय रियासतों के साथ ऐसे समझौते कर लिये जिससे सहायक प्रणाली को कार्य रूप में परिणत किया जा सके। इस प्रकार वह इस योग्य हुआ कि अंग्रेजी कम्पनी की साधन सामग्री में वृद्धि कर सके, विदेशियों को भारतीय रियासतों से निकाल सके तथा भारतीय रियासतों के मामलों में अंग्रेजी कम्पनी को पंच की स्थिति प्रदान कर सके। फिर भी यह कहना ग़लत है कि लार्ड वैल्जली सहायक प्रणाली का जन्मदाता था।

सर अलफ्रैड लायल के अनुसार, सहायक प्रणाली के विकास की चार अवस्थाएँ थीं। आरम्भ में अंग्रेजी कम्पनी कुछ भारतीय नरेशों को कुछ फौजी सहायता देकर अपने को सन्तुष्ट कर लेती थी। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने ऐसा ही किया था। रुहेलों के विरुद्ध उसने अवध के नवाब को अंग्रेजी फौजें दी थीं। दूसरी अवस्था तब उपस्थित हुई, जब अंग्रेजी कम्पनी अपनी इच्छा से किसी युद्ध में सम्मिलित हुई। ऐसा प्रायः तब होता था, जब कोई भारतीय नरेश अकेला किसी कार्य को नहीं कर सकता था, तब अंग्रेजी कम्पनी उस भारतीय नरेश की फौजों की सहायता से कार्रवाई करती थी। तीसरी अवस्था में अंग्रेजी कम्पनी किसी रियासत के शासक से रुपये की माँग करती थी, जिससे कि उस राज्य की सुरक्षा के लिए फौजें रखी जा सकें। इस प्रकार की सन्धि सर जान शोर ने अवध के नवाब से १७९७ में की थी। नवाब ने ७६ लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार कर लिया था। इसी प्रकार की सन्धि लार्ड वैल्ज़ली ने निज़ाम के साथ की।

अंग्रेजी कम्पनी भारतीय नरेशों द्वारा दी जाने वाली धन-सम्बन्धी सहायता से सन्तुष्ट न थी। कई हालतों में धनराशि मिलने में बहुत-सी अनियमितताएँ देखने में आती थीं, जिन पर कम्पनी को निर्भर करना पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी कम्पनी ने किसी अन्य प्रकार की सहायक प्रणाली का विचार किया, जिसके अनुसार रियासत अपने प्रदेश का एक भाग कम्पनी को दे दे, जिससे कि उससे प्राप्त आय के आधार पर फौजें रखी जा सकें।

यह ठीक ही है कि पहले अंग्रेजों ने ही इस सहायक प्रणाली को नहीं चलाया था। रानाडे के अनुसार, "सहायक प्रणाली का विचार एक प्रकार से मरहठों के नेता की उस विचार की संगठित पुनरावृत्ति थी, जो लगभग १०० वर्ष पूर्व चालू की गई थी। यह प्रणाली दिल्ली सरकार से चौथ और सर-देशमुखी प्राप्त करने के सम्बन्ध में थी।" कुछ लेखक इसका श्रेय फ्रांसीसियों को देते हैं। यह कहा जाता है कि डूप्ले आदि लोगों ने पहले पहल भारतीय नरेशों को रुपये अथवा किसी अन्य पुरस्कार के लिए सहायता देने की प्रणाली चलाई थी। तथापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि लार्ड वैल्ज़ली ने ही इस

सहायक प्रणाली को पूर्णता प्रदान की।

इस सहायक प्रणाली के अधीन जो शासक इस प्रकार के सहायक समझौते में सम्मिलित होता था, उसे अंग्रेजी कम्पनी को फौजी दस्ते रखने के लिए या तो रुपये देने पड़ते थे अथवा अपना युद्ध-प्रदेश अर्पण करना पड़ता था। उसे यह बात भी स्वीकार करनी पड़ती थी कि किसी विदेशी राज्य के साथ बातचीत अंग्रेजी कम्पनी द्वारा ही करनी होगी। उसे उनके साथ सीधे पत्र-व्यवहार अथवा सम्बन्ध रखने की अनुमति नहीं होगी। यदि शासक को किसी अन्य रियासत के शासक के साथ किसी प्रकार का मतभेद हो तो उसे अंग्रेजी कम्पनी को मध्यस्थ मानना होगा। उसे अपनी रियासत से उन सब यूरोपवासियों को निकालना होगा, जो अंग्रेज़ न हों, चाहे वे फौज में कार्य कर रहे हों अथवा नागरिक शासन-व्यवस्था में। अंग्रेजी कम्पनी उस रियासत की रक्षा बाहरी आक्रमण अथवा आन्तरिक संकट से करेगी। यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश सुरक्षा के बदले में सहायता-प्राप्त रियासत को अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता अर्पण करनी होती थी।

इस प्रणाली के लाभ (Merits of the System)—(१) इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सहायक प्रणाली ने अंग्रेजी कम्पनी की साधन-सामग्री में वृद्धि कर दी और आंशिक रूप से इसी साधन-सामग्री के कारण ही देश में अंग्रेजो कम्पनी अपनी महान् शक्ति की स्थापना कर सकी। जो भारतीय रियासतें इस प्रकार के समझौते करती थीं, वे निश्चित धनराशि अथवा कुछ प्रदेश देती थीं, जिनकी आय से अंग्रेजी कम्पनी फौजें रख सके। उन फौजों को सदा अंग्रेजी कम्पनी के इशारे पर काम करना पड़ता था। इस का परिणाम यह होता था कि यद्यपि वाह्य रूप से वे फौजें भारतीय रियासतों के धन से उनकी रक्षा के लिए रखी जाती थीं, किन्तु वास्तव में वे अंग्रेजी कम्पनी की ही शक्ति को बढ़ाती थीं। यह बात सर्वविदित है कि निज़ाम लार्ड वैल्ज़ली के समय इस प्रकार की प्रणाली में सम्मिलित हुआ। उस धन से, जो उससे प्राप्त हुआ, एक फौज रखी गई तथा सर आर्थर वैल्ज़ली की कमान में रखी गई। उस फौज का उपयोग उन कई लड़ाइयों अथवा आक्रमणों में किया गया, जिनमें लार्ड वैल्ज़ली ने भाग लिया।

(२) इस सहायक प्रणाली के समझौतों के कारण अंग्रेजी कम्पनी को ऐसा अवसर प्राप्त हुआ कि वह अपने राजनीतिक उद्देश्यों को सैनिक शक्ति द्वारा पुष्ट कर सके। यद्यपि अंग्रेजी कम्पनी पर इस पद्धति में सम्मिलित होने वाली रियासतों के राज्य का प्रशासन-भार नहीं था, तथापि इसका प्रभाव बढ़ता था।

(३) युद्ध के दोष अंग्रेजी कम्पनी से दूर रहे। अंग्रेजी कम्पनी के क्षत्रों में किसी प्रकार का कष्ट उपस्थित न होता था क्योंकि अधिकतर युद्ध उन्हीं रियासतों की सीमाओं में होते थे, जो इस प्रकार के सहायता वाले समझौतों में सम्मिलित होती थीं।

(४) इस प्रकार की सहायता के समझौतों की प्रणाली से अन्य यूरोपीय जातियों में किसी प्रकार के ईर्ष्याद्वेष की भावना उत्पन्न नहीं होती थी। इसका यह कारण था कि प्रकट रूप से रियासतों की स्वतन्त्रता स्थिर रखी जाती थी।

(५) अंग्रेजी कम्पनी भारतीय रियासतों को फ्रांसीसियों के प्रभाव से अलग रखने में समर्थ हो गई। जब कभी एक रियासत किसी सहायक समझौते में प्रविष्ट होती, तब

शासक को उन सभी यूरोपवासियों को रियासत से निकालना पड़ जाता, जो अंग्रेज नहीं होते थे।

इस प्रणाली के दोष (Demerits of the system)–(१) इस प्रणाली का एक बड़ा दोष यह था कि भारतीय रियासतों के शासकों से जिस धनराशि की माँग की जाती थी, वह उनके साधनों से बहुत अधिक होती थी। इसका परिणाम यह होता था कि भारतीय रियासतों के शासक कम्पनी को रुपया दे देते थे, किन्तु इसके लिए जनता की भलाई तक की उन्हें उपेक्षा करनी पड़ती थी। रुपया इकट्ठा करने के लिए सब प्रकार के उपाय काम में लाए जाते थ जिससे कि कम्पनी को उस रियासत से इलाका मांगने का बहाना न मिल जाए। तो भी कुछ ऐसी अवस्थाओं में भी जहाँ नियमित रूप से धनराशि चुकाई जा रही थी, अंग्रेजी कम्पनी ने शासक को इस बात के लिए विवश किया कि वह फौज रखने के लिए कुछ भूमि दे। ऐसा व्यवहार लार्ड वैल्ज़ली ने अवध के नवाब के साथ किया जब उसने उसे विवश कर दिया कि वह कम्पनी की फौजों को रखने के लिए गोरखपुर, रुहेलखण्ड तथा द्वाब के प्रदेश दे।

(२) सहायक प्रणाली का परिणाम यह हुआ कि सुरक्षित रियासतों की आंतरिक व्यवस्था नष्ट होने लगी। इससे शासक नरेशों के कार्य करने की कुशलता नष्ट हो गई। इससे वे अंग्रेजी कम्पनी पर निर्भर हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय नरेश इस आश्वासन पर पाप तथा रिश्वत के जीवन बिताने लगे कि संकट के समय में अंग्रेजी कम्पनी उनकी सदा सहायता करेगी। रियासतों के लोगों को क्रान्ति करने के स्वाभाविक साधनों से वंचित रखा गया। यदि वे कभी अपने रिश्वतखोर शासक के विरुद्ध विद्रोह का साहस भी करते, तो भी उन्हें सफलता प्राप्ति की कोई आशा न थी।

(३) कम्पनी के डायरेक्टरों ने इस प्रणाली को स्वीकृत न किया क्योंकि इससे भारतीय रियासतों में अंग्रेजी कम्पनी के विरुद्ध ईर्ष्याद्वेष की भावना उत्पन्न हो गई। इसके साथ ही डायरेक्टर प्रदेशों को मिलाने के विरुद्ध थे।

कुल मिलाकर इस सहायक प्रणाली के समझौतों द्वारा अंग्रेजी कम्पनी को इस सम्बन्ध में सहायता दी गई कि वे अपनी बाधाओं को पार कर सकें तथा देश में एक महान् शक्ति के रूप में प्रकट हों।

मैसूर का चौथा युद्ध, १७९९ (Fourth Mysore War)––यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि सुलतान टीपू कार्नवालिस द्वारा किए गए अपमानजनक व्यवहार को नहीं भूला था। वह अपना बदला लेने के लिए दृढ़-संकल्प था। उसने अपने दूतों को काबुल, कुस्तुन्तुनिया, अरब तथा मारिशस भेजा। सुलतान ने श्रृंगपट्टम में स्वतन्त्रता का बीज बोया। वह फ्रांस के जैकोबिन क्लब का सदस्य निर्वाचित हुआ। उसने नैपोलियन के साथ पत्र-व्यवहार करने का प्रयत्न किया, जो उस समय मिस्र में था। फ्रांसीसी जनरल उसकी फौजों को प्रशिक्षित कर रहे थे। स्थिति गम्भीर थी तथा लार्ड वैल्ज़ली ने शीघ्र ही निश्चय कर लिया कि वह डट कर स्थिति का सामना करेगा।

टीपू के विरुद्ध कार्रवाई करने से पूर्व वैल्ज़ली ने निज़ाम तथा मरहठों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया तथा निज़ाम को पक्ष में करने में सफल हो गया। निज़ाम ने सितम्बर १७९८ में अंग्रेजी कम्पनी के साथ सहायता समझौता किया। उसने फौज

रखने के सम्बन्ध में निश्चित धनराशि देना स्वीकार कर लिया। उसने अन्य यूरोपीय जातियों के अफसरों को निकालना भी स्वीकार कर लिया। निज़ाम की फ्रांसीसी फौज तोड़ दी गई।

निज़ाम को अपने पक्ष में कर लेने के पश्चात् लार्ड वैल्ज़ली ने सुलतान टीपू से पूर्ण रूप से घुटने टेकने की मांग की। लेकिन टीपू ने आज्ञा मानने से इनकार कर दिया, इसलिए युद्ध घोषित कर दिया गया। मुख्य फौज जनरल हैरिस के आधीन थी। वह मैसूर की ओर चल पड़ा। गवर्नर-जनरल का छोटा भाई, आर्थर वैल्ज़ली, जो बाद में ड्यूक आफ वैलिंगटन कहलाया, निज़ाम की फौज का मुख्य अधिकारी था। बम्बई से भी एक फौजी टुकड़ी मैसूर की ओर चल पड़ी। फौजों ने अपना सारा सामान अपने साथ रखा तथा वे श्रृंगपट्टम जा पहुंचीं। सुलतान टीपू ने अपमानजनक शर्तों को, जो उसे प्रस्तुत की गईं थीं, मानने से इनकार कर दिया तथा वह श्रृंगपट्टम के किलों की दीवार के पास लड़ते हुए मारा गया। यह घटना मई सन् १७६६ की है। विजय के पश्चात् वैल्ज़ली ने इस विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण प्रदेश को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। इसमें कनारा, कोयम्बटूर तथा श्रृंगपट्टम के प्रदेश सम्मिलित थे। मैसूर सब ओर से ब्रिटिश सेनाओं से घिरा हुआ था। निज़ाम को उसकी सहायता के उपलक्ष में कुछ प्रदेश दिया गया। कुछ शर्तों के आधीन मरहठों को भी कुछ प्रदेश देने का प्रस्ताव किया गया, किन्तु उन्होंने स्वीकार करने से इनकार कर दिया। हिन्दू परिवार के एक बालक को, जिसे हैदर अली ने निकाल दिया था, पुनः मैसूर की गद्दी पर बिठाया गया।

टीपू का चरित्र (Character of Tipu)--ऐसा कहना अनुचित है कि सुलतान टीपू एक असभ्य, बर्बर तथा क्रूर सनकी व्यक्ति था। वह परिश्रमी शासक था। प्रशासन के प्रत्येक विभाग के कार्यों का निरीक्षण करता था। वह स्वभाव से क्रूर नहीं था। वह केवल अपने शत्रुओं के प्रति क्रूर था। वह हृदय से पूर्ण रूप से अंग्रेजों से घृणा करता था। अंग्रेजी कम्पनी के साथ सहयोग करने के लिए वह कभी भी अपने आप को तैयार न कर सका। उसने डटकर अंग्रेजों का सामना किया तथा लड़ते हुए ही मरा, किन्तु उसने उनके साथ समझौता करने के सम्बन्ध में कभी नहीं सोचा। उसका झुकाव फ्रांसीसियों की ओर था तथा सारा जीवन उसकी उनके प्रति पक्षपात की भावना बनी रही।

अंग्रेज भी उससे घृणा करते थे तथा उससे डरते थे। किरपैट्रिक के विचार में, सुलतान टीपू "क्रूर तथा कठोर शत्रु था, दमनशील तथा अन्यायी शासक था।" विल्क्स के अनुसार, "हैदर शायद ही कभी ग़लत हो तथा टीपू शायद ही कभी ठीक हो। उसके उपनिवेश का प्रत्येक हिन्दू उसके प्रति घृणा की भावना रखता था क्योंकि उसके शासन में असीम अत्याचारों तथा दण्डों के कारण वे संगठित हो गए थे। वह अत्यन्त बर्बर और कठोर प्रकृति का था। यदि उसमें साम्राज्य के अनुकूल गुण पाए जाते हैं तो यह बड़े अचरज का विषय है।" मैसूर की एक लोकोक्ति है, "हैदर एक साम्राज्य की सृष्टि के लिए उत्पन्न हुआ था, किन्तु टीपू उसे खोने के लिए।"

तथापि ऐसे अन्य लेखक हैं जिन्होंने सुलतान टीपू की बुद्धि तथा उसके दिमाग एवं हृदय के अन्य गुणों की प्रशंसा की है। मिल के मतानुसार, "घरेलू शासक के रूप में उसकी तुलना पूर्व के बड़े-से-बड़े नरेशों से की जा सकती है।" मूर के शब्दों में, "जब कोई व्यक्ति एक

नवीन देश में से यात्रा करते हुए इसे अच्छा कृषि-सम्पन्न, परिश्रमी निवासियों से पूर्ण, नए बने हुए नगर, फैलता हुआ व्यापार, बढ़ते हुए कस्बे, तथा प्रत्येक वस्तु समृद्धिशील, जिससे प्रसन्नता प्रकट हो, देखता है, तो वह स्वाभाविक रूप से यह परिणाम निकालेगा कि वह देश ऐसी सरकार के अधीन है जो जनता के मन के अनुकूल है। यह टीपू के देश का चित्र है। यही हमारा निष्कर्ष है तथा उसकी सरकार के प्रति आदर की भावना है।" मेजर डिरोम ने इस सम्बन्ध में यह विचार प्रकट किया, "उसका देश प्रत्येक स्थान पर निवासियों से भरपूर मिला तथा प्रकट रूप से उसकी भूमि का एक-एक खण्ड पूर्ण रूप से कृषि-सम्पन्न था। उसकी फौजों में अनुशासन तथा ईमानदारी की भावना, जब तक कि अन्तिम बार वे पराजित नहीं कर दिए गए, आश्चर्यपूर्ण तथा उन आदर्श नियमों से पूर्ण थी, जो उसकी सेना में पाए जाते थे। उसकी सरकार, यद्यपि कठोर तथा स्वेच्छाचारी थी, लेकिन राजनीतिक तथा योग्य नरेशों के समान थी।"

सुलतान टीपू के चरित्र में निन्दनीय बातें अधिक नहीं हैं। उसका दुर्भाग्य यह था कि उसका मुकाबला अंग्रेजी सरकार के साथ था, जिसके साधन असीम थे। उसे अपनी कठिनता के समय, ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिला जो उसकी सहायता करता। अंग्रेज तृतीय मैसूर युद्ध में मरहठों तथा निज़ाम पर तथा चतुर्थ मैसूर युद्ध में निजाम पर विजय प्राप्त करने में सफल हो गए किन्तु टीपू को अकेले लड़ना पड़ा। फ्रांसीसियों ने, जिनपर वह निर्भर करता था, उसे पूर्ण रूप से धोखा दिया।

तंजौर, सूरत तथा कर्नाटक (Tanjore, Surat and Carnatic)—लार्ड वैल्ज़ली को तंजौर, सूरत तथा कर्नाटक की समस्या सुलझानी पड़ी। अक्तूबर १७९९ में वैल्जली तथा तंजौर के राजा के मध्य सन्धि हुई। राजा ने व्यावहारिक रूप में शासन-व्यवस्था का कार्य अंग्रेजी कम्पनी के हाथों में सौंप दिया। सूरत के सम्बन्ध में वैल्ज़ली ने द्वैध सरकार को हटा दिया, नवाब के लिए पैंशन की स्वीकृति कर दी तथा देश के सर्वोच्च नियन्त्रण को अपने हाथों में संभाल लिया। कर्नाटक के सम्बन्ध में इतना ही कहना अभीष्ट है कि वहाँ की सरकार सड़ी-गली तथा षड्यन्त्रपूर्ण थी। ऐसा कहा जाता था कि कर्नाटक के नवाब तथा उसके पुत्र ने सुलतान टीपू के साथ पत्र-व्यवहार किया था यद्यपि इस बात के निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं होते, तथापि वैल्ज़ली ने नवाब की मृत्यु पर जुलाई १८०१ में कर्नाटक की फौजी तथा नागरिक व्यवस्था को अपने हाथों में ले लिया। नवाब को अपनी उपाधि लगाने की अनुमति दे दी गई तथा उसे अपनी रियासत की आय का २० प्रतिशत भाग दिए जाने का निश्चय हुआ।

अवध (Oudh)—अवध के साथ वैल्ज़ली का व्यवहार पूर्ण रूप से अत्याचारपूर्ण था। अवध के नवाब से कहा गया कि वह अपनी फौज का एक भाग कम कर दे तथा उससे बड़ी सहायक सेना को स्वीकार कर ले। नवाब ने विरोध किया तथा राज्य-त्याग के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति तक दे डाली। जब वैल्जली ने उसके त्याग-पत्र के प्रस्ताव को स्वीकृत करने की सहमति दिखाई, तब नवाब ने अपना प्रस्ताव वापिस ले लिया। उसने घोषणा की कि यदि उसके पुत्र को राज्य-गद्दी पर बैठने की अनुमति प्राप्त हो जाए तो वह राज्य-गद्दी छोड़ने को प्रस्तुत है। वैल्ज़ली के क्रोध की सीमा न रही। वह नवाब की चालों से तंग आ गया। वैल्ज़ली ने सन्धि का नया मसविदा तैयार किया, जिसके अनुसार फौज

की संख्या में वृद्धि होनी थी तथा कम्पनी को मिलने वाली धनराशि में भी वृद्धि होनी थी। अब यह राशि वढ़कर १२½ लाख स्टर्लिंग कर दी गई थीं। वैल्ज़ली ने नवाव के विरोध की तनिक भी परवाह नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ कि नवाव को घुटने टेकने पड़े।

इतना होने पर वैल्ज़ली ने नवाव के सामने नई माँगें प्रस्तुत कीं। यद्यपि नवाव अपनी निश्चित धनराशि नियमित रूप से चुका रहा था, तथापि वैल्ज़ली ने उससे रुहेलखण्ड तथा गंगा और यमुना के मध्य के दक्षिणी जिलों की माँग की तथा उनको उससे जबर्दस्ती ले लिया। ये सब प्रदेश नवाव के आधीन उपनिवेशों का आधा भाग थे। स्वाभाविक रूप से नवाव ने क्रोध प्रकट किया। सर अलफ्रैड लायल कहता है कि वैल्ज़ली ने "अपने मित्र की भावनाओं तथा हितों को ब्रिटिश नीति के महत्त्वपूर्ण विचार की तुलना में यहाँ तक गौण समझा कि उसमें सहनशीलता, क्षमा-भावना तथा उदारता की भावना अत्यन्त न्यून रूप से प्रकट होती थी। इस नीति को अपनाने का एकमात्र वहाना समय की आवश्यकता थी।"

फ्रांसीसी खतरे के विरुद्ध कार्रवाई (Steps against French Danger)—वैल्ज़ली ने फ्रांसीसी खतरे का सामना करने के लिए कुछ पग उठाए। वह इस पक्ष में था कि मारिशस के विरुद्ध कार्रवाई की जाए, किन्तु अंग्रेज एडमिरल ने सहयोग देने से इनकार कर दिया तथा योजना छोड़नी पड़ी। उसने ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से डचों से लंका तथा बटाविया को हस्तगत करने की प्रेरणा की, किन्तु वह मन्त्रियों की स्वीकृति प्राप्त करने में सफल न हुआ। उसने भारतीय फौजों को मिस्र भेजा जिससे वहाँ से फ्रांसीसियों को निकालने में सहयोग दिया जा सके। वैल्ज़ली ने जान मैल्कम को फारस भेजा जिससे उस ओर बढ़ती हुई फ्रांसीसी तथा रूसी शक्ति को प्रभावहीन किया जा सके।

मराठों का दूसरा युद्ध, १८०२-४ (Second Maratha War)—मराठा संयुक्त राज्य नहीं था। वह केवल वहुत-सी रियासतों का संघ था। पेशवा दुर्बल था तथा इस योग्य नहीं था कि अन्य मराठे नरेशों को नियन्त्रित कर सके तथा उनका पथ-प्रदर्शन कर सके। मराठों के मुख्य शासक सिन्धिया, होल्कर, गायकवाड़ तथा भोंसले थे। पारस्परिक वैमनस्य के कारण मराठे अत्यन्त शक्तिशाली न थे।

मार्च १८०० में नाना फड़नवीस की पूना में मृत्यु हुई तथा उसके साथ ही 'मराठा सरकार की सारी बुद्धि और संयम" का अन्त हो गया। सिन्धिया तथा होल्कर दोनों ने मिलकर पेशवा पर अपना नियंत्रण रखने का प्रयत्न किया तथा परस्पर लड़ने लगे। पेशवा ने सिन्धिया के आगे आत्मसमर्पण कर दिया किन्तु होल्कर यह बात सहन न कर सका। उसने सिन्धिया पर आक्रमण कर दिया तथा पेशवा पर अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया। पेशवा के लिए यह नियन्त्रण अत्यन्त कठोर था। वह बसीन को भाग गया ताकि अंग्रेजी कम्पनी से सहायता प्राप्त कर सके। इन परिस्थितियों में वसीन की सन्धि पर ३१ दिसम्बर, १८०२ को हस्ताक्षर हुए। पेशवा अंग्रेज़ी कम्पनी के सहायता समझौते में सम्मिलित हुआ। ब्रिटिश फौजों को स्थायी रूप से पूना में रखा जाना था। अंग्रेज़ी कम्पनी को पेशवा के विदेशी सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखना था। पेशवा फौजों को रखने के लिए अपना कुछ इलाका देने पर सहमत हो गया। ज्योंही सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, अंग्रेज़ पेशवा को पूना ले गए और उसे मई १८०३ में राजगद्दी पर विठाया। होल्कर वापिस लौट गया।

बसीन की सन्धि को काफी महत्त्व दिया जाता है। इसे भारत में ब्रिटिश उपनिवेश की महत्त्वपूर्ण घटना माना गया है। अंग्रेज़ी कम्पनी मराठों के नेता को अपने नियंत्रण में लाने में समर्थ हो गई। ऐसा अवश्य समझा गया होगा कि अन्य मराठा नरेशों को ऐसी शर्तें स्वीकृत नहीं होंगी। जो लोग सन्धि में सम्मिलित हुए, वे यह अवश्य जानते होंगे कि युद्ध अवश्यम्भावी है। आर्थर वैल्ज़ली के अनुसार, बसीन की सन्धि सिफर के साथ की गई।

जैसी कि सम्भावना थी, वह होकर रही। मराठे सरदारों ने क्रोध तथा असन्तोष की भावनाएँ प्रकट कीं। सिन्धिया तथा भोंसले शीघ्र ही परस्पर मिल गए। गायकवाड़ तथा होल्कर अलग रहे। सिन्धिया तथा भोंसले ने आक्रमण किया, किन्तु उनका ब्रिटिश फौजों से कड़ा मुकाबला हुआ। असाई, आरागाँव तथा लस्वारी के स्थानों पर महत्त्वपूर्ण युद्ध लड़े गए। सिन्धिया तथा भोंसले इन दोनों की शक्ति नष्ट हो गई तथा उन दोनों ने अलग-अलग सन्धियां कीं।

देव गाँव की सन्धि बरार के नरेश के साथ हुई तथा सुरजी अर्जुन गाँव की सन्धि सिन्धिया के साथ। देव गाँव की संधि के अनुसार भोंसले ने अंग्रेज़ों को कटक दे दिया तथा उनके साथ सहायता समझौता कर लिया। सुरजी अर्जुन गाँव की सन्धि के अनुसार सिन्धिया भी इसी प्रकार की सन्धि में सम्मिलित हो गया तथा उसने भड़ोंच, अहमदनगर तथा यमुना और गंगा के बीच के प्रदेश, जिनमें आगरा तथा दिल्ली सम्मिलित था, अंग्रेज़ों को सौंप दिये।

होल्कर के साथ युद्ध (War with Holkar)—होल्कर सिन्धिया के साथ मतभेद रखता था। परिणामस्वरूप जब सिन्धिया अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध कर रहा था तो होल्कर ने उसका साथ न दिया, किन्तु जब सिन्धिया तथा भोंसले हार गये तो होल्कर ने युद्ध जारी रखने का निश्चय किया। उसने राजपूतों के प्रदेशों पर आक्रमण कर दिया तथा उसने अंग्रेजी कम्पनी से चौथ की मांग की। जैसी कि आशा थी, वैल्ज़ली ने उन माँगों को अस्वीकार कर दिया तथा युद्ध घोषित कर दिया गया। होल्कर ने कर्नल मानसन को विवश कर दिया कि वह लौट जाए तथा उसे राजपूताना में भारी हार हुई। भरतपुर के राजा ने ब्रिटिश शासन को चुनौती दी। उसने दिल्ली के आक्रमण में होल्कर का साथ दिया, किन्तु उनका प्रयत्न असफल रहा। बाद में होल्कर स्वयं भी पराजित हुआ। भरतपुर को जीतने के लेक के सारे प्रयत्न असफल हो गए तथा उसे बहुत हानि उठानी पड़ी। लेक ने भरतपुर नरेश के साथ शान्ति स्थापित कर ली। ऐसी परिस्थिति में लार्ड वैल्ज़ली अंग्रेज सरकार द्वारा बुला लिया गया, क्योंकि सरकार लार्ड वैल्ज़ली के आक्रमणकारी तथा खर्चीले युद्धों से तंग आ गई थी।

वैल्ज़ली का मूल्यांकन (Estimate of Wellesley)—लार्ड वैल्ज़ली अंग्रेजी कम्पनी के सबसे बड़े गवर्नर-जनरलों में से एक था। उसे ठीक ही एक बड़ा वायसराय कहा गया है। उसके द्वारा किये गए कार्यों को भुलाया नहीं जा सकता। १७९८ में अंग्रेजी कम्पनी की स्थिति चिन्ताजनक थी। १८०५ तक वैल्ज़ली ने फ़्रांसीसियों के सब मनोरथ व्यर्थ कर दिये। टीपू को हराया तथा मारा तथा मराठों को झुका दिया। यदि उसे कुछ और समय मिल जाता तब वह होल्कर के विरोध को भी पूर्ण रूप से नष्ट कर देता।

डा० वी० ए० स्मिथ वैल्ज़ली के कार्यों के सम्बन्ध में इन शब्दों में वर्णन करता

है—"निस्संदेह, मार्क्विस ग्राफ वैल्ज़ली की गणना, प्रथम श्रेणी के गवर्नर-जनरलों, वारेन हेस्टिंग्ज़, मार्क्विस ग्रॉफ हेस्टिंग्ज़ तथा लार्ड डलहौजी के समकक्ष होती है। कुछ लेखक तो उसे प्रथम ही स्थान प्रदान करेंगे, किन्तु मेरी सम्मति में यह ग्रादर वारेन हेस्टिंग्ज़ को प्राप्त है। लार्ड वैल्ज़ली बाद के समय के लार्ड लिटन तथा डफरिन के समान भारत के कार्यों को उसी प्रकार देखता था जैसे एक ब्रिटिश महानुभाव तथा राजनीतिज्ञ विदेश-विभाग के दृष्टिकोण से देखता हो। वह प्रशासक की ग्रपेक्षा राजनीतिज्ञ था, उसका मुख्य सम्बन्ध उच्च नीति के साथ था। वह विभागीय व्यवस्था के विस्तार को ग्रच्छी प्रकार से देखने-भालने का ग्रधिक पक्षपाती नहीं था। उसकी नीति के दो मुख्य उद्देश्य थे। प्रथम उद्देश्य था, ब्रिटिश सरकार को भारत में बड़ी शक्ति की स्थिति में पहुँचाना ग्रथवा उसके शासकीय शब्दों में "हिन्दुस्तान तथा दक्षिण के प्रत्येक प्रदेश पर विस्तृत समझौते की पद्धति तथा राजनीतिक सम्बन्धों को स्थापित करना। इसका दूसरा उद्देश्य भारतीय शक्ति का पूर्ण रूप से उपयोग करना था जिससे कि वह नैपोलियन की विश्वविख्यात महत्त्वाकांक्षा के खतरे का मुकावला करने में महत्त्वपूर्ण भाग ले सके। इस खतरे का उद्देश्य सम्पूर्ण भारत से ब्रिटिश शक्ति को उखाड़ फेंकना था।"

लार्ड कर्जन के कथनानुसार, "ब्रिटिश इतिहास की रंगशाला में कठिनाई से ऐसा व्यक्ति मिलेगा, जिसके चरित्र तथा सफलताग्रों के सम्बन्ध में विरोधी मत उपलब्ध होते हों ग्रथवा जिसके चरित्र के सम्बन्धों में इस प्रकार के विरोधी मत ग्रथवा सम्मतियाँ ठीक जंचती हों। कुछ लेखक वैल्ज़ली को साम्राज्य के ऐसे साहसी तथा दूरदर्शी निर्माता के रूप में स्वीकार करते हैं, जिसने वारेन हेस्टिंग्ज़ के कार्य को जारी रखा तथा ग्रौर भी फैलाया तथा जिसने पूर्व में ब्रिटिश साम्राज्य के केन्द्रीय भवन का निर्माण किया जो उच्च तथा दृढ़ था। विरोधी मत के लेखकों का कहना है कि यद्यपि वह क्रॉकर के समान प्रतिभाशाली नहीं था, तथापि वह उच्च क्षेत्रों में गौरव का मूर्त रूप था, जिसे मैकिन्टोश के शब्दों में "सुलतान शैली का ग्रंग्रेज" कहा जा सकता है। उसमें घमंड था तथा ग्रहंभाव का ग्राधिक्य था। इसी भावना के कारण पहले वह भारत में तथा बाद में इंगलैंड में ग्रपने उन कार्यों में ग्रसफल रहा, जिन्हें पूर्ण करने का उसने विचार किया था। सचाई इन दोनों विरोधी मतों के मध्यम मार्ग के रूप में नहीं है ग्रपितु, दोनों मतों में ही विद्यमान है। वैल्ज़ली एक साथ बड़ा तथा छोटा था। वह ऐसा व्यक्ति था जिसकी भावनाएँ महान् थीं तथा उसमें कुछ ग्रंशों में ग्रहंकार तथा मिथ्या भावना भी थी। वह एक साम्राज्य का भविष्यदर्शी निर्माता था तथा हास्यास्पद व्यक्ति भी। उसके भारतीय जीवन-काल में उसके पक्ष में ग्रधिक महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। यदि उसके पत्र प्रकाशित न होते, जो उसके महान् स्वभाव को व्यक्त करते हैं तो भी सम्भवतः उसकी ग्रच्छाइयों का ही पलड़ा भारी होता। (भारत में ब्रिटिश सरकार, प्रथम भाग, पृ० १७३)। वैल्जली द्वारा भारत में किए गए महान् कार्यों द्वारा, मैसूर तथा ग्रन्य युद्ध कार्यों को छोड़कर, जिन्होंने साम्राज्य के गौरव तथा क्षेत्रों में वृद्धि की जिनके कारण उसके छोटे भाई की प्रसिद्धि हुई, उसकी बुद्धि तथा कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है किन्तु उनमें सदैव ग्रात्म-विज्ञापन की भावना व्यक्त होती है। यह सब भारत जैसे देश के लिए ग्रत्यन्त मँहगा सौदा था, जिसमें नीति-सम्बन्धी तीव्र ग्रान्दोलन ग्रथवा कम्पन की सम्भावना रहती है, जो निश्चित

रूप से चिरकाल तक विद्यमान रहते हैं। यह उसके द्वारा विचारा गया मत उस योजना के सम्बन्ध में है, जो उसने फोर्ट विलियम के एक कालेज के सम्बन्ध में नवयुवक यूरोपीय सैनिक पाठशाला के छात्रों के लिए बनाई थी और जिसे डायरेक्टरों ने पहले नहीं माना तथा बाद में अत्यन्त परिवर्तित रूप में ही उसे स्वीकार किया। इस प्रकार उसने कृषि तथा उद्यान शास्त्र (हॉर्टीकल्चर) तथा भारत की वनस्पतियों तथा प्राणिसमूह के अध्ययन के लिए जो योजनाएँ बनाई, उनके सम्बन्ध में उक्त विचार प्रकट किए गए हैं (इन्हीं योजनाओं के परिणाम-स्वरूप बैरकपुर में उद्यानों तथा वन्य पशुओं के संग्रह की संस्था की स्थापना हुई।)

"किन्तु, निःसन्देह उसने जो कुछ भारत में किया अथवा जो भी योजना बनाई उसका कारण वैल्ज़ली के सम्मुख सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत रूप से उच्चतम कर्तव्य भावना थी। वह सदैव भगवान् की कृपा पर विश्वास रखता था। उसका प्रशासन विवेकपूर्ण, कर्मशील तथा न्यायपूर्ण था। उसमें किसी प्रकार का सार्वजनिक छल, द्रोह अथवा षड्यन्त्र नहीं था, जिससे उसके कुछ पूर्ववर्ती गवर्नर-जनरलों का शासन कलंकित हुआ था। यहाँ तक कि उसके प्रदर्शन में भी यही भावना तथा इच्छा निहित थी कि वह उस महान् उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण कर्तव्यशील हो सके।"

लार्ड वारेन हेस्टिंग्ज़ के मतानुसार, "लार्ड वैल्ज़ली ने विस्तृत शक्ति तथा सीमा की एक राजनीतिक पद्धति का निर्माण किया, किन्तु वह ऐसा भार था, जो इस बात की माँग करेगा कि उसके समान कोई शक्तिशाली हाथ लगातार उसे सम्भालता रहेगा, किन्तु यदि वे उसके उत्तराधिकारी के रूप में एक ऐसे व्यक्ति को मनोनीत करेंगे, जो गुणों की दृष्टि से उससे बहुत घटिया है तथा उनके मन की अवस्था उसके समान नहीं, तब सारा ढाँचा खण्ड-खण्ड हो जाएगा तथा वह सब कुछ जिसके हम स्वामी थे, उसी नाश में विलीन हो जाएगा। गवर्नर-जनरल ने अपने आसन पर बैठकर कम्पनी के सम्बन्ध में व्यर्थ तथा घृणापूर्ण, अत्यन्त अपराधपूर्ण भावनाएँ प्रकट की हैं तथा वे शब्द इंग्लैंड तक पहुँचे। यदि मैं उसके विश्वास में होता, तब मैं उसे बताता कि व्यावहारिकता में कुछ खर्च नहीं होता।"

लार्ड हालैण्ड के कथनानुसार, "वैल्ज़ली दूरदर्शिता की अपेक्षा अधिक बुद्धि, आदर्श की अपेक्षा अधिक भावना रखता था। स्पष्ट रूप से वह अपने साथियों को इतनी घृणा की दृष्टि से देखता था कि वे उससे डरते थे। अधिकांश अंग्रेज राजनीतिज्ञों के समान वह व्यवहार-निपुण व्यक्ति की अपेक्षा राजनीतिज्ञ था। सामान्य कार्यों को सुरक्षापूर्वक तथा उचित रूप से करने की अपेक्षा वह साधारण वस्तुओं को करने में अधिक निपुण था।" पुनश्च, "तथापि उसके प्रत्येक कार्य में बड़प्पन की एक कल्पना थी, एक आकर्षण था तथा उसके भाषणों में, उसके स्वभाव में, रंग-ढंग तथा कार्यों में उसकी हँसी उड़ाई जा सकती थी। किन्तु जो लोग उस पर मुस्कराते अथवा हँसते थे, वे उससे घृणा नहीं कर पाते थे।"

अलफ्रैड लायल के कथनानुसार, "वैल्ज़ली ने एक संक्षिप्त से युद्ध में मैसूर के सुलतान को दबा दिया, उसने फ्रांसीसी अफसरों के अधीन चौदह सहस्र सैनिकों को, जो किसी के वश में न आते थे, निःशस्त्र कर दिया। इन सैनिकों को निजाम रख रहा था। उसने कर्नाटक पर अधिकार कर लिया, अवध के वजीर के उपनिवेशों का आधा भाग अपने राज्य में

मिला लिया, सम्पूर्ण सैनिक राज्यों को सहायता वाले (सहयोग पूर्ण) समझौतों के लिए विवश किया तथा मराठों के राज्य की शक्ति को पूर्ण-रूप से छिन्न-भिन्न कर दिया और हमारे अकलहपूर्ण महत्त्व की प्राप्ति के लिए अन्तिम तथा आवश्यक बाधा को दूर कर दिया।

"अपने अल्प जीवन-काल की अवधि में गवर्नर-जनरल द्वारा प्रकट किए गए उच्च गुणों के सम्बन्ध में, जिनके द्वारा वे विषम राजनीतिक स्थिति को शीघ्र पकड़ में ला सके तथा जिस उत्साह तथा वक्तृत्व शक्ति से उसने न केवल फौजी कार्रवाई तथा राजनीतिक संघर्ष ही चलाया, भीतरी प्रशासन को सुधारा, जीते हुए प्रान्तों में शासन-कार्य को संगठित किया, प्रशासनात्मक दृष्टि से कोई भी अन्य व्यक्ति उससे श्रेष्ठ नहीं था तथा न ही यह उचित ही प्रतीत होता है कि इतना समय बीतने पर किसी ऐसे सरकारी नौकर के दोषों की सूक्ष्म दृष्टि से इतनी कड़ी जाँच की जाए, जिसके उत्साहयुक्त गुणों से जाति इतना अधिक लाभ उठा चुकी है। तथापि यह आवश्यक है कि ऐतिहासिक कारणों के लिए उन परिस्थितियों के विशेष मिश्रण के सम्बन्ध में अधिक बल दिया जाए, जिनके कारण लार्ड वैल्ज़ली की दृढ़ तथा कुशल राजनीतिज्ञता को प्रोत्साहन तथा अवसर मिला है, जिनके कारण उसने उन लोगों के साथ अत्यधिक घृणा की जिन्होंने उसका विरोध किया अथवा जिन लोगों ने उसकी आलोचना की। यह बात उसके व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार से स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। उसने ऐसे समय में इंग्लैंड छोड़ा था तथा भारत में पैर रखा था, जो कि फ्रांसीसी तथा अंग्रेज़ जातियों में विषम संघर्ष का समय था, जबकि यूरोप पर नेपोलियन बोनापार्ट का सितारा चमक रहा था, जब वह मध्यएशियाई देशों को जीतने में लगा हुआ था, जब इंग्लैंड में एक सुदृढ़ टोरी मन्त्रिमण्डल ऐसे उपायों तथा साधनों से शासन कर रहा था, जिन्हें आज के दिनों में अत्यधिक पक्षपातपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण कहा जा सकता है। ऐसे समय में लार्ड वैल्ज़ली की उन घोषणाओं को अनुदार दृष्टिकोण से देखने के लिए समय तथा इच्छा की कमी ही थी कि भारत में फ्रांसीसियों की कूटनीतिक चालों तथा देशी शासकों की अयोग्यता तथा असन्तोष के कारण उसे इस बात के लिए विवश होना पड़ा कि वह उन्हें शासन से उतार दे, उन्हें निःशस्त्र कर दे। उसने अनुभव किया कि अंग्रेज़ों के शासन को भारत में सुदृढ़ करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे महान् तथा शक्तिशाली बनाया जाए। तथ्य तो यह है कि उसे उन कार्यों के लिए प्रोत्साहन, प्रशंसा, आदर तथा समर्थन प्राप्त हुआ, जो हेस्टिंग्ज़ के उन कार्यों से भी अधिक नृशंस तथा अत्याचारपूर्ण थे, जिनके लिए उस पर कई वर्ष पूर्व अभियोग चलाया गया था। इस बीच में ब्रिटिश संसद् का स्वभाव पूर्ण रूप से इतना परिवर्तित हो चुका था कि वैल्ज़ली भारत में सभी विरोधी भावनाओं के होते हुए भी अपने कार्य को जारी रख सका, तथा उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शान्तिपूर्ण डायरेक्टरों को अनुदार मनवाली वृद्धा स्त्रियों के समूह के रूप में ग्रहण किया।"

लायल के एक उद्धरण के अनुसार, "लार्ड वैल्ज़ली का एकमात्र उद्देश्य भारत भर में शान्ति स्थापित करना तथा ब्रिटिश प्रदेशों को स्थायी सुरक्षा प्रदान करना था और इसके लिए उसने प्रत्येक देशी राज्य पर ब्रिटिश सरकार के प्रभुत्व को कठोरतापूर्वक लागू किया। इस सम्बन्ध में कहीं-कहीं कठोरता का व्यवहार करना पड़ा तथा कहीं-कहीं मित्रता-

पूर्ण तथा शान्तिपूर्ण उपायों से उद्देश्य की प्राप्ति हो गई, जिसके परिणामस्वरूप भारत में अधिकांश देशी रियासतों ने ब्रिटिश सरकार की अधीनता को स्वीकार कर लिया तथा भविष्य के लिए भी उन पर इस प्रकार का नियन्त्रण स्थापित किया गया जिससे वे ब्रिटिश शक्ति का विरोध तथा सामना न कर सकें। संक्षेप में, जहां अब तक ब्रिटिश सरकार भारत की देशी रियासतों के साथ नाममात्र की राजनीतिक समता का व्यवहार करती आ रही थी, वहां वैल्ज़ली ने राजनीतिक प्रभुत्व की घोषणा की तथा उसे पर्याप्त रूप में कार्यान्वित किया। उसके इन सब विचारों तथा कार्रवाइयों ने भारत में एक अन्य साम्राज्य की पुनर्रचना की ओर इंगित किया, जिसे वह भारत में अपनी स्थिति के स्वाभाविक परिणाम के रूप में ग्रहण करता था तथा उसकी स्थिरता और एकीकरण का एकमात्र आश्वासन स्वीकार करता था। यह बात भी स्वीकार करनी आवश्यक है कि वैल्ज़ली के तीक्ष्ण तथा प्रबल आक्रमणों अथवा कार्रवाइयों के निश्चित तथा सामना न किए जा सकने योग्य परिणाम ये निकले कि देशी रियासतों में एक सुदृढ़ तथा सुसभ्य सरकार की स्थापना हुई, जो मुगल साम्राज्य के खण्डहरों पर निर्मित हुई। इसके लिए अच्छे अथवा बुरे उपाय, शान्ति अथवा शक्तिपूर्ण प्रयुक्त किए गए हों; इस विषय में न जाकर यह कहना होगा कि ब्रिटिश उपनिवेश का विस्तृत होना निश्चित था। बढ़ती हुई यूरोपीय शक्ति के सशस्त्र विरोधी पक्षों को दबाए जाने की पूर्ण आशा थी।"

लार्ड कार्नवालिस, १८०५ (Lord Cornwallis)—लार्ड कार्नवालिस को दूसरी बार भारत इसलिए भेजा गया कि वह उस शरारत को असफल कर सकेगा, जिसे लार्ड वैल्ज़ली के कारण व्याप्त समझा जाता था। वह इस निश्चय के साथ भारत में आया कि वह पुनः हस्तक्षेप की नीति को यहां लागू करेगा। उसने होल्कर के साथ शत्रुता समाप्त करने तथा सिन्धिया को शान्त करने का प्रयत्न किया। उसने सिन्धिया को ग्वालियर तथा गोहुद के प्रदेश वापिस करने का भी निश्चय किया। उसने यमुना के पश्चिम की ओर का सारा प्रदेश छोड़ने का निश्चय कर लिया तथा राजपूत रियासतों से अंग्रेज़ी कम्पनी की सुरक्षा को वापिस ले लिया। किन्तु कार्नवालिस अपनी नीति का पालन न कर सका क्योंकि अक्तूबर १८०५ में उसकी मृत्यु हो गई। वह भारत में कुछ मास ही रहा।

सर जार्ज बार्लो, १८०५–७ (Sir George Barlow)—जब लार्ड कार्नवालिस की १८०५ में अकस्मात् मृत्यु हो गई, तब गवर्नर-जनरल की परिषद के सबसे वरिष्ठ सदस्य सर जार्ज बार्लो को गवर्नर-जनरल के रूप में नियुक्त किया गया। एक विशेष नागरिक कर्मचारी के रूप में सर जार्ज बार्लो ने हस्तक्षेप न करने की नीति का कठोरता से पालन किया। उसने सिन्धिया को ग्वालियर तथा गोहुद के प्रदेश वापिस कर दिए। उसने राजपूतों से ब्रिटिश सुरक्षा को भी वापिस ले लिया। उसने अंग्रेजी कम्पनी के अधिकृत उपनिवेशों तथा सिन्धिया के प्रदेशों के मध्य में चम्बल नदी को सीमा निश्चित करने की स्वीकृति दे दी। उसने होल्कर को भी अत्यन्त उदार शर्तें प्रस्तुत कीं, यद्यपि उसकी स्थिति लार्ड लेक की कार्रवाई के कारण बहुत कमजोर हो गई थी। उसे सहायक समझौते में सम्मिलित होने को कहा गया। तो भी, सर जार्ज बार्लो ने निज़ाम को सहायक सन्धि की शर्तों का पालन करने पर विवश किया तथा उसे किसी प्रकार का परिवर्तन करने की अनुमति देने से इनकार कर दिया। अंग्रेज़ी कम्पनी के डायरैक्टरों ने सर

जार्ज बार्लो को आज्ञा दी कि वह बसीन की सन्धि से पीछे हट जाए तथा पेशवा को उसकी पुरानी स्थिति पुनः अपनाने दे। तथापि उसने डायरैक्टरों की आज्ञाओं का प्रतिरोध किया तथा बसीन की सन्धि जारी रही।

सर जार्ज बार्लो के कार्यकाल की एक और घटना वेल्लौर में सिपाहियों का विद्रोह था। कुछ आज्ञाएं दे दी गई थीं, जिनके अनुसार कुछ विशेष प्रकार की फौजी वर्दियों को पहनने की मांग की गई थी। बालों को कटाने के सम्बन्ध में भी नए नियम बनाए गए थे। लोगों ने समझा कि यह उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप है। ब्रिटिश अफसरों की हत्या कर दी गई। लार्ड विलियम बैंटिक ने, जो उस समय मद्रास का राज्यपाल था, स्थिति को अच्छी प्रकार से न सम्भाला तथा परिणामस्वरूप उसे वापिस बुला लिया गया।

लार्ड मिण्टो, १८०७-१३ (Lord Minto)—लार्ड बार्लो के पश्चात् लार्ड मिण्टो ने १८०७ में पद ग्रहण किया। गवर्नर-जनरल के रूप में भारत आने से पूर्व मिण्टो नियन्त्रण बोर्ड का अध्यक्ष (President of Board of Control) था। वह भारत में इस दृढ़ भावना के साथ आया था कि हस्तक्षेप न करने की नीति अंग्रेजी कम्पनी के लिए सब प्रकार से हितकारी है, किन्तु उसे कुछ अवस्थाओं में अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा।

१८०९ में एक विद्रोही पठान सरदार अमीर खान ने बरार पर आक्रमण कर दिया। उसके साथ ४०,००० घुड़सवार तथा २०,००० से अधिक पिण्डारी थे। ब्रिटिश सरकार पर बरार को सहायता देने का कोई नैतिक अथवा कानूनी उत्तरदायित्व नहीं था क्योंकि बरार के राजा ने कम्पनी के साथ सहायता सन्धि में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया था। इतना होने पर भी लार्ड मिण्टो ने हस्तक्षेप किया जिससे देश में अराजकता को समाप्त किया जाए। अमीर खान पराजित हुआ तथा बरार से निकाल दिया गया और इस प्रकार शान्ति को बनाए रखा गया। १८०९ में लार्ड मिण्टो महाराज रणजीतसिंह के साथ अमृतसर की सन्धि में सम्मिलित हुआ। इस सम्बन्ध में सर चार्ल्स मैटकाफ़ ने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग लिया। सिख प्रदेश का अस्तित्व सतलुज की पश्चिमी दिशा की ओर होना था। दोनों पक्षों ने तीस वर्ष की लम्बी अवधि तक इस सन्धि को निभाया।

जान मैलकम लार्ड वैल्ज़ली द्वारा तेहरान भेजा गया क्योंकि वहां की स्थिति चिन्ताजनक थी। अंग्रेज़ी सरकार ने भी इस कार्य के लिए सर हारफ़ोर्ड जोन्स को भेजा। सम्राट् के दूत द्वारा की गई सन्धि को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया।

एल्फ़िस्टन को एक कार्य के लिए काबुल भेजा गया। उसने अफ़गानिस्तान के शाह शुजा से पेशावर में भेंट की। यदि फ्रांसीसी तथा ईरानी भारत पर आक्रमण करें तो उसने उनका विरोध करना स्वीकार कर लिया। इस बातचीत का कुछ अधिक परिणाम न निकला क्योंकि शाह शुजा को ही उसके अपने देश से निकाल दिया गया।

लार्ड मिण्टो ने फ्रांसीसियों पर आक्रमण कर दिया। उसने फ्रांसीसी उपनिवेशों बोर्बन तथा मारिशस के विरुद्ध नाविक दस्ता भेज दिया। इन द्वीपों पर कब्जा कर लिया गया। एक और फौजी टुकड़ी जावा भेजी गई।

१८१३ में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का विधान आज्ञा-पत्र बीस वर्षों के लिए पुनः जारी कर दिया गया। इसी वर्ष लार्ड मिण्टो के स्थान पर लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने पद ग्रहण किया।

लार्ड कर्ज़न के शब्दों में, "लार्ड मिण्टो गवर्नर-जनरलों की उस श्रेणी में है, जो इतिहास पर कोई विशेष चिह्न नहीं छोड़ते। जिसे न अच्छा, न बुरा ही कहकर स्मरण किया जा सकता है। शान्ति की नीति से निकलकर, जिसका उसके पूर्ववर्तियों ने असफलतापूर्वक अनुसरण किया था, उसने अपने आप को ऐसे मार्गों पर धकेला हुआ पाया, जिसे वैल्ज़ली जैसे व्यक्ति भी स्वीकार करते।" (भारत में ब्रिटिश सरकार, पृ० १८४)

Questions for Revision

1. What were the different measures adopted by Wellesley to meet the French menace to British power in India ?

2. "The intelligence of Napoleon's projects diverted our attention from the seaboard to our land frontiers." Discuss the statement.

3. Write an account of the rise of Mysore under Haider Ali and its fall under Tipu.

4. "The contrast in character and policy between father and son explains why Haider Ali was successful in founding a kingdom and Tipu contrived to lose it.'' Discuss.

5. Carefully compare the character and policy of Haider Ali Khan and Tipu Sultan and give an account of the events that led to Tipu's fall.

6. Give an account of the development of the ''Subsidiary System'' and estimate its effect on (a) the rise of British power in India (b) the position and status of the Indian princes, and (c) the conditions of the subjects of the Indian states.

7. Make out a case for and against the subsidiary alliance system of Lord Wellesley.

8. Discuss critically the subsidiary system, explaining its merits and demerits.

9. "Wherever the subsidiary system is introduced, the country will soon bear the marks of it in decaying villages and decreasing population." (Thomas Munro). Discuss the above with reference to Oudh.

10. How far is it correct to say that the policy of non-intervention followed after Wellesley brought disgrace without security and peace without tranquillity ?

11. How far did Mahadaji Scindhia succeed in re-establishing Maratha powers in Northern India after Panipat ? What were the ultimate consequences of his pollicy ?

12. Give a critical estimate of the aims, policy, character and achievements of Nana Farnavis.

13. "The seven years of Lord Wellesley's Governor-Generalship constituted the most important and critical stage in the building

up of our Indian dominion on the foundations that were laid by Clive and Hastings." Discuss.

14. "Wellesley was applauded for measures ten times more high-handed and dictatorial than those for which Warren Hastings was impeached." Discuss.

15. Give an account of the foreign policy of Wellesley.

16. "The great Pro-Consul." How far did Wellesley deserve this title owing to his diplomacy and conquests ?

17. It is said of Lord Wellesley that "he created a British Empire of India, when formerly there existed a British Empire in India." Justify the statement.

18. Make a critical estimate of the administration of Lord Wellesley.

19. Discuss the circumstances and results of Lord Minto's departure from the policy of non-intervenation in the affairs of Indian States.

अध्याय ८

लार्ड हेस्टिंग्ज़ तथा एमहर्स्ट

(Lord Hastings and Amherst)

लार्ड हेस्टिंग्ज़, १८१३-२३ (Lord Hastings)—लार्ड हेस्टिंग्ज़ अथवा अर्ल आफ मायरा की नियुक्ति बंगाल के गवर्नर-जनरल के रूप में १८१३ में हुई तथा वह दस वर्ष उस पद पर रहा। उसने वारेन हेस्टिंग्ज़ द्वारा शुरू किए गए तथा लार्ड वैल्ज़ली द्वारा जारी किए गए कार्य को पूरा किया। वह भारत में इस दृढ़ संकल्प के साथ आया कि वह देश के कार्यों में हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन करेगा, किन्तु बाद में उसने अनुभव किया कि देश की स्थिति ऐसी है कि उस नीति पर चलना सम्भव नहीं है। कई क्षेत्रों में खतरे थे तथा ऐसी स्थिति में केवल हस्तक्षेप की नीति ही उचित थी।

नेपाल के साथ युद्ध, १८१४-१६ (War with Nepal)—सर्वप्रथम लार्ड हेस्टिंग्ज़ को नेपाल के विरुद्ध कार्रवाई करनी पड़ी। यह गोरखों का देश था। यह बड़ी बहादुर कौम थी। उन्होंने धीरे-धीरे शक्ति प्राप्त कर ली थी तथा पूर्व में भूटान की सीमा से पश्चिम में सतलुज की सीमा तक सम्पूर्ण पर्वतीय प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। गोरखे इस बात के लिए दृढ़-संकल्प थे कि वे समतल भूमि तक अपने प्रदेश का विस्तार करेंगे। ऐसा तभी सम्भव था जब अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का कुछ प्रदेश उन्हें मिल जाता। बंगाल के कुछ गवर्नर-जनरलों की हस्तक्षेप न करने की नीति के कारण उन्हें आक्रमण करने का प्रोत्साहन मिला तथा उन्होंने सीमा के अंग्रेजी प्रदेश में कुछ ग्रामों पर अधिकार कर लिया। जब गोरखों ने बुटवल तथा शिवराज के जिलों पर कब्जा कर लिया तो स्थिति गम्भीर हो गई। जब उन प्रदेशों को वापिस देने की मांग की गई तब भी गोरखों ने उन्हें वापिस करने से इनकार कर दिया तथा १८१४ में युद्ध की घोषणा करनी पड़ी।

सभी सैनिक विशेषज्ञ इस बात से सहमत हैं कि सैनिक गतिविधि के दृष्टिकोण से नेपाल बहुत दुर्गम देश है। यह सच है कि पहले से ही विस्तृत योजना बना ली गई थी, किन्तु उस योजना का बहुत-सा भाग विपरीत ढंग से कार्यान्वित किया गया। गोरखों की युद्ध-कुशलता के कारण भी उन पर विजय प्राप्त करना कठिन था। जनरल गिलैस्पी, जो वीरतापूर्वक जावा में युद्ध कर चुका था, पराजित हुआ तथा गोरखों के हाथों मारा गया। तीन और जनरल भी हार गए, किन्तु ऑक्टर लोनी के नेतृत्व में स्थिति में सुधार हुआ। अंग्रेज अलमोड़ा पर अधिकार करने में सफल हो गए। गोरखा नेता अमरसिंह हार गया तथा उसने शरण ले ली। इसके पश्चात् मार्च, १८१६ में सगौली की सन्धि पर हस्ताक्षर हुए।

इस सन्धि से गोरखों ने अपनी दक्षिणी सीमाओं के समीप के तराई के प्रदेशों पर अपना अधिकांश अधिकार छोड़ दिया। गढ़वाल तथा कुमायूँ के जिले भी दे दिये गए तथा अंग्रेजों को इस प्रकार शिमला का स्थान प्राप्त हुआ। अंग्रेजी कम्पनी की पूर्व-पश्चिमी

सीमा सीधी पर्वतों तक पहुँच गई। गोरखों को अपनी राजधानी में एक अंग्रेज रैज़ीडैन्ट रखने की स्वीकृति देनी पड़ी।

सगौली की सन्धि के महत्त्व पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं। १८१६ से जो मित्रता दोनों देशों में स्थापित हुई वह उस समय से जारी है। भारतीय फौज में गोरखा फौजियों का स्वागत हुआ है। भारतीयों द्वारा वहु संख्या में वे अन्य कई कामों में लगाए जाते हैं। इस प्रकार सन् १८१६ की सन्धि ने भारत तथा नेपाल के मध्य एक स्थायी मित्रता के सम्बन्ध को स्थापित किया।

पिण्डारियों के साथ युद्ध, १८१७-१८, (Pindari War)—गोरखों के पश्चात् लार्ड हेस्टिंग्ज़ को पिण्डारियों के विरुद्ध कार्यवाई करनी पड़ी। उनका मूल स्थान तो ज्ञात नहीं है, किन्तु बाजीराव प्रथम के समय में वे मराठा सेना के साथ अनियमित घुड़सवारों के रूप में भरती किए गए। १७६१ में पानीपत के तीसरे युद्ध के पश्चात् पिण्डारी स्वयं मालवा में बस गए। उनका सम्बन्ध होल्कर तथा सिन्धिया के साथ हो गया। उनकी दो शाखाएँ सिन्धिया शाही तथा निज़ाम शाही पिंडारी नाम से प्रसिद्ध हुईं। ज्यों-ज्यों मराठे सरदारों की शक्ति घटती गई पिण्डारी स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करने लगे। वे जहाँ गए अपने साथ अग्नि तथा तलवार ले गए। विशेष रूप से वैल्ज़ली के समय में उनकी संख्या बढ़ गई। इससे देश में अराजकता बढ़ गई। लोगों को कष्ट हुआ तथा पिण्डारियों को लाभ।

पिण्डारियों ने अपनी नियमित सेना न बनाई। पिण्डारियों के नेता तथा उसके अनुयायियों में लूट-मार का ही सम्बन्ध था। यहाँ तक कि नेता के प्रति आज्ञाकारिता की भावना लगातार रहने वाली न थी। पिण्डारी किसी का भी अनुसरण करने को तैयार थे, जो उन्हें लूट का माल दिलाने का वचन देता था। उनका संगठन किसी विशेष आधार पर नहीं था। सव प्रकार के लोग पिण्डारियों में सम्मिलित हो गए। हिन्दू तथा मुसलमान में कोई भेद-भाव न था। सबका इस भाईचारे के लिए स्वागत किया जाता था। आमतौर पर पिण्डारी उन्हीं दलों में से आते थे जो फौजों के टूटने से बेकार होते थे अथवा जो न्याय से भागते थे। सब जातियों तथा वर्गों के आलसी, व्यसनी तथा सन्दिग्ध लोगों का स्वागत किया जाता था। पिण्डारियों की लड़ने की विशेष पद्धति थी। वे जान-बूझकर शत्रुओं के साथ आमने-सामने के युद्ध से बचते थे। वे सदा अपने विरोधियों की टोह में रहते थे। वे अपने शिकार पर बिजली की तरह आक्रमण करते थे तथा अपने सब लूट के सामान के साथ भाग जाने की व्यवस्था कर लेते थे। पिण्डारियों की तुलना टिड्डी दल के साथ की गई है। क्योंकि पिण्डारियों ने मराठा सेनाओं का अनुसरण किया, इसलिए उन्हें मराठों का मेहतर कहा गया है।

पिण्डारी सरकारी हस्तक्षेप न करने की नीति के कारण साहसी बनते जा रहे थे। १८१२ में उन्होंने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया। १८१५ तथा १८१६ में उन्होंने निज़ाम के प्रदेशों पर आक्रमण किया तथा उन्हें लूटा। १८१६ में उन्होंने उत्तरी सरकारों पर आक्रमण किया तथा अंग्रेजों के लिए यह सब कुछ सहन करना अत्यन्त कठिन था। लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने इसके लिए विस्तृत तैयारियाँ कीं। अपनी कूटनीतिज्ञता के कारण लार्ड हेस्टिंग्ज़ पिण्डारियों को मराठों से अलग करने में सफल हो गया। उसने अप्पा साहेब के साथ सहा-

यक सन्धि कर ली। अप्पा साहेब भोंसले के प्रदेश के रीजेंट थे। उसने सिन्धिया को भी एक सन्धि पर हस्ताक्षर करने को विवश किया, जिसके द्वारा उसे पिण्डारियों के विरुद्ध अंग्रेजों को सहायता देने के लिए बाध्य होना पड़े। तब पिण्डारियों का शिकार करने के लिए विस्तृत प्रबन्ध किए गए। लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने स्वयं भारतीय फौज की कमान सँभाली। दक्षिण की फौज की कमान सर थामस हिस्लॉप के हाथों में थी। पिण्डारियों को फौजों ने चारों तरफ से घेर लिया। उनका निष्ठुरतापूर्वक पीछा किया गया। उनमें से कुछ तो पूर्ण रूप से नष्ट कर दिए गए। कुछ को विघटित कर दिया गया। पिण्डारियों के नेताओं में से एक करीमखान ने आत्म-समर्पण कर दिया। वासिल मुहम्मद ने आत्म-हत्या कर ली। चीतू को चीते ने खा लिया। अमीरखान को अपनी फौजें तोड़ने के लिए प्रेरित किया गया तथा उसे टोंक का नवाब बना दिया गया।

लार्ड हेस्टिंग्ज़ के आलोचकों का कहना है कि पिण्डारियों के प्रति उसकी नीति उदार थी। उसे सभ्यता के शत्रुओं के साथ अधिक कठोर होना चाहिए था।

तीसरा मराठा-युद्ध, १८१७-१८१८ (Third Maratha War)—लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने पूर्ण प्रयत्न किया कि मराठों तथा पिण्डारियों में किसी प्रकार से एकता न होने पाए। इसके उपरान्त भी "पिण्डारियों के पीछा करने का प्रयत्न तृतीय मराठा युद्ध में मिल गया।" (वी० ए० स्मिथ)

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि यद्यपि १८०२ में पेशवा बसीन की सन्धि में प्रवेश कर चुका था, वह अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट नहीं था। वह भीतर-ही-भीतर इस बात के लिए प्रयत्नशील था कि अपने आपको अंग्रेजी नियन्त्रण से मुक्त करे। उसके ऐसे प्रयत्न अंग्रेजी कम्पनी को स्वीकार नहीं थे।

१८१५ में पेशवा के एक मन्त्री त्र्यम्बकजी ने गायकवाड़ नरेश के एक ब्राह्मण दूत की हत्या कर दी। वह ब्रिटिश सुरक्षा में पूना गया था। इसमें छल-कपट के सन्देह के कारण ब्रिटिश रैज़ीडेंट ऐलफ़िस्टन ने बाजीराव पेशवा को विवश किया कि वह त्र्यम्बकजी को सौंप दे। उसने पेशवा को नई सहायता सन्धि करने तथा फौजें रखने के लिए कुछ प्रदेश देने के लिए भी विवश किया। उसने उसे इस बात के लिए भी बाध्य किया कि वह मराठा संघ के नेतृत्व को छोड़ दे।

बाजीराव ने इस प्रकार के व्यवहार को पसन्द नहीं किया, इसलिए उसने विद्रोह कर दिया तथा ब्रिटिश रैजीडैंसी पर आक्रमण करके उसे जला दिया। एलफ़िस्टन भाग निकला। किर्की के युद्ध में पेशवा हार गया।

नागपुर के अप्पा साहेब भोंसले तथा होल्कर ने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अप्पा साहेब सीताबल्दी के स्थान पर हार गया तथा उसे हथियार डालने पर बाध्य किया गया। होल्कर की सेनाएं भी हार गईं तथा उन्हें माहिदपुर के युद्ध में करारी हार हुई। पेशवा का भी पीछा किया गया तथा अष्टी और कोर गाँव के स्थान पर उसकी पराजय हुई। १८१९ में असीरगढ़ पर अधिकार किया गया। बाजीराव पेशवा को १८१९ में अंग्रेजों के सम्मुख हथियार डालने पर विवश किया गया। इस प्रकार मराठों का तीसरा युद्ध समाप्त हुआ। एलफ़िस्टन ने पराजित पेशवा के साथ उदार व्यवहार किया। यह सच है कि पेशवा का पद उड़ा दिया गया किन्तु बाजीराव को आजीवन आठ लाख वार्षिक की

पेंशन दी गई। सतारा की राजगद्दी पर शिवाजी के वंश का एक प्रतिनिधि बिठाया गया। नागपुर का अप्पा साहेब भी गद्दी से उतार दिया गया तथा उसके स्थान पर एक नया राजा गद्दी पर बिठाया गया। भोंसले से नर्वदा का प्रदेश ले लिया गया। होल्कर को सहायता सन्धि में सम्मिलित होने के लिए बाध्य किया गया। उसे फौजें रखने के लिए कुछ इलाका देने के लिए भी बाध्य किया गया। उसे इस बात के लिए भी विवश किया गया कि वह राजपूत रियासतों में सब अधिकार भी छोड़ दे।

यह बात स्पष्ट है कि मराठों की शक्ति पूर्ण रूप से दबा दी गई थी। वे अब इस स्थिति में नहीं थे कि पुनः सामना करने के लिए तैयार हो सकते। मार्शमैन ने उपर्युक्त युद्धों के परिणामों का वर्णन इन शब्दों में किया है—"युद्धों ने न केवल यहाँ की रियासती फौजों को ही, अपितु यहाँ के लोगों के मनों को हतोत्साहित कर दिया था, तथा यहाँ के नरेशों व निवासियों को एक विदेशी शक्ति के हाथों निर्विवाद रूप से सौंप दिया था। इसने कम्पनी को मुगल राजगद्दी प्रदान की तथा उसके हाथों में अकबर अथवा औरंगज़ेब द्वारा प्राप्त अधिकारों से कहीं अधिक तथा पूर्ण अधिकार प्रदान किए।"

डॉडवैल के मतानुसार, १८१८ के बन्दोबस्त का समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सर्वशक्तिमत्ता के आरम्भ का समय है। कोई भी राज्य ऐसा नहीं बचा था जो इसके प्रभुत्व को चुनौती दे सके। वैल्ज़ली का कार्य सम्पन्न हुआ। भारतवर्ष के सारे प्रमुख राज्यों ने कम्पनी से सन्धियां कर रखी थीं और इसके हाथों में अपने राजनैतिक मामले सौंप रखे थे। बहुतों ने वेतन देने की शर्त पर सेना रखी थी, जिसका आशय निर्भरता थी। भारतवर्ष में शान्ति का आश्वासन मिल गया था। जिन युद्धों ने १५० वर्षों तक देश को नष्ट-भ्रष्ट कर रखा था, वे समाप्त हो गये थे। यद्यपि वैल्ज़ली का राजनैतिक अभियान पूरा हो गया था तथापि इसके एक रूप का ध्यान नहीं रखा गया था। मायरा (Moira) द्वारा की गई सन्धियाँ इस प्रकार की नहीं थीं जिन्हें वैल्ज़ली स्वीकृति दे देता क्योंकि इन सन्धियों में उन सब बातों को छोड़ दिया गया था जिन्हें वह महत्त्वपूर्ण समझता था। मायरा ने अपनी दृष्टि केवल उस ही प्रदेश पर रखी जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सीधे नियंत्रण में था, जबकि वैल्ज़ली की नीति में समूचे भारतवर्ष का ध्यान रखा जाता था। परिणामतः कम्पनी ने अपने को अनेक सन्धियों से बंधे पाया जिनके अनुसार इसे अनेक राजाओं की सहायता करनी थी भले ही उनका प्रशासन कितना ही बुरा क्यों न हो। अर्काट और अवध के नवाबों से की गई सन्धियों ने जो व्यवस्था निर्धारित कर दी थी, वही व्यवस्था बहुत बड़े क्षेत्र में प्रसारित हो गई। गवर्नर-जनरल को जिसे कम्पनी का प्रभुत्व स्थापित करने का कार्य सौंपा गया था, उसने इस कार्य के साथ-साथ समूचे भारत के कल्याण के प्रति कम्पनी का उत्तरदायित्व नहीं समझा। इन परिस्थितियों में मायरा द्वारा मराठे सरदारों के साथ की गई सन्धियों में तत्कालीन वास्तविक राजनैतिक स्थिति का अनुमान है, तथापि, यदि वैल्ज़ली एक वर्ष और ठहर गया होता तो जिन उत्तरदायित्वों को वह संभालता, उन जिम्मेदारियों को अपने सिर पर लेने में मायरा ने संकोच किया। संक्षिप्त रूप से १८१८ के बन्दोबस्त ने कम्पनी पर वे अस्थिरतायें और द्विअर्थी बातें लाद दीं जो बाद में देशी राज्यों के सम्बन्धों में प्रमुख बनी रहीं। (The Cambridge Shorter History of India, Pp. 485-87).

आन्तरिक सुधार—क़ानूनी (न्याय सम्बन्धी) (Internal Reforms—Judicial)—लार्ड हेस्टिंग्ज़ के समय में बहुत से सुधार किए गए। देश के सम्मुख समस्या यह थी कि न्यायालयों में ऐसे मुकदमों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी जिनके निर्णय अभी नहीं हुए थे। क्योंकि वर्षों मुकदमों के निर्णय नहीं हुए थे, इसलिए कई मामलों में पार्टियों को विवश होकर कानून को अपने हाथ में लेना पड़ा। इस समस्या को न्यायालयों की संख्या बढ़ाकर ही निबटाया जा सकता था, किन्तु कम्पनी न्यायालयों की संख्या बढ़ाने के लिए प्रस्तुत न थी, क्योंकि इस प्रकार की कार्रवाई से व्यय में वृद्धि होने का प्रश्न था। मिल जैसे सार्वजनिक नेताओं ने कम्पनी की अनुदारता के सम्बन्ध में आलोचना की।

१८१४ में लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने ऐसा प्रस्ताव किया कि प्रत्येक थाने में एक मुन्सिफ हो। मुन्सिफों की नियुक्ति दीवानी न्यायालय के न्यायाधीशों को करनी थी, यद्यपि अपील का अधिकार प्रान्तीय अपील वाले न्यायालयों को दिया गया। मुन्सिफों को अधिकार दिया गया कि वे ६४ रुपए तक के मुकदमों की सुनाई कर सकें तथा उनके निर्णयों की पुष्टि दीवानी न्यायालयों के न्यायाधीशों से लेनी होती थी। मुन्सिफों के निर्णयों के विरुद्ध दीवानी न्यायालयों में अपील की जा सकती थी। मुन्सिफों को दुर्व्यवहार, अयोग्यता अथवा कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा के कारण अलग किया जा सकता था। मुन्सिफों के अतिरिक्त प्रत्येक जिले तथा नगर में सदर अमीन नियुक्त किए गए। सदर अमीनों की संख्या क्षेत्र की आवश्यकता पर निर्भर करती थी। दीवानी न्यायालय के न्यायाधीशों को इनकी नियुक्तियाँ करनी होती थीं किन्तु इस सम्बन्ध में अपील वाले प्रान्तीय न्यायालयों की स्वीकृति आवश्यक थी। उन्हें अधिकार था कि वे १५० रुपए तक के मुकदमों की सुनवाई कर सकें। किन्तु, सदर अमीन को इस बात की अनुमति नहीं थी कि वे ऐसे मुकदमे सुन सकें, जिनमें कोई अंग्रेज, अमरीका-वासी अथवा यूरोपवासी वादी अथवा प्रतिवादी हो। मुख्य अमीन के निर्णयों के विरुद्ध दीवानी न्यायालयों में अपील की जा सकती थी।

कुछ मामलों में अपील का अधिकार उड़ा देने का प्रयत्न किया गया। सामान्य रूप से केवल एक अपील की अनुमति होती थी। १८१४ में ऐसा नियम बना कि दीवानी अदालत से अपील वाले प्रान्तीय अदालत तक अपील की जा सके, किन्तु यदि प्रान्तीय न्यायालय में किसी मुकदमे की सुनवाई हुई हो, तब मुख्य दीवानी न्यायालय में अपील की जा सकती थी।

लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने रजिस्ट्रारों के अधिकारों में भी वृद्धि की। ५० रुपए के मुकदमों को रजिस्ट्रारों के पास निर्णय के लिए भेजा जाता था। कुछ असाधारण मामलों में दीवानी न्यायालयों को अधिकार था कि वे ५०० रुपए से अधिक रकम वाले मुकदमों को रजिस्ट्रारों को भेज सकें। इस प्रकार का नियम भी बना दिया गया कि रजिस्ट्रारों के विरुद्ध अपील वाले प्रान्तीय न्यायालयों को सीधे अपीलें ले जाई जा सकें।

इसके अतिरिक्त यह भी नियम बनाया गया कि भविष्य में ५००० रुपए से कम वाले मुकदमों को नगर दीवानी न्यायालय अथवा जिला दीवानी न्यायालय में प्रस्तुत किया जाए। सदर दीवानी न्यायालय को अधिकार दिया गया कि जिला अथवा नगर के दीवानी न्यायालय से अपील वाले प्रान्तीय न्यायालय में सीधे मुकदमे परिवर्तित किए जाएँ। यदि मुकदमे की रकम ५००० रुपए से अधिक हो तो इस प्रकार का नियम बनाया गया, कि

ऐसे मुकदमे सीधे अपील वाले प्रान्तीय न्यायालयों में प्रस्तुत किए जा सकें। कई अवस्थाओं में ऐसे मुकदमे सदर दीवानी अदालत को परिवर्तित किए जा सकते थे।

१८२१ में ऐसा नियम बनाया गया कि यदि एक मुन्सिफ को हाथ के काम को देखते हुए कम समझा जाए, तो उस कार्य के लिए अधिक मुन्सिफों को नियुक्त किया जाए। उन्हें इस बात की अनुमति दे दी गई, कि वे १५० रुपए के मुकदमों की सुनवाई कर सकें। सदर अमीनों को भी अनुमति दे दी गई कि वे ५०० रुपए वाले मामलों को सुन सकें।

१८१५ में यह नियम बनाया गया कि किसी भी व्यक्ति को सदर दीवानी अदालत का न्यायाधीश तब तक न बनाया जाए जब तक उसने पहले प्रान्तीय तथा सर्किट न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में कम-से-कम तीन वर्ष तक कार्य न किया हो अथवा न्यायिक पद पर कम-से-कम नौ वर्षों तक कार्य न किया हो।

लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने १८१८ में ऐसी आज्ञा दी कि मजिस्ट्रेटों को अधिकार दिया जाएगा कि वे कड़े परिश्रम सहित दो वर्ष का कठोर कारावास का दण्ड तथा ३० बेंतों तक का शारीरिक दण्ड दे सकते हैं।

१८२१ के एक अन्य नियम द्वारा यह नियम बनाया गया कि कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को यह अधिकार होगा कि वह माल विभाग के कलक्टर अथवा अन्य किन्हीं अन्य अधिकारियों को जो माल विभाग के किसी भी पद पर नियुक्त हों, इस बात के लिए अधिकार दिया जा सकता है कि वे सरकारी लगान इकट्ठा करने के लिए मजिस्ट्रेट के अधिकारों का उपयोग कर सकें; इस कार्य के लिए नियुक्त किसी व्यक्ति को माल विभाग के कलक्टर के पूर्ण अथवा आंशिक अधिकार दे सकें। कलक्टर के अधिकार अत्यधिक मात्रा में बढ़ गए।

माल विभाग के सुधार (Revenue Reforms)—लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने कम्पनी के डायरेक्टरों से स्थायी भूमि-व्यवस्था के लिए अपील की, किन्तु उसका प्रस्ताव स्वीकार न किया गया। प्रत्येक ग्रामीण जाति के प्रतिनिधियों के साथ यह प्रबन्ध किया गया कि व्यक्तियों के शेयरों का समायोजन किया जा सके।

१८८२ में बंगाल का भूमि कानून स्वीकृत हुआ। इसके द्वारा इस बात का प्रयत्न किया गया कि इसके हानिकारक खण्डों पर नियन्त्रण किया जाए। नियम बहुत कड़े बनाए गए।

सर थामस मुनरो १८२० में मद्रास का गवर्नर था। उसने रैय्यतवाड़ी पद्धति का आरम्भ किया। इसके अनुसार किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं थी। एल्फ़िस्टन ने प्रत्येक रैय्यत के अधिकार तथा क़िराए निरीक्षण के पश्चात् निश्चित कर दिए।

शिक्षा (Education)—इस बात के प्रयत्न किए गए कि लोगों में शिक्षा की वृद्धि की जाए। कलकत्ता में अंग्रेज़ी भाषा के विस्तार के लिए एक कालेज खोला गया। इस प्रकार के नियम विभिन्न प्रान्तीय सरकारों ने स्वीकार किए।

समाचार पत्र (Press)—आरम्भ में समाचार पत्रों को कार्य करने की अधिक स्वतन्त्रता दी गई। समाचारों पर रोक हटा दी गई, किन्तु शीघ्र ही आवश्यकता के कारण पाबंदियाँ लगा दी गईं।

मूल्यांकन (Estimate)—निस्सन्देह लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने लार्ड वैल्ज़ली का कार्य पूर्ण किया। १८२३ में उसके जाने के पश्चात् भारत में अंग्रेज़ी कम्पनी का कोई भी गम्भीर मुकाबला करने वाला न था। न केवल पेशवा का पद हटा दिया गया, बल्कि होल्कर से उसके प्रदेश का आधा भाग ले लिया गया। भोंसला नरेश अंग्रेज़ी कम्पनी का दास हो गया। सिन्धिया को झुका लिया गया तथा अशक्त बना दिया गया। उसने देश में पिंडारियों की शक्ति का नाश करके कानून तथा व्यवस्था को स्थापित किया। उसकी फौजी सफलताएँ तथा आन्तरिक सुधारों के कारण उसे बहुत सफलता प्राप्त हुई। मिल के शब्दों में, "मार्क्विस की शासन-व्यवस्था उस पद्धति की पूर्ति समझनी चाहिए, जिसकी नींव क्लाइव ने रखी थी तथा जिसका ढाँचा वारेन हेस्टिंग्ज़ तथा मार्क्विस वैल्ज़ली ने तैयार किया था। उसका शेष कार्य लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने किया तथा उसके द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य का आधिपत्य भारत में ठीक प्रकार से तथा अन्तिम रूप से स्थापित हो गया। उसके कार्य के महत्त्व के सम्बन्ध में इससे बढ़कर और कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता कि उसके शासन काल से लेकर कोई राष्ट्रीय युद्ध नहीं हुआ। राजपूत, मराठे तथा मुसलमान ब्रिटिश शक्ति के आधीन परस्पर शान्तिपूर्वक रहे हैं। अंग्रेज़, जिन युद्धों में व्यस्त रहे हैं, वे उस शक्ति को भारत की सीमाओं से आगे ले गए हैं, किन्तु हिमालय से समुद्र तक कहीं भी भीतरी गड़बड़ नहीं होने पाई।"

राबर्ट्स ने लार्ड हेस्टिंग्ज़ तथा लार्ड वैल्ज़ली की तुलना इन शब्दों में की है—"उसकी वास्तविक सफलताएँ लार्ड वैल्ज़ली की सफलताओं को चुनौती देती हैं, वह वास्तव में उतना महान् तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व नहीं था। उसकी शासन-व्यवस्था की सफलता का अधिकांश श्रेय उसके अधीनस्थ कर्मचारियों के समूह को है, जिनको उसके महान् पूर्ववर्ती ने प्रशिक्षित तथा प्रोत्साहित किया था। हेस्टिंग्ज़ में वैल्ज़ली के समान गौरव, भाषण-शक्ति तथा मौलिकता के गुण नहीं थे। उसमें अहंभाव अधिक था। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि वह कठिनता से वैल्ज़ली की समता कर सकता जब कि परिस्थितियाँ इतनी विपरीत थीं तथा पराजित जनरलों के प्रति उसके विचार महान् न होते। दूसरी ओर उसने भारत में बड़े आक्रमणों में भाग लिया तथा नेतृत्व किया, जैसे पहले कभी न हुए थे। इस बीच में ऐसे अट्ठाईस आक्रमण हुए तथा एक सौ बीस दुर्ग बिना किसी असफलता से प्राप्त कर लिये। वह लार्ड वैल्ज़ली की अपेक्षा कम घमण्डी था। वह भारतीय नरेशों के प्रति कम कठोर तथा तब तक उनके विरुद्ध कार्रवाई न करता था जब तक उसका पक्ष अत्यन्त दृढ़ न हो।"

लार्ड कर्ज़न के मतानुसार, "इस अच्छे तथा परिश्रमी शासक के सम्बन्ध में दो अन्य सफलताओं के संस्मरणों का उल्लेख करना समुचित प्रतीत होता है। इसने ही जावा की हानि की कमी को पूर्ण किया था जिसे सिंगापुर को खरीदने के लिए मूर्खतापूर्वक डचों को वापिस कर दिया गया था तथा जो स्थान (सिंगापुर) तब से समुद्री बेड़े का महत्त्वपूर्ण केन्द्र तथा पूर्व में महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह है। उसने अपने प्रयत्नों से कलकत्ता-निवासियों के हार्दिक धन्यवाद प्राप्त किए क्योंकि उसने नगर को स्वच्छ तथा सुसज्जित करने के लिए महान् प्रयत्न किए, जिसके परिणामस्वरूप नगर की जितनी गलियों तथा स्थानों के साथ उसका नाम जुड़ा है, उतना किसी अन्य गवर्नर-जनरल का नहीं। लोडोन

स्ट्रीट, राडन स्ट्रीट, हंगर फ़ोर्ड स्ट्रीट, मायरा स्ट्रीट (हेस्टिंग्ज़ स्ट्रीट पहले से ही उक्त नाम ग्रहण कर चुकी है तथा उसके साथ पहले से अधिक प्रसिद्ध हेस्टिंग्ज़ का नाम जुड़ा है)। मैदान के दक्षिण-पश्चिमी कोने में हेस्टिंग्ज़ की बस्ती, हेस्टिंग्ज़ का पुल—जिसका निर्माण सार्वजनिक चन्दों से 'टॉली' के नाले के ऊपर उसके प्रशासन के आदर में किया गया था—ये सभी भवन आदि उसके नाम को जीवित रखे हुए हैं। लाटरी की आय से उसने नदी के किनारे स्ट्रैंड रोड का निर्माण किया तथा इससे नगर तथा मैदान की सुख-सुविधाओं को बढ़ाया। सम्भवतः उसने एक और बड़ी सेवा ऐतिहासिक पीपल के पेड़ को हटाने के रूप में की, जिसके नीचे, ऐसा कहा जाता है कि जॉब चार्नोक बैठा और अपना हुक्का पिया करता था। इसके अतिरिक्त तोप वाला स्तम्भ (खम्भा), जिसे गवर्नर होलवैल ने ब्लैक होल के खण्डहरों पर स्थापित किया था, तथा जिसे ८० वर्ष तक कोई पूरा नहीं करवा सका था तथा जिसे परिवर्तित करने का कार्य ८० वर्ष के पश्चात् मुझे करना पड़ा।

"लार्ड हेस्टिंग्ज़ ऐसा व्यक्ति था जो दृढ़ पारिवारिक ममता से पूर्ण था तथा जिसने अपनी पत्नी तथा परिवार से लम्बे वियोग को अत्यधिक अनुभव किया। उसकी पत्नी तथा बच्चों को जनवरी १८१६ में इंग्लैंड जाना पड़ा। उसकी पत्नी १८१६ में अकेली वापिस आई, ताकि वह उसके निवास के शेष समय में उसके साथ रह सके। मृत्यु के समय, उसने निर्देश किया कि उसका दांया हाथ काट दिया जाए तथा उसकी पत्नी के हाथ के साथ मिला दिया जाए, जब उसकी (पत्नी की) मृत्यु हो। उसकी यह विचित्र तथा दुःखद प्रार्थना पूर्ण की गई। उसका हाथ एक छोटे बक्स में डालकर लौडोन में उसके पारिवारिक कब्रिस्तान में सुरक्षित रखा गया। चौदह वर्षों के पश्चात् लेडी हेस्टिंग्ज़ की मृत्यु हुई तो उसके मृतक शरीर के साथ उसका हाथ भी रख दिया गया।"

जान ऐडम्ज़, १८२३ (John Adams)—लार्ड हेस्टिंग्ज़ तथा लार्ड एमहर्स्ट की अनुपस्थिति में जॉन ऐडम्ज़ ने कार्य संभाला। वह कलकत्ता कौंसिल का प्रमुख सदस्य था। उसने सात महीनों तक राज्य किया। उसका नाम समाचार-पत्रों पर रोक लगा देने के कारण बदनाम है। उसने पामर एण्ड कम्पनी के अपमानजनक कार्यों को समाप्त किया। उसने कलकत्ता जनरल के सम्पादक श्री बंकिघम के विरुद्ध कार्रवाई की। उसने सरकार के कार्य की आलोचना की थी। सम्पादक को देश-निकाला दे दिया गया। उसने आज्ञा निकाल दी कि पामर एण्ड कम्पनी निज़ाम को और अधिक धन नहीं दे सकती। अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने निज़ाम को बहुत-सा रुपया उत्तरी सरकारों को वार्षिक भेंट के रूप में देना था। इस प्रकार बहुत-सा रुपया इकट्ठा हो गया था। एडम्ज़ ने आज्ञा दी कि निज़ाम को रुपया दे दिया जाए। इस प्रकार निज़ाम ने पामर एण्ड कम्पनी का रुपया चुका दिया।

लार्ड एमहर्स्ट, १८२३-२८ (Lord Amherst)—लार्ड एमहर्स्ट के समय की सब से महत्त्वपूर्ण घटना बर्मा का प्रथम युद्ध तथा भरतपुर का युद्ध है।

बर्मा का प्रथम युद्ध, १८२४-२६ (First Burmese War)—बर्मा एक स्वतन्त्र देश था। इसके निवासी अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उपनिवेशों की शान्ति तथा सुरक्षा के लिए खतरे का कारण थे। १८१७-१८ में बर्मा की फौजों के कारण आसाम में खतरा

हो गया। उन्होंने भारत सरकार को एक पत्र भेजा, जिसमें चिट्टागांग, ढाका, मुर्शिदाबाद तथा कासिम बाजार सौंपने की माँग की गई, किन्तु स्याम के लोगों द्वारा बर्मियों के पराजित हो जाने के कारण खतरा टल गया। शान्ति देर तक स्थिर न रह सकी। १८२२ में स्याम जीत लिया गया। भारत की सुरक्षा खतरे में पड़ गई तथा अंग्रेजी कम्पनी को कार्रवाई करनी पड़ी। बर्मा निवासी यह विश्वास करते थे कि उनके विरुद्ध कोई फौज नहीं ठहर सकती। राजा से लेकर साधारण व्यक्ति तक अंग्रेजों के साथ युद्ध के लिए उत्सुक थे। बर्मी लोगों ने अंग्रेजों को खूब भड़काया। १८२३ में बर्मा के लोगों ने शाहपुरी पर आक्रमण किया तथा युद्ध आरम्भ कर दिया। यह स्थान चिट्टागांग के समीप एक छोटे से द्वीप के रूप में है। लार्ड एमहर्स्ट ने फरवरी १८२४ में युद्ध की घोषणा कर दी।

यह ठीक कहा जाता है कि लार्ड एमहर्स्ट ने बर्मा के युद्ध के लिए पूर्ण तैयारियाँ नहीं कीं। उसके अधीन कर्मचारियों ने भी उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। बर्मा में आराम से युद्ध लड़ा गया। कम्पनी ने कार्रवाई आरम्भ करने का विचार नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध लम्बा हो गया, किन्तु अन्त में बर्मा वाले पराजित हो गए। १८२६ में भारत सरकार तथा बर्मा के बीच एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। *यन्दाबू की सन्धि* (१८२६) के द्वारा बर्मा नरेश ने अंग्रेजी कम्पनी को अराकान तथा तनासरिम के प्रान्त देना स्वीकार कर लिया। आसाम तथा कछार से बर्मी फौजें हटानी पड़ीं। उन्होंने मणिपुर की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया तथा उन्होंने परस्पर व्यापारिक सन्धि कर ली। उन्होंने अपनी राजधानी में एक अंग्रेज रैज़ीडैण्ट को रखना स्वीकार कर लिया तथा १० लाख पौण्ड युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में देना भी स्वीकार कर लिया।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि बर्मा का युद्ध बहुत खर्चीला था। कहा जाता है कि यदि एमहर्स्ट तैयारियों पर कुछ अधिक समय लगाता, तब बहुत-सी भूलों से वह बच जाता, किन्तु दुर्भाग्य से लार्ड एमहर्स्ट वैसा न कर सका। वह साधारण व्यक्ति था तथा उसने देश की समस्याओं के सम्बन्ध में कभी भी दृढ़ता नहीं दिखाई।

भरतपुर पर अधिकार (Capture of Bharatpur)—भरतपुर के नरेश की मृत्यु के पश्चात् वहाँ राजगद्दी के लिए झगड़ा खड़ा हुआ। ब्रिटिश सरकार ने अल्प-वयस्क के दावे को स्वीकार कर लिया। अन्य दावेदार दुर्जनसाल ने अपने अधिकार की रक्षा के लिए युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं। भरतपुर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया। ब्रिटिश फौजों ने बहुत से व्यक्तियों को पकड़ लिया। सर चार्ल्स मैटकाफ़ ने इस प्रकार लिखा—"हमारी यहाँ की लूटमार अत्यन्त अपमानजनक रही है···जब तक मैं धन के लाभ में बिके हुए एजेण्टों से छुटकारा नहीं पा लेता, तब तक मैं युवक राजा की सत्ता को स्थापित नहीं कर सकता। उसकी रक्षा का भार हम पर है, किन्तु हम उसे अब तक लूटते-खसोटते आए हैं, जबसे वह हमारे हाथों में पड़ा है।"

यहाँ बैरकपुर के विद्रोह का उल्लेख करना समुचित प्रतीत होता है। एक फौजी टुकड़ी को बर्मा जाने की आज्ञा दी गई। सिपाहियों ने विचार किया कि वे वैसा करके अपनी जाति से भ्रष्ट हो जाएंगे। इसलिए आज्ञा मानने से इनकार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्रोह दबा दिया गया तथा फौजियों को गोली से उड़ा दिया गया।

बर्मा के युद्ध ने गवर्नर जनरल को अत्यधिक अलोकप्रिय बना दिया था तथा बैरक-

पुर में विद्रोह की कथा ने उसे और भी अधिक अलोकप्रिय बनाया । १८२५ के अन्त से एमहर्स्ट की नौका बड़ी कठिन परिस्थितियों में से गुज़र रही थी । ड्यूक आफ़ वैलिंगटन के हस्तक्षेप के कारण वह कुछ समय के लिए बच गया । तथापि मार्च १८२६ में गवर्नर जनरल के पास यह समाचार पहुँचा कि उसे वापिस बुलाया जा रहा है । कलकत्ता ने उसका पक्ष लिया तथा इंग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल का भी यही मत था । निरन्तर कुछ मास तक दुःखी गवर्नर जनरल इस बात की लगभग आशा लगाए रहा कि उसे वापिस बुलाया जा रहा है। अगस्त १८२६ में उसने त्यागपत्र देने का निश्चय कर लिया । किन्तु मई १८२७ में कम्पनी के डायरेक्टरों की ओर से धन्यवाद तथा कृतज्ञता का प्रस्ताव पहुँचा । इतना होने पर भी उसका त्यागपत्र, जिसे स्वास्थ्य की खराबी के कारण दिया गया था, स्वीकार कर लिया गया । मार्च, १८२८ में लार्ड तथा लेडी एमहर्स्ट अपने शासन के पश्चात् कलकत्ता से प्रस्थान कर गए ।

भारत के अंग्रेज शासकों में लार्ड एमहर्स्ट का नाम सम्मान से लिया जाएगा ।

Questions for Revision

1. "Lord Hastings' reign may be described as consisting of three great campaigns." Mention the campaigns and clearly state their effect on the country.

2. "Lord Hastings conceived and carried through the greatest strategical operation ever undertaken in India." Examine and illustrate.

3. Carefully explain the chief objectives of Lord Moira's policy. Would it be correct to say that he succeeded in establishing the paramountcy of British power in India ?

4. "The year 1818 marks the close of an era." Discuss.

5. Describe the Anglo-Maratha relations upon the end of the Third Maratha War.

6. Is it correct to call the Marquis of Hastings one of the founders of British Empire in India ? What is his chief title to fame ? Attempt a critical estimate of his achievements.

7. Explain : "Marquess of Hastings was not only a great conqueror, but also a great administrator."

8. "The Earl of Moira had been an opponent of Lord Wellesley's policy; and yet he was destined to complete the fabrics of British dominion in India almost exactly as his grest predecessor had planned it." (P.E. Roberts). Explain and discuss.

9. "Our present condition is one of apparent repose, but full of danger." (Malcolm in 1819). Discuss the political and social effects of the spread of British rule in India.

10. Discuss critically the causes of the decline and fall of the Maratha powsr.

11. Give an account of the wars that led to the annexation of Burma.

12. Sketch briefly the relations bstween the East India Company and the Court of Ava (Burma).

अध्याय ९

पेशवाओं का उत्थान और पतन

(Rise and Fall of the Peshwas)

डा० सिन्हा के मतानुसार पेशवाओं के उत्थान के मुख्य कारण साहू की कमज़ोरियां तथा महाराष्ट्र में महान् राजनैतिक असंतोष थे। इनका उत्थान न तो आकस्मिक और न अभूतपूर्व है। उन्होंने धीरे-धीरे साधारण स्थिति से राज्य के प्रमुख और फिर पूर्ण आधिपत्य के लिये परिश्रम करके प्राप्त किया। बाला जी विश्वनाथ पेशवाओं के वंश का चलाने वाला था। इसने इस पद को अपने परिवार में वंशानुगत बनाकर अपने अन्य साथियों की तथा बाद में स्वयं राजा की शक्ति को निःशक्त कर दिया। शुरू में इनकी स्थिति "प्रतिनिधि" से नीची थी। सर्वप्रथम इन्हें "प्रतिनिधि" को हटाकर, राज्य में सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करनी थी और एक बार सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने के पश्चात्, राजा को भी अपना स्थान इन्हें समर्पण करना पड़ा। यह सब ये अपनी सुयोग्यता के कारण ही प्राप्त कर सके। इस प्रकार इन्होंने सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने के लिये, प्रथम 'प्रतिनिधि' और अन्य साथियों को पूर्णतः वश में करके फिर राजा को अपने वश में किया। ये दो पहलू इतिहास के विद्यार्थी को भूलने नहीं चाहिये क्योंकि स्वामी से सेवक को सत्ता का यह हस्तान्तरण होना इतना धीरे-धीरे, चुपचाप और सुचारु रूप से हुआ कि ये क्रमशः उठाये गये कदम तत्कालीन सारे इतिहासकारों के ध्यान से छूट गये। (Rise of the Peshwas, page 9).

बालाजी विश्वनाथ, १७१४-१७२० (Balaji Vishwanath)—बालाजी विश्वनाथ अपने स्वामी साहू का पूर्ण विश्वासपात्र था और वह "सेनाकर्ता" अर्थात् सेना के प्रबन्धक के पद पर नियुक्त हुआ। बालाजी के पूर्वज देशमुख थे और वह स्वयं चिपलन के नमक उद्योग में एक कर्मचारी नियुक्त हुआ था। १६८९ में वह पटवारी का कार्य करता था और बाद में वह दौलताबाद और पूना का 'सर सूबा' नियुक्त हुआ। १७०५ के लगभग वह मुगलों और साहू के सम्पर्क में आया। बालाजी का चरित्र, स्वामिभक्ति और योग्यता के विषय में साहू के बड़े ऊंचे विचार थे। बालाजी उन व्यक्तियों में से एक था जो साहू की मुक्ति के पश्चात् उसके साथ रहे। इसने साहू के विरोधियों को कुचलने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

इसने देहली के मुगल दरबार के असंतोष और षड्यन्त्रों से लाभ उठाकर मराठों में शक्ति और प्रभाव बढ़ाया। १७१९ में बालाजी विश्वनाथ को सैयद बन्धुओं की सहायता के लिये देहली से निमंत्रण आया। यद्यपि १७१९ में फरुख सैयद मार डाला गया, बालाजी को नये मुगल सम्राट् मोहम्मदशाह से तीन बख्शीश मिलीं। वही तीन बख्शीश आगे जाकर भारतवर्ष में मराठा सत्ता की आधारशिला बनीं। पहली बख्शीश के अनुसार, मराठों को दक्कन और अन्य दक्षिणी राज्य मिले जिनमें हैदराबाद, कर्नाटक और मैसूर भी सम्मिलित थे। चौथ, अर्थात् राज्य की आय का चौथा भाग, वसूल करने का अधिकार मिला। दूसरी बख्शीश के अनुसार, इन राज्यों से 'सरदेशमुखी' अर्थात् चौथ के अतिरिक्त

राज्य की उपज का दसवाँ भाग वसूल करने का अधिकार मिला। तीसरी बख़्शीश के अनुसार, उनके प्रदेश पर सर्वाधिकार सम्पन्न अधिकार माना गया। साहू कोल्हापुर वाले सम्भाजी को कष्ट नहीं दे सकता था और मुगल सम्राट् को १० लाख रुपये वार्षिक कर देना पड़ेगा। मुगल सम्राट् देहली से उसकी माता, स्त्री, भाई और राज्य परिवार के सदस्यों को, जिन्हें देहली में रोक रखा गया था, मुक्त करके वापिस भेजेगा।

डा० सिन्हा के मतानुसार, मराठों की इस देहली यात्रा के उनके इतिहास में बड़े गहरे परिणाम हुए। इसके तात्कालिक लाभों के अतिरिक्त इसने उनकी बाद की नीति पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला और अनेक पहलुओं में उनकी आंखें खुल गईं। बड़े काल तक मराठों ने, जो शाही शक्ति और शान को भय से देखा करते थे, स्वयं देहली जाकर देखा कि वास्तव में शक्ति का क्या अर्थ है। बाबर और अकबर के वंशजों के नाम के साथ जो यश और शान जुड़ी हुई थी और जिन्हें फोर्ट विलियम (Fort William) का प्रधान "सर्वोच्च-सम्राट् और विश्वमुकुटमणि" कहकर सम्बोधन करता था, सब धुंधली पड़ गई और मराठों ने पाया कि वे दुष्ट दरबारियों के हाथ के खिलौने हैं, उन्हें खदेड़ कर बेइज्जत किया जाता है और घृणित मृत्यु प्राप्त होती है। देहली में लहू की गन्ध आती थी, दरबारी षड्यन्त्रों में फलते-फूलते हैं, सम्राट् महत्त्वाकांक्षी अमीरों की कठपुतली है, केन्द्रीय सत्ता धूल में मिल चुकी है—इत्यादि तथ्यों से उन्हें मुगल साम्राज्य की सच्चाई मालूम हुई। महान् सम्राट् शिवाजी बहुत समय पहले यह सिद्ध कर चुके थे कि मुगल सेना अजेय नहीं है और मुगल साम्राज्य की सीमा का उल्लंघन करना कठिन नहीं है। मराठों के स्वातंत्र्य युद्ध (१६९०-१७०७) के समय में उन्हें मुगल शक्ति के विषय में कोई भ्रम नहीं रह गया था। अब उन्हें पूर्ण रूप से यह पता लग गया कि मुगल साम्राज्य जड़ से सड़ चुका है और यह अपनी आन-बान नहीं संभाल सकेगा और शायद, कौन जाने, मराठों की करारी चोटों से इसकी समाप्ति ही हो जाय। बालाजी विश्वनाथ जैसे कुशाग्रबुद्धि पुरुष ने एक शासक की दृष्टि से अवश्य ही देखा होगा कि मुगल साम्राज्य की शानदार इमारत डगमगा रही है और गिरने वाली है और इस पुरस्कार के लिये प्रयत्न और युद्ध करना उपयुक्त है। बालाजी और अन्य मराठे नेताओं ने, हिन्दू धर्म के उद्गम स्थान, एशिया के रत्न कोष, श्री राम और श्री कृष्ण की पवित्र गाथाओं से सम्बन्धित, भारतवर्ष के एक सुनहले चित्र की कल्पना की होगी। यह पवित्र भूमि, यह धनधान्य पूर्ण देश उनका ही हो जायगा यदि वे केवल मुगलों को उखाड़ सकें। इससे मराठों की स्थिति कुछ से कुछ हो जायगी। महाराष्ट्र का ऊसर प्रदेश धनधान्य, दूध और मधु से परिपूर्ण हो जायगा। अमीरों की आन-बान, नागरिकों की संस्कृत विलासिता, उनकी परिष्कृत बोल-चाल और शिष्टाचार, स्वास्थ्य और सौन्दर्य, गंगा और यमुना के उर्वर प्रदेश, फूल और वनस्पति, सुखद धूप और छांह, इन सबने बालाजी विश्वनाथ नाम के ग्रामीण किन्तु विद्वान् चितपावन ब्राह्मण की आँखों और कल्पना को अवश्य ही चकाचौंध कर दिया होगा।

किन्तु क्या इतना ही कुछ था ? शाही राजधानी में उनकी उपस्थिति, भाड़े के सिपाहियों की स्थिति में नहीं, अपितु राजा बनाने वालों (King-makers) के मित्र और समर्थकों के रूप में, एक सुन्दर भविष्य का द्योतक था कि शायद एक दिन वे भी

सम्राटों के भाग्यविधाता बन सकेंगे। निश्चित रूप से यह एक मजबूत आधार था जिसके कारण वह मुगल साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर बालाजी विश्वनाथ मराठा राज्य की नींव खड़ी कर सकता था।

बालाजी विश्वनाथ मराठों के लिये एक यशगाथा बना सका। जिस समय उसने सत्ता संभाली अपने देश को गृह-युद्ध से क्षत-विक्षत पाया किन्तु इसने इसे शान्त और समृद्धिशाली छोड़ा। उसने बिना युद्ध के अपने देशवासियों के लिये शिवाजी का "स्वराज्य" प्राप्त किया और मुगल राजधानी को मराठा शक्ति के यश से प्रभावित किया। उसने साहू की स्थिति सिंहासन पर दृढ़ कर दी। उस समय जब मराठे सरदार "प्रतीक्षा" का खेल खेल रहे थे और स्वामिभक्ति एक दुर्लभ वस्तु थी, इसने अपनी कर्तव्यनिष्ठा और लगन से साहू का विश्वास और प्रजा से सम्मान प्राप्त किया।

बालाजी विश्वनाथ ने भावी मराठा संघ की नींव डाली। तत्कालीन परिस्थितियों ने इस कार्य में उसकी सहायता की। औरंगज़ेब के दक्षिण युद्ध के परिणामस्वरूप मुगल साम्राज्य पूर्णत: विशृंखलित हो गया और इससे मराठों को दक्कन के चार सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त हुआ। शिवाजी द्वारा स्थापित राज्य भी नष्ट हो गया और महाराष्ट्र में भी जागीरें बनने लगीं। इन दो कारणों से मराठा राज्य का स्वरूप ही बदल गया और मराठा संघ की नींव पड़ी।

जब शिवाजी ने अष्ट प्रधान बनाये, उनको वेतन नकद मिलता था। कोई जागीर और वंशक्रमागत पद नहीं थे। उनके पुत्र सम्भा जी ने भी इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया। राजाराम के शासनकाल में पुरानी प्रणाली में परिवर्तन आया। राजाराम ने व्यवस्थित रूप से मुगल राज्य में लूटपाट करने की नीति अपनाई और इसलिए उसने अपने सेनापतियों को और उन लोगों को जो उसका प्रभुत्व मानते थे, दक्षिण को बाँट दिया। इस प्रकार मराठा सेनापति हर प्रकार से मुगलों को तंग करते रहते थे। राजाराम ने उन्हें इन प्रदेशों में अपने मुख्यालय बनाने और शासन करने की आज्ञा भी दी। राजस्व की राशि का एक भाग वह राजाराम को देकर बाकी सारा अपने पास रख लेते थे। वे सारे कार्य अपनी इच्छा से करते थे और राजाराम पर केवल प्रदेश के बँटवारे के अलावा किसी भी प्रकार उसके अधिकार में नहीं थे। वे लोग उन्हें मिले हुए प्रदेशों को अपनी शक्ति से जीती हुई अपनी जागीर समझते थे। ये सेनापति अपने स्वार्थ के लिये इच्छानुसार काम करते थे और किसी भी प्रकार से राजाराम के प्रति आज्ञाकारी नहीं थे। उन्हें अपनी स्वतन्त्रता पर गर्व था। यह प्रणाली केवल राजाराम ही नहीं अपितु ताराबाई और साहू के काल में भी चलती रही। यह उल्लेखनीय है कि वाडी के सामन्त, कान्होजी आँगरे, दमाजी थोरट इत्यादि ताराबाई और साहू की सत्ता की कोई चिन्ता नहीं करते थे। १७०७ के पश्चात् जब साहू अपनी शक्ति मजबूत करना चाहता था उसने मराठा सरदारों से, जिनके पास बड़ी-बड़ी जागीरें थीं, सहायता माँगी थी। इन मराठा सरदारों ने साहू की सहायता इस शर्त पर करने का वचन दिया था कि उनकी जागीरों को न छेड़ा जाय। वास्तव में जब साहू विजयी हुआ, उसने अपनी सहायता करने वालों को और जागीरें दीं। साहू की नीति थी कि किसी भी पुरानी परिपाटी में परिवर्तन न किया जाय और नई को चलाया न जाय। परिणामत: जागीरों को पुराने जागीरदारों के पास ही रहने दिया गया। यदि उसने उनकी

जागीरें छीनने का प्रयत्न किया होता तो उसे झंझट उठाना पड़ता। साहू के निकट रहनेवाले पदाधिकारियों के पास स्वयं बड़ी जागीरें थीं और वे इनको कभी भी छोड़ना नहीं चाहते थे। स्वयं बालाजी विश्वनाथ के पास बहुत बड़ी जागीर थी और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जागीर-प्रथा को हटाने के लिए उँगली तक नहीं उठाई। ये जागीरें इस प्रकार वंशक्रमानुगत बन गईं।

१७१९ में मुगलों द्वारा मराठों को दिये गये दक्कन के छः सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार ने भी मराठा संघ की प्रगति की। मराठों को ये कर वसूल करने के अधिकार के साथ उन्हें इस प्रदेश में शान्ति और व्यवस्था भी बनाये रखना पड़ता था। मराठों के लिये यह काम बड़ा कठिन था। बालाजी ने इसका हल, स्वराज्य को छोड़कर, दक्कन को जागीरदारों, संघ के सदस्यों, राजमन्त्रियों और अपने कृपापात्रों में बाँटकर किया। स्वयं बालाजी को खानदेश और बालाघाट के कुछ भागों से कर इकट्ठा करना पड़ता था। उसने बलगाम और गुजरात सेनापति को, गोण्डवाना का कुछ भाग, पानाघाट और बरार सेनासाहब सूबा कान्होजी भोंसला को, गंगाथाड़ी और औरंगाबाद सरलास्कर को, कर्नाटक फतहसिंह भोंसला को हैदराबाद, बीदर, नीरा और वरना के बीच का प्रदेश, प्रतिनिधि को दिया। इन पदाधिकारियों को इन प्रदेशों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार दिया गया। वे राजस्व का एक भाग प्रबन्ध के व्यय के लिए निकालकर शेष केन्द्रीय कोष में भेजते थे। वे अपने प्रदेशों में सर्व प्रकार से स्वतन्त्र थे और किसी भी प्रकार से साहू या पेशवाओं के अधिकार में नहीं थे। वे अपने प्रदेशों से खूब धन वसूल करते और इस प्रकार अपनी शक्ति बढ़ाते थे। बड़ी सेना और विपुल धन होने के कारण वे वास्तव में अपने को पूर्णतः स्वतन्त्र समझते थे और थे भी। इन परिस्थितियों के कारण बालाजी विश्वनाथ द्वारा जो राज्य बनाया गया वह बाद में मराठा-संघ (Maratha Confederacy) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस संघ का रूप वही रहा किन्तु इसमें केवल एक परिवर्तन अवश्य आया कि जैसे-जैसे मराठों द्वारा भारतवर्ष के अन्य प्रदेश जीतने के कारण इन सेनापतियों का अधिकार-क्षेत्र बढ़ता गया वे अधिकाधिक अपनी स्वतन्त्रता का दावा करने लगे।

बालाजी विश्वनाथ द्वारा की गई आर्थिक व्यवस्था के कारण पेशवा और साहू दोनों मराठा सैनिक सरदारों पर निर्भर हो गये। उन्हें मराठा सरदारों से प्राप्त होने वाले धन पर निर्भर रहना पड़ता था। डा० सिन्हा के मतानुसार, राजा अपने सरदारों का वस्तुतः एक बन्दी बन गया था और उसे सरदेशमुखी की आमदनी के अतिरिक्त अपने २५ प्रतिशत के भाग की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। सैन्य शक्ति तो उसके हाथ से निकल ही चुकी थी और इस व्यवस्था के कारण अपना पद सम्भालने के लिये भी उसे बड़े-बड़े सरदारों पर निर्भर रहना पड़ता था। बालाजी ने अपनी त्रुटि की गम्भीरता का अनुभव नहीं किया और राजा के निजी घरेलू कार्य के विभिन्न विभागों को भिन्न-भिन्न सरदारों को सौंपकर, राजा की स्थिति और भी निर्बल कर दी। भोंसला और आँगरे जैसे सरदारों और अष्ट प्रधानों को मासिक वेतन पर शाही घराने का प्रबन्ध करने के लिये नियुक्त किया जाने लगा। शाही अस्तबल का व्यय सचिव करता था, प्रतिनिधि शाही भंडार और पेशवा शाही महलों का खर्च उठाता था। इस बात की पड़ताल रखने के लिये कि मराठा संघ के

सारे सरदार राजस्व का भाग नियमित रूप से भेज रहे हैं अथवा नहीं, कुछ कर्मचारी नियुक्त थे जिन्हें "राजजन" कहा जाता था। इस प्रकार राजा सरदारों से प्राप्त करनेवाला ही रह गया था और इसकी पदवी नाममात्र की ही रह गई। शाही शक्ति को इस प्रकार शक्तिहीन करने का उत्तरदायित्व बालाजी विश्वनाथ पर ही है। (Rise of the Peshwas, pp. 79–80)

सर रिचर्ड टैम्पल ने बालाजी का चरित्र और सफलतायें इस प्रकार वर्णन की हैं; "वह अपने उत्तराधिकारियों से कहीं अधिक एक ब्राह्मण की भाँति था। वह एक शान्त, दूरदर्शी, शासन के गुणों से सम्पन्न, उच्चाभिलाषी और विचारशील, आसुरी शक्ति को चरित्र बल से जीतने वाला, राजनैतिक दाँव-पेच का पंडित और अर्थशास्त्र का आचार्य था। राजनैतिक जीवन में उसे इस प्रकार के कार्य करने पर बाध्य होना पड़ा जिनसे उसे घोर आत्मिक कष्ट होता था। अनेक बार उसे मार डालने की धमकियाँ दी गईं और हर बार वह ब्राह्मणोचित निर्लिप्त भाव से इसके लिये उद्यत रहा। उसने आतंक और शक्ति द्वारा मुगलों को मराठों की स्वाधीनता मानने के लिये बाध्य कर दिया। बालाजी राजनैतिक क्षेत्र में अजेय रहकर मुसलमानों की शक्ति के ध्वंसावशेषों पर हिन्दू राज्य की स्थापना का प्रयत्न करता हुआ दुर्भाग्यवश अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ।"

सरदेसाई के मतानुसार, "इस प्रथम पेशवा की सेवाओं और सफलताओं को अभी भी इतिहास में पूर्ण रूप से मान्यता प्राप्त नहीं हुई है क्योंकि इस विषय में केवल थोड़े ही दिनों से खोज हुई है। साहू ने इसे अपने एक पत्र में "अतुल पराक्रमी सेवक" कहकर सम्बोधित किया है। इससे स्पष्ट रूप से पता लगता है कि उसने अपने राज्य के पेशवा पद को सेनापति के कार्यालय के साधारण कर्मचारी को नहीं दिया था, अपितु एक अनुभवी योग्य पुरुष को सौंपा था जिसे वह एक लम्बे अरसे से व्यक्तिगत रूप से जानता था और जिसकी योग्यता को उसने पूरे पाँच वर्ष की कठिन परीक्षा में खरा पाया था। वास्तव में यद्यपि इस प्रथम पेशवा के जीवन और कार्य के विषय में अभी पूरी जानकारी प्राप्त नहीं है, हम लगभग निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि उसका पिता और दादा शिवाजी के सेवक थे, उसे मुगल-मराठा संघर्ष के काल में बड़ा गहरा अनुभव था जिसके परिणामस्वरूप औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुई साहू की और सारे देश की स्थिति का वह पूर्णतः अध्ययन कर चुका था। शिवाजी महान द्वारा इच्छित और पिछले दो शासन-कालों में छिन्न-भिन्न होते हुए हिन्दू साम्राज्य की स्थापना के कार्य के लिये तत्कालीन सारे साधनों को पूर्ण उपयोगिता से प्रयोग करने में उसने अद्वितीय शासन योग्यता और दूरदर्शिता का परिचय दिया। दक्षिण में ताराबाई के स्वतन्त्र राज्य की स्थिति के कारण उसे अपनी उन्नति के मार्ग की तलाश उत्तर की ओर करनी पड़ी।" (Main Currents of Maratha History, p. 93)

बाजीराव, १७२०-१७४० (Baji Rao)—बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र बाजीराव साहू का पेशवा बना। उसकी नियुक्ति साहू के सारे सरदारों और सलाहकारों के विरोध करने पर भी की गई। अधिकार पाने के समय बाजीराव लगभग २० वर्ष का था। किन्तु छोटी आयु होने पर भी बाजीराव विशाल साधारण ज्ञान, तीव्र बुद्धि और बलवान शरीर का था। वह राजनीति और शासन-

कार्य में दक्ष था। वह सत्य रूप से इस महत्त्वपूर्ण निर्णय पर पहुँचा कि मुगल सत्ता का ह्रास हो रहा है और इस समय उससे सूबे छीनना सम्भव है। इस समय में बाजीराव ने यह ललकार दी, "यह समय आततायियों को हिन्दुस्तान से बाहर करने का और अक्षय यश प्राप्त करने का उपयुक्त समय है। आओ, हम इस मृतप्राय वृक्ष की जड़ों पर कुठाराघात करें, इसकी शाखायें स्वयमेव ही गिर पड़ेंगी। यदि हम अपने संघर्ष को हिन्दुस्तान की ओर अग्रसर करें तो मराठा ध्वज कृष्णा से अटक तक फहरायेगा।" साहू ने उसकी इस नीति का इन शब्दों में अनुमोदन किया कि "तुम इस ध्वज को हिमालय के उस पार गाड़ो। तुम वास्तव में एक योग्य पिता के महान् पुत्र हो।" बालाजी ने राज्य की सेनाओं का संगठन कर १७३१ में अपना मोर्चा जमाया। उसी वर्ष बहुत से प्रदेशों में मराठों का चौथ और सरदेशमुखी का अधिकार सर्वमान्य हो गया। १७३२ में मराठों की सेना ने मालवा को पादाक्रान्त किया। १७३७ में बुन्देलखंड विजय किया और इस प्रकार बाजीराव देहली के द्वार पर आ धमका। दक्कन में निजाम-उल-मुल्क मुगल सम्राट् की सहायता के लिए आगे बढ़ा किन्तु भोपाल के निकट उसे हार खानी पड़ी और औपचारिक रूप से मालवा और गुजरात हस्तान्तरित करने पड़े। डाक्टर डिघे के मतानुसार, "भोपाल विजय मराठों की सफलता अभियान का सर्वोच्च समय था। मुसलमानों की संयुक्त सेना को भोपाल में हराकर पेशवाओं ने मराठों की सैनिक शक्ति को सारे भारतवर्ष में श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया और इस प्रकार नई साम्राज्य शक्ति की आधार-शिला रखी। निजाम-उल-मुल्क ने बाजीराव को ५० लाख रुपया युद्ध की क्षति के रूप में देना भी स्वीकार किया। १७३९ में पुर्तगालियों से बसीन का द्वीप छीन लिया गया। बाजीराव मराठा शक्ति की नींव दृढ़ करके १७४० में चल बसा।

बाजीराव का एक मस्तानी नाम की मुसलमान नर्तकी से प्रेम था। वह तत्कालीन भारतवर्ष की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी तथा अत्यन्त सभ्य महिला थी। वह अच्छी संगीतज्ञ थी और बाजीराव की सेवा एक पत्नी की तरह बड़ी भक्ति और प्रेम से किया करती थी। कहा जाता है कि बाजीराव को माँस और मदिरा की लत इसके ही प्रभाव के कारण पड़ी। ये दोनों ही १७४० में मर गये।

बाजीराव सारे जीवन भर दो बातें पूरी करने का प्रयत्न करता रहा। उसने उत्तर में मराठा शक्ति को बढ़ाने और मराठा संघ में परस्पर सहयोग उत्पन्न करने के लिए भिन्न इकाइयों में एक प्रकार की अंतर-निर्भरता (Interdependence) पैदा करने का प्रयत्न किया। जैसा कि पहले कहा गया, वह उत्तर में मराठा शक्ति को बढ़ाने में सफल हुआ किन्तु दूसरे कार्य में असफल रहा। मराठा-संघ के प्रति उसका दृष्टिकोण एक शासक का था। उसका लक्ष्य था कि सारा मराठा संघ पेशवाओं के इशारों पर चले। उनके आन्तरिक और बाहरी मामलों की वह देखभाल और नियंत्रण करे। वे युद्ध और संधि उसकी इच्छा के बिना न करें। अन्य प्रदेशों पर विजय से उसका आशय मराठा संघ पर भी विजय प्राप्त करना था। वह वास्तव में सारे महाराष्ट्र पर राज्य नहीं अपितु अपना प्रभाव रखना चाहता था।

मराठा संघ के प्रति दबाव डालने के कारण बाजीराव की आलोचना की जाती है। उसे इसके प्रति मेल-मिलाप की नीति अपनानी चाहिये थी। यह प्रतीत होता है कि

अपने पद के प्रथम ग्यारह वर्षों के समय में उसे यह अनुभव हो गया था कि उसे अपने साथियों और अन्य मराठा सरदारों से सहायता या हमदर्दी नहीं मिल सकती। परिणामत: उसकी इस आधिपत्य जमाने वाली नीति के कारण उसके विरुद्ध विद्रोह की भावना बढ़ गई थी।

बाजी राव पर साहू का पूर्ण विश्वास था और इस कारण उसने सब कुछ पेशवा के हाथों में छोड़ दिया था। बाजीराव अपनी मनचाही करता था और इसके परिणामस्वरूप छत्रपति की शक्ति का क्रमश: नाश होता गया। इस पेशवा ने पूना को अपनी शक्ति का केन्द्र बनाने का निर्णय किया। १७३० में वहां एक दुर्ग बनाना शुरू किया गया जिस पर बाद में बड़ी दृढ़ मोर्चाबन्दी भी की गई। अन्य मराठा सरदारों ने भी बाजीराव का अनुसरण किया। प्रतिनिधि ने करहाद में, सचिव ने भोर में, सेनापति ने तेलगांव में और भोंसला ने नागपुर में अपने-अपने शक्ति केन्द्र स्थापित कर लिये। प्रत्येक अपने को छत्रपति और पेशवा से स्वतन्त्र समझता था। इस भावना से छत्रपति की अवहेलना की भावना बढ़ती गई। डा० सिन्हा के मतानुसार, आधिपत्य जमाने की नीति के कारण पेशवाओं की उन्नति की नींव तो जम गई किन्तु मराठा-संघ के सदस्यों की एकता दुर्बल हो गई जो परोक्ष रूप से संघ के पतन का कारण बनी।

बाजीराव एक महान् सेनापति और योद्धा था। उसका साहस और व्यक्तिगत वीरता असाधारण थी। सैनिक के रूप में उसका कोई समकक्ष नहीं था। उसकी लौह देह के लिये कितना भी परिश्रम थका देने के लिए पर्याप्त नहीं था। छापामार युद्ध में उसका कोई भी मुकाबिला नहीं कर सकता था। वह इस प्रकार के युद्ध में केवल शिवाजी से ही नीचा था। जिस योग्यता से उसने निजाम-उल-मुल्क को नीचा दिखाया उससे उसकी निपुणता का ज्ञान होता है। वह अपने साथियों का साहस था और वे उसके प्रति पूर्ण वफादार थे। इसने उन्हें विजय के पथ पर अग्रसर किया। उसकी तीव्रता और कुशल राजनीतिक चालें उसकी सफलता का मूलमंत्र थीं। उसकी मौलिक मोर्चाबन्दी, साहसपूर्ण क्रियाशीलता, दांवपेच की पहिचान इस बात की द्योतक हैं कि वह एक महान् सेनानायक था। वह अपने समकालीन महाराष्ट्र के नेताओं में सर्वश्रेष्ठ था। उसके पास योजना बनाने की बुद्धि और उसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए बाहुबल भी था।

सरदेसाई के शब्दों में, "बाजीराव के चरित्र और सफलताओं के विषय में अलग लिखने की आवश्यकता नहीं। उसके कार्य ही उसका बखान करते हैं। युद्ध कला में वह शिवाजी से ही थोड़ा कम था। केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में साहू द्वारा उसे पेशवा का पद सौंपना युक्तियुक्त नहीं माना गया था। किन्तु एक इस उम्र के किशोर के लिए महाराष्ट्र के छत्रपति के सर्वोच्चपद को संभालकर मराठा साम्राज्य को उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम तक फैला देना, घर और बाहर विरोधियों पर काबू पाना एक ऐसा अभूतपूर्व कार्य है जो मराठा जाति के गौरव को बढ़ाता रहेगा। बीस वर्ष के अथक परिश्रम, श्रीरंगपट्टन से देहली और अहमदाबाद से हैदराबाद तक की विश्रामहीन यात्राओं ने इस महान् कर्मठ पुरुष के लौह शरीर को क्षीण कर डाला। इसके क्रियाशील बीस वर्ष के राज्यकाल ने मराठा राष्ट्र के रूप को पूर्णत: परिवर्तित कर दिया और सारे भारतवर्ष की राजनैतिक शक्ति का पुनर्विभाजन कर डाला। १७४० में उसकी मृत्यु के समय राजनीति का

आकर्षण केन्द्र (Centre of Gravity) देहली के दरबार से साहू के दरबार में चला गया था। बालाजी राव के पिता द्वारा नियोजित व्यवस्था, जिसे उसने और उसके पुत्र ने कार्य रूप में परिणत किया, शिवाजी द्वारा निर्धारित संविधान को परिवर्तित कर दिया और भारतवर्ष के मानचित्र पर अनेक स्थानों पर मराठा शक्ति के केन्द्र चित्रित हो गये। इस प्रकार बालाजी राव महान् महाराष्ट्र का निर्माता बना। (New History of Marathas, Vol. II, page 112)

सर रिचर्ड टैम्पल ने बाजीराव के चरित्र का वर्णन इन शब्दों में किया है, "बाजीराव को घुड़सवारी में जीतना बड़ा ही कठिन था और वह युद्ध में सबसे आगे रहता था। यदि वह जानता कि उसका कार्य संकट में पड़ गया है तो वह अपने आपको युद्ध की आग में झोंक देता। वह कभी थकता नहीं था। साधारण सैनिकों जैसी ही कठिनाइयां सहन करने में गर्व अनुभव करता और वैसा ही सादा भोजन करता। वह अपने देश के पुराने शत्रु मुसलमानों और नये प्रतिद्वन्द्वी योरुपनिवासियों के विरुद्ध, जो अभी भारत के राजनैतिक क्षितिज में उठने लगे थे, हिन्दू राज्य की स्थापना के राष्ट्रीय कार्य की सफलता के लिए बड़ी लगन, उत्साह और एक कट्टर देशभक्त के पूर्ण आत्मविश्वास के साथ लगा था।

एच० जी० रॉलिन्सन (H. G. Rowlinson) के अनुसार, उसकी जाति ने शिवाजी के बाद यह दूसरा महान् पुरुष उत्पन्न किया। मराठों के इतिहासकारों के शब्दों में वह योजना का हृदय और मस्तिष्क था। देखने में रोबदार और ऊँचे कदवाला और अपने परिवार वालों की तरह देखने में सुन्दर था। वह एक ही महान् सैनिक और शासक था। वह सम्पूर्णरूप से मराठे घुड़सवारों की चालों को खूब समझता था और निज़ाम के विरुद्ध उसके अभियान मोर्चाबन्दी के आदर्श उदाहरण हैं। विजय के अवसर पर वह उतना ही हर्षित होता था जितना कि युद्धस्थल में। एक राजनीतिज्ञ के रूप में अपने पिता की तरह महत्त्वाकांक्षी था और एक हथेली जितने बड़े मराठा राज्य के बादल को देहली से तंजौर तक सारे भारतवर्ष पर छाते हुए देखने के लिए जीवित रहा। वह एक ओजस्वी और उत्साह दिलाने वाला वक्ता था और यदि व्यक्तिगत जीवन में उसका स्वभाव चितपावन ब्राह्मणों जसा उग्र और क्रोधी था, तथापि जो उसकी सेवा वफादारी से करते थे उनके प्रति वह अत्यन्त कृपालु स्वामी रहा।" (Cambridge History of India Vol. IV, page 107)

डा० सिन्हा के अनुसार,"बाजीराव में एक महान् योद्धा और नेता के गुणों के होने पर भी उसमें एक सफल शासक के गुणों का अभाव था। दूसरों के प्रति उसका व्यवहार आधिपत्यपूर्ण था और उसका स्वभाव अत्यन्त उग्र था। वह पूर्ण रूप से एक सैनिक था और किसी प्रकार का विरोध सहन नहीं करता था। सौभाग्यवश उसके पास बहुत साधन थे, जिनके बल से वह सारे विरोधियों का दमन कर पाया। कहा जाता है कि किसी भी योजना को कार्य में परिणत करने के लिये उसके पास मस्तिष्क और बाहुबल दोनों थे। यह सत्य है कि अत्यधिक शक्तिमत्ता अच्छे शासक की शक्ति की जड़ पर कुठाराघात करती है। थोड़ी-सी सरलता से शासन-कला में चार चाँद लग जाते हैं। बाजी राव ने अपने जीवन में अनेक शत्रु बनाये और मृत्यु के पश्चात् भी अनेक शत्रु छोड़ गया। उसे समझौता करना ही नहीं आता था। उसे तो केवल आधिपत्य जमाना आता था। आधिपत्य का प्रभाव लोगों

को उस समय भी दुःखप्रद होता है जब इसके पीछे पूर्ण निःस्वार्थ और निर्लेप भावना हो। और फिर बाजीराव की आधिपत्य भावना तो निःस्वार्थ नहीं थी। यद्यपि वह अपने राजा साहू और देश के प्रति पूर्ण रूप से वफादार था।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि बाजीराव में आत्मप्रशंसा की भावना प्रचुर मात्रा में पाई जाती थी। जो कार्य वह करता था। उसमें उसे पूर्ण विश्वास था कि महाराष्ट्र की भलाई के लिये है और इस कार्य में उसका नेतृत्व केवल आवश्यक ही नहीं अपितु अन्य कोई व्यक्ति इस कार्य को कर ही नहीं सकता। स्वाभाविक है कि इस प्रकार की मनोवृत्ति से अनेक व्यक्ति रुष्ट हो गये। प्रारम्भिक काल में उसका बहुत विरोध हुआ और जैसे धीरे-धीरे वह अपने विरोधियों पर सफलता प्राप्त करता गया उसका आत्मविश्वास बढ़ता गया। उसकी असाधारण विजयों के कारण साहू उसका विश्वस्त मित्र बन गया और उसके शत्रु उससे भय खाने लगे। मराठा-संघ के प्रति उसका रुख कड़ा और रूखा था। वह चाहता था कि संघ के सारे सदस्य-राज्य पेशवा की देख-रेख में एक सूत्र में बंध कर रहें। वह उन्हें मनमानी नहीं करने देता था और अपने अतिरिक्त किसी की शक्ति नहीं मानता था। प्रतिनिधि, दाभडे, राघोजी भोंसला, फतहसिंह भोंसला और आँगरे इत्यादि सारे के सारे इसकी महत्त्वाकाँक्षा और आधिपत्य की भावना के कारण, ईर्ष्या करते थे। अपने ही जैसे अवगुणों को अन्य व्यक्तियों में देखकर उन्हें तंग करता था और इस कारण बहुत से लोग इसका विरोध करने लगे थे। (Rise of the Peshwas, page 202-3)

बालाजी बाजीराव, १७४०-६१ (Balaji Baji Rao)--१७४० में बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र बालाजी बाजीराव पेशवा बना। उसके भाइयों ने उसका अधिक विरोध किया। यह सत्य है कि बालाजी बाजीराव स्वयं प्रतिभाशाली व्यक्ति नहीं था, किन्तु वह प्रत्येक बात में अपने चचेरे भाई सदाशिव भाऊ की सम्मति का लाभ उठाता था। बालाजी राज्य की सारी महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर उससे सम्मति लिया करता और बिना उसकी सलाह के कुछ भी नहीं करता था। सदाशिव भाऊ की देख-रेख में ही मराठों की शक्ति १७६० में उच्चतम शिखर पर पहुँची।

राघोजी भोंसला ने कई बार मध्य भारत को रौंद डाला और बंगाल पर चढ़ाइयाँ कीं। १७५१ में उसने अलीवर्दीखान को उड़ीसा का प्रदेश मराठों को देने के लिए विवश किया और बंगाल और बिहार के सूबा प्रदेशों की चौथ भी मराठों को देनी स्वीकार की। १७५२ और १७५६ के काल में मराठों ने मुगल साम्राज्य से उत्तर-भारत के राजस्व से चौथ लेने का आश्वासन प्राप्त किया। १७५८ में मराठों ने पंजाब पर अधिकार किया और अटक के किले पर मराठों का ध्वज लहराया। एल्फिस्टन के मतानुसार, "उनके राज्य की सीमा उत्तर में सिन्धु नदी और हिमालय तक, दक्षिण में लगभग सारे पठार के अन्त तक थी, इन सीमाओं में जो भाग उनके अपने अधिकार में नहीं थे, वे उन्हें राजकर देते थे।"

पानीपत का तृतीय युद्ध, १७६१ (Third Battle of Panipat)—मराठों द्वारा पंजाब पर विजय और अधिकार करने के कारण उन्हें अहमदशाह अब्दाली से टक्कर लेनी पड़ी जो अफगानिस्तान से इस प्रदेश को मराठों से पुनः प्राप्त करने के लिये आगे बढ़ा। मराठे उससे जूझने के लिये प्रस्तुत थे और इस प्रकार जनवरी १७६१ में पानीपत का प्रसिद्ध

तीसरा युद्ध हुआ। अहमदशाह के पास ४०,००० घुड़सवार और ३५,००० पैदल सेना थी और सदाशिव भाऊ के पास ५५,१०० घुड़सवार और १५,००० पिन्डारी थे। दोनों ही पक्षों के पास तोपखाना और अन्य सामग्री थी। सदाशिव को अपने तोपखाने पर बड़ा गर्व था और अपने सेनापतियों की सम्मति के विरुद्ध भी उसने जमकर युद्ध करने का निर्णय किया। अब्दाली मराठों की रसद रोकने में सफल हुआ। आरम्भ में तो मराठे जीतते रहे किन्तु युद्ध-क्षेत्र अफगानों के हाथ रहा। सदाशिव भाऊ युद्ध में काम आया और पेशवा का पुत्र विश्वास राव भी मारा गया। मल्हार राव होल्कर ने युद्ध-क्षेत्र से भागकर अपनी जान बचाई। मराठा सेना की यह क्षति पेशवा को इन शब्दों में बताई गई, "दो मोती जल में घुल गए, सोने की सत्ताईस मोहरे खोई गई, चाँदी और ताँबे की जो हानि हुई उसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता।" यह सूचना बालाजी बाजीराव को उस समय मिली जब वह वह सहायता लेकर पानीपत की ओर जा रहा था। दुर्भाग्यवश वह देर से पहुँचा और अत्यन्त निराश होकर पूना लौटते ही कुछ दिनों बाद १७६१ में उसकी मृत्यु हो गई।

१७६१ की पानीपत की लड़ाई के प्रभाव के विषय में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। सरदेसाई के मतानुसार, "यद्यपि युद्ध-क्षेत्र में मराठों को अपार जन-शक्ति की भारी हानि उठानी पड़ी, किन्तु इसका कुछ महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में इसके परिणामस्वरूप परोक्ष में इस महान् जाति के दो शक्तिशाली नेताओं नाना फड़नवीस और महादजी सिन्धिया का कार्य-क्षेत्र में आगमन हुआ। ये दोनों ही आश्चर्यजनक रूप से इस भयानक युद्ध में मृत्यु से बच निकले और इनके ही कारण इस शक्ति को पूर्वकालीन गौरव प्राप्त हुआ। यह विचार करना कि पानीपत के युद्ध में हानि के कारण मराठों की उच्चाकांक्षाएँ लुप्त हो गई वास्तविक स्थिति का त्रुटिपूर्ण अध्ययन है जैसा की तत्कालीन अन्य इतिहासकारों ने किया है।"

अस्तु, अन्य इतिहासकारों का यह मत नहीं है। श्री यदुनाथ सरकार के मतानुसार, "भारतवर्ष के इतिहास का निष्पक्ष पुनरीक्षण यह बताएगा कि मराठों का यह भ्रममूलक दावा कितना निराधार है। निस्संदेह एक मराठा सेना ने १७७२ में मुगलों के निर्वासित सम्राट् को उसके पूर्वजों की राजधानी में पुनः ला बसाया था किन्तु क्या वे राज्य-निर्माता अथवा मुगल साम्राज्य के पूर्ण सत्ताधारी अथवा उसके नाममात्र के सेनापतियों तथा मंत्रियों के स्वामी बन गये थे ? यह गौरवान्वित पद १७८९ में केवल महादजी सिंधिया को प्राप्त हुआ था फिर १८०३ में अंग्रेजों को। इसके समर्थन में बहुत कुछ कहा जा सकता है। पानीपत का युद्ध एक निर्णयात्मक युद्ध था। मराठा सेना की मुकुट-मणि वहीं गिर गई थी। और इस युद्ध के पश्चात् मराठों के अखिल-भारतीय साम्राज्य के स्वप्न नष्ट हो गये। इस पराजय ने मराठों का नैतिक पतन करा दिया। १७६१ के पश्चात् भारतीयों को यह अनुभव होने लगा कि वे मराठों की रक्षा और मित्रता पर निर्भर नहीं रह सकते। बहुत से मराठे सरदारों और राजनीतिज्ञों के मारे जाने के कारण मराठा इतिहास के सबसे कुटिलपात्र रघुनाथ दादा की दुष्कामनापूर्ण आशाओं की पूर्ति के लिये राह खुल गई। अन्य हानियां समय बीतने पर पूरी हो जातीं किन्तु पानीपत के संहार का सबसे अधिक दुष्परिणाम यह हुआ।" पेशवा परिवार की आन्तरिक कलह के कारण मराठा शक्ति क्षीण होने लगी और इसी तथ्य के कारण अंग्रेज शक्तिशाली हुए। सरदेसाई के

मतानुसार, "यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है कि जिस समय मराठे और मुसलमान प्राचीन कुरुक्षेत्र में घोरयुद्ध में जूझ रहे थे उस समय ब्रिटिश राज्य का प्रथम निर्माता क्लाइव ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मंत्री लार्ड चैथम को भारत में साम्राज्य स्थापना के सम्भावित स्वप्न समझाने के लिये इंग्लैंड की ओर दौड़ा जा रहा था। पानीपत के युद्ध ने भारत की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने के संघर्ष में परोक्ष रूप से एक और पक्ष उत्पन्न कर दिया। वास्तव में उस ऐतिहासिक घटना का यही सीधा परिणाम हुआ जिसने भारत के इतिहास का प्रवाह दूसरी ओर मोड़ दिया।

पानीपत के तीसरे युद्ध ने "भारतवर्ष के भाग्य का निर्णय कर दिया।" इस घोर युद्ध में मराठों और मुसलमानों ने एक दूसरे को शक्तिहीन करके अंग्रेजों को भारत में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कराने में सहायता दी। यदि यह कहा जाय कि "प्लासी के युद्ध ने अंग्रेजों की शक्ति का बीजारोपण किया तो पानीपत ने उसे जड़ जमाने और पकने का अवसर दिया।"

एल्फिस्टन के मतानुसार, "कोई भी पराजय इतनी पूर्ण नहीं हुई और कोई भी आपत्ति ऐसी नहीं आई जिसने इतना भय फैलाया हो। सारी मराठा जाति में दुःख और निराशा छा गई। अधिकांश को अपने सम्बन्धियों की मृत्यु का दारुण दुःख था किन्तु सेना के इस भयंकर विनाश को सारी जाति अपने जातीय गौरव पर अत्यन्त घातक प्रहार समझती थी। पेशवा (बालाजी राव) इस चोट से कभी भी पनप नहीं पाया। वह धीरे-धीरे सीमा से पूना की ओर पीछे हटता गया और वहाँ नगर के निकट ही अपने बनाए हुए एक मन्दिर में पहुँच कर मर गया। टूटी-फूटी सेना नर्वदा के उस पार लगभग सारे हिन्दुस्तान के जीते हुए प्रदेशों को छोड़ती हुई पीछे हट गई। बालाजी की मृत्यु के बाद तुरन्त ही आपसी कलह की आग भड़की और पेशवा सरकार फिर कभी इससे उभर नहीं सकी। इन प्रदेशों में से कुछ बाद में फिर जीत लिया गया किन्तु वह अंग्रेज अधिकारियों और अनुशासित सैनिकों की सहायता से। मराठे राजाओं का संगठन अपने प्रमुख भय के समाप्त होते ही लुप्त हो गया।

पानीपत के युद्ध में मराठों की पराजय के कारण (Causes of Defeat of Marathas in the Battle of Panipat)—मराठों की पराजय के कई कारण थे। अहमदशाह अब्दाली सैन्य दृष्टि से अधिक शक्तिशाली था, मराठों का सेनापति सदाशिव किसी प्रकार भी अहमदशाह की, जो उस समय सारे एशिया भूखंड का सर्वश्रेष्ठ कुशल सेनापति था, जोड़ नहीं था। वह एक साधारण कुशल योद्धा और युद्धविद्या का ज्ञाता था। विश्वासराव के मारे जाने के बाद सदाशिव युद्ध में बुरी तरह घुस गया और मारा गया। वह देहली से संपर्क बनाये नहीं रख सका जिसके परिणामस्वरूप युद्ध के दो महीने पहले मराठा सेना भूखों मरने लगी थी और वे युद्ध क्षेत्र में भूखे पेट लड़े। मराठों ने जाटों और राजपूतों से बनाकर नहीं रखी हुई थी, इस कारण वे किसी पर विश्वास भी नहीं कर सकते थे। इन परिस्थितियों में यह कोई आश्चर्य नहीं कि मराठों की सहायता करने को कोई भी आगे नहीं आया। अहमदशाह की सेना के पास पेशवा की सेना से अधिक अच्छे शस्त्रास्त्र थे। मराठों के पास भाले और तलवारें थीं किन्तु अफ़गानों के पास बन्दूकें थीं। हाथापाई के युद्ध में मराठों का तोपखाना व्यर्थ रहा किन्तु अफगानों की बन्दूकें उनको युद्ध को जिताने में साधक रहीं। अफगान अनुशासन में सधे हुए थे, जिसकी मराठों में कमी थी। वे व्यक्तिगत

गौरव को अधिक महत्त्व देने के कारण बिखरे हुए रहते थे। वे अनुशासन से निम्न श्रेणी के पुरुषों की भाँति घृणा करते थे। वे नियम के विरुद्ध अभियान को अच्छा समझते थे और अनुशासन, संयम, विधिवत् नियन्त्रित कार्य, जो वास्तव में सैन्य परिपाटी के प्राण हैं, दासता और अपनी जाति के विनाश का कारण समझते थे। परिणामस्वरूप अनियन्त्रित मराठों को अनुशासनशील अफगानों से मुँह की खानी पड़ी।

सरदेसाई ने मराठों की पानीपत में हार के कारण इस प्रकार बताये हैं। रघुनाथराव उत्तर में स्थित मराठे प्रतिनिधियों में अनुशासन और व्यवस्था बनाए नहीं रख सका। होल्कर नजीबखां को शरारत करने से नहीं रोक सका। पेशवा उत्तर में जाकर समय रहते हालत को नहीं सँभाल सका। भाऊ साहब स्त्रियों और असैनिक सेवकों को भरतपुर या देहली में पीछे नहीं रोक सका। जैसे ही दोनों सेनायें एक-दूसरे के सम्मुख आईं भाऊ साहब को तुरन्त ही आक्रमण करके अपने मुख्य स्थान देहली से संपर्क और यातायात के साधनों को बनाये रखना था। विश्वास राव की मृत्यु के पश्चात् भाऊ को एकदम युद्ध में नहीं जूझ पड़ना था। छावनी में मराठों के घोड़े पानीपत में भूख से मर गये और मराठों को केवल घोड़ों पर चढ़कर युद्ध करने की आदत थी और बिना घोड़ों के लड़ने के कारण उनकी पराजय होना आश्चर्यजनक नहीं है। सरदेसाई के मतानुसार, यह कहना कि मराठों का छापामार युद्ध को छोड़ देना ही पानीपत की हार का कारण था, ठीक नहीं।

बाजीराव एक परिष्कृत रुचि वाला, विलासमय जीवन का शौकीन, ललितकलाओं और शानबान का चाहने वाला व्यक्ति था। मराठों का छावनी का जीवन अपनी प्राचीन सादगी और कड़ापन छोड़ चुका था। पेशवा हिसाब किताब और लेख इत्यादि में निपुण था और आय तथा व्यय पर कठोर नियन्त्रण रखता था। राज्य कर्मचारी एक सचिवालय जैसी संस्था में केन्द्रित थे जिसे "फाद" (Phad) कहा जाता था। पेशवा नीति और युद्ध दोनों में शान्ति की नीति अपनाता था। इस आरोप में कोई तथ्य नहीं है कि वह ब्राह्मणों का अधिक पक्ष करता था। वह सब जातियों से समान व्यवहार करता था और सब ही उसकी कृपा के एक समान पात्र थे।

तत्कालीन एक लेखक के अनुसार, "बालाजी पन्त नाना ने महान् छत्रपति साहू का प्रेम प्राप्त किया और राज्य की सेवा में उन सब व्यक्तियों को उन्नति दी जिन्हें उसके पिता और चाचा ने नियुक्त किया था। वह गुणग्राही था और जब भी उसे योग्य व्यक्ति मिला उसे प्रोत्साहन दिया और जिन लोगों ने योग्यता और वीरता दिखाई उन्हें उपाधियाँ, भेंट और सम्मान प्रदान किया। जनसाधारण के हित में संलग्न होने के कारण उसने राज्य के विभागों में उच्च योग्यता वाले व्यक्ति नियुक्त किए। उसके काल में सरदारों और अन्य व्यक्तियों ने दुस्साहसपूर्ण कार्य किये तथा बड़ी-बड़ी विजयें प्राप्त कीं। उसके मधुर, नम्र और उदार स्वभाव ने उसके शत्रुओं के हृदय भी जीत लिये। उसकी विजय का क्षेत्र रामेश्वरम् से इन्द्रप्रस्थ तक फैला हुआ था। नानासाहब और भाऊ साहब दैवी शक्ति के अवतार थे।"

किनसेड (Kincaid) के शब्दों में, "बालाजी पेशवा की कीर्त्तिगाथा सिन्धु नदी से दक्षिण के समुद्रों तक गुञ्जायमान थी।"

सर रिचर्ड टैम्पल के अनुसार, "बालाजी का चरित्र और स्वभाव उसके पिता की ही

तरह था। यद्यपि वह चतुर, मंत्रणा में प्रभावशाली, और युद्ध में योग्य था, तथापि एक सैनिक और राजनीतिज्ञ के रूप में वह अपने पिता के समकक्ष नहीं था। वह अपने साथियों के गुणों से पूर्ण लाभ उठाना जानता था और उसकी उल्लेखनीय सफलतायें उसके आधीन पदाधिकारियों ने प्राप्त की थीं। लेकिन वह सर्वदा सबसे आगे बढ़कर व्यवस्था स्थापित करता और अपने समय में ही उसने मराठा शक्ति को इसके उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया। इसके ही नियन्त्रण में एक लाख मराठे घुड़सवार इस बात को गर्व से कह सकते थे कि उनके घोड़े कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक की सब नदियों में प्यास बुझाते रहे। लेकिन इस विस्तृत राज्य को वह जनसाधारण के हित के लिए प्रयोग नहीं कर सका, शायद उसमें यह योग्यता ही नहीं थी। उसने मराठा राज्य को, जैसा कि यह आरम्भ में था, एक व्यवस्थित लूटपाट करने की संस्था के रूप में बना रहने दिया और इसे ठोस शासन प्रणाली का रूप नहीं दिया। इस विषय में वह व्यक्तिगत रूप से सिद्धांतहीन था और अपने दादा और पिता से कम योग्य था।

ग्रान्ट डफ (Grant Duff) के मतानुसार, "बालाजी बाजीराव उन भाग्यशाली शासकों में से एक था जिनका भाग्य अपने समय की विरोधी परिस्थितियों में चमका और परिणामस्वरूप राष्ट्र की जितनी उन्नति हुई उसका श्रेय इसकी योग्यता से कहीं अधिक मिला। वह पर्याप्त राजनैतिक सूझ-बूझवाला, शिष्ट स्वभाव और बड़ी शानवाला व्यक्ति था। पेशवा के सीधे नियन्त्रण में जो प्रदेश था वह धीरे-धीरे उन्नति कर रहा था। बालाजी राव ने स्थायी मामलतदार और सूबेदार नियुक्त किये और उन्हें कई ज़िलों का प्रबन्ध सौंपा। इन अधिकारियों को अपने अधीनस्थ प्रदेश में पुलिस, राजस्व, दीवानी और फौज़दारी न्याय के अधिकार प्राप्त थे और इनमें से अनेक को मृत्यु-दण्ड तक देने के अधिकार थे। विशेषतः महाराष्ट्र में सुव्यवस्थित प्रशासन के आरम्भ का श्रेय रामचन्द्र बाबा शेणवी को है और उसकी मृत्यु के पश्चात् सदाशिव राव ने उसकी प्रणाली को क्रियान्वित किया। बालकृष्ण गाडगिल नाम के एक सम्मानित शास्त्री को पूना के न्यायालय का प्रमुख नियुक्त किया गया और राजधानी में पुलिस-व्यवस्था को अधिक शक्तिशाली बनाया गया। बालाजी राव के शासन में नागरिक न्याय प्रणाली पंचायतों के रूप में विकसित हुई। मराठा राज्य बालाजी राव के शासन में अत्यधिक प्रगतिशील हुआ और अनेक प्रमुख ब्राह्मण वंश अपने उत्थान का आरम्भ इस काल को ही कह सकते हैं। संक्षेप में, सारी प्रजा की हालत बाजीराव के समय में सुधरी और मराठा किसान जिसकी अवस्था अब सुधरने लगी थी, उस समय से ही नानासाहब पेशवा के शासन को श्रेष्ठ मानता है और आशीर्वाद देता है।

बाजीराव की दो त्रुटियों का सरदेसाई ने उल्लेख किया है। प्रथम तो बालाजी का अपनी समुद्री सेना के नायक आँगरे का दमन करने के लिए अंग्रेजों की सहायता लेना। दूसरे जब अंग्रेज सिराजुद्दौला को १७५७ में दबा रहे थे उस समय उसने बंगाल में भोंसला के दावे का समर्थन न करके उपेक्षा की। रघुनाथजी ने बंगाल पर अधिकार किया था और वहाँ से उसे चौथ मिलती थी जिसके बदले मराठे वहां के सूबेदार की सहायता करने के लिए बाध्य थे। जब अंग्रेजों ने सिराजुद्दौला के विरुद्ध हथियार उठाये उस समय पेशवा को उसकी सहायता करनी चाहिये थी। १७७६ में पेशवा की स्थिति सुरक्षित थी और वह

भारतवर्ष में सबसे शक्तिशाली शासक था। उस समय बंगाल और कर्नाटक में उसका हस्तक्षेप अंग्रेजों की प्रगति रोकने के लिए पर्याप्त होता। दुर्भाग्यवश पेशवा ने देहली की राजनीति के प्रति अधिक ध्यान दिया और अहमदशाह अब्दाली से शत्रुता करके १७६१ में अपना नाश कर लिया। प्रतीत होता है पेशवा अंग्रेजों की चाल को नहीं समझा और अपना ध्यान पंजाब की ओर लगा दिया। इस कठिन समय में उसने समझदारी और दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। यदि उसने अखिल भारतवर्ष की राजनीति को समझा होता तो वह कुछ और ही तरह का कदम उठाता। इस मूर्खता का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज बंगाल, अवध और दक्षिण में अपना पैर जमाकर डट गये।

माधवराव, १७६१-७२ (Madhav Rao)--पेशवा बालाजी राव के दो पुत्र, माधवराव और नारायणराव, और एक भाई रघुनाथराव था। अपने पिता की मृत्यु के समय माधवराव की आयु १६ वर्ष की थी और उसे ही पेशवा बनाया गया। इसके चाचा रघुनाथ राव को राज्यकार्य चलाने की आज्ञा थी, किन्तु माधवराव को, जो पेशवाओं में सबसे महान् माना जाता है, सहन नहीं हुआ। यद्यपि उसकी आयु छोटी थी, उसका निर्णय पुष्ट और उसमें एक सैनिक और शासक दोनों के गुण थे। आरम्भ में ही माधवराव और रघुनाथ राव में मनमुटाव था जो बाद में खुले रूप से एक झगड़ा बन गया। रघुनाथराव ने मराठा राज्य का आधा भाग माँगा। इससे गृहयुद्ध छिड़ गया जो १७६८ में माधवराव की विजय के पश्चात् समाप्त हुआ। रघुनाथराव को कैद करके पूना के महल में नज़रबन्द कर दिया गया।

मराठों के शत्रुओं ने १७६१ की पानीपत की पराजय और गृहयुद्ध से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। नाज़िम अली पूर्ण गति से पूना की ओर बढ़ा किन्तु दो वर्ष के संघर्ष के पश्चात् राक्षस भुवन नामक स्थान पर हरा दिया गया और उसे हथियार डालने पड़े।

मराठों की पानीपत की पराजय के कारण मैसूर के हैदरअली ने कर्नाटक में अपना प्रभुत्व बढ़ाना आरम्भ किया और इस प्रदेश से मराठों के प्रभुत्व के सब चिह्न मिटा डाले। परिणामस्वरूप माधव राव को अपना बहुत-सा समय और साधन अपना पहला प्रदेश प्राप्त करने और हैदरअली को पूर्णत: नीचा दिखाने में व्यय करना पड़ा।

पेशवा ने नागपुर के भोंसला को परास्त करके पेशवा को मराठा राज्य का प्रमुख मानन पर मजबूर कर दिया। उन्हें राज्य के सब शत्रुओं और विरोधियों के विरुद्ध उनकी सहायता करनी पड़ी। १७६९ में कनकपुर की भोंसला के साथ सन्धि माधवराव की मराठा राज्य को संभालने और संयुक्त शक्ति की व्यवस्था करने में निपुणता और वीरता का उज्ज्वल उदाहरण है।

पेशवा ने एक मराठा और एक ब्राह्मण सेनापति के नेतृत्व में एक शक्तिशाली अभियान, पानीपत की पराजय से खोये हुए सम्मान और पद को दुबारा संभालने के लिए देहली भेजा। महादजी सिंधिया देहली भेजे जाने वाले चार नेताओं में से एक था और इन लोगों को अपने कार्य में बड़ी भारी सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने मुगल सम्राट् को पुन: उसके सिंहासन पर बैठा दिया। रोहिलों का दमन करके वे सारे कार्य पूर्ण किये जिन्हें "हिन्दू-पद-पादशाही" के वाक्य के अर्थ में समझा जाता है।

माधवराव ने मराठा शासन का नैतिक उत्थान किया। भ्रष्टाचार का कठोरता से

दमन किया। सर्वसाधारण के हित की दृष्टि से राजस्व प्रणाली में सुधार किये गय। प्रसिद्ध रामशास्त्री की अध्यक्षता में न्याय-व्यवस्था सुचारु रूप से चलने लगी। जनता की शिकायतों का स्वागत किया जाने लगा और उन पर भली भांति गौर होने लगा। अपराधियों को दण्ड दिया जाने लगा। बहुत से परेशान करने वाले करों को हटा दिया गया। जागीरदार और उनकी सैन्य शक्ति के लिए विशेष नियम बनाये गये। निम्न श्रेणी के लोगों से 'बेठ' अर्थात् बेगार लेना वर्जित कर दिया गया। सब प्रकार की सेवाओं का वेतन नकद दिया जाने लगा। देश भर से सूचना प्राप्त करने के लिए गुप्तचर नियुक्त किये गये। निपुण कर्मचारियों, मुंशियों, लेखा जोखा रखने वालों, व्यवस्थापकों, राजस्व इकट्ठा करने वालों, सेना की रसद भेजने वाले ईमानदार व्यक्तियों की एक नई पीढ़ी कार्य में लगाई गई। सेनाध्यक्षों को आलस्य छोड़कर अनुशासन में रहना पड़ा। बारूद से चलाये जाने वाले हथियारों और गोला बारूद बनाने के लिए एक विशेष विभाग स्वयं पेशवा के निरीक्षण में स्थापित किया गया। माधवराव केवल एक महान् प्रशासक ही नहीं अपितु बड़ी सेनाओं का निपुण सेनापति भी था। अनेक अवसरों पर उसने आदर्श वीरता और मोर्चाबन्दी में असाधारण कुशलता दिखाई। वह एक उदार पर कठोर शासक था। उसने अपना सारा जीवन प्रजा के हित के लिए लगा दिया।

बहुत से महान् व्यक्तियों का उल्लेख ही यह बताता है कि इस पेशवा ने बहुत से ईमानदार पदाधिकारियों को नियुक्त किया। इनमें से कुछ, रामशास्त्री, रामचन्द्र गणेश, विसाजी कृष्णा, गोविन्दराम, तात्या, नाना फड़नवीस, मोरोबा और हरीपन्त फाडके थे।

सर रिचर्ड टैम्पल के शब्दों में--'उपर्युक्त' कुछ व्यक्तियों में द्वितीय श्रेणी के गुण यथा शक्ति, साहस, उत्साह, देशभक्ति इत्यादि पाये जाते हैं किन्तु इनमें से एक में भी शुद्ध, उच्च और महान् गुण नहीं मिलते। लेकिन माधवराव में प्रथम उच्च श्रेणी के गुण थे। कठोर परीक्षा के समय उसमें केवल दृढ़ निश्चय ही नहीं अपितु एक गर्वीली जागरूकता रहती थी और वह सर्वदा अपने द्वारा एक महान् आदर्श की स्थापना करना चाहता था। वह अपने मंत्रियों को बड़े ध्यान से चुनता था और इन लोगों ने अपनी सफलताओं से उसके चुनाव की पुष्टि की। उसने सार्वजनिक सेवाओं में बड़ी कठोरता अपनाई और उस भ्रष्टाचार से पूर्ण युग में अधिक से अधिक ईमानदारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यदि उच्चाधिकारियों में किसी से विश्वासघात का कार्य हो जाता तो वह खुले रूप से घोर निन्दा करता जिससे उस समय के लिप्सापूर्ण लोगों को बड़ा आश्चर्य होता था।

"माधवराव, एक हिन्दू राजा, अपने छोटे से जीवन में, इतनी परेशानियों, लालचों के होने पर भी, अपने जीवन के उत्कर्ष के समय में, जीवन की लड़ी कटने से पहले, केवल एक बुद्धिमान युवक द्वारा संभाले जा सकने वाले मामलों में ही नहीं अपितु उन मामलों में भी जिनके लिए प्रौढ़ आयु के अनुभव की आवश्यकता थी, इतनी सफलता से सफल रहा, निस्संदेह आश्चर्यजनक है। वास्तव में सर्वदा ही उसका आदर एक आदर्श राजा के रूप में, प्रजापालक के रूप में होता रहेगा और हिन्दू जाति में उत्पन्न सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में उसका नाम सर्वदा अमर रहेगा।"

किनसेड (Kincaid) के शब्दों में, "आन्तरिक और बाहरी शत्रुओं से घिरा होने पर भी माधवराव ने अकेले ही इन पर विजय प्राप्त की। लेकिन उसकी विजय से

भी उसे विश्राम नहीं मिला। अपने शत्रुओं को जीतने के पश्चात्, अपने देशवासियों की अवस्था की उन्नति करने के लिए अपना सारा जीवन अथक परिश्रम में जुटा दिया। राज्य का प्रत्येक विभाग उसके प्रबन्ध, परिश्रम और आदर्श से प्रगतिशील हो जाता था। उसका गुप्तचर विभाग निष्णात था और भले ही कोई भी पदाधिकारी कितनी ही दूरी से किसी अत्याचार से सम्बन्धित रहा हो, कभी भी दण्ड से बचता नहीं था। पेशवा की सेनायें पूर्ण युद्ध-सामग्री से सुसज्जित होकर राज्यसेवा में जाया करती थीं, क्योंकि सेना विभाग स्वयं उसके व्यक्तिगत निरीक्षण में था। उसे शीघ्र ही क्रोध आ जाता था लेकिन वह शीघ्र ही क्षमा भी कर देता था। कटु से कटु आलोचक, इस सर्वप्रिय शासक के जीवन में केवल एक ही त्रुटि पा सकेगा कि उसने अथक और घोर परिश्रम द्वारा, देशवासियों का परम प्रिय, अपना जीवन इतनी शीघ्र समाप्त कर डाला।"

ग्रान्ट डफ के मतानुसार, "यद्यपि माधवराव की सैनिक योग्यता भी बहुत अच्छी थी किन्तु एक राजा के रूप में वह, अपने पूर्वजों से अधिक प्रशंसा और कहीं अधिक सम्मान का अधिकारी है। उसकी आततायियों के विरुद्ध पीड़ितों की, धनियों के विरुद्ध निर्धनों की सहायता और जहाँ तक तत्कालीन समाज में हो सकता था, सब के साथ बराबरी का बर्ताव निस्सन्देह पूजनीय है। यद्यपि उसे अपने चाचा को इस प्रकार के पदों से अलग रखना पड़ा जिनके कारण उसे किसी प्रकार की हानि होने की आशंका होती, वह अपने इस सम्बन्धी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखता था। एक बार, एक घेरे के अवसर पर उसकी सेना के दो पदाधिकारी एक झगड़े को निपटाने के लिए द्वन्द्व-युद्ध करना चाहते थे, उसने यह निर्णय दिया कि जो भी उस खतरनाक खाई को पार करके शत्रु के किले पर राष्ट्रीय ध्वज गाड़ेगा उसके पक्ष में ही निर्णय दिया जायगा। उसका ध्यान अर्थ विभाग, न्याय विभाग और अन्य सार्वजनिक विभागों पर भी रहता था। उस समय सब लोग जानते थे कि राज्य का प्रमुख स्वयं सारे राज्य कार्य में निपुण है और वह पीड़ितों का मित्र और दुष्टों का शत्रु है तथा उसके चुने हुए प्रतिनिधि राज्य भर में उसके हित का कार्य करने के लिए फैले हुए हैं। उसकी विचारशीलता और दयालुता अक्षय थीं और बहुधा उदारता से प्रकट होती थीं। उदाहरणतः, शिवाजी के पुत्र और उत्तराधिकारी ने घुड़सवार सेना के नेता शान्ता जी घोरपडे की हत्या कर दी थी, इसने उसके वंशजों को बहुत से लाभ पहुंचाये जिससे कि एक युग बीत जाने पर भी यथासम्भव न्याय हो सके। सारे समय वह युद्ध और कूटनीति में फंसा रहा। उसे स्वयं ही निज़ाम के विरुद्ध टक्कर लेनी पड़ी, मैसूर के हैदर अली को पीछे खदेड़ा और पानीपत की हानि को, जिसके कारण उसके पिता की मृत्यु हुई, पुनः संभाला। वह एक शासक के रूप में अपने पूर्वजों से श्रेष्ठ था लेकिन एक सेनापति के रूप भी वह उनसे किसी प्रकार कम नहीं था। उसके सहकारी पानीपत में खोये हुए यश को संभाल ही रहे थे, उस समय उसका स्वास्थ, जो पहले से ही दुर्बल था, बुरी तरह गिर गया।"

नारायणराव, १७७२ (Narayan Rao)—१७७२ में माधवराव की राजयक्ष्मा से मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई नारायणराव गद्दी पर बैठा। उसके चाचा रघुनाथ राव ने, जो उस समय कैद में था, निकल भागने का प्रयत्न किया लेकिन उसका प्रयास असफल रहा और उसे कड़ी निगरानी में रखा गया। रघुनाथ राव को पेशवा

बनाकर नारायण राव को कैद कर लेने का षड्यंत्र रचा गया। अस्तु, नारायण राव को रघुनाथ राव के सामने ही टुकड़े-टुकड़े कर डाला गया और रघुनाथ पेशवा बन बैठा। इस निर्मम हत्या के विरुद्ध बड़ा असंतोष फैला और रामशास्त्री की जाँच से यह सिद्ध हुआ कि यह हत्या रघुनाथ राव की इच्छा से हुई थी। परिणामतः महाराष्ट्र के माननीय मंत्रियों और नेताओं की एक परिषद् "बड़ा भाई" के नाम मे स्थापित हुई जो राजकार्य को सँभालने लगी। १७७४ में नारायण राव की विधवा पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम माधव राव नारायण रखा गया।

माधव राव नारायण, १७७४-९५ (Madhava Rao Narayan)—माधव राव नारायण जिसे सवाई माधव राव द्वितीय के नाम से भी पुकारा जाता है, पेशवा घोषित किया गया और रघुनाथ राव को भाग जाना पड़ा। इस नये पेशवा ने २१ वर्ष राज्य किया और १७९५ में मर गया।

यद्यपि रघुनाथ राव देश से भाग गया था लेकिन वह चुप नहीं बैठा। उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से सहायता माँगी जिसके कारण प्रथम मराठा युद्ध हुआ। यह युद्ध कई वर्ष तक चलता रहा और १७८२ में सालबाई की सन्धि के अनुसार रघुनाथ राव ने पद के लिये अपना दावा छोड़ दिया लेकिन उसे पेन्शन दी जाने लगी। प्रथम मराठा युद्ध में महादजी सिन्धिया और नाना फड़नवीस बड़े प्रसिद्ध हुए। १७९५ में मराठों ने निज़ाम को हराया।

बाजीराव द्वितीय, १७९६-१८१८ (Baji Rao II)—१७९५ में माधव राव द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् महाराष्ट्र की राजनीति में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी। उत्तराधिकारी की नियुक्ति के लिये अनेक षड्यंत्र रचे गये। आरम्भ में नाना फड़नवीस चमनाजी अप्पा को पेशवा बनाने के हक में था किन्तु बाद में उसने अपना पक्ष बदल दिया और बाजीराव का समर्थन करने लगा। अन्ततः १७९६ में बाजीराव द्वितीय पेशवा बना। नया पेशवा रघुनाथ राव का पुत्र था।

बाजीराम निकम्मा व्यक्ति था। वह नितान्त चरित्रहीन था। उसे अपने उच्च पद संभालने की कोई शिक्षा-दीक्षा नहीं मिली थी और उसका विश्वास षड्यंत्रों में अधिक था। नाना फड़नवीस, जिसने इसे सत्तारूढ़ होने में सहायता की, जेल में डाल दिया गया, किन्तु बाद में उसे फिर पदासीन किया गया। अस्तु, यह वयोवृद्ध नेता १८००में मर गया।

इसके शासन काल में लार्ड वैल्ज़ली (Wellesley) के समय में द्वितीय मराठा युद्ध हुआ। १८०२ में बाजीराव द्वितीय ने इंगलिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी से बसीन की सन्धि की। इसका वास्तविक परिणाम वह हुआ कि पेशवा कम्पनी के प्रभुत्व में आ गया। उसे बाद में यह अनुभव हुआ कि कम्पनी का नियंत्रण सहन नहीं हो सकता। परिणामतः उसने कम्पनी के चंगुल से निकलने का प्रयत्न किया जिसके कारण लार्ड हेस्टिंग्ज़ के समय में द्वितीय मराठा युद्ध हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पेशवा को हरा दिया। १८१८ में उसने समर्पण किया। अस्तु, पेशवा को पेन्शन दे दी गई और उसने उत्तर प्रदेश में अपना शेष जीवन धर्म ध्यान में व्यतीत किया। २८ जनवरी, १८५१ को इसकी मृत्यु हो गई।

महादजी सिन्धिया, १७२७-१७९४ (Mahadji Scindhia)—इस काल के

दो महापुरुषों, महादजी सिन्धिया और नाना फड़नवीस, का उल्लेख आवश्यक है। दोनों ही समकालीन थे और दोनों ने ही प्रथम मराठा युद्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया तथा मराठा राजनीति में प्रसिद्ध हुए। नाना फड़नवीस ने पूना में और महादजी सिन्धिया ने उत्तर भारत में मराठा राज्य को संभाला। दोनों ही ने मराठा राज्य की स्वामिभक्ति से सेवा की। सरदेसाई ने लिखा है कि यदि ये दोनों प्रथम मराठा युद्ध में मेल से काम न करते और अपने साधनों का सामूहिक रूप से प्रयोग न करते तो मराठा शक्ति उस ही समय समाप्त हो जाती।

महादजी सिन्धिया और नाना फड़नवीस दोनों ही जिस प्रकार शारीरिक बनावट में एक दूसरे से भिन्न थे, उनका मानसिक स्तर भी अलग था। "नाना ब्राह्मण था, लम्बा, दुबला, गेहुएं रंग का, लम्बे चेहरे वाला, बड़ी-बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि वाला, लम्बी नाक वाला और दूसरा क्षत्रिय, मंझले कद का, सांवला, मोटे और मजबूत कसरती शरीरवाला, ठीक तत्कालीन मराठा सिपाही जैसा था। नाना गम्भीर और दृढ़ स्वभाव वाला, नियमित, परिश्रमी, वचन और कर्म दोनों से ही तपस्वी, एकान्तप्रिय और कभी भी खेल-कूद, हँसी-मज़ाक और समाज में अधिक न मिलने वाला, उसे शायद ही कभी हँसते देखा गया और अत्यन्त दुर्बल और क्षीण शरीर वाला था; जबकि महादजी प्रसन्नचित्त और खुशमिज़ाज, सदा लोगों से घिरा रहता, सर्वदा बातचीत, हँसने-बोलने में व्यस्त, सबसे सलाह लेता लेकिन सर्वदा इतना सचेत रहता कि लोग उसके मन की बात को ताड़ ही नहीं पाते। वास्तव में वह नाना से स्वभाव में बिलकुल उल्टा था।"

महादजी का जीवन एक लम्बा परिश्रमपूर्ण कठोर जीवन था। उसके जीवन के चार विभाग किये जा सकते हैं। प्रथम भाग में १७६१ तक. वह अपने भाइयों की छाया में छिपा हुआ १७६१—१७७२ तक एक नगण्य व्यक्ति था। उसके जीवन के शिक्षाकाल में उसने अपनी योग्यता दिखाई और जिसके कारण वह नाना फड़नवीस के साथ मिलकर प्रथम मराठा युद्ध में अंग्रेज़ों को परास्त कर सका। तीसरे भाग में उसने स्वयमेव युद्ध और नीति में अमूल्य अनुभव प्राप्त किया जिसे उसने बाद में वास्तविक रूप से कसौटी पर कसा। चौथे भाग में उसने एक राज्य का निर्माण किया जिसे वह अपने वंशजों के लिये छोड़ गया।

कीने (Keene) के मतानुसार, "महादजी शीघ्र ही क्रोध में आ जाता था और उसे प्रसन्न करना बड़ा कठिन था। यदि उसने कभी किसी अपराध को क्षमा भी किया तो वह इसे कभी भी भूलता नहीं था। यदि आवश्यकता पड़ने पर वह दण्ड भी देता तो उसे शान्त करना भी कठिन नहीं होता तथा वह किसी को व्यर्थ ही दुःख नहीं देता था। सेवाओं का पुरस्कार देते समय वह किसी को भूलता अथवा उपेक्षा नहीं करता था। इस कारण ही लोग प्रेम और भक्ति से उसकी सेवा करते थे। डी बोयने (De Boigne) के संस्मरण पढ़ते समय इस बात को भूलना बड़ा कठिन है कि सिंधिया की सफलता का अधिकांश श्रेय उसके चरित्र के प्रति लोगों की श्रद्धा और उसके चरित्र की स्थिरता, विश्वास और ध्येय-प्राप्ति की लग्न थी, जिस पर उसके अधिकृत पदाधिकारियों को अखण्ड विश्वास था। वह भले ही अच्छे स्वभाव वाला न हो, वह विनोदप्रिय अवश्य था और उसकी मुखाकृति से, सांवला होने पर भी, बुद्धिमत्ता और सज्जनता टपकती थी। उसका ठीक चित्रण, सौभाग्य

से युवक इटालियन चित्रकार वेल्स के, उसकी मृत्यु के कुछ ही पहले पूना में बनाए गए, चित्र में स्पष्ट रूप से उतर आया है। उसकी व्यक्तिगत आदतें सादी और बनावट से रहित थीं। अपनी श्रेणी के लोगों से अधिक शिक्षित था; वह केवल साधारण पढ़ा-लिखा ही नहीं था अपितु एक अच्छा गणितज्ञ था और फारसी तथा उर्दू अच्छी तरह जानता था। वह व्यापार में दक्ष था और युद्ध तथा नागरिक प्रशासन की छोटी बातों पर अधिक ध्यान नहीं देता था किन्तु सर्वदा अच्छे प्रतिनिधि चुनकर उन पर पूर्ण विश्वास करता और वे लोग पूर्ण भक्ति से इसकी सेवा करते थे। ग्वालियर और उज्जैन में इसके नियुक्त पदाधिकारी समान दक्षता से युद्ध और शासन चलाते थे। उस कठिन समय में सिंधिया एक सफल योग्यतावाला शासक सिद्ध हुआ। मुख्य सलाहकार राणाखान और धर्मगुरु मन्सूर शाह इत्यादि मुसलमानों पर कृपालु होने के कारण और पुरानी मराठा युद्ध नीति को छोड़ने के कारण लोग उसे घृणा तो नहीं किन्तु निर्लेप भाव से आदर करते थे।"

महादजी का वैयक्तिक जीवन कलंकहीन और पवित्र था। वह धर्म और जाति के भेद भाव से बहुत ऊपर था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उसका एक समान आदर करते थे। उसने ब्राह्मण, प्रभु, मराठे और महार सबको ही अपनी सेवा में नियुक्त किया। उसकी सेवा में सैनिक और कूटनीतिज्ञों के रूप में सारस्वत ब्राह्मणों ने बड़ा नाम कमाया। महादजी सर्वदा पेशवा परिवार के प्रति उदार और स्वामिभक्त रहा। उसने कभी भी अपनी स्वतन्त्रता का दावा नहीं किया। दुर्भाग्य की बात है कि नाना फड़नवीस उससे ईर्ष्या करता था और सर्वदा उसे पूना से दूर ही रखने का प्रयत्न करता रहा।

महादजी ने अपनी आर्थिक परिस्थिति की समुचित व्यवस्था नहीं की और बहुत-से लोगों से ऋण लिया। इस प्रकार बहुत-सा धन बीच के दलाल ही खा जाते थे। इससे बड़ी अव्यवस्था और धन का ग़बन हुआ। व्यर्थ के कामों में रुपया लगाया गया। अनेक स्थानों पर लोग अपनी धरती छोड़ गए और खेती बन्द कर दी। जीवन सुरक्षित नहीं रहा। महादजी ने मुगल सम्राट् और उसकी सेना का खर्च देने का वायदा किया था लेकिन अपना वचन रखने के लिए उसके पास धन नहीं रहा।

मॉलिसन (Malleson) के अनुसार, "महादजी सिन्धिया की मृत्यु से मराठों का सबसे योग्य योद्धा, अत्यन्त दूरदर्शी शासक खो गया। जीवन में उसके दो मुख्य उद्देश्य थे, प्रथम तो एक राज्य स्थापित करना और दूसरा अंग्रेजों से एक साम्राज्य स्थापित करने में होड़ लगाना। इन दोनों में ही उसे किसी हद तक सफलता प्राप्त हुई। उसके द्वारा स्थापित राज्य आज भी वर्तमान है और लेक (Lake) और वैल्ज़ली (Wellesley) ने आठ वर्ष बाद इसकी बनाई सेना का जो संहार किया उसका मुख्य कारण महादजी की छत्रछाया उठ जाना था। काश, वह थोड़े दिन और जीता तो उसने टीपू की घुड़सवार सेना और उसके फ़्रांसीसी सिपाही, निज़ाम का शक्तिशाली तोपखाना, राजपूतों की सारी शक्ति, और पूना, इन्दौर, बड़ौदा और नागपुर से मराठों के प्रभाव क्षेत्र के सारे हथियार उठाने वाले सिपाहियों को एक ध्वज के नीचे एकत्रित कर दिया होता। यद्यपि शक्ति का पूर्व निर्णय नहीं हो पाता किन्तु फिर भी संयुक्त भारतवर्ष और अंग्रेजों के बीच मुख्य समस्या का निर्णय तो हो ही जाता। अस्तु, जो भी हो मृत्यु ने इसका निर्णय कर दिया और उसके बाद जो भाग्यहीन निर्णय होना था, केवल थोड़े समय की बात रह गई।"

यदुनाथ सरकार के मतानुसार, "महादजी सिन्धिया एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में उत्तरी भारतवर्ष के इतिहास में एक भीमकाय व्यक्ति की तरह छाया रहा। उसके साधन त्रुटिपूर्ण थे, उसके साथियों और प्रतिनिधियों ने उससे बहुधा धोखा किया और उसे अनेक चिन्ताजनक जटिल समस्याओं से निपटना पड़ा। जेम्स अन्डरसन (James Anderson) और विलियम पामर (William Palmer) जैसे रेज़ीडैन्टों ने उसके पतन के विषय में भविष्यवाणी की थी किन्तु अन्त में उसने सब पर विजय पाई। आधुनिक राष्ट्रवादी भले ही इसे भ्रम कहें किन्तु धर्म उसके जीवन का प्राण था। हम इस शक्तिशाली अत्यन्त व्यस्त व्यक्ति में, जब कि वह सांसारिक रूप से प्रतिष्ठा के शिखर पर था, प्रगाढ़ पारिवारिक प्रेम, स्वाभाविक नम्रता तथा आदरणीय व्यक्तियों के प्रति आदर और सम्मान पाते हैं।"

देहली के शाही दरबार में, पानीपत के अपमान के पश्चात् मराठों की शक्ति की पुनःस्थापना के लिए, पूना दरबार के विरोध और अनेक अड़चनों के होते हुए उसे बिलकुल अकेला ही रहकर कठोर परिश्रम करना पड़ा। देहली के सिंहासन का संरक्षक और बड़ी-बड़ी उपाधियां यथा वक़ीले मुतलक़, बख्शी-उल-मामलिक, अमीर-उल-उमरा, आलीजाह, सिंहासन का शिशु (Infant of the Throne) इत्यादि उसके लिये कांटों का ताज था। मुसलमान शहजादे, देहली के पुराने सरदार, उत्तर भारत के हिन्दू सरदार, राजपूत जागीरदार और कुछ अंग्रेज रेज़ीडेन्ट भी उसकी प्रत्येक असफलता, प्रत्येक हानि पर प्रसन्न होते और उसके अन्त के दिन गिना करते। पूना दरबार ने उसे घोर कठिन समय में धन और सेना देने से इन्कार कर दिया और उसे जनसाधारण के सामने अपमानित किया। दिसम्बर १७८४ में उसने जो 'खिलअत' और बहुमूल्य भेंट देहली दरबार से पेशवा के लिए प्राप्त की थीं वे सब अस्वीकार कर दी गईं और उज्जैन में पड़ी सड़ती रहीं। इस प्रकार का घोर अपमान उसके स्वामी ने तत्कालीन मराठों में सबसे महान् और सफल मराठा सेनापति का किया। पूना के एक मन्त्री ने उसे एक पत्र में विश्वासघाती, कृतघ्न सेवक, स्वार्थी और अपने "ब्राह्मण श्रीमन्त" को देहली के अपार धन से वंचित रखकर अपनी उन्नति करने वाला, इत्यादि कहा था।

महादजी ने जिस प्रकार अपने चारों ओर साधारण और विदेशी शत्रुओं के षड्यन्त्रों को धीरे-धीरे तोड़ा, उस ही शान्ति और धैर्य के साथ उसने इन अपमानों को भी सहा। अन्त में उसकी विजय हुई, किन्तु इसके लिए उसे वर्षों तक निराशा, अनिश्चित भाग्य और असीम व्यक्तिगत दुःख के रूप में बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। वह मराठा इतिहास में अकेला एक महान् स्तम्भ के रूप में शान से भारतवर्ष का एक महान् शासक, बिना सहायक और बिना दल वाला, सिर उठाये खड़ा है। उसने स्वयं अपने सेनानायकों का एक दल तैयार किया। अन्त में वह विजयी हुआ। अपने शत्रु को और अवसरवादी मित्रों को भी चकित किया इसमें तो सन्देह नहीं किन्तु इस संघर्ष में अमूल्य समय और साधनों की कितनी व्यर्थ की हानि हुई। यदि नाना फड़नवीस ने आरम्भ से ही महादजी की सहायता की होती, तो जो अद्वितीय शक्ति महान् सिंधिया ने मराठा जाति के लिये जनवरी १७८९ में प्राप्त की वह पूरे चार वर्ष पहले प्राप्त हो गई होती। इस उपयुक्त समय पर यदि यह कार्य हो गया होता तो इसके परिणामस्वरूप महादजी को व्यर्थ की परेशानी न हुई होती और मराठा इतिहास का प्रवाह किसी दूसरी दिशा में बहा होता।

नाना फड़नवीस, १७४२-१८०० (Nana Phadnavis)—नाना फड़नवीस का जन्म १७४२ में हुआ और ५८ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई। वह शरीर से दुबला और गेंहुए रंग का था। वह सदा गम्भीर रहता और उसे शायद ही कभी हंसते देखा गया। वह अत्यन्त अध्ययनशील और संयमी था। वह अपना कार्य बड़े परिश्रम से करता और शासन की छोटी-से-छोटी बात का ध्यान रखता। वह महादजी के खुले व्यवहार को पसन्द नहीं करता था और सदा ही गुप्त रूप से कार्य किया करता था। वह साधारणतः न्यायप्रिय और व्यवहार में खरा था। वह विश्वासघात या बुरा करने से डरता था। वह ठीक समय पर अपना वचन निभाने में बड़ा दृढ़ था। किन्तु महादजी जैसी साधन सम्पन्नता उसे प्राप्त नहीं थी। वह सब से अकेले में मन्त्रणा करके अपनी ही बुद्धि के अनुसार कार्य करता था। कठोर स्वामी होने के कारण लोग उसे नहीं चाहते थे और उसे सर्वदा मार डाले जाने का डर लगा रहता था। लगभग २० अवसरों पर उसकी हत्या के प्रयास हुए किन्तु चामत्कारिक रूप से वह हर बार बच गया।

नाना में सेना संचालन का गुण नहीं था और उस कठिन युग में यह एक बड़ी भारी कमी थी।

नाना कभी भी समझौता नहीं किया करता था। उसने धीरे-धीरे "बड़ा भाई परिषद्" के सब सदस्यों को हटाकर सारी शक्ति अपने हाथों में ले ली। यदि नाना ने अपनी शक्ति का अन्य लोगों से साझा किया होता तो मराठों का भविष्य कुछ अधिक उज्ज्वल होता। कहा जाता है कि यदि नाना ने सारे मराठा सरदारों को अपने विश्वास में लिया होता और मराठों के सारे साधनों को एकत्रित किया होता, तो बाजीराव द्वितीय के काल में उनका इस प्रकार पतन नहीं हुआ होता।

नाना का सत्ता से अत्यधिक प्रेम था। कहा जाता है यदि वह १७९५ में राजनीति से संन्यास ले लेता तो उसने मराठों की बड़ी भारी सेवा की होती।

नाना की यह भी आलोचना की जाती है कि वह धन का बड़ा लालची था। उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति कई लाख रुपए की थी। अपने धन की रक्षा के डर के कारण ही वह शुरू से ही बाजीराव पेशवा की नियुक्ति के विरुद्ध था।

नाना की मृत्यु के बाद जो श्रद्धाञ्जलि लोगों ने इसे समर्पित की उनका उल्लेख करते हैं। कैप्टन ब्राउनिंग (Capt. Browning) के मतानुसार, 'नाना चला गया और उसके साथ ब्राह्मण राज्य भी समाप्त हो गया। पूना का पतन हो गया।' पामर (Palmer) के शब्दों में, 'मराठा शासन की सूझबूझ और विद्वत्ता नाना के साथ समाप्त हो गई।' सर रिचार्ड टेम्पल (Sir Richard Temple) के मतानुसार, "इस महान् मंत्री की मृत्यु से मराठा राज्य की ईमानदारी और निपुणता समाप्त हो गई।" ग्रान्ट डफ (Grant Duff) ने लिखा है कि नाना फड़नवीस वास्तव में एक महान् शासक था। उसके मुख्य दुर्गुण उसमें साहस की कमी और उसकी महत्त्वाकांक्षा के सिद्धान्तों द्वारा नियंत्रित न होने के कारण थे। उसका सारा जीवन मुख्यतः जनसाधारण के लिए था। निजी जीवन में वह दृढ़ सिद्धान्त वाला, उदार, मितव्ययी और दानी था। उसका सारा समय कठोर नियमों से नियंत्रित था और जो कार्य वह स्वयं करता था, वह श्रेय मात्र प्राप्त करने से कहीं अधिक ऊंचा था। नाना निश्चित ही मराठा जाति का अन्तिम बुद्धिमान पुरुष था।

पेशवाओं के समय मराठों की शासन-प्रणाली (Maratha Administration under the Peshwas)—पेशवाओं के समय मराठों की शासन-प्रणाली हिन्दू शासन शास्त्र, शिवाजी और उनके उत्तराधिकारियों द्वारा बनाये गए नियम तथा स्वयं पेशवाओं द्वारा किए गए सुधारों का मिश्रण थी।

पेशवाओं की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई और सितारा के राजा का मान और शक्ति शनैः शनैः घटती गई। १७१४ के पश्चात् बालाजी विश्वनाथ के परिवार में पेशवा पद वंशक्रमानुगत बन गया। आरम्भ में पेशवा शिवाजी के अष्ट प्रधानों में से एक पद था और वह वंशक्रमानुगत नहीं था। किन्तु शनैः शनैः उनकी शक्ति सर्वोपरि हो गई। विशेषतः बालाजी विश्वनाथ की चतुराई के कारण पेशवा पद वंशक्रमानुगत तथा श्रेष्ठ बन गया।

राज्य-उत्सवों के अवसरों पर यद्यपि पेशवा सितारा के राजा के प्रति राजोचित आदर प्रदर्शित करते थे किन्तु वास्तव में सारा राज्य-शासन उनके हाथ में था और वे राजा की धार्मिक रूप से श्रेष्ठता की अवहेलना करते थे। पेशवाओं की उच्च पदवी मराठे सरदार भी मानते थे, किन्तु यह आदर और शक्ति उन्हें ब्राह्मण होने के ही कारण नहीं प्राप्त हुई थी। पेशवा प्रत्येक सूबे के राजस्व को भिन्न-भिन्न मराठे सरदारों में वितरण करता था और राजस्व वितरण की इस प्रणाली के कारण राजस्व के हिसाब-किताब में झगड़ा हो जाया करता। पेशवा और उसका ब्राह्मण-प्रमुख कार्यालय इन झगड़ों से लाभ उठाकर मराठे सरदारों में आपसी वैमनस्य और झगड़ा खड़ा कर दिया करते थे।

हजूर दफ्तर (Hazur Daphtar)—मराठों का केन्द्रीय मंत्रालय पूना में स्थित था जिसे हजूर-दफ्तर कहा जाता था। यह अनेक विभागों में बँटा हुआ था। इसका कार्य सब प्रदेशों की आय-व्यय, गाँव और जिला अधिकारियों द्वारा भेजे गए खातों का हिसाब रखना था, सब प्रकार के राज्य कर्मचारियों का वेतन, उनके अधिकार, नागरिक, सैनिक और धार्मिक कर्मचारियों का वार्षिक आय का खाता रखना था। दैनिक खाते में सब प्रकार की आय, सहायता, खर्च और विदेशी प्रान्तों द्वारा भेजे गये राज्य-कर का हिसाब लिखा जाता था। किन्तु बाजीराव द्वितीय के समय में ये सब खाते उस समय फैली अराजकता के कारण निर्मूल हो गए।

ग्राम (Village)—पेशवाओं की शासन-प्रणाली का सबसे छोटा अंग सम्पूर्ण सुविधापूर्ण स्वरक्षित ग्रामीण समाज था। प्रत्येक ग्राम का एक मुखिया होता था जिसे पटेल कहा जाता था। वह राज्य का वैतनिक कर्मचारी नहीं था। उसका पद वंशक्रमानुगत था और इसका क्रय-विक्रय भी होता रहता था। पटेल की सहायता के लिए कुलकर्णी अर्थात् मुंशी और खाता लिखने वाला होता था जो सदैव ब्राह्मण होता था। यह पटेल से दूसरे दर्जे का ग्राम-अधिकारी होता था और इसका भी जीवन-यापन का साधन पटेल की तरह ही था। ग्राम की सामाजिक और जातिगत आवश्यकताएँ "बारह-बलूथ" अर्थात् बारह ग्राम-सेवक पूरी करते थे। इन ग्राम-सेवकों को ग्राम की उपज और अन्य वस्तुओं में से भाग मिलता था। इन लोगों की अन्य "बारह-बलूथ" सहायता करते थे। ग्राम के बढ़ई, लुहार और अन्य कारीगरों और दस्तकारों से 'बेगार' ली जाती थी।

'मामलतदार' एक प्रदेश का जिसे सरकार सूबा या प्रांत भी कहते थे, मुख्य अधिकारी होता था। इसकी सहायता के लिए एक "काम विस्तार" होता था, जो इतने ही प्रदेश का जिसे परगना कहते थे, स्वामी होता था। खानदेश, गुजरात और कर्नाटक को छोड़कर अन्य प्रदेशों के "काम-विस्तार" पेशवा-मंत्रालय के अधिकार में होते थे। आरम्भ में "काम-विस्तार" और "मामलतदार" थोड़े समय के लिए नियुक्त किये जाते थे किन्तु उनकी कार्यावधि बढ़ा दी जाती थी। प्रांतीय शासन के सब विभागों का जिनमें खेती-बाड़ी, उद्योग, दीवानी और फौजदारी न्यायालय, पुलिस और सामाजिक तथा धार्मिक मामलों की खोज इत्यादि सम्मिलित थे, उत्तरदायित्व होता था। वह ग्राम के पटेल से सलाह लेकर प्रत्येक ग्राम का राजस्व निर्धारित करता था और उस ही के द्वारा राज-कर की प्राप्ति होती थी। ग्राम कर्मचारियों की शिकायतें सुनना और निर्णय करना भी इनका काम था। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था में कुशासन की बहुत आशंका रहती थी। सिद्धान्त के अनुसार "मामलतदार" का खाता पूना के मन्त्रालय द्वारा तब तक स्वीकृत नहीं होता था जब तक उसका मिलान स्थानीय ग्राम कर्मचारियों के खाते से नहीं हो जाता। जमीन सम्बन्धी झगड़ों में देशमुख पुराने खाते, इनाम और दान के इतिहास का खाता, सम्पत्ति के क्रय-विक्रय का खाता, इत्यादि जो उसके पास होते थे, पेश करता था, जिनके आधार पर निर्णय होता था। किन्तु देशमुख के खाते बहुधा अपूर्ण और ठीक नहीं रखे जाते थे। इन सम्पत्ति के खातों की पड़ताल देशमुख करता था। एक प्रांत में कुल ६ पदाधिकारी होते थे।

राष्ट्रीय धन के ग़बन की रोक-थाम के लिए मराठा सरकार मामलतदार और अन्य अधिकारियों से एक बड़ी रकम (जमानत या रसद) उनकी प्रथम नियुक्ति के समय ले ली जाती थी। हजूर-दफ्तर इन प्रांतीय अधिकारियों की ओर से प्रत्येक प्रांत की आय-व्यय का अनुमानित खाता बनाया करता था। बाजीराव द्वितीय के समय में मामलतदार इत्यादि पदों का नीलाम होता था। प्रत्येक मुंशी या अन्य निम्न श्रेणी के कर्मचारियों को एक वर्ष में १० या ११ महीने का वेतन दिया जाता था। जिसका कारण यह समझा जाता था कि प्रत्येक कर्मचारी एक वर्ष में लगभग १ या २ महीने का अवकाश ले ही लेता होगा।

न्याय-व्यवस्था (Judicial System)—पेशवाओं की न्याय-व्यवस्था अत्यन्त असन्तोषजनक थी। कोई निर्धारित और औपचारिक नियम नहीं थे। बहुधा विवादग्रस्त पक्षों में समझौता करा दिया जाता था। किसी भी विवाद में एक मध्यस्थ को निर्णय सौंप देना पहली कार्यवाही होती थी। यदि मध्यस्थ का निर्णय असन्तोषप्रद रहे तो ग्राम में पटेल द्वारा नियुक्त पंचायत को सौंप दिया जाता था। यही कार्य नगरों के मुख्य-मुख्य व्यापारी किया करते थे। पंचायत के निर्णय के विरुद्ध अपील मामलतदार को की जाती थी। किन्तु वह भी बहुधा पंचायत के ही निर्णय का समर्थन करता था। यद्यपि पंचायतें, न्याय-व्यवस्था की प्रथम सीढ़ी थीं फिर भी ये काफी विश्वस्त और प्रसिद्ध थीं। यदि पंचायतें ठीक प्रकार निर्णय नहीं करती थीं तो मामले पर फिर निर्णय किया जाता था। किसान को पंचायतों से अच्छा न्याय प्राप्त होता था किन्तु किसी विवाद में प्रभावशाली व्यक्ति उलझ जाते तो न्याय की कोई आशा नहीं हुआ करती थी।

फौजदारी में भी यही नियम-शैली थी। किन्तु इन विवादों में पंचायतें कम नियुक्त की जाती थीं। ग्राम में पटेल और जिले में मामलतदार और सूबे में सूबेदार और राज-

धानी में पेशवा या न्यायांधीश क्रमशः सर्वोच्च अधिकारी होते थे। ये लोग प्रचलित रिवाजों के अनुसार न्याय करते थे जो बहुधा मुख्य अधिकारी की व्यक्तिगत न्याय-बुद्धि पर अधिक निर्भर होता था। अपराधी का नियमबद्ध रूप से मुकदमा नहीं होता था। अपराध मनवाने के लिए कोड़े लगाए जाते थे और सख्ती करने की भी आज्ञा थी। १७६१ के पश्चात् अंग-भंग और मृत्यु-दण्ड डकैती, चोरी, हत्या और षड्यन्त्र के अपराधियों को दिया जाता था। मृत्यु-दण्ड, फाँसी, तलवार से टुकड़े-टुकड़े करके या खोपड़ी को कुचलकर दिया जाता था। ब्राह्मण-अपराधियों को या तो भूखा मार दिया जाता था या विष दे दिया जाता था। मृत्यु-दण्ड देने या छोड़ देने का अधिकार केवल राजा को ही था। फौजदारी में लोग झूठी गवाही देते थे और इसके दण्डरूप न्यायाधीश से केवल एक साधारण-सी डाँट मिल जाती थी। अपराधी से उसका परिवार अलग कर दिया जाता था जिससे अन्य लोग उसके प्रभाव से बचे रहें। वन्दियों को पहाड़ी किलों में रखा जाता था और बहुधा घूस देने पर उन्हें भगा भी दिया जाता था।

पुलिस-व्यवस्था (Police System)—इस विषय में "चोर को चोर पकड़े" वाली नीति बरती जाती थी। प्रत्येक गाँव में पटेल के अधिकार में एक महार शूद्र जाति का चौकीदार होता था। चौकीदारों की सहायता वंशानुगत अपराधी कबीलों के दल किया करते थे। प्रत्येक दल का अपना एक नायक या सरदार होता था जिसे गाँव में हुई चोरी या डकैती का उत्तर पटेल को देना पड़ता था। किन्तु यह व्यवस्था अपराधों की रोकथाम में असफल रही। रमोसी के प्रसिद्ध डाकू उमाजी नायक ने बहुत से व्यक्तियों की हत्या की और सम्पत्ति लूटी जबकि उसे बम्बई राज्य की ओर से पूना जिले में पुलिस का कार्य करने के लिए वेतन प्राप्त होता था। उसके अपराधों से पता चलता है कि उस समय गाँव की पुलिस द्वारा किये गये अपराधों को रोकने के लिए और निर्दोष प्रजा की रक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। छोटे-छोटे सरदार और जमींदार अपने शत्रु सरदारों के गाँव लूट लिया करते थे। जब अपराध अधिक बढ़ जाते उस समय केन्द्रीय सरकार निकट के पर्वतीय किलों में स्थित पैदल सेना को भेज ग्राम की पुलिस संख्या बढ़ा देती और पीड़ित क्षेत्र के सब घरों पर कर लगा देती। इस सहायक सेना का कार्य पटेल के अधिकृत ग्राम्य-पुलिस की सहायता करना और मारकाट का शस्त्रों से दमन करना था किन्तु इसका कार्य अपराधी को पकड़ना या तलाश करना नहीं था।

बाजीराव द्वितीय के समय में जिला पुलिस-व्यवस्था बदल गई और कुछ अन्य पुलिस कर्मचारियों की नियुक्ति की गई जिनका कार्य केवल अपराधियों का पता लगाना और पकड़ना था। नागरिक क्षेत्रों में न्याय और पुलिस के अधिकार कोतवाल को सौंप दिये गये जिसका कार्य मूल्य-नियन्त्रण, जन-गणना, अचल सम्पत्ति के झगड़ों को निपटाना, केन्द्रीय सरकार के लिये मज़दूर भरती करना और "नागरक" (पुलिस सुपरिन्टैन्डेन्ट) को दिये जाने वाले व्यावसायिक कर में कटौती करना था।

सेना (Army)—मराठा सेना सरदारों द्वारा भाड़े पर तैयार की गई सेना और पेशवा की अधिकृत सेना से मिलकर बनी थी। शिवाजी के समय में यह सेना राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर एकत्रित हुई किन्तु बाद में इसका रूप व्यावसायिक हो गया। मराठे घुड़सवार सेना में भरती किये जाते थे जहाँ उनका घोड़ों की अच्छी नसल तैयार करने का

ज्ञान बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ। पैदल सेना अधिकतर उत्तर भारत के निवासियों से बनी थी। तोपखाने के संचालनकर्त्ता और कर्मचारी पुर्तगाली और भारतीय ईसाई थे। मराठों की सैनिक सेवायें धौंसा और तुरही देकर प्राप्त की जाती थीं और क्योंकि अन्य सरदारों के धौंसा तुरही उस ही प्रदेश में होते थे, इनमें आपस में झगड़े और वैमनस्य रहता था। ये झगड़े राज्य-संगठन में बड़े बाधक रहे।

मराठा राज्य में प्रजा की आर्थिक उन्नति और बौद्धिक ज्ञान की वृद्धि के लिये कुछ भी नहीं किया गया। राज्य की आय का अधिकांश भाग पड़ोसी प्रदेशों की लूट से आता था। मराठों ने प्रजा उपयोगी सड़कों इत्यादि का निर्माण नहीं कराया। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने केवल योग्य पण्डितों को दान दिया। मराठों ने जासूस और हरकारे राजनैतिक और सामरिक सुविधा के लिये रखे हुए थे प्रजा की सुविधा के लिये नहीं।

राजस्व के स्रोत (Sources of Revenue)—राज्य की आय के प्रमुख स्रोत चौथ और सरदेशमुखी थे। चौथ का वितरण इस प्रकार होता था कि २५ प्रतिशत मराठा सरदारों और जागीरदारों को सेना रखने के लिये, ६ प्रतिशत पन्त सचिव को और ३ प्रतिशत राज्य-आज्ञा से अन्य लोगों को दिया जाता था। वितरण की यह प्रथा पेशवाओं के समय में भी प्रचलित रही।

दूसरा मुख्य स्रोत उन ग्रामों से होने वाली आय थी जो पहले से बसे हुए निवासियों ने अधिकार में ले लिये थे और जिनकी धरती छीनी नहीं जा सकी थी। खतिहर भूमि पर बड़ी सावधानी से पूरी देखभाल करके कर लगाया जाता और इसे तीन श्रेणियों में बाँटा हुआ था। उपज की किस्म के अनुसार, सिंचाई की सुविधाओं के अनुसार और भूमि की उपज के अनुसार। पटेल ही एक ऐसा अधिकारी था जो गाँव वालों के पक्ष में उच्चाधिकारियों के विरुद्ध कुछ कह सकता था। किसान की यथार्थ में कोई सुनवाई नहीं होती थी।

डाक्टर सेन ने लगान वसूल करने की प्रणाली का इस प्रकार वर्णन किया है, "जब वसूली का समय आता महार सब लगान देने वालों को गाँव की "पाधी" में जहाँ पटेल का दफ्तर होता था बुला लाता। पोद्दार और कुलकर्णी अपने खातों के साथ पटेल की सहायता करने को उपस्थित रहते थे। पोद्दार रुपये गिनता और परखता और कुलकर्णी किसान को रुपयों की रसीद देता था। जब वसूली समाप्त हो जाती तो सारा रुपया "कमाविसदार" के पास एक पत्र के साथ "चौगला" के हाथों भेज दिया जाता। एक दूसरा पत्र, जो बहुधा इस पत्र की प्रतिलिपि होता था, महार के हाथों देशमुख के पास सूचनार्थ भेज दिया जाता। "चौगला" मामलतदार से रुपये की रसीद प्राप्त करता जो कुलकर्णी के गाँव के खाते में बड़ी सँभालकर रखी जाती थी। कभी-कभी जिलाधीश की ओर से "शिबन्दी" पटेल के इस कार्य में सहायतार्थ भेजा जाता था। लगान बहुधा चार और कभी-कभी तीन किश्तों में दिया जाता था।"

अन्य छोटे-छोटे करों द्वारा भी राज्य की आय होती थी, जैसे देशमुखों और देशपाँडों की धरती पर १० वर्ष में १ वर्ष का लगान, महार के प्रति दी गई भूमि का लगान, कुएँ से सींची हुई भूमि का लगान, गृह-कर जो गांव के अधिकारियों और ब्राह्मणों को छोड़ कर सब पर लगाया जाता था, नाप-तोल के बट्टे इत्यादि की परख का वार्षिक कर, विधवा-

विवाह कर, भैंस और बकरियों का कर, पशुओं को घास चराने का कर, नदियों की धरती पर तरबूज इत्यादि की खेती करने का कर, उत्तराधिकार कर, घर बेचने पर कर इत्यादि, इत्यादि। इनके अतिरिक्त जब भी मराठा सरकार आर्थिक संकट में होती तो सारे भू-स्वामियों पर "कुरजा-पट्टी" या "तस्ती पट्टी" अर्थात् किसान की एक वर्ष की आय के बराबर कर लगाने में भी नहीं चूकती थी।

सामुद्रिक व्यापार से भी लाभ होता था। ये कर भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यापारिक वस्तुओं पर, व्यवसायों पर, क्रय-विक्रय और राहदारी इत्यादि पर लगाये जाते थे। ब्राह्मणों द्वारा अपने लिये मँगाई गई वस्तुओं पर कोई कर नहीं लगाया जाता था और इन्हें गृह-कर इत्यादि करों से छूट थी।

वनों से भी आय होती थी। लकड़ी काटने का अधिकार बेचा जाता था। कुछ धन घास, बाँस, शहद, ईंधन की लकड़ी और घास के ठेके बेचने से भी प्राप्त होता था।

राज्य कुछ स्वर्णकारों को सिक्के बनाने का अधिकार भी कुछ-कुछ शुल्क लेकर देता था और स्वर्णकारों को कुछ नियम पालन करने पड़ते थे। किन्तु फिर भी स्वर्णकार खोटे और खराब सिक्के बनाते थे। १७६० में इस प्रकार की एक घटना हुई जिसके कारण सारी सार्वजनिक टकसालें बन्द करके एक केन्द्रीय टकसाल स्थापित करनी पड़ी जो प्रत्येक अधिकार-पत्र पर सात मुद्रा शुल्करूप लेती थी।

न्याय-शासन से भी कुछ आय होती थी यद्यपि यह आय सदा नहीं होती थी। उधार-पत्रों पर २५ प्रतिशत के हिसाब से शुल्क लिया जाता था। उत्तराधिकार-पत्रों पर भी शुल्क लिया जाता था और जिस व्यक्ति पर व्यभिचार का सन्देह होता अथवा ऐसा करता पकड़ा जाता उससे दण्ड-स्वरूप बहुत-सा धन ले लिया जाता।

मराठा राज्य की सारी आय का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वास्तव में राज्य की आय लूट-पाट के अभियानों पर निर्भर थी जो किसी भी प्रकार निश्चित नहीं हो सकती। देश में फैली अराजकता के कारण मराठा सरकार ने अपनी आर्थिक सुरक्षा के लिये बहुत-सा लगान वसूल किया। प्रजा अत्यधिक लूट के कारण निर्धन हो चुकी थी और मराठा सरकार की स्थापना और सैनिक संगठन का मुख्य लक्ष्य साम्राज्य की स्थापना नहीं वरन साम्राज्य का विध्वंस करना था।

मराठों के पतन के कारण (Causes of the Downfall of the Marathas)–यह बात तो निर्विवाद है कि मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने और पतन के पश्चात् सत्ता मराठों के हाथ में आ गई। उनका साम्राज्य बहुत विशाल था, उनकी सेनाएँ बड़ी थीं। मराठे स्वयं महान् योद्धा थे। निर्भीकता और वीरता में वे संसार में किसी से कम नहीं थे। किन्तु इन गुणों के होने पर भी मराठे अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं ठहर सके और इसके अनेक कारण थे।

(१) यह सत्य है कि मराठा राज्य विशाल था किन्तु ठोस नहीं था। यह एक समुचित-इकाई राज्य नहीं था और इसकी सारी शक्ति पेशवा के हाथ में नहीं थी। मराठा साम्राज्य एक संघ था जिसकी सत्ता अनेक सरदारों में बँटी हुई थी जिनमें होल्कर, सिंधिया, भोंसला और गायकवाड़ थे। यह सत्य है कि औपचारिक रूप से मराठा-संघ का प्रमुख पेशवा था किन्तु वास्तव में अन्य मराठा सरदारों पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था।

प्रत्येक अपनी सीमा में स्वतन्त्र था और अपनी मनचाही करता था। वे परस्पर भी षड्यन्त्र करने में नहीं चूकते थे। होल्कर, सिंधिया या भोंसला को एक दूसरे के विरुद्ध अन्य शक्ति की सहायता करते देखना, एक शुभ चिन्ह नहीं था। स्पष्ट है कि मराठों में अनुशासन और एकता नहीं थी। वे राष्ट्रीय संकट के समय भी एकत्रित नहीं हुए। वे अपने सामूहिक शत्रु के विरुद्ध भी एक दूसरे की सहायता नहीं कर सके और परिणामतः अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक-एक करके सबको परास्त कर दिया।

(२) मराठे अपने कोष की चिन्ता नहीं करते थे। इतने महत्त्वपूर्ण विभाग की पूर्ण उपेक्षा की जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मराठों को सदा ही धन की आवश्यकता रहती थी। धन की खोज में लूट-पाट के धावे मारना मराठे सरदारों का साधारण रवैया था। किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था से किसी भी शासन को यश प्राप्त नहीं होता। प्रजा भी ऐसे राज्य के प्रति भक्ति और वफादारी नहीं रखती। कोई भी देश इस प्रकार की परिस्थिति में पनप नहीं सकता। मराठा साम्राज्य का पतन तो होना ही था। जब मराठों का राज्य छोटा था, उस समय वे लूट-पाट कर सकते थे, किन्तु जब उनका साम्राज्य बढ़ने लगा वे लूट-पाट की पुरानी प्रथा का प्रयोग नहीं कर सकते थे। इस कारण धन की कमी रहने लगी। मराठे एक व्यवस्थित शासन-यंत्र स्थापित नहीं कर सके। प्रजा के हितों की रक्षा के लिए कुछ भी नहीं किया गया। उनका शासन स्पष्ट रूप से आतंक और अत्याचारपूर्ण था।

(३) मराठों के पतन का एक और कारण यह भी था कि उन्होंने अपनी पुरानी युद्ध परिपाटी को छोड़ दिया था। मराठे छापामार युद्ध में सिद्धहस्त थे। वे डटकर मोर्चाबन्दी करके युद्ध करने के अभ्यस्त नहीं थे। जब तक मराठों ने अपना राज्य स्थापित नहीं किया था उस समय तक छापामार युद्ध सम्भव था, किन्तु जब उनका साम्राज्य स्थापित हो गया उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपनी प्रजा की विदेशियों के आक्रमण से रक्षा करें। परिस्थितियों ने मराठों को अपनी पुरानी युद्धनीति छोड़ने पर विवश कर दिया और इसके कारण उनका पतन हो गया।

(४) मराठे देश के भूगोल के विषय में बहुत कम जानते थे और उन्होंने देश की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करने की परवाह नहीं की, जो कि सफल सैनिक अभियानों के लिये अत्यन्त आवश्यक थी। इस कमी के कारण उन्हें बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। मराठा सेना को प्रयाण करते समय यह पता नहीं होता था कि मार्ग में कोई बड़ी नदी या पहाड़ भी आयगा। इस प्रकार की अड़चनें उनके सैनिक अभियानों के लिये घातक सिद्ध हुईं। अंग्रेजों को मराठा साम्राज्य के विषय में पूरी जानकारी थी और इससे उन्हें अपने सैनिक अभियानों में बड़ी सफलता प्राप्त हुई।

(५) अंग्रेजी कम्पनी के पास प्रचुर साधन थे और मराठे इस दृष्टि से उनकी जोड़ के नहीं थे। अंग्रेज कूटनीति के सफल खिलाड़ी थे और उनके सम्मुख मराठे इस कठिन कला में केवल बच्चे ही थे।

(६) मराठों की असफलता का एक और कारण उनकी विज्ञान, सैनिक शिक्षा और व्यवस्था के प्रति उपेक्षा थी। जो मराठा राज्य के प्रबन्धक थे उन्होंने यह कभी भी नहीं सोचा कि उनके पड़ोसी अंग्रेज भारतवर्ष के अन्य भागों में क्या कर रहे हैं। जब बाजी-

राव और उसके भाई चमना जी ने बसीन का द्वीप विजय किया, उन्होंने वहाँ एक समुद्री शस्त्रागार और नाव-निर्माण छावनी जो आत्म रक्षा के लिये अत्यावश्यक युक्तियुक्त कार्य था, स्थापित नहीं किया। पुर्तगालियों के पास समुद्री बन्दरगाह और तोपें ढालने के ढलाईघर थे जिनका प्रबन्ध वैज्ञानिक रीति से दक्ष व्यक्ति करते थे। ये सब प्रबन्ध बसीन में मराठे भी कर सकते थे और यदि यह सब उन्होंने किया होता तो पेशवा समुद्री मामलों में इतने असहाय न रहते। उन्हें अंग्रेजों से गोलों, तोपों, बारूद और जहाजों के लिए प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। पेशवा और उनके सलाहकार बुद्धिमान व्यक्ति थे और यह बड़ी दयनीय बात है कि उन्होंने उन विद्याओं के अध्ययन की पूर्णतः उपेक्षा की, जो उनकी व्यवस्था, तोपखाना और शिक्षित सेना के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक थीं। इस परिस्थिति में यह आश्चर्य नहीं कि मराठों को यूरोप वालों की तोपों के आगे भागना पड़ा। यह उल्लेखनीय है कि किसी भी मराठा सरदार में इतना साहस नहीं था कि वे कितने ही थोड़े अंग्रेज तोपचियों के सामने टिक सकते। सरदेसाई ने कहा है कि यदि मराठा सरकार ने आवश्यक दूरदर्शिता और सहनशीलता से काम लेकर अपनी युद्ध-शैली को अंग्रेजी ढंग पर व्यवस्थित किया होता तो वे सफलतापूर्वक अंग्रेजों की प्रगति को रोक सकते थे।

(७) मराठों की पराजय का एक कारण यह भी था कि उनके सब कामों में व्यवस्था और प्रबन्ध की कमी थी। नेतृत्व में एकता नहीं थी। शक्ति और कार्य का बँटवारा नहीं था। और न कोई ठीक-ठीक कर्तव्यों का विभाजन, न तरीका, न व्यवस्था और न ठीक शासन ही था। प्रत्येक मराठा सरदार अपनी ओर खींचता था। वे लोग सूक्ष्मदर्शी नहीं थे और पहले से प्रबन्ध नहीं करते थे। यह सत्य है कि मराठे सबके हित के लिए एकता की आवश्यकता समझते थे किन्तु इस कार्य को पूर्ण करने के लिए कोई भी आगे नहीं आया। वे कभी भी सामूहिक शत्रु के विरुद्ध इकट्ठे होकर लड़ने के लिए नहीं आए जिसका परिणाम यह हुआ कि वे एक-एक करके सारे हार गए।

(८) यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि मराठों के पतन का समय, अठारहवीं शताब्दी की समाप्ति और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का सन्धिकाल था। उस समय मराठों की स्थिति अत्यन्त निर्बल और अंग्रेजों की स्थिति अत्यन्त शक्तिशाली थी। १७९४ और १८०० के बीच मराठा साम्राज्य के योग्य और अनुभवी व्यक्ति मृत्यु के निर्मम हाथों संसार से उठा लिये गये। नवम्बर, १७८९ में वयोवृद्ध रामशास्त्री का देहान्त हो चुका था। फरवरी, १७९४ में महादजी सिन्धिया की मृत्यु हो गई। जून, १७९४ में हरिपन्त फडके का देहान्त हुआ। अगस्त, १७९५ में अहिल्याबाई होल्कर की मृत्यु हुई। अक्टूबर, १७९५ में पेशवा महादेव राव का देहान्त हुआ। तुकड़ो जी होल्कर अगस्त, १७९७ में मृत्यु को प्राप्त हुआ। १८ सितम्बर, १७९७ को परशुराम भाऊ पटवर्धन का देहान्त हुआ और नाना फड़नवीस का १३ मार्च, १८०० को देहान्त हुआ। इससे पहले कि मराठे इन विपत्तियों से सँभलकर अपना घर ठीक कर पाते, उन्हें विज्ञान, विधान, एकता और उच्च सामुद्रिक शक्ति से सन्नद्ध, दुर्धर्ष अंग्रेजों की शक्ति से लोहा लेना पड़ा। सर्वोच्च सत्ता इस समय बाजीराव द्वितीय और दौलतराव सिन्धिया के हाथों में थी। इनके कुकर्मों के कारण पूना दरबार और सारे मराठा समाज का इतना पतन हुआ कि किसी का भी जीवन, स्वतन्त्रता और

सम्मान सुरक्षित नहीं रहा। देश के दूरस्थ प्रदेशों के लोगों को भी कुशासन, अत्याचार, लूट और विनाश से पीड़ित होना पड़ा। मराठा देश के सरदार और जागीरदार पारस्परिक ईर्ष्या में इतने डूब गये कि अपनी सुरक्षा के लिये अंग्रेजों के हाथों बिक गये। यह सत्य है कि यशवन्तराव होल्कर ने बाजीराव को हराकर उसके भाई अमृतराव को सिंहासन पर बैठाने का भरसक प्रयत्न किया और यदि उसका परिश्रम सफल हो गया होता तो अंग्रेज अपना प्रभुत्व बढ़ा नहीं पाते। अस्तु, अंग्रेजों ने उसके प्रयत्न विफल कर दिये और बाजीराव द्वितीय ने पुराने शासन के दक्ष व्यक्तियों का विश्वास न करके, अरजीराव घाटगे जैसे स्वार्थी व्यक्तियों, नीच जाति के लोगों और स्वार्थी पंडितों का विश्वास किया। बाजीराव द्वितीय जैसा व्यक्ति क्षुद्र बुद्धि और दुश्चरित्र व्यक्तियों से घिरा हुआ, अंग्रेजों के पक्ष के योग्य और प्रसिद्ध व्यक्तियों से टक्कर नहीं ले सकता था। लार्ड वैल्ज़ली और उसके दोनों भाई आर्थर वैल्ज़ली और हैनरी वैल्ज़ली असाधारण गुण और योग्यता वाले व्यक्ति थे। यही बात एल्फिन्स्टन, सर जान मॉलकम, सर बेरी कलोज़, कर्नल कोलिन्ज, जानथन, डनकन और सर आर्थर मुनरो के लिये कही जा सकती है। सरदेसाई के शब्दों में, "एक जाति जिसमें इस प्रकार के योग्य व्यक्ति हों वह किसी भी काल में सफल हो सकती है।"

(९) अंग्रेज़ों की सफलता का एक कारण उनकी अन्वेषण प्रवृत्ति और श्रेष्ठ कूटनीति थी। प्रथम मराठा युद्ध के समय अंग्रेजों के पास मराठा राज्य, इसकी सेना, जागीरदारों की तुलनात्मक शक्ति, उनके परस्पर सम्बन्धों और पारिवारिक झगड़ों के विषय में पूरी-पूरी जानकारी थी। अंग्रेज जानते थे कि किन्हें अपने साथ मिलाया जा सकता है और कौन लोग पेशवा के प्रति वफादार हैं। युद्ध आरम्भ करते समय वे किसी भी घटना के लिए पूर्णतः सन्नद्ध थे। हार्नबी, वारेन हेस्टिंग्ज़, मोस्टन, अन्डरसन, उपटन, मलेट औ गोडर्ड इत्यादि के अतिरिक्त, जो स्वयं युद्ध में भाग ले रहे थे, और बहुत-से अंग्रेजों के गुप्तचर मराठा दुर्गों, उनकी स्थिति, उन पर पहुंचने के मार्गों, प्रजा की हालत, स्थानीय हालत और राजनैतिक गतिविधि इत्यादि की सूचनायें प्राप्त करने में लगे हुए थे। मोस्टन सात वर्ष तक पूना से बम्बई और कलकत्ता बड़ी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भेजता रहा। वास्तव में उसे इस युद्ध को उकसाने वाला कहा जा सकता है। दूसरी ओर मराठों के पास अंग्रेजों की कोई सूचना नहीं थी। उन्हें इंग्लैंड, उसके साधन और भारतवर्ष में उनकी शक्ति के विषय में बिलकुल कोई ज्ञान नहीं था। स्वयं नाना फड़नवीस को भी इन बातों का कुछ भी पता नहीं था। हमें इस बात का कोई ज्ञान नहीं हो पाता कि मराठा शासन के समय कोई भी हिन्दू अंग्रेजी भाषा में बोल या समुचित रूप से पत्र-व्यवहार कर सकता हो। इसके विपरीत अंग्रेजों में बहुत-से व्यक्ति भारतवर्ष की भाषाओं को सीख चुके थे और धारा प्रवाह बोल सकते थे। यह बात उल्लेखनीय है कि स्वयं नाना फड़नवीस भी बाहरी संसार की ही नहीं अपितु भारतवर्ष की भी भौगोलिक स्थिति से अपरिचित था। उसके द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले मानचित्र त्रुटिपूर्ण और निकम्मे थे। इन परिस्थितियों में मराठों की पराजय होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

(१०) राजावाडे के मतानुसार, मराठों की पराजय का मुख्य कारण उनमें वैज्ञानिक अध्ययन की कमी थी। उसके शब्दों में, "पेशवा बाजीराव द्वितीय के साथ में, जन-

रल स्मिथ और अन्य अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने वाले, किसी मराठे सैनिक से १८१८ के आरम्भ के महीनों में यह पूछा जाता कि वह युद्ध के मैदान से क्यों भाग गया या उसे कौनसा विशेष भय था तो उसने निःसंकोच यह उत्तर दिया होता कि वह श्वेत दोपायों (Bipeds) से बिलकुल नहीं डरता किन्तु उन अद्भुत लम्बी मार वाली तोपों से जिन्हें वह चलाता है और युद्ध के उन श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्रों से डरता है जिनका प्रयोग वह युद्ध में करता है। रानाडे के मतानुसार, यदि सिन्धिया की सुशिक्षित सेना का प्रशिक्षण सैनिक मोर्चाबन्दी के ज्ञान और शस्त्रों के बनाने और प्रयोग करने की विधि के साथ होता तो देश की सेनाओं की वह असहाय अवस्था नहीं होती, जो उनके अंग्रेज अफसरों के छोड़ जाने पर हुई। किन्तु इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया और युद्ध के मैदान में मराठा सेनायें पहले से भी अधिक असहाय सिद्ध हुई।

(११) सरदेसाई के अनुसार, "मराठों की असफलता का उत्तरदायित्व उनके बहुत-से नेताओं की असंभावित और असामयिक मृत्यु पर है। शिवाजी की असामयिक मृत्यु के कारण मुगल सम्राट् मराठों पर टूट पड़ा। १७४० में बाजीराव प्रथम की अचानक मृत्यु के कारण निजाम का अन्त होते-होते रुक गया और दक्षिण में उसका वंश स्थायी रूप से जम गया। पेशवा माधवराव की मृत्यु के कारण महाराष्ट्र की गुप्त विनाशकारी शक्तियाँ एकदम उठ खड़ी हुई और इसके पतन को शीघ्र ले आई। १७९५ में माधवराव द्वितीय की मृत्यु बाजीराव द्वितीय जैसे निकृष्ट व्यक्ति को मराठों का नेतृत्व सौंप गई।" एल्फिंस्टन के मतानुसार, "यह अंग्रेजों का सौभाग्य था कि बाजीराव और सिन्धिया दोनों में इस घोर विपत्ति के समय साहस के साथ टक्कर लेने की शक्ति और उत्साह नहीं था। यदि उस समय कोई अन्य सुलझा हुआ व्यक्ति पेशवा के पद पर होता तो अंग्रेजों का क्या हाल होता इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। मराठों के पास हथियार, धन, सेना और गोला-बारूद, सब कुछ ही एक सफल युद्ध करने के साधन थे। सब कुछ तैयार था। उनके पास केवल एक नेता की आवश्यकता थी। बाजीराव दक्षिण में और दौलतराव उत्तर में, दोनों ही राष्ट्र के प्रति विश्वासघाती बन गये और सारा खेल बिगड़ गया।"

(१२) मराठों की असफलता का एक और कारण संकीर्ण रूढ़िवाद और जाति व्यवस्था में अन्तर्हित जाति अभिमान भी था। ब्राह्मण राजाओं ने प्रतिक्रियावादी शक्तियों को बढ़ावा दिया और पुरानी जात-पांत की परिपाटी को, समाज में नवजीवन लाने वाले सुधारों के प्रोत्साहन देने की अपेक्षा, पुनर्जीवित किया। बाजीराव द्वितीय ने राष्ट्र की सुरक्षा की अपेक्षा ब्राह्मणों को उच्च पद प्रदान करके धर्म कमाने की ओर अधिक ध्यान दिया। रजवाडे के शब्दों में, "अंग्रेज एक जन्मजात कूटनीतिज्ञ पशु है जिस पर एक सज्जन पुरुष होने की चमकदार पालिश चढ़ी हुई है किन्तु जो गुप्त रूप में अत्यन्त चालाक है। जहाँ राजनीति की बात होगी वह औरों की तो क्या, अपने पिता की भी परवाह नहीं करेगा। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अपनी आध्यात्मिक महानता की डींग मारने पर भी हमने थोड़े ही क्षणों में अंग्रेजों के आगे घुटने टेक दिये।"

खरे ने भी मराठों की असफलता के कुछ कारण बताये हैं। उसके मतानुसार, मराठों में कोई राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी। पारस्परिक ईर्ष्या और स्वार्थपूर्ण विश्वासघात ने देश के हितों पर विजय प्राप्त की। व्यक्तिगत रूप से मराठे चतुर और वीर थे किन्तु

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अत्यावश्यक सहकारिता की भावना की उनमें कमी थी। खोज और सुधार की वैज्ञानिक भावना तो उनमें बिलकुल शून्य थी । तोपखाने को सुरक्षा के मुख्य शस्त्र के रूप में विकास करने की उन्होंने पूर्णतः उपेक्षा की । माधवराव प्रथम की मृत्यु के पश्चात् महाराष्ट्र में कोई योग्य नेता ही नहीं हुआ। एक जाति के रूप में मराठों में अनुशासन और व्यवस्थापूर्ण पूर्व प्रबन्ध करने की कमी थी । अंग्रेज कूटनीति की कला के आचार्य थे और मराठे उनके विरुद्ध टिक नहीं सके ।

१७ अगस्त, १८१७ के एक सूचना पत्र में सर थामस मुनरो ने मराठों की कुछ त्रुटियों का इन शब्दों में उल्लेख किया है, यथा "जब मैं देशीय (Native) राज्यों की कमज़ोरी और जिन राजाओं के अधिकार में ये हैं, उनके चरित्र का अनुमान लगाता हूँ तो मुझे उनकी ओर से किसी विशेष बाधा की आशंका नहीं दीख पड़ती। उनके पास हमारी सेनाओं का मुँह मोड़ देने और किसी मजबूत आक्रमण द्वारा हमारे प्रदेश को हानि पहुँचा कर इस संघर्ष को लम्बा करने की शक्ति नहीं है । वे कुछ दिन भले ही हमसे आगे रहें किन्तु उन्हें विश्राम या लूटपाट करने का अवसर नहीं मिलेगा । वे थके होंगे और उन्हें काबू कर लिया जायगा। यह बात नहीं कि उन्हें साधनों की आवश्यकता है या उनके पास घोड़े या आदमी नहीं हैं, लेकिन उनके पास एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसमें इस प्रकार की योग्यता हो कि इन्हें सफलता के साथ आगे ले जा सके।

"देशी राज्यों में इतनी कम व्यवस्था और अनुशासन है कि उनके साधनों का पूर्ण उपयोग करने के लिए, यूरोप के अधिक सुव्यवस्थित राज्यों की अपेक्षा, कहीं अधिक शक्ति की आवश्यकता है । अपनी शक्ति के चरम शिखर पर होते हुए भी दौलतराव सिन्धिया दुर्जेय नहीं था। उसके असीम साधन निर्बल हाथों में आकर बिखर गए। लार्ड लेक के विरुद्ध होल्कर का संघर्ष सिन्धिया से भी कमजोर था। होल्कर और सिन्धिया की शक्ति का उस समय से (१८०५) इतना ह्रास हो गया है कि उनसे विरोध की आशा नहीं करनी चाहिए। हमारी सरकार इतनी श्रेष्ठ, इतनी उच्च है कि वह निःसन्देह हर संघर्ष में सफल होगी।"

Questions for Revision

1. Account for the rise of the Peshwas in Maharastra.
2. What contribution was made by the first three Peshwas to the Maratha cause ?
3. Give your own estimate of the greatness of Balaji Vishwanath, Baji Rao I and Madhavrao I.
4. What was the contribution of Mahadji Scindhia and Nana Phadnavis ?
5. What was the Maratha system of administration under the Peshwas ?
6. What do you know about Maratha confederacy and how did it come into existence ?
7. What were the causes of the downfall of the Marathas ?
8. Sketch the career of Mahadji Scindhia.
9. Account for the rapid decline of the Peshwas after 1761.
10. What led to the third battle of Panipat ? Discuss its results.

अध्याय १०

बैण्टिङ्क से आकलैंड तक

(Bentinck to Auckland)

लार्ड विलियम बैण्टिङ्क का आगमन कई प्रकार से एक नये युग का प्रारम्भ था। वह दृढ़ संकल्प, योग्य तथा वीर व्यक्ति था। अपने मद्रास से पिछले अनुभव तथा योग्य अधिकारियों की सहायता से उसने प्रशासकीय संगठन को एकता के सूत्र में बाँधा तथा पुनः संगठित किया। वह अपने समय का उदार व्यक्ति था। वह पूर्ण रूप से उन उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न रहा जिन्होंने कैथोलिक उद्धार के युग का तथा संसदीय सुधारों को प्रेरित किया था। वह पहला गवर्नर-जनरल था जिसने इस विचार से कार्य किया कि, जनता का कल्याण, भारत-स्थित अंग्रेजों का मुख्य कर्त्तव्य है। उसने हमारे देश में ब्रिटिश स्वतन्त्रता की भावना का विकास किया। यद्यपि बंगाल के गवर्नर के रूप में वह असफल समझा गया, लेकिन भारत के बड़े-बड़े गवर्नर-जनरलों में उसका स्थान है। वह अपनी विजय के कारण प्रसिद्ध नहीं है बल्कि इसका कारण अनेक क्षेत्रों में उस द्वारा किए गए बहुत से सुधार हैं।

यह आमतौर पर प्रचलित बात है कि लार्ड हेस्टिंग्ज़ तथा लार्ड एमहर्स्ट ने युद्धों के कारण भारतीय कोष पर बहुत भार डाला। नेपाली युद्ध, तीसरा मराठा युद्ध, बर्मा का प्रथम युद्ध तथा विशेष रूप से पिंडारियों के विरुद्ध कार्रवाई ने भारतीय कोष को रिक्त कर दिया। जब विलियम बैण्टिङ्क भारत आया तो उसने देखा कि यहाँ का बजट घाटे में चल रहा है। कम्पनी के चार्टर को पुनः लागू करने की अवधि समीप आ रही थी तथा डायरैक्टर यह चाहते थे कि वे भारतीय प्रशासन का अनुकूल चित्र प्रस्तुत करें, जिससे लोगों को प्रभावित किया जा सके। इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं कि कम व्यय, छटनी तथा राज्य के कुल राजस्व में वृद्धि—ये बैण्टिङ्क की नीति के महत्त्वपूर्ण काम थे।

वित्तीय सुधार (Financial Reforms)—विलियम बैण्टिङ्क ने दो समितियाँ नियुक्त कीं जो कम्पनी के असैनिक तथा सैनिक व्यय के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करें तथा उसके कम करने के लिए सुझाव दें। समितियों ने पूर्ण रूप से सारे विषय पर विचार किया तथा अपने सुझाव दिये। उनके सुझावों को स्वीकार करते हुए विलियम बैण्टिङ्क ने बहुत से फिजूल पद उड़ा दिए, भत्ते कम कर दिए तथा असैनिक कर्मचारियों के वेतन घटा दिये। सैनिक व्यवस्थापन में अधिक सुधार करना सम्भव नहीं था। तथापि उसने फौजियों का भत्ता आधा कर दिया। विलियम बैण्टिङ्क से पहले भी अंग्रेज कम्पनी के डायरैक्टरों ने व्यय को कम करने का प्रयत्न किया था, किंतु वे असफल हो चुके थे। अब, उन्होंने विलियम बैण्टिङ्क को आज्ञा दी कि वह भत्तों को शीघ्र ही कम कर दे। परिणामस्वरूप नवम्बर १८२८ में एक आदेश प्रकाशित किया गया जिसके द्वारा कलकत्ते के चार सौ मील के क्षेत्रों में भत्तों में ५०% की कटौती की गई। गवर्नर-जनरल के विरुद्ध बहुत आन्दोलन हुआ। आंग्ल-भारतीय समाचार पत्रों ने प्रकट रूप से उसका अपमान किया तथा उसका विरोध किया। इस विरोध के होते हुए भी विलियम बैण्टिङ्क अपने संकल्प में दृढ़ रहा तथा अन्त

में विरोध समाप्त हो गया।

उसने प्रान्तीय अपील अदालतों तथा सर्किट की अदालतों को खत्म कर दिया। बैण्टिङ्क के अनुसार, "ये स्थान उन कर्मचारियों के लिए आराम करने के स्थान थे जिन्हें उच्च उत्तरदायित्वों के लिए अयोग्य समझा जाता था।" इसके कारण भी बहुत-सी बचत हो गई।

अफ़ीम के व्यापार को व्यवस्थित करने से कम्पनी के राजस्व को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। उसने अफ़ीम को मालवा से सीधा बम्बई भेजने के लिए अनुमति-पत्र देने की ऐसी प्रणाली बनाई, जिससे कम्पनी की आय में वृद्धि हुई।

बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में दीवानी के अधिकार लेने से पूर्व व्यक्तियों तथा संस्थाओं को राजस्व से मुक्त भूमि-खण्ड प्रदान किए जाते थे। अंग्रेजों ने भी ऐसी परिपाटी जारी रखी। १७९३ तथा १८१९ के कानून द्वारा कलैक्टरों को अधिकार दिया गया कि वे ऐसे अनुदान के औचित्य की परीक्षा करें। यह संदेह बना रहता था कि बहुत-सा अनुदान जाली तथा अवैध है। १८२८ के एक कानून द्वारा कलैक्टरों को आदेश दिया गया कि वे इन अनुदानों के औचित्य के सम्बन्ध में जाँच करें। इस कार्य के लिए विशेष कमीशन नियुक्त किए गए जो कलैक्टरों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुन सकते थे। सम्बन्धित लोगों ने अपने पक्ष में यह युक्ति दी कि बहुत समय व्यतीत हो जाने के कारण वे दस्तावेज़ नहीं दिखा सकते। सरकार ने इस युक्ति को स्वीकार नहीं किया तथा परिणामस्वरूप बहुत से राजस्व-मुक्त भूमि-खण्ड सरकार ने अपने अधिकार में ले लिये। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों में पर्याप्त असन्तोष हुआ, किन्तु विलियम बैण्टिङ्क कम्पनी की आय में वृद्धि करने में सफल हो गया।

इसके समय में उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के राजस्व विभाग की व्यवस्था की गई। कहा जाता है कि ज्यों ही विलियम बैण्टिङ्क भारत में आया, उसने इस समस्या के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की। वह व्यक्तिगत रूप से प्रान्त के दौरे पर निकला तथा इस सम्बन्ध में उसने विशेषज्ञों से परामर्श किया। उसने ऐसी व्यवस्था के सम्बन्ध में एक योजना बनाई, जो १८३३ में कानून बन गया। भूमि की पैमाइश की गई तथा उसके मानचित्र तैयार किए गए। भूमि का वर्गीकरण किया गया। तीस वर्षों के लिए पट्टे की व्यवस्था कर दी गई तथा इस सम्बन्ध में दरें निश्चित की गईं। किसानों अथवा जमींदारों अथवा ग्रामीण जनता के साथ दरें निश्चित की गईं। निस्संदेह राजस्व व्यवस्था के कारण भूमि-सुधार के लिए लोगों को प्रोत्साहन मिला तथा सरकार की भी राजस्व आय निश्चित हो गई।

कम्पनी में भारतीयों की नियुक्ति के कारण भी काफी बचत हुई। भारतीयों को यूरोपीय लोगों की अपेक्षा कम वेतन दिए जाते थे। इससे भी बचत हुई। उक्त सुधारों का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी कम्पनी की वित्त-व्यवस्था पुनः सुधर गई। पहले दस लाख का घाटा था। बैण्टिङ्क के जाने के बाद बीस लाख का आधिक्य रहा।

न्यायिक सुधार (Judicial Reforms)—कम्पनी की न्याय-पद्धति में तीन बड़ी भूलें थीं—देर, व्यय तथा अनिश्चितता। नए हस्तगत उपनिवेशों के लिए कलकत्ता बहुत दूर पड़ता था। न्याय-सम्बन्धी सुधारों के कार्य में सर चार्ल्स मैटकाफ़, बटरवर्थ, बेली तथा

हॉल्ट मैकेन्ज़ी ने बैण्टिङ्क.की मदद की।

१८२९ में विलियम बैण्टिङ्क ने प्रान्तीय अपील कोर्ट तथा सर्किट अदालतों को समाप्त कर दिया। ये अदालतें अपना कार्य ठीक प्रकार से नहीं कर रही थीं। उनका बहुत-सा कार्य शेष बचा था। न्यायाधीशों की यहाँ के लोगों के साथ पर्याप्त जानकारी नहीं थी। अभियोगाधीन वन्दियों को जेल में अपने मुकदमों की सुनवाई तथा निर्णय के कई मास पूर्व तक रहना पड़ता था। इसलिए विलियम बैण्टिङ्क ने इन अदालतों को समाप्त कर दिया। उसने राजस्व तथा सर्किट कार्यों के लिए कमिश्नर नियुक्त किए। बंगाल प्रान्त (प्रैज़ीडैंसी) को बीस भागों में बाँटा गया तथा प्रत्येक भाग के लिए एक कमिश्नर की नियुक्ति की गई। इन कमिश्नरों को वही कार्य करने पड़ते थे, जो उनसे पूर्व प्रान्तीय अपील वाली तथा सर्किट अदालतों के न्यायाधीशों को करने पड़ते थे। कमिश्नरों को माल विभाग के कलैक्टरों तथा अपने इलाके की पुलिस के कार्य के निरीक्षण का काम भी सौंपा गया। ये कमिश्नर भी अपने फौजदारी तथा राजस्व विभाग के कार्यों के लिये क्रमशः मुख्य निज़ामत अदालत तथा माल विभाग के बोर्ड के नियन्त्रण में रखे गए।

१८२९ में एक विनियमन द्वारा मैजिस्ट्रेटों को परिश्रम सहित दो वर्ष के कारावास के दण्ड देने का अधिकार भी दिया गया। कमिश्नर के पास अपीलें ले जाई जा सकती थीं।

१८३१ के एक विनियमन (regulation) द्वारा किराए सम्बन्धी मुकदमों की संक्षिप्त सुनवाई के आदेश दे दिए गए। कलैक्टरों को अधिकार दिया गया कि वे ऐसे मुकदमों की संक्षिप्त सुनवाई कर सकें। उनके निर्णय अन्तिम होते थे। उनको तभी बदला जा सकता था, यदि दीवानी अदालतों में नियमित मुकदमों के रूप में उन्हें प्रस्तुत किया जाए।

१८३१ के विनियमन द्वारा जिला तथा नगर अदालतों में प्रतिष्ठित भारतीयों की नियुक्ति की अनुमति प्राप्त हो गई। भारतीय न्यायाधीशों को ३००) रु० तक के मुकदमों को सुनने का अधिकार दिया गया। इन न्यायाधीशों को मुन्सिफ़ कहा जाता था। उन्हें सरकार द्वारा निश्चित वेतन दिया जाता था।

१८३१ में यह उपबन्ध किया गया कि मुख्य सदर अमीनों की नियुक्ति कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल करेंगे। इन पदों पर भी प्रतिष्ठित भारतीयों की नियुक्ति होनी थी। उन्हें नियमित वेतन मिलते थे। उनके निर्णयों के विरुद्ध जिला अथवा नगर अदालतों में अपीलें की जा सकती थीं। अमीनों तथा मुन्सिफों को इस बात का अधिकार नहीं था कि वे अमरीकनों तथा यूरोपियनों के मुकदमों की सुनवाई कर सकें।

बैण्टिङ्क ने इलाहाबाद में एक अलग मुख्य दीवानी अदालत तथा सदर निज़ामत अदालत स्थापित करने का निश्चय कर लिया तथा उन अदालतों ने १८३२ के प्रारम्भ में अपना कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

१८३२ के कानून द्वारा बंगाल में ज्यूरी पद्धति का प्रारम्भ किया गया। इसका उद्देश्य यह था कि यूरोपीय न्यायाधीश अपने मुकदमों को निबटाने में प्रतिष्ठित भारतीयों की सहायता से लाभ उठा सकें। यूरोपीय न्यायाधीशों को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे देशी पंचायतों को कोई मुकदमा भेज सकें। पंचायत का काम था कि वह

विचाराधीन मामले की जाँच-पड़ताल करे तथा अपनी रिपोर्ट न्यायाधीश को भेजे। इस प्रकार का उपबन्ध भी किया गया जिसके अनुसार न्यायाधीशों की सहायता के लिए Assessors की नियुक्ति की जा सके। उन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्मति देनी होती थी।

विलियम बैण्टिङ्क ने अदालती भाषा के रूप में फ़ारसी को हटा दिया तथा उसके लिए भारतीय भाषाओं के प्रयोग की आज्ञा दी। यह मुकदमा करने वालों के लिए भारी वरदान था। वे अपने कष्टों अथवा शिकायतों को अपनी भाषा में प्रकट कर सकते थे।

प्रशासनीय सुधार (Administrative Reforms)—लार्ड विलियम बैण्टिङ्क ने भारतीयों की नियुक्ति के सम्बन्ध में लार्ड कार्नवालिस की नीति को बदल दिया। कार्नवालिस को भारतीयों में विश्वास नहीं था तथा परिणामस्वरूप वह यूरोपीय लोगों की नियुक्ति के लिए बाध्य करता था। यह देखा गया कि यूरोपीय लोगों को नियुक्त करना अत्यन्त मँहगा पड़ता है तथा भारतीयों को बहुत थोड़े वेतनों पर नियुक्त किया जा सकता था। अंग्रेजी भाषा के प्रचार के कारण भारतीय क्लर्क मिलने लगे। बैण्टिङ्क ने भारतीय न्यायाधीशों के तीन वर्ग बनाए। उनमें सबसे ऊँचे स्तर—मुख्य अमीनों—को ७५०) का वेतन दिया गया। भारतीयों की नियुक्ति से नौकरी के सम्बन्ध में उनकी एक बड़ी शिकायत दूर हो गई। यह नई नीति १८३३ के चार्टर कानून में निर्धारित नियम के अनुसार थी। इस कानून द्वारा "किसी भी भारतवासी को अथवा सम्राट् के किसी भी प्रजाजन को उसके धर्म, जन्मस्थान, पीढ़ी (वंश) अथवा रंग के कारण किसी स्थान, पद अथवा नौकरी के लिए अयोग्य घोषित नहीं किया जाना चाहिए।" विलियम बैण्टिङ्क ने सर चार्ल्स द्वारा प्रस्तावित नीति का अनुसरण किया।

विलियम बैण्टिङ्क ने उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लिए इलाहाबाद में एक राजस्व बोर्ड नियुक्त किया।

शिक्षा सम्बन्धी सुधार (Educational Reforms)—यह भली प्रकार विदित है कि १८१३ के चार्टर एक्ट द्वारा "ब्रिटिश उपनिवेशों के निवासियों में विज्ञान की उन्नति तथा पुनरुद्धार के लिए एक लाख रुपए वार्षिक की स्वीकृति दी गई।" भारत सरकार इस बात का निश्चय न कर सकी कि उस धन का कैसे उपयोग किया जाए। इस प्रकार वह धनराशि प्रति वर्ष इकट्ठी होती गई। १८२३ में मि० एडम्ज़ ने सार्वजनिक शिक्षा की एक समिति नियुक्त की जिसका कार्य सुझाव देना था, किन्तु इस सम्बन्ध में प्रथम बर्मा युद्ध में व्यस्त होने के कारण अधिक कार्रवाई न की जा सकी। विलियम बैण्टिङ्क को इस समस्या को सुलझाना पड़ा। इस प्रश्न के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ थीं। एच० एच० विलसन प्राच्य पक्ष का नेता था तथा सर चार्ल्स ट्रैवेलयन अंग्रेजी पक्ष का नेता था। निधि सदस्य के रूप में लार्ड मैकाले के आगमन ने उन लोगों के हाथ दृढ़ कर दिए, जो अंग्रेजी शिक्षा पर धन व्यय करना चाहते थे। अन्त में अंग्रेजी भाषा के पक्ष में निर्णय हुआ। व्यावहारिक विचार ही इस निर्णय के कारण बने। ऐसा माना गया कि इससे न केवल भारत सरकार को सस्ते क्लर्क मिलेंगे, बल्कि अंग्रेजी माल की माँग भी अधिक होगी। राजा राममोहन राय जैसे भारतीय भी अंग्रेजी भाषा के पक्ष में थे। मार्च १८३५ के एक प्रस्ताव द्वारा विलियम बैण्टिङ्क ने घोषणा की "ब्रिटिश सरकार का प्रमुख उद्देश्य भारतीयों में

साहित्य तथा विज्ञान की उन्नति करना होना चाहिए तथा शिक्षा के लिए स्वीकृत धन का व्यय सर्वोत्तम रूप से केवल अंग्रेजी शिक्षा पर ही होना चाहिए।"

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीयों को एक सार्वदेशिक भाषा प्रदान की तथा उसके द्वारा देश में राष्ट्रीयता की भावना को सहायता दी। भारतीयों को पश्चिमी ज्ञान-कोष से अवगत कराया गया।

१८३५ में कलकत्ता में एक मैडिकल कालेज खोला गया। इस प्रकार पाश्चात्य औषधि विज्ञान को भारतीय विद्यार्थियों में प्रचलित किया गया।

सामाजिक सुधार (Social Reforms)—सती प्रथा तथा ठगी को हटाने का श्रेय विलियम बैण्टिङ्क को है। इन दोनों प्रथाओं के कारण प्राणहानि होती थी। दोनों में अन्तर इतना था कि सती प्रथा में प्राणहानि स्वत: की जाती थी तथा ठगी द्वारा ठग दूसरों की प्राणहानि करते थे। किसी भी व्यक्ति को सती प्रथा के प्रारम्भ का ज्ञान नहीं है। निस्सन्देह यह प्राचीन प्रथा थी, जो उच्च वर्ग के लोगों में पाई जाती थी। यह एक गौरव तथा प्रतिष्ठा का विषय समझा जाता था। इसी कारण इस अवसर पर पवित्र मन्त्रों का गायन भी होता था। विधवा स्त्री अपने मृत पति के साथ जला दी जाती थी। उसे विवश किया जाता था कि वह अपने शरीर पर सब वस्त्र तथा आभूषण धारण करे तथा अग्नि प्रज्वलन के अनन्तर ब्राह्मण सारा स्वर्ण अपनी जेबों में डाल लेते थे। इससे कुछ लोगों की इस प्रथा से स्वार्थ-सिद्धि होती थी। इसलिए समय-समय पर विरोध होते हुए भी यह प्रथा चालू रही। यह बात प्रसिद्ध है कि अकबर ने सती प्रथा को दवाने का प्रयत्न किया। अलबुकर्क ने भी ऐसा ही किया था। पेशवाओं ने भी अपने प्रदेशों में इस प्रथा पर रोक लगा दी थी। १८२३ में डायरैक्टरों की समिति ने इस प्रथा के सम्बन्ध में जाँच की तथा कानून की दृष्टि से यदि किसी विरोध की आशंका न हो तो इस पर रोक लगाने की सम्भावना प्रकट की। लार्ड एमहर्स्ट ने इस प्रश्न पर लोगों की सम्मतियाँ मँगवाई थीं; किन्तु यह देखा गया कि इस सम्बन्ध में एकमत नहीं था। विलियम बैण्टिङ्क इस परिणाम पर पहुँचा कि यदि सती को अपराध मान लिया जाए तो किन्हीं गम्भीर परिणामों की सम्भावना नहीं है। इस कार्य में उसको राजा राममोहन राय ने सहायता प्रदान की। दिसम्बर १८२९ के एक अधिनियम द्वारा बैण्टिङ्क ने घोषणा की कि सती प्रथा अवैध तथा दण्डनीय है। ऐसा करना सदोष मानव हत्या के समान दण्डनीय होगा। समाज के कट्टरपन्थियों की ओर से इसका प्रबल विरोध हुआ, किन्तु विलियम बैण्टिङ्क ने एक सुधारक के समान साहस से काम लिया। उसने यह सुधार-कार्य पूर्ण किया। कुछ समय तक आन्दोलन चलता रहा, किन्तु समय के बीतने पर वह आन्दोलन शान्त हो गया।

ठगों के सम्बन्ध में बताया जाता है कि वे वंशानुक्रम से ही ठगों, लुटेरों तथा कत्ल करने वालों का एक समूह था। उनके अपराध एक ही ढंग के होते थे। १७९८ में श्रीरंगपट्टम के अधिकार किए जाने पर ठगों का पता चला। उनमें से कुछ सैंकड़े ठग मैसूर प्रदेश में पकड़ लिये गए, वहाँ वे विशेष रूप से फल फूल रहे थे। कुछ वर्ष पश्चात् अर्काट जिले में उनकी और अधिक गिरफ्तारियाँ हुईं और उससे पता चला कि ठग भारत के बहुत से भागों में क्रियाशील हैं तथा उन्हें छोटे-छोटे कप्तानों तथा जमींदारों का संरक्षण प्राप्त है। यह भी पता चला कि वे गुटों में कार्य करते हैं तथा उनका ध्यान आम तौर पर

यात्रियों पर होता है। उनका कत्ल करने का पुराना ढंग गला घोंटने का था। उनके बच्चों को नियमित रूप से अपने इस कार्य के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। वे निर्धनों तथा धनियों को लूटा करते थे तथा कुछ रुपयों के लिए कत्ल करने के लिए प्रस्तुत रहते थे।

ठगों के समूह में लगभग ३०० व्यक्ति होते थे। ऐसे मामलों में वे छोटे-छोटे समूहों में कार्य करते थे तथा सामूहिक रूप से तभी कार्य करते थे जब ऐसा आवश्यक होता था।

थॉर्नटन ने ठगों की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में इन शब्दों में व्याख्या की है। "उनके कत्ल करने की प्रणाली थी। किन्तु निम्नलिखित शैलियाँ सामान्य रूप से प्रचलित थीं। अकेले चलते हुए, समूह का एक व्यक्ति किसी विशेष व्यक्ति के गले के चारों ओर एक रस्सी अथवा वस्त्र फेंक देता है तथा उसका एक किनारा पकड़ लेता है। उसका दूसरा किनारा, उसका दूसरा साथी पकड़ लेता है। इस प्रकार वह कपड़ा जो गले के चारों ओर लपेट दिया गया है, उसे अत्यन्त दृढ़ता से खींच लिया जाता है तथा दो ठग अपने शिकार का सिर दबाते हुए रस्सी पकड़े रहते हैं तथा तीसरा बदमाश, जो कि यात्री के पीछे तैयार रहता है उसे पीछे से पैरों से पकड़ लेता है तथा इस प्रकार उसे भूमि पर फेंक दिया जाता है। इस स्थिति में मुकाबला करने का बहुत कम अवसर मिलता है। फन्दे द्वारा किसी व्यक्ति को फँसाने के इस कार्य में लातों तथा पैरों द्वारा ठोकरों का भी प्रयोग किया जाता है तथा इससे घातक चोट लग जाती है तथा इस प्रकार आक्रमण किए जाने वाले व्यक्ति को शीघ्र ही स्वर्गधाम पहुँचा दिया जाता है। यही ठगों की चाल तथा सावधानी का नमूना है। कभी-कभी वे उन व्यक्तियों के साथ कुछ दिनों तक यात्रा करते हैं, जिन्हें वे अपना शिकार बनाना चाहते हैं, इससे पूर्व कि वे अपने उद्देश्य के लिए वास्तविक कार्रवाई करें। यदि परिस्थितियाँ उन्हें इस प्रकार का अवसर प्रदान करती हैं, तो वे प्रायः वन में ही कत्ल करने का कार्य करते हैं अथवा ऐसे स्थान पर, जहाँ लोगों का आना-जाना अधिक न हो, रेतीले स्थान के समीप अथवा शुष्क जल वाले मार्ग पर भारत के प्रत्येक भाग में विशेष मार्ग चुन लिये जाते हैं, जहाँ वे अपने इस भयावने कृत्य को अत्यधिक आसानी अथवा सुरक्षा से पूर्ण कर सकें। घने वनों में गुज़रने वाली सड़कें, जहाँ स्थानीय शासन इस ओर ध्यान न दे सके—ऐसे स्थान इस कार्य में सहायक थे। ठग इन स्थानों के विषय में उसी प्रेम तथा उत्साह से बातचीत करते हैं, जिस प्रकार अन्य व्यक्ति अपने प्रारम्भिक जीवन के सर्वाधिक प्रसन्नता भरे दृश्यों का वर्णन करते हैं।

ठगों के प्रत्येक जत्थे में नियमित श्रेणीबद्धता अथवा क्रम निश्चित रहता है। ऐसा व्यक्ति समूह का जमादार बनता है, जिसकी प्रसिद्धि गला घोटने के सम्बन्ध में हो, जिसके पूर्वज प्राचीन काल के ठग रहे हों तथा जो स्थानीय अधिकारियों को रिश्वत दे सके अथवा जो व्यक्ति लोगों का स्वाभाविक नेता हो। ऐसा व्यक्ति, जो इस पेशे का उल्लेखनीय अथवा असाधारण व्यक्ति हो, सूबेदार बनता था। जो भी वस्तुएँ ठग अधिकार में कर लेते थे, उन्हें बहुत-से व्यक्तियों में बाँटना पड़ता था। नेता को लूट का विशेष भाग दिया जाता था। सबसे पहले स्थानीय मुखियाओं का भाग अलग निकाला जाता था, जिनकी इस सम्बन्ध में साँठ-गाँठ आवश्यक होती थी। धार्मिक रीति-रिवाजों के लिए भी कुछ-न-कुछ भाग अलग

किया जाता था। तत्पश्चात् दो भाग उस व्यक्ति को दिए जाते थे, जिसने वास्तविक हत्या की हो तथा समूह के प्रत्येक अन्य व्यक्ति को शेष में से कुछ भाग दिया जाता था। ठगों को धार्मिक कृत्यों पर अधिक विश्वास था। वे विश्वास करते थे कि यदि वे नियमों के अनुसार कार्य करें तथा शकुनों का ध्यान रखें, तो हिन्दू देवी काली उन्हें किसी प्रकार भी कष्ट नहीं देगी। एक ठग ने स्लीमेन को इस प्रकार कहा--"उस देवी (काली) ने ही ठगी की स्थापना की है तथा वही इसका समर्थन करती है। जब तक हम उसके शकुनों का ध्यान रखेंगे तथा उनका पालन करेंगे, जिन्हें हमारे पूर्वजों ने बुद्धिपूर्वक बनाया है, कोई भी हम पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं कर सकता।"

अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ठगी के अभिशाप को हटाने के लिए इस सम्बन्ध में कुछ प्रयत्न किया, किन्तु इसमें विशेष प्रगति नहीं हुई। १८२६ में गवर्नर-जनरल के नर्बदा प्रदेश स्थित प्रतिनिधि को आदेश दिया गया कि वह सब ठगों के विरुद्ध, चाहे वे कहीं भी हों, कार्रवाई करे। कैप्टन स्लीमेन प्रतिनिधि के सहायक नियुक्त किए गए। सारे भारत में कम्पनी के अफसरों को आदेश दिया गया कि वे उसे न केवल ठगी की सब घटनाओं की सूचनाएँ दें, अपितु सब प्रकार की वे बातें भी बताएँ जिनसे ठगों की गुप्त बातों को प्रकट करने में सहायता मिले। इस प्रकार की सूचनाओं तथा रिपोर्टों से पता चला कि केवल मैसूर में ही ठगों द्वारा सैकड़ों व्यक्तियों की प्रति वर्ष हत्या की जाती थी।

ठगों के विरुद्ध सफलतापूर्वक आक्रमणों के किए जाने के मार्ग में चार मुख्य कठिनाइयाँ थीं। पहली कठिनाई तो अपराध की उस स्वाभाविक वृत्ति के सम्बन्ध में ही थी, जो प्रायः गोपनीय थी। चिट्टूर के न्यायाधीश ने इस सम्बन्ध में इस प्रकार विचार प्रकट किया—"फाँसीगरों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है, जिससे उन्हें प्रभावित किया जाए कि उन्हें (ठगों को) ढूँढ़ना तथा दण्डित करना कितना कठिन है। राज्य के सामान्य नियम कितने अपर्याप्त हैं तथा उन उद्देश्यों को प्रभावित करने वाले वर्तमान कानूनों का क्रियान्वित करना कितना असन्तोषजनक है। उनके अपराधों का क्षेत्र उनके अपने जिलों के बाहिर का होता है, जो उनके अपने निवास से लगभग तीस मील बाहर हों। कई बार वे अपने घरों को लगातार कई मास के लिए छोड़ देते हैं तथा उन्हें सैकड़ों मीलों की यात्रा करनी पड़ती है। उनके शिकार प्रायः यात्री होते हैं, जिनकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में वे सार्वजनिक रूप से परिचित हो जाते हैं। वे प्रायः अपने नाम बदल लेते हैं तथा कभी-कभी तो बहुत से नाम धारण करके वे इधर-उधर विचरण करते हैं, जिससे उन्हें कैद न किया जा सके। वे अपने शिकारों की हत्या, नगरों तथा बड़े देहातों से दूर ऐसी सार्वजनिक सड़कों पर करते हैं, जो वनों में से होकर जाती हैं अथवा ऐसी भूमि में से होकर जाती हैं जिस पर खेती नहीं होती। ऐसे स्थानों पर वे उन हत्या किये गए व्यक्तियों के मृतक शरीरों को दफना अथवा दबा देते हैं। वे अपने साथ कई बार अपने बारह वर्ष से छोटे बच्चे लेकर विचरण करते हैं, जिससे उन पर सन्देह न हो सके, जिससे कोई उनकी ओर ध्यान भी न दे सके। लुटेरों के समूह का मुखिया कभी-कभी घोड़े पर सवारी करता है। वे प्रायः अपने साथ बैल अथवा टट्टू रखते हैं, जिन पर वे लूटी हुई सम्पत्ति लाद सकें। इस प्रकार वे व्यापारियों का रूप धारण कर लेते हैं और अन्य लोग उन्हें ऐसा समझ कर उनकी ओर अधिक ध्यान नहीं देते। एक समूह में प्रायः इतने व्यक्ति होते हैं, कि उनमें से कई लोगों को कुछ

दूरी पर रहना अथवा ठहरना पड़ता है, जहाँ उनके शिकारों को मृत्यु के घाट उतारा जाता है, ताकि खतरे की परिस्थिति में उन्हें सावधान किया जा सके।

"वे लोग बिना हत्या किए डाका नहीं डालते। वे प्रथम अपने शिकार का गला घोटते हैं तथा फिर उन्हें लूट लेते हैं।"

सरकार के मार्ग में एक अन्य कठिनाई यह थी कि ठगों को मुखियाओं, जमींदारों तथा अफसरों का संरक्षण प्राप्त था। परिणामस्वरूप वे स्वेच्छापूर्वक दण्ड के भय से रहित होकर कार्य कर सकते थे। ठगों को काफी रुपया उन्हें उपहारों अथवा नज़राने के रूप में देना होता था। एक ठग सुलतानी गवाह ने वक्तव्य दिया कि वह ही नहीं अपितु उसका पिता भी ठग था : उसने ऐसे ठगों की सूची दिखाई, जो ग्वालियर रियासत को नज़राना देते थे। ठगों के सभी घरों पर कर लगा दिए गए तथा उनमें से एक ठग का कार्य उस कर को इकट्ठा करना होता था। जब ठग अपनी यात्राओं से लौटते थे, तब वे अपने नेताओं को उपहार भेंट देते थे। एक अन्य सुलतानी गवाह के कथनानुसार, "ठगों के नेता बुन्देलखण्ड में उन स्थानीय अधिकारियों के साथ सीधा सम्पर्क तथा समझौता रखते हैं, जिनकी सीमाओं में वे तथा उसके अनुयायी रहते हैं तथा अपनी यात्राओं से लौटने पर उचित नज़रानों से उन्हें प्रसन्न रखते हैं।" इस प्रकार स्थानीय शासकों के साथ मिलकर अपना कार्य करना सम्भवत: उस समय का उनका सामान्य नियम था, अपवाद नहीं।

एक और कठिनाई यह थी कि बहुत-से ठगों के आजीविका के वैकल्पिक आधार थे। वे अपना अधिकांश समय किसी प्रतिष्ठित धन्धे में लगाते थे तथा ठगी का कार्य कभी-कभी करते थे। ऐसे व्यक्तियों पर सन्देह करना कठिन होता था।

एक अन्य कठिनाई अंग्रेज़ अफसरों के अधीन अदालतों द्वारा माँग किये गए प्रमाणों के नए स्तरों से उत्पन्न हुई। बहुत से व्यक्ति, जिन्हें स्थानीय व्यक्ति ठग समझते थे, दृढ़ प्रमाणों के अभाव में छोड़ दिए गए। कई बार दयानतदार सूचना देने वाला व्यक्ति इसलिए दण्डित किया जाता था कि वह अपने पक्ष को न्याय की दृष्टि से प्रमाणित नहीं कर पाता था।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए दो कार्रवाइयाँ की गईं। एक अधिनियम स्वीकार किया गया, जिसके अनुसार ठगों के समूह से किसी व्यक्ति के सम्बन्ध का तथ्य ही ऐसा अपराध मान लिया गया, जिसका दण्ड आजीवन कारावास था। ऐसा सम्बन्ध प्रमाणित करना प्राय: सम्भव हो जाता था, जहाँ किसी विशेष अपराध को प्रमाणित करना कठिन हो जाता था। इसके साथ ही स्लीमेन तथा उसके सहयोगियों ने सुलतानी गवाहों का निपुणतापूर्वक तथा विवेकपूर्वक उपयोग किया। एक ठग को जिसके विरुद्ध साक्षियाँ स्पष्ट थीं, पूर्ण रियायतें देकर क्षमा कर दिया गया। इससे अधिकारियों को ठगों तथा उनके स्थानों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने में सहायता प्राप्त हुई। ऐसा वर्णन किया जाता है कि छ: वर्षों में लगभग दो सौ ठग बन्दी बनाए गए, डेढ़ हजार ठगों को फाँसी दी गई अथवा आजन्म कारावास मिला, तथा बचे-खुचे ठगों को जबलपुर के सुधार-गृह में डाल दिया गया, जिससे उन्हें सुधारा जा सके।

हिन्दू कानून के अनुसार यदि कोई हिन्दू ईसाई धर्म में परिवर्तित हो जाता है, तो वह अपने परिवार की सम्पत्ति में किसी भाग का अधिकारी नहीं रह जाता। कानून में इसप्रकार

परिवर्तन किया गया कि यदि कोई हिन्दू ईसाई धर्म ग्रहण कर ले, तो भी उसे अपनी पैतृक सम्पत्ति में भाग प्राप्त करने का अधिकार हो सकता था।

सार्वजनिक कार्यों में सुधार (Public Works Reforms)—लार्ड मिण्टो के समय में आरम्भ की गई सिंचाई योजनाओं को विलियम बैण्टिङ्क के समय में कार्यान्वित किया गया। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में जल को बाँटने के सम्बन्ध में नहरें खोदी गई। सड़कों में सुधार किया गया। कलकत्ता से दिल्ली तक की ग्रांड ट्रक रोड की मरम्मत की गई तथा बम्बई से आगरा तक एक सड़क बनाने का कार्य आरम्भ हुआ।

भारतीय रियासतों के साथ सम्बन्ध (Relations with Indian States)—मुगल सम्राट् ने इस बात की शिकायत की कि उसे अपर्याप्त भत्ते मिलते हैं। यद्यपि मुगल सम्राट् की इस शिकायत के सम्बन्ध में पक्ष पुष्टि करने के लिए राजा राममोहन राय इंग्लैंड गए, किन्तु उसका परिणाम कुछ भी न निकला। इससे कटुता बढ़ी।

विलियम बैण्टिङ्क आश्रित रियासतों के सम्बन्ध में हस्तक्षेप न करने की नीति पर चला। १८२९ में हैदराबाद के निज़ाम सिकन्दर शाह की मृत्यु के पश्चात् नाज़िरुद्दौला निज़ाम बना तथा उसने ब्रिटिश सरकार से ब्रिटिश अफसरों को हटाने की प्रार्थना की। प्रार्थना स्वीकार कर ली गई।

जयपुर में गड़बड़ हुई। रानी तथा उसके प्रेमी को १८३५ में फाँसी दी गई। ब्रिटिश रैज़ीडैण्ट पर आक्रमण किया गया। फिर भी हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण किया गया। भोपाल में सिकन्दर बेगम ने शासन की बागडोर स्वयं अपने हाथों में सम्भाल ली थी। रियासत में बहुत गड़बड़ तथा अशान्ति हुई। इतना कुछ होने पर भी ब्रिटिश सरकार तटस्थ रही।

ग्वालियर तथा सिन्ध के सम्बन्ध में कोई नियमित नीति नहीं अपनाई गई। कभी हस्तक्षेप की नीति का पालन किया गया तथा कभी हस्तक्षेप न करने की नीति का।

मैसूर के सम्बन्ध में भी काफी गड़बड़ तथा अराजकता अथवा कुशासन का राज्य रहा। प्रजा ने राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विलियम बैण्टिङ्क ने हस्तक्षेप किया तथा शासन-व्यवस्था का उत्तरदायित्व अपने हाथों में ले लिया। यह व्यवस्था १८८१ तक चलती रही।

विलियम बैण्टिङ्क कुर्ग की रियासत को अंग्रेजी राज्य में मिलाने के लिए उत्तरदायी था। कुर्ग का शासक पागल हो गया तथा उसने राज्य-परिवार के प्रत्येक पुरुष सदस्य को मार दिया। उसने अपनी प्रजा पर अत्याचार किया। इसका यह परिणाम हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने उसे संरक्षण देने से इनकार कर दिया। इसका कुछ भी प्रभाव न हुआ। इसलिए राजा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की गई। वह पराजित हुआ तथा पकड़ लिया गया। रियासत को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

विलियम बैण्टिङ्क ने कर्नल पोटिंगर को सिन्ध के अमीरों के साथ व्यापारिक सन्धि करने के लिए भेजा। यद्यपि वे हिचकिचाए तथापि सिखों के खतरे के कारण उन्हें सन्धि करने के लिए विवश किया गया।[1]

---

[1] अलफ्रैड लायल के कथनानुसार रणजीत सिंह तथा सिन्ध के अमीरों के साथ बैण्टिङ्क की सन्धियां प्रारम्भिक कार्रवाइयों के रूप में हुई। कुछ वर्षों के पश्चात् उन्होंने अफगान नीतियों के विस्तृत तथा संदिग्ध क्षेत्र में हमारा पथ-प्रदर्शन किया।

बैण्टिङ्क महाराजा रणजीत सिंह से १८३१ में रोपड़ के स्थान पर एक दरबार में मिला। इस भेंट का उद्देश्य दोनों देशों को एक स्थान पर लाना था जिससे कि वे रूस के आक्रमण के समय एक दूसरे के साथ सहयोग कर सकें।

१८३३ का चार्टर एक्ट (Charter Act of 1833)—इस चार्टर एक्ट द्वारा बीस वर्षों के लिए अंग्रेजी कम्पनी का एकाधिकार पुनः बढ़ गया। इसने विधान शक्ति को केन्द्रित कर दिया।

बैण्टिङ्क का मूल्यांकन (Estimate of Bentinck)—विलियम बैण्टिङ्क की प्रसिद्धि शान्ति के कारण थी, युद्ध के कारण नहीं। वह अंग्रेजी कम्पनी के रिक्त कोष को पुनः भरने के लिए उत्तरदायी था। उसने भारतीयों को कम्पनी की नौकरी में प्रविष्ट होने की अनुमति देकर भारतीयों की सारी शिकायतों को दूर किया। उसने सामाजिक, प्रशासनीय तथा कानूनी क्षेत्रों में अनेक उपयोगी सुधार किए। उसने गंगा नदी पर नौ-संचालन कार्य आरम्भ किया। आर० सी० दत्त ने उसके कार्यों को संक्षेप में इस प्रकार वर्णित किया है—"विलियम बैण्टिङ्क के सात वर्षों का शासन शान्ति, छटनी तथा सुधार का युग था। उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उपनिवेशों में शान्ति स्थापित की तथा भारतीय शासकों के साथ शान्तिपूर्वक रहा। उसने सार्वजनिक ऋण को घटा दिया, वार्षिक व्यय को कम कर दिया तथा लाभ दिखाया। उसने उत्तर भारत में संशोधित भूमि व्यवस्था को आरम्भ किया। इससे ज़मींदारों तथा कृषकों, दोनों को सहायता मिली। उसने राजस्व तथा न्याय विभागों में सुशिक्षित भारतीयों को उच्च स्थानों पर नियुक्त किया। उसने सती प्रथा को खतम किया तथा ठगी के अपराध को दबाया। उसने भारत में अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहित किया तथा इस नियम का पालन किया कि भारत की शासन-व्यवस्था मुख्य रूप से लोगों के हित के लिए हो।"

लार्ड मैकाले ने कलकत्ता स्थित बैण्टिङ्क की मूर्त्ति के अधोभाग पर निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखीं : "विलियम कवेन्दिश बैण्टिङ्क के प्रति, जिसने सात वर्षों में भारतवर्ष पर दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता, तथा उदार भाव से राज्य किया, जिसने बड़े साम्राज्य के सबसे बड़े अधिकारी होते हुए भी व्यक्तिगत नागरिक सरलता तथा संयम को नहीं छोड़ा, जिसने प्राच्य अनियन्त्रित राज्य क्रम में ब्रिटिश स्वतन्त्रता की भावना को भरा। जो कभी यह नहीं भूला कि सरकार का उद्देश्य शासित लोगों की प्रसन्नता है। जिसने क्रूर प्रथाओं को बन्द कर दिया। जिसने अपमानजनक पक्षपात को समाप्त किया। जिसने सार्वजनिक विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्रदान की तथा जिसका निरन्तर यही प्रयत्न था कि उसके आधीन रहने वाली जाति के आध्यात्मिक तथा चारित्रिक स्तर को उन्नत किया जाए।" मैकाले ने अन्य स्थान पर इस बात का भी उल्लेख किया है कि "हिन्दुओं की सब से पीछे आने वाली पीढ़ी लार्ड विलियम बैण्टिङ्क की मूर्त्ति को कितने आदर से देखेगी।"

ग्रेनविल के अनुसार, "वह (बैण्टिङ्क) ऐसा व्यक्ति है जिसकी जीवनगत सफलता उसकी प्रतिभा की अपेक्षा महान् रही है। वह इतना बुद्धिमान् नहीं तथा उसने प्रत्येक सार्वजनिक स्थिति में कुछ बड़ी भूलें की हैं। किन्तु वह स्वभाव से सरल, लोकप्रिय, अपनी सम्मतियों में उदार तथा अपनी जीवन-चर्या में अत्यधिक अतिथिपरायण है।

श्री एच० टी० प्रिन्सैप ने, जो विलियम बैण्टिङ्क को अच्छी प्रकार से जानते थे,

उसके विषय में इस प्रकार लिखा, "यह बात लार्ड विलियम बैण्टिङ्क के स्वभाव में नहीं थी कि वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति में पूर्ण विश्वास कर सके। उसने अपनी पत्नी से बिना परामर्श लिए कोई भी महत्त्वपूर्ण पग नहीं उठाया। कूटनीतिक शिक्षा में उसकी पत्नी को नेपल्ज़ तथा सिसिली में प्रशिक्षित किया गया था तथा मैं यह नहीं कह सकता कि उसका परामर्श तथा प्रभाव लाभकारी के अतिरिक्त और भी कुछ हो सकता था। पुनश्च, उसे परिवर्तन से अत्यधिक प्रेम था तथा वह प्रत्येक संस्था अथवा रीति-रिवाज में हस्तक्षेप करने को उत्सुक रहता था। इस बात से इनकार करना असम्भव है कि उसके कुछ परिवर्त्तन लाभकारी थे, किन्तु वह प्रायः हर किसी वस्तु में हस्तक्षेप करके उसमें सुधार करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। सरकार के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए वह अपने उत्तराधिकारियों के लिए बहुत-सा कार्य अधूरा छोड़ गया था। पुनश्च, लार्ड विलियम बैण्टिङ्क ने भारत के सभी गवर्नर-जनरलों द्वारा लिखित संस्मरणों अथवा विवरणों से भी अधिक विवरण लिखे किन्तु वे प्रायः क्षणिक अथवा अस्थायी विषयों से सम्बन्धित थे। यदि उसे किसी महान् प्रश्न पर विचार करना होता था, तब वह उसमें विचार की मौलिकता अथवा अत्यधिक बुद्धिमत्ता तथा तर्क शक्ति का प्रयोग नहीं करता था, जिसके कारण पढ़ने वालों पर उसका प्रभाव पड़े। किन्तु इरादे में उससे अधिक सत्यनिष्ठ व्यक्ति मिलना कठिन है। संरक्षण देने में वह सब से आगे रहता था।"

सर चार्ल्स मैटकाफ, १८३५-३६ (Sir Charles Metcalfe)—लार्ड विलियम बैण्टिङ्क के पश्चात् सर चार्ल्स मैटकाफ ने शासन भार सँभाला। वह अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के योग्यतम सेवकों में से एक था। उसने ही १८०९ में रणजीतसिंह के साथ अमृतसर की सन्धि के सम्बन्ध में बातचीत की थी। वह उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लैफ्टिनैंट गवर्नर के रूप में भी कार्य कर चुका था। उसके समय की एकमात्र महत्त्वपूर्ण घटना भारतीय समाचारपत्रों पर लगी हुई पाबन्दी को दूर करना था। इंगलैण्ड की अंग्रेज सरकार गवर्नर-जनरल के इस कार्य पर इतनी क्रुद्ध हुई कि उसने उसे वापिस बुलाने का निश्चय कर लिया। उसका कार्य-काल कुछ ही मास रहा।

लार्ड आकलैण्ड, १८३६-४२ (Lord Auckland)—इसके शासन-काल की सब से महत्त्वपूर्ण घटना प्रथम अफ़गान युद्ध था, जिसके सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा अन्यत्र की गई है। उसकी अफ़गान नीति का सब ओर से विरोध हुआ है।

तथापि लार्ड आकलैण्ड ने कुछ सुधार किए। उसके शासनकाल से पूर्व भारत-स्थित अंग्रेजों को भारतीयों के साथ व्यवहार करने में कुछ सुविधाएँ प्राप्त थीं। उन्हें अधिकार था कि वे अपने मुकदमे कलकत्ता के सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत कर सकें। लार्ड मिण्टो का मत था कि इस प्रकार का पक्षपात अन्यायपूर्ण है तथा उसे हटा देना चाहिए। एक एक्ट स्वीकृत किया गया, जिसके द्वारा दीवानी मुकदमों के सम्बन्ध में भारतीयों के समान ही अंग्रेजों को भी एक ही स्तर पर रखा गया। अंग्रेजों ने इस कानून को 'काला कानून' कहा।

लार्ड आकलैण्ड ने भारत के विभिन्न सरकारी स्कूलों में अनेक छात्रवृत्तियाँ प्रारम्भ कीं। उसने यह भी घोषणा की कि सभी प्रारम्भिक स्कूलों में शिक्षा का माध्यम उस क्षेत्र की प्रादेशिक भाषा होगी। उसने बम्बई तथा मद्रास में मैडिकल स्कूल स्थापित

किए। अकाल दूर करने के लिए आकलैण्ड ने दोआब के लोगों के लिए सिंचाई की एक विस्तृत योजना के लिए स्वीकृति प्रदान की। प्रथम अफ़गान युद्ध के प्रारम्भ होने के कारण योजना को कार्यरूप में परिणत न किया जा सका, क्योंकि इसे पूरा करने के लिए आवश्यक धन की कमी थी।

भारतीय रियासतों के साथ सम्बन्ध (Relations with Indian States)–लार्ड आकलैण्ड ने इन्दौर के शासक को चेतावनी दी कि यदि वह अपनी शासन व्यवस्था में सुधार न करेगा, तो उसे गद्दी से उतार दिया जाएगा। इस चेतावनी का अच्छा परिणाम निकला तथा शासन-व्यवस्था में सुधार हो गया।

सितारा के नरेश ने अपनी कमजोर स्थिति के सम्बन्ध में रोष प्रकट किया तथा अन्य ऐसे पक्षों के साथ परामर्श चलाया जिन पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़ने की आशा न थी। बम्बई की सरकार ने उसे अपने दोष को स्वीकार करने को कहा, किन्तु उसने ऐसा करने से इनकार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे गद्दी से उतार दिया गया तथा राज्य-बन्दी के रूप में उसे बनारस भेज दिया गया। उसके भाई को गद्दी पर बिठाया गया।

अवध के सम्बन्ध में, लार्ड आकलैण्ड ने उसके शासक के साथ सन्धि कर ली। इंगलैण्ड की सरकार ने इस सन्धि की अनुमति नहीं दी। यद्यपि लार्ड आकलैण्ड वास्तविक परिस्थितियों को समझता था किन्तु उसने अवध के शासक से यह बात छिपाई तथा उसे केवल इतनी ही सूचना दी कि इंगलैण्ड की सरकार ने सन्धि के एक भाग में कुछ परिवर्त्तन कर दिया है। इस प्रकार की कूटनीति अक्षम्य थी।

मूल्यांकन—ट्रॉटर के कथनानुसार, "कठोर वृत्तियों वाला, कम बोलने वाला, शर्मीला, अच्छे स्वभाव वाला, सब प्रकार के प्रदर्शन को पसन्द न करने वाला तथा अपने नियमित सरकारी कार्यों में प्रसन्न रहने वाला, लार्ड आकलैण्ड अपने स्वभाव तथा दीर्घ अनुभव के कारण शान्त समय के सभी कर्त्तव्यों को पालन करने की पूर्ण योग्यता रखता था।" ग्रेनविल के कथनानुसार, "वह (आकलैण्ड) ऐसा व्यक्ति था, जिसमें कोई असाधारण गुण अथवा प्रदर्शनात्मक विशेषताएँ नहीं थीं। वह कठोर तथा रूक्ष स्वभाव का था। वह चुपचाप रहने वाला तथा सामाजिक कार्यों में निश्चित स्वभाव वाला, सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत जीवन में अकृत्रिम तथा हॉउस ऑफ लार्ड्स के वाद-विवादों में कम भाग लेने वाला……। इतना सब होते हुए भी वह अत्यन्त लोकप्रिय था……उसकी सूझ-बूझ बहुत अच्छी थी, उसका स्वभाव शान्त था, उसकी रुचि तथा कार्यकुशलता परिमार्जित तथा विशिष्ट थी। गाम्भीर्य के साथ-साथ वह प्रफुल्ल-चित्त रहने वाला व्यक्ति था। उसकी कठोर मुखाकृति के भीतर उसका कोमल हृदय छिपा था।"

एच० टी० प्रिंसैप के कथनानुसार, "वह एक दक्ष तथा व्यवहार-कुशल व्यक्ति था। वह सभी कागजों को अत्यन्त ध्यानपूर्वक पढ़ता तथा अपने किसी भी मसविदे में, जिसे वह स्वीकार अथवा पुष्ट करता था, अत्यन्त सावधान रहता था। किन्तु निर्णय देने में वह सदा सुस्त था। उसे अपने उत्तरदायित्व का अत्यधिक भय बना रहता था। इसलिए निर्देश अथवा आदेश देने में वह काफी समय लेता था। प्रायः वह निर्देश स्वयं लिखता था। कई अवसरों पर वे निर्देश इतने असन्तोषजनक होते थे कि उसके प्रतिनिधियों को प्रायः

स्वयं निश्चय करना होता था कि कठिनाई के समय उन्हें क्या करना चाहिए।" पुनश्च, लार्ड आकलैण्ड को कलकत्ता का समाज अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखता था। यहाँ के रहने वाले अथवा यूरोप के लोग सभी उसका आदर करते थे। उसमें बहुत से गुण थे, जिनके कारण लोग उससे स्पर्धा करते थे तथा उसकी दो बहिनों ने, विशेषतया बड़ी बहिन ने, उसकी लोकप्रियता स्थायी बनाने में उल्लेखनीय योग दिया। किन्तु आन्तरिक प्रशासन के सुधारने में उसने कोई विशेष कार्य नहीं किया तथा अपनी सामान्य नीति में वह झिझक से कार्य लेता था तथा निश्चय करने में भी वह अधिक सोच-विचार करता था। इसी कारण उसे गौरव-प्राप्त गवर्नर-जनरल नहीं माना गया। उसके सम्बन्ध में लोगों का यह मत था कि वह अपने निजी सचिव (जान कालिवन) से बहुत दबता था, जो ऐसे अवसरों पर जब गवर्नर-जनरल अपनी परिषद् (कार्यकारिणी अथवा परामर्शदात्री) के सदस्यों को अथवा अन्य किसी को निजी परामर्श के लिए बुलवाता था, स्वयं विचार-विनिमय प्रारम्भ कर देता था। गवर्नर-जनरल अपने सिर के पीछे हाथ दिए सुनता रहता। इस प्रकार उस पर इतने अधिक आत्म-निर्भर होने के कारण उसे युवक सरकारी कर्मचारियों में लार्ड कॉल्विन की उपाधि प्राप्त हुई।

Questions for Revision

1. Describe the social reforms introduced by Lord William Bentinck and explain the circumstances which enabled him to effect them.

2. Estimate the services rendered to the Indian people by Bentinck and Macaulay.

3. What circumstances were responsible for the appointment of a reforming and peaceful Governor-General in 1828? Give an account of financial and social reforms introduced by Lord William Bentinck.

4. "On review of the political policy of Lord William Bentinck it is found to have one uniform characteristic, non-interference." Discuss

5. "William Bentinck's part in consolidating British authority in India was great and honourable one." (Boulger). Discuss.

6. What changes can be noticed in the spirit of British policy in India after 1830? Explain them with special reference to Lord Bentinck's administration.

7. Describe and explain the importance of the measures of reform introduced by William Bentinck.

8. "Lord William Bentinck's period of Governor-Generalship may be regarded as one of consolidation rather than of expansion." Discuss.

9. "Bentinck gave the finishing touch to the administrative machinery, that had been started by Warren Hastings and improved

upon by Cornwallis." Establish the truth of this statement by a brief narration of the changes and reforms made by each.

10. "Peace hath her victories no less renowned than war." Explain it in connection with the reign of Lord William Bentinck.

11. Lord William Bentinck never forgot that the end of the Government is the welfare of the governed. Discuss.

12. "Lord William Bentinck infused into oriental despotism, the spirit of British freedom." Discuss the verdict with reference to his principal measures.

अध्याय ११

एलनबरा तथा हार्डिंग

(Ellenborough and Hardinge)

लार्ड एलनबरा, १८४२-४४ (Lord Ellenborough)—लार्ड एलनबरा को ऐसे समय पर नियुक्ति हुई, जब कि आकलैंड के समय में अफ़ग़ानिस्तान में अंग्रेजों की हार के कारण स्थिति अत्यन्त गम्भीर थी। वह उत्साही तथा शीघ्र निर्णय करने वाला व्यक्ति था। भारत में आने से पूर्व उसने कम्पनी के नियन्त्रण बोर्ड के अध्यक्ष के रूप में काम किया था।

लार्ड एलनबरा का पहला काम यह था कि उसने प्रथम अफ़ग़ान युद्ध को सफलतापूर्वक समाप्त किया। इस सफलता का श्रेय विभिन्न अंग्रेज जनरलों को दिया जाता है, जिन्होंने वास्तव में आक्रमण का नेतृत्व किया लेकिन इस श्रेय में उसका हिस्सा भी है।

सिन्ध का अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना, १८४३ (Annexation of Sind)—गवर्नर-जनरल के रूप में लार्ड एलनबरा का महत्त्वपूर्ण कार्य १८४३ में सिन्ध की विजय तथा उसका अंग्रेज़ी राज्य में मिलाया जाना है। यहाँ यह वर्णन करना अभीष्ट है कि १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से अंग्रेज़ी राज्य में मिलाए जाने तक अंग्रेज़ों तथा सिन्ध के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे थे।

सिन्ध पर तालपुरा जाति के कई सरदारों तथा अमीरों का शासन रहा है। ये सरदार तथा अमीर वास्तव में बलोचिस्तान से आए थे। उनमें से बड़े अमीर ख़ैरपुर, हैदराबाद तथा मीरपुर के थे। ख़ैरपुर का अमीर अन्य अमीरों पर अधिराज्य (Suzerainty) का दावा करता था।

१८०९ में अंग्रेजी कम्पनी ने अमीरों के साथ एक सन्धि की जिसके अनुसार अमीरों ने आश्वासन दिया कि वे फ्रांसीसी जाति को सिन्ध में बसने की अनुमति नहीं देंगे। १८३१ में बर्णज़ एक मिशन लेकर लाहौर गया तथा सिन्ध नदी के मार्ग से होकर गया। ऐसा कहा जाता है कि जब एक सैयद ने बर्णज़ के जहाज़ को सिन्ध नदी को पार करते हुए देखा, तो उसने इस प्रकार कहा—"दुःख की बात है। सिन्ध अब गया क्योंकि अंग्रेजों ने नदी को देख लिया है।"

१८३१ में महाराजा रणजीत सिंह ने विलियम बैण्टिङ्क से प्रस्ताव किया कि वह तथा अंग्रेज मिल कर सिन्ध को परस्पर बाँट लें। गवर्नर-जनरल ने प्रस्ताव को स्वीकार न किया। तथापि अंग्रेजी कम्पनी ने अप्रैल १८३२ में हैदराबाद के अमीर को विवश किया कि वह निम्नलिखित शर्तों पर एक सन्धि में सम्मिलित हो जाए :—

(१) दोनों शक्तियाँ अपने को वचनबद्ध करती हैं कि वे परस्पर वैमनस्य न करेंगी तथा एक-दूसरे पर अधिकार करने का विचार न रखेंगी।

(२) ब्रिटिश सरकार ने भारतीय व्यापारियों के लिए जल तथा स्थल मार्ग के उपयोग के लिए प्रार्थना की है, जिससे वे अपने माल तथा अन्य सामान को एक देश से दूसरे को भेज सकें तथा उक्त हैदराबाद सरकार इस प्रार्थना को निम्नलिखित शर्तों पर

स्वीकार करती है (क) कोई व्यक्ति जल अथवा स्थल मार्ग से किसी प्रकार का फौजी सामान नहीं लाएगा तथा (ख) कोई शस्त्रों वाला जहाज़ तथा नौका सिन्ध नदी से न आएगी।

(३) किसी अंग्रेज़ व्यापारी को सिन्ध में स्थायी रूप से बसने की अनुमति नहीं दी जाएगी, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर ऐसे व्यक्ति सिन्ध आ सकेंगे तथा व्यापार कार्य के लिए कुछ दिन निवास करने के पश्चात् वे भारत को लौट जाएँगे।

यह सन्धि १८३४ में पुन: जारी की गई।

महाराजा रणजीत सिंह सिन्ध की विजय के लिए उत्सुक थे, किन्तु अंग्रेज़ी सरकार ने उन्हें ऐसा करने की अनुमति देने से इनकार कर दिया। वास्तव में अंग्रेज सरकार ने अमीरों को अपनी सुरक्षा में ले लिया। उनके प्रति इस कृपा के कारण लार्ड आकलैण्ड ने १८३८ में अमीरों को विवश कर दिया कि वे हैदराबाद में अंग्रेज रैजीडैण्ट को स्थान दें।

जब पहला अफ़गान युद्ध छिड़ा तो महाराजा रणजीत सिंह ने अंग्रेज फ़ौज को पंजाब में से गुज़रने की अनुमति नहीं दी। लार्ड आकलैंड ने निश्चय कर लिया कि वह सिन्ध के मार्ग से अंग्रेजी फौजें भेजेगा। अंग्रेज सरकार ने १८३२ की सन्धि का तनिक भी ध्यान नहीं किया। वास्तव में अमीरों को केवल यह सूचना दी गई "जब तक वर्तमान आवश्यकता बनी रहती है, तब तक सिन्ध में से फ़ौजी सामान ले जाने की रोक वाली शर्त को आवश्यक रूप से स्थगित कर दिया जाये।" इससे भी सन्तुष्ट न होकर एक अन्य मांग यह की गई कि शाहशुजा की भेंट को कम करने के कारण एक बड़ी रकम दी जाए। अमीरों ने उत्तर में यह कहा कि उन्होंने शाहशुजा को उसके तीस वर्षीय काबुल से प्रवासकाल में कुछ भी भेंट देना बन्द कर दिया है। शाहशुजा ने स्वयं १८३३ में उन्हें सब प्रकार के दावों से मुक्त कर दिया था। इस पर ब्रिटिश रैजीडैण्ट ने यह टिप्पणी की, "इस उलझन से निपटने का उपाय मैं स्वयं नहीं सोच पा रहा हूँ।" इस कठिनता के होते हुए भी उनसे रुपया प्राप्त किया गया। उन्हें यह चेतावनी भी दी गई, "हमारे पास इतनी शक्ति है कि हम उन्हें कुचल सकते हैं तथा अपमानित कर सकते हैं। यदि जरूरत पड़े तो हम ऐसा करन में तनिक भी नहीं हिचकिचाएँगे चाहे ऐसा करना हमारे साम्राज्य के अथवा इसकी सीमाओं की सुरक्षा तथा एकीकरण के लिए कितना ही कम अनावश्यक क्यों न हो।"

सर जॉन कीने ने सिन्ध की राजधानी की ओर बढ़ने की धमकी दी तथा अमीरों को विवश किया गया कि वे फरवरी १८३९ में नई सन्धि में सम्मिलित हों। इस सन्धि में भी आकलैंड तथा उसके परामर्शदाताओं ने कम्पनी के पक्ष में बहुत से अनुचित संशोधन किए तथा उसे अमीरों को उनके हस्ताक्षरों के लिए भेजा गया। अमीरों ने इस पर एतराज किया तथा तर्क-वितर्क किया किन्तु अन्त में उन्होंने संशोधित दस्तावेज़ों पर मुहर लगा दी तथा अपनी स्वीकृति दे दी। लार्ड आकलैंड ने इस सन्धि के प्रभावों का इन शब्दों में वर्णन किया : "अमीरों का संघ एक प्रकार से टूट गया है प्रत्येक सरदार के अधिकारों में अपने अधिकृत प्रदेश हैं तथा उसे बाध्य होकर अन्य नवाबों के साथ मतभेदों की स्थिति में हमारी मध्यस्थता को स्वीकार करना होगा। सिन्ध औपचारिक रूप से ब्रिटिश सुरक्षा के अधीन कर लिया गया है तथा हमारे भारतीय सम्बन्धों की परम्परा में सूत्रबद्ध कर

दिया गया है। सिन्ध की तराई के भाग में टट्टा अथवा सिन्ध नदी के पश्चिम में किसी ऐसे स्थान पर जहां अंग्रेज सरकार निश्चित करे, एक ब्रिटिश फ़ौज को तैनात करना होगा तथा तीनों अमीरों को मिलकर समान रूप से फ़ौजों के व्यय के रूप में तीन लाख रुपये की धनराशि देनी होगी।''

अफ़गान युद्ध के समय, सिन्ध को आक्रमण का आधार बनाया गया। यद्यपि ऐसे गम्भीर समय में अमीर कुछ शरारत कर सकते थे, तथापि वे अंग्रेजी कम्पनी के प्रति पूर्ण रूप से आज्ञाकारी रहे। इतना होते हुए भी उनके विरुद्ध भारत सरकार ने अनुरागहीनता तथा शत्रुता के अभियोग लगाये। अभियोग इतने अनिश्चित थे कि उनकी वास्तविकता के सम्बन्ध प्रमाणित करना व्यावहारिक रूप से असम्भव था।

इस अवसर पर मेजर जेम्ज़ औट्रम, जो हैदराबाद में ब्रिटिश रैजीडैण्ट था, के स्थान पर सर चार्ल्स नैपियर को फ़ौजी तथा राजनैतिक विभाग का सर्वोच्च नियंत्रक नियुक्त किया गया। इन्नस के विचार में, ''सर चार्ल्स ने अपने आक्रमण के कार्यक्रम में यह बात सिद्धान्त रूप से रखी कि सिन्ध को अंग्रेजी राज्य में मिलाना लाभप्रद कुटिलता होगी। इसके लिए उसे कोई न कोई बहाना ढूंढ़ना होगा, यह एक प्रकार की डकैती थी, जिसका प्रभाव प्रकट था।''

सर चार्ल्स को खैरपुर के विवादास्पद उत्तराधिकार के कारण एक अवसर प्राप्त हुआ। भली प्रकार सोचे बिना ही सर चार्ल्स ने अली मुराद के पक्ष में अपना निर्णय दे दिया। सर चार्ल्स ने यह भी घोषणा कर दी कि अमीर के विरुद्ध लगाये गये अभियोग सच प्रमाणित हो गये हैं। उसने अमीरों पर नई सन्धियाँ ठूँसनी चाहीं। दिसम्बर १८४२ में ये सन्धियाँ पुष्टि के लिए अमीरों के पास भेजी गईं। अमीरों से कहा गया कि वे २० जनवरी, १८४३ तक उन सन्धियों को स्वीकार कर लें।

औट्रम ने खैरपुर में अमीरों के साथ एक भेंट की व्यवस्था की, जिससे उन्हें सन्धियों को स्वीकार करने के लिए कहा जाए, किन्तु उससे पूर्व ही नेपियर ने आक्रमण कर दिया तथा खैरपुर तथा हैदराबाद के मध्य में स्थित इमानगढ़ के किले को नष्ट कर दिया। जब खैरपुर में भेंट हुई, तब सिन्ध के निचले भाग के अमीर तो उपस्थित थे किन्तु सिन्ध के ऊपरी भाग वाले अमीरों को अली मुराद के अनुचित प्रबन्ध के कारण पहुँचने में विलम्ब हो गया। दो दिन के बाद सिन्ध के ऊपरी भाग के अमीर सन्धि करने के लिए खैरपुर पहुँचे। नैपियर ने उन्हें अनुमति देने से इनकार कर दिया तथा उन्हें हैदराबाद जाने की आज्ञा दी। औट्रम के प्रतिनिधित्व करने पर भी नेपियर ने हैदराबाद की ओर अपनी यात्रा आरम्भ कर दी। ऐसा समझा जाता है कि यदि वह हैदराबाद जाना रोक लेता, तो सन्धियों पर हस्ताक्षर हो जाते और युद्ध टल जाता। थार्टन के अनुसार, ''नेपियर ने सिन्ध के साथ इस प्रकार व्यवहार किया जैसे यह अधिकार ब्रिटिश भारत के गवर्नर-जनरल का हो। जैसे वह मनमाना कर सकता है तथा मानो उसमें किसी को किसी प्रकार की बाधा डालने का कोई अधिकार नहीं। इसके साथ ही ऐसा प्रतीत होता था मानो इस अधिकार का उनके साथ आपत्तिजनक प्रयोग किया जा सकता था चाहे इसके कारण दूसरों को कष्ट भी उठाने पड़े।''

यहाँ इस बात का उल्लेख करना अभीष्ट है कि जिन सन्धियों पर अमीरों को

हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया था, उनके अनुसार भेंट के रूप में अमीरों को अपने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रदेश भी अंग्रेजी क़म्पनी को देने थे। उन्हें सिन्ध नदी में चलने वाले अंग्रेजी जहाज़ों को ईंधन देने का प्रबन्ध भी करना होता था। उन्हें ब्रिटिश सरकार के पक्ष में सिक्के ढालने के अपने अधिकार को भी छोड़ना पड़ता था।

नेपियर के द्वारा किए गये स्वच्छन्द कार्यों से लड़ाकू बलोची भड़क उठे। उन्होंने १५ फरवरी, १८४३ के दिन औट्रम के निवास-स्थान पर आक्रमण कर दिया। नेपियर ने एक जहाज पर जाकर अपनी प्राण-रक्षा की। नियमित युद्ध प्रारम्भ हो गया। मियानी तथा दाबों के स्थान पर फरवरी तथा मार्च के महीनों में महत्त्वपूर्ण लड़ाइयाँ लड़ी गई। २७ मार्च, १८४६ को नेपियर ने मीरपुर पर अधिकार कर लिया। नेपियर ने अपनी विजय की सूचना लार्ड एलनबरा को दी—"मैंने सिन्ध को प्राप्त कर लिया है।" सिन्ध को अगस्त १८४६ में अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। अमीरों को देश-निकाला दे दिया गया। नेपियर को पुरस्कार के भाग के रूप में ७०,००० पौण्ड प्राप्त हुए। औट्रम को ३,००० पौण्ड प्राप्त हुए, किन्तु उसने उस राशि को संस्थाओं में बाँट दिया। औट्रम ने नेपियर को इस प्रकार लिखा—"मैं नीति से तंग आ गया हूँ। मैं यह नहीं कहूँगा कि तुम्हारी नीति सबसे अच्छी है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह सबसे छोटी है—तलवार की। मेरी अभिलाषा है कि आप इसका प्रयोग किसी अन्य अच्छे कार्य के लिए करते।"

सिन्ध के सम्बन्ध में लार्ड एलनबरा तथा सर चार्ल्स नेपियर की नीति की सब ओर से निन्दा की गई है। कम्पनी के डायरेक्टरों ने इसे स्वीकार नहीं किया, यद्यपि उनमें इतना साहस नहीं था कि वे पुनः प्रदेश अमीरों को लौटा देते। इस बात से तनिक भी इनकार नहीं किया जा सकता कि अमीरों ने किसी भी प्रकार से अंग्रेजों को नहीं भड़काया था। वे सदैव पूर्णरूप से वफादार रहे। जो व्यवहार वास्तव में उनके साथ किया गया, उसका उन्होंने उल्लेख भी नहीं किया। इन्नास के शब्दों में, "यदि अफगान-काण्ड हमारे भारतीय इतिहास में सबसे अधिक भयानक है, तो सिन्ध का काण्ड नैतिक दृष्टि से और भी अधिक कम क्षन्तव्य है।" नेपियर ने स्वयं अपनी डायरी में इस प्रकार लिखा, "हमें सिन्ध पर अधिकार करने का कोई अधिकार नहीं है, तो भी हम ऐसा करेंगे और यह कार्य कुशलता से पूर्ण, लाभदायक, उपयोगी तथा मानवतापूर्ण होगा……मेरी वर्त्तमान स्थिति मेरी इच्छानुसार नहीं। हमें यहाँ आने का कोई अधिकार नहीं था तथा हम अफ़ग़ानों की कालिख से पुत चुके हैं।" इस सम्बन्ध में डा० मार्शमैन ने इस प्रकार लिखा है—"लाभ की अपेक्षा कुशलता अधिक स्पष्ट झलकती है। बन्दी करने वालों के सिवाय जिन्हें पुरस्कार-स्वरूप सम्पत्ति का वास्तविक भाग प्राप्त हुआ, इसमें से सात लाख की प्राप्ति मुख्य सेनापति को हुई।"

सिन्ध की विजय हर प्रकार से अफ़ग़ान विपत्ति के बाद की घटना है। एल्फ़िस्टन के अनुसार, "अफ़ग़ानिस्तान के पश्चात् घटित होने के कारण इसका सर्वसाधारण के मन पर यह प्रभाव पड़ा, जैसे किसी बलवान व्यक्ति को गलियों में ठोकर मारी गई हो, और वह बदले में घर जाकर अपनी पत्नी को मारे। यह अफ़ग़ानी तूफ़ान की अन्तिम कड़ी थी।"

डॉडवैल के मतानुसार, "इस विषय में एलनबरा (Ellenborough) की नीति की सार्वजनिक निन्दा की गई है। कम्पनी के संचालकों ने इस विषय को इस व्यक्ति की

घोर निन्दा करने का बहाना बनाकर अपने पुराने बदले निकाले। रूढ़िवादियों ने भी इसके शत्रुओं की सहायता की और इसका कारण यह था कि एलनबरा ने ऑकलैंड के भ्रष्टाचार का भण्डाफोड़ किया था। किन्तु यह कहना कि अमीर लोगों की जागीरें इसलिए छीन ली गईं कि वे अशक्त थे, पूर्णतः निराधार है। इस काण्ड का सारा उत्तरदायित्व ऑकलैंड पर है। एलनबरा का उत्तरदायित्व केवल उस स्थिति को सँभालने के तरीके का है, जिसमें वह फंस गया था। उसने सीमान्त के शासकों को आक्रमणकारी षड्यन्त्रों में उलझे हुए पाया। इन परिस्थितियों में उसे इस बात का पूरा अधिकार था कि वह इनसे किसी दण्ड की वसूली करे अथवा नहीं। यह समस्या राजनैतिक चरित्र की नहीं अपितु राजनैतिक सुविधा की थी। इस प्रदेश का क्षेत्र और षड्यन्त्रों से भय दोनों सम्बन्धित विषय नहीं हैं। उदारता से देखने पर सिन्ध को मिला लेने और कर्नाटक को विजय कर लेने में कोई विशेष अन्तर नहीं था। दोनों ही मामलों में मूर्खतापूर्ण विरोध से राजनैतिक लाभ उठाया गया। वेल्ज़ली की तरह एलनबरा का मुख्य कार्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति को शक्तिशाली बनाना था। यह नहीं कि वह इस आशा में उदारता दिखाता रहे कि अन्य लोग भी इसके इस व्यर्थ प्रयास में सहायक होंगे। (The Cambridge Shorter History of India, pp. 520-21)

रैम्ज़े म्यूर के अनुसार, "सिन्ध ही भारत में ऐसा ब्रिटिश अधिकृत प्रदेश है, जिसके सम्बन्ध में साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि ऐसा करना परिस्थितियों के अनुसार जरूरी नहीं था। इसलिए यह कृत्य आक्रमणात्मक था।"

ग्वालियर से युद्ध (War with Gwalior)—एलनबरा के राज्य-काल की अन्य घटना सिंधिया से युद्ध है। १८४६ में जनकजी सिंधिया बिना सन्तान के परलोक सिधारे। उनकी विधवा ताराबाई ने एक बच्चा गोद ले लिया तथा गवर्नर-जनरल की आज्ञा से एक रीजेन्ट नियुक्त किया गया। लेकिन उसे बर्खास्त कर दिया गया तथा प्रदेश में एक प्रकार का गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। इस बात की आशंका थी कि फौज में विद्रोह न हो जाये। गवर्नर-जनरल ने इस बात की माँग की कि फौज में कमी की जाये। बातचीत असफल रही। युद्ध आरम्भ हो गया। महाराजपुर तथा पनिआर के स्थान पर सिंधिया फौज पराजित हुई। एक नई सन्धि की गई जिसके द्वारा फौज में केवल ९००० व्यक्ति रह गए। १०,००० अंग्रेजी फौजी भरती किए गये। अल्पवयस्क शासक के कार्य-संचालन के लिए रीजेन्सी कौंसिल का निर्माण हुआ, जिसे रैजीडैण्ट के परामर्शानुसार कार्य करना था।

एलनबरा का वापिस बुलाया जाना (Recall of Ellenborough)—डायरेक्टर, भारत में लार्ड एलनबरा की शासन-व्यवस्था से बिलकुल सन्तुष्ट न थे। वे गवर्नर-जनरल के द्वारा सम्बोधित की जाने वाली कड़ी भाषा से भी अत्यन्त असन्तुष्ट थे। ड्यूक आफ़ वैलिंगटन ने गवर्नर-जनरल को चेतावनी दी तथा उसने राजधानी से निरन्तर अनुपस्थित रहने के कारण भी उसे बुरा-भला कहा। एलनबरा स्वयं जानता था कि उसे वापिस बुलाये जाने की बात चल रही है। गवर्नर-जनरल तथा कम्पनी के डायरेक्टरों के मध्य ऐसा पत्र-व्यवहार भी हुआ, जिसे सुखकर नहीं कहा जा सकता। इस पत्र-व्यवहार में गवर्नर-जनरल ने त्यागपत्र देने से इनकार कर दिया तथा डायरेक्टरों को चुनौती दी कि

वे ही उसे पदच्युत करके देखें। जून १८४४ में डायरेक्टरों ने उचित कार्रवाई की। यद्यपि उसे नियंत्रण बोर्ड का समर्थन प्राप्त था तथापि उसे डायरेक्टरों ने सर्व-सम्मति से लौट आने की आज्ञा दी। प्रत्येक अवसर पर सेना तथा सैनिक नीति से सम्बद्ध होने के कारण एलनबरा ने न केवल यूरोपीय लोक-सेवा को अलगाव प्रकट किया, अपितु उसे भड़काया। यद्यपि सेना उसका अत्यन्त आदर करती थी, जिसका पक्ष उसने प्रकट रूप से लिया तथापि उसकी विदाई का दृश्य बिना किसी दुःख के पूर्ण हो गया।

लॉर्ड कर्ज़न के मतानुसार, "यदि एलनबरा कुछ अधिक सूझ-बूझ तथा कम उद्दण्डता से कार्य करता, तो वह एक उल्लेखनीय प्रशासक होता, क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष तथा उत्कृष्ट प्रतिभा थी। मुझे स्मरण है कि एक बार ग्लैडस्टन ने मुझे बताया था कि वे उसको हाउस ऑफ लार्ड्स में अपने समय का सर्वश्रेष्ठ वक्ता मानते थे। इस प्रकार वह सभी गवर्नर-जनरलों में सबसे कम समय रहा तथा कम-से-कम सफल हुआ।" लॉर्ड मैकाले ने १९ मार्च, १८४३ को हाउस ऑफ कामन्स में एलनबरा के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य कहे--*"हमने उन्हें कई बार ऐसे गवर्नर-जनरल भेजे, जिन्हें वे प्यार करते थे, कभी-कभी ऐसे गवर्नर-जनरल भेजे, जिनसे वे भयभीत रहते थे, किन्तु इससे पूर्व उन्हें ऐसा गवर्नर जनरल नहीं प्राप्त हुआ, जिस पर वे हँस सके हों।"*

लॉर्ड हार्डिंग, १८४४-४८ (Lord Hardinge)--हार्डिंग एक वीर सैनिक था तथा युद्ध और शान्ति-कलाओं से सुपरिचित था। वह द्वीप पेनिनसुलर युद्ध का नायक था तथा वाटरलू की लड़ाई में भी उसने भाग लिया था। भारत में गवर्नर-जनरल के रूप में आने से पूर्व, वह २० वर्ष तक पार्लियामेंट में रहा था। उसने युद्ध-सचिव के रूप में कार्य किया। उसके शासन-काल की सबसे मुख्य घटना प्रथम सिख युद्ध थी। यह युद्ध दिसम्बर १८४५ को प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध की मुख्य लड़ाइयाँ मुदकी, फ़िरोज़शाह, अलीवाल तथा सुबराओं के स्थानों पर लड़ी गईं। इस युद्ध की समाप्ति लाहौर की सन्धि (१८४६) से हुई। अंग्रेजों को दोआब तथा क्षतिपूर्ति के रूप में १½ करोड़ रुपये मिले। सिख फौज की (१८४६) संख्या घटाकर पैदल २२,००० तथा १२,००० घुड़सवार कर दी गई। हैनरी लारन्स को रैज़ीडैंट के रूप में नियुक्त किया गया।

हार्डिंग ने बहुत से सुधार किए। उसने एक आज्ञा निकाली कि सार्वजनिक सेवाओं में सभी नियुक्तियाँ अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों की होंगी। नमक कर कम कर दिया गया तथा बहुत से चुंगी-कर हटा दिये गये। अनियन्त्रित व्यापार को प्रोत्साहन दिया गया। फौजी व्यय कम कर दिया गया। देसी रियासतों को अपनी-अपनी सीमाओं में सती-प्रथा खत्म करने को कहा गया। उसने भारत में प्राचीन स्मारकों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया। उसने उड़ीसा के पर्वतीय इलाकों में गोण्डों में प्रचलित मानुषिक बलिदानों की प्रथा का दमन किया।

Questions for Revision

1. Describe and discuss British policy towards Sind till the time of its annexation.

2. Criticise Lord Ellenborough's policy towards the Amirs of Sind.

3. Napier described the seizure of Sind as "a very advantageous, useful and human piece of rascality." Comment on this description.

4. "Sind is the only British acquisition in India of which it may fairly be said that it was not necessitated by circumstances, and it was therefore, an act of aggression." Discuss.

5. "The conquest of Sind followed in the wake of the first Afghan War and it was morally and politically its sequel." (Roberts) Explain.

अध्याय १२

महाराजा रणजीतसिंह तथा उसके उत्तराधिकारी

(Maharaja Ranjit Singh and his Successors)

सिख, जो प्रारम्भ में एक धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में थे, अफ़गान युद्ध में एक फ़ौजी शक्ति का रूप धारण कर गये। जब अहमदशाह अब्दाली १७६७ में पराजित हुआ, तो सिखों ने यमुना तथा रावलपिंडी के मध्य के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। यह सच है कि कुछ समय के लिए मराठों ने उनकी बढ़ती हुई शक्ति को रोका, किन्तु १८०३ में लार्ड लेक ने मराठा शक्ति को नष्ट कर दिया। इस अवसर से फायदा उठाकर सिखों ने प्रगति तथा विकास के सम्बन्ध में नई आशाएँ बनाईं।

रणजीतसिंह का जन्म १७८० में हुआ था। १९ वर्ष की आयु में उसने काबुल के अफ़गान शाह को पंजाब पर आक्रमण करने में सहायता की। इस सहायता के उपलक्ष में शाहज़मान ने रणजीतसिंह को १७९९ में लाहौर का गवर्नर नियुक्त किया। उसे राजा की उपाधि भी प्रदान की गई। १८०२ में उसने अपने आपको अमृतसर का स्वामी घोषित किया। धीरे-धीरे उसने सतलुज के पश्चिम में सिख मिसलों को अपने आधीन कर लिया।

रणजीतसिंह को सर जार्ज बार्लो के द्वारा अपनाई जाने वाली हस्तक्षेप न करने की नीति से प्रोत्साहन मिला। रणजीतसिंह ने (१८०५-७) सिस-सतलुज रियासतों वाले इलाके पर अपना अधिकार करना चाहा। ये सिख रियासतें पहले सिन्धिया के आधीन थीं, किन्तु जब सिन्धिया को इस इलाके से निकाल दिया गया, तो वे अनौपचारिक रूप से ब्रिटिश सुरक्षा में आ गईं। १८०६ में इन रियासतों के कुछ सिख शासक परस्पर लड़ने लगे तथा उन्होंने महाराजा रणजीतसिंह से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। महाराजा ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया तथा सतलुज पार कर उसने लुधियाना पर अधिकार कर लिया। इस घटना से सिख शासक चौंके तथा उन्होंने ब्रिटिश सरकार से सुरक्षा की प्रार्थना की। उस समय लार्ड मिन्टो गवर्नर-जनरल था। वह महाराजा रणजीतसिंह की शक्ति को सतलुज नदी की पश्चिमी सीमा तक सीमित रखने के लिए दृढ़-संकल्प था। ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह सिस-सतलुज रियासतों पर रणजीतसिंह को अपना अधिकार स्थापित नहीं करने देगी। इस बात की सम्भावना थी कि दोनों शक्तियों में युद्ध हो जाए। इस अवसर पर रणजीतसिंह हिचकिचाया। बातचीत आरम्भ हो गई तथा उद्देश्य के लिए चार्ल्स मैटकाफ को भेजा गया। काफी विलम्ब के पश्चात् १८०९ में अमृतसर की सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि के अन्तर्गत सतलुज नदी महाराजा रणजीतसिंह तथा अंग्रेजी कम्पनी के प्रदेशों की सीमान्त रेखा निश्चित की गई। इससे दोनों शक्तियों में स्थिर मैत्री स्थापित हुई।

महाराजा रणजीतसिंह ने प्रयत्न किया कि वह पश्चिम की ओर अपना प्रदेश बढ़ाए क्योंकि अब वह पूर्व की ओर अपना प्रदेश नहीं बढ़ा सकता था। १८१० में उसने मुलतान पर आक्रमण किया, उसे अन्त में १८१८ में मिला लिया गया। उसने १८१३ में

गोरखों से कांगड़ा तथा अफगानों से अटक प्राप्त किया। उसने अफगानिस्तान में फैली हुई अराजकता से लाभ उठाया तथा उस प्रदेश से स्वतन्त्र हो गया। १८१४ में उसने शाहशुजा को शरण दी तथा उससे "कोहनूर" हीरा ले लिया। १८१९ में रणजीतसिंह ने कश्मीर को जीता। १८२३ में पेशावर उसके अधिकार में आ गया। इसे १८३४ में औपचारिक रूप से अपने राज्य में मिला लिया गया। उसकी इच्छा थी कि सिन्ध पर भी अधिकार किया जाये, किन्तु ब्रिटिश विरोध के कारण वह उसे प्राप्त न कर सका। १८३९ में ५० वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।

अंग्रेजों तथा सिखों के सम्बन्ध, १८०९-३९ (Anglo-Sikh Relations)—यहाँ इस बात पर विस्तारपूर्वक विचार करना अभीष्ट प्रतीत होता है कि अमृतसर की सन्धि पर हस्ताक्षर होने के समय से लेकर पंजाब-केसरी महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के समय तक अंग्रेजों तथा महाराजा रणजीतसिंह के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे थे। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि अमृतसर की सन्धि का एक प्रभाव यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार सिस-सतलुज रियासतें अपनी सुरक्षा में लेने में समर्थ हो गई। उसका बढ़ना पूर्व की ओर तो रुक गया, किन्तु जहाँ तक सतलुज के पश्चिम की ओर के प्रदेश का सम्बन्ध है, उसे पूर्ण स्वतन्त्रता मिल गई। ऐसा कहा जाता है कि मैटकाफ़ ने रणजीतसिंह को यह आश्वासन दिया था कि २० वर्षों में वह अंग्रेजों के साथ अपनी मित्रता का लाभ उठाएगा। १८२७ में महाराज ने वेड को बताया कि उसके शब्दों की पुष्टि हो गई है।

१८१२ तक कुछ सन्देह तथा भ्रम बने हुए थे। फिल्लौर में ब्रिटिश सीमा के समीप ही एक दुर्ग बनाया गया तथा मुहकम चन्द को उसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इस स्थान का उपयोग सीमान्त चौकी, सुरक्षा-केन्द्र तथा प्रहरी बुर्ज के रूप में किया गया। अंग्रेजी फौज से निकले हुए लोगों तक को मुहकम चन्द भरती कर लिया करता था। तथापि कुछ समय के पश्चात् रणजीतसिंह तथा अंग्रेजी कम्पनी के पारस्परिक सम्बन्ध सुधरने लगे। १८२३ तक ये सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ होने लगे। इस समय अंग्रेज तथा सिख गोरखों तथा मराठों के साथ व्यस्त थे तथा रणजीतसिंह मुलतान, डेराजात, कश्मीर, पेशावर तथा पंजाब के पर्वतीय तथा समतल प्रदेशों में व्यस्त था।

ब्रिटिश मनोवृत्ति में परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा था। इसका फल यह हुआ कि रणजीतसिंह को भारत में अंग्रेजों का प्रतिद्वन्द्वी समझा जाने लगा। परिणामस्वरूप यह प्रयत्न किया गया कि उसकी शक्ति की जाँच की जाए। सिस-सतलुज की अनिश्चित सीमा के सम्बन्ध में कुछ झगड़ा चल रहा था। रणजीतसिंह के द्वारा जिन ४७ प्रदेशों का दावा प्रस्तुत किया गया था, उनमें से १२ के सम्बन्ध में मतभेद था। १८२७ में अंग्रेजी सरकार ने इन बारह प्रदेशों पर अधिकतर का निर्णय अपने पक्ष में कर लिया। रणजीतसिंह को फ़िरोजपुर का प्रदेश देना अस्वीकार कर दिया गया, यद्यपि उसने दावा किया कि फ़िरोजपुर के सिख उसकी सबसे पुरानी प्रजा में से हैं। इसका मरे ने इन शब्दों में वर्णन किया है, "राजधानी लाहौर केवल चालीस मील की दूरी पर है तथा उसके मार्ग में केवल एक नदी पड़ती है और जो वर्ष में छः मास आसानी से पार करने योग्य है। फ़िरोजपुर ब्रिटिश सरकार के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था, चाहे उसे लाहौर की बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षा को नियन्त्रित करने के रूप में अथवा परिणाम के रूप में अपना लिया

जाए।" फ़िरोजपुर पर अंग्रेजों ने १८३५ में अधिकार कर लिया। यह १८३८ में एक फ़ौजी छावनी बनी। इसके विरुद्ध आन्दोलन हुआ, किन्तु अंग्रेज सरकार ने उसकी उपेक्षा कर दी।

१८२२ से १८२८ तक अंग्रेजों का दृष्टिकोण महाराजा रणजीत सिंह की गतिविधियों को ध्यानपूर्वक देखना था। मरे के अनुसार, "ब्रिटिश सरकार को आलस्यवश एक क्षण के लिए भी सीमान्त की ओर फ़ौजों के आगे बढ़ने के सैद्धान्तिक तथा मुख्य दृष्टिकोण से ध्यान नहीं हटाना चाहिए।"

१८१५ में गोरखों का वकील पृथ्वी विलास तथा बिलासपुर के राजा का विश्वासपात्र शिवदत्तराय महाराजा रणजीतसिंह के पास आये। उन्होंने उससे प्रार्थना की कि वह गोरखों को अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में सहायता दे। साथ ही ५ लाख रुपये के उधार की प्रार्थना की। गोरखों को गंगा तथा यमुना पार करने में सहायता का प्रश्न भी पेश हुआ। महाराजा ने अंग्रेजों के विरुद्ध गोरखों को सहायता देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। यद्यपि गोरखों के पराजित होने पर वह अत्यन्त दुःखी हुआ। इसी प्रकार उसने १८२२ में बाजीराव पेशवा की अपील की ओर ध्यान नहीं दिया। उसने १८२० में नागपुर के भूतपूर्व नरेश की प्रार्थनाओं की भी उपेक्षा की। उसने अंग्रेज कम्पनी के प्रति किसी प्रकार का विरोधात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनाया, विशेष रूप से जब वह बर्मा युद्ध में व्यस्त थे। १८२५-२६ में वह भरतपुर के लोगों की सहायता के लिए भी नहीं गया। भरतपुर के शासक ने फ़ौज की यात्रा के लिए एक लाख रुपया प्रतिदिन तथा यदि वह उसकी सहायता के लिए २०,००८ फ़ौजी दे, तो ५०,००० रुपये अतिरिक्त देना स्वीकार किया।

१८२७-३१ के मध्य में पेशावर के स्थान पर रणजीतसिंह के विरुद्ध सैयद अहमद ने आक्रमण किया। यह सच है कि अंग्रेज सरकार ने सैयद को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कोई सहायता नहीं दी, किन्तु यह सब कुछ सैयद की अपनी प्रजा की सहायता के द्वारा सम्भव हुआ।

सिन्ध के सम्बन्ध में, रणजीतसिंह शिकारपुर को अधिकार में करना चाहता था। शिकारपुर खुरासान का द्वार समझा जाता था तथा एशिया के शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। इसके दूर-दूर के केन्द्रों से व्यापारिक सम्बन्ध थे। शिकारपुर को हस्तगत करने से रणजीतसिंह अफ़ग़ानिस्तान तथा बलोचिस्तान पर अधिकार प्राप्त कर सकता था। शिकारपुर की आधी से अधिक जनसंख्या सिखों की थी तथा प्रजा का केवल दसवाँ भाग ही मुसलमान था। कोई पग उठाने से पूर्व, महाराजा रणजीतसिंह ने ब्रिटिश सरकार से बातचीत की, किन्तु वे उदासीन थे। यद्यपि पोटिंगर उस समय सिन्ध के अमीरों के साथ एक व्यापार सन्धि की बातचीत कर रहा था, किन्तु रोपड़ के स्थान पर, विलियम बैण्टिङ्क के साथ भेंट के समय, रणजीतसिंह को इस तथ्य से अवगत कराया गया। रणजीतसिंह ने ब्रिटिश सरकार का व्यापार सन्धि के सम्बन्ध में विरोध नहीं किया तथा शिकारपुर के सम्बन्ध में अपने दावों पर भी बल नहीं दिया।

१८३५ में रणजीतसिंह ने शिकारपुर की रक्षा तथा सिन्ध पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में तैयारियाँ करना आरम्भ कर दिया। सितम्बर १८३६ में महाराजा ने अपना दरबार किया तथा नौनिहालसिंह को खिलत प्रदान की तथा उसे मुलतान जाने तथा वहाँ

से मिट्ठन कोट जाने का निर्देश दिया। उसे सिन्ध के शासकों को इस बात की सूचना भी देनी थी कि यदि वे महाराज को भेंट प्रदान नहीं करेंगे, तो शिकारपुर पर अधिकार कर लिया जायेगा। हरिसिंह नलवा को राजकुमार का साथ देने के लिए भेजा गया। मुलतान का गवर्नर दीवान सोहनलाल भी बढ़ा। युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होता था किन्तु रणजीत सिंह ने अंग्रेजी सरकार के कठोर व्यवहार के कारण स्थिति को अधिक नहीं बिगड़ने दिया। वह सिन्ध के लिये अंग्रेजों की मित्रता खोना नहीं चाहता था।

रणजीतसिंह तथा विलियम बैण्टिङ्क दोनों रोपड़ में मिले। जहाँ तक ब्रिटिश सरकार का सम्बन्ध है, उनकी भेंट का वास्तविक उद्देश्य संसार को यह दिखाना था कि रणजीतसिंह तथा ब्रिटिश सरकार में पूर्ण घनिष्ठता है। रणजीतसिंह भी चाहता कि वह इस बात को पुष्ट करे कि ब्रिटिश सरकार उसे खालसा सिखों के मुखिया के रूप में स्वीकार करती है।

यह बात भली प्रकार से ज्ञात है कि बर्निस को इसलिए काबुल भेजा गया कि वह दोस्त मुहम्मद से सन्धि पर चर्चा कर सके तथा दोस्त मुहम्मद ने इस शर्त पर समझौते में सम्मिलित होने की अपनी स्वीकृति प्रदान की कि ब्रिटिश सरकार उसे रणजीतसिंह से पेशावर प्राप्त करने में सहायता प्रदान करे। बर्निस का इस सम्बन्ध में यह विचार था कि यदि ब्रिटिश सरकार महाराजा रणजीतसिंह को ऐसा कहेगी, तो वह पेशावर छोड़ने पर अत्यन्त प्रसन्न होगा, क्योंकि वह कोई फायदे की बात नहीं थी। इस सुझाव के होते हुए भी लार्ड ऑकलैण्ड ने रणजीतसिंह से दोस्त मुहम्मद को पेशावर देने के लिए कहने से इनकार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि दोस्त मुहम्मद के साथ होने वाली बात-चीत टूट गई तथा बर्निस को खाली हाथ लौटना पड़ा। लार्ड ऑकलैण्ड ने यह बात स्पष्ट कर दी कि वह ऐसा कोई कार्य करने को तैयार नहीं है, जिससे रणजीतसिंह के मन में किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो।

१८३८ में महाराजा रणजीतसिंह, शाहशुजा तथा अंग्रेजी कम्पनी में एक सम्मिलित सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। रणजीतसिंह पहले तो सन्धि में सम्मिलित होने में हिचकिचाया। वह सन्धि में इसलिए सम्मिलित नहीं होना चाहता था क्योंकि वह अनुभव करता था कि उसे काबुल में अंग्रेजों के अधीन, एक साथी दोस्त मुहम्मद के रूप में मिलेगा। लेकिन वह यह भी जानता था कि वह अलग रह कर अपनी स्थिति में सुधार नहीं कर सकेगा। नवम्बर १८३८ में फ़िरोजपुर के स्थान पर रणजीतसिंह तथा ऑकलैण्ड के मध्य भेंट हुई तथा रणजीतसिंह को यह आश्वासन प्राप्त हुआ कि अंग्रेजी सेनाएँ पंजाब के मार्ग से होकर नहीं जाएँगी। यह कहा जाता है कि उक्त तीन पक्षों में हुई सन्धि का उद्देश्य सन्धि में रणजीतसिंह की शक्ति को नियन्त्रित करना था। इस सन्धि के एक अनुच्छेद के अनुसार शाहशुजा को सिन्ध के अमीरों के प्रति सत्ता तथा भेंट के शेष रुपये के सम्बन्ध में अपने दावे को छोड़ देना था और इस सम्बन्ध में कोई निर्णय ब्रिटिश सरकार की मध्यस्थता में होना था। ब्रिटिश सरकार सिन्ध को अपने राज्य में मिलाये जाने के सम्बन्ध में मार्ग तैयार कर रही थी।

यह कहा जाता है कि अपने समय के अन्तिम भाग में रणजीतसिंह ने अंग्रेज सरकार के साथ दृढ़तापूर्वक व्यवहार नहीं किया। सम्भवतः इसका कारण यह था कि वह

अंग्रेजों को अपने से अधिक शक्तिशाली समझता था। उसको इस बात का भय था कि युद्ध की स्थिति में उसे अपना राज्य न खोना पड़े। इसलिए उसने ब्रिटिश सरकार के सम्मुख घुटने टेकने वाली नीति को ही महत्त्व दिया।

डा० सिन्हा के अनुसार, राजनैतिक समझौते का अभिप्राय एक घुड़सवार तथा घोड़ा होता है। अंग्रेजों तथा सिखों की इस मित्रता में ब्रिटिश सरकार एक घुड़सवार के रूप में थी तथा रणजीतसिंह एक घोड़ा था। अंग्रेजों ने रणजीत की शक्ति को पूर्व तथा दक्षिण की ओर सीमित रखा तथा यदि सम्भव होता तो वे पश्चिम में भी ऐसी स्थिति कर देते। स्पष्ट रूप से उसके फौजी साम्राज्य तथा अंग्रेजी साम्राज्यवाद में टक्कर जरूरी थी। रणजीतसिंह, जो ब्रिटिश भारत इतिहास का जानने वाला था, ने संकोच किया तथा यह बात भूल गया कि युद्ध के समान राजनीति में भी काल प्रतिरक्षा ग्रहण करने वाले के पक्ष में नहीं होता। जब उसकी मृत्यु के पश्चात् अयोग्य लोगों के हाथों में सत्ता आई तब सब ओर गड़बड़ तथा अशान्ति की स्थिति पहले ही छा गई थी। उसके जीवित रहते हुए जो आशा बनी हुई थी, वह भी उसकी मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो गई। ब्रिटिश सरकार के साथ अपने सम्बन्धों में रणजीतसिंह असन्तोषजनक स्थिति में था। उसने इस विषय में कभी भी साहसी पग नहीं उठाया। वह सदैव हिचकिचाता तथा अनिश्चय की स्थिति में रहता था।

रणजीत सिंह की नागरिक व्यवस्था (Civil Administration of Ranjit Singh)—डा० जी० एल० चोपड़ा के कथनानुसार, "नागरिक विभागों के प्रशासन के सम्बन्ध में जिस योजना को पूर्व दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था, वह योजना वास्तव में मुगलों की थी।" (पंजाब एक स्वतन्त्र रियासत के रूप में)। मुगलों तथा रणजीतसिंह की व्यवस्था में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है। सभी आवश्यक विषयों में कोई भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती। महाराजा ने यूरोपीय बुद्धि तथा अनुभव का नागरिक प्रशासन से कोई लाभ नहीं उठाया, जैसे कि उसने फौजी संगठन के सम्बन्ध में उठाया। बहुत थोड़ी संख्या में नागरिक व्यवस्था में यूरोपीय लोगों को नौकरी में लगाया गया। १८०५ में होल्कर ने महाराज को परामर्श दिया कि वह नियमित कोष को संगठित करे, किन्तु उसने ऐसा फौजी कार्यों में व्यस्त रहने के कारण १८०८ तक नहीं किया। १८०८ में दीवान भवानी दास को अर्थ मन्त्री के रूप में नियुक्त किया। उसने ही रियासतों के आर्थिक ढाँचे को निम्न दफ्तरों में बाँटा—

(१) दफ़्तरे आबवाबिलमाल (Daftar-i-Abwab-il-Mal)—यह विभाग राजस्व विभाग विषयक आय के साथ सम्बन्ध रखता था तथा उसको (क) जमा खर्चे तअल्लुक तथा (ख) जमा खर्चे सैरत इन दो भागों में बाँटा गया था। तअल्लुकात विभाग भूमि के लगान सम्बन्धी मदों का हिसाब रखता था तथा सैरत विभाग अन्य सब प्रकार की आय का हिसाब रखता था। इस विभाग की मुख्य मदें ये थीं—नज़राना, ज़ब्ती, आबकारी, बाजिहाते मुकर्ररी तथा चौकियात।

नज़राना (Nazrana)—उस भेंट को कहते थे जो प्रजा के लोग जुदा परिस्थितियों में तथा भिन्न अवसरों पर रियासत के शक्तिशाली राजा के सम्मुख प्रस्तुत करते थे, विशेष रूप से प्रतिष्ठित लोग। कई बार तो यह आधीन (कप्तानों) सरदारों के द्वारा

निश्चित वार्षिक रिवाज़ के रूप में लिया जाता था। कई बार पराजित शासक अपने हारे हुए राज्य प्रदेश को अपने पास रखने के मूल्य के रूप में इस प्रकार का नज़राना प्रस्तुत करता था।

ज़ब्ती (Zabti)--यह सिख शासक की आय का महत्त्वपूर्ण भाग था, जो प्रायः अपने असावधान अफ़सरों पर जुर्माने के रूप में दण्डित करके प्राप्त किया जाता था अथवा सम्पत्ति की ज़ब्ती के द्वारा अथवा जुर्मानों तथा सम्पत्ति की ज़ब्ती, इन दोनों प्रकार से प्राप्त किया जाता था। इसके अतिरिक्त कई बार अपने मृत सरदारों के उत्तराधिकारियों से प्रदत्त भूमि-खण्ड वापिस ले लिया जाता था। ये भूमि-खण्ड कई बार तो राज्य की अपनी व्यवस्था में ले लिये जाते थे और कई बार वे किन्हीं अन्य लोगों को मूल्य वसूल करके दे दिये जाते थे।

आबकारी (Abkari)--इसमें वे सब रकमें सम्मिलित होती थीं, जो अफ़ीम, भंग, स्पिरिट तथा अन्य मादक पदार्थों की बिक्री से प्राप्त होती थीं। इस मद से प्राप्त आय तुलनात्मक दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण होती थी।

वजूहाते-मुकर्ररी (Wajuhati-i-Moqarari)--इसमें न्याय-सम्बन्धी लाभ तथा व्यय सम्मिलित होते थे, जो वर्तमान समय के कानूनी टिकटों से मिलते-जुलते हैं। इस मद के अधीन आय कई प्रकार से इकट्ठी की जाती थी। प्रथम न्याय-सम्बन्धी निर्णयों के द्वारा कई गुत्थियों को सुलझाने के लिए कुछ फ़ीस ली जाती थी। फ़ौजदारी कार्यों के लिये जो जुर्माने दिये जाते थे, वे भी इसी मद में सम्मिलित किए जाते थे। इसके अतिरिक्त सिख शासक तथा उसके मन्त्रियों की सेवा में प्रस्तुत किए जाने वाले प्रार्थना-पत्रों पर अनेक प्रकार की फ़ीसें अथवा रकमें लागू होती थीं और उनकी आय भी इसी विभाग में सम्मिलित की जाती थी।

अन्त में हम उन रकमों को भी सम्मिलित कर सकते हैं, जो हर प्रकार के निजी ठेकों के सम्बन्ध में राजकीय मुहर लगाने के उपलक्ष में प्राप्त की जाती थीं।

चौकियात (Chaukiyat)—दैनिक उपयोग में आने वाले अधिकांश पदार्थों पर भी अनेक प्रकार के कर लगते थे तथा उन्हें ४८ विभिन्न मदों में विभक्त किया गया था। उनकी दरें अलग-अलग निर्धारित थीं। विलास सामग्री तथा दैनिक जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं था। ये सब प्रकार के कर नकद प्राप्त किए जाते थे। ग्रिफ़िन लिखता है कि इस प्रकार की रकमें इकट्ठा करने का ढंग अत्यन्त कठोर था। देश में स्थान-स्थान पर चुंगी घर स्थापित थे जहाँ व्यापारियों के साथ निर्दयता तथा उपेक्षा से व्यवहार किया जाता था। एक-एक पदार्थ पर तीन-तीन बार कर देना पड़ता था। एक बार जब वह नगर में लाया जाता था, दूसरी बार जब वह दुकान पर लाया जाता था तथा तीसरी बार जब उसे पुनः निर्यात किया जाता था।

भू-राजस्व प्रणाली (Land Revenue System)—भारत में लगान प्रत्येक सरकार की व्यवस्था का स्थायी अंग रहा है। रणजीतसिंह के कार्यकाल के आरम्भ में "बटाई" नामक पद्धति को मुगल योजना के अनुसार पुनः आरम्भ किया गया जिससे कृषक तथा सरकार के मध्य उपज का नियमित बंटवारा किया जा सके। यह पद्धति १८२३ तक चली। इस प्रणाली का यह पहला दौर था। दूसरे काल के लिए, जो १८२४

में आरम्भ हुआ तथा दस वर्षों तक चला, बटाई पद्धति के स्थान पर कानकूट प्रणाली प्रचलित हुई, जो पैमाइश की पद्धति है। इसके अनुसार खड़ी फसल के अनुसार सरकारी अंश आँक लिया जाता था तथा वह भाग धन के रूप में सरकार को दे दिया जाता। यह पद्धति पुरानी पद्धति से स्पष्ट रूप से अच्छी थी, क्योंकि इसके कारण अधिकारी लोग दो प्रकार के उत्तरदायित्व से बच जाते थे। प्रथम तो उन्हें अनाज के कृषकों द्वारा चोरी चले जाने से बचाने से आराम मिल गया तथा द्वितीय, बिक्री के लिए दूर मण्डियों तक अनाज को ले जाने के प्रबन्ध से भी वे बच गए। आय के अनुसार व्यय के हिसाब में भी अधिक आसानी हो गई तथा पूर्व की अपेक्षा ऐसा सुनिश्चित भी हो गया क्योंकि सरकार को पूर्व से ही होने वाली आय का कुछ अनुमान लग जाता था। कानकूट पद्धति भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुई। क्योंकि सरकार को फसल की समाप्ति से कुछ ही देर पूर्व होने वाली आय का अनुमान लग सकता था। इसलिए पहले से ही आय का सही अनुमान लगाना कठिन था। १८३४ के पश्चात् रणजीतसिंह ने सबसे अधिक बोली देने वालों को सिंचाई योग्य भूमि-खण्डों को तीन से छः वर्षों तक कृषि के लिए देने में प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया। इन ठेकों द्वारा कृषकों को अपने खेती वाले क्षेत्र का विस्तृत हिसाब देना पड़ता था तथा अपने जिलों की कुल उपज को बताना पड़ता था। इस प्रकार बटाई के लिए भूमि देने की प्रथा के अतिरिक्त देहात के कृषियोग्य भूमि-खण्डों को समूह रूप से देहातियों को बेचने की प्रथा भी चालू हो गई।

वास्तव में राज्य का भाग वर्ष भर की उपज का $\frac{२}{५}$ अथवा एक तिहाई हुआ करता था। यह अनुपात उन सब ज़िलों में प्रचलित था, जो पूर्ण रूप से जीत लिये गए थे तथा जहाँ अच्छी प्रकार से उपज होती थी।

इस सम्बन्ध में अधिक जाँच-पड़ताल से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सरकारी भाग के सम्बन्ध में कभी समान (एक जैसा) अनुपात निश्चित नहीं किया गया। यह अनुपात प्रत्येक स्थान पर भिन्न था। इस विभिन्नता के अनेक कारण थे--पैदावार, सिंचाई के साधन तथा कृषि की अन्य सुविधाएँ।

उपज के नियमित भाग के अतिरिक्त राज्य अनेक अबवाब अथवा अन्य कर भी वसूल करता था। ये कर लगान के साथ ही लिये जाते थे और जो लगान के अनुसार ही निश्चित अनुपात में होते थे। उसका अनुपात ५% से १५% के मध्य में होता था।

राजस्व वर्ष में दो बार लिया जाता था। फसलों के लगभग एक मास के पश्चात् इसे वसूल किया जाता था। वर्ष में ये दो फसलें रबी तथा खरीफ़ कहलाती थीं। जिले में लगान इकट्ठा करने वाला मुख्य अधिकारी कारदार (कलैक्टर) कहलाता था। उसकी सहायता के लिए मुकद्दम (फोरमैन), पटवारी तथा कानूनगो होते थे। राजस्व सम्बन्धी धन ज़िले के खजाने में कारदार के नियंत्रण में रखा जाता था। यह या तो लाहौर भेज दिया जाता था अथवा शासक की इच्छानुसार इसकी भुगतान कर दी जाती थी।

(२) **दफ्तरे-आबवाबिल-तहवील** (Daftar-i-Abwab-il-Tahwil)—यह दूसरा विभाग था। इसका सम्बन्ध अधिकारियों द्वारा आय-व्यय के रिकार्ड के साथ था। कोषाध्यक्ष तहवीलदार कहलाते थे। आरम्भ में यह विभाग अलग-अलग प्रकार के हिसाबों से सम्बन्ध रखता था, किन्तु जब रिकार्ड, आय तथा व्यय के अलग-अलग कार्यालय

स्थापित किए गये, तब इस कार्यालय का काम सीमित हो गया।

(३) **दफ्तरे-तौझियात** (Daftar-i-Toujhihat)——यह विभाग शाही परिवार के आय-व्यय का प्रवन्ध करता था। दृष्टान्त के रूप में शाही महिलाओं के व्यय, भेंट तथा खिलअतों का हिसाव, अतिथियों की व्यवस्था का व्यय तथा तोशाखाना के विभाग आदि इसमें सम्मिलित थे।

(४) **दफ्तरे-मवाजिब** (Daftar-i-Mawajib)——इस कार्यालय में विभिन्न सरकारी कर्मचारियों के वेतन, भत्तों तथा अन्य व्ययों का हिसाब रखा जाता था। इसमें फ़ौज, नागरिक कर्मचारी तथा क्लर्क आदि के वेतनादि सम्मिलित थे। इस विभाग के अन्तर्गत वहुत-सी अन्य शाखाएँ अथवा शाखा कार्यालय होते थे, जिनका काम सदैव बढ़ते हुए कार्यों को नियंत्रित करना था।

(५) **दफ्तरे-रोज़नामचा-इख़राजात** (Daftar-i-Roznamcha-Ikhrajat) (दैनिक व्यय का कार्यालय)——इस कार्यालय का काम विभिन्न मदों के आधीन दैनिक व्यय का हिसाब रखना था। इस प्रकार इस दृष्टिकोण से इस विभाग का सम्बन्ध सव प्रकार के व्ययों से था।

इन कार्यालयों में संगठन सम्बन्धी अनेक परिवर्तन आगामी वर्षों में हुए। इनमें प्रत्येक कार्यालय कई शाखाओं में विभक्त था जिससे व्यवस्था-सम्वन्धी विकास का ठीक प्रकार से नियन्त्रण अथवा देख-भाल हो सके।

प्रादेशिक विभाग तथा स्थानीय व्यवस्था (Territorial Divisions and Local Administration)——पंजाब चार सूवों में विभक्त था——लाहौर, मुलतान, कश्मीर तथा पेशावर।

प्रत्येक सूवा कई परगनों में विभक्त था। प्रत्येक परगना तालुकों में बँटा हुआ था तथा प्रत्येक तालुके में ५० से १०० मौज़े होते थे। यह विभाजन मुख्य रूप से मुगलों के ढंग का था। सूबे की व्यवस्था एक नाजिम (गवर्नर) के हाथों में होती थी, जिसके कर्त्तव्य लगभग वे ही होते थे, जो सन् १९१९ के सुधारों से पूर्व लैफ्टिनेंट गवर्नर के होते थे। उसके आधीन बहुत से कारदार होते थे। प्रत्येक तालुके का एक कारदार हुआ करता था। प्रत्येक कारदार की स्थिति तथा महत्त्व उसके आधीन इलाके के अनुसार होती थी। नाजिम का दर्जा साधारण कारदार से ऊँचा होता था, किन्तु उसके कार्य लगभग वैसे ही होते थे। कारदार अपने लोगों के साथ अपने दैनिक कार्यों में सम्पर्क में आते थे। वह एक राजस्व कलैक्टर, कोषाध्यक्ष, लेखापाल, न्यायाधीश, मजिस्ट्रेट, कर तथा चुंगी का अफसर तथा सरकार की ओर से लोगों का निरीक्षक होता था।

न्यायिक व्यवस्था (Judicial Arrangements)——रणजीतसिंह के समय में कानूनों की कोई लिखित पद्धति नहीं थी। न्यायिक निर्णय प्रचलित परम्परागत नियमों के अनुसार होते थे। इसका क्रम सरल था तथा दीवानी और फौजदारी मुकदमों में कोई भेदभाव नहीं था। पंचायतों पर झगड़ों को निबटाने का उत्तरदायित्व था। पाँच लोगों की समिति होती थी। इसमें ग्राम के बड़े बूढ़े होते थे। उसकी सदस्यता की योग्यता के लिए भूमि के अधिकार तथा स्थानीय प्रभाव और आदर की देखभाल की जाती थी। पंचायत मध्यस्थ अदालत के समान थी। इसलिए इसके निर्णय कारदारों के द्वारा बदले

जा सकते थे। ऐसा उस समय होता था जब दोनों पक्षों में से एक पक्ष उनको मानने से इनकार कर देता था। कस्बों में कारदार न्याय-सम्बन्धी कार्य करते थे। वे अपने तालुके के अधिक महत्त्वपूर्ण मामलों का निर्णय करते थे। नगरों में नाज़िम अथवा मुख्य कारदार मुकदमों का निर्णय करते थे। कभी-कभी अलग अधिकारी केवल न्याय-सम्बन्धी कार्यों के लिए ही नियुक्त किए जाते थे। उन्हें अदालती कहा जाता था। राजधानी में एक अलग अदालत (न्यायालय) की स्थापना की गई। इसे अदालते-आला (सबसे बड़ा न्यायालय) का नाम दिया गया। इसके कार्य आजकल की हाईकोर्टों जैसे थे।

दीवानी मुकदमे कई प्रकार के हुआ करते थे। प्रथम ऐसे मुकदमे होते थे, जिनका सम्बन्ध विवाह आदि से होता था, उनका निर्णय पंचायतें करती थीं। इकरारनामों, उधार बिक्री आदि के झगड़े भी होते रहते थे। इन निर्णयों में साक्षियों के शपथ ग्रहण को अत्यन्त महत्त्व दिया जाता था। मुकदमों में रणजीतसिंह की सरकार प्रत्येक पक्ष पर कुछ-न-कुछ फीस लगाया करती थी। भूमि-सम्बन्धी सम्पत्ति के दीवानी मुकदमों में निर्णय करते समय काजिलखानों के दस्तावेजों द्वारा प्राप्त साक्षियों का आधार लिया जाता था।

अपराधों के सम्बन्ध में मृत्यु-दण्ड का निर्णय शासक के आधीन होता था। कत्ल अथवा अन्य शारीरिक चोटों के लिए अपराधियों को शारीरिक दण्ड की अपेक्षा जुर्माने के रूप में दण्ड दिया जाता था। विशेष परिस्थितियों में अंग-भंग का दण्ड दिया जाता था। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि दण्ड की कठोरता अपराध के ढंग पर, मजिस्ट्रेट के व्यक्तिगत विचार पर तथा शासक के पास उसके कार्य के सम्भावित विवरण पर निर्भर करती थी।

यद्यपि रणजीतसिंह की न्याय-सम्बन्धी पद्धति सरल थी, तथापि व्यवहार रूप से वह पंजाब के लोगों के सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण के अनुकूल थी। स्थानीय अफसरों के द्वारा अधिकार का दुरुपयोग कई प्रकार से सीमित था। प्रथम रणजीतसिंह के अधिकारियों का कार्य-काल उनके अच्छे व्यवहार पर निर्भर करता था। इस बात का ध्यान रहे, कि उनके गौरव, सम्मान तथा सामाजिक निष्ठा तथा उनकी व्यक्तिगत पूँजी तथा सम्पत्ति पूर्ण रूप से उनके स्वामी की कृपा पर निर्भर करती थी, उन्हें ऐसे कार्य करने से रोकती थी, जो पक्षपातपूर्ण हों। द्वितीय, महाराजा के बार-बार तथा आशा-विरुद्ध दौरों के कारण उसके कानों में घूस तथा रिश्वत की शिकायतें पहुँचाने का वास्तविक खतरा रहता था। इसके साथ ही इसका एक और कारण यह भी था कि विशेष न्यायाधीशों को विभिन्न जिलों में शिकायतें सुनने तथा विशेष महत्त्वपूर्ण मुकदमों का निर्णय करने के लिये दौरों पर भेजने की प्रथा थी। इस पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता इसकी सरलता थी तथा उसमें कानूनी पेच तथा बारीकियाँ नहीं थीं, जिन्हें यदि वहाँ असभ्य सिख किसानों में लागू कर दिया जाता, तो न्याय के मार्ग में बाधा पड़ती।

रणजीतसिंह की सरकार (Ranjit Singh's Government)—उसने पंजाब में एक शुद्ध तथा शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। उसने सिखों के विधान को शिथिल ढंग के संघीय पद्धति वाले एक अनियमित राष्ट्र-मण्डल को व्यक्तिगत शासन पर आधारित फौजी राज्य में परिवर्तित कर दिया।

रणजीतसिंह के व्यक्तिगत शासन में पंजाब की शासन-व्यवस्था इस प्रकार की

थी, जो समाज की तत्कालीन अवस्था के अनुकूल हो। ग्रामीण जीवन में बहुत कम हस्तक्षेप किया जाता था। उसका प्रायः सारा कार्य पंचायत के द्वारा चलता था। महाराज के शासन की लोकप्रियता का एक बड़ा रहस्य यह था कि उसमें छोटे से छोटे नागरिक को भी महान् तथा सम्पत्तिशाली बनने के सब अवसर प्राप्त थे। रणजीतसिंह के शासन की एक अन्य विशेषता यह थी कि वह अपने उत्तराधिकारपूर्ण उत्तरदायित्व पर कभी निर्भर नहीं करता था और न ही वह बड़े होने की दैवी उक्ति पर निर्भर करता था। उसने अपने साथ कभी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ नहीं लगाईं और न ही उसने दैवी शक्तियों का दावा किया। इसके विपरीत, उसने सदा कहा कि उसके कार्य 'खालसा' के गौरव के लिए हैं। रणजीतसिंह के आधीन सिखों ने गौरवपूर्ण सफलताएँ प्राप्त कीं। एक नगर के पश्चात् दूसरे नगर ने उसके शासन तथा शक्ति को स्वीकार कर लिया। यहाँ तक कि एक बड़े साम्राज्य ने जन्म ले लिया था, जिसके फौजी साधनों को उस समय के पड़ोसी राज्य तथा दूर के शासक आदर की दृष्टि से देखते थे।

रणजीतसिंह की शासन-व्यवस्था को लोकहितकारी राज्य के रूप में वर्णित किया जा सकता है। जाति तथा धर्म की दृष्टि से वह विदेशी शासक नहीं था। उसके शासन में आर्थिक साधन सामग्री को पूर्ण रूप से उपयोग में लाया जाता था। उसके शासन के प्रताप से पंजाब के लोगों में न्याय तथा शान्ति की दृष्टि से उन्नति हुई तथा जनता ने शान्ति और समृद्धि के ऐसे युग में प्रवेश किया, जो कई पीढ़ियों में नहीं देखा गया था।

रणजीतसिंह की सेना (Army of Ranjit Singh)--रणजीतसिंह ने नियमित फौज का संगठन कब किया, इस सम्बन्ध में लेखकों में अत्यधिक भ्रम है। अधिकाँश का कहना है कि इसका विचार राजकुमार रणजीत को तब आया जब वह मैटकाफ़ की सुरक्षा में अनुशासन का पालन कर रहा था। १८०५ में होल्कर पंजाब में प्रविष्ट हो चुका था तथा रणजीतसिंह के साथ वार्तालाप करते समय उसने उसे खज़ाने के संगठन, सुरक्षात्मक मोर्चाबन्दी तथा फौजों को अनुशासन में रखने की प्रेरणा की। उसी समय रणजीतसिंह भेस बदलकर लार्ड लेक के शिविर में गया तथा कम्पनी की फौजों की कवायद को देखा। उसे इससे भी अधिक प्रेरणा मैटकाफ़ के साथ समझौता करने के पश्चात् प्राप्त हुई। इस समझौते ने रणजीतसिंह के मन में अपने राज्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में एक भारी चिंता उत्पन्न की। अनुभव ने उसे ऐसा निश्चय करने पर विवश किया कि युद्ध के समान कूटनीति में सफलता प्राप्त करने के लिए शक्तिशाली तथा संगठित फौज का रखना भी बहुत जरूरी है।

खालसा दरबार में रणजीतसिंह की फौजों के रिकार्ड दो भागों में विभक्त थे—फौजे-आम अथवा नियमित फौज तथा फौजे-बेकवायद अथवा अनियमित फौज।

फौजे-आम अथवा नियमित सेना (Fauj-i-Am or Regular Army)--१. नियमित फौज को तीन उपविभागों में बाँटा जा सकता है। (क) पैदल (ख) घुड़सवार तथा (ग) तोपखाना। पैदल फौज (Infantry) का संगठन एक क्रमिक रचना थी, जो १८०५ के शीघ्र बाद ही आरम्भ हो गई तथा महाराज के शासन-काल में सदैव जारी रही। सिख नौकरी को घृणा की दृष्टि से देखते थे तथा वे फौजों में सम्मिलित होने से इनकार कर देते थे, किन्तु रणजीतसिंह ने अपने प्रयत्न को जारी रखा तथा अन्त में इस बात

में सफल हो गया। इसका नतीजा १८१८ में जाहिर हुआ, जब कि पंजाब के रहने वालों ने—सिखों तथा अन्य लोगों ने—फौज में शक्तिशाली ग्रुप बना लिया। १८२२ में महाराजा ने फ्रांसीसी अफसरों को अपनी नौकरी में ले लिया। उनमें अधिकाँश ने नैपोलियन की लड़ाइयों में भाग लिया था तथा वे पाश्चात्य ढंग के नवीन साधनों और परेड से अच्छी प्रकार परिचित थे। रणजीतसिंह के व्यक्तिगत निरीक्षण में उन्होंने अपने कर्त्तव्य का उत्साहपूर्वक पालन किया तथा कुछ वर्षों में उन्होंने सुयोग्य फौज को संगठित तथा प्रशिक्षित किया।

पैदल फौजों का प्रारम्भिक संगठन सरल था। इसमें कई पलटनें थीं, जिनमें से प्रत्येक के साथ औसतन दो तोपें होती थीं। इससे इनकी जुदा इकाइयां बन जाती थीं। इनमें से प्रत्येक को एक कमाण्डैण्ट के आधीन रखा गया। यह संगठन बाद में और भी विस्तृत कर दिया गया क्योंकि बटालियन की संख्या बढ़ गई। आगे चलकर पलटन अथवा बटालियन ब्रिगेड नामक बड़े संगठन का एक भाग बन गया। ब्रिगेड में पैदल सेना के चार बटालियन (फौजी टुकड़ियाँ), घुड़सवारों का छोटा-सा दस्ता, तथा आठ-दस तोपों का तोपखाना सम्मिलित होता था। इसके साथ प्रायः बेलदारों का एक दल भी होता था।

रणजीतसिंह की मृत्यु के समय बटालियन की न्यूनतम संख्या आठ सौ थी। यह आठ कम्पनियों में विभक्त की जाती थी, जिनमें से प्रत्येक चार शाखाओं में संगठित थी। कम्पनी की औसत संख्या एक सौ होती थी, जबकि एक शाखा में लगभग २५ व्यक्ति होते थे। जहाँ तक अफसरों का सम्बन्ध है कमाण्डैण्ट की सहायता के लिए एक ऐडजुटैंट तथा एक मेजर होता था। प्रत्येक कम्पनी एक सूबेदार के आधीन थी जिसकी सहायता के लिए दो जमादार होते थे। कम्पनी के प्रत्येक भाग पर एक हवलदार का नियन्त्रण था, जिसके आधीन एक नायक भी उसकी सहायता के लिए होता था। बटालियनों के अफसर सरदारों के सम्बन्धी अथवा पुत्र अथवा जमींदारों में से होते थे। जब किसी सरदार के दो अथवा उससे भी अधिक पुत्र होते थे, महाराज प्रायः एक को (युवावस्था में) ले लेते थे तथा उसे फौजी नौकरी के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। प्रत्येक फौजी टुकड़ी में कुछ गैर-फौजी कर्मचारी भी होते थे, जिनमें एक मुंशी, एक मुतसद्दी, एक ग्रन्थी तथा अन्य निम्न कोटि के कर्मचारी––खलासी, सक्के, घड़ियाली, बेलदार, झण्डा बरदार, मिस्त्री, कन्नास तथा टहलिया होते थे।

पैदल सेना की पोशाक गहरे लाल रंग की होती थी। अलग-अलग फौजों को अलग करने के लिए भिन्न-भिन्न रंगों की वर्दी होती थी। पाजामे नीले सूती कपड़े के होते थे तथा पगड़ियाँ भी उसी रंग की होती थीं। पेटियां काले चमड़े की होती थीं। लोग प्रायः तलवारों, बन्दूकों तथा संगीन (किरच) से लैस होते थे।

फौजे खास अथवा फ्रांसीसी सेना (सैन्य दल) (Fauj-i-Khas or French Army)––यह सिख फौज का आदर्श दस्ता था। इसका संगठन १८२२ में जनरल वैण्टुरा तथा अल्लार्ड ने किया था। इसकी सामान्य संख्या पैदल सेना के चार दस्ते, घुड़सवार सेना के दो दस्ते तथा एक तोपखाना होता था, जिसमें चौबीस तोपें होती थीं। इसके प्रशिक्षण में विशेष प्रयत्न किए जाते थे तथा अनुशासन, साधन-सामग्री और शस्त्रों की दृष्टि से यह नियमित सेना के संगठित भाग का सबसे अच्छा विभाग बन गया। इस फौज के

पैदल भाग में खास दस्ता तथा दो अन्य दस्ते थे, जिनका नेतृत्व देवासिंह तथा शाम सोटा कर रहे थे। घुड़सवार सेना में एक खास टुकड़ी, तथा एक घुड़सवार दस्ता था। तोपखाना जनरल इलाहीबख्श के फौजी दस्ते के नाम से प्रसिद्ध था।

खास ब्रिगेड के अफसरों के सम्बन्ध में डा० मरे कहता है, "इन दस्तों में प्रत्येक कम्पनी के साथ एक सूबेदार, एक जमादार, चार हवलदार तथा चार नायक होते थे तथा प्रत्येक दस्ते के साथ एक कमाण्डैण्ट तथा एक एडजुटैण्ट होते थे।

"फौजेखास के अपने चिह्न होते थे––बाज तथा तीन रंगों का झंडा, जिस पर फौजी गुरु गोविन्दसिंह के शब्द कढ़े हुए होते थे। आदेशात्मक शब्द फ्रांसीसी भाषा के होते थे। इस प्रकार इसे प्रायः फ्रांसीसी दस्ता अथवा फ्रांसीसी सैन्य दल कहा गया है।"

कैप्टन वेड ने फौज खास के पैदल दस्ते की परेड १८२७ में देखी, जब कि उसे संगठित हुए पाँच वर्ष बीत गए थे तथा उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए––"ये सब लोग राजा के अन्य नियमित फौजी दस्तों के समान वेशभूषा, शस्त्रास्त्र तथा अन्य सैनिक साधनों से सज्जित थे, किन्तु उनकी शैली स्वच्छ तथा बढ़िया ढंग की थी। यह लगभग असम्भव था यदि हम उस पूर्णता की प्रशंसा न करें, जिसकी ओर एम० वैण्टुरा ने इस फौजी दस्ते को प्रस्तुत किया।"

घुड़सवार सेना (Cavalry)––जब १८०५ के पश्चात् रणजीतसिंह ने अपनी फौजों को सुधारना आरम्भ किया, तब उनका विचार सेना की तीनों शाखाओं की सुसंगठित फौज तैयार करना था। इस प्रकार उसने अनियमित घुड़सवारों में यूरोपीय ड्रिल का प्रारम्भ किया। अभियानी घुड़सवारों ने इस नये अभ्यास को नर्तकी लड़कियों के दावपेंच समझा तथा उन्होंने युद्धों के पुराने ढंग छोड़ने से इनकार कर दिया। इस कारण नये रंगरूट भरती करने पड़े। रणजीतसिंह के पैदल फौज में व्यस्त होने के कारण तीव्र प्रगति में बाधा हुई। १८२२ में अल्लार्ड के आगमन के समय तक सिखों की फौज में शिक्षित घुड़सवारों के केवल चार दस्ते थे। ड्रिल करने वाले शिक्षित घुड़सवारों की संख्या एक हज़ार थी जब कि पैदल फौजी दस हज़ार थे। १८२२ के पश्चात् प्रगति तेज हो गई। १८२९ में अल्लार्ड के आगमन के पश्चात् नियमित घुड़सवारों की संख्या चार गुनी से भी अधिक हो गई।

पहले घुड़सवारों की फौज में विभिन्न जातियाँ—पठान, राजपूत, डोगरे तथा अन्य लोग––सम्मिलित हुए। इसकी संख्या एक सौ से लेकर पाँच सौ व्यक्तियों से अधिक तक रहती थी। आगे यह फौज स्वयं सिखों में अत्यन्त लोकप्रिय हो गई तथा इस प्रकार के फौजी दस्तों की संख्या बढ़ गई। बड़ी संख्या वाले फौजी दस्तों को रसालों में विभक्त कर दिया गया, जिनकी संख्या डेढ़ सौ से लेकर दो सौ तक होती थी। घुड़सवार सेना के अफसरों का स्थान पैदल सेना के अफसरों के समान ही होता था तथा अन्य असैनिक अफसरों का भी वैसा ही क्रम था। घुड़सवार सेना के सैनिकों का वेतन पैदल सेना के सैनिकों से बहुत अधिक हुआ करता था।

नियमित घुड़सवारों के सम्बन्ध में "दुर्बल दीखने वाले, गन्दे कपड़े पहनने वाले तथा भद्दे प्रकार से सवारी करने वाले पुकारा गया है तथा उनके घोड़ों की टाप को रद्दी से रद्दी चमड़े की टाप के समान कहा गया है।". युद्ध के मैदान में उनका व्यवहार उनकी

सामान्य बाह्याकृति के अनुसार होता था।

तोपखाना (Artillery)—प्रारम्भ में प्रत्येक पैदल फौजी दस्ते के साथ दो तोपें होती थीं तथा कोई अलग तोपखाना नहीं होता था। १८१० में ऐसा एक अलग फौजी विभाग प्रारम्भ किया गया तथा उसे दरोगाए तोपखाना नामक अफसर के आधीन रखा गया। दो वर्षों के पश्चात् यह फौजी दस्ता तोपखाने की मुख्य इकाई बन गया तथा इसे तोपखानाए खास का नाम दिया गया। इस पर एक मुसलमान अफसर कमाण्ड करता था, जिसका नाम मियाँ गौसखान था। सम्पूर्ण तोपखाना अब चार विभागों में विभक्त था। पहले भाग में आसपी तोपें थीं तथा दूसरे में गावी तोपें। तीसरे भाग में एक अलग घुड़सवार तोपखाना तथा अन्तिम भाग में बहुत सी तोपें होती थीं जो विभिन्न पैदल फौजी दस्तों में विभक्त कर दी जाती थीं। घुबारे तथा जम्बिरक डेरों में संगठित किए जाते थे, जिन्हें डेरा-ए-जम्बूरखाना का नाम दिया जाता था। १८१४ में एक नया तोपखाना बनाया गया किन्तु पहले वाले अलग तोपखाने को नियमित फौज के साथ जोड़ दिया गया। जनरल कोर्ट तथा कर्नल गार्डनर——इन दोनों अफसरों के सुधारात्मक प्रयत्नों से सम्पूर्ण तोपखाना को पुनः संगठित किया गया। इसे तीन भागों में बाँटा गया——(क) तोपखाना-ए-जिन्सी, (ख) तोपखाना-ए-आस्पी तथा (ग) जम्बूरखाने। पहले भाग में आसपी, गावी तथा हौहज़र प्रकार की तोपें होती थीं। तोपखाना-ए-खास अन्य तोपखानों के साथ मिला दिया गया, जिससे उसे नियमित फौज के तीन मुख्य विभागों में से एक (मुख्य विभाग) बना दिया जाए। १८३५ में, जब कि फौज को ब्रिगेडों (दस्तों) में संगठित किया गया, तब तोपखाने के विभाग में और भी कुछ सुधार तथा परिवर्त्तन किए गए। बैटरी तथा पैदल दस्ते के भीतरी संगठन में अत्यन्त समानता थी, औसतन दस तोप वाली बैटरी में २५० व्यक्ति होते थे, जिनमें वे लोग भी सम्मिलित थे, जो नियमित फौजी नहीं थे। प्रत्येक बैटरी कई विभागों में विभक्त थी तथा प्रत्येक विभाग में दो तोपें तथा आठ से दस तक तोपची होते थे। इस दस तोप वाली बैटरी (दस्ते) पर एक कमाण्डैण्ट होता था जिसके सहायक एक ऐडजुटेंट तथा एक मेजर होते थे तथा इसकी प्रत्येक शाखा एक जमादार के आधीन होती थी, जिसके सहायक हवलदार तथा नायक होते थे।

तोपखाने की शिक्षा तथा संगठन का कार्य यूरोपीय ढंग पर लगभग दस वर्ष से कुछ कम समय तक चलता रहा। जनरल कोर्ट, जिस पर मुख्य रूप से इस कार्य का उत्तरदायित्व था, सिखों की फौज में १८२७ में सम्मिलित हुआ तथा कुछ ही वर्षों में उसने इस फौजी संगठन को ऊँचे दर्जे की योग्यता प्रदान कर दी।

फौजे-बेकवायद अथवा अनियमित सेना (Fauj-I-be-Qawaid or Irregular Army)——इस फौज में मुख्य रूप से घुड़सवार थे। ये दो भागों में बँटे हुए थे। घुड़चढ़ा खास तथा मिसलदार। इनमें से पहले प्रकार के व्यक्ति एक संगठन के आधीन थे तथा उनकी भरती जमींदारों में से होती थी। बहुत से लोग तो दरबार के मुख्य अधिकारियों अथवा रईसों के सम्बन्धी थे। वे अपने हथियार देते थे तथा उन्हें जागीर के रूप में कुछ न कुछ राज्य की ओर से प्राप्त होता था। बाद में उन्हें नकद वेतन मिलने लगा। मिसलदारों में वे सब छोटे-छोटे सरदार सम्मिलित थे, जिनके इलाके रणजीतसिंह ने ले लिये थे तथा जिन्होंने उसके आधीन घुड़सवारों के विभिन्न दलों का नेतृत्व करना स्वी-

कार कर लिया था। उनमें सब वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व होता था तथा वे खास फौजों से कुछ कम पदवी वाले समझे जाते थे। उनके घोड़ों तथा शस्त्रास्त्र में भी भेद दृष्टिगोचर होता था। मिसलदार संख्या में बढ़ते गए तथा शासनकाल के अन्त में वे अनियमित घुड़सवार सेना का बहुत बड़ा अंग बन गए। प्रशासन-व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यों के लिए घुड़चढ़ों को कतिपय डेरों में विभक्त किया गया था। उनमें से प्रत्येक डेरा घुड़सवारों के छोटे-छोटे दलों से मिलकर बना था जिन्हें मिस्ल कहा जाता था। एक मिस्ल में एक ही जाति के लोग होते थे। उनका नेता सामान्य रूप से उस व्यक्ति का ही वंशज होता था, जिसके अधीन वे रणजीतसिंह की फौज में सम्मिलित हुए थे। ये मिस्लें २५ से ७५ तक की अलग-अलग संख्या वाली होती थीं। १८२२ में, डेरों को बड़े भागों में बाँट दिया गया था, जिनके अधिकारी राज्य के उच्च सरदार होते थे। इस प्रकार की नियुक्तियाँ करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि इन वर्गों को संगठित अथवा एक ही स्थान पर रखा जाए। लार्ड ऑकलैण्ड ने १८३८ के अपने पंजाब के दौरे में इन घुड़चढ़ों को देखा तथा उन्हें "संसार की सब से सुन्दर फौज" बताया।

भरती तथा वेतन (Recruitment and Pay)—फौज में भरती अपने आप की जाती थी। किसी को ज़बरदस्ती फौज में भरती नहीं किया जाता था। रंगरूट बड़ी संख्या में स्वयं आ जाते थे। इसके कई कारण थे। प्रथम तो पंजाब में रहने वाली बहुत सी जातियाँ लड़ाकू थीं। दूसरे, फौज में भरती होकर कार्य करना बहुत ऊँचा कार्य समझा जाता था तथा इससे समाज में गौरवपूर्ण स्थान मिलता था। तीसरे, रणजीतसिंह के फौजों के प्रति व्यक्तिगत व्यवहार के कारण भी बहुत से लोग फौज में ऊँचा स्थान प्राप्त करने के लिए फौज में भरती होते थे।

मिस्लों के समय में फौजों को या तो लूटमार में से कुछ भाग मिलता था अथवा उन्हें भूमि-खण्ड प्रदान किया जाता था, जिस पर सामान्य रूप से लगान लिया जाता था। रणजीतसिंह के समय में भी यही दूसरी पद्धति चलती रही, किन्तु बाद में फौज के लिए यह पद्धति अनुपयुक्त समझी गई। इसलिए मासिक वेतन के रूप में नक़द पैसे दिए जाने की पद्धति का प्रारम्भ हुआ।

यद्यपि वेतन मासिक रूप से निश्चित थे किन्तु वास्तव में वे नियमित रूप से नहीं मिलते थे। फौजों का चार से लेकर छः मास तक का वेतन शेष रहता था। वेतन वर्ष में तीन अथवा चार बार दिए जाते थे। इसका एक कारण वेतन बाँटने वाले विभाग की अयोग्यता भी थी, किन्तु इसका एक बड़ा कारण सिख शासक की निश्चित नीति थी, जिसके अनुसार वह अपने लोगों को भागने, छोड़ जाने अथवा षड्यन्त्र करने से नियंत्रित रखता था। वेतन के बाँटने की दृष्टि से फौज तीन शाखाओं में बँटी हुई थी—फौजे सवारी, फौजे-आम तथा फौज-ए-किलाजत। अनियमित फौजों के वेतन पहले तो प्रत्येक फौजी टुकड़ी के कमाण्डिग अफसर देते थे। बाद में प्रत्येक भाग से सम्बद्ध दीवान यह कार्य करने लगा। नियमित फौजियों को उनका वेतन एक बख्शी के द्वारा मिलता था। तीसरी शाखा के वेतन थानेदारों के द्वारा बाँटे जाते थे। इन तीनों शाखाओं द्वारा वेतन के सम्बन्ध में राजधानी के केन्द्रीय खजाने को अपनी-अपनी इकाई की लगभग संख्या पर आधारित एक अनुमानित व्यय-पत्र भेजा जाता था।

नियमित घुड़सवार फौज का वेतन-स्तर पैदल सेना के वेतन-स्तर से ऊँचा हुआ करता था, किन्तु पैदल सेना तथा तोपखाने के फौजियों को लगभग एक जैसा वेतन मिलता था। घुड़चढ़ों के वेतन नियमित घुड़सवारों से ऊँचे हुआ करते थे। लम्बी नौकरी के लिए नियमित पैन्शन की पद्धति के स्थान पर कभी-कभी जागीरें तथा रुपये दिये जाते थे, किन्तु जो लोग युद्ध में अपने प्राण दे देते थे, उनकी विधवाओं तथा बच्चों को देने के लिए कोई निश्चित प्रणाली नहीं थी।

रणजीतसिंह का व्यक्तित्व (Personality of Ranjit Singh)—रणजीतसिंह पंजाब-केसरी के रूप में प्रसिद्ध है। वह अपनी प्रजा में इतना लोकप्रिय था कि सर लेपेन ग्रिफ़िन ने महाराज की मृत्यु के पचास वर्ष पश्चात् उनके सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा—"यद्यपि उसकी मृत्यु को बीते आधी शताब्दी बीत चुकी है, उसका नाम प्रान्त में अब भी घरेलू सा है, उसका चित्र आज भी दुर्गों तथा कुटियों में सँभाल कर रखा जाता है। अमृतसर तथा दिल्ली के चित्रकारों के लिए, जो हाथी दाँत की मूर्तियाँ बनाते हैं, यह एक लोकप्रिय विषय है।"

महाराजा के शारीरिक ढाँचे के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह सुन्दर नहीं था। बैरन हूंगल के कथनानुसार, "मैं उन्हें (महाराजा रणजीत सिंह को) पंजाब भर में सब से कुरूप तथा आकर्षणहीन मानता हूँ, क्योंकि मैंने सारे पंजाब में ऐसा अन्य कोई व्यक्ति नहीं देखा। उनकी बाईं आँख, जो पूर्ण रूप से बन्द है, दूसरी आँख की अपेक्षा कम भद्दी लगने वाली है, जो सदा विस्तृत रूप से खुली तथा चलती रहती है। यह रोग के कारण बहुत खराब है। उनके मुख पर चेचक के दाग उनकी भूरी पीली चमड़ी पर बहुत से गहरे गड्ढे बनाते हैं, उनकी छोटी सीधी नाक किनारे पर फूली हुई है। उनके होंठ दाँतों पर दृढ़ता से फैले हुए हैं, जो अब भी अच्छे हैं···उनकी मोटी गर्दन, पतली बाहें तथा टाँगें हैं। शिथिल बायाँ पाँव तथा बायाँ बाजू और छोटे तथा सुगठित हाथ हैं।"

ग्रिफ़िन के कथनानुसार, "महाराजा एक बाँका सिपाही था—दृढ़, अल्पव्ययी, चुस्त, साहसी तथा धैर्यशाली।" वह एक अच्छा घुड़सवार तथा तलवार चलाने वाला था। वह कार्य करने की अपार शक्ति रखता था तथा प्रातःकाल से लेकर सायंकाल देर तक काम करता था। कार्य के लिए अथक तथा अपार शक्ति के कारण वह प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में अपने सुझाव दे सकता था तथा पथ-प्रदर्शन कर सकता था। उसकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक थी। जैक्युमों के मतानुसार, "वह अपने राज्य के दस से बारह सहस्र देहातों के नाम, स्थिति तथा उनका इतिहास जानता था।" वह इतना जिज्ञासु तथा कुतूहलपूर्ण था कि वह अपने पास आने वाले लोगों से सैंकड़ों प्रश्न किया करता था। सिन्हा के कथनानुसार, "उसका वार्तालाप जैकमोंट जैसे तीक्ष्ण बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए दुःस्वप्न के समान था।" उसके वार्तालाप के विषय "युद्ध से लेकर मदिरा तक तथा ज्ञान से लेकर शिकार तक" अनेक प्रकार के होते थे तथा बिना साँस लिये इस प्रकार के प्रश्नोत्तर देर तक चलते थे। वह विद्या का महान् संरक्षक था। वह पाठशालाओं तथा मदरसों को बिना कोई पैसा लिये भूमिदान किया करता था। वह उन्हें मासिक सहायता भी दिया करता था। उसने मुँशी सोहनलाल, मियाँ शाहमुहम्मद, दीवान अमरनाथ तथा गणेशदास जैसे विद्वानों का संरक्षण किया। मुँशी सोहनलाल ने फारसी में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'उम्दा-

तुत्तवारीख' लिखी। अमरनाथ ज़फ़रनामा के लेखक थे। गणेशदास ने 'फतहनामा गुरु खालसा जी का' लिखा।

महाराजा ने धार्मिक सहिष्णुता वाली नीति का अनुसरण किया। अपने धर्म के लिए प्रेम होते हुए भी, वह अन्य धर्मों के साथ उदारता का बर्ताव करता था। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि उसने फकीर भाइयों, डोगरा राजाओं, ब्राह्मण खुशहाल-सिंह तथा तेगसिंह को अपनी नौकरी में लगाया। ग्रिफ़िन के मतानुसार, "महाराजा के धैर्य का कारण किसी विशेष भावना की अपेक्षा उसकी उदासीनता तथा स्वार्थ भावना थी, किन्तु इसका मूल कारण जो भी रहा हो, उसकी उदारता का उसके शासन-प्रबन्ध पर घनिष्ठ प्रभाव था।"

महाराजा एक महान् राजनीतिज्ञ था। वह चतुराई से इस परिणाम पर पहुँचा कि अंग्रेजों के विरुद्ध किसी प्रकार प्रगति करना व्यवहार रूप में असम्भव था। अपने इसी विश्वास के परिणामस्वरूप उसने अंग्रेजों के साथ १८०९ में अमृतसर की सन्धि की। इतना ही नहीं, उसने अपने शासन-काल की लम्बी अवधि में अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करने में सदैव संकोच किया। उसने प्रयत्न किया कि अंग्रेजी सरकार से जितना भी अधिक प्राप्त हो सके, वह प्राप्त किया जाये, किन्तु उसने उनके साथ पारस्परिक सम्बन्धों को टूटने देने से सदैव बचाये रखा।

आलोचकों ने उसकी कुछ भूलों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। वह अफ़ीम, शराब तथा नाचने वाली लड़कियों का प्रेमी था। मोरान तथा गुलबेगम के सम्बन्ध में वह दुर्बलता का शिकार था। वह लोभी तथा सन्देहशील था। यह इस बात से सिद्ध है कि उसने किस प्रकार शाहशुजा से 'कोहनूर' प्राप्त किया।

अपनी सीमाओं तथा दुर्बलताओं के होते हुए भी वह अनेक प्रकार से एक महान् पुरुष था। वह जन्म से मनुष्यों का शासक था। ग्रिफ़िन के शब्दों में, "मनुष्य अन्तःप्रेरणा के कारण उसकी आज्ञा का पालन करते थे तथा इसलिए भी कि उनमें आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति नहीं थी। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भी सम्पूर्ण सिखों, अमीरों तथा ग्रन्थियों पर उसका जितना नियन्त्रण था, वह उसकी महत्ता का एक बड़ा प्रमाण था। वह महान् था, क्योंकि उसमें असाधारण परिमाण में वे गुण पाये जाते थे, जिनके बिना ऊँची से ऊँची सफलता भी प्राप्त नहीं की जा सकती। उसके चरित्र की विशेषता पर मध्यम वर्ग के नागरिकों के साधारण गुणों का अभाव न तो विशेष प्रभाव डाल सकता था तथा न ही इस से किसी प्रकार की हानि की ही सम्भावना की जा सकती थी।"

रणजीतसिंह का मूल्यांकन (Estimate of Ranjit Singh)—रणजीतसिंह एक महान् योद्धा तथा राजनीतिज्ञ था। सारे पंजाब, कश्मीर तथा पेशावर पर पूर्ण-रूप से अधिकार इस बात का प्रमाण है कि रणजीतसिंह मस्तिष्क तथा हृदय इन दोनों के गुणों से परिपूर्ण था। उसकी प्रतिभा ने उसे एक केन्द्रीय राज्य स्थापित करने में पूर्ण सहायता दी थी। यद्यपि वह महान् था तथापि वह अपने आपको खालसा पंथ का प्रथम सेवक कहा करता था। वह महाराजा के स्थान पर सदैव सरकार अथवा खालसा जी का शब्द प्रयोग में लाता था। उसने फौजी कप्तानों तथा प्रबन्धकों को इकट्ठा किया तथा उनकी सहायता से वह पंजाब को एक शक्तिशाली राज्य बनाने में सफल हुआ। उसके द्वारा

मुसलमानों तथा यूरोपियनों को नौकरी में लिया जाना इस बात को प्रमाणित करता है कि उसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक भावना नहीं थी। यद्यपि वह पूर्णरूप से अशिक्षित था, तथापि उसमें पर्याप्त व्यावहारिक बुद्धि थी। वह प्रत्येक बात में गहराई से सोचता था तथा दूरदर्शी था। इसीलिए वह पंजाब में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना में समर्थ हो सका।

कनिंघम के मतानुसार, "रणजीतसिंह ने पंजाब को नष्ट होते हुए राज्य संगठन के रूप में देखा, जो इसके मुखियों के विरोध का शिकार बना हुआ था, जिस पर अफ़गानों तथा मराठों का दबाव पड़ रहा था तथा जो अंग्रेजी प्रभुत्व को स्वीकार करने को तैयार था। उसने अनेक छोटे-छोटे राज्यों को संगठित करके एक राज्य का रूप दिया, उसने काबुल से उसके सबसे सुन्दर प्रान्त को बलपूर्वक ऐंठ लिया तथा उसने प्रबल अंग्रेजों को हस्तक्षेप का कोई अवसर न दिया। उसने अपने घुड़सवारों के समूह के रूप में फौज को पाया, जो निस्सन्देह वीर थी किन्तु युद्ध-कला से अनभिज्ञ थी। उसने उसे संगठित किया तथा अपने अनुशासन में लिया। परिणामस्वरूप पचास सहस्र अनुशासन में बँधे सैनिक संगठित हो गये, पचास सहस्र शस्त्र-सुसज्जित सैनिक स्वयंसेवक तथा देशरक्षक के रूप में तथा रण-क्षेत्र के लिए तीन सौ से अधिक तोपें तैयार हो गईं। उसका शासन लोगों की भावना पर निर्भर था, किन्तु साथ ही आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्रवाई तथा प्रादेशिक सीमा-विस्तार के सम्बन्ध में भी प्रयत्न चलते रहते थे। जब सिख उपनिवेश की सीमाएँ निश्चित हो गईं तथा जब उसकी नेतृत्व शक्ति तथा प्रतिभा क्षीण हो गई, तब उसकी जाति की महत्त्वपूर्ण भावना परस्पर कलहों में नष्ट होनी आरम्भ हो गई।"

(सिखों का इतिहास, पृ० २००)

सिखों की शक्ति के अन्तिम ह्रास के सम्बन्ध में रणजीत सिंह का उत्तरदायित्व (Ranjit Singh's Responsibility for ultimate decline of Sikh power)–डा० जी० एल० चोपड़ा के मतानुसार, "रणजीतसिंह को राज्य के अन्तिम नाश के लिए उत्तरदायी समझा जाता है। सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि उसने बहुत बड़ी भूल की कि डोगरा मुखियों को विस्तृत प्रभाव तथा प्रादेशिक शक्ति की प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित किया। इस विचार में काफी सचाई है। तथापि ऐसा नहीं समझना चाहिए कि महाराजा अपनी नीति के खतरों को नहीं जानता था। हम पहले ही यह देख चुके हैं कि उसने किस प्रकार अपने सरदारों की सम्पत्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। यहाँ तक कि उस पर अपने सेवकों की कृतघ्नता का भी कलंक लगा। ऐसी नीति पर निरन्तर चलने के कारण महाराजा को अधिकृत हितों को नष्ट करने में उल्लेखनीय बाधा का अनुभव हुआ, क्योंकि उन अधिकृत हितों का निर्माण भी उसी ने किया था। निस्सन्देह अत्याचारी राजा के लिए, जिसकी शक्ति का बहुत सा भाग अर्ध-जागीरदारी तथा नवाबी को रखने में निर्भर करता है, उनकी सम्पत्ति को कम करना यदि असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। इस प्रकार रणजीतसिंह पंजाब के लोगों के साथ एक जैसे राजनैतिक व्यवहार करने की नीति पर चलने में असफल रहा। इस असफलता का सबसे सुन्दर प्रमाण यह है कि उसने डोगरा परिवार को इतना विस्तृत तथा समीपवर्ती प्रदेश प्रदान किया।"

डा० चोपड़ा ने इस सम्बन्ध में यह विचार भी प्रकट किया कि महाराजा के शासन

का क्रूर तथा व्यक्तिगत चरित्र सिख शक्ति के स्थायी नाश के लिए भी उत्तरदायी है।" उनके अपने ही शब्दों में, "वह अपने विशाल व्यक्तित्व में राज्य के समान था। उसके सम्बन्ध में यह कहना इतिहास-प्रसिद्ध अन्य अत्याचारी राजाओं की अपेक्षा विशेष रूप से सत्य है। इस प्रकार उसकी मृत्यु से राज्य में केन्द्रीय शक्ति का शीघ्र ही बिखर जाना एक अवश्यम्भावी परिणाम था। उसका दरबार भी, जैसा कि गत अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है, विरोधी तत्वों तथा विरोधी हितों से भर चुका था। उनका सम्मिलित सहयोग तभी सम्भव था, जब वह स्वयं ऐसी नीति से कार्य करे। उसके मन्त्री भी अधिकतर पक्षपाती तथा अवसरवादी थे, उन्हें कभी भी व्यक्तिगत इच्छा से कार्य करने की अनुमति तथा अवसर ही प्रदान नहीं किया गया। उन्हें सदैव इसी बात की शिक्षा दी गई कि वे अपने कार्यों में अपने शासक की इच्छा को ही मूर्त्त रूप से व्यक्त करें अथवा कार्यान्वित करें। परिणामस्वरूप जब महाराजा की मृत्यु हुई तब प्रयत्न यही रहा कि वे सामूहिक लाभ के स्थान पर अधिक से अधिक व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करें। साथ ही किसी पूर्ण उत्तराधिकारी के अभाव में व्यक्तिगत सत्ता में चलते हुए राज्य के प्रत्येक प्रदेश अथवा रियासत में अनेक कमज़ोरियाँ प्रकट हुईं।"

उक्त दो महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करने के पश्चात् डा० चोपड़ा अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से होने वाले खतरे की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं तथा कहते हैं कि पंजाब का अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना अवश्यम्भावी था, क्योंकि कम्पनी सारे भारत को ही हस्तगत करने के लिए कृत-संकल्प थी। डा० चोपड़ा कहते हैं— "ऐसे सूक्ष्म तथा मौलिक कारण पंजाब की स्वतन्त्रता के विरुद्ध कार्यशील थे, जिनके विरुद्ध सिखों के शासक भी कुछ न कर सकते थे, चाहे वे अधिक राजनैतिक प्रतिभा का प्रदर्शन भी करते।"

१८३९ से १८४५ तक पंजाब की राजनीति (The Punjab Politics, 1839–1845)—१८३९ में महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् सारा-का सारा ढाँचा, जिसे उसने खड़ा किया था, टुकड़े-टुकड़े हो गया। सेना पूर्ण रूप से शक्तिशाली हो गई। वही राजाओं को गद्दी पर बैठाती थी तथा वही उनको गद्दी से उतारती थी। सर्वत्र गड़बड़ तथा अराजकता फैली हुई थी। डोगरों तथा सिन्धियावालों के पारस्परिक वैर-विरोध के कारण यह गड़बड़ और भी अधिक बढ़ गई। छः वर्षों तक देश में कानून तथा शान्ति का नाम न था।

महाराजा रणजीतसिंह के पश्चात् उनका सबसे बड़ा पुत्र खड्गसिंह गद्दी पर बैठा। ध्यानसिंह उसका मन्त्री बना। रणजीतसिंह के पुत्र शेरसिंह तथा उसके अपने पुत्र नौनिहाल सिंह ने उसका विरोध किया। खड्गसिंह का एक साथी चेतनसिंह कत्ल कर दिया गया। खड्गसिंह नवम्बर १८४० में मर गया। उसका पुत्र नौनिहाल सिंह भी लाहौर दुर्ग के एक द्वार के मार्ग के गिर जाने के कारण मारा गया। राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कुछ बाधा उपस्थित हुई। अन्त में यह निश्चय किया गया कि माई चांदकौर अपने होने वाले पुत्र नौनिहालसिंह के स्थान पर रीजेंट बन कर राज्य का कार्य सम्भाले। ध्यानसिंह को मंत्रीरूप में तथा शेरसिंह को वायसराय के रूप में कार्य करना था। शेरसिंह ने नई व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया तथा परिणामस्वरूप जनवरी १८४१ में

शक्ति को छीन कर उसने अपने आपको महाराजा घोषित कर दिया। शेरसिंह के राज्य-काल में ही अंग्रेज फौजों तथा दस्तों को पंजाब से होकर काबुल जाने की अनुमति दी गई। इस कारण वे प्रथम अफ़गान युद्ध में भाग ले सके। जून १८४२ में चांदकौर को कत्ल कर दिया गया। सितम्बर १८४३ में शेरसिंह को कत्ल किया गया। इसके पश्चात् ध्यानसिंह की बारी आई। इसे भी इसी प्रकार कत्ल कर दिया गया। ध्यानसिंह के पुत्र हीरासिंह ने अपने पिता की हत्या का बदला लेने का निश्चय किया। उसने अल्पवयस्क दलीपसिंह को राज्यगद्दी पर बिठाया तथा स्वयं मन्त्री बन गया। रानी जिन्दाँ, जो दलीपसिंह की माता थी, रीजेंट (सरंक्षक) बनी। पं० जल्ला हीरासिंह को राज्य-कार्य में सहायता देता था। ऐसा सन्देह किया जाता है कि पंजाब में फैली अराजकता में अंग्रेजों का हाथ था। दिसम्बर १८४४ में हीरासिंह को कत्ल कर दिया गया। इसके पश्चात् शक्ति जवाहरसिंह तथा लालसिंह के हाथों में आई, जो रानी जिन्दाँ का भाई था। सितम्बर १८४५ में जवाहरसिंह को गोली मार दी गई तथा लालसिंह मन्त्री बना। ११ दिसम्बर, १८४५ को सिख फौज ने सतलुज को पार किया तथा १३ दिसम्बर को अंग्रेजों ने युद्ध की घोषणा की।

प्रथम सिख युद्ध, १८४५-४६ (First Sikh War)—इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण खालसा फौज की समस्या थी, जो लालसिंह तथा रानी जिन्दाँ के सम्मुख प्रस्तुत थी। फौज नागरिक प्रशासन से स्वतन्त्र हो गई थी तथा छः वर्षों तक वही राजाओं को राजगद्दी पर बिठाने वाली थी। इसी फ़ौज ने रणजीतसिंह के समय में सम्पूर्ण पंजाब को जीता था, किन्तु रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् इसे नियन्त्रित करने वाला कोई नहीं था। यह ठीक ही कहा गया है कि अग्नि अच्छा सेवक है किन्तु निष्ठुर स्वामी है। इसी प्रकार जब खालसा फ़ौज को कोई भी नियन्त्रित नहीं कर सका, तब उसने उन सबकी हत्या करनी प्रारम्भ कर दी, जो कोई भी उनके मार्ग में आया। वैण्टुरा जैसे फ्रांसीसी जनरलों को भी निकाल दिया गया तथा फौज के अत्याचारों के सम्मुख देश असहाय था। बहुत से लोगों ने फ़ौज को उपहार आदि देकर अपने हाथ में कर लिया किन्तु इन परिस्थितियों में स्थायित्व स्थापित नहीं हुआ।

पंजाब के सम्मुख बड़ी समस्या खालसा फौज का नियन्त्रण करना था। रानी जिन्दाँ तथा लालसिंह इन दोनों ने अनुभव किया कि खालसा फौज को नियन्त्रित करने का एकमात्र उपाय यही था कि उसे अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने के लिए तत्पर किया जाए। यदि वह इस कार्य में सफल हो जाए तो उसे जीतने के लिए सारा भारत पड़ा है और इस प्रकार उसे व्यस्त रखा जा सकता था। यदि वह अंग्रेजों से पराजित हो जाए तब उसकी संख्या तथा शक्ति कम हो जाएगी। इस विचार से सिख फौज को सतलुज पार करने की आज्ञा दी गई।

इस बात का प्रयत्न किया गया कि खालसा फौज को यह बात समझाई जाए कि अंग्रेज पंजाब पर आक्रमण करने पर तुले हुए हैं। यह बताया गया कि सिन्ध के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के पश्चात् अब पंजाब की बारी है। अंग्रेज अपनी फौजों को सतलुज नदी पर इकट्ठा कर रहे थे। लुधियाना के फौजी केन्द्र में ३५,००० से अधिक फौज थी। इतनी ही फौज फिरोजपुर में थी। इसी प्रकार अम्बाला में भी बहुत सी फौजें इकट्ठी थीं। इस बात का विश्वास हो गया कि अंग्रेजों का एकमात्र उद्देश्य पंजाब पर आक्रमण करना

है। अंग्रेजों ने सतलुज को पार करने के लिए नौकाओं का एक पुल बना लिया था। उन्होंने सिन्ध में अपनी फौजों की संख्या बढ़ा दी। सिख नेता बर्निस, मैकनाटन तथा नेपियर जैसे लोगों की पंजाब को हस्तगत करने की योजनाओं को जानते थे। इन सब परिस्थितियों में ही दिसम्बर १८४५ में खालसा फौज ने सतलुज नदी को पार किया तथा प्रथम सिख युद्ध प्रारम्भ हो गया।

प्रथम सिख युद्ध की अत्यन्त प्रसिद्ध लड़ाइयाँ मुदकी, फिरोजशाह, अलीवाल तथा सबराँव की थीं। सिख मुदकी की लड़ाई में पराजित हो चुके थे। इस पराजय का एक कारण लालसिंह का विश्वासघात था, जिसने ठीक समय पर अपने अनुयायियों को छोड़ दिया। सिखों ने भी ७००० अंग्रेजी फौजियों को, जो सर जॉन लिटल के अधीन थे, और जो पूर्ण-रूप से उनकी दया पर निर्भर थे, नष्ट न करके भारी मूर्खता की।

फिरोजशाह की लड़ाई २१ दिसम्बर, १८४५ के दिन लड़ी गई। सिखों ने डटकर मुकाबला किया तथा अंग्रेजों की स्थिति वास्तव में गम्भीर थी। सर ह्यू गफ़ ने लिखा कि, "उस भयंकर रात्रि में हम अत्यन्त गम्भीर स्थिति में थे।" इस समय तेजासिंह के विश्वासघात ने अंग्रेजों को सहायता प्रदान की। वह युद्ध-भूमि में सिखों की फौजों को बिना नेता के छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

एक मास से अधिक समय तक कोई लड़ाई नहीं हुई। इसका एक कारण यह भी था कि खालसा सेना बिना सेनापति के थी तथा अंग्रेज भी इतने भयभीत हो गए थे कि किंकर्त्तव्यविमूढ़ की भाँति कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे थे। सिखों ने रणझोरसिंह को नेता के रूप में अपनाया। उसने २१ जनवरी, १८४६ के दिन सर हैनरी को बुद्धीवाल के स्थान पर पराजित किया। रणझोरसिंह ने न केवल शत्रुओं का पीछा करना छोड़ दिया अपितु बुद्धीवाल से भी चल पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि सर हैनरी स्मिथ ने पुनः उस स्थान पर अधिकार कर लिया। सिख अलीवाल की लड़ाई में पराजित हुए तथा रणझोरसिंह भाग गया।

इस समय गुलाबसिंह ने लाहौर में शक्ति प्राप्त कर ली तथा उसने अंग्रेज सरकार के साथ परामर्श करना आरम्भ कर दिया। वह अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर यह बातचीत कर रहा था। दोनों पक्षों में यह निश्चय हो गया कि अंग्रेज सिख फौज पर आक्रमण करें तथा जब वे पराजित हो जाएँ, तो उनकी अपनी सरकार उन्हें विघटित कर दे। सतलुज के मार्ग पर कोई रोक न लगाई जाए तथा विजेताओं के लिए राजधानी की ओर आनेवाली सड़कें खुली रखी जाएँ। अंग्रेजी सरकार के प्रति इस सेवा के उपलक्ष में गुलाबसिंह को कश्मीर दिए जाने का निश्चय हुआ। इन परिस्थितियों में सबराँव के स्थान पर युद्ध हुआ। लालसिंह ने भी इस युद्ध के तीन दिन पूर्व अंग्रेजों को सिखों की स्थिति की योजना का एक मानचित्र भेज दिया था। इस विश्वासघात तथा लज्जापूर्ण धोखे के वातावरण में सिख सैनिकों ने अंग्रेजों के विरुद्ध मोर्चा लिया। पहले आक्रमण के थोड़ी ही देर के पश्चात् तेजासिंह भाग गया तथा "दुर्घटनावश अथवा किसी योजना के अधीन पुल के बीच की एक नाव को डुबो दिया गया।" सिख बिना नेता के थे तथा उनके पराजित होने में किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं था। सबराँव की लड़ाई इस युद्ध की सबसे भयंकर लड़ाई कही जाती है। सिख सैनिकों के रुधिर से सारा स्थान लाल हो गया था। सबराँव के पश्चात्

अंग्रेज सेनाएँ लाहौर की ओर बढ़ीं तथा उन्होंने २० फरवरी, १८४६ के दिन लाहौर को घेर लिया। लाहौर की सन्धि पर मार्च १८४६ में हस्ताक्षर हुए।

लार्ड हार्डिंग ने पंजाब को अंग्रेजी राज्य में न मिलाने का निश्चय किया। इसके सम्बन्ध में चार कारण दिए गए हैं। ऐसा समझा गया कि अफगानिस्तान तथा ब्रिटिश भारत के मध्य में एक हिन्दू राज्य का होना कम्पनी के लिए लाभदायक होगा। अन्य कारण यह था कि पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिलाना इसलिए लाभदायक न होगा कि नये हस्तगत प्रान्त के लिए बहुत से धन की आवश्यकता होगी। एक अन्य कारण यह है कि लार्ड हार्डिंग को अंग्रेजों की शक्ति में इस बात का सन्देह था कि वे सम्पूर्ण देश को अधिकार में कर सकेंगे। एक अन्य कारण भी जो प्रस्तुत किया जाता है, वह यह है कि अंग्रेजों ने पंजाब को अंग्रेजी राज्य में इसलिए भी नहीं मिलाया कि वे रणजीतसिंह की स्मृति का आदर करते थे। वह कई दशाब्दियों तक इनका हितचिन्तक मित्र रहा था।

लालसिंह तथा गुलाबसिंह के प्रतिस्पर्द्धी दावों के कारण भी लार्ड हार्डिंग को कुछ सिर-दर्द रहा क्योंकि दोनों ने प्रथम सिख युद्ध को जीतने में अंग्रेजों को सहायता दी थी। दोनों लाहौर के उच्चाधिकारी होना चाहते थे। अन्त में दोनों को पुरस्कृत करने के लिए एक मार्ग ढूँढ़ निकाला गया। लालसिंह को महाराज दलीपसिंह के मुख्य मन्त्री के रूप में स्वीकार किया जाना था तथा गुलाबसिंह को दस लाख स्टर्लिंग मूल्य चुकाने पर जम्मू तथा कश्मीर रियासत मिल गई। ब्रिटिश सरकार ने इस मूल्य में एक चौथाई की और भी कमी कर दी।

लाहौर की सन्धि (Treaty of Lahore)—लाहौर की सन्धि के द्वारा अंग्रेजों को सिस-सतलुज रियासतें, दोआब, जालन्धर तथा हजारा के स्थान प्राप्त हो गए। सिखों को डेढ़ करोड़ रुपये क्षतिपूर्ति के रूप में देने पड़े। सिख सरकार अपने खजाने में से केवल आधा करोड़ रुपया ही दे सकी तथा शेष रुपये के लिए गुलाबसिंह को जम्मू और कश्मीर की रियासत बेच दी गई। सिख फौज में कमी कर दी गई तथा पैदल फौज के २५ दस्ते तथा १२,००० घुड़सवार रखे गए। सिखों से सब तोपें छीन ली गईं। सिख सरकार ने यह भी मान लिया कि वे किसी अंग्रेज अथवा यूरोप निवासी को ब्रिटिश सरकार की सम्मति के बिना नियुक्त नहीं करेंगे। पंजाब में अंग्रेजी फौजों को सीधे गुज़रने के लिए भी अनुमति दी जानी थी। महाराज दलीपसिंह को पंजाब के शासक के रूप में स्वीकार कर लिया गया। लाहौर में अंग्रेज सेना को रखा जाना था तथा वर्ष के अन्त में ही हटाया जाना था। हैनरी लारेंस को लाहौर में ब्रिटिश रैज़ीडैण्ट के रूप में नियुक्त किया गया।

लाहौर की सन्धि के पश्चात् पंजाब में कार्य सामान्य रूप से नहीं चला। लालसिंह तथा अन्य नेता जम्मू तथा कश्मीर गुलाबसिंह को देने के विरोधी थे तथा उन्हें उनका प्रदेश ब्रिटिश फौज के हस्तक्षेप के अनन्तर ही मिल सका। रानी जिन्दाँ तथा लालसिंह पर गड़बड़ करने का अभियोग लगाया गया। उनके व्यवहार के सम्बन्ध में जाँच की गई तथा उन्हें अपराधी पाया गया। लालसिंह को बनारस भेज दिया गया।

दिसम्बर १८४६ में "भैरोंवाल की सन्धि" नाम से एक अन्य सन्धि ब्रिटिश सरकार ने लाहौर दरबार के साथ की। इस सन्धि के द्वारा एक रीजैंसी कौंसिल में अंग्रेजों के पक्षपाती आठ सिख सरदार नियुक्त किए गए तथा इस कौंसिल को ब्रिटिश रैज़ीडैंट के

निरीक्षण तथा परामर्श में कार्य करना था। लाहौर में एक अंग्रेजी फौज का रखा जाना था तथा सिखों को २२ लाख रुपया प्रतिवर्ष अंग्रेज़ों को देना था। यह समझौता १८५४ तक चलना था, जब महाराज दलीपसिंह के वयस्क होने की आशा थी। इस सन्धि के द्वारा सिख पंजाब के एकमात्र स्वामी हो गए।

१८४७ तथा १८४८ में बहुत से सुधार पंजाब में किए गए जो सिख सरदारों के हितों के विपरीत थे। इससे उनका असन्तोष बढ़ गया। फौज से मुक्त किए हुए सैनिकों को भी स्वभावतः असन्तोष था क्योंकि उन्हें अपने वेतन तथा भत्तों से मुक्ति मिल चुकी थी। सिख अपनी पराजय से अत्यन्त क्रुद्ध थे। इसका विशेष कारण यह था कि उनकी पराजय का मुख्य कारण उनके नेताओं का विश्वासघात था। उन्हें ब्रिटिश एजेण्टों के कार्यों पर भी क्रोध था जो सीमा प्रदेशों में (कबीले वाले) कबायलियों के साथ बातचीत चला रहे थे। उन्होंने अज़ान, नमाज़ तथा गोहत्या के सम्बन्ध में मुसलमानों को दी हुई सुविधाओं को भी स्वीकार नहीं किया। रानी जिन्दाँ को अपने अधिकारों के छिन जाने का असन्तोष था तथा वह अपना बदला लेने के लिए कृत-संकल्प थी। उस पर षड्यन्त्र करने का अपराध लगाया गया तथा उसे चुनार भेज दिया दिया। सिखों ने उसके निष्कासन पर क्रोध प्रकट किया।

द्वितीय सिख युद्ध, १८४८-४९ (Second Sikh War)—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि पंजाब में फैलते हुए असन्तोष का परिणाम युद्ध के रूप में होना था। यह अलग बात है कि वह शीघ्र होता अथवा देर से, किन्तु मुलतान के गवर्नर मूलराज के षड्यन्त्र ने घटनाओं में शीघ्रता कर दी। वह १८४४ से मुलतान का गवर्नर था। इससे पूर्व उसका पिता सावनमल मुलतान का गवर्नर था। मूलराज को लाहौर के दरबार की ओर से उत्तराधिकार के रूप में एक करोड़ रुपए देने को कहा गया। उसने अपनी असमर्थता प्रकट की तथा उसे १८ लाख देने को कहा गया। प्रथम सिख युद्ध के हस्तक्षेप के कारण मूलराज रुपये देने के कार्य को स्थगित करने में समर्थ हो गया, किन्तु युद्ध के पश्चात् यह माँग पुनः प्रस्तुत की गई। माँग की गई राशि १९ लाख थी। वह राशि न चुका सका, इसलिए उसे बीस लाख रुपये देने तथा अपने प्रदेश के एक तिहाई भाग छोड़ने की आज्ञा दी। उसकी भेंट स्वरूप वार्षिक राशि को भी १२ लाख से १८ लाख कर दिया गया। लाहौर दरबार ने मुलतान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया। मूलराज ने त्याग-पत्र देने की अपनी इच्छा प्रकट की। इसकी यह शर्त प्रस्तुत की गई कि सारे मामले को गुप्त रखा जाएगा। उसके विरुद्ध कोई अभियोग न लगाए जाएँगे। उसे एक वर्ष का हिसाब प्रस्तुत करने को कहा जाएगा। ब्रिटिश रैज़ीडैण्ट ने इन शर्तों को मानने से इनकार कर दिया। उसने उसे बिना शर्त त्यागपत्र देने तथा दस वर्ष का हिसाब-किताब प्रस्तुत करने की आज्ञा दी। दस वर्षों के हिसाब की माँग मूर्खतापूर्ण थी क्योंकि वह चार वर्षों से अधिक समय के लिए मुलतान का गवर्नर नहीं रहा था। ब्रिटिश रैज़ीडैण्ट ने एण्डरसन तथा एग्न्यू को सरदार खानसिंह के साथ प्रशासन-व्यवस्था को संभालने को कहा। मूलराज ने उन्हें मुलतान का दुर्ग १९ अप्रैल, १८४८ के दिन सौंप दिया। मुलतान निवासी अंग्रेजों को देख भड़क उठे। २० अप्रैल के दिन क्रान्ति हो गई तथा दो अंग्रेज अफसरों की हत्या की गई।

ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही कार्रवाई कर सकती थी किन्तु उन्होंने महीनों प्रतीक्षा की तथा इस बीच में क्रान्ति सारे पंजाब में फैल गई। मुख्य सेनापति सर ह्यू गॉफ की सम्मति थी कि पंजाब की गर्मी उस समय बड़ी चढ़ाई के अनुकूल नहीं। यह निश्चय किया गया कि वर्षा के पश्चात् सर्दियों में ऐसी कार्रवाई की जाए।

१० अक्तूबर, १८४८ के दिन लार्ड डलहौज़ी ने इस प्रकार घोषणा की—"पूर्व-वादिता के बिना, किसी उदाहरण से अप्रभावित सिख जाति ने युद्ध की घोषणा कर दी है। मैं शपथ खाकर कहता हूं कि उनसे इसका पूरा प्रतिशोध लिया जायगा।" १६ नवम्बर के दिन गॉफ़ ने रावी नदी को पार किया तथा २२ नवम्बर को रामनगर की लड़ाई लड़ी गई। दिसम्बर १८४८ के दिन, मुलतान का आक्रमण आरम्भ कर दिया गया तथा जनवरी १८४६ में उसने घुटने टेक दिए। १३ जनवरी, १८४६ के दिन चिलियानवाला का युद्ध हुआ। इस युद्ध में हार-जीत का निर्णय न हो सका। फरवरी १८४६ में गुजरात की लड़ाई लड़ी गई, जिसे तोपों की लड़ाई कहा जाता है। सिख हार गए तथा १३ मार्च, १८४८ के दिन युद्ध समाप्त हो गया। २६ मार्च, १८४६ के दिन पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। महाराज दलीपसिंह को गद्दी से उतार दिया गया तथा उसे पैंशन दे दी गई। लार्ड डलहौज़ी ने इस प्रस्ताव को मानने से इनकार कर दिया कि राजगद्दी पर दलीपसिंह को बिठाकर पंजाब का प्रशासन-कार्य चलाया जाए। उसकी सम्मति में—"राजगद्दी का वैभव स्थिर रखने से, हमें सिखों में उनकी जातीयता की स्मृति जीवित रखने के लिए काफी प्रभुत्व छोड़ना चाहिए तथा निरन्तर कूटनीति से काम लेना चाहिए।" साथ ही "जब मैं विवशतापूर्वक अपनी अधिकार शक्ति से यह स्वीकार कर लेता हूं कि अपने राज्य के लिए यह ज़रूरी है कि सिख प्रजा को नियन्त्रण में रखा जाए, तब मैं केवल इसलिए आवश्यक पग उठाए बिना नहीं रह सकता कि जाति के प्रभावपूर्ण नियन्त्रण के कारण उनके शासक को गद्दी से उतरना पड़ेगा। अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण ध्यान रखते हुए मुझे न्याय के औचित्य का तथा अपने कार्य की आवश्यकता का पूर्ण विश्वास है। जो कुछ मैंने किया है मैंने अपनी आत्मा की स्पष्ट आवाज़ तथा इस न्यायपूर्ण विश्वास से किया है कि राज्य के प्रति मेरे कर्त्तव्य के कारण ऐसा होना आवश्यक था।"

लार्ड डलहौज़ी के द्वारा पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिलाए जाने के सम्बन्ध में बहुत से लेखकों ने उसकी निन्दा की है। ट्राटर के कथनानुसार, डलहौज़ी की नीति "किसी सिद्धान्त तथा न्याय पर आधारित नहीं थी।" जब दीवान मूलराज तथा छतरसिंह ने विद्रोह किया, तब ब्रिटिश सरकार का यह कर्त्तव्य था कि उन्हें दबाती। डलहौज़ी को ऐसा नहीं करना था कि वह महीनों तक प्रतीक्षा करके सिख-तत्त्वों को विद्रोह करने का अवसर देता। यह एक अनुचित योजना थी, "जिसे रैजीडैण्ट तथा गवर्नर-जनरल ने रीजैंसी कौंसिल की सम्मति के विरुद्ध जान-बूझकर कार्यान्वित किया।"

बैल के कथनानुसार, पंजाब का अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना "सशस्त्र विश्वास-घात था। डलहौज़ी ने सन्धियों का उल्लंघन किया, पवित्र विश्वास का दुरुपयोग किया। भारत की उत्तरी सीमाओं तक स्थायी तथा महत्त्वपूर्ण सुधार के बीज बोने के प्राप्त सबसे बड़े अवसर को व्यर्थ खो दिया तथा अन्यायपूर्ण और निर्लज्ज लाभ-प्राप्ति के लिए हमारी सीमा को कमज़ोर कर दिया। हमारी सैनिक शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया तथा

साम्राज्य पर एक भारी आर्थिक बोझ डाल दिया। मेरा विश्वास है कि हमारी संतति तथा इतिहास का यह निर्णय उन बातों के विषय में होगा, जिन पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं।"

यह कहा जा चुका है कि दिसम्बर १८४६ की भैंरोवाल की सन्धि के पश्चात् ब्रिटिश सरकार महाराज दलीपसिंह की अल्पवयस्कता की अवधि में, जो ब्रिटिश सरकार के संरक्षण में था, पंजाब के प्रशासन के लिए उत्तरदायी बन गई थी। गवर्नर-जनरल तथा लाहौर-स्थित अंग्रेज रैजीडैण्ट सर फ्रैडेरिक क्यूरी का यह कर्त्तव्य था कि वे दीवान मूलराज, छतरसिंह तथा शेरसिंह के विद्रोहों को दबाते। उन्हें इस सम्बन्ध में देर नहीं करनी चाहिए थी। यदि वे अपने कर्त्तव्य में असफल हुए, तो महाराज दलीपसिंह को दोष देने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसके हाथ में कुछ भी अधिकार न थे। खालसा फौज ने सिख युद्ध आरम्भ किया न कि लाहौर सरकार ने, तथा केवल खालसा फौज को ही पराजय के पश्चात् दण्ड दिया जाना चाहिए था। महाराज दलीपसिंह को गद्दी से उतारे जाने के लिए कुछ भी तो कारण नहीं था। वह निरपराध था।

कुछ अंग्रेज अफसर भी पंजाब के अंग्रेजी राज्य में मिलाए जाने के विरोधी थे। सर हैनरी लारैन्स उनमें से एक था। तथापि वह लार्ड डलहौज़ी को समझाने में असफल रहा। मेजर एडवर्ड्स भी पंजाब के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के सम्बन्ध में विरोधी विचार रखता था। उसके ही शब्दों में, "उस समय यह मेरा अपना विश्वास था कि यदि मुलतान-विद्रोह को शीघ्र ही दबा दिया जाता, तो सिखों का राज्य-विद्रोह, जो इसके कारण हुआ, कभी भी न हुआ होता। यह एक ऐसा विश्वास था (जैसा कि मुझे स्मरण है), जिससे पंजाब का प्रत्येक राजनैतिक अफसर सहमत था तथा मैं तो अब तक यही विचार करता हूँ।" पुनश्च, "सरदारों के प्रति आदर भावना होते हुए भी मेरा यह विश्वास है कि वे हृदय से तथा आत्मा से हमारे ही पक्ष में हैं।"

हम अपने कथन को यह कहते हुए समाप्त करते हैं कि पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने की डलहौज़ी की नीति औचित्य तथा आवश्यकता के कारण थी। बैल के कथनानुसार, "मैं कोई भौतिक अथवा नैतिक लाभ नहीं देखता, जो किसी व्यक्ति अथवा समूह ने पंजाब के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के परिणामस्वरूप प्राप्त किया हो, जो इसके बिना पूर्ण रूप से तथा अच्छी प्रकार से प्राप्त न किया जा सकता हो।"

मार्च १८४९ में पंजाब के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के पश्चात् प्रान्त की शासन-व्यवस्था का कार्य तीन सदस्यों के बोर्ड के नियन्त्रण के आधीन कर दिया गया। लार्ड डलहौज़ी को स्वयं बोर्ड के द्वारा इसका पूर्ण नियन्त्रण करना था। कुछ देर के पश्चात् बोर्ड तोड़ दिया गया। हैनरी लारैंस को गवर्नर-जनरल के एजेन्ट के रूप में राजपूताना जाना पड़ा। जान लारैंस को पंजाब का मुख्य आयुक्त नियुक्त किया गया। पंजाब को चार डिवीज़नों में विभक्त किया गया। इसका प्रत्येक डिवीज़न कमिश्नर के आधीन कर दिया गया। इन डिवीज़नों को पुनः छोटे भागों में बाँट दिया गया। उन्हें डिप्टी कमिश्नरों के नियन्त्रण में कर दिया गया। यह तहसीलदारों तथा नायब तहसीलदारों को अपने नियन्त्रण में रखता था। सिख फौज को पूर्ण रूप से तोड़ दिया गया। पंजाब के लोगों से हथियार ले लिये गए। सिख सरदारों की जागीरें ज़ब्त कर ली गईं। एक शक्तिशाली

पुलिस शक्ति का संगठन किया गया। उसे अंग्रेज अफसरों के निरीक्षण में रखा गया। गाँवों के चौकीदार नियुक्त किए गये। जमींदारों को शान्ति तथा कानून की रक्षा के लिए अपने-अपने इलाके में पुलिस के अधिकार दिये गये। कबीलों में से सीमान्त फौज संगठित की गई। न्याय-विभाग को भी न्याय-विभाग के कमिश्नर के आधीन रखा गया। उसके आधीन कमिश्नर, डिप्टी कमिश्नर, तहसीलदार आदि थे। विधि संहिता तैयार की गई, जिससे लोगों को शीघ्र और साधारण न्याय प्राप्त हो सके। सड़कें, पुल तथा नहरें बनवाई गईं। खेती में सुधार हुआ। भूमि के सुधार के लिए लोगों को ऋण दिए गये।

इन सब सुधारों का परिणाम यह हुआ कि अल्पकाल में ही पंजाब में न्याय और शान्ति की स्थापना हो गई। जनता सन्तुष्ट हो गई। उनके सन्तोष की मात्रा इतनी अधिक थी कि आठ वर्षों के पश्चात् १८५७ में क्रान्ति हुई तो सिख इसमें सम्मिलित न हुए। इसके विपरीत सिख सिपाही षड्यन्त्र को दबाने के लिए दिल्ली गये।

Questions for Revision

1. Describe the career of Ranjit Singh and examine his relations with the English, the Afghans and the Amirs of Sind.
2. Describe the Sikh policy of pre-Ranjit Singh period. What changes were introduced by Ranjit Singh ? Point out the most outstanding features of Ranjit Singh's policy.
3. Discuss the rise and fall of the Sikh power in the Punjab. How do you account for the staunch loyalty of the Sikhs to the British Government during the Revolt of 1857 ?
4. Sketch briefly the career and policy of Ranjit Singh and give a critical account of his administrative methods.
5. Discuss carefully Maharaja Ranjit Singh's relation with the British with special reference to the treaty of Amritsar and the Tripartite Alliance.
6. What do you know of Maratha Military system ? How do you compare it with Sikh Military under Ranjit Singh ?
7. Account for the anarchy after the death of Ranjit Singh. How far was that anarchy responsible for the intervention in the Punjab ?
8. Account for the rapid decline of the Sikh power after the death of Ranjit Singh.
9. Analyse British Policy towards the Punjab during 1839-49.
10. Review the character and achievements of Ranjit Singh and trace the course of events leading to first Sikh War.
11. Write a critical note on the sale of Kashmir and Raja Gulab Singh.

अध्याय १३

लार्ड डलहौज़ी (१८४८-५६)

(Lord Dalhousie)

लार्ड डलहौज़ी का जन्म १८१२ में हुआ था। ३६ वर्ष की आयु में वह गवर्नर-जनरल के रूप में भारत आया। १८३७ में वह पार्लियामेंट में प्रविष्ट हुआ। पील के मन्त्रिमण्डल में व्यापार के बोर्ड का प्रधान कार्यकर्ता रहा था। वह एक महान् साम्राज्यवादी था तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को बढ़ाने के लिए उसने यथाशक्ति कार्य किया। उसे यथार्थ रूप से ही इस देश में ब्रिटिश साम्राज्य का संस्थापक कहा जाता है। निस्सन्देह वह भारत के सबसे बड़े गवर्नर-जनरलों में से एक था। न ही महत्त्वाकाँक्षा में तथा न ही परिश्रम में उसे किसी के द्वारा पराजित किया जा सकता है। उसके कार्य-काल के आठ वर्ष प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण घटनाओं से पूर्ण हैं।

वह देशी राज्यों को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाने के पक्ष में था। उसने प्रशासनीय एकता तथा कोष स्रोतों को केन्द्रित करने तथा बढ़ाने के लिए कई क्षेत्रों को अंग्रेजी राज्य में मिलाया। उसके अपने ही शब्दों में, "मुझसे बढ़कर कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो हमारे क्षेत्रों की वृद्धि के लिए ऐसी कार्रवाई करने के लिए अनिच्छुक हो जब तक कि यह हमारी अपनी सुरक्षा की दृष्टि से अथवा अपने प्रान्तों की शान्ति को स्थिर रखने के लिए नितान्त आवश्यक न हो। किन्तु, मैं किसी भी व्यक्ति के लिए ऐसा सम्भव नहीं समझता कि वह ऐसी नीति से मतभेद रखता हो, जिसके अनुसार प्रत्येक अवसर से लाभ उठाया जाए, जिससे उन इलाकों को एक स्थान पर केन्द्रित किया जाये और उसके लिए उन राज्यों पर अधिकार कर लिया जाय, जो पहले से ही हमारे हैं। किन्तु हमारे अधिकार न करने से वे बीच में व्यपगत हो जाएँगे क्योंकि इस प्रकार से उन छोटी हस्तक्षेपपूर्ण वैधानिकताओं से बचा जा सकता है, जो क्रोध का कारण बन सकती हों, किन्तु जो कभी भी शक्ति का स्रोत न बन सकें। यह सब कुछ सार्वजनिक कोष के साधनों की वृद्धि के लिए है। उन राज्यों के लिए अपनी सरकार की पद्धति का विस्तार करना है, जिनके सम्बन्ध में हमारा हार्दिक विश्वास है कि उनके हित इस प्रकार से सुरक्षित रहेंगे।"

डलहौज़ी की सफलताएँ (१)—पंजाब (१८४९) (Conquests of Dalhousie—Punjab)—प्रथम सिख युद्ध हार्डिंग के समय में हुआ था। द्वितीय सिख युद्ध लार्ड डलहौज़ी के समय में हुआ। इसका वास्तविक कारण यह था कि यद्यपि सिख प्रथम सिख युद्ध में पराजित हो गये थे, तथापि उनकी शक्ति नहीं कुचली गई थी। वे अपनी पहली पराजय का बदला लेने के लिए दृढ़-संकल्प थे।

मुलतान के गवर्नर मूलराज ने विद्रोह कर दिया तथा उन अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी जिन्हें वहाँ भेजा गया था। कई कारणों से लार्ड डलहौज़ी ने शीघ्र ही हस्तक्षेप न किया। वह चाहता था कि लाहौर दरबार कार्रवाई करे। इसके साथ ही उसने वर्षा ऋतु के पश्चात् कार्रवाई करना अच्छा समझा। द्वितीय सिख युद्ध की दो प्रसिद्ध लड़ाइयाँ

चिलियानवाला तथा गुजरात की थीं। पहली लड़ाई में तो दोनों पक्ष बराबर रहे थे किन्तु दूसरी लड़ाई निर्णयात्मक थी। सिख पूर्ण रूप से पराजित हो गये तथा उन्होंने अपने हथियार डाल दिए। पंजाब १८४९ में अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। सिख महाराजा दलीपसिंह को पैन्शन दे दी गई। पंजाब को तीन कमिश्नरों के बोर्ड के नियन्त्रण में कर दिया गया। बाद में बोर्ड तोड़ दिया गया तथा सर जान लारेंस को मुख्य आयुक्त नियुक्त कर दिया गया। वही प्रान्त की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी था।

द्वितीय बर्मा युद्ध, १८५२ (Second Burmese War)--द्वितीय बर्मा युद्ध का वास्तविक कारण यह था कि लार्ड डलहौज़ी इस सम्बन्ध में दृढ़-संकल्प था कि बर्मा से सब यूरोपीय शक्तियों को अलग कर दिया जाए। वह इस विचार को सहन नहीं कर सकता था कि फ्रांस अथवा कोई अन्य देश बर्मा के किसी भाग पर अधिकर करे। तथापि उसे बर्मा के कार्यों में हस्तक्षेप करने का बहाना मिल गया।

यान्दबू की सन्धि के अनुसार अंग्रेज व्यापारियों को बर्मा में रहने तथा व्यापार करने की आज्ञा थी। क्योंकि उनके व्यापारिक अधिकारों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी निर्देश नहीं था, इसलिए प्रत्येक दल अपने-अपने ढंग से उनके कार्यों में हस्तक्षेप करता था। अंग्रेज व्यापारियों की अपनी शिकायतें थीं, किन्तु तो भी वे अपने व्यापार-कार्य में प्रवृत्त थे, क्योंकि उन्हें व्यापार में बहुत लाभ होता था।

डलहौज़ी के साम्राज्यवादी ढंग ने अंग्रेज व्यापारियों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वे अपनी शिकायतों के सम्बन्ध में उससे अपील करें। उन्होंने उसे एक लम्बा प्रार्थना-पत्र भेजा, जिसमें उन्होंने उन सब अनुचित व्यवहारों की चर्चा की जिन्हें उन्हें सहन करना पड़ा। डलहौज़ी ने इस प्रार्थना-पत्र का स्वागत किया। उसने घोषणा की कि यान्दबू की सन्धि को तोड़ा गया है। बर्मा की सरकार को अंग्रेज व्यापारियों के साथ किए गये अनुचित व्यवहारों के सम्बन्ध में हुई हानि का हर्जाना देना चाहिए। कमाण्डर लैम्बर्ट को इस कार्य के लिए रंगून भेजा गया। लैम्बर्ट के व्यवहार के कारण बर्मा सरकार भारत सरकार की माँगों के सम्बन्ध में संतोषजनक कार्रवाई न कर सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि परस्पर तोपों का गर्जन हुआ। इस तरह द्वितीय बर्मा युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध की घोषणा से पूर्व ही जनरल गाडविन के आधीन एक ब्रिटिश फौज भेजी गई। मर्तबान ले लिया गया। रंगून तथा बसीन भी अंग्रेजों के हाथों में पड़ गये। बाद में परोम पर भी अधिकार कर लिया गया। इस प्रकार अंग्रेज सम्पूर्ण निचले बर्मा पर अपना अधिकार करने में सफल हो गये। बातचीत आरम्भ की गई, किन्तु किसी भी सन्धि पर हस्ताक्षर न हो सके। लार्ड डलहौज़ी ने १८५२ में प्रकाशित एक घोषणा के अनुसार पेगू को अंग्रेजी राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी। आर्नल्ड के शब्दों में, "द्वितीय बर्मा युद्ध न तो अपने मूल में न्यायपूर्ण था तथा न ही व्यवहार की दृष्टि से अथवा विस्तार में ही उसकी आगे की कार्रवाई ही उचित थी।" डलहौज़ी का यह विचार था कि पेगू के अंग्रेजी राज्य में मिलाए जाने की माँग "ऐसी ज़रूरत थी, जिसे सामान्य नीति के गम्भीर विचारों के अनुसार टाला नहीं जा सकता था।" तथा "यद्यपि यह विजय एक बुराई हो सकती है, किन्तु बिना शान्ति यह पूर्णरूप से बुराई भी नहीं।" डलहौज़ी के शब्दों में ही पुनः यह दोहराना होगा "यदि मैं विजय का ही विचार कर लूँ,

तो भी यह एक अच्छाई नहीं है किन्तु पूर्णरूप से यह हमारे सम्मुख छोटी से छोटी बुराइयों में से ऐसी बुराई है, जिनमें से हमें अवश्य एक चुननी ही होगी।"

व्यपगत का सिद्धान्त (Doctrine of Lapse)—डलहौज़ी का नाम व्यपगत के सिद्धान्त को कई मामलों में लागू करने के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रसिद्ध है। तथापि यह कहना मिथ्या है कि वह इस सिद्धान्त का संस्थापक था। कम्पनी के डायरैक्टर १८३४ में घोषणा कर चुके थे कि किसी राज्य के स्वाभाविक उत्तराधिकारी की मृत्यु के पश्चात् किसी राज्य को गोद लेने के सम्बन्ध में अनुमति देना "नियम न समझकर अपवाद ही समझा जाना चाहिए। इसलिए ऐसी अनुमति का देना केवल कृपा भाव के रूप में ही समझना चाहिए।" १८४१ में यह घोषणा की गई कि "इस प्रकार का पूर्ण प्रयत्न किया जाए, जिससे किसी राज्य अथवा राजस्व को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के सम्बन्ध में आदरपूर्वक समझौता हो जाए।" डलहौज़ी ने केवल यह कार्य किया कि उसने यथासम्भव इस सिद्धान्त को तथा शक्ति को अधिक से अधिक मामलों में लागू किया। इस सिद्धान्त का मूलभूत आधार यह था कि क्योंकि अंग्रेजी कम्पनी भारत में सबसे बड़ी शक्ति है, इसलिए आधीन रियासतों अथवा राज्य को उसकी स्वीकृति के बिना किसी को गोद लेने का अधिकार नहीं तथा कम्पनी को इस बात का पूर्ण अधिकार है कि वह जब चाहे, इस प्रकार की स्वीकृति को लौटा ले।

ऐसा कहा गया है कि डलहौज़ी ने केवल आधीन रियासतों के सम्बन्ध में ही इस व्यपगत सिद्धान्त को लागू किया। किन्तु स्वतन्त्र, मित्र, निर्भर तथा आधीन राज्यों में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखा गया। हो सकता है कि ऐसा जान-बूझ कर किया गया हो। इसका परिणाम यह हुआ कि किसी भी राज्य को अंग्रेजी राज्य में यह कह कर मिलाया जा सकता था कि वह राज्य आश्रित राज्य है, यद्यपि इस बात को प्रमाणित करने का कोई भी कारण नहीं होता था। यह बात सर्वविदित है कि डलहौज़ी ने करौली को इस कारण अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर दिया कि वह आधीन राज्य है। डायरैक्टरों ने इस बात को इस कारण स्वीकार नहीं किया कि वह सुरक्षा प्राप्त मित्र राज्य है तथा आधीन राज्य नहीं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, यदि सर जान स्ट्रैची इस परिणाम पर पहुँचा हो कि आधीन रियासत तथा सहयोगी रियासत में भेद अस्पष्ट हो।

लार्ड डलहौज़ी ने इस सम्बन्ध में यह लिखा, "मैं इस अवसर पर यह अपनी दृढ़ सम्मति देना चाहता हूँ कि बुद्धिमत्तापूर्ण तथा गम्भीर नीति के अनुसार ब्रिटिश सरकार इस बात के लिए बाध्य है कि वह इस सिद्धान्त के अनुसार अवसर प्राप्त होने पर किसी प्रदेश अथवा राजस्व को लेने का अवसर नहीं खोएगी। आधीन रियासतों के व्यपगत से, स्वाभाविक उत्तराधिकारी के मर जाने पर तथा अन्य प्रकार के उत्तराधिकारियों की असफलता के कारण, जबकि हिन्दू कानून के अनुसार उनके गोद लेने की प्रथा सरकार की स्वीकृति से होनी चाहिए, ऐसे अवसर आ सकते हैं।" लार्ड डलहौज़ी ने १८४८ में सतारा, १८४९ में जैतपुर तथा सम्बलपुर, १८५० में बघाट, १८५२ में उदयपुर, १८५३ में झांसी तथा १८५४ में नागपुर आदि के सम्बन्ध में व्यपगत का सिद्धान्त लागू किया।

१८४८ में सतारा के शासक की मृत्यु हो गई तथा उसका कोई स्वाभाविक पुत्र न था। मृत्यु से पूर्व उसने एक बालक को पुत्र के रूप में गोद लिया। डलहौजी ने उसके

पुत्र गोद लेने को अनुचित घोषित कर दिया, क्योंकि इस सम्बन्ध में स्वीकृति नहीं ली गई थी। कम्पनी के डायरैक्टरों ने घोषणा की कि "भारत के सामान्य कानून तथा प्रथा के अनुसार सतारा जैसी आधीन रियासतों के शासक को कम्पनी की स्वीकृति के बिना किसी बच्चे को गोद लेने का अधिकार नहीं है। हम इस बात के लिये वचनबद्ध अथवा बाध्य भी नहीं कि हम ऐसी स्वीकृति अवश्य दें अगर उस स्वीकृति के रोकने से हमारे हितों की अधिक सुरक्षा होती है।" आर्नल्ड के अनुसार, सतारा को अंग्रेजी राज्य में मिलाना "एक ऐसा पुरस्कार था जिससे धन की प्राप्ति तो हुई, किन्तु वह कानून की दृष्टि से न्याय-संगत नहीं था।" ऐसा समझना मिथ्या है कि सतारा की रियासत अंग्रेजों की सृष्टि थी। अंग्रेजी कम्पनी ने १८१९ में सतारा के साथ सन्धि की थी, जिससे मराठों को शान्त किया जा सके। यह सन्धि दोनों शक्तियों के मध्य समता के आधार पर की गई थी। किसी प्रकार की बहानेबाज़ी डलहौजी के कार्य के औचित्य को सिद्ध नहीं करती।

नागपुर के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि यहाँ का राजा १८५३ में मर गया। अपनी मृत्यु से पूर्व उसने किसी बालक को पुत्र के रूप में गोद नहीं लिया। तथापि उसने अपनी पत्नी से पुत्र गोद लेने को कह दिया था। हिन्दू कानून के अनुसार इस प्रकार गोद लेना पूर्ण रूप से उचित है। रानी ने यशवन्तराव को गोद लिया। यशवन्तराव को नागपुर के राजा का गोद लिया हुआ पुत्र स्वीकार करने के स्थान पर ब्रिटिश रैज़ीडैण्ट ने इलाके पर अधिकार कर लिया। ऐसा घोषित किया गया कि कानूनन उत्तराधिकारी के न होने के कारण रियासत को अंग्रेजी कम्पनी में सम्मिलित कर लिया गया है। डलहौजी के अनुसार, "नागपुर का मामला पूर्ण रूप से पूर्ववादिता रहित है। हमारे सम्मुख अपूर्ण अथवा अनियमित गोद लेने का कोई प्रश्न नहीं। राजा मर गया है तथा उसने जान बूझकर किसी उत्तराधिकारी को गोद नहीं लिया। उसकी विधवा ने भी किसी उत्तराधिकारी को गोद नहीं लिया। १८१८ में ब्रिटिश सरकार के द्वारा जो अधिकार नागपुर रियासत के सम्बन्ध में उसके शासक तथा उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त हुए थे, वे बिना किसी उत्तराधिकारी को गोद लिये तथा राजा की मृत्यु के कारण पुनः ब्रिटिश सरकार को प्राप्त हो गये। न्याय, प्रथा तथा पूर्व-परम्परा सरकार के लिए पूर्ण रूप से बन्धन-रहित ऐसे साधन हैं जिनके कारण वह जैसा चाहे, वैसे निर्णय कर सकती है। एकमात्र नीति ही समस्या का निर्णय कर सकती है।" आर्नल्ड के अनुसार, "वह वास्तविक कानून जिसके द्वारा नागपुर को ब्रिटिश उपनिवेश में सम्मिलित किया गया, पुराना था, किन्तु उस कारण से अधिक आदर के योग्य नहीं था, परन्तु वह कानून सबसे शक्तिशालियों का था।"

झाँसी के सम्बन्ध में यह कहना चाहिए कि पेशवा ने इसे अंग्रेजों को १८१७ में दिया था। उसी वर्ष लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ ने राव रामचन्द्र को झाँसी की राज्यगद्दी पर बिठाया तथा एक सन्धि के द्वारा उसे उत्तराधिकार का अधिकार प्रदान किया। राव रामचन्द्र १८३५ में मर गया। उसके द्वारा गोद लिये गए पुत्र को स्वीकृत नहीं किया गया तथा रघुनाथराव को राज्यगद्दी पर बिठाया गया।

१८३८ में उसकी मृत्यु हो गई तथा उसके स्थान पर गंगाधरराव राज्यगद्दी पर बैठा। वह भी १८५३ में बिना किसी सन्तान को पीछे छोड़े मर गया। अपनी मृत्यु के पूर्व उसने आनन्दराव को पुत्र के रूप में गोद लिया तथा अंग्रेजी कम्पनी से उसे स्वीकार करने

को कहा। डलहौज़ी ने उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया तथा उसने उसके राज्य को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। रानी लक्ष्मीबाई ने विद्रोह के समय अपना बदला ले लिया।

बरार का अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना, १८५३ (Annexation of Berar)– डलहौज़ी ने १८५३ में बरार को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। इसका कारण यह था कि निज़ाम ने अंग्रेजी कम्पनी को बहुत सा रुपया फौज आदि के व्यय के सम्बन्ध में देना था। निज़ाम के रुपया न चुकाने के कारण यह राशि बढ़ते-बढ़ते ७,८०,००० पौण्ड हो गई। निज़ाम से एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार उसने फौज रखने के लिए तथा अपने ऋण चुकाने के उपलक्ष में अंग्रेजों को बरार दे दिया।

अंग्रेजों तथा अवध के सम्बन्ध, १७६५-१८५६ (Anglo-Oudh Relations)–– इससे पूर्व कि लार्ड डलहौज़ी के द्वारा अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाए जाने के सम्बन्ध में उल्लेख किया जाए यह उचित प्रतीत होता है कि हम अवध के शासक के अंग्रेजी कम्पनी के साथ १७६५ से १८५६ तक के पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख करें। यह बात पहले ही बताई जा चुकी है कि अवध का नवाब वज़ीर १७६५ में बक्सर के युद्ध में पराजित हुआ तथा शाहआलम के साथ बन्दी बना लिया गया। ब्रिटिश फौजें लखनऊ में प्रविष्ट हो गईं। सम्पूर्ण अवध अंग्रेजी फौजों की दया पर निर्भर था। इसके होते हुए भी लार्ड क्लाइव ने अवध के नवाब को उसके जीते हुए प्रदेश लौटा दिये। उसे केवल कोरा तथा इलाहाबाद के प्रदेश छोड़ने पड़े। ये ज़िले शाहआलम को अपने सम्मान की रक्षा के लिये दे दिये गए। लार्ड क्लाइव ने अवध के प्रति एक बफर रियासत की नीति का अनुसरण किया।

१७७३ में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने मुगल सम्राट् से कोरा तथा इलाहाबाद वापिस ले लिये, क्योंकि वह मराठों से जा मिला था। ये दोनों ज़िले अवध के नवाब को ५० लाख में बेच दिए गये। अवध के नवाब को रुहेलों के युद्ध में अंग्रेजी सहायता प्राप्त हुई तथा उसने रुहेलखण्ड को अपने राज्य में मिला लिया। जनवरी १७७५ में कौंसिल में हेस्टिंग्ज़-विरोधी बहुमत ने अवध के नये नवाब पर एक नई सन्धि थोपी। नवाब को बनारस पर अपने अधिकार को छोड़ने के लिए विवश किया गया। उसे इस बात के लिए भी विवश किया गया कि वह ब्रिटिश फौजों के लिए दी जाने वाली राशि में वृद्धि करे। यह बात सर्वविदित है कि वारेन हेस्टिंग्ज अवध की बेगमों के साथ किए जाने वाले दुर्व्यवहार का कारण भी था। उसकी उचित रूप से ही इस सम्बन्ध में निन्दा की गई। उसका व्यवहार पूर्ण रूप से अनुचित अथवा निन्दापूर्ण था।

कार्नवालिस के समय में नवाब ने अंग्रेजी कम्पनी से प्रार्थना की कि उसे अवध में अंग्रेजी फौजों के व्यय से मुक्त किया जाए। उस समय अवध में दो ब्रिगेड थे। एक कानपुर में स्थायी ब्रिगेड था तथा दूसरा अस्थायी ब्रिगेड था, जिसे फतहगढ़ में रखा गया था। नवाब ने १७८१ तथा १७८४ में एक बार पुनः अस्थायी ब्रिगेड के हटाए जाने के लिए प्रार्थना की। यद्यपि कार्नवालिस ने नवाब की प्रार्थना को पूर्ण रूप से स्वीकार न किया, तथापि उसने सहायता की राशि को घटा कर ५० लाख रुपया वार्षिक कर दिया।

१७९७ में सर जान शोर ने अवध के एक विवादास्पद उत्तराधिकार के मामले में हस्तक्षेप किया। उसने सआदतअली को राज्यगद्दी पर बिठाया तथा उसके साथ एक

नया समझौता किया। नई सन्धि के अनुसार अंग्रेजी कम्पनी ने अवध की रक्षा का भार ७६ लाख वार्षिक भेंट के उपलक्ष में स्वीकार कर लिया। इलाहाबाद का दुर्ग अंग्रेजी कम्पनी को दे दिया गया। यह भी निश्चय किया गया कि भेंट की जाने वाली राशि में आवश्यकता को छोड़कर कोई वृद्धि नहीं की जायगी। गवर्नर-जनरल को इस बात का अधिकार दिया गया कि आवश्यकता पड़ने पर वह फौज की संख्या में वृद्धि कर सकेगा।

जब लार्ड वैल्ज़ली गवर्नर-जनरल के रूप में आया, तब अवध की अवस्था दुर्दशापूर्ण थी। इसका प्रशासन अयोग्यता, रिश्वत तथा दमन का समानवाची शब्द था। समस्या उलझी हुई थी। जहाँ अयोग्यता तथा रिश्वत के सम्बन्ध में कार्रवाई करने की आवश्यकता थी, वहाँ नवाब की अंग्रेजों के प्रति भक्ति-भावना अंग्रेजों को प्रभावपूर्ण हस्तक्षेप करने से रोकती थी। इसके साथ ही नवाब भेंट की राशि की किश्तों को नियमित रूप से तथा ठीक समय पर चुका देता था। यद्यपि नवाब के द्वारा पहले ही दी गई राशि उसकी शक्ति से अधिक थी, किन्तु लार्ड डलहौज़ी ने अवध में अंग्रेजी फौजों में तथा दी जाने वाली भेंट की राशि में भी वृद्धि की माँग की।

लार्ड वैल्ज़ली ने नवाब से और अधिक माँग की। पहले तो नवाब मान गया, किन्तु फिर उसने अपनी स्वीकृति वापिस ले ली। उसने इस शर्त पर राज्य छोड़ने की भी स्वीकृति दे दी कि उसका पुत्र उसके स्थान पर राज्यगद्दी पर बैठे। ब्रिटिश सरकार ने इस शर्त को स्वीकार न किया। ब्रिटिश फौजों को अवध में प्रविष्ट होने की आज्ञा दी गई तथा नवाब को आज्ञा दी गई कि वह उनके वेतन देने के लिये रुपये की व्यवस्था करे।

वैल्ज़ली की वास्तविक इच्छा यह थी कि वह राजस्व की राशि के स्थान पर अपना प्रदेश प्रदान कर दे। परिणामस्वरूप नवाब के सम्मुख पूर्णरूप से नई माँगें प्रस्तुत थीं। उसको या तो अपने प्रायः सभी उपनिवेशों को अंग्रेजों के अर्पण करना था तथा नाममात्र के लिए अपना अधिकार रखना था अथवा जो राशि उससे माँगी गई थी, उसके अनुसार उसे उतनी भूमि देने को तत्पर होना था जिसका राजस्व माँगी गई राशि के समान था। व्यवहार रूप में नवाब के आधे उपनिवेश वैल्ज़ली ने अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिये। नवम्बर १८०१ में सन्धि पर हस्ताक्षर हुए तथा जो प्रदेश दिये गये वे रुहेलखण्ड तथा द्वाब का निचला प्रदेश था।

लार्ड वैल्ज़ली की नीति का यह परिणाम हुआ कि अंग्रेजों ने अवध का प्रायः सारा प्रदेश केवल उत्तरी भाग को छोड़कर ले लिया। अवध को बफर राज्य बनाए रखने की नीति छोड़ दी गई। जो प्रदेश नवाब के पास शेष था, उसके सम्बन्ध में भी उसे कहा गया कि जो कुछ भी वह करे कम्पनी के प्रतिनिधि की इच्छानुसार करे। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जो प्रदेश अंग्रेजी राज्य में मिलाये गये, वे शक्ति के बल पर तथा विवशतापूर्वक नवाब से छीने गये। अवध में अधिक फौजों को रखना पहले की तथा मौजूदा सन्धियों के प्रतिकूल था।

ऐसा कहा गया है कि अवध पर अधिकार किया जाना वैल्ज़ली के स्वेच्छाचारी कार्यों में सबसे अधिक अत्याचारपूर्ण कार्य था। वह कठिनता से मित्रों के सम्मुख इस बात से इनकार कर सकता था, किन्तु वह अपने किए हुए कार्यों के सम्बन्ध में कोई न कोई कारण देता। विरोधी हितों की उलझन को तलवार से ही काटा जा सकता है तथा उसने

व्यर्थ में ही तलवार नहीं पकड़ी।

लार्ड हेस्टिंग्ज़ के समय में अवध के नवाब ने अंग्रेजी कम्पनी को अनन्त धनराशि प्रदान की, जो गोरखा युद्ध में अंग्रेजी कम्पनी व्यय कर चुकी थी। इसका कारण यह दिया गया कि नवाब को वह राशि इसलिए देनी चाहिए क्योंकि गोरखों की पराजय से उसकी सुरक्षा को बल प्राप्त हुआ है। नवाब के द्वारा दी गई राशि के लिए प्रशंसास्वरूप उसे कम्पनी की ओर से सम्राट् की उपाधि धारण करने की अनुमति प्राप्त हो गई। तथापि इसके परिणामस्वरूप मुगल सम्राट् के प्रति मुसलमानों की वफ़ादारी में भेद पड़ गया और मुसलमान मन में कुछ भड़क उठे। ल्योनार्ड "कैम्ब्रिज के भारत के इतिहास" में कहता है कि "गवर्नर-जनरल की सम्मति में इस कार्य से ब्रिटिश सरकार को यह बड़ा लाभ हुआ कि मुस्लिम जाति के इन मुख्य नेताओं में फूट पड़ गई।" सभी अनुभवी अंग्रेज भी इस सम्बन्ध में असहमत थे।

विलियम बैण्टिङ्क ने अवध से अपने रिक्त कोष को भरने का प्रयत्न किया। वह लखनऊ गया तथा उसने नवाब को चेतावनी दी कि "यदि उसके राज्य में तब तक अपनाये गये सिद्धान्तों के अनुसार कार्य न होता रहेगा तथा यदि उसके प्रशासन का मुख्य उद्देश्य जनता की सम्पन्नता न होगी, तो उसके राज्य पर भी वही सिद्धान्त तथा नियम लागू किए जाएँगे, जो कर्नाटक तथा तञ्जौर राज्यों के साथ व्यवहार में लाये गये थे तथा देश की सम्पूर्ण व्यवस्था कम्पनी अपने हाथ में ले लेगी और नवाब को शाही बंदी के रूप में परिवर्तित कर दिया जाएगा।"

लार्ड आकलैण्ड के समय में नसीरुद्दीन की मृत्यु १८३७ में अत्यन्त सन्देहपूर्ण परिस्थितियों में हुई। बेगम ने पुत्र को राज्यगद्दी पर बिठाया। तथापि अंग्रेजों ने मुहम्मद अलीशाह को अपने शासक के रूप में बिठाया। मुहम्मद अलीशाह के साथ १८३७ में एक नई सन्धि की गई जिसके द्वारा अंग्रेज़ी कम्पनी को शासन की दुर्व्यवस्था की अवस्था में शासन के प्रबन्ध को अपने हाथों में लेने का अधिकार प्राप्त हो गया। उसने सहायक सेना को रखने के व्यय के लिए १६ लाख रुपया भी देना स्वीकार कर लिया। अंग्रेजी कम्पनी के डायरैक्टरों ने यह सन्धि करने की अनुमति नहीं दी तथा गवर्नर-जनरल को कहा गया कि वह तदनुसार अवध के शासक को सूचित कर दे। शासक को केवल इतना ही सूचित किया गया कि उसे सहायक सेना के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं देना पड़ेगा। गवर्नर-जनरल की ओर से यह धोखादेही का कार्य था तथा उसे अपने कार्य में इतना नीचे नहीं जाना चाहिये था। इसका परिणाम यह हुआ कि अवध का नवाब तथा अन्य बहुत से लोग इस विचार में रहे कि १८३७ की सन्धि लागू है। इस सन्धि को सरकारी प्रकाशनों में सम्मिलित कर लिया गया था तथा सर जान लारैन्स ने १८४४ में इसका उल्लेख भी किया था। लार्ड हार्डिंग ने भी १८६७ की सन्धि का उल्लेख किया था।

लार्ड डलहौज़ी अवध के साथ अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यवहार करने के लिए कृत-सङ्कल्प था। अवध सरकार सड़ी-गली थी तथा स्पष्टरूप से ऐसी थी। रियासत को बहुत समय पूर्व ही अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर दिया जाता, किन्तु नवाब की वफ़ादारी के कारण ऐसा नहीं किया गया।

१८४८ में डलहौज़ी ने स्लीमैन को लखनऊ रैजीडैण्ट के रूप में भेजा, जिससे कि

वह दबे हुए देश के पुनर्निर्माण का कार्य अपने हाथ में ले सके। १८४६ में उसे देश का दौरा करने को तथा देश की अवस्था पर रिपोर्ट देने के लिए कहा गया। स्लीमैन ने रिपोर्ट दी कि लोग अपनी कन्याओं की हत्या कर देते थे तथा उन्हें जीवित ही भूमि में गाड़ देते थे। लखनऊ सदा जलूस, आतिशबाजियाँ तथा अन्य प्रकार की अनेक खुशियों के लिए प्रसिद्ध था। नवाब के साथी सारंगी बजाने वाले तथा विदूषक थे। नवाब की महत्वाकाँक्षा इसी प्रसिद्धि में सीमित थी कि वह अपने समय का सबसे प्रसिद्ध ढोल बजाने वाला, नर्तक तथा कवि है। उसके साथी प्रायः नीच जाति के निकाले हुए लोग थे। नवाब को सदैव पैसे की आवश्यकता रहती थी तथा वह रुपये को यथाशक्ति लोगों से खींचने के लिए फौज का उपयोग करता था। किसानों की अवस्था दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही थी। शासक दल में प्रजा के लिए कुछ भी सहानुभूति की मात्रा नहीं थी तथा प्रजा शासक दल के अत्याचारों से बुरी प्रकार से पीड़ित थी। अफ़सरों को किसानों को लूटने में आनन्द प्राप्त होता था।

यद्यपि अवध की अवस्था असन्तोषजनक थी, स्लीमैन इस बात के पक्ष में न था कि प्रदेश को अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाए। उसका विचार था कि "अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने से कम्पनी को उससे कहीं अधिक व्यय करना पड़ेगा, जो उस प्रदेश के मिल जाने से उन्हें आय होगी तथा इससे सिपाहियों में विद्रोह भड़क उठेगा।" इसके साथ ही देशी रियासतें "बाढ़ के जल के समान थीं तथा जब उनमें वेग बढ़ जाए, तब हमें केवल अंग्रेजी फौजों पर निर्भर रहना पड़ेगा जो सदैव पर्याप्त रूप से हमारे नियन्त्रण में न रहें।"

स्लीमैन ने भारतीय रियासतों के शैक्षणिक महत्त्व पर इतना बल दिया कि वह उन भारतीयों को अवसर प्रदान करती है, जो "अपने स्वभाव के अनुसार नम्र बनने के अयोग्य हैं तथा निम्न स्थानों पर कार्य कर सकने के लिए तत्पर नहीं, कि वे इधर-उधर रियासतों में तलवार लेकर स्वच्छन्द घूमें।" १८५१ में लार्ड डलहौज़ी ने अवध के सीमान्त प्रदेशों का दौरा किया तथा वह बताता है कि उसने सुना कि नवाब के कर्मचारी राजस्व इकट्ठा करने के लिए लोगों पर तोपों तक का उपयोग करते हैं। इतने होने पर भी डलहौज़ी कार्रवाई करने में हिचकिचाया।

१८५४ में स्लीमैन के स्थान पर रैजीडेंण्ट के रूप में औट्रम को नियुक्त किया गया। नये रैजीडैण्ट ने सूचना दी कि देश की व्यवस्था में कत्लेआम तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला है।

लार्ड डलहौजी की सिफ़ारिश यह थी कि अवध के शासक को अपनी उपाधि को लगाये रखने की अनुमति दी जाये किन्तु उसके राज्य की व्यवस्था का सारा उत्तरदायित्व कम्पनी के हाथों में रहे। नवाब की निरन्तर वफ़ादारी के कारण डलहौज़ी ने उसे ज़बरदस्ती राज्यगद्दी से उतारे जाने तथा उसके राज्य के अंग्रेज़ी राज्य में मिलाये जाने की सिफ़ारिश नहीं की। अवध के भविष्य के सम्बन्ध में लार्ड डलहौज़ी की प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्य मतभेद रखते थे। उनका बहुमत लार्ड डलहौज़ी के विरुद्ध था। जनवरी १८५६ में डलहौज़ी को अवध के भविष्य में डायरेक्टरों की आज्ञायें प्राप्त हुईं। उनके अनुसार डलहौज़ी को नवाब की अपनी शक्ति का अधिकार, सम्राट् की उपाधि, पर्याप्त

धनराशि, लखनऊ के महलों तथा उद्यानों पर उसका पूर्ण अधिकार आदि दिये जाने थे। औट्रम को पुनः लखनऊ वापिस भेज दिया गया तथा उसके पीछे एक फ़ौज के दस्ते को भी लखनऊ भेजा गया। नवाब ने नई स्थिति को मानने से इनकार कर दिया इसलिए उसे पदच्युत कर दिया गया। उसे कलकत्ता भेज दिया गया। इस कार्रवाई के औचित्य के सम्बन्ध में लार्ड डलहौज़ी ने इस प्रकार लिखा :—"ब्रिटिश सरकार ईश्वर तथा मनुष्य की दृष्टि में अपराधी होगी, यदि वह ऐसी व्यवस्था को और अधिक सहयोग देगी, जिसमें लाखों प्राणियों के लिए कष्ट भोगना बदा हो।" भारतीयों ने द्रव्य-सम्बन्धी लाभों का उतना ध्यान नहीं दिया, ऐसा प्रतीत होता है, जो अवध के अंग्रेज़ी राज्य में सम्मिलित करने की जाग्रति के पश्चात् प्राप्त हुआ। जैनरल लार्ड की सम्मति थी कि भारतीय अपनी बुरी शासन-व्यवस्था को अंग्रेज़ों के कठोर शासन से अच्छा समझते थे जो चपरासी तथा अन्य कर्मचारियों से युक्त था।

अवध के अंग्रेज़ी राज्य में सम्मिलित किये जाने से भारतीय रियासतों के शासकों के मन में भय तथा निराशा की भावना उत्पन्न हुई। वे अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में डरने लगे। वे अपने आपसे यह कहने लगे :—"वर्ष बीतता जाता है और समय के साथ-साथ भयानक आघात सहने पड़ते हैं। कहीं कोई शक्तिशाली राज्य ब्रिटिश अधिकार में चला जाता है तो कहीं शासन का कठोर चक्र चलता है। इस प्रकार हम अकेले रह जाते हैं।"

स्लीमैन की सम्मति यह थी कि अवध का अंग्रेज़ी साम्राज्य में मिलाया जाना एक राजनैतिक भूल थी। उसके अनुसार अंग्रेज़ों ने अपनी महान् शक्ति को एक देव के समान प्रयोग किया तथा भारतीयों की दृष्टि में अपनी प्रसिद्धि में धब्बा लगाया। विद्रोह के समय में अवध के सैनिकों ने अंग्रेजों की बाधाओं तथा कष्टों में वृद्धि की। यह ठीक ही कहा गया है कि वाजिदअलीशाह का विवशतापूर्वक गद्दी से हटना तथा अवध के अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना, ये दोनों जनता की हार्दिक भावना तथा विश्वास के विरुद्ध अपराध थे।

उपाधियों तथा पेन्शनों का हटाया जाना (Abolition of titles and pensions)—डलहौज़ी इलाकों के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने से सन्तुष्ट न था। वह उपाधियों तथा पेन्शनों को उड़ाना चाहता था। उसकी नीति का पहला शिकार धोधूं पन्त अथवा नाना साहेब था, जो पेशवा बाजीराव द्वितीय का दत्तक पुत्र था। बाजीराव को ८ लाख रुपए वार्षिक की पेन्शन दी गई थी। उसने नाना साहेब को दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण कर लिया तथा कम्पनी से उसे स्वीकार करने को कहा। बाजीराव की मृत्यु १८५२ में हो गई तथा लार्ड डलहौज़ी ने नाना साहेब का दावा अस्वीकार कर दिया। सर जॉन केइ के मत में डलहौज़ी का यह कार्य कठोरतापूर्ण था।

१८५५ में कर्नाटक के नवाब की बिना किसी पुत्र के मृत्यु हो गई। आज़िमशाह उत्तराधिकारी था तथा उसने स्वीकृति के लिए मद्रास सरकार से प्रार्थना की। गवर्नर का यह विचार था कि उपाधि तथा पेन्शन निजी वस्तु हैं। "अधिकार के बिना शाही चिह्न अधिकार के लिए मज़ाक है, जो अवश्य हानिकारक है। यह पग राजनीति से दूर तथा मूर्खता है कि ऐसे दिखावे को जारी रखे जाने की अनुमति दी जाए। यद्यपि ऐसा राजनैतिक दृष्टि से किसी प्रकार से हानिप्रद नहीं। भले ही किसी समय यह विद्रोह तथा आंदोलन का क्रम माला का रूप धारण कर ले।" लार्ड डलहौज़ी ने मद्रास गवर्नर के विचारों

की इन शब्दों में पुष्टि की—"मैं लार्ड हैरिस के साथ इस बात में पूर्ण रूप से सहमत हूं कि १८०१ की सन्धि किसी प्रकार के पुश्तैनी उत्तराधिकार का अधिकार प्रदान नहीं करती।

यह नितान्त व्यक्तिगत सन्धि है। इस सन्धि के किसी भाग में उत्तराधिकारियों का कोई भी उल्लेख नहीं तथा इसके द्वारा किसी प्रकार की सहायता आदि का भी उल्लेख नहीं। केवल स्वयं नवाब आजिम-उद्दौला के लिए ही इसमें कुछ उल्लेख है।"

तन्जौर के राजा की १८५५ में मृत्यु हो गई। पीछे उसकी विधवा तथा दो पुत्रियाँ बचीं। वह बिना राज्य के राजा था तथा उसे पैन्शन और कुछ जागीरें प्राप्त थीं। परिणामस्वरूप राजा की मृत्यु होने पर डलहौज़ी ने पेन्शन बन्द की तथा जागीरें जब्त कर लीं। मामला प्रिवी कौंसिल तक गया तथा कम्पनी के पक्ष में निर्णय हुआ। लार्ड किंग्ज डाउन ने अपने निर्णय में निम्नलिखित विचार प्रकट किए—"इन दस्तावेजों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी अथवा इंगलैंड की ओर से इस राज्य के पक्ष में अथवा मृत्यु के पश्चात् राजा की सम्पत्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार के कानूनी अधिकार की स्वीकृति का उल्लेख खोजना अत्यन्त कठिन कार्य है। राजा अपने प्रदेशों का असंदिग्ध शासक था किन्तु वह अपने शक्तिशाली पड़ौसी शासक की सन्धियों के द्वारा बंधा हुआ था, जिनके द्वारा उसे स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का बहुत कम अधिकार था, किन्तु वह अपने प्रदेश पर ब्रिटिश साम्राज्य अथवा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से किसी इलाके पर अधिकार नहीं रखता था। ऐसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि राजा के पुत्रहीन मरने पर किसी कानूनी दस्तावेज के द्वारा, चाहे वह वैध उपाधि हो, चाहे राजगामी हो अथवा स्वामित्वहीन हो, इलाके पर अधिकार किया जा सकता था।

डलहौज़ी के प्रशासनिक सुधार (Administrative Reforms)—लार्ड डलहौज़ी ने विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सुधार किए। तथापि डलहौज़ी के सुधारों का एकमात्र सूत्र केन्द्रीकरण था। उसके सुधारों का उद्देश्य यह था कि शक्ति के सब प्रकार के अधिकारों के सूत्रों को अपने हाथों में रखा जाए। डलहौज़ी ने भारतीय साम्राज्य की नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये व्यवस्था-रहित पद्धति को संगठित किया। इस पद्धति के अनुसार कमिश्नर को शासन-व्यवस्था का समस्त कार्य करना था, जो स्पष्ट रूप से कौंसिलस्थित गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी था। इसका मुख्य लाभ यह था कि शासन के कर्मचारियों में बचत सम्भव थी। इसके द्वारा नागरिक तथा फौजी सरकारों में कोई भेद नहीं किया गया। जिला मैजिस्ट्रेट को विभिन्न क्षेत्रों में सब प्रकार के अधिकार दिये गये। इस पद्धति का जो दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव पड़ा, वह यह था कि इसके कारण जनता का नैतिक स्तर नीचे हो गया।

सैनिक सुधार (Military Reforms)—लार्ड डलहौज़ी ने फौजी क्षेत्र में भी बहुत से सुधार किए। उसने फौजों का सामान्य आवागमन बंगाल की ओर से पश्चिम की ओर आरम्भ किया। बंगाल तोपखाने के केन्द्रीय कार्यालय कलकत्ता से मेरठ बदल दिये गये। फौजी केन्द्रीय कार्यालय धीरे-धीरे शिमला परिवर्तित कर दिये गये। उसने छटनी, विकेन्द्रीकरण तथा वर्गीकरण की नीति का प्रारम्भ किया। उसने भारतीय फौज में गोरखों के दस्तों की भरती को प्रोत्साहित किया। उसने पंजाब में एक नई अनियमित फौज को संग-

ठित किया। उसने अपने ब्रिटिश अधिकारियों को इंगलैंड में कहा कि वह भारत में ब्रिटिश फौजों की संख्या को बढ़ा दे, जिससे कि भारतीय फौजों द्वारा विद्रोह की कोई आशा न हो। डलहौज़ी को सदैव इस बात का भय रहता था कि भारतीय फौजों में षड्यन्त्र न हो जाए।

तार तथा रेल (Telegraph & Railways)––डलहौज़ी ने इन दो विभागों को अत्यन्त महत्त्व दिया। भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा तथा ब्रिटिश पूँजी के प्रोत्साहन की दृष्टि से उनका विकास आवश्यक समझा गया। उसने रेलों के निर्माण के सम्बन्ध में अंग्रेजी निगमों के साथ ठेकों का निश्चय किया। उन्हें निर्माण कार्य के सम्बन्ध में सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की गईं। लाभादि का ध्यान न रखते हुए उन्हें सरकार की ओर से अतिरिक्त धन का आश्वासन दिया गया। कुछ महत्त्वपूर्ण लाइनें भारतीय राजस्व का असंख्य धन लगाकर निर्मित की गईं, किन्तु इससे अंग्रेज पूँजीपतियों को बहुत से लाभ उठाने में सहायता प्राप्त हुई। डाक की तारों के द्वारा भारत के विभिन्न भागों को सम्बद्ध किया गया तथा इस तथ्य ने विद्रोह के समय में अंग्रेजों को बहुत सहायता प्रदान की।

वाणिज्यिक सुधार (Commercial Reforms)––अंग्रेज़ व्यापारियों तथा निर्माताओं के हितों में लार्ड डलहौज़ी ने खुले व्यापार की नीति का अनुसरण किया। भारत की सब बन्दरगाहों को खोल दिया गया। ज्योतिस्तम्भों तथा तटों में सुधार किए गये। माल तथा पूँजी के यातायात तथा प्रवाह में सब बाधाओं को हटा दिया गया। भारत का सम्पूर्ण तटीय व्यापार अंग्रेज़ पूँजीपतियों के हाथों में पड़ गया। इससे देश के आर्थिक ढाँचे का दुरुपयोग हुआ।

सार्वजनिक निर्माण विभाग (Public Works Department)–डलहौज़ी से पूर्व फौजी सदस्य ही सार्वजनिक निर्माण कार्य का उत्तरदायी था। नागरिक विभाग के कार्यों की उपेक्षा होती थी। परिणामस्वरूप लार्ड डलहौज़ी ने प्रत्येक प्रैजीडैंसी में एक आयोग नियुक्त किया जिसका कार्य इस सारे मामले पर विचार करना था। इसका यह परिणाम हुआ कि फौजी बोर्ड के नियन्त्रण से सार्वजनिक निर्माण के कार्य हटा लिये गये। प्रत्येक प्रैजीडैंसी में सार्वजनिक निर्माण विभाग प्रारम्भ कर दिये गये तथा उसके महत्त्वपूर्ण अधिकारी मुख्य इन्जीनियर तथा प्रबन्ध अफसर थे। वे सब इंग्लैंड से बुलाये गए। सार्वजनिक निर्माण के पुनःसंगठित विभागों ने सड़कें, नहरें तथा पुल बनाने का कार्य अपने ऊपर लिया।

डाक-पद्धति (Postal System)—डलहौज़ी ने डाक-पद्धति में भी बुराइयों को दूर किया। उसने एक आयोग की सिफारिशों पर पद्धति को पुनः संगठित किया। उसने आध तोले तक के पत्रों के लिये दो पैसे का एक जैसा दाम सम्पूर्ण भारत के लिए आरम्भ किया। पत्र भेजने वाले को टिकटों के रूप में उस मूल्य को चुकाना होता था। डलहौज़ी के सुधारों ने डाक विभाग से घूसखोरी को हटा दिया।

१८५४ का वुड का खरीता (Wood's Despatch of 1854)—नियन्त्रण बोर्ड के प्रधान सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा के सम्बन्ध में अपना प्रसिद्ध पत्र भेजा। उस पत्र के अनुसार शिक्षा का सरकार के कार्यों में सर्वप्रथम दावा है। शिक्षा के क्षेत्र में प्रैजीडैंसियों में लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर विश्वविद्यालय स्थापित होने का विचार

प्रस्तुत किया गया था। इन विश्वविद्यालयों को केवल परीक्षा लेने वाली संस्था ही बनाने का विचार था न कि अध्यापन की व्यवस्था करने वाली। कालेजों को इन विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध किया जाना था तथा उन्हें इण्टर तथा डिग्री कक्षाओं की शिक्षा का प्रबन्ध करना था। इसी प्रकार हाईस्कूल तथा एंग्लो वर्नाक्युलर स्कूलों के खोलने का भी प्रस्ताव था। उनमें शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषा को ही प्रस्तावित किया गया था। शिक्षा के क्षेत्र में सरकार को निजी प्रयत्नों को प्रोत्साहित करने का कार्यक्रम था। सम्पूर्ण भारत के लिए शिक्षा के एक मुख्य निर्देशक के सम्बन्ध में प्रस्ताव किया गया था। शिक्षा को पूर्ण रूप से वर्गहीन रखने का विचार था। १८४७ में बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये।

विद्रोह के सम्बन्ध में डलहौज़ी का उत्तरदायित्व (Dalhousie's Responsibility for the Mutiny)——डलहौज़ी ने १८५६ में भारत से विदा ली तथा विद्रोह १८५७ में फूटा। स्वाभाविक रूप से आलोचक विद्रोह के लिये डलहौज़ी की भूलों तथा कार्यों को उत्तरदायी मानते हैं। ऐसा कहा गया कि लार्ड डलहौज़ी भारतवर्ष के साम्राज्य की बहुत-सी रियासतों को शीघ्रता में अंग्रेजी राज्य में मिलाने का पक्षपाती था। उसे भारतीयों की भावनाओं के प्रति अधिक ध्यान देना चाहिए था। यह सत्य है कि बहुत से राज्यों को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने तथा अनेक विजयों के कारण अंग्रेजी कम्पनी के कोष में बहुत सा रुपया इकट्ठा हुआ। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनसे यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव उत्पन्न हो गया कि किसी भारतीय नरेश का प्रदेश सुरक्षित नहीं है। लोगों को इस बात का भय हो गया कि कम्पनी की असंदिग्ध सरकार अपने कार्य के लिये कोई न कोई बहाना ढूंढ़ने को तैयार थी। लोग अंग्रेजों की न्याय की भावना के सम्बन्ध में विश्वास खो बैठे थे। अतिक्रमण के सिद्धान्त के लागू होने से स्थिति और भी बिगड़ गई। इससे असन्तुष्ट लोगों की संख्या में अत्यन्त वृद्धि हो गई जो इस अवसर की ताक में रहते थे कि अंग्रेजी कम्पनी के विरुद्ध कार्रवाई की जाए। इसमें आश्चर्य नहीं कि रानी झाँसी ने तूफ़ान खड़ा कर दिया। इसी प्रकार नाना साहेब को पैन्शन देने से इन्कार किए जाने पर वह कम्पनी का प्रबल शत्रु हो गया। इसी प्रकार तन्जौर के राजा तथा कर्नाटक के नवाब की पैन्शनों के हटाने का कार्य भी दुर्भाग्यपूर्ण था। यही वह समय था जब कि अंग्रेजी फौजों की भारी संख्या को क्रीमिया के युद्ध में लड़ने के लिए भेजा गया। भारतीय फौजों की तुलना में अंग्रेजी फौजों की संख्या का अनुपात बहुत कम हो गया। लार्ड डलहौज़ी ने अपनी ब्रिटिश सरकार से इस रिक्तता को पूर्ण करने के लिए कहा, किन्तु अनेक बार स्मरण कराए जाने पर भी तदनुसार कार्रवाई नहीं की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि जब विद्रोह फूट पड़ा, तब भारतवर्ष में ब्रिटिश फौजों की कमी के कारण भारतीय सैनिकों ने अपने आपको एक अत्यन्त लाभकारी स्थिति में पाया। तथापि इसके लिये ब्रिटिश सरकार को ही दोष देना चाहिए, डलहौज़ी को नहीं।

डलहौज़ी स्वयं अवध को ब्रिटिश राज्य में मिलाने का पक्षपाती नहीं था। इस सम्बन्ध में डायरैक्टरों ने उस पर बहुत दबाव डाला। इसलिए इस कार्य के उत्तरदायित्व में उन्हें सम्मिलित करना चाहिए।

डलहौज़ी ने अपना प्रत्येक सुधार अपने हृदय की सच्ची भावना से किया, किन्तु

उसके प्रत्येक सुझाव के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया गया। ऐसी आशंका प्रकट की गई कि भारत सरकार इस प्रकार का पूर्ण प्रयत्न कर रही है कि लोगों की भावनाओं को ठेस पहुँचाने के लिए उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित किया जा रहा है अथवा अन्य किसी उपाय का प्रयोग भी किया जा रहा है।

हम यह कह सकते हैं कि लार्ड डलहौज़ी १८५७ के विद्रोह के लिए आंशिक रूप में उत्तरदायी था। भारतीय रियासतों के प्रति उसकी नीति ने निराशा की भावना उत्पन्न की तथा इसके द्वारा विद्रोह का जन्म हुआ। उसे चाहिए था कि वह अपनी जनता को अपने साथ ले जाने का प्रयत्न करता तथा उन सब प्रकार के उपायों को छोड़ देता, जिनसे निरपराध भारतीयों के मन में किसी प्रकार की गलतफ़हमी अथवा सन्देह की भावना जन्म लेती।

डलहौज़ी की निरन्तर अस्वस्थता (Continued Sickness of Dalhousie)–डलहौज़ी जब तक भारत में रहा, वह निरन्तर अस्वस्थ रहा। इसका एक परिणाम यह था कि वह शीघ्र ही कुपित हो जाता था। इसके कारण किये गये परिश्रम पूर्ण कार्यों ने उसे सचमुच वीरतापूर्ण बना दिया। उसने जुलाई १८४६ में लिखा कि उसका स्वास्थ्य तभी खराब था जब वह इंगलैण्ड से रवाना हुआ तथा कलकत्ता में पहुँचा। उस समय वह अत्यन्त दुर्बल तथा हर प्रकार से पंगु था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, डलहौज़ी को परिस्थितियों के दबाव से अधिक परिश्रम करना पड़ा तथा वह अनेक प्रकार के दुःखपूर्ण रोगों तथा व्याधियों का शिकार हो गया। एक प्रकार से उसकी वाणी में बोलने की शक्ति भी जाती रही। वह दाहिनी टाँग से भी लंगड़ा हो गया तथा इस प्रकार उसके भीतर पिंडली की हड्डी पर एक ऐसा फोड़ा फूट आया, जो ठीक नहीं हो सकता था। उसके सिर में बार-बार दर्द के दौरे उठते थे तथा बहुत से अन्य सहायक रोग भी प्रवेश पाते रहते थे। डा० अलैक्ज़ैण्डर ग्राण्ट ने, जो भारत में डलहौज़ी का जर्राह था, डलहौज़ी के कष्टों तथा व्याधियों का यथार्थ वृत्तान्त लिखा है। आठ वर्षों का प्रत्येक दिन, जब तक कि डलहौज़ी भारत में रहा, उसके जीवन-रूपी रुधिर का एक-एक बूंद नुचता रहा।

डलहौज़ी का मूल्यांकन (Estimate of Dalhousie)—लार्ड कर्जन के कथनानुसार, लार्ड डलहौज़ी ने भारत पर एक ऐसा चिह्न छोड़ा, जो उससे पूर्ववर्ती किसी से भी अपेक्षाकृत कम महत्त्व का नहीं था। उसने ऐसी प्रसिद्धि प्राप्त की, जो केवल वारेन हेस्टिंग्ज़ से ही कुछ कम थी। डलहौज़ी के कार्य ऐसे थे, कि उनके कारण उस पर उसके समय में भी कुछ वाद-विवाद हुआ तथा पीछे भी, किन्तु समय के बीतने के साथ-साथ इसकी मात्रा भी कम होती जा रही है। यह वाद-विवाद उसके प्रसिद्ध पूर्ववर्ती (वारेन हेस्टिंग्ज़) का स्मरण कराता है। गफ़ तथा नेपियर जैसे अक्षम्य लड़ाकू, जिन्हें उसने सामना करके वीरतापूर्वक हरा दिया था, दोनों लारैन्स, जिन्हें उसने बारी-बारी शान्ति तथा बलपूर्वक अधीन कर लिया था, उसकी प्रादेशिक सफलताओं का प्रबल वेग, उसके प्रशासन-सम्बन्धी सुधार, मनुष्य के रूप में उसका दृढ़ चरित्र तथा उद्विग्नतापूर्ण सामाजिक तथा राजनैतिक विप्लव, जो भारत में चल रहा था तथा जिसके कारण देश की नींवें तक उसकी अवकाश-प्राप्ति के शीघ्र पश्चात् हिल गई थीं तथा जो एक प्रकार से उसके शासन का ही परिणाम था—इन सब बातों ने मिलकर डलहौज़ी के राज्य को उचित तथा कटु विवाद का विषय

बना दिया था तथा जो बहुत देर तक चलता रहा, जब तक कि विवाद का विषय वह स्वयं—निरन्तर रोग के कारण तथा अपना बचाव करने के सम्बन्ध में अभिमानी होने के कारण उदासीन—परलोक नहीं सिधार गया। इस तूफानी संघर्ष में सर जान ने तथा एडविन आर्नल्ड ने एक पक्ष में तथा ड्यूक आफ अर्गिल तथा सर चार्ल्स लुइस जैकसन ने दूसरी ओर से रंग-मंच में अपना-अपना स्थान अपनी सुरक्षा तथा अन्य पक्ष की आलोचना करने में लिया। बाद में सफाई पक्ष में दृढ़ता आ गई, क्योंकि कैप्टन एल० जे० ट्राटर, सर विलियम हण्टर तथा सर रिचर्ड टैम्पल ने इस पक्ष में प्रबल सहायता दी तथा सर जान लारैन्स के जीवनी-लेखक ने दोनों पक्षों के मध्य मार्ग का अवलम्बन किया। डलहौजी ने स्वयं दोषमुक्ति तथा सुरक्षा के लिये बाद में प्रकाशित होने वाले अपने पत्र-व्यवहार तथा अन्य विवरणों की शरण ली यद्यपि आत्मानुशासन तथा संयम के साथ, जिसमें बुद्धिमत्ता की अपेक्षा गौरव की भावना अधिक थी, उसने अपने वसीयतनामे में यह निर्देश छोड़ा था कि उसके व्यक्तिगत पत्रों में से किसी भी अंश को उसकी मृत्यु के पचास वर्ष की अवधि तक प्रकाशित न किया जाए। पुनश्च, साम्राज्यवादी प्रशासक के रूप में डलहौज़ी का व्यक्तित्व किसी भी बड़े-से-बड़े ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से कम न था, जिसने पूर्व में अंग्रेजी साम्राज्य का निर्माण किया था। वह युद्ध-व्यवस्था में अपूर्व था। वह पूर्व का अब्राहम लिंकन था, किन्तु वह शान्ति-व्यवस्था में और भी अधिक महत्त्वशाली था तथा ज्योंही वह किसी प्रान्त को अंग्रेजी राज्य में मिलाता अथवा किसी राज्य को अधिकार में करता, तब उसकी नई शासन-व्यवस्था के लिए उसकी पूर्ण विस्तृत योजना प्रस्तुत रहती तथा इससे पूर्व कि पुरानी राज्य-व्यवस्था के खण्डहर हटाये जायें वह उसका नवनिर्माण कार्य आरम्भ कर देता था। क्या ऐसे व्यक्ति ने, अपने आठ वर्ष के भारतीय स्वैराधिराज्य के पश्चात्, इंग्लैंड के सरकारी जीवन के जुए के प्रति कभी अपनी गर्दन झुकाई होगी, यद्यपि अपने भारतीय जीवन की पहली अवधि में इसका स्थान अत्यन्त उल्लेखनीय रहा था, यह असंदिग्ध है। उसने बार-बार स्वयं क्षमता तथा इच्छा का ध्यान नहीं रखा। सार्वजनिक जीवन के उस निम्न स्तर, जिससे सदैव वह ऊँचा रहा तथा जिसे वह ब्रिटिश राजनीति की मलिन अवस्था अथवा स्थिति समझता था, के प्रति उसका कुछ भी आकर्षण न था। यह कहना असम्भव है कि स्वास्थ्य लाभ के कारण उसकी मनोवृत्ति में किसी प्रकार का परिवर्त्तन सम्भव होता तथा वह आलस्य के कारण अपने जीवन में दुर्दशा प्राप्त कर लेता, ऐसा समझना भी विश्वास के योग्य नहीं है। तथा सार्वजनिक सेवा का कोई भी अन्य कार्य और अधिक अतुलनीय प्रतिभा की माँग करता यह भी सम्भावना की जा सकती है।

भारत से लौटते हुए उसने युद्ध-विभाग के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने की सम्भावना पर भी विचार-विनिमय किया, यदि इस प्रकार का प्रस्ताव उससे किया जाता, किन्तु ऐसा तभी सम्भव था, यदि वह उन शर्तों को स्वीकार कर लेता, जिन्हें स्वीकार करना उसके लिए सम्भव नहीं था अथवा कठिन था, क्योंकि वह, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया, एक परिवर्त्तनशील तथा अत्याचारी का अजीब मिश्रण था। वह पुनः मन्त्रिमण्डल में प्रवेश कर लेता अथवा यदि वह ऐसा करता तो वह यह प्रकट करने में सफल हो गया होता कि भारत का एक गवर्नर-जनरल भी इंग्लैंड का एक प्रधानमन्त्री बन सकता है, ऐसा मुझे सम्भव प्रतीत नहीं होता।

Questions for Revision

1. Discuss the main objective of the policy of Lord Dalhousie. How far, in your opinion, was it responsible for the Mutiny of 1857 ?

2. Can you justify Dalhousie's annexation of the Punjab ?

3. Compare the Punjab policy of Lord Hardinge with that of Lord Dalhousie. Which of the two was more sound and why ?

4. "The distinctive features of modern India have been far more influenced by Dalhousie's work than by the Mutiny itself or by the constitutional adjustments which followed it." (Ramsay Muir). Discuss.

5. How did Lord Dalhousie make out a case for the annexation of Oudh ? Do you agree with the view that the Governor-General's conduct was high-handed and unjust ? Give reasons.

6. Describe the relations of the East India Company with the State of Oudh. How far can you justify the final extinction of the state.

7. What do you know of the policy of the British Government towards Oudh, and what causes led to its annexation ?

8. "The kingdom of Oudh fell under the weight of its own treaties." Discuss.

9. "Lord Dalhousie's Governor-Generalship, therefore, is not only the last important stage, it is also the culmination of the marvellous history of the East India Company." Discuss.

10. "The eight years' rule of Lord Dalhousie left more conspicuous results than that of any Governor-General since Wellesley." Explain.

11. Write a note on Lord Dalhousie's doctrine of Lapse and discuss the cases in which it was applied.

12. Estimate the work of Lord Dalhousie as an empire-builder. What were the shortcomings, if any, of his Imperial policy ?

13. It is said that "Lord Dalhousie made the India of today." Explain.

14. "We are making a nation." Show how far Lord Dalhousie's policy in India was directed towards this end.

अध्याय १४

ग़दर

(The Mutiny)

ग़दर का स्वरूप (Its Character)—गदर के सम्बन्ध में दो मुख्य विचारधाराएँ हैं। सर जान लारेंस का विचार था कि ग़दर का मूल कारण सेना तथा चर्बीवाले कारतूस थे। इसका सम्बन्ध किसी षड्यन्त्र से नहीं लगाया जाता, यद्यपि विद्रोहियों ने अपनी संख्या बढ़ाने के लिए इससे लाभ उठाया। सर जॉन सीले के अनुसार, विद्रोह "पूर्ण रूप से देशप्रेम की भावना से रहित तथा स्वार्थपूर्ण सिपाही विद्रोह था जिसका न कोई भारतीय नेतृत्व था और इसे न कोई लोकप्रिय समर्थन ही प्राप्त था।"

किन्तु औट्रम की यह सम्मति थी कि विद्रोह एक ऐसे मुस्लिम षड्यन्त्र का परिणाम था जिसमें हिन्दुओं के कष्टों से लाभ उठाया गया था। कारतूसों की घटना तो केवल एक पूर्ववर्ती घटना मात्र थी, जिसके पश्चात् ही इसे पूर्ण रूप से संगठित किया गया था तथा इसे लोकप्रिय विरोधी भावना के लिए पहले पग के रूप में विद्रोह का रूप देकर पर्याप्त व्यवस्था की गई थी। भारतीय राष्ट्रीय लोगों ने भी इस विद्रोह को स्वतन्त्रता के युद्ध के रूप में वर्णित किया है। सावरकर ने ' भारतीय स्वतन्त्रता का युद्ध" नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। अपनी इस पुस्तक में उसने यह प्रकट करने का प्रयत्न किया कि यह विद्रोह वास्तव में भारतीय स्वतंत्रता का युद्ध था। अशोक महता ने भी अपनी "१८५७ एक महान् विद्रोह" नामक पुस्तिका में इस विद्रोह की राष्ट्रीय विशेषता का उल्लेख किया है। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि विद्रोह के मुख्य पात्र सैनिक ही थे। उन्होंने ही भारत को पराधीन करने वाले बन्धनों को तोड़ने के लिए संघर्ष को प्रारम्भ किया। उन्होंने ही विरोध के लिए रीढ़ की हड्डी का काम किया तथा वे इसके लिए ढाल तथा भाले बने। तथापि सैनिकों के अतिरिक्त लाखों भारतीयों ने इस विद्रोह में भाग लिया। मारे गये नागरिकों की संख्या भी उतनी ही बड़ी थी, जितनी मारे गये सैनिकों की। वे लोग इस संघर्ष में अपने देश को स्वतन्त्र कराने के लिए ही सम्मिलित हुए थे, अपने कष्टों को दूर कराने के लिए नहीं। जिस तीव्र गति से यह विद्रोह फैला, उससे यह बात प्रकट होती है कि कम से कम कुछ क्षेत्रों में विद्रोह को जनता का प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ। बहुत से स्थानों पर नागरिकों ने सैनिकों को पूर्ण सहयोग दिया। जिन लोगों ने अंग्रेजों का पक्ष लिया उन्हें सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ा। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि जनरल हैवलाक को अपने सैनिकों को नदी पार करने के लिए न तो नौकाएँ ही प्राप्त हो सकीं और न ही नाविक। यद्यपि कानपुर में अंग्रेजों ने मजदूरों से काम लेने के लिए अत्यन्त दबाव डाला, किन्तु मजदूर रात को ही भाग निकले। बहुत से स्थानों पर सब श्रेणियों के भारतीयों ने अंग्रेजों से अलग रहने का प्रयत्न किया। विद्रोह के राष्ट्रीय होने का सबसे महत्त्वपूर्ण अथवा निर्णायक प्रमाण यही है कि इसमें हिन्दू तथा मुसलमान दोनों साम्प्रदायिक एकता की भावना से मिलकर बिना भेद-भाव के कार्य करते रहे; यहाँ तक कि अंग्रेज सरकार को दोनों जातियों

को अलग रखने में कठिनाई का सामना करना पड़ा। मुगल सम्राट् ने हिन्दुओं को शान्त करने के लिए सम्पूर्ण देश भर में गोहत्या पर पाबन्दी लगा दी। राजपूताना के राजाओं को एक पत्र में मुगल सम्राट् ने इस प्रकार लिखा—"यह मेरी हार्दिक इच्छा है कि मैं किसी भी मूल्य पर भारत से अंग्रेजों को निकलता देखूं। यह मेरी प्रबल इच्छा है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष स्वतन्त्र हो जाए, किन्तु यह राजनैतिक युद्ध तब तक सफल नहीं होगा जब तक एक ऐसा व्यक्ति नेतृत्व के लिए आगे नहीं आता, जो आन्दोलन के सम्पूर्ण भार को अपने ऊपर ले सके तथा जाति के विभिन्न तत्त्वों को संगठित तथा केन्द्रित कर सके। अंग्रेजों के भारतवर्ष से निकाले जाने के पश्चात् मुझे राज्य करने की कोई अभिलाषा शेष नहीं। यदि आप सब देशी राजा लोग शत्रु को देश से बाहर करने के लिए अपनी तलवार म्यान से निकालने को तैयार हों तब मैं इस बात के लिए तत्पर हूँ कि अपनी राज्य-शक्ति तथा अधिकारों को चुने हुए देशी राजाओं की शक्ति के सुपुर्द कर दूँ।"

मुसलमानों की इस प्रार्थना को हिन्दुओं ने भी स्वीकार किया। नाना साहेब ने मुगल सम्राट् के प्रति निष्ठा की घोषणा कर दी। दिल्ली के पतन के पश्चात् ही सिख बड़ी संख्या में ब्रिटिश फौज में सम्मिलित हुए। इन सब बातों से यह प्रमाणित होता है कि विद्रोह एक राष्ट्रीय जाग्रति थी, यद्यपि इसकी शक्ति तथा क्षेत्र सीमित था।

प्रो० पी० ई० राबर्ट्स जान लारेन्स तथा सीले के दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। उसके मत में आरम्भ में विद्रोह सैनिक मात्र था किन्तु यह ऐसे समय में हुआ जब कई कारणों से देश में सामाजिक तथा राजनैतिक असन्तोष था तथा विद्रोहियों ने इससे लाभ उठाया।

थॉम्पसन तथा गराट के अनुसार, विद्रोहियों को संगठित राष्ट्रीय आन्दोलन बतलाना भारतीय साहस तथा योग्यता का उपहास करना है। इसे एक छोटी-सी फौज ने कुचल दिया। इसके नेता असफल रहे। वे अपने कथन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि ऐतिहासिक सत्यता तथा भारतीय योग्यता के प्रति आदर की भावना से इस बात की पुष्टि करना आवश्यक है, इसमें आम तत्त्वों का अभाव ही रहा है।

विद्रोह के कारण, राजनैतिक (Causes of the Mutiny–Political)—१८५७ के विद्रोह के बहुत से कारण हैं। राजनैतिक कारणों की दृष्टि से डलहौजी की उस नीति ने जिसके द्वारा बहुत से देशी राज्य अंग्रेजी राज्य में मिलाये गये, तथा लैप्स (व्यपगत) के सिद्धान्त ने सम्पूर्ण भारतवर्ष में अशान्ति तथा सन्देह की भावना उत्पन्न कर दी थी। सितारा तथा नागपुर के राज्यों के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के कार्य पर हिन्दुओं ने क्रोध प्रकट किया था। अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के सम्बन्ध में, जिसका शासक एक शताब्दी तक अंग्रेजों का मित्र तथा सहायक रहा था, न केवल मुसलमानों ने अपितु भारत के अन्य शासकों ने क्रोध प्रकट किया था। इससे उनमें निराशा की भावना उत्पन्न हुई थी। बड़े से बड़े शुभचिन्तक तथा वफ़ादार शासकों को भी इस बात का विश्वास नहीं था कि वे भविष्य में अपनी सत्ता को स्थिर रख सकेंगे। ब्रिटिश सरकार ने इस बात की आज्ञा दे दी थी कि अन्तिम सम्राट् की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी को अपने पूर्वजों के महल तथा अपनी शाही शान-शौकत छोड़नी पड़ेगी। उच्च ब्रिटिश अधिकारियों की टिप्पणियों से लोगों के मन में ऐसी धारणा उत्पन्न हो गई थी कि सरकार देशी

राज्यों को समाप्त करने के लिए दृढ़-संकल्प है। सर चार्ल्स नेपियर ने इस प्रकार कहा—"यदि मैं बारह वर्षों तक भारत का सम्राट् होता, तो कोई भी भारतीय नरेश न होता। निज़ाम के सम्बन्ध में कोई कुछ न सुनता तथा नेपाल भी हमारा होता।" अन्तिम पेशवा बाजीराव पेशवा के दत्तक पुत्र नाना साहेब की ८०,००० पौण्ड पेंशन बन्द कर देने से अंग्रेजों ने उसे अपना सबसे बड़ा शत्रु बना लिया। हिन्दू उसे बाजीराव का कानूनी उत्तराधिकारी समझते थे तथा उसका निष्कासन अन्यायपूर्ण समझा गया। उसने विद्रोहियों में अपने आपको एक नायक प्रमाणित किया। अज़ीमुल्लाखान ने उसकी सहायता की।

देशी रियासत के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने से न केवल नरेश ही राज्यच्युत होते थे, अपितु इससे उच्च प्रशासनिक स्थानों के लिये भारतीयों के लिये अवसर भी सीमित होते थे। इससे भारतीय समाज के उच्च वर्गों में कटुता की भावना उत्पन्न हो गई। नये हस्तगत प्रदेशों की व्यवस्था के लिये उन अफसरों ने, जो ज़मींदारों के विरुद्ध किसानों का पक्ष लेते थे, देशी राजाओं के दावों के सम्बन्ध में कड़ी जाँच-पड़ताल की। इससे भी कटुता उत्पन्न हुई। बैण्टिङ्क के बिना किराये की भूमियों के हस्तगत करने से भी सरकार को बहुत-सा धन प्राप्त हुआ, किन्तु इससे बहुत से ज़मींदार जिनके पट्टे खो गये अथवा जिन्हें लम्बी अवधि के लिए भूमि-खण्ड प्राप्त हुए थे, निर्धन हो गये। विद्रोह से पूर्व पाँच वर्षों में प्रसिद्ध इनाम आयोग ने बम्बई में लगभग २०,००० जायदादों को जब्त कर लिया था। अवध के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के अनन्तर जैकसन बन्दोवस्त का मुख्य कमिश्नर नियुक्त किया गया। उसने ध्यानपूर्वक ताल्लुकेदारों के दस्तावेज़ों की जाँच-पड़ताल की तथा उनमें से अधिकांश बिना किसी आजीविका के साधन के रह गये। भारतीय सेना को तोड़ दिया गया तथा लगभग ६०,००० व्यक्ति अपनी आजीविका से हाथ धो बैठे। इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं, कि असन्तुष्ट सैनिक तथा ताल्लुकेदार बड़ी संख्या में विद्रोहियों में जा मिले। अंग्रेज अफसर उदासीन, अनुचित माँग करने वाले तथा कल्पनाहीन थे। उनमें से योग्यतम भी अवसर मिलने पर देशी लोगों का अपमान करते थे। प्रशासनिक कार्यों में लगे हुए व्यक्ति अयोग्य तथा अपर्याप्त थे। उन पर कार्यभार इतना अधिक था कि जब कभी कोई नया प्रदेश जीत लिया जाता था तथा उसे अंग्रेजी राज्य में मिला लिया जाता था, तभी "इससे बुरी भावना उत्पन्न होती थी तथा इससे बहुत से भूमि-सम्बन्धी झगड़े पैदा होते थे।" यहाँ तक कि ज़मीदारों को गोद लेने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था तथा सरकार उनकी जायदादें जब्त कर लेती थी।

ज़मींदारों की अवस्था इतनी खराब थी कि उनके लिए भूमि के मूल्य का तीस अथवा चालीस प्रतिशत रुपया उधार लेना भी कठिन होता था। भूमि की स्थिति बड़ी अनिश्चित थी। सरकारी कर्मचारी प्रायः भूमि के निजी परिवर्तन को रद्द कर देते थे तथा अदालतों के निर्णयों तक के सम्बन्ध में भी हस्तक्षेप कर देते थे। मणिपुर के राजा को १५८ देहातों में से ११६ देहातों के अधिकार से वंचित कर दिया गया। एक और राजा के कुल २१६ ग्रामों के अधिकार में से १३८ ग्रामों का अधिकार छीन लिया गया। सदर बोर्ड ने कलैक्टर को आज्ञा दी कि उसके पक्ष में स्वीकृत डिग्री को कार्यान्वित न करे। बहुत से ताल्लुकेदारों ने अपने आधे गाँव खो दिये तथा कुछ ने तो अपने सारे गाँव ही खो दिये। उनके ऊपर कर के इतने भार डाले गये तथा इतना बढ़ा हुआ लगान लगाया गया कि उनके

सामर्थ्य से वाहर की बात हो गई।

अदालतों ने प्रयत्न किया कि सब लोगों को एक ही स्तर पर लाया जाए। अंग्रेज अफसरों को इस बात का गर्व था कि उन्होंने लोगों में नागरिक समानता का सिद्धान्त लागू कर दिया है। तथापि ऐसा देखा गया कि नागरिक समानता का यह सिद्धान्त यूरोपीय लोगों पर लागू नहीं किया गया। जातिगत भावना सारे प्रशासन में व्याप्त थी। दीवानी जुर्मों में बेंत की सज़ा खत्म कर दी गई, उनकी जगह कारावास की कुछ अवधियाँ रख दी गई। इसमें जनता की स्वीकृति नहीं थी।

धार्मिक (Religious)—विद्रोह के धार्मिक कारणों के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त है कि कट्टर हिन्दू अंग्रेजों को महान् मूर्त्ति-भञ्जक समझते थे तथा उन्हें इस बात का भय रहता था कि उनका अपना धर्म ईसाइयत से नष्ट हो जाएगा। सैनिक तथा नागरिक जनसंख्या को इस बात का भय था कि सरकार प्रत्येक को ईसाई बनाना चाहती है, जैसे मुसलमानों ने पहले किया था। अंग्रेजों ने मिशनरियों की प्रगति को देश के प्रत्येक भाग में फैला दिया था। कई अवसरों पर मिशनरियों की सभाएँ जिलों के मुख्य स्थानोंपर की जाती थीं, जिनकी कलैक्टर अध्यक्षता करते थे। सम्पत्ति के सम्बन्ध में हिन्दू कानून में परिवर्तन किया गया, जिससे हिन्दुओं के ईसाई बनाने में सुविधा प्राप्त हो। पहले जो लोग हिन्दू धर्म से धर्म-परिवर्तन कर लेते थे, उन्हें सम्पत्ति के उत्तराधिकार की अनुमति प्राप्त नहीं होती थी, किन्तु इस अड़चन को दूर कर दिया गया। अंग्रेजों ने भारतीयों को ईसाई बनाने की अपनी धारणा को रहस्य के रूप में नहीं छिपाया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरैक्टरों के प्रधान मैंग्लीज़ ने ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्ज़ में निम्नलिखित वक्तव्य दिया : "परमेश्वर ने भारत के विस्तृत साम्राज्य को इंग्लैण्ड को इसलिए सौंपा है कि ईसा का झण्डा भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक सफलतापूर्वक लहराता रहे। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए कि समस्त भारतीयों को ईसाई बनाने के महान् कार्य को इस देश में जारी रखने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होनी चाहिए।"

रेलवे तथा तार पद्धति के प्रारम्भ को भी भारतीयों ने भारतीयों को यूरोपीय बनाने के रूप में ग्रहण किया। डाक-पद्धति के सम्बन्ध में भी सन्देह की यही भावना प्रकट की गई। नये स्कूलों में सब जातियों तथा धर्मों के बालक इकट्ठे बैठते थे तथा इसे लोगों के धर्म के साथ हस्तक्षेप के प्रयत्न के रूप में समझा गया।

सैनिक कारण (Military)—फौजी कारणों के सम्बन्ध में यह कहना अभीष्ट है कि भारतीय सैनिकों में पर्याप्त असन्तोष था। पैदल सेना के भारतीय सूबेदार को जो ऊँचे से ऊँचा वेतन मिलता था, वह नये यूरोपीय रंगरूट के कम से कम वेतन से भी कम था। प्रायः भारतीय सिपाही के लिये कोई उन्नति नहीं थी। उसके लिये रिसालदार के रूप में भरती होकर रिसालदार के रूप में ही रिटायर होना सम्भव था। सरकार भारतीय सैनिकों का विश्वास नहीं करती थी। प्रत्येक कम्पनी में, दो अथवा तीन देसी अफसर हैं, जो जब कभी बहुत अच्छे सिद्ध होने लगते हैं, तब उन्हें अवकाश प्राप्त करने के समय नौकरी से पूरे वेतन पर मुक्त कर दिया जाता है तथा यह समझा जाता है कि उन्हें पुरस्कृत किया जा रहा है। ज्यों ही सिपाही उनके सम्पर्क में आने लगते हैं, अथवा ज्योंही उनकी

प्रशंसा तथा आदर होने लगता है, जो एकमात्र यूरोपीय अफसरों की ही सम्पत्ति समझा जाता है, उन्हें तत्काल ही मुक्त कर दिया जाता है।

सैनिकों के आत्मसम्मान को पग-पग पर कुचला जाता था। परेड के समय अपने सैनिकों को अपमान-भरे शब्द बोलना तथा उनके साथ गाली-गलौज का निन्दित व्यवहार करना एक सामान्य बात थी। सिपाहियों ने भत्तों के हटाए जाने पर रोष का प्रदर्शन किया। भारतीय सैनिकों को समुद्र-पार युद्धों में लड़ने के लिए बुलाया जाता था। क्रीमिया के युद्ध के अवसर पर उन्होंने जाने से इनकार कर दिया था। १८५६ में सामान्य फौजी भरती का कानून स्वीकृत हुआ। इस कानून के अनुसार, कोई सिपाही भी, जिसे इस कानून के आधीन भरती किया गया हो, समुद्र-पार जाने से इन्कार नहीं कर सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय सेना साम्राज्यवादी सेना में परिवर्तित हो गई। बंगाल सेना के सैनिकों के अधिकार वापिस ले लिये गये। इस प्रकार के प्रयत्न किये गय कि उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित कर दिया जाए। उन भारतीय सैनिकों को पद-वृद्धि दी गई, जो ईसाई बन गये।

अवध सैनिकों का केन्द्र था तथा जब उसे १८५६ में अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया तब रियासती सेना को तोड़ने के परिणामस्वरूप ६०,००० व्यक्ति बेकार हो गए। सैनिकों की राष्ट्रीय भावनाओं को चोट लगी। भारतीय सैनिकों में इतना अधिक क्रोध भरा था कि उनमें से एक ने सर हैनरी लारैन्स से कहा—"यदि सैनिक के साथ न्याय न किया गया, तो वह स्वयं अपने कष्टों का निवारण करने के उपाय करेगा।"

ब्रिटिश फौजों की अपेक्षा भारतीय फौजों की संख्या ज्यादा थी। १८५६ में भारतीय सेना में २३,३०० भारतीय सैनिक थे तथा ४५,३२२ अंग्रेज। यद्यपि लार्ड डलहौज़ी ने इस कमी को पूरा करने की आवश्यकता के लिए ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकर्षित किया, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इस सम्बन्ध में ध्यान नहीं दिया।

भारत में फौजों के वर्गीकरण में भी गलती थी। बंगाल सेना में १५१,३६१ सैनिक थे। पंजाब में लगभग ४०,००० सैनिक थे। बंगाल तथा बिहार में कलकत्ता तथा पटना के समीप दीनापुर के अतिरिक्त कोई अंग्रेजी सेना नहीं थी। भारतीय कम्पनी की अनेक स्थानों पर कमज़ोर स्थिति से अच्छी प्रकार से परिचित थे तथा उसका लाभ उठाना चाहते थे।

सामान्य अशान्ति के चिह्न उस समय प्रकट हुए, जब १८५६ में रहस्यपूर्ण रोटियां अथवा केक एक देहात से दूसरे देहात तक पहुँचने लगे। इसी प्रकार फौजों में वैसे ही कमल के फूल भी बँटने लगे। यद्यपि इसका कारण ज्ञात नहीं है किन्तु इसके कारण रहस्य के वातावरण ने जन्म लिया। जून १८५७ में प्लासी के युद्ध की शताब्दी मनाई जाने वाली थी तथा जनता १०० वर्षों के पश्चात् भारत में ब्रिटिश शासन की समाप्ति की प्रतीक्षा कर रही थी। भारतीय सैनिकों के मध्य अपने अंग्रेज अफसरों के विरुद्ध सभाएँ हुईं। वे उनसे बदला लेने का विचार कर रहे थे। इसकी योजना सरल थी। एक ही दिन (२२ जून, १८५७) उन्होंने भारत में हड़ताल करने का निश्चय कर लिया था। उनके कार्यक्रम में यूरोपीय अफसरों को मारना, बन्दीखानों के ताले तोड़ देना, सरकारी खज़ानों पर अधिकार करना, तार काटना तथा रेलों की पटरी उखाड़ना, बारूद के संग्रह, शस्त्रागारों

तथा दुर्गों पर अधिकार करना था। ऐसी आशा की गई कि यदि ये सब कार्य एक साथ ही आरम्भ कर दिए गये, तो उन्हें विदेशी सरकार के बन्धन से मुक्त होने का पूर्ण अवसर मिल जायगा।

तात्कालिक कारण (Immediate Causes)—विद्रोह का तात्कालिक कारण ग्रीज़, चर्बी लगी हुई कारतूसें थीं। एक नियम के अनुसार सिपाहियों को कारतूसों को एक किनारे पर दांतों से काटना पड़ता था। इस प्रकार की एक अफवाह थी कि नई बन्दूकों में जिन कारतूसों का प्रयोग होता है, वे गौ तथा सूअरों की चर्बी से चिकनी की गई थीं। इनमें से गाय हिन्दुओं के लिए पवित्र थी तथा मुसलमानों के लिए सूअर का प्रयोग निषिद्ध था। अपने अज्ञान के कारण ब्रिटिश सरकार ने लगाए गए आरोप से इनकार कर दिया। तथापि यह बात बाद में स्पष्ट हुई कि वास्तव में गौ तथा सूअरों की चर्बी प्रयुक्त की गई है। इसका परिणाम यह हुआ कि सैनिक भड़क उठे। बंगाल की देशी सेना में अशान्ति छा गई। अप्रैल १८५७ में कुछ फौजों ने उन कारतूसों को प्रयोग करने से इनकार कर दिया, जो उन्हें दिए गये थे। उन पर फौजी मुकदमे चलाए गये तथा उन्हें दस वर्ष का कारावास दिया गया। ९ मई के दिन उन्हें सार्वजनिक रूप से पदच्युत किया गया, उनकी वर्दियाँ छीन ली गईं तथा उन्हें जेल में बन्द कर दिया गया।

विद्रोह का विस्तार तथा दमन (Spread and Suppression of Mutiny)–तीन फौजी दस्तों में प्रकट क्रान्ति भड़क गई। उसके सैनिकों ने अपने अफसरों पर गोली चला दी, जेलखाने के ताले तोड़ दिए, अपने साथियों को मुक्त कर दिया तथा दिल्ली की ओर चल पड़े। दिल्ली के सैनिक उनमें सम्मिलित हो गये। यूरोपियन लोगों की हत्या की गई तथा दिल्ली नगर पर अधिकार कर लिया गया। भूतपूर्व मुगल सम्राट् बहादुरशाह को राज्यगद्दी पर बिठा दिया गया। विद्रोह लखनऊ, बरेली, कानपुर, आगरा, झाँसी, मध्य-भारत, बुन्देलखण्ड तथा अन्य स्थानों तक फैल गया। प्रत्येक स्थान पर यूरोपीय लोग मार डाले गये तथा सैनिक दिल्ली की ओर कूच करने लगे। पंजाब में सिख शान्त रहे। हैदराबाद भी शान्त रहा। सिन्धिया के राज्य में भी शान्ति रही। सिन्धिया के सम्बन्ध में शान्ति का श्रेय सर दिनकर राव को तथा हैदराबाद के सम्बन्ध में सर सालार जंग को है।

प्रारम्भ में अंग्रेज प्रतिरक्षात्मक कार्रवाई में व्यस्त रहे। तथापि इस बात का प्रत्येक प्रयत्न किया गया कि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रत्येक भाग से सैनिकों को प्राप्त किया जाये। अंग्रेजी सेना के १,१२,००० सैनिक प्राप्त हो गये तथा ३,१०,००० सैनिकों को इसी उद्देश्य से भारतवर्ष में भरती किया गया। पंजाब से भी सेनाएँ आईं। घमासान युद्ध के पश्चात् दिल्ली पर पुनः अधिकार किया गया। लखनऊ में सर हेनरी लॉरेन्स की आक्रमण के समय में हत्या कर दी गई। तथापि जनरल औट्रम तथा हैवेलाक ने लखनऊ रैजीडैंसी में जाकर शरण ली। उन्हें घेर लिया गया, किन्तु बाद में वे बच गये।

कानपुर में नाना साहेब संघर्ष का नेतृत्व कर रहे थे। ब्रिटिश तोपखाने ने हथियार डाल दिये। चार व्यक्तियों को छोड़कर सब व्यक्ति मारे गये। कैम्पबैल ने कानपुर पर पुनः अधिकार कर लिया।

झाँसी की रानी तथा तान्तिया टोपे ने डटकर मुकाबला किया। झाँसी की रानी लड़ते हुए मारी गई। तान्तिया टोपे भागने में सफल रहा। नाना साहेब को एक स्थान से

दूसरे स्थान तक खदेड़ा गया, किन्तु उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

यह बात उल्लेखनीय है कि भारतीयों के पक्ष में नाना साहेब, अज़ीमुल्लाह खान, फैजाबाद के मौलवी अहमदशाह, कुँवर सिंह, तान्तिया टोपे तथा लक्ष्मीबाई थे। कुँवरसिंह छिपकर लड़ने वालों में था। तान्तिया टोपे विद्रोहियों के पक्ष में संघर्ष करने वालों में फौजी प्रतिभा था। उसकी साधन-सम्पन्नता विद्रोहियों के लिए यथार्थ कवच था। उसने अंग्रेज़ी फौजों को अपने पीछे नौ मास तक तीन सहस्र मील से अधिक इस प्रकार दौड़ाये रखा, मानो एक बिल्ली अपनी पूंछ का अनुकरण कर रही हो। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई तो मानो विद्रोह की साक्षात् मूर्ति थी। वह इसकी प्रेरणा देने वाली तथा निर्माता थी।

विद्रोह के दिनों में तथा उसके पश्चात् बहुत-सी हत्याएँ हुईं। इन हत्याओं का प्रारम्भ भारतीयों की ओर से हुआ। सम्भवतः उनका उद्देश्य भारतीयों पर अत्याचार करने के उत्तरदायी यूरोपीय अफसरों को फाँसी पर लटकाकर देश में एक मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार करना था, किन्तु अंग्रेज बदला लेने में बाज़ी ले गये। हत्या किये गये एक-एक अंग्रेज के स्थान पर सौ-सौ भारतीयों की हत्या की गई। ग्रामीण तथा नागरिक दोनों इनकी रुधिर की प्यास को शान्त करने के लिए बलिदान किये गये। छोटे-छोटे बालकों पर जिन्होंने विद्रोहियों के झण्डे को फहराने भर का अपराध किया था, संक्षिप्त मुकदमे चलाये गये। बारह व्यक्तियों के समूह को वृक्षों से फाँसी पर लटका दिया गया क्योंकि उन्होंने मार्च करते हुए अंग्रेज सैनिकों के सामने पीठ की। केवल इलाहाबाद में ही छः सहस्र व्यक्ति कत्ल कर दिये गये। मुसलमानों को सुअर की खालों में सी दिया गया तथा नदियों में फेंक दिया गया। उन्हें फाँसी पर लटकाने से पूर्व उन्हें सुअर की चर्बी से लीपा पोता गया। उनके शरीरों को जला दिया गया। फतेहगढ़ के दीवान को फाँसी पर चढ़ाने से पूर्व उसके मुँह में सुअर का माँस भर दिया गया। हिन्दुओं के गलों में गाय का माँस ज़बरदस्ती डाला गया। उन्हें उनकी प्रतिष्ठा का ध्यान न करते हुए भंगियों के समान कार्य करने के लिए विवश किया गया। इन सब प्रकार की हत्याओं का उद्देश्य भारतीयों के मन में आतंक जमाना था।

विद्रोह की असफलता के कारण (Causes of the Failure of Mutiny)—(१) विद्रोह की असफलता के अनेक कारण हैं। प्रथम, विद्रोह सीमित क्षेत्रों में फैला हुआ था। भारतवर्ष के कुछ भाग तो इससे बिल्कुल प्रभावित ही नहीं हुए, विशेष रूप से नर्बदा नदी के दक्षिण भाग पर इसका तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ। इसके कारण कहीं भी स्थिति में किसी प्रकार की भी बाधा उपस्थित नहीं हुई। सिन्ध में शान्ति रही। राजपूताना भी वफादार रहा। दोस्त मुहम्मद मित्रतापूर्ण रहा। केन्द्रीय तथा पूर्वी बंगाल भी शान्त रहे। नेपाल के गोरखा लोगों ने विद्रोहियों के साथ मिलने के स्थान पर अंग्रेजों की उल्लेखनीय सेवा की। इस तथ्य के होते हुए भी कि पंजाब को सिखों से केवल ८ वर्ष पूर्व ही पर्याप्त रुधिर बहाने के पश्चात् जीत लिया गया था, इस प्रदेश में पूर्ण शान्ति रही। यदि पंजाब के लोग विद्रोहियों के साथ मिल जाते, तो विद्रोह की कहानी पूर्ण रूप से अलग होती। वास्तव में सर जान लारेन्स का शासन अत्यन्त लोकप्रिय न था तथा उसे उनकी वफादारी के सम्बन्ध में स्वयं निश्चय नहीं था। तो भी पंजाबियों की वफादारी के कारण अंग्रेजों के लिए समस्या आसान हो गई। न केवल वे स्वयं वफादार रहे, अपितु उन्होंने लाहौर, पेशा-

वर तथा मुलतान में बंगाल की सेनाओं को शस्त्रहीन करने तथा उन पर पहरा देने के सम्बन्ध में सरकार को सहायता दी। उन फौजों को, जिन्होंने विद्रोह किया था, नियन्त्रण में करना था।

प्रान्तीय सुरक्षा और शान्ति के कारण प्रान्तीय सरकार इस योग्य रही कि वह अपनी फौजें दिल्ली भेज सके। पंजाब इस सम्बन्ध में इतना वफादार रहा कि व्यावहारिक रूप से लगभग सभी सेनाएँ पंजाब की ओर से आईं तथा वहाँ किसी प्रकार की कोई अशान्ति न हुई। ऐसा कहा जाता है कि यदि विद्रोह कुछ क्षेत्रों में ही सीमित न होता तथा देश के प्रत्येक भाग में फैला हुआ होता, तब देश का भाग्य इससे भिन्न होता।

(२) झाँसी की रानी, अवध के ताल्लुकेदारों तथा कुछ अन्य छोटे-छोटे सरदारों को छोड़कर अन्य कोई भी नरेश विद्रोहियों में सम्मिलित न हुआ। सिन्धिया तथा होल्कर वफादार बने रहे, यद्यपि उनकी सेनाओं ने विद्रोह कर दिया। सरहिन्द के सरदार ने अंग्रेजों की बहुत सहायता की। सर दिनकर राव तथा सालार जंग, सिन्धिया तथा निज़ाम के इलाकों में शान्ति स्थापित करने के लिए उत्तरदायी हैं। उनकी भक्ति तथा मित्रता के बिना अंग्रेजों के लिए परिस्थिति बहुत खराब हो जाती। यह बात ठीक प्रकार से बताई गई है कि सालार जंग का नाम सदा के लिए अंग्रेजों के द्वारा धन्यवाद तथा प्रशंसा के योग्य उल्लेखनीय है।

(३) नेतृत्व के अभाव में विद्रोही असफल रहे। सच है कि झाँसी की रानी एक योग्य स्त्री थी; किन्तु न तो वह सब सेनाओं की अध्यक्ष थी और न बहुत अनुभवी सेनाध्यक्ष थी। विद्रोही किसी सामान्य योजना के बिना कार्य करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें अलग-अलग पराजय हुई।

(४) भारतीय नेताओं का कोई सामान्य हित नहीं था। प्रत्येक का अपना-अपना स्वार्थ था। कोई भी किसी अन्य के साथ सहयोग करने के लिए तत्पर नहीं था। इसलिए भारतीय अपने प्रयत्न से अधिक कुछ न प्राप्त कर सके। मुसलमान सम्राट् के आधीन तथा हिन्दू नाना साहेब तथा झाँसी की रानी के नेतृत्व में लड़े। होम्ज़ के अनुसार, विद्रोही बुद्धि से काम लेना नहीं जानते थे, कुछ ने आधे दिल से भाग लिया तथा अनिच्छापूर्वक उन नेताओं से लड़ाई की, जिनकी वे आज्ञा मानने के आदी थे।

(५) अंग्रेजों का यह सौभाग्य था कि उनके पास लारैन्स, औट्रम, हैवेलाक, निकल्सन तथा एडवर्ड्स जैसे महान् व्यक्ति थे। उन्होंने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक स्थिति को सम्भाला। इसके विपरीत देश में उनकी टक्कर के सैनिक बुद्धि वाले व्यक्ति विद्रोहियों के साथ नहीं थे।

(६) बंगाली सेनाओं का व्यक्तिगत चरित्र भी विद्रोह की असफलता के लिए उत्तरदायी है। वे घमण्डी थे तथा भारत के प्रत्येक भाग में घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। कई स्थानों पर तो जनता ने ही विद्रोहियों का दमन किया।

(७) अंग्रेजों के लिए सन् ५७ का वर्ष कई प्रकार से हितकारी था। क्रीमिया तथा चीन के युद्ध अभी-अभी समाप्त हुए थे। अंग्रेजी फौजें इस समय विद्रोहियों के विरुद्ध अपनी शक्ति अथवा दबाव का प्रयोग कर सकती थीं। फ़ारस को पराजित किया जा चुका था तथा वहाँ किसी प्रकार का खतरा नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय रूप से भारतीय विद्रोही बिल्कुल

जुदा था।

(८) समुद्रों पर अपने नियन्त्रण के कारण अंग्रेज इस स्थिति में थे कि बिना किसी व्यावहारिक कठिनाई के सैनिकों तथा सैनिक सामग्री को भारत में ला सकें। शीघ्र ही लाखों सैनिक भारत भेजे गए। भारतीय पुराने किस्म के शस्त्रास्त्रों से लड़ते थे। वे अपनी तलवारों से शत्रुओं की नवीन बन्दूकों का मुकावला न कर सकते थे। विद्रोहियों के पास वास्तव में युद्ध की कोई सामग्री न थी। उनके पास तो केवल वे ही शस्त्र थे, जिन्हें वे अपने अधिकार में कर सके थे।

(९) विद्रोहियों के लिए सफलता की एकमात्र यही आशा थी कि उन्हें शीघ्र विजय पर विजय प्राप्त हो। समय उनके विरुद्ध था। यह बात स्वतः सिद्ध थी कि अंग्रेज बाहर से अधिक सहायता प्राप्त कर सकेंगे।

(१०) जब कि विद्रोहियों ने समाज के सभी वर्गों से सहायता की प्रार्थना की किंतु किसानों से इस प्रकार की प्रार्थना नहीं की गई। जब कि अन्य सभी वर्गों के साथ अच्छा बर्ताव किए जाने का आश्वासन दिया गया, किसानों के प्रति पूर्ण उपेक्षा की भावना रखी गई। यह कहा गया है कि विद्रोही नेताओं को किसानों को अपने पक्ष में इकट्ठा करने की असमर्थता के कारण वे अपनी सफलता के सम्बन्ध में निराश हो गए। उनके विद्रोह को राजाओं, बरवाद सरदारों तथा अन्य राजकीय हितों से शक्ति प्राप्त हुई। वे शक्तियाँ भारत में अंग्रेज सरकार को पलटने में असमर्थ तथा अयोग्य थीं।

विद्रोह का प्रभाव (Effects of the Mutiny)—(१) १८५७ के विद्रोह ने भारत को अप्रभावित नहीं छोड़ा। सर ग्रिफ़िन के कथनानुसार, "भारत में १८५७ के विद्रोह से बढ़कर कोई भाग्यशाली घटना नहीं घटित हुई।" इसने भारतीय आकाश से बहुत से बादल साफ कर दिए। इसने एक आलसी फौज को जो यह समझती थी कि अपने सौ वर्ष के जीवन में इसने शानदार सेवा की है, भंग कर दिया। इसने संसार को यह दिखाया कि अंग्रेज़ साहस तथा राष्ट्रीय भावना रखते हैं, जिसके कारण इतनी बड़ी विपत्ति भी टल गई थी तथा उन्होंने बड़ी से बड़ी बाधा की भी परवाह नहीं की।

(२) यह विद्रोह आक्रमणात्मक यूरोपीय नवीन पद्धति के विरोध में एक क्रान्ति थी। पुराने तथा नये विचारों के मध्य जो संघर्ष था, उसका किसी न किसी प्रकार से मुकावला होना था। यह संघर्ष आवश्यक तथा न टल सकने वाला था चाहे वह १८५७ में चर्बी वाले चिकने कारतूसों के कारण हो अथवा किसी अन्य कारण। ऐसा संघर्ष बिना कष्ट तथा रक्तपात के नहीं टाला जा सकता था।

(३) विद्रोह के कारण भारतीय रियासतों के प्रति भारत सरकार की नीति में परिवर्तन हुए। आधीन अलगाव की भावना छोड़ दी गई तथा आधीन संघ की नई नीति का उद्घाटन किया गया। महारानी विक्टोरिया ने अपनी १८५८ की घोषणा में घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार भारतीय रियासतों को अपने राज्य में सम्मिलित नहीं करेगी। भारतीय नरेशों को आश्वासन दिया गया कि उन्हें दत्तक लेने तथा उत्तराधिकार के संबंध में अधिकार हैं। उन्हें प्रतिष्ठा के अनुसार सनदें तथा प्रमाण-पत्र दिये। भारत सरकार ने भारतीय राजाओं पर अधिकाधिक विश्वास करना आरंभ कर दिया क्योंकि भारतीयों में विदेशियों के प्रति अन्य-संक्रामण (alienation) की भावना उत्पन्न हो रही थी।

(४) ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अलग सेना को तोड़ दिया गया तथा उसे सरकारी सेना में मिला दिया गया।

(५) पिट के भारतीय कानून ने इंग्लैंड में दोहरे नियन्त्रण की स्थापना कर दी थी। यह नियन्त्रण डायरैक्टर तथा नियन्त्रण बोर्ड के द्वारा अलग-अलग रूप में थे। दोनों विभाग समाप्त कर दिये गये तथा उनका स्थान भारत मन्त्री तथा भारतीय कौंसिल ने ले लिया।

(६) विद्रोह १८६० तक बिल्कुल शान्त हो गया किन्तु उसका प्रभाव गहरा था। इसने जातीय जीवन की चाल को परिवर्तित कर दिया। विद्रोह ने यूरोपीय तथा भारतीय लोगों में खाई को चौड़ा कर दिया। मुस्कराहट लुप्त हो गई तथा भारत के लिए भाव प्रकट करने का एक मात्र उपाय शक्ति-भावना ने ले लिया। अंग्रेज सैनिक भारतीयों से घृणा करने लगे, यहाँ तक कि उनके साथ भी, जो उनके पक्ष में लड़ रहे थे। वे भारतीयों की सामान्य आत्मा से भी इन्कार करते थे।

(७) विद्रोह की असफलता ने मुसलमानों तथा हिन्दुओं में एक गलतफ़हमी उत्पन्न कर दी। मुसलमानों ने विद्रोह के लिए अत्यन्त उत्सुकता तथा व्यापक सहानुभूति प्रकट की थी। दक्षिण भारत में भी, जहाँ उनकी संख्या कम थी, १८५७ तथा १८५९ के मध्य उनके द्वारा बहुत से षड्यन्त्र होने का पता चला। जब विद्रोह आरम्भ हुआ, तब हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने अधिक संख्या में उसमें भाग लिया, किन्तु मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से ब्रिटिश विरोधी थे। इसका परिणाम यह हुआ कि दमन का हाथ हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों पर अधिक दृढ़ता से पड़ा। उनके बहुत से प्रमुख व्यक्ति फाँसी पर लटका दिये गये अथवा निर्वासित कर दिये गये। झज्झर, वल्लभगढ़, फ़र्रुखनगर तथा फर्रुखाबाद के नवाबों के साथ यही व्यवहार किया गया। केवल १८ नवम्बर, १८५७ के दिन ही चौबीस राजकुमार दिल्ली में फाँसी पर लटकाये गये। सब ओर मुसलमान निशाना बने। मुसलमानों की सम्पत्ति भी व्यापक रूप से ज़ब्त की गई।

(८) इस सबका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों के हृदय में हिन्दुओं के विरुद्ध भावना उत्पन्न हो गई। दोनों जातियों में मतभेद बढ़ने लगा। दोनों एक दूसरे से खिंचने लगे। हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या असम्भव हो गई।

(९) विद्रोह का एक और प्रभाव यह हुआ कि मुस्लिम पुनर्जागरण, जो विद्रोह से पूर्व दिल्ली में विकसित हो रहा था, इतना पीछे पड़ गया, कि उसको बड़ा धक्का लगा। सांस्कृतिक विकास रुक गया। सी० ऐफ० एण्ड्रयूज़ के मतानुसार, "विकसित होने वाले आध्यात्मिक जीवन को इससे जो घातक धक्का लगा, उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। दिल्ली में विद्या के पुनरुद्धार का कार्य ढीला पड़ता गया। ऐसी स्थिति से अब तक भी छुटकारा नहीं मिला।" हिन्दू पुनरुत्थान का केन्द्र कलकत्ता, विद्रोह की भयानकता से बचा रहा तथा बचा लिया गया।

(१०) विद्रोह से जो शिक्षाएँ प्राप्त हुईं, उनके दो मुख्य सिद्धान्तों को स्थिर रखने का प्रयत्न किया गया। प्रथम, ब्रिटिश सेनाओं की शक्ति को, जिसका मुकाबला नहीं किया जा सकता था, इस देश में बनाये रखा गया तथा तोपखाने की व्यवस्था यूरोपीय व्यक्तियों के हाथों में रही। भारतीय सेना की संख्या आधी कर दी गई। ७७ फौजी दस्ते तोड़ दिये

गये। क्योंकि यूरोपियन सैनिक का वेतन भारतीय सैनिक की अपेक्षा चौगुना अथवा पाँच गुना होता था, इसलिए भारत का फौजी बजट इस पुनर्व्यवस्था के कारण बहुत बढ़ गया। फौजी स्थानों तथा आवश्यक नाकों पर यूरोपीय फौजों को लगाया गया, जिनकी संख्या लगभग दुगुनी थी। सर रिचर्ड टेम्पल ने इस प्रकार लिखा—"साम्राज्य के प्रत्येक बड़े फौजी स्थान में अब पर्याप्त यूरोपीय हैं जो विद्रोह के अवसर पर भी दृढ़तापूर्वक स्थिति का नियन्त्रण कर सकते हैं।" भारतीय तोपखाना तोड़ दिया गया। नई भारतीय फौज में ऊँची जातियों के लोगों को बाहर रखा गया। बंगाल फौज अन्ततः पंजाब फौज बन गई। नई फौज डिवीज़नों तथा सन्तुलन के आधार पर संगठित की गई।

(११) विद्रोह का एक परिणाम यह भी हुआ कि भारतवर्ष पर इंग्लैंड की ओर से और भी अधिक नियन्त्रण हो गया। भारतीय विदेश नीति को यूरोपीय राजनीति से जोड़ दिया गया।

(१२) विद्रोह के परिणामस्वरूप भारत में रुचि का केन्द्र बाह्यनीति की अपेक्षा भीतरी विकास की ओर परिवर्तित हो गया।

विद्रोह के सम्बन्ध में थॉम्पसन तथा गैरेट के विचार (Thompson and Garratt on the Mutiny)—थॉम्पसन तथा गैरेट के विचार में, "विद्रोह को या तो सैनिक विद्रोह समझा जाना चाहिए अथवा राजाओं तथा जागीरदारों के द्वारा छीनी हुई सम्पत्ति को पुनः प्राप्त करने के लिये घोषणा अथवा मुगल साम्राज्य का पुनः उद्धार करना अथवा किसानों का एक युद्ध। प्रत्येक दृष्टिकोण से यह एक स्थानीय, सीमित तथा असंगठित था। तीन प्रान्तीय सेनाओं में से केवल एक ने विद्रोह किया तथा यह संदिग्ध है कि सिपाहियों के चतुर्थ अंश ने भी सरकार के विरुद्ध शस्त्र उठाये हों। दिल्ली तथा अन्य स्थानों पर विद्रोही सेनाओं की सम्भावित संख्या से पता चलता है कि ज्यों ही प्रत्येक दस्ता विद्रोह करता था, बहुत से सिपाही अपने ग्रामों की ओर खिसक जाते। किसी महत्त्वपूर्ण राजा ने विद्रोहियों के साथ अपनी सेनाओं को नहीं मिलने दिया तथा अनेक ने पटियाला नरेश के समान सरकार की उत्साहपूर्वक सहायता की। उन सहस्त्रों जागीरदारों में से, जिन्होंने इनाम कमीशन अथवा अवध और उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में परिवर्त्तनों के कारण अपनी सम्पत्ति गँवा दी थी, केवल अवध के ताल्लुकेदारों ने विद्रोहियों की सहायता करने के लिए कुछ संगठित प्रयत्न किया, तथा वे भी कई मास तक निश्चय न कर सके। पाँच करोड़ भारतीय मुसलमानों में से प्रति दस हजार केवल तीन ही अपने पुनःसंस्थापित सम्राट् के चारों ओर इकट्ठे हो सकते हैं। कुछ क्षेत्रों में, जहाँ अत्यधिक भूमिकर आदि के लगाये जाने के कारण लोगों ने अनेक कष्ट उठाये हैं, वहाँ ग्रामीणों ने विद्रोहियों को सहायता दी, किन्तु कहीं भी ऐसी स्थिति नहीं थी, जिसे विद्रोह के पक्ष में कह सकें। साम्राज्य प्रशासन का कार्य नर्बदा के दक्षिण में, बंगाल के प्रायः सब भागों में तथा पंजाब में प्रत्येक स्थान पर चलता रहा। मद्रास तथा बम्बई से भारतीय तथा अंग्रेजी सेना के दस्ते भेजे गये, जिससे वे विद्रोहियों को दबाने के कार्य में सफल हो सकें। पंजाब में, जो अभी-अभी अंग्रेजी शासन में मिलाया गया था, बंगाल के सैनिक दस्तों ने विद्रोह कर दिया अथवा उन्हें निःशस्त्र कर दिया गया तथा सिस-सतलुज जिलों पर इसका प्रभाव पड़ा, किन्तु निकलसन के नेतृत्व में एक अस्थायी दस्ता दिल्ली के संघर्ष को दबाने के कार्य में

सहायता देने के लिए भेज़ दिया गया तथा बहुत से सिखों तथा मुसलमानों को भी इस-दस्ते में सम्मिलित कर लिया गया। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में भी, जहाँ सबसे प्रबल संघर्ष हुआ, वहाँ जनसंख्या के थोड़े से भाग ने ही उत्साहपूर्वक भाग लिया।

"विद्रोह किसी मध्यकालीन गृहयुद्ध से अथवा बंगाल के प्रारम्भिक संघर्षों से मिलता-जुलता था। सेनाएँ ऐसे क्षेत्र में कार्य करती रहीं, जो सम्भवतः एक पक्ष के साथ सहानुभूतिशील थीं, किन्तु निःशस्त्र थीं तथा मुख्य रूप से शान्ति में छोड़े जाने के लिये उत्सुक थीं। जब मेरठ की दुर्ग-रक्षक सेना ने विद्रोह किया तथा दिल्ली की ओर प्रस्थान किया, उस समय भारत में कठिनाई से चालीस सहस्र प्रभावशाली ब्रिटिश सैनिक थे। जब हैवलाक ने लखनऊ की सहायता के लिए ऐसे प्रदेश में से प्रस्थान किया, जिसके साथ वैरी के समान वर्ताव किया जा रहा था, तब उसके आधीन दो सहस्र व्यक्ति थे। यह सेना उस सेना से कम संख्या वाली थी, जिसे क्लाइव प्लासी ले गया था। चार महीनों के भीतर ४०,००० ब्रिटिश फौजों के दस्ते, मद्रास की कुछ फौजी टुकड़ियों, गोरखों की छोटी सी सेना तथा सिखों और मुसलमानों की शीघ्रता में संगठित सैनिक भरती ने विद्रोह को दबा दिया। दिल्ली पर पुनः अधिकार कर लिया गया, लखनऊ में शान्ति स्थापित हो गई तथा एक सफल क्रान्ति की सब गम्भीर आशाएँ छोड़ दी गईं। यूरोप से सैनिक सामग्री तथा सेना आ पहुँची तथा सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोहियों को गोली से उड़ाने में प्रवृत्त हो गई, किन्तु वह इतनी पर्याप्त नहीं थी कि युद्ध की गति अथवा मात्रा में परिवर्त्तन कर सके।"

उन्हीं लेखकों के कथनानुसार, "दो तत्त्व ऐसे थे, जिनके कारण विद्रोह को उन छोटे-मोटे युद्धों से अलग किया जा सकता है, जो अंग्रेजों ने १९वीं शताब्दी में एशिया तथा अफ्रीका में लड़े। प्रायः इन सभी में अन्तिम विषय के सम्बन्ध में कभी गम्भीर सन्देह नहीं रहा, किन्तु १८५७ की गर्मियों के चार महीनों में ऐसा प्रतीत होता था कि विद्रोह स्वतन्त्रता के वास्तविक युद्ध के रूप में परिणत हो सकता है, जिसमें पुनः विजय की प्राप्ति असम्भव प्रतीत होती थी। सितम्बर तक यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय, जो क्रान्ति में प्रवृत्त थे, किसी निश्चित योजना के अनुसार कार्य करने के अयोग्य थे अथवा किसी राष्ट्रीय नेता के आधीन अपने आप कार्य करने को प्रस्तुत नहीं थे। उनकी प्रतिष्ठा घट रही थी तथा उनके नेता थोड़े से सैनिकों में बिना क्रम के युद्ध के अतिरिक्त अयोग्य प्रमाणित हो रहे थे। विद्रोह के क्रम ने इस बात को प्रमाणित कर दिया था कि भारत पर अंग्रेजों का प्रभुत्व कमजोर है। विद्रोह का यह पक्ष कभी भी भुलाया नहीं गया तथा उसकी स्मृति का प्रभाव प्रशासन के प्रत्येक अंग पर पड़ा। इससे भी बढ़कर आवश्यक युद्ध की पद्धति थी।" प्रारम्भ से ही दोनों पक्षों की ओर से पर्याप्त बर्बरता का राज्य था। विद्रोही सैनिक जानते थे कि यदि वे पकड़े गए, तो उन्हें कहीं भी शरण नहीं मिलेगी। विद्रोही जानते थे कि उन्हें केवल मृत्यु का ही नहीं, अपितु उससे भी अधिक किसी वस्तु का भय है। वे पहले से ही जान चुके थे कि अंग्रेजी सेनाएँ, "मुसलमानों को सुअर की खालों में सी रही हैं तथा उन्हें मृत्युदण्ड देने से पूर्व सुअर के मांस की चर्बी से लीप-पोत रही हैं तथा उनके शरीरों को जलाया जा रहा है। वे हिन्दुओं को भी अपने आपको दूषित तथा अपवित्र करने के लिए विवश कर रही थीं।" इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि विद्रोहियों ने अपने सैनिक अनुशासन को भुला दिया तथा उन्होंने अपने चारों ओर सब प्रकार के ऐसे व्यक्ति इकट्ठे

कर लिये, जो अंग्रेजों की जितनी भी हानि कर सकें, उतना ही अच्छा हो। ब्रिटिश सेनाओं ने भी प्रतिशोध की भावना से कार्य किया तथा उन्होंने भी उन नीचातिनीच क्रूरताओं को क्रियान्वित किया, जिनकी कोई कल्पना कर सकता है।

विद्रोह के सम्बन्ध में मौलाना आज़ाद के विचार (Maulana Azad on the Mutiny)—१९५५ में भारतीय इतिहास अभिलेख आयोग के ३१वें अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए मौलाना आज़ाद ने विद्रोह के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट किए तथा यह उचित प्रतीत होता है कि उनका उल्लेख किया जाए। अपने भाषण में उन्होंने इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किए—"आप लोग जानते ही हैं कि १८५७ के पश्चात् इस संघर्ष की प्रकृति तथा अभिप्राय काफी समय तक भारतवर्ष में तथा बाहिर वाद-विवाद का विषय रहा है। अनेक दृष्टिकोणों से अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं तथा यदि हम केवल प्रसिद्धि-प्राप्त ऐतिहासिकों के कार्य पर विचार करें तो भी ऐसी पुस्तकों की संख्या सैकड़ों होगा।

"यह बात स्पष्ट है कि वे सब पुस्तकें एक ही दृष्टिकोण से लिखी गई हैं अर्थात् अंग्रेजों के ही। ये सब इसी बात का प्रतिनिधित्व करती हैं कि यह संघर्ष भारतीय सेना का तत्कालीन वैधानिक सरकार के विरुद्ध था। कुछ भारतीय रियासतें भी विद्रोह में सम्मिलित हुईं, किन्तु ये रियासतें वे थीं जिनको इस बात की शिकायत थी कि लार्ड डलहौज़ी ने उनकी रियासतों को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया था। देश की वैधानिक प्रभुसत्ता होने के कारण अंग्रेजी सरकार ने विद्रोह को दबाया तथा कानून और शांति को पुनः स्थापित किया।

"इस विषय पर लिखी हुई इन बहुत सी पुस्तकों में से एक में भी इस बात का प्रयत्न नहीं किया गया कि १८५७ की घटनाओं की किसी अन्य प्रकार से व्याख्या की जाए। यह बात भी उल्लेखनीय है कि ये लेखक जहाँ एक ओर उन क्रूरताओं का तो अत्यन्त विस्तृत वर्णन करते हैं जो भारतीयों ने अंग्रेज पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों पर किए, किन्तु एक ने भी अंग्रेजों के द्वारा भारतीयों पर की गई ऐसी ही तथा इससे अधिक अत्याचारपूर्ण क्रूरताओं का उल्लेख नहीं किया।"

विद्रोह के कारणों की चर्चा करते हुए मौलाना आज़ाद ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए, "यह प्रश्न प्रायः पूछा गया है कि विद्रोह के लिए कौन उत्तरदायी है। इस सम्बन्ध में कभी-कभी यह सुझाव भी दिये गये हैं कि इस सम्बन्ध में, योजना बनाने वाले व्यक्तियों का एक छोटा-सा समूह था, जिसने एक योजना बनाई, जिसके अनुसार आन्दोलन चलाया गया। मुझे यह बात स्वीकार कर लेनी चाहिए कि इस सम्बन्ध में मुझे गंभीर सन्देह है।

"विद्रोह के समय में तथा उसके पश्चात् के वर्षों में अंग्रेजी सरकार ने विद्रोह की उत्पत्ति तथा कारणों के सम्बन्ध में काफी ध्यानपूर्वक जाँच-पड़ताल की। लार्ड सैलिसबरी ने हाउस ऑफ कामन्स में कहा कि वह यह मानने को तैयार नहीं कि ऐसा व्यापक तथा शक्तिशाली आन्दोलन चर्बी वाले कारतूस के विषय को लेकर हो सकता था। वह इस बात से प्रभावित था कि विद्रोह की पृष्ठभूमि अथवा मूल में कुछ अधिक बातें थीं, जो अपेक्षाकृत प्रकट होने वाले कारणों से अवश्य महत्त्वपूर्ण थीं।

"भारत सरकार तथा पंजाब सरकार ने इस प्रश्न के अध्ययन के लिए बहुत से आयोग तथा बोर्ड नियुक्त किए तथा उन सब काल्पनिक गल्पों तथा सुनी सुनाई बातों की ध्यानपूर्वक परीक्षा की गई। इसी प्रकार की एक कहानी रोटियों के द्वारा सन्देश भेजने के सम्बन्ध में भी थी। इस प्रकार की भविष्यवाणी भी थी कि भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य केवल एक सौ वर्ष तक रहेगा तथा यह जून १८५७ में प्लासी के युद्ध के १०० वर्षों के पश्चात् समाप्त हो जाएगा।

"दीर्घकालीन तथा विस्तृत छानबीन के होते हुए भी अब कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिल सका कि विद्रोह की योजना पहले से ही बना ली गई थी अथवा सरकार को उलटने के लिए सेना तथा भारतीय जनता ने किसी प्रकार का षड्यन्त्र किया था। जो साक्ष्य प्रस्तुत किए गये, वे छानबीन करने वाले अफसरों को भी प्रभावित न कर सके तथा कोई भी साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति ऐसे साक्ष्य को ओछा तथा मूर्खतापूर्ण कहकर ठुकराए बिना न रहेगा। वास्तविक तथ्य यह है कि जाँच से यह बात स्पष्ट हो गई कि विद्रोह बहादुरशाह के लिए भी उतना ही आश्चर्य का विषय था, जितना कि अंग्रेजों के लिए।

"कुछ भारतीयों ने इस संघर्ष के सम्बन्ध में इस शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में कुछ लिखा है। यदि सत्य कहा जाए तो हमें स्वीकार करना होगा कि वे ऐतिहासिक तथ्य न होकर केवल राजनैतिक प्रचार हैं। इन लेखकों ने विद्रोह को योजनाबद्ध स्वतन्त्रता का ऐसा युद्ध कहा, जिसका संगठन भारतीय नरेशों और नवाबों ने अंग्रेज सरकार के विरुद्ध किया।

"ऐसे लेखकों ने विद्रोह के संगठन करने वालों के रूप में कुछ व्यक्तियों को चित्रित करने का प्रयत्न भी किया है। ऐसा कहा गया है कि अन्तिम पेशवा बाजीराव का उत्तराधिकारी नानाराव विद्रोह की पृष्ठभूमि में मूल व्यक्तित्व था तथा उसने ही अखिल भारतीय सैनिक संगठनों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। इस बात के प्रमाणस्वरूप ऐसा कहा जा सकता है कि नानाराव मार्च तथा अप्रैल १८५७ में लखनऊ तथा अम्बाला गया तथा विद्रोह मई १८५७ में प्रारम्भ हुआ। मेरा विचार है कि आप इस बात से सहमत होंगे कि इस साक्ष्य को अन्तिम रूप से मानना कठिन होगा। केवल इतना ही तथ्य कि नानाराव ने विद्रोह से कुछ पूर्व लखनऊ तथा अम्बाला की यात्रा की, इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि उसने उसकी योजना बनाई।

"ये कल्पनाएँ कितनी निराधार हैं यह और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम यह देखते हैं कि ये इतिहासकार अवध के नवाब अलीनकीखाँ को विद्रोहियों में से एक मानते हैं। कोई भी व्यक्ति, जिसने अवध के इतिहास का अध्ययन किया है, इस बात को मूर्खतापूर्ण मानेगा। अलीनकीखाँ पूर्णरूप से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का विश्वस्त सेवक था। यही तो वह व्यक्ति था जिसे अंग्रेजों ने इस बात के लिए प्रयुक्त किया कि वह वाजिद अलीशाह को अपना राज्य स्वेच्छापूर्वक छोड़ने के लिए प्रेरित करे।

"जनरल औट्रम ने, जो अंग्रेज रेजीडेंट था, अलीनकीखाँ को उक्त उद्देश्य की सफलता होने पर उदारतापूर्ण पुरस्कार का वचन दिया था। अलीनकीखाँ अपने प्रयत्नों में इतना व्यग्र था कि वाजिदअली शाह की माता को यह आशंका हो गई कि कहीं वह सम्भवतः छल-कपट से मृत्यु का शिकार न हो जाए। इसलिए उसने राज्य की मुहर अपने

अधिकार में कर ली तथा उसे ज़नानखाने में सुरक्षित कर दिया। उसने आज्ञा दे दी कि उक्त मुहर उसकी आज्ञा के बिना बाहर न ले जाई जाए। ये सब तथ्य लखनऊ में सर्वविदित हैं तथा वहाँ के लोग अलीनकीखाँ को एक देशद्रोही के रूप में मानते हैं। यह समझना कि ऐसा व्यक्ति विद्रोह के मूल में एक प्रेरक शक्ति था, उक्त तथ्यों के आधार पर मूर्खतापूर्ण बात है।

"मुंशी अज़ीमुल्लाख़ान तथा रंगू बापू के सम्बन्ध में भी यह कहा गया है कि उन्होंने विद्रोह के सम्बन्ध में योजनाएँ बनाई थीं। अज़ीमुल्लाख़ान नानाराव का प्रतिनिधि था तथा उसने ही उसे लन्दन में अपने मुकदमे में बचाव पक्ष के रूप में भेजा था जिससे कि वह बाजीराव को मिलने वाली पेंशन को उसे दिलवाने की व्यवस्था कर सके। भारत लौटते समय वह टर्की गया, जहाँ वह क्रीमिया की युद्धभूमि में उमर पाशा से मिला। इसी प्रकार रंगू बापू भी सतारा के ब्रिटिश भारत में सम्मिलित किए जाने के डलहौज़ी के अन्य निश्चय के सम्बन्ध में अपील करने गया था।

"इस तथ्य से कि वे दोनों इस प्रकार के कार्यों के लिए लखनऊ गये, यह बात सिद्ध की जाती है कि उन्होंने षड्यन्त्रों में भाग लिया। तथापि यह बात स्पष्ट है कि इस प्रकार की कल्पनाएँ प्रमाण नहीं है। तथापि यदि उन्होंने लन्दन में इन विषयों के सम्बन्ध में चर्चा भी की हो, तो भी इससे हम यह सिद्ध करने में न्यायसंगत नहीं हो जाते कि वे क्रान्ति के निर्माता थे, जब तक कि हम उन्हें भारत की घटनाओं के साथ सम्बद्ध न कर सकें।

"इस प्रकार के सम्बन्ध का कोई प्रमाण नहीं तथा इस प्रकार के प्रमाण अथवा साक्ष्य के अभाव में हम उनके सम्बन्ध में यह नहीं कह सकते कि उन्होंने विद्रोह की योजना बनाई थी। कानपुर पर अधिकार कर लेने के पश्चात् अंग्रेजों ने नानाराव के सब काग़ज़ों पर अधिकार कर लिया। अज़ीमुल्लाख़ान के भी सब काग़ज उनके अधिकार में आ गये। उसके काग़ज़ों में एक पत्र था, जिसे उसने उमर पाशा के नाम लिखा था, किन्तु जिसे कभी भेजा नहीं गया था। जिसमें उसे यह सूचना दी गई थी कि भारतीय सिपाहियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्ति कर दी थी। न तो यह पत्र तथा न ही अज़ीमुल्लाख़ान का कोई अन्य काग़ज़ इस प्रकार का संकेत करता है कि उसने किसी समय भारत में किसी क्रान्ति के लिए योजनाएँ बनाई थीं।

"इस प्रकार के साक्ष्य की सत्ता में हम यह परिणाम प्रस्तुत करने में विवश हो जाते हैं कि भारतीय विद्रोह न तो ध्यानपूर्वक योजना का परिणाम था और न ही उक्त विद्रोह की पृष्ठभूमि में किन्हीं उल्लेखनीय व्यक्तियों का हाथ था। जो कुछ हुआ वह यही था कि सौ वर्षों के भीतर भारतीय जनता के हृदय में कम्पनी के शासन के सम्बन्ध में अरुचि की भावना उत्पन्न हो गई तथा भारतीयों ने धीरे-धीरे यह पहचान लिया कि एक विदेशी जाति ने उन पर अधिकार कर लिया। ज्यों-ज्यों यह विचार फैलता गया, त्यों-त्यों ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न हुई जिससे एक विस्फोट हुआ, जो कुछ व्यक्तियों तथा समूहों के षड्यन्त्र का परिणाम नहीं था अपितु समस्त जनता में उत्पन्न होते हुए असन्तोष का परिणाम था।

"यदि यह पूछा जाय कि भारतीय जनता का विद्रोह लगभग एक सौ वर्ष की देरी

से क्यों हुआ तो इसकी व्याख्या निम्नलिखित तथ्यों में प्राप्त की जा सकती है। अंग्रेजी शक्ति के भारत में विकास की सम्भवतः इतिहास में कोई समता नहीं है। यह एक ऐसा विषय नहीं है कि एक देश को अन्य देश ने पूर्ण रूप से जीत लिया हो, किन्तु यह एक ऐसा धीरे-धीरे होनेवाला प्रवेश है, जिसमें इस देश में रहने वालों ने अनधिकृत प्रवेश करने वालों को सहायता दी। इस तथ्य के द्वारा कि अंग्रेजों के द्वारा भारत पर आक्रमण ताज के नाम पर नहीं किया गया––अंग्रेजों को अपनी गतिविधियों की वास्तविक प्रक्रिया को छिपाने में सहायता प्राप्त हुई। यदि अंग्रेजी राज्य-पद प्रारम्भ से भारतीय मामलों में कोई सीधा भाग लेता, तो भारतीय समझ जाते कि विदेशी शक्ति देश में प्रवेश कर रही है। कम्पनी के व्यापारिक कम्पनी होने के कारण, भारतीयों ने उसके सम्बन्ध में यह नहीं सोचा कि वह सम्भावित शासक है।'' जब भारतीयों ने कम्पनी के अधिकारों की वास्तविकता को पहचाना, तो काफी मात्रा में असन्तोष फैला। यही धीरे-धीरे बढ़ने वाला असन्तोष ही अन्तिम रूप से १८५७ के विद्रोह के रूप में फूट पड़ा।

आज़ाद के मतानुसार, ''यह बढ़ता हुआ असन्तोष दो कारणों से और भी भड़क उठा। ये कारण १८५७ के विद्रोह के लिए तात्कालिक रूप से उत्तरदायी हैं। इनमें से एक कारण उत्तर-पश्चिमी प्रान्त (जिसे बाद में आगरा व अवध का नाम दिया गया) के छोटे गवर्नर मि० थाम्पसन के द्वारा अपनाई गई नीति है। पहले तो कम्पनी ने ऐसी नीति का अनुसरण किया था, जिसके अनुसार जागीरदारों की एक श्रेणी बनाई जाए, जो सरकार के स्वाभाविक साथियों का काम देगी। थाम्पसन के विचार इस सम्बन्ध में पृथक् थे। उसका विश्वास था कि बड़े-बड़े नवाबों तथा जागीरदारों की सत्ता कम्पनी के लिए खतरे का कारण बन सकती है।

''इसलिए वह इस विचार का था कि जागीरदारों को श्रेणी के रूप में अलग कर दिया जाय तथा सरकार को किसानों के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। इस नीति के परिणामस्वरूप कम्पनी ने यथासम्भव सभी ऐसे उपाय कार्यान्वित किए जिससे नवाबों तथा जगीरदारों को अधिकारहीन करके उनके मजदूरों अथवा किसानों को सीधे सरकार के आधीन किया जाए।

''दूसरा अथवा निर्णायक तत्त्व था डलहौज़ी की नीति, जिसके द्वारा उसने एक-एक करके भारतीय रियासतों को अंग्रेजी राज्य में मिलाया। भारतवर्ष उस समय जागीरदारी की अन्तिम अवस्था में से गुज़र रहा था। जागीरदारी प्रथा के आधीन आज्ञाकारिता का अधिकारी तात्कालिक उच्च व्यक्ति होता था, वह चाहे जागीरदार हो अथवा नवाब। उस समय राष्ट्र अथवा जाति के प्रति वफ़ादारी की भावना नहीं थी।

''जब लोगों ने देखा कि भारतीय रियासतें एक-एक करके समाप्त की जा रही थीं तथा जागीरदार भी श्रेणी के रूप में समाप्त किए जा रहे थे, तब उन्हें भारी धक्का लगा। उन्होंने अनुभव किया कि कम्पनी अन्ततः अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो रही है तथा भारतीय सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन के ढाँचे को बदलना चाहती है।

''जब अवध पर कम्पनी ने अधीकार कर लिया तो यह असन्तोष अपनी सीमा तक पहुँच गया। अवध ऐसी रियासत थी, जो ७० वर्षों तक कम्पनी की आज्ञाकारी साथी रही थी। अपने उक्त सम्बन्ध की अवधि में अवध ने कम्पनी के हितों के विरुद्ध कभी भी

कोई कार्य नहीं किया। किन्तु जब ऐसा होते हुए भी नवाब को गद्दी छोड़ने पर विवश कर दिया गया तथा कम्पनी ने रियासत पर अधिकार कर लिया तो जनता को भारी धक्का पहुँचा।

"अवध के राज्य की समाप्ति का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक हुआ, क्योंकि बंगाल की सेना में सैनिकों की संख्या का बहुत-सा भाग इसी क्षेत्र का था। उन लोगों ने आज्ञाकारिता से कम्पनी की सेवा की थी तथा देश के विभिन्न भागों में उसका प्रभाव बढ़ने के कारण बने थे। उन्होंने अचानक यह अनुभव किया कि जिस शक्ति तथा प्रभुत्व को कम्पनी ने उनकी सेवा तथा बलिदान के द्वारा प्राप्त किया था, उसे अब उनके अपने नवाब को अधिकारहीन करने के लिए प्रयोग में लाया जा रहा है।

'मेरे मन में थोड़ा-सा सन्देह है कि १८५६, जब कि अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाया गया, से ही सेना में विशेष रूप से बंगाल की सेना में विद्रोह भावना का प्रारम्भ हुआ। इस समय से वे सोचने लगे कि कम्पनी का शासन समाप्त होना चाहिए। विद्रोह के दिनों में लारैन्स तथा अन्य लोगों ने, जिन्होंने साधारण सैनिकों की भावनाओं को समझने का प्रयत्न किया, इस विचारधारा के समर्थन में बहुत से प्रमाण छोड़े हैं। चर्बी वाले कारतूस के विषय को लेकर सेना में असन्तोष के नये कारण की उत्पत्ति नहीं हुई, किन्तु उससे दबे हुए असन्तोष को प्रकट रूप से उभरने का अवसर प्राप्त हो गया।"

विद्रोह के विषय में डा० सेन की सम्मति (Dr. Sen on the Mutiny)—डा० एस० एन० सेन ने अपनी पुस्तक "१८५७" में विद्रोह के प्रकार और व्यवस्था के विषय में कुछ विचार प्रकट किये हैं। "रोटी" की कहानी ने पूर्व योजना, प्रचार और षड्यन्त्र की बात को थोड़ा रंग दे दिया है। विलसन का विचार था कि भारतवर्ष की सारी छावनियों में एक ही दिन और समय विद्रोह का निश्चय हो चुका था किन्तु अपनी इस धारणा की पुष्टि में उसने कोई साक्ष्य नहीं दिया। डा० सेन के मतानुसार, विलसन की धारणा की तथ्यों से पुष्टि नहीं होती। मेरठ का विद्रोह पूर्व-निर्धारित नहीं था और यही बात अन्य स्थानों के लिये लागू होती है। सिपाही और उनके नेता किसी भी विदेशी शक्ति से सम्बन्धित नहीं थे। नेपाल ही केवल एक विदेशी शक्ति थी जिसे विद्रोहियों ने सहायता के लिये कहा किन्तु वह भी विद्रोह के पश्चात्, इसके दौरान में नहीं।

विद्रोह की मुख्य उल्लेखनीय बात यह थी कि इसके सेनानायक विविध स्रोतों से थे। यह मुख्यतः एक सैनिक विद्रोह के रूप में आरम्भ हुआ किन्तु इस तक ही सीमित नहीं रहा। पुनश्च, सारी भारतीय सेना ने इसमें भाग नहीं लिया, वास्तव में बहुत सेना अंग्रेजों की ओर से लड़ी। प्रत्येक सेना जिसे शस्त्रहीन कर दिया गया था, विद्रोही नहीं हुई और प्रत्येक भगोड़ा सैनिक विद्रोही नहीं बना। विद्रोही देश के प्रत्येक श्रेणी से आये। सारे समय में विद्रोही सेना में हिन्दू और मुसलमानों का प्रतिनिधित्व था। नानासाहब के साथ अजीमुल्लाखां, बहादुरखां के साथ शोभाराम, और झाँसी की रानी के साथ उसके विश्वस्त अफगान अंगरक्षक थे।

अवध और शाहबाद के बाहर के प्रदेश में विद्रोह के साथ सर्वसाधारण की सहानुभूति नहीं थी जिसके आधार पर इस आंदोलन को राष्ट्रीय युद्ध का नाम दिया जा सके। किन्तु इसे केवल एक सैनिक विद्रोह कह कर नहीं छोड़ा जा सकता। इस उपद्रव ने विद्रोह

का राजनैतिक रूप उस समय धारण कर लिया जब मेरठ के विद्रोहियों ने देहली सम्राट् के अन्तर्गत अपन को मान लिया और अन्य जागीरदारों तथा जनता ने सम्राट् को मान्यता दी उस समय यह एक राष्ट्रीय युद्ध बन गया। जो संघर्ष एक धार्मिक झगड़े के रूप में आरम्भ हुआ, स्वातन्त्र्य युद्ध के रूप में समाप्त हुआ, क्योंकि इस बात में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि विद्रोही एक विदेशी राज्य से छुटकारा पाकर पुरानी व्यवस्था को, जिसका प्रमुख देहली का बादशाह था, लाना चाहते थे। यद्यपि यह सीमित परिधि में ही रहा किन्तु अवध में यह विद्रोह एक राष्ट्रीय युद्ध का रूप ले चुका था। विद्रोह काले और गोरे का युद्ध नहीं था। इसमें चारित्रिक सिद्धान्त नहीं थे। दोनों ही पक्षों में असत्य का प्रतिपादन किया गया। इस संघर्ष को "धर्मान्धों का ईसाईयों के विरुद्ध युद्ध" कहा जा सकता है।

विद्रोह असभ्यों और सभ्यों का संघर्ष भी नहीं था। यह भय और घृणा से प्रेरित लोगों का अमानवीय युद्ध था। आग लगाना और हत्या करना एक दैनिक बात थी जिसमें निर्दोष और दोषी का कोई भेदभाव नहीं था।

डा० सेन के मतानुसार, विद्रोह अवश्यम्भावी घटना थी। कोई भी स्वतंत्र राष्ट्र सर्वदा के लिये विदेशी राज्य को सहन नहीं कर सकता। एक स्वेच्छाचारी सरकार अन्ततः तलवार के ज़ोर पर ही राज्य कर सकती है। भारतवर्ष में वह तलवार भारतीय सिपाहियों के हाथ में थी। सिपाहियों और अंग्रेज़ स्वामियों के बीच जाति, भाषा और धर्म की कोई सामान्य कड़ी नहीं थी। केवल १८५७ में ही यह विद्रोह अवश्यम्भावी नहीं था, अपितु साम्राज्य के विधान में ही यह बात अन्तर्निहित होती है।

डा० आर० सी० मजुमदार का मत (Dr. R. C. Majumdar on the Mutiny)—डा० मजूमदार के मतानुसार, १८५७ का विद्रोह किसी भी प्रकार से राष्ट्रीय आंदोलन नहीं था। उन्होंने बहुत से तथ्य और आँकड़े देकर यह सिद्ध किया है कि विद्रोह के नेताओं का इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ था। उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता की प्रेरणा नहीं थी। हिन्दू और मुसलमानों में संगठन नहीं था। बहादुरशाह हृदय से विद्रोहियों के साथ नहीं था। आरम्भ में झांसी की रानी भी विद्रोहियों के साथ नहीं थीं। उसने इन लोगों का साथ उस समय दिया जब उसे स्वयं अंग्रेजों के द्वारा चलाये गये मुकदमे में पेश होने की सम्भावना हुई। मुसलमान नवाबों ने विद्रोह के दिनों में भी हिन्दू प्रजा के साथ सद्व्यवहार नहीं किया। भारत के लोगों की ओर कोई सामूहिक कार्य नहीं किया गया।

हम अशोक महता के निम्नलिखित शब्दों से इस प्रसंग को समाप्त करते हैं—"१८५७ का विद्रोह सैनिक विद्रोह की अपेक्षा बढ़-चढ़ कर था। यह समाज-रूपी ज्वालामुखी पर्वत का ऐसा विस्फोट था, जिसमें बहुत-सी शक्तियों ने निकलने का मार्ग प्राप्त किया। इस ज्वालामुखी के फटने के पश्चात् सम्पूर्ण सामाजिक चित्र बदल चुका था। विद्रोह के चिह्न गम्भीर तथा चमकते रहे।"

Questions for Revision

1. How far was Lord Dalhousie's Doctrine of Lapse responsible for the outbreak of Mutiny in 1857?
2. "The Mutiny had its origin in the army itself." Comment.

3. "The Mutiny was more a sepoy revolt than a national uprising." Comment.

4. "Mutiny marked the triumph of the new order over the old or it may be said to mark the beginning of Modern Age." Discuss.

5. "The Mutiny was reactionary in its causes and revolutionary in its effects." Discuss.

6. What were the causes of the great outbreak in 1857 ? Do you regard it as a national war of independence against the British ? Give reasons for your answer.

7. "The rebellion that broke out in 1857 was neither a mutiny nor a national war of independence." (Hutchinson). Discuss.

8. "The Mutiny may be considered either as a military revolt or as a bid for recovery of their property and privileges by dispossessed princes and landlords or as an attempt to restore the Mughal Empire or as a peasant war." Discuss.

9. "In one sense, the Mutiny of the Company's Bengal Army was an inevitable consequence of previous developments, in another it was a mere unlucky accident." (Dodwell). Discuss.

अध्याय १५

कैंनिग से लिटन तक

(Canning to Lytton)

लार्ड कैंनिग, १८५६-६२ (Lord Canning)—लार्ड कैंनिग के समय की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना गदर थी, जो १८५७ में आरम्भ हुआ तथा १८५८ में दबा दिया गया। इस विषय पर विस्तारपूर्वक चर्चा की जा चुकी है।

इतना होते हुए भी कि विद्रोही अंग्रेजी सम्पत्ति तथा प्राण हानि के लिये उत्तरदायी थे और इस बात की माँग थी कि इसका बदला लिया जाए लेकिन लार्ड कैंनिग ने अपने मस्तिष्क को शान्त रखा। उसने कोई भी ऐसी कठोर कार्रवाई करने से इनकार कर दिया। वह शान्तिपूर्ण नीति का अनुसरण करता रहा। यहाँ तक कि उसने व्यक्तिगत लोकप्रियता का भी ध्यान न रखा। लार्ड ग्रैनविल के प्रति भेजे गये पत्र में उसने अपनी नीति के पक्ष में इन शब्दों का प्रयोग किया—"जब तक मेरे शरीर में एक भी साँस है तब तक मैं अन्य किसी नीति का अनुसरण नहीं करूँगा, अपितु उसी नीति पर ही चलता रहूँगा जिसका अनुसरण मैंने अब तक किया है। केवल इसी कारण से नहीं कि वह उचित है, अथवा ऊपर उस नीति की चर्चा की गई है अपितु इसलिए कि वह न्यायोचित है। मैं आवेश में शासन नहीं करूँगा। न्याय तथा वह भी उतना ही कठोर तथा कानून के समान अवसरानुकूल परिवर्तित न होने वाला, तथा जिसे शक्ति ऐसा बना सकती है, मैं ऐसा व्यवहार करूँगा। किन्तु मैं ऐसा कोई कार्य नहीं करूँगा, जो क्रोध से अथवा पक्षपात से पूर्ण हो; मैं ऐसे किसी कार्य अथवा शब्द की भारत सरकार की ओर से अनुमति नहीं दूँगा जबतक कि मैं उसके लिए उत्तरदायी हूँ। मैं किसी समाचार-पत्र की चाहे वह ब्रिटिश हो अथवा भारतीय अपशब्द अथवा टीका-टिप्पणी की तनिक भी परवाह नहीं करूँगा। मैं सदा से ऐसा न करने के कारण हैरान होता हूँ। किन्तु वास्तव में यह एक तथ्य है। इसका एक कारण यह है कि ध्यान रखने के लिये समय का अभाव है, तथा मेरे सामने कई ज़रूरी काम पड़े हैं। इसलिए शेष सब बातें मुझे छोटी दिखाई देती हैं।

"मैं नहीं चाहता कि तुम मेरे प्रति कहे गये अनुचित शब्दों के विरुद्ध कार्रवाई करने से अधिक कोई कार्य करो। किन्तु इस बात का अवश्य ध्यान रखो कि हमें आक्रमण का निर्दयता से मुकाबला करने के लिए तैयार रहना चाहिए। जहाँ कहीं भी इसका चिह्न दृष्टिगोचर हो तो हमें इससे भली प्रकार समझना है। जब वह आक्रमण समाप्त हो जाए, तो न्याय, शान्ति तथा धैर्यपूर्ण तर्क को उसका स्थान दिलाना है। हमें इस सम्बन्ध में जागरूक रहना चाहिए कि हम आवेश अथवा आलस्य के वशीभूत होकर सामूहिक रूप से दण्ड देने, सामूहिक फाँसी अथवा आग में जलाने आदि कार्यों में प्रवृत्त न हों। ऐसे कार्यों में जो कम नृशंस हों किन्तु विश्वासघाती हों अथवा उनसे किसी ऐसे व्यक्ति की प्रतिष्ठा भंग होती है, जो किसी विशेष जाति अथवा समूह का है। ऐसा करो तथा दूसरों को भी ऐसा करने की प्रेरणा दो। इस प्रकार तुम अपने लक्ष्य से भी अधिक भारत की सेवा करोगे।"

जब उसे वापिस बुलाए जाने की माँग हुई तब उसने अपनी सरकार को इस प्रकार लिखा—"किसी भी पक्ष से प्राप्त होने वाली निन्दा अथवा आक्षेपयुक्त वचन मुझे ऐसे मार्ग से हटा नहीं सकेंगे, जिसे मैं अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य-पालन का मार्ग मानता हूँ। मेरा विश्वास है कि ऐसे समय में (१८५८) भारत सरकार के मुख्याधिकारी के परिवर्तन से, यदि ऐसा हुआ, इंग्लैण्ड की सरकार की ओर से उस नीति का उल्लंघन अथवा अवहेलना होगी, जिस नीति का पालन अथवा अनुसरण अवध के लुटेरे विद्रोहियों के प्रति किया जाता रहा है तथा इससे देश की शान्ति पर गम्भीर प्रतिक्रिया होगी। मेरा विश्वास है कि वह नीति प्रारम्भ से ही बिना दुर्बलता के दयापूर्ण रही है तथा सरकार के गौरव तथा प्रतिष्ठा को बिना हानि पहुँचाए अनुग्रह की रही है। अपने इस दृढ़ विश्वास के कारण, मैं, इस अतुलनीय कठिनाइयों, खतरे तथा कठोर परिश्रम के समय में अपने कार्य तथा ऊँचे विश्वास को, जिसे मैं अब तक दृढ़तापूर्वक सम्भाले रहा हूँ, नहीं छोड़ूँगा।"

विद्रोह के प्रभावों में से एक प्रभाव यह हुआ कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी समाप्त कर दी गई तथा भारत सरकार का उत्तरदायित्व सम्राट् ने अपने हाथों में ले लिया। यह १८५८ में हुआ, जबकि इस सम्बन्ध में औपचारिक घोषणा की गई। इस प्रकार लार्ड कैनिंग अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्तिम गवर्नर-जनरल तथा सम्राट् के अधीन प्रथम वायसराय था।

१८६१ में प्रसिद्ध भारतीय कौंसिल अधिनियम स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार प्रैज़िडेंसियों में विधानमण्डलों को स्थापित किए जाने तथा वाइसराय की प्रबन्धकारिणी कौंसिल में वैधानिक कार्यों के लिए अधिक सदस्यों के लिये जाने का उपबन्ध किया गया।

१८६१ में एक कानून स्वीकृत हुआ जिसके द्वारा उच्चतम न्यायालयों तथा अंग्रेजी कम्पनी की अदालतों के स्थान पर अधिकृत हाई कोर्ट स्थापित किए गये।

१८५९ में बंगाल किराया अधिनियम स्वीकृत हुआ। यह बिहार, आगरा तथा मध्य प्रान्त पर लागू किया गया। इसके अनुसार प्रत्येक किसान के साथ, जिसने लगातार बीस वर्षों तक समान किराये पर भूमि को अपने अधिकार में रखा, इस प्रकार व्यवहार किया जाना था, मानो वह भूमि १७९३ से उसके अधिकार में हो। वे किरायेदार जिन्होंने १२ वर्षों तक निरन्तर भूमि पर अधिकार रखा था, उनको भी भूमि पर अधिकार रखने का अधिकारी समझा जाता था। उनके किरायों में तभी वृद्धि हो सकती थी जब कोई कानूनी अदालत इस सम्बन्ध में उचित जाँच कर ले।

१८६१ में बेयर्ड स्मिथ ने बंगाल की स्थायी भू-व्यवस्था को सारे भारत में लागू करने का प्रस्ताव रखा। १८६२ में, भारत मन्त्री सर चार्ल्स ने इस प्रस्ताव को स्वीकृत कर दिया, किन्तु लार्ड मेयो के समय में इस प्रस्ताव का विरोध किया गया तथा लार्ड रिपन के समय में इस प्रस्ताव को पूर्णतया छोड़ दिया गया।

१८५४ के वुड द्वारा प्रेषित पत्र की सिफ़ारिशों के अनुसार लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किए गये। लार्ड कैनिंग की सरकार को आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ा। ३६० लाख का घाटा था। इसका एक कारण यह भी था कि बहुत-सा रुपया ग़दर के दमन में तथा कुछ रुपया समाज तथा प्रशासन की अव्यवस्था के कारण व्यय हो गया था। उस समय की सबसे

बड़ी आवश्यकता कम व्यय, छटनी तथा आय में वृद्धि करना था। बहुत-से फौजी दस्ते खत्म किए गये, क्योंकि उनकी आवश्यकता नहीं थी। इंग्लैण्ड का एक महान् अर्थशास्त्री जान विल्सन भारत में १८५९ में आया तथा उस पर देश की आर्थिक पुनर्व्यवस्था का कार्य सौंपा गया। भारत में आगमन के एक वर्ष से कम समय के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गई। उस काम को सैम्युअल लैंग ने जारी रखा। अपनी मृत्यु से पूर्व, विल्सन ने तीन नये करों को लगाने की सिफ़ारिश की थी। वे तीन कर ये थे—आय कर, व्यापार तथा पेशों पर लाइसेंस कर तथा घरेलू तम्बाकू पर चुंगी। आयकर का प्रस्ताव प्रयोग के रूप में स्वीकार कर लिया गया। यह वार्षिक ५०० रुपये से अधिक की आय पर ५ वर्षों के लिए ५% के हिसाब से लगाया गया। विल्सन ने १०% के हिसाब से एक जैसे आयात कर की स्थापना की।

उसने नागरिक तथा फौजी व्यय में भी कम व्यय के लिए प्रस्ताव किया। नमक पर कर लगाए जाने का सुझाव रखा गया। विल्सन तथा लैंग के सुधारों का परिणाम यह हुआ कि जब कैंनिग भारत से रवाना होने लगा, तब घाटे का बजट नहीं था।

फौज में भी कुछ सुधार किए गये। अंग्रेजों ने विद्रोह से एक शिक्षा प्राप्त की। भारतीय तथा यूरोपीय सैनिकों के मध्य एक निश्चित अनुपात के लिये नियम बनाए गये। तीन बड़े प्रान्तों के लिये तीन टुकड़ियों में ब्रिटिश अफसरों का संगठन किया गया। अंग्रेजी कम्पनी की यूरोपीय फौजें महारानी की सेनाओं के साथ मिला दी गईं। इस समय में कानूनों की भी संहिताएँ बनाई गईं। लार्ड मैकाले द्वारा प्रस्तावित भारतीय दण्ड संहिता १८५८ में कुछ आवश्यक परिवर्तनों के पश्चात् कानून बन गई। उसके पश्चात् आगामी वर्ष फौजदारी नियम-संहिता का निर्माण किया गया।

१८६१ में आगरा तथा अवध के उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में तथा पंजाब व राजपूताना के कुछ भागों में एक अत्यन्त भयंकर अकाल प्रारम्भ हुआ। जनसंख्या का लगभग १०% भाग मृत्यु-ग्रास बना। इसका आंशिक कारण विद्रोह के बाद के प्रभाव थे। वर्षा भी नहीं हुई तथा परिणामस्वरूप फ़सलें भी नष्ट हो गईं। सरकार ने लोगों को सहायता देने के लिए बहुत-सा रुपया व्यय किया।

१८५९ तथा १८६० में नील उगाने वाले यूरोपियनों तथा बंगाल के कृषकों के मध्य में झगड़े हुए। स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। परिणामस्वरूप दंगे हुए। मामले की जाँच करने के लिये एक आयोग की नियुक्ति की गई। अन्त में इस बात का निश्चय किया गया कि नील की खेती करने के सम्बन्ध में एक दीवानी समझौते को पूरा करने में इन्कार के कारण किरायेदार पर फौजदारी अभियोग नहीं चलाना चाहिए।

लार्ड कैंनिग के सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा गया है कि कोई भी गवर्नर-जनरल बौद्धिक गुणों में उससे आगे न बढ़ सका। उसने इतने परिश्रम से कार्य किया कि उसने वास्तव में अपनी हत्या ही कर डाली। उसे न ही शारीरिक व्यायाम का ध्यान रहता था और न ही उसे मानसिक शान्ति मिलती थी। यद्यपि वह बहुत कठोर था लेकिन उसमें कर्त्तव्यपरायणता, सौजन्य तथा उदारता की भावना थी। उसने विद्रोह को दबाने में दमन नीति तथा उत्साह से कार्य किया। वह "एक ऐसा सज्जन महानुभाव था, जो बड़ी से बड़ी आपत्ति के समय में भी अपने निश्चय को भावों से नहीं बहने देता था। प्रतिष्ठा तथा न्याय

की सुन्दर भावना में प्रतिशोध की भावना को भी प्रविष्ट नहीं होने देता था।" ट्रॉटर के कथनानुसार, "उसकी कमियों को यदि छोड़ दिया जाए, तो उसका नाम अंग्रेजों की स्मृतियों में एक ऐसे निर्भीक, सत्य हृदय वाले अंग्रेज के रूप में आदरपूर्वक स्मरण किया जाएगा, जिसने ग़दर जैसी महान् विपत्ति का शान्त-चित्त होकर मुकाबला किया।"

लार्ड एलगिन के कथनानुसार, "निस्सन्देह बेचारे कैनिंग ने अपने आपको अच्छा अवसर ही प्रदान नहीं किया, कम से कम अपने शासनकाल के अन्तिम एक अथवा दो वर्षों में। न तो उसने कोई व्यायाम किया तथा न ही उसे मानसिक विश्राम प्राप्त हो सका, यद्यपि गवर्नर-जनरल की स्थिति में ऐसा अवसर अधिक नहीं प्राप्त होता। जब मैंने उसे कहा कि मैं दो अथवा तीन व्यक्तियों को प्रतिदिन साथ में खाने के लिए कहूं, जिससे मैं उन सब व्यक्तियों से परिचित हो जाऊँ जिनसे मुझे परिचित होना चाहिए, तथा उनसे मोमबत्ती के प्रकाश में कुछ विषयों पर चर्चा कर सकूँ, जिससे दिन का समय अन्य कार्यों के लिए बच सके", तो उसने कहा, "मैं रात्रि के भोजन के समय तक सदा इतना थक जाता हूँ कि मैं बोल नहीं सकता।"

अलक्ज़ैण्डर ग्रान्ट के कथनानुसार, "वह धैर्यशील तथा उत्साही व्यक्ति था। उसका मन पूर्ण रूप से पक्षपातरहित तथा अडिग था। उसका महान् दोष यह था कि वह आवश्यकता के समय निश्चय नहीं कर पाता था, किन्तु निश्चय न कर सकना तथा विचलित होने की भावना उसकी जागरूकता तथा दूषित, अस्वस्थ सन्देहशीलता का परिणाम था, जो विद्रोह के दिनों में कुछ अवसरों पर अत्यन्त भयानक अथवा संदिग्ध थे। उसके चरित्र की शक्ति तथा अपने कार्य के प्रति पूर्ण आस्था उसके द्वारा शान्ति-स्थापना में तथा देशी नरेशों के साथ व्यवहृत उदारता में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।"

लार्ड कर्ज़न के मतानुसार, लार्ड कैनिंग "भारतीय इतिहास के ऐसे महान् दुःखपूर्ण व्यक्तियों तथा अन्य वीर पुरुषों में से एक है जिन्होंने इंग्लैंड की प्रतिष्ठा की रक्षा की है तथा उसके नाम को ऊँचा करने में प्रतिनिधित्व किया है।"

लार्ड एलगिन, १८६२-६३ (Lord Elgin)—लार्ड एलगिन लार्ड डरहम का जामाता था। लार्ड डरहम, डरहम रिपोर्ट का प्रसिद्ध लेखक था। भारत आगमन से पूर्व वह कनाडा तथा जमैका के गवर्नर के रूप में कार्य कर चुका था। उनका कार्य-काल संक्षिप्त था। १८ मास के पश्चात् धर्मशाला में उसकी मृत्यु हो गई। उसने केवल इस बात का प्रयत्न किया कि वह अपने पूर्ववर्ती के पद-चिह्नों का अनुसरण कर सके। उसने नये कर लगाने से बचने का प्रयत्न किया। उसने इस बात का भी प्रयत्न किया कि फौजी व्यय कम किया जाए।

लार्ड एलगिन ने बनारस, कानपुर, आगरा तथा अम्बाला में अनेक दरबार किए। इन दरबारों का उद्देश्य भारतीय रियासतों को ब्रिटिश सरकार के समीप लाना था।

इसके कार्य-काल में वहाबियों ने विद्रोह किया। उन्हें पराजित किया गया तथा १८६१ में मलका के स्थान पर उनका गढ़ पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया गया। वहाबी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर रहने वाले मुसलमानों की एक जनूनी टोली थी।

लार्ड कर्ज़न के कथनानुसार, "लार्ड एलगिन कुशाग्रबुद्धि, परिश्रमी तथा प्रसन्न रहने वाला व्यक्ति था। उसने अपने सभी कार्यों में पूर्ण जागरूकता से ध्यान रखा। उसने

किसी के साथ भी ऐसा व्यवहार नहीं किया, जिसकी निन्दा की जा सके। साथ ही उसमें साहस तथा सामान्य बुद्धि का अंश भी पर्याप्त मात्रा में था।"

सर जान लारैन्स, १८६४-६९ (Sir John Lawrence)—सर जान लारेंस, पंजाब के अंग्रेजी राज्य में मिलाए जाने के पश्चात्, चीफ कमिश्नर नियुक्त किया गया। इसका कारण यह था कि पंजाब विद्रोह के दिनों में शान्त रहा। उसे उचित रूप से "भारत का रक्षक तथा विजय का संचालक कहा जाता है।" वह अत्यन्त परिश्रमी व्यक्ति था तथा कठिनाई से ही ऐसा कोई क्लर्क होगा, जो उससे अधिक कठिन परिश्रम करता हो। उसकी नियुक्ति उस सामान्य नियम का अपवाद थी कि किसी नागरिक कर्मचारी को भारत का गवर्नर-जनरल न बनाया जाए। उसका कार्य-काल प्रत्येक प्रकार से सफल कहा जा सकता है।

सर जान लारैन्स ने अफ़गानिस्तान के सम्बन्ध में तथाकथित पूर्ण गतिहीनता की नीति का अनुसरण किया। वह उस देश के आन्तरिक मामलों में तब तक हस्तक्षेप न करना चाहता था, जब तक कोई अन्य शक्ति उस देश में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न न करे। उस स्थिति में भारतीय सेनाओं को अफगानों की सहायता करने के लिये अफगानिस्तान जाने का आदेश था। उसने दोस्त मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् राज्यगद्दी के उत्तराधिकार के संघर्ष में किसी भी पक्ष का समर्थन करने से इनकार कर दिया। वह सदैव इस बात के लिए तत्पर रहता था कि देश के माने हुए शासक को स्वीकृत कर ले। लार्ड मेयो तथा लार्ड नार्थब्रुक ने इस नीति का अनुसरण किया। इस नीति को लार्ड लिटन ने बदला तथा उसके भयानक परिणाम हुए। उसे भूटान का युद्ध लड़ना पड़ा। भूटान निवासी ब्रिटिश क्षेत्र में आक्रमण किया करते थे। मि० ऐशले ईडन को इन आक्रमणों के सम्बन्ध में चर्चा करने के लिये भेजा गया। भूटानियों ने ईडन को विवश किया कि वह एक अपमानजनक सन्धि पर हस्ताक्षर कर दे, जिसके द्वारा दुवार जाति के लोग उन्हें सौंप दिये गये। जब ब्रिटिश सरकार को इसका पता चला, तो उसने सन्धि को नहीं माना। भारी सेना भेजी गई। आरम्भ में अंग्रेज पराजित हुए। तथापि बाद में वे अपनी स्थिति सुधारने में सफल हो गये। अन्त में एक सन्धि हुई, जिसके द्वारा भूटानियों ने दुवार जाति के लोगों को सौंप दिया तथा उन्हें वार्षिक सहायता प्राप्त होने का निश्चय हो गया।

१८६६ में उड़ीसा में भयंकर अकाल पड़ा। बड़े पैमाने पर प्राण हानि हुई। सरकार लोगों की सहायता करने में पूर्ण असफल रही। १८६८-६९ में एक और अकाल पड़ा। इसका प्रभाव राजपूताना तथा बुन्देलखण्ड पर पड़ा। अकाल आयोग नियुक्त किया गया, जो अकालों का मुकाबला करने के सबसे सफल उपायों पर विचार कर सके। सरकार को ऐसा प्रत्येक प्रयत्न करना था, जिससे भुखमरी से होने वाली मृत्युओं से प्राणियों को बचाया जा सके।

लारैन्स ने देश के आर्थिक विकास के लिये बहुत कुछ किया। बहुत-सी रेलें, नहरें तथा सार्वजनिक निर्माण कार्य आरम्भ किये गये। उसने पुनर्निर्माणात्मक कार्यों के लिये रुपये इकट्ठा करने के सिद्धान्त को अपनाया।

जॉन लारैन्स किसानों के हित के पक्ष में था। पंजाब काश्तकारी अधिनियम के अनुसार किसानों के अधिकार कुछ मामलों में स्वीकृत किये गये। यह कानून सन्तुष्ट किसानों

के अधिकार-पत्र के रूप में प्रसिद्ध है। अवध काश्तकारी अधिनियम के द्वारा किसानों की समस्त संख्या के पाँचवें भाग को उचित किरायों पर भूमि का अधिकार प्राप्त हो जाता था। किराये में वृद्धि केवल कानूनी अदालत के द्वारा ही हो सकती थी। ये दोनों कानून १८६८ में स्वीकृत हुए।

डा० स्मिथ ने जॉन लारैन्स की विशेषताओं का इन शब्दों में उल्लेख किया है— "भारतीय सिविल सेवा के सदस्य की गवर्नर-जनरल के रूप में नियुक्ति के विपक्ष में दिये गये कारणों को सर जॉन लारैन्स के वायसराय पद के इतिहास से पुष्टि ही मिलती है, किसी प्रकार का धब्बा नहीं लगता। वह कभी पुराने समय के अधिकारियों के स्वभाव को नहीं छुड़ा पाया तथा वास्तव में इतने महत्त्वपूर्ण पद की प्रतिष्ठा को सामान्य दैनिक रूप से स्थिर रखने में पर्याप्त उदासीन था। उसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के पश्चात् उसके द्वारा उसकी व्यवस्था तथा विद्रोह के समय में उसके द्वारा की गई अमूल्य सेवाएँ हैं, न कि वायसराय के रूप में उसका कार्य है, जोकि उतना ही अथवा उससे भी अच्छा कोई बुरा से बुरा व्यक्ति भी कर सकता था।"

टैम्पल के मतानुसार, "उसके सार्वजनिक जीवन में पाई जाने वाली भावना उसकी कर्त्तव्यप्रियता थी। यद्यपि उसका स्वभाव कठोर, दृढ़ तथा कुछ अवसरों पर गरम था, तथापि उसके स्वभाव में निर्णय तथा तर्क का आधिक्य था। वह अत्यधिक सावधान रहता था। भारत में उससे अधिक सावधान तथा जागरूक कोई अन्य राजनीतिज्ञ नहीं था। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि वह सभी कार्यों पर पहले से ही विचार कर लेता था। वह जानता था कि पूर्व ज्ञान केवल ध्यानपूर्वक विचार का ही परिणाम है। प्रत्येक समस्या अथवा प्रश्न के दोनों पक्षों का सन्तुलन तथा भावना, पक्षपात तथा मिथ्या पथ-प्रदर्शन वाली भावना से ऊपर उठकर वह अपनी दृष्टि केवल न्यायपूर्ण निर्णय पर ही केन्द्रित रखता था। यही भावना उसके मन में सर्वोपरि थी। वह इसी उद्देश्य तथा नियम के अनुसार अपने अफसरों के कार्यों तथा व्यवहारों की जाँच-पड़ताल का निर्णय करता था। उन लोगों के प्रति जिनमें चाहे और कितने ही गुण हों, किन्तु सार्वजनिक कर्त्तव्य के लिये उत्साह की मौलिक शर्त न हो, वह कुछ भी ध्यान तथा सहानुभूति प्रदर्शित न करता था। उसके अधीन असंख्य अधीनस्थ कर्मचारियों के विभिन्न नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों के प्रति पक्षपात न रखने की दृष्टि से उससे उसकी पीढ़ी का कोई भी व्यक्ति आगे नहीं निकल सका। उस समय वह उतना उत्साह उत्पन्न न कर सका। उसके भाई हैनरी ने असंख्य व्यक्तियों में उत्साह की भावना भर दी। न ही उसे उतनी व्यापक लोकप्रियता ही प्राप्त हो सकी। किन्तु उसका सभी आदर करते थे। अधिकांश लोग उसकी स्तुति करते थे तथा बहुत से लोग प्रेम करते थे।"

लार्ड कर्जन के अनुसार, "तथ्य यह है कि लारैन्स अपने स्वभाव तथा प्रशिक्षण की दृष्टि से उस कार्य के लिये उपयुक्त नहीं था, जिन परिस्थितियों में रहकर किसी वायसराय को कार्य करना पड़ा। निस्सन्देह वह एक कर्मठ व्यक्ति तथा मितभाषी था। वह चर्चा तथा वाद-विवाद के सम्बन्ध में असहिष्णु था तथा वह विभागीय फ़ाइलों के सम्बन्ध में धीरे-धीरे कार्य करने का आदी न बन सका। वह सारी आयु आज्ञा देने तथा आज्ञापालन किये जाने का आदी रहा था। अब वह ऐसे लोगों के मध्य में था जो कष्टदायक तथा कलहप्रिय थे

तथा जिन्हें वह सामान्य रूप से आज्ञापालन के लिये विवश नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त उसने अपने आपको न केवल हारा हुआ अथवा विरोधी पाया, अपितु व्यापक रूप से अपयश अथवा निन्दा तथा कलंक का भागी पाया। आक्रमण अथवा आलोचना किये जाने पर वह भावुक बन जाता था। उसमें स्वभाव की वह लोच न थी कि वह स्थिति के अनुसार क्रियाशील रहता तथा अन्य बहुत से वायसरायों के समान उसने अपने आपको इंग्लैंड में समर्थनहीन पाया।" पुनश्च, सर जान लारैन्स का शासन, जो आदर के योग्य तथा अत्यन्त उत्साही होते हुए भी इस बात का सूचक था कि योग्यतम भारतीय सिविल सर्विस वालों को भी वायसराय बनाना वाँछनीय नहीं है। व्यक्तिगत जाति-स्वभाव अथवा मानसिक विशेषताओं को इस विशेष दृष्टान्त में महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि लारैन्स के प्रशासन से इस बात का अव्यक्त रूप से सुझाव मिल गया कि इस प्रकार के प्रयोग के आवश्यक खतरे में लाभ अधिक हैं। और इस प्रयोग को उस समय से लेकर कभी दोहराया नहीं गया।

लार्ड मेयो, १८६९-७२ (Lord Mayo)—सर जान लारैन्स के पश्चात् लार्ड मेयो ने कार्यभार संभाला। यद्यपि डिज़रैली ने उसका चुनाव किया था, तथापि ग्लैडस्टन के प्रधान मन्त्री बनने पर भी उसने उसके कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। वह भारतीय राजाओं तथा यूरोपीय जातियों में लोकप्रिय था। उसका व्यक्तित्व आकर्षक था।

अफ़गानिस्तान के सम्बन्ध में उसने सर जान लारैन्स की नीति को जारी रखा। यह सत्य है कि वह शेरअली से अम्बाला में मिला, जो अफ़ग़ानिस्तान का शासक था, किंतु उसने अपनी ओर से कुछ भी आश्वासन देने से इनकार कर दिया। लार्ड मेयो अपनी नीति तथा व्यक्तिगत आकर्षण से शेरअली को जीतने में सफल हुआ।

लार्ड मेयो ने भारतीय नरेशों के बालकों की शिक्षा के लिए अजमेर में मेयो कालेज की स्थापना की। महारानी विक्टोरिया के द्वितीय पुत्र ड्यूक ऑफ एडिनबरा ने १८६९ में भारत की यात्रा की।

१८७० में लाल सागर में समुद्री तार का जाल बिछाया गया। इससे गवर्नर-जनरल तथा इंग्लैंड की सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध में स्थिति काफी बदल गई। लार्ड कर्जन के कथनानुसार, बिजली की तारों के प्रारम्भ से उस परिवर्तन का श्रीगणेश उल्लेखनीय रूप से हुआ। गवर्नर-जनरल को इससे लाभ भी हुआ तथा हानि भी। एक ओर कार्य प्रारम्भ करने की उसकी प्रवृत्ति पर कुछ रोक लग गई तथा अब न तो वह किसी युद्ध को आरम्भ कर सकता था और न ही कोई सन्धि अथवा न ही वह अपने स्वामियों की अनुपस्थिति में उनकी ओर से वचन-बद्ध हो सकता था। यह जानते हुए कि यदि किसी घटना के एक वर्ष पश्चात् उन्होंने अपने प्रतिनिधि के किसी कार्य पर अविश्वास प्रकट किया अथवा निन्दा की, तो भी वे उसके कार्य को नहीं बदल सकेंगे। तब से गवर्नर-जनरल की अर्ध-स्वतन्त्र अधिकारी पुरुष अथवा शासक के रूप में सत्ता समाप्त हो गई। वैल्ज़ली अथवा हेस्टिंग्ज़ तथा सम्भवतः डलहौज़ी जैसे वायसरायों की पुनरावृत्ति एक असम्भव-सा कार्य हो गई। दूसरी ओर यद्यपि वायसराय को इंग्लैंड के निर्देशों का पूर्ण ध्यान रखना होता था तथा कभी-कभी अनावश्यक हस्तक्षेप अथवा खींचा-तानी भी होती थी, डाय-

रैक्टरों की मानसिक चंचलता तथा लन्दन के विरोधी अधिकारियों की कलहों से वह मुक्त हो गया। इस वास्तविक शक्ति के अभाव की क्षतिपूर्ति स्थिति की महत्त्वपूर्ण सुरक्षा से हो गई। वायसराय चाहे तो कार्य कर सकता है अथवा त्याग-पत्र भी दे सकता है। किन्तु अब हम कटु वचनों का आदान-प्रदान, अपमान, आकस्मिक पद-निष्कासन, तथा अविनीत वापिस बुलाए जाने की बातें नहीं पढ़ेंगे (भारत में अंग्रेजी सरकार--प्रथम भाग पृष्ठ १०८)।

लार्ड मेयो ने भारत में वित्त के विकेन्द्रीकरण के क्रम को आरम्भ किया। इस दिशा में उसने १८७० में प्रथम पग उठाया। प्रान्तों को वित्त का कुछ भाग तथा कुछ विशेष विभाग सौंपे गये।

अंडमान द्वीप में १८७२ में एक पागल पठान ने लार्ड मेयो की हत्या कर दी। डा० स्मिथ के अनुसार, "लार्ड मेयो ने अपने तीन वर्ष के कार्य-काल में उसे नियुक्त करने वाले राजनीतिज्ञों की आशाओं को पूर्ण कर दिया तथा अपने आपको पूर्ण योग्य गवर्नर-जनरल तथा वायसराय सिद्ध कर दिया। उसके अनोखे व्यक्तिगत आकर्षण ने उसे विशेष रूप से सुरक्षित रियासतों के शासकों में लोकप्रिय बना दिया। वे उसे साम्राज्य का आदर्श प्रतिनिधि मानते थे। उसने शासन-कार्य की सभी समस्याओं के सम्बन्ध में कड़ा परिश्रम किया तथा अण्डमान द्वीपों में कैदियों के सरकार की ओर से बुरी प्रणाली को सुधारने के लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्नों के कारण अपने प्राण भी दे दिए।" पी० ई० राबर्ट्स के अनुसार, "उसका आकर्षक व्यवहार तथा सार्वजनिक लोकप्रियता उसके ऐसे व्यक्तिगत गुण थे, जिनकी ओर बिना आकर्षित हुए न रहा जा सकता था। ये दोनों गुण अत्यन्त मूल्यवान् थे। इनके कारण उसे सुरक्षित रियासतों के नरेशों के द्वारा वास्तविक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तथा उनका हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ तथा उसे ऐसा अवसर प्राप्त हुआ कि वह अपने कार्य-काल में भारतीय नौकरशाही की कठिन समस्याओं को कम से कम विरोध तथा अधिक से अधिक योग्यता से निभा पाया।" रशब्रुक विलियम्ज़ के शब्दों में, "लार्ड मेयो के गवर्नर-जनरल होने के समय से हम भारत में उस प्रगतिशील विकास के आरम्भिक युग के क्रम का स्मरण कर सकते हैं, जिससे हम ब्रिटिश कामनवैल्थ के अन्तर्गत उत्तरदायी सरकार की दिशा में अग्रसर हुए।

लार्ड नार्थब्रुक, १८७२-७६ (Lord Northbrook)—लार्ड नार्थब्रुक सावधानी से काम करने वाला व्यक्ति था। उसका चरित्र महान् तथा गम्भीर था। उसे प्रशासनिक कार्यों का काफी अनुभव था। उसने किसी नवीन वस्तु को प्रारम्भ नहीं किया अपितु केवल अपने पूर्ववर्ती लोगों की नीति का अनुसरण किया। उसके अपने ही शब्दों में, "मेरी नीति का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं को शान्तिपूर्वक चलाते रहना तथा देश को शान्ति प्रदान करना था।" उसने १८७३ में यह घोषणा की "मेरा उद्देश्य करों को हटाना तथा अनावश्यक वैधानिक कार्रवाइयों को बन्द करना था।" वह गतिशील लेखक अथवा वक्ता नहीं था, अपितु वह पर्याप्त निर्णयात्मक स्वतन्त्रता का स्वामी था।

अफ़ग़ानिस्तान के सम्बन्ध में उसने लारैन्स तथा मेयो की नीति को जारी रखा। उसने शिमला में १८७३ में अफ़ग़ानिस्तान के राजदूत से बातचीत की, किन्तु अपनी ओर से कुछ भी आश्वासन देने से इनकार कर दिया। उसने १८७६ में त्याग-पत्र दे दिया

क्योंकि अफ़गानिस्तान की नीति के सम्बन्ध में उसके विचार डिज़रैली की सरकार से न मिलते थे।

उसके कार्यकाल में कूका आन्दोलन पंजाब में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी । कूके लोग अत्यन्त साहसी थे तथा उन्होंने कई मुसलमानों की हत्या कर डाली। कूकों को दिए गये प्रत्येक दण्ड ने उनके पागलपन तथा शक्ति को बढ़ा दिया । १८७८ में इन कूकों के एक समूह ने लुधियाना के समीप मलोछ के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया । अन्य समूह ने मलेरकोटला नगर में प्रविष्ट होने का प्रयत्न किया।

खज़ाने पर अधिकार करने, लोगों को क्रान्ति के लिए तैयार करने का प्रयत्न किया गया। सरकार ने सामयिक कार्रवाई की। डिप्टी कमिश्नर विद्रोहियों का दमन करने में समर्थ हो गया। संक्षिप्त मुकदमे की सुनवाई के पश्चात् ५० व्यक्तियों को तोपों से उड़ा दिया गया। महान् आन्दोलन हुआ तथा कमिश्नर और डिप्टी कमिश्नर को नौकरी से निकाल दिया गया।

इसके कार्यकाल में बड़ौदा के गायकवाड़ पर महिलाओं को दण्डित करने, अंग्रेज रैज़ीडैण्ट को विष देने का प्रयत्न करने, व्यापारियों तथा बैंकों के तथा अपने स्वार्थी भाई के सम्बन्धियों के साथ दुर्व्यवहार करने के अभियोग में आयोग के द्वारा मुकदमा चलाया गया। इस मुकदमे का परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण था। सरकारी सदस्यों ने बड़ौदा के गायकवाड़ को अपराधी सिद्ध किया तथा गैर-सरकारी सदस्यों ने निरपराध। ऐसा होने पर भी उसे शासन-व्यवस्था के कुप्रबन्ध तथा बुरे व्यवहार के कारण गद्दी से हटा दिया गया । राजा को मद्रास भेज दिया गया।

१८७३-७४ में बिहार में तथा बंगाल के एक भाग में अकाल पड़ा। लोगों के कष्टों को कम करने के लिए बहुत सा रुपया व्यय किया गया।

लार्ड कर्ज़न के कथनानुसार, "लार्ड नार्थब्रुक एक शान्त गम्भीर व्यक्ति था, जिसके विषय में इंग्लैण्ड में प्रजातन्त्रवादी अथवा उदार नीति अनुसरण करने वाला व्यक्ति का नाम दिया जा सकता है। वह अपने प्रशासन-कार्यों में न्यायपूर्ण तथा दयापूर्ण और अपने सभी कार्यों में जागरूक था। वह अपने पूर्ववर्ती के समान नहीं था, क्योंकि वह अपने स्वभाव से शंकित रहता था। वह सब प्रकार के प्रदर्शन तथा दिखावे को पसन्द नहीं करता था। मैंने प्रायः उसे पीछे के वर्षों में राज्य सभा में सुना, जहाँ उसकी महान् प्रतिष्ठा थी, किन्तु उसने अपनी शक्ति का कोई भी चिह्न अथवा प्रभाव नहीं छोड़ा। उसने भारतवर्ष के लिए अपनी आदर-भावना नहीं छोड़ी तथा सभी भूतपूर्व वायसरायों में वह सबसे अधिक तथा निरन्तर भारतीय मामलों में रुचि प्रदर्शित करता था तथा मेरे वायसराय-काल में मेरे साथ नियमित रूप से पत्र-व्यवहार करता था, जैसे कि वह मुझसे पूर्ववर्ती वायसरायों के साथ करता था, यद्यपि उसे भारत को छोड़े ३० वर्ष हो चुके थे। भारत के सभी अंग्रेज शासकों में से वह एक था जिसे कल के लिए सर्वाधिक रुचि थी। उसके पास इंग्लैण्ड में चित्रकला का सुन्दर संग्रह था तथा उसमें कलाप्रियता किसी प्रकार से भी कम दर्जे की न थी। उसने सरकारी भवन के चित्रों के इकट्ठा करने के कार्य को पूरा करने में गम्भीरतापूर्वक पूर्ण रुचि ली तथा इस भ्रम के कारण कि भारतीय प्रतिभा को चित्र-विद्या की पाश्चात्य प्रणाली में प्रशिक्षित किया जा सकता है, उसने कलकत्ता के अजायबघर में बहुत से यूरोपीय चित्रों

को इकट्ठा किया तथा जो चित्र आने वाले २५ वर्षों में धीरे-धीरे बिखर गये, क्योंकि पूर्वी मन पर उनका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

लार्ड लिटन, १८७६-८० (Lord Lytton)—नियुक्ति के समय लार्ड लिटन का प्रशासकीय अनुभव काफी था। वह एक महान् लेखक तथा प्रतिभावान् वक्ता था। उसे डिज़रैली ने विशेष रूप से अफगानिस्तान के प्रति नई वीरतापूर्ण विदेश नीति का उद्घाटन करने के लिए भेजा था। उसकी अफगान नीति की विस्तृत चर्चा किसी अन्य पृष्ठ पर की गई है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि वह द्वितीय अफगान युद्ध को शीघ्र लाने के लिए तथा वहाँ भारतीय सेनाओं के सब प्रकार के कष्टों के लिए उत्तरदायी है। उसे अपनी अफगान नीति के लिए सब ओर से फटकार सुननी पड़ी।

भारतीय-प्रैस-अधिनियम के स्वीकार किए जाने के लिए वह उत्तरदायी था। इस अधिनियम का विस्तार समाचार-पत्रों के इतिहास के अध्याय में दिया गया है। यह अधिनियम पक्षपातपूर्ण था तथा इस विषय में भारतीयों ने उसका विरोध किया।

लार्ड लिटन ने सुझाव दिया कि वायसराय को परामर्श देने के लिए शासक राजाओं की एक प्रिवी कौंसिल बनाई जाए। उसका सुझाव नहीं माना गया, किन्तु १६१६ के भारत सरकार अधिनियम के स्वीकृत हो जाने पर नरेन्द्र मण्डल के रूप में बाद में ऐसी ही संस्था भारत में स्थापित की गई।

लार्ड लिटन भारतीय अदालतों की इस मनोवृत्ति का विरोधी था, जिसके अनुसार उन मामलों में, जिनमें यूरोपीय अपराधी होते थे, नरम दण्ड दिये जाते थे।

ब्रिटिश संसद् ने राजकीय उपाधि अधिनियम स्वीकृत किया, जिसके अनुसार इंग्लैण्ड के शासक को 'कैसरे हिन्द' की उपाधि प्रदान की गई। लार्ड लिटन ने १८६७ में दिल्ली में एक शानदार दरबार किया तथा महारानी विक्टोरिया को दिल्ली की साम्राज्ञी घोषित किया गया। इसका प्रभाव देशी राजाओं की स्थिति को कम करना था। तथापि यह एक निश्चित तथ्य की केवल एक औपचारिक घोषणा थी।

१८६६-७८ में मद्रास, बम्बई, मैसूर, हैदराबाद में तथा पंजाब व मध्य प्रदेश के कुछ भागों में एक बड़ा भारी अकाल पड़ा। अकाल के साथ ही चेचक तथा बुखार भी फैल गया। मद्रास सरकार के कुप्रबन्ध तथा दोषपूर्ण सहायता कार्यों के कारण महान् प्राण-हानि हुई। अकाल को सम्भालने में दो वर्ष लग गये। जनता के कष्टों ने सरकार को विवश किया कि वह अकाल सहायता के सारे प्रश्न की पूर्ण जाँच करे, जब भी उसकी आवश्यकता पड़े। एक अकाल आयोग अकाल की सहायता के पूर्ण प्रश्न की विस्तारपूर्वक जाँच करने के लिए नियुक्त किया गया। आयोग ने एक रिपोर्ट दी जो वर्तमान अकाल सहायता कार्यों की नींव का कार्य देती है। उसके मुख्य सिद्धान्त ये थे कि सुसंगठित तथा स्वस्थ शरीर वाले व्यक्तियों को सहायता कार्य पर लगाया जाए। जो लोग किसी प्रकार का कार्य करने में असमर्थ थे उनको सरकार के द्वारा सहायता प्रदान की जाए। प्रत्येक प्रान्त में एक अकाल निधि की स्थापना की जाए तथा इसका उद्देश्य यह था कि इस निधि में प्रति वर्ष कुछ न कुछ धनराशि डाली जाए। इस निधि के विकास का भी प्रयत्न किया जाये जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग किया जाए। रेलों का निर्माण किया गया तथा अकाल के खतरों के लिए नहरों को खोदने की कार्रवाई किये जाने का निश्चय किया गया।

स्मिथ के अनुसार, विदेश.नीति के सम्बन्ध में गम्भीर विचारों के कारण लार्ड लिटन को पूर्ण आदर तथा प्रशंसा मिलनी चाहिए। इस सम्बन्ध में उसके विचार पूर्ण रूप से सोचे हुए तथा दृढ़तापूर्वक स्पष्टवादिता से प्रकट किये गये थे। अकाल की व्यवस्था की सम्पूर्ण वर्तमान प्रणाली उसके द्वारा रखी गई अच्छी और सच्ची नींव पर आश्रित है।

लार्ड लिटन के समय में बहुत से आर्थिक सुधार किये गये। इनका आंशिक कारण जान स्ट्रैची के प्रयत्न थे, जो उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के राज्यपाल के पद को छोड़ने के पश्चात् अर्थ-सदस्य बना। लिटन से पूर्व विभिन्न प्रान्तों में नमक कर की विभिन्न दरें थीं, विभिन्न देशी रियासतों, जिनके यहाँ नमक की उपज होती थी, से बातचीत की गई, तथा उन्हें कहा गया कि वे कुछ क्षतिपूर्ति के उपलक्ष में नमक बनाने के अपने अधिकार को छोड़ दें। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष के सब भागों में नमक कर की दरें एक जैसी कर दी गईं। चुंगी की वे चौकियाँ जो देशी रियासतों से बिना कर लगे नमक को ब्रिटिश भारत में आयात के सम्बन्ध में रोक लगाने के लिए स्थापित की गई थीं, तोड़ दी गईं।

लार्ड लिटन ने मुक्त व्यापार की नीति का अनुसरण किया। उसने २६ वस्तुओं पर आयात कर हटा दिया। उसने सूती कपड़े पर ५०% का कर हटा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि समुद्री व्यापार की बहुत वृद्धि हुई।

लार्ड मेयो ने आर्थिक विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में प्रथम पग उठाया था। १८७७ में लार्ड लिटन ने दूसरा पग उठाया। कुछ और विभाग प्रान्तों को दिए गये तथा उन्हें आय के कुछ और साधन भी प्रदान किये। इसका उद्देश्य प्रान्तों को योग्यता तथा कम व्यय के लिए प्रेरणा देना था।

लार्ड मेयो ने अलीगढ़ में एक मुस्लिम एंग्लो प्राच्य महाविद्यालय की स्थापना की। बाद में यह अलीगढ़ विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गया।

यह १८३३ में घोषणा की गई थी कि ब्रिटिश भारत के किसी भी मूल निवासी को उसकी राष्ट्रीयता, जाति तथा धर्म के कारण किसी पद अथवा स्थान पर कार्य करने से अयोग्य घोषित न किया जाएगा, किन्तु इन वचनों के पालन के लिए कोई भी कार्रवाई नहीं की गई। १८७९ में लार्ड लिटन ने वैधानिक नागरिक सेवा की स्थापना की। ऐसा नियम बनाया गया कि अब तक जिन पदों पर नियमित नागरिक सेवाओं के सदस्य काम करते थे, उन पर वायसराय तथा भारत मन्त्री द्वारा स्वीकृत तथा स्थानीय सरकारों द्वारा मनोनीत जन्म से भारतीय व्यक्ति ही नियुक्त किए जाएँगे। प्रार्थियों के लिए अन्तिम नियुक्ति से पूर्व दो वर्षों के लिए परीक्षण के रूप में कार्य करने तथा विशेष परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना आवश्यक था। यह वैधानिक नागरिक सेवा अवैधानिक सेवाओं के मध्य मार्ग के रूप में स्थिति रखती थी। नई योजना सफल नहीं थी। वह उच्च वर्गों से लोगों को आकर्षित करने में सफल न हुई। इस सेवा में वे लोग नियुक्त किए गये जो सामान्य रूप से आधीन सेवा में भरती होते। यह आठ वर्षों के पश्चात् तोड़ दी गई।

लिटन का मूल्यांकन (Estimate of Lytton)—किसी अन्य वायसराय के सम्बन्ध में इतनी आलोचना नहीं हुई, जितनी लार्ड लिटन के विषय में। उसकी अफ़ग़ान नीति के सम्बन्ध में भारतवर्ष के लोगों ने ही नहीं, अपितु उदार दल के नेताओं तथा अंग्रेजों ने निन्दा की। वह निस्सन्देह "एक कष्टपूर्ण तथा अनुचित भारी भूल है तथा केवल उसी

कारण से ही लार्ड लिटन का राजनीतिज्ञ के रूप में दावा ऐसा है, जो न्यायपूर्वक रद्द किया जा सकता है।'' उसे अकाल के कारण भयङ्कर प्राण-हानि के लिए भी अपराधी समझा जाता है। जब लोग अकाल में मर रहे थे, तब वह दिल्ली में दरबार करने में व्यस्त था। इतना होने पर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि वह महान् विचारों का व्यक्ति था। उसकी कुछ योजनाएँ कार्यान्वित नहीं की जा सकीं क्योंकि वे समय से पूर्व की थीं। वह भारत के लिये सोने के स्टैंडर्ड के पक्ष में था तथा देश को लाभ हो सकता था, यदि उसका सुझाव इस सम्बन्ध में स्वीकृत कर लिया जाता। वह उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त को पंजाब से अलग किए जाने तथा उसे सीधे केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में रखने के पक्ष में था। उसका यह सुधार वास्तव में लार्ड कर्ज़न ने कार्यान्वित किया। इस बात का पहले उल्लेख किया जा चुका है कि उसकी भारतीय प्रिवी कौंसिल वाली योजना नरेन्द्र मण्डल के रूप में कार्यान्वित की गई। वह यह भी चाहता था कि यूरोपीय लोगों के साथ किसी मामले में नरमी के साथ न बरता जाए।

डा० स्मिथ ने लिटन के कार्यों की योग्यता के सम्बन्ध में इन शब्दों में वर्णन किया है—''पर्याप्त जीवन-चरित्र के अभाव तथा उसकी आदतों तथा वृत्तियों की उन विशेष विदेशी विशेषताओं के कारण, जो परम्परागत विचारों को उभारती हैं, इसकी प्रसिद्धि अस्पष्ट रही है। इन सबसे बढ़कर लार्ड बेकन्सफ़ील्ड तथा सालिसबरी के आदेशानुसार उसके द्वारा अपनाई गई अफ़ग़ान नीति के द्वारा भड़की हुई कटु पक्षपातपूर्ण मतभेदों के कारण भी उसकी प्रसिद्धि अस्पष्ट है। इसके साथ ही भारतीय प्रैस अधिनियम की विषैली आलोचना ने भी उसे लोकप्रिय जनता की दृष्टि में गिराया। इन सब कारणों से उसे वह प्रसिद्धि न प्राप्त हो सकी, जिसके लिए प्रधान मन्त्री वचनबद्ध थे। सम्भवतः इससे ही यह सामान्य प्रभाव पड़ा कि भारत के एक शासक के रूप में वह असफल था। यदि इस सम्मति को मान लिया जाए, तो वह अपर्याप्त कारणों पर आधारित है। उसकी आन्तरिक नीति के सबसे अच्छे भाग स्थायी महत्त्व के हैं तथा उसके उत्तराधिकारियों ने उनसे ही अपने विकास कार्यों तथा सुधारों की नींवें रखीं। उसकी अफ़ग़ान नीति का सबसे आवश्यक पग जिससे मेरा अभिप्राय कोयटा पर अधिकार करना तथा खुर्रम की समतल भूमि को प्राप्त करना है, ऐसे थे जो या तो निर्बाध रूप से स्थिर रहे अथवा यदि उन्हें कुछ समय के लिए बदला भी गया, तो कुछ वर्षों के पश्चात् उन्हें पुनः पुष्ट कर दिया गया।''

लार्ड कर्जन के कथनानुसार, ''तथापि उन कागज़ों के अध्ययन से—जो उस समय अथवा बाद में सरकारी रिकार्डों में प्रकाशित हुए—मुझे बाध्य होना पड़ा कि मैं लार्ड लिटन की उस असाधारण योग्यता तथा कार्यकुशलता की स्तुति करूँ, जिसके कारण उसने काग़ज़ पर अपने विषय को लिपिबद्ध किया तथा अंग्रेजी गद्य की जिस पूर्णता में उसके संस्मरण, पत्र, विवरण तथा कार्रवाइयाँ लिखी गई हैं। सभी गवर्नर-जनरलों तथा वायसरायों में, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक प्रतिभा अथवा गुण की दृष्टि से वह सबसे योग्य दृष्टिगोचर होता है। कुछ अंशों में वारेन हेस्टिंग्ज़ अथवा डलहौज़ी अवश्य उससे आगे हैं, किन्तु उनकी विशेषता विवरण की स्पष्टता अथवा वाक्शैली की शक्ति तथा प्रभाव है। तथापि वह इन दोनों से भी अपनी लेखन शैली की कलात्मकता की दृष्टि से बढ़ चढ़कर है।'' पुनश्च ''यह कहा गया है कि यह सुन्दर तथा काव्यपूर्ण मूर्ति—क्योंकि

लिटन प्रकट रूप से तथा तथ्य में सुन्दर था किन्तु वास्तव में पुराना पड़ गया था—उसे तो एलिज़ाबेथ के युग में होना चाहिए था। इस विचार में आग्रह तथा यथार्थता है क्योंकि निश्चित रूप से भारतीय वायसरायों के चित्र-कक्ष में उसके चित्र से बढ़कर कोई अन्य चित्र इतना अपूर्व तथा विलक्षण नहीं है। पैरिस के दूतावास में उसे अपनी सामाजिक तथा कूटनीतिक सफलता के लिए और भी उपयुक्त तथा अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ।

Questions for Revision

1. Describe the measures adopted by Lord Mayo to place the finance of the country upon a permanently sound basis.

2. "Sir John Lawrence's reputation rests upon the invaluable services rendered by him at the time of the Mutiny, not on his work as Viceroy, which could have been done as well or better by a worse man." Is this estimate correct ?

3. What was the importance of the laying of the Red Sea Cable in 1870 ?

4. Give an account of the Viceroyalty of Lord Lytton.

5. Critically examine the foreign and domestic policy of Lord Lytton.

6. Give an estimate of the achievements of Lytton.

अध्याय १९

रिपन से एलगिन तक (१८८०-१८९८)
(Ripon to Elgin)

लार्ड रिपन, १८८०-१८८४ (Lord Ripon)--लार्ड रिपन अनेक बातों में लार्ड विलियम बैण्टिङ्क से मिलता-जुलता था। उसका राजनैतिक दृष्टिकोण, लार्ड लिटन तथा कर्जन से अत्यन्त विपरीत था। वह ग्लैडस्टन युग का एक सच्चा उदार व्यक्ति था तथा उसका शान्ति, स्थानीय स्वराज्य तथा यथेच्छाचारिता में दृढ़ विश्वास था। अब तक भारत सरकार केवल वही काम करती आ रही थी, जो सबके भले के लिए था, किन्तु इस सम्बन्ध में वह जनता से परामर्श नहीं लेती थी कि उनकी इच्छाएँ तथा भावनाएँ क्या थीं। बर्क के अनुसार, "भारत में अंग्रेज जाति सिवाए अफसरों के क्रय के लिए शिक्षणालय के कुछ नहीं। अंग्रेज एक दूसरे के स्थान पर काम करने वाली जाति हैं। वे एक ऐसा प्रजातन्त्र राष्ट्रमण्डल हैं, जिसमें जनता सम्मिलित नहीं। वे एक ऐसा राज्य है जिसका निर्माण पूर्णरूप से मैजिस्ट्रेटों के द्वारा हुआ।" मांटगुमरी के अनुसार "हम भारत में लोगों को एक ओर छोड़ देते हैं, हम सोचते हैं तथा कहते हैं, कि यह वस्तु अच्छी है, जिसे करना चाहिए तथा उसे बिना उससे इस सम्बन्ध में अधिक पूछताछ किए कर डालते हैं।" भारतीय लोग जो पश्चिमी शिक्षा ग्रहण कर रहे थे तथा जो पश्चिमी प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं के सम्पर्क में आए थे, वे इन संस्थाओं को भारत में चालू करने के इच्छुक थे। लार्ड रिपन उनकी महत्त्वाकांक्षाओं से सहानुभूति रखता था तथा उस सम्बन्ध में उसने पग उठाए। स्थानीय स्वराज्य के सम्बन्ध में अपने प्रस्ताव में लार्ड रिपन ने घोषणा की कि उसका उद्देश्य भारत के लोगों को लोकप्रिय तथा राजनीतिक शिक्षा देना है। वह हृदय से यह चाहता था कि भारतवासी प्रजातन्त्र के प्रथम पाठों को उन स्थानीय बोर्डों में सीखें, जो देश के प्रत्येक भाग में स्थापित किए जाते थे। यह सच है कि बहुत से अंग्रेज उसके विचारों से सहमत नहीं थे तथा वास्तव में उसका विरोध करते थे, किन्तु लार्ड रिपन ने वह कार्य करना जारी रखा, जिसे वह भारत के लोगों के हित में समझता था।

लार्ड रिपन ने द्वितीय अफगान युद्ध को समाप्त किया। उसने १८८२ में भारतीय प्रैस अधिनियम को वापिस ले लिया, जिसे लार्ड लिटन ने स्वीकृत किया था तथा जिसके सम्बन्ध में भारतीयों ने दृढ़तापूर्वक आलोचना की थी।

लार्ड रिपन ने लार्ड हार्टिङ्गटन को लिखे अपने १९ फरवरी, १८८१ के पत्र में अधिनियम को वापिस करने के सम्बन्ध में अपना निश्चय सूचित करते हुए इस प्रकार लिखा—"तथ्य यह है कि भारत का अधिकारी प्रैस को सम्भवतः एक आवश्यक बुराई समझता है तथा इसे यथासम्भव तंग से तंग सीमाओं में रखना चाहता है। उसे स्वतन्त्र चर्चा के लाभों के सम्बन्ध में कोई भी वास्तविक भावना नहीं।"

लार्ड रिपन के समय में भारतीयों का भारतीय सिविल सर्विस में प्रवेश अत्यन्त कठिन था, क्योंकि परीक्षाएँ इंग्लैंड में होती थीं तथा परीक्षार्थियों की आयु सीमा १८

निश्चित थी। रिपन इस बात के पक्ष में था कि परीक्षाएँ एक साथ हों, किन्तु वह कौंसिल तथा ब्रिटिश सरकार को इस परिवर्तन के सम्बन्ध में सहमत होने के लिए प्रभावित न कर सका। तथापि आयु सीमा की वृद्धि के सम्बन्ध में वह १८ वर्ष से २१ वर्ष करवाने में सफल हो गया। इस प्रकार भारतीयों को कुछ अधिक सुविधाएँ प्राप्त हो गईं कि वे लन्दन में होनेवाली परीक्षाओं में प्रतियोगिता कर सकें।

जब सर रिचर्ड गार्थ, जो कलकत्ता हाई कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश थे, अवकाश पर गये, तब रिपन ने सर रमेशचन्द्र मित्र को मुख्य न्यायाधीश के स्थान पर कार्य करने के लिए नियुक्त किया। यूरोपियनों की ओर से इस सम्बन्ध में प्रबल विरोध हुआ तथा सर रिचर्ड गार्थ ने भी स्वयं इस नियुक्ति के सम्बन्ध में विरोध प्रकट किया।

स्थानीय स्वराज्य (Local Self-Government)--स्थानीय स्वराज्य के सम्बन्ध में लार्ड रिपन ने एक प्रस्ताव १८८१ में स्वीकृत किया। उसमें इस बात का उल्लेख था कि समय आ गया है जब लार्ड मेयो के सरकार के सम्बन्ध के विचारों को विकसित करने के सम्बन्ध में आगे पग उठाए जाएँ। अर्थ के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों के साथ सन्धियों में स्थानीय स्वराज्य के प्रश्न की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए । प्रान्तीय सरकारों को आदेश दिया गया कि वे अपने राजस्व की पर्याप्त आय स्थानीय बोर्डों को हस्तांतरित करें तथा उन बोर्डों को स्थानीय समस्याओं के सम्बन्ध में कार्रवाई करने को कहा गया था। प्रान्तीय सरकारों को यह भी आदेश दिया गया कि वे प्रांतीय, स्थानीय तथा नगरपालिकाओं के अधिनियमों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें। इस जाँच-पड़ताल का यह उद्देश्य था कि राजस्व के किन-किन साधनों को प्रान्तीय मदों से स्थानीय मदों में हस्तांतरित किया जा सकता है, जिससे उनकी व्यवस्था नगरपालिकाएँ करें। इस बात का भी निश्चय होना था कि किन-किन विषयों को विशेष रूप से स्थानीय बोर्डों को दिया जाए। केवल वही विषय हस्तांतरित किए जाने थे, जिनको जनता समझ सके तथा उनके सम्बन्ध में पूर्ण रूप से अधिकारपूर्वक कार्रवाई कर सके।

१८८१ के प्रस्ताव के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को पत्र भेजे गये। इन पत्रों में भारत सरकार ने व्यय के उन मदों की ओर इंगित किया, जिन्हें आसानी से स्थानीय संस्थाओं को हस्तांतरित किया जा सकता था। प्रान्तीय सरकारों से कहा गया कि वे सुझाएँ कि कौनसे अन्य विषय स्थानीय समितियों को हस्तांतरित किए जाएँ। प्रांतीय सरकारों को कहा गया कि स्थानीय सरकार के वास्तविक विकास की आशा करना व्यर्थ है यदि स्थानीय समितियों के विस्तृत कार्यों के सम्बन्ध में जाँच अथवा हस्तक्षेप किया जाएगा। यह बात भी बताई गई कि गवर्नर-जनरल स्थानीय समितियों को यथासम्भव पूर्ण स्वतन्त्रता देने के लिए उत्सुक हैं।

अगला कदम रिपन द्वारा १८८२ में उठाया गया, जब उसने अपने प्रसिद्ध प्रस्ताव को प्रकाशित किया। उस प्रस्ताव में लार्ड रिपन ने यह स्पष्ट कर दिया कि स्थानीय सरकार के विस्तार से योग्यता की दृष्टि से किसी प्रकार के अच्छे परिवर्तन की आशा नहीं। उसके अपने ही शब्दों में, "प्रशासन कार्यों में केवल सुधार की दृष्टि से ही यह कदम प्रस्तुत तथा समर्थित नहीं किया गया। यह मुख्य रूप से राजनैतिक तथा लोकप्रिय शिक्षा के साधन रूप में अभीष्ट है।" उसने कुछ समय के अनन्तर अधिक योग्यता की ओर

इशारा किया। आरम्भ में असफलताएँ भी सम्भव थीं। सफलता की आशा तभी की जा सकती थी यदि लोग सरकारी अधिकारियों से प्रोत्साहन तथा समर्थन प्राप्त करते।

लार्ड रिपन ने घोषणा की कि वह यह मानने को तैयार नहीं कि भारत के लोग स्थानीय स्वराज्य के सम्बन्ध में उदासीन हैं। वास्तव में बहुत से बुद्धिमान तथा सार्वजनिक रुचि के लोगों की आवश्यकता थी, जो लोगों के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित कर सकें। रिपन का यह विचार था कि स्थानीय सरकार की पद्धति का देश में सन्तोषजनक रूप से परीक्षण नहीं किया गया। पुरानी पद्धति सड़ चुकी थी तथा वह प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप के कारण किसी कार्य के प्रारम्भ करने की भावना को नष्ट कर देती थी। उसने इस बात पर बल दिया कि स्थानीय संस्थाओं के गैरसरकारी सदस्यों में अधिक विश्वास प्रकट किया जाए।

प्रान्तीय सरकारों को निर्देश दिया गया कि वे प्रत्येक ज़िले में स्थानीय बोर्डों की लड़ी को स्थापित तथा विकसित करें। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड का क्षेत्र इतना छोटा रखा गया कि जनता के स्थानीय ज्ञान तथा रुचि के बारे में पता जा सकता था। गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या बहुत अधिक रखी गई तथा सरकारी अधिकारियों की संख्या कुल मिलाकर एक-तिहाई से अधिक नहीं बढ़ सकती थी। यथासम्भव स्थानीय बोर्डों में चुनाव की प्रथा को आरम्भ करना था। चुनाव की प्रथा को यथाशक्ति अधिकाधिक स्थानों पर प्रारम्भ किया जाना था।

सरकार के नियन्त्रण के सम्बन्ध में यह कहा गया कि उसका प्रयोग बाह्यरूप से किया जाए, भीतरी रूप से नहीं। सरकार को चाहिए कि वह स्थानीय समितियों के कार्यों को संशोधित करे तथा उनका निरीक्षण करे तथा उन्हें केवल आदेश ही न दे। स्थानीय समितियों के कुछ कार्यों को अधिकृत करने के लिए सरकारी स्वीकृति आवश्यक अपेक्षित कर दी गई। आरम्भ में तो बहुत-सी अवस्थाओं में स्वीकृति की आवश्यकता थी, किन्तु बाद में यह संख्या कम कर दी जानी थी। सरकार को इस बात का अधिकार मिलना था कि वे स्थानीय बोर्डों की कार्रवाइयों को पूर्ण रूप से रद्द कर दें अथवा किसी संकट की अवस्था में तथा लगातार कर्त्तव्य की उपेक्षा से उन्हें अस्थायी रूप से स्थगित कर दें। पूर्णरूप से रद्द किए जाने का अधिकार केवल भारत सरकार की स्वीकृति से ही प्रयुक्त किया जा सकता था। उसके अपने ही शब्दों में, सरकारी व्यवस्थापक अधिकारियों का सामान्य कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि वे विशेष रूप से स्थानीय बोर्डों की कार्रवाइयों को देखें, उनके विचारार्थ मामलों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करें, उनकी ओर से हो रही कर्त्तव्य की उपेक्षा के सम्बन्ध में उनका ध्यान खींचें। इस बात की सरकारी रूप से जाँच करें कि कहीं वे अपने कर्त्तव्यों से बढ़ कर तो कार्य नहीं कर रहे अथवा गैर-कानूनी रूप से अथवा पक्षपात से अथवा अनुचित रूप से तो वे कार्य नहीं कर रहे।

भारतीयों को स्थानीय बोर्डों का सदस्य बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाना था। सरकार को इस बात का पूर्ण प्रयत्न करना था कि वे उनके ठीक कर्त्तव्य के पालन में पूर्ण सहायता करें।

स्थानीय स्वराज्य के क्षेत्र में अपने सुधारों के कारण, लार्ड रिपन को देश में स्थानीय स्वराज्य का पिता कहा जाता है।

शिक्षा के सम्बन्ध में हण्टर आयोग (Hunter Commission on Education)—१८८२ में लार्ड रिपन ने हण्टर आयोग को इसलिए नियुक्त किया कि वह इस बात की जांच-पड़ताल करे कि १८५४ के वुड के सिद्धान्तों ने देश में क्या कार्य किया तथा भावी प्रेषितपत्र कार्यों के सम्बन्ध में भी उससे सिफ़ारिशें माँगी गई। हण्टर आयोग ने सिफ़ारिश की कि राज्य उच्च शिक्षा वाली संस्थाओं के प्रबन्ध तथा प्रत्यक्ष सहायता से अपने आप को पीछे हटा ले। यह कार्य भारतीयों को दिया जाना था, यदि ऐसा योग्यतापूर्वक होने की उचित आशा हो। कालेजों को सामान्य तथा विशेष सहायताएँ दी जानी थीं। कालेजों के प्राध्यापकों को लोगों तथा नागरिकों के कर्त्तव्यों पर व्याख्यान मालाएँ देने को कहा गया। मुसलमानों में शिक्षा के विस्तार के लिए कुछ विशेष पग उठाने के प्रस्ताव किए गये।

सरकार के शिक्षा अधिकारियों को सभी प्रारम्भिक शिक्षणालयों का निरीक्षण तथा देख-भाल करनी थी। इसके द्वारा प्रान्तीय राजस्व का कुछ भाग शिक्षा के लिए व्यय किए जाने का प्रस्ताव था। आयोग की सिफ़ारिशें सरकार ने स्वीकार कर लीं तथा उनका पालन किया गया।

वित्त का विकेन्द्रीकरण (Decentralisation of Finance)—१८८२ में लार्ड रिपन ने राजस्व की तीन भागों की पद्धतियों का आरम्भ किया। साम्राज्यवादी, विभक्त तथा प्रान्तीय मदों में राजस्व का वर्गीकरण किया गया। साम्राज्यवादी मद में प्राप्त आय केन्द्रीय सरकार को हस्तान्तरित की जानी थी। प्रान्तों को अपने नियन्त्रण में चलने वाले विभागों से प्राप्त समस्त आय मिलनी थी। विभक्त मदों में प्राप्त आय का बँटवारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के मध्य में होना था। प्रान्तीय बजटों (आय-व्यय के अनुमान-पत्रों) में होने वाले घाटे की पूर्ति केन्द्रीय सरकार को करनी होती थी तथा उसके लिए उसे भूमि-कर की आय का निश्चित अंश देना होता था। यह व्यवस्था ५ वर्षों के लिए की गई तथा १८८७, १८९२ तथा १८९७ में पुनः लागू की गई। लार्ड रिपन ने लोगों की भलाई के लिए पूर्ण रुचि प्रदर्शित की। १८८१ में प्रथम फैक्टरी अधिनियम स्वीकार किया गया, जिसके द्वारा भारतीय कारखानों में मज़दूरों की अवस्थाओं को सुधारा जा सके तथा उन्हें नियमित किया जा सके। ७ तथा १२ वर्ष की आयु के बच्चों से ९ घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। खतरनाक मशीनों को उचित रूप से लगाए जाने के नियम बनाए गए तथा उनके निरीक्षण के लिए निरीक्षकों की नियुक्ति की जानी थी।

लार्ड रिपन के द्वारा किया गया अन्य लोकप्रिय कार्य यह था कि उसने मैसूर के राजा को १८८१ में पुनः शासन-कार्य सौंप दिया, किन्तु राजा के द्वारा अधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ पाबन्दियाँ लगा दी गईं। शासन-कार्य के पुनः प्राप्त होने पर यह निश्चय किया गया कि उस समय राज्य में जो कानून लागू थे, वे सब के सब पूर्ववत् रहेंगे। उनको समुचित रूप से लागू किया जाएगा। सरकार की पद्धति में राजा गवर्नर-जनरल के परामर्श के बिना कोई वास्तविक परिवर्तन न कर सकता था।

कोल्हापुर का राजा १८८२ में पागल हो गया। जब राजा की मृत्यु हुई, तब उसके पश्चात् अन्य राजा को गद्दी पर बिठाया गया।

लार्ड रिपन ने स्वतन्त्र व्यापारिक नीति को पूर्ण किया। इस नीति को लार्ड नार्थब्रुक तथा लिटन ने प्रारम्भ किया था। १८८२ में वित्त मन्त्री ने पण्यशुल्क से ५% के समस्त आयात कर हटा दिए। नमक, मदिरा, स्पिरिट आदि पर कर नहीं हटाए गए। इन करों के जारी रखने के कारण पूर्णरूप से राजनैतिक थे।

१८८२ में सम्पूर्ण भारत में नमक पर कर कम कर दिया गया। राजस्व के क्षेत्र में रिपन सफल नहीं था। उसका विचार यह था कि जिन जिलों की पैमाइश तथा जाँच हो चुकी है, वहाँ सरकार को इस बात के लिए वचन-बद्ध होना चाहिए कि राजस्व में और वृद्धि तब तक न की जाए, जब तक मूल्य में वृद्धि न हो। समझौते के इन नियमों से किसी पक्ष को भी हानि उठानी न पड़ी। उसके सुझाव को स्वीकार न किया गया।

इलबर्ट बिल (Ilbert Bill)--इलबर्ट भारत सरकार का विधि सदस्य था। उसने यूरोपियन लोगों पर मुकदमे चलाए जाने तथा उनकी सुनवाई के सम्बन्ध में देश के कानून में परिवर्तन करना चाहा। १८७३ की फौजदारी दण्ड संहिता के अनुसार यह नियम था कि प्रैज़ीडैंसी नगरों को छोड़कर कोई भी मजिस्ट्रेट अथवा सैशन जज तब तक किसी यूरोपीय ब्रिटिश प्रजाजन के विरुद्ध मुकदमे की सुनवाई नहीं कर सकता जब तक वह स्वयं जन्म से यूरोपीय न हो। उस समय तक बहुत से भारतीय, नागरिक सेवा में उत्तरदायित्व तथा प्रतिष्ठापूर्ण पदों पर कार्य कर रहे थे। न्याय की माँग थी कि भारतीय मजिस्ट्रेटों को भी वे ही अधिकार दिए जाएँ, जो उनके समकक्ष यूरोपीय अधिकारियों को थे। भारत सरकार ने जातिगत भेद के कारण कानून सम्बन्धी अयोग्यताओं को दूर करने का निश्चय किया।

मि० इलबर्ट ने १८८३ में भारतीय तथा यूरोपीय मजिस्ट्रेटों को समानाधिकार दिलाने के लिए एक विधेयक तैयार किया।

मसविदे के रूप में बिल को सामान्य रूप से लार्ड रिपन की अन्तरंग कौन्सिल तथा प्रायः सभी प्रान्तीय सरकारों ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी तथा उसे देश की विधानसभा में फरवरी १८८२ में प्रस्तुत किया गया। कुछ ही सप्ताहों में सम्पूर्ण ब्रिटिश जाति ने बिल का प्रबल विरोध किया। कलकत्ता टाउन हॉल में एक जोरदार सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें सभ्यता की सभी सीमाओं का उल्लंघन किया गया। बंगाल भर में इस प्रकार की सभाएँ हुई। आँग्ल-भारतीय तथा यूरोपीय सुरक्षा संघ संगठित किए गये। गैरसरकारी यूरोपीय जाति ने रिपन के राज्य-दरबार का बहिष्कार कर दिया। यह भी प्रस्ताव किया गया कि सरकारी ऋण का वहिष्कार किया जाये। शिमला से कलकत्ता लौटते हुए उद्यानपतियों ने, जो आसपास के इलाकों से आये थे, सड़कों तथा गलियों में प्रकट रूप से रिपन का अपमान किया।

एक अंग्रेज संवाददाता ने इस प्रकार लिखा—"भारत में केवल अंग्रेजों को ही अधिकार प्राप्त हैं; तथाकथित भारतीयों को किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं।" 'यूरोपीय महिलाएँ खतरे में' का नारा लगाया गया। मेरेडिथ टाउनशैण्ड ने "स्पेक्टेटर" में इस प्रकार लिखा, "क्या आप लोग ऐसे देशों में रहना पसन्द करेंगे, जहाँ किसी भी समय आपकी पत्नी को किसी आया को थप्पड़ लगाने के झूठे अभियोग के कारण तीन दिनों का कारावास प्राप्त हो सकता हो; जहाँ का मजिस्ट्रेट ताँबे के वर्ण वाला मूर्त्तिपूजक हो, जो

सम्भवतः लिंग की पूजा करता है। जो निश्चित रूप से ऐसे अवसर प्राप्त करके आनन्दित होता है, जिससे किसी श्वेतवर्ण व्यक्ति का अपमान बिना किसी आत्महानि के होता हो ?" बिल का विरोध करने के लिये महिलाओं की कमेटी बनाई गई।

लार्ड रिपन, उसकी कार्यकारिणी के कुछ सदस्य तथा इंग्लैण्ड की सरकार दृढ़ रहे। तथापि अन्त में बिल में परिवर्तन किए गये जिनके अनुसार यूरोपीय अपराधियों के मामलों की सुनवाई केवल भारतीय सैशन जज तथा जिला मैजिस्ट्रेट ही कर सकते थे। साथ ही ऐसे यूरोपीय अपराधियों को अधिकार था कि यदि वे चाहें तो जूरी उनके मामलों में सुनवाई कर सकती है। लार्ड रिपन तथा उसकी सरकार इस प्रकार के समझौते को इस इच्छा के कारण मानी क्योंकि वे यूरोपियनों के द्वारा संगठित गलियों तथा सड़कों के प्रदर्शन के खतरों से बचना चाहते थे। २२ दिसम्बर, १८८३ को लार्ड किम्बर्ली को अपने पत्र में लार्ड रिपन ने इस प्रकार लिखा—"मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि यूरोपीय अशान्तिपूर्ण कार्रवाई के सम्बन्ध में सरकार ने जो महान् कमजोरी दिखलाई, उसका मुझ पर तथा मेरे साथियों पर बहुत प्रभाव हुआ। जब तक मैं कलकत्ता नहीं पहुँचा, मुझे इस बात का कुछ भी ध्यान अथवा विचार नहीं था कि बंगाल सरकार की यूरोपीय पुलिस शक्ति इतनी कम है (कुल संख्या ६०-७० के लगभग थी)। किसी दंगे की स्थिति में, वह चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, हमें फौज तो शीघ्र ही बुलानी ही पड़ती तथा मेरा विचार था, और अब भी है कि इस देश में यूरोपियनों के विरुद्ध यूरोपीय सैनिकों का प्रयोग एक अत्यन्त गम्भीर पग होता।"

थामसन तथा गराट के अनुसार, "किसी शिक्षित भारतीय ने इलबर्ट बिल की शिक्षा को कभी नहीं भुलाया। वे ऐसे शासकों के आदी रहे हैं जिन्हें चाटूकार, रिश्वत अथवा क्रान्ति के खतरों से प्रभावित किया जा सकता था, किन्तु यह बिलकुल नया अनुभव था जब कि एक सरकार, विशेष रूप से उदासीन तथा शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार, जो समाचार पत्र के दुर्व्यवहार से तथा बुरी आदतों के प्रदर्शन से अपने उद्देश्य से हटाई जा सकती हो। बाद के दिनों में भारतीय राष्ट्रीयता को इंग्लैण्ड के मताधिकार आन्दोलन से तथा आयर्लैण्ड के स्वराज्यवादियों से कुछ बातें सीखनी थीं। किन्तु यह इलबर्ट बिल के विरुद्ध सफल आन्दोलन था, जिसके द्वारा भारतीय राजनीति ने अपनी कार्य-पद्धति का निश्चय किया। यह उल्लेखनीय है कि इस आन्दोलन के पश्चात् आने वाले दो वर्षों में ही भारतीय राष्ट्रीय महासभा तथा यूरोपीय ऐसोसिएशन की नींव रखी गई।" साथ ही, राजनैतिक रुचि को यूरोपीय विरोध के कारण महत्त्वपूर्ण प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इस कलह के कारण भारतीयों के अमहत्त्वपूर्ण पद का अनुभव हुआ। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश सैनिकों तथा नागरिक कर्मचारियों के विरुद्ध मनुष्य की हत्या के सम्बन्ध में अनेक मामले इंग्लैण्ड सरकार के पास पहुँचे। अदालतें ऐसे मामलों में प्रायः इस प्रकार व्यवहार करती थीं, जिससे इस सम्बन्ध में इस प्रकार की अर्धस्वीकृति के दर्शन होते थे कि एक भारतीय का जीवन इतना मूल्यवान नहीं है जितना कि एक यूरोपियन का। राष्ट्रीय आन्दोलन ने अपना रूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया।

राबर्ट्‌स के अनुसार, "यदि लार्ड रिपन ने अपने देशवासियों में लोकप्रियता खो दी थी, उसने भारतीय लोगों का समर्थन तथा उत्साहपूर्ण भक्ति उनके हित के लिये अपने

नेतृत्व के द्वारा, प्राप्त कर ली थी। १८८४ में उसके त्याग-पत्र देने पर उसकी बम्बई की यात्रा के मार्ग में स्वागत तथा प्रशंसा करती हुई भीड़ पंक्तिबद्ध थी तथा उसका नाम भारत की राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत व्यक्तियों के हृदयों में तब से लेकर वाथसराय की गद्दी पर उनके महान् हितचिन्तक के रूप में चमक रहा है।" (पृ० ४७०, ब्रिटिश इण्डिया)

लार्ड कर्जन के कथनानुसार, "लार्ड रिपन को व्यक्तिगत रूप से लोग पसन्द करते थे तथा उसका आदर करते थे, क्योंकि वह न थकने वाला कार्यकर्ता था। समझौता पसन्द करने वाला साथी; पूर्ण रूप से स्पष्टवादी तथा दृढ़ व्यक्ति था। उसके मित्र सदैव उससे काँपते रहते थे, क्योंकि वह उन्हें निरन्तर तथा अत्यधिक पत्र-व्यवहार से तंग रखता था, किन्तु यह एक ऐसी प्रवृत्ति थी, जिसके अनुसार वह उन्हें सदैव तर्क तथा प्रभावित करने में तत्पर रहता था। वह भारतीय प्रशासन के शास्त्रानुसारी तथा मौलिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दृढ़ तथा कठोर था तथा अनेक वर्षों के पश्चात् मुझे भारतीय प्रशासन में फौजी शक्ति की अपेक्षा नागरिक प्रभुत्व के महत्त्व की रक्षा के सम्बन्ध में संघर्ष करना पड़ा, तब उसने मुझे सूचित किये बिना ही मेरी ओरसे हाऊस ऑफ़ लार्ड्सम में एक जोरदार भाषण दिया तथा उसे काफी पीड़ा सहन करनी पड़ी होगी, जब कि उसके सहयोगी लार्ड मार्ले ने उस पताका को नीचे झुका दिया, जिसे कुछ ही देर पूर्व उसने दुर्ग की दीवारों पर निडरतापूर्वक लगाया था।" पुनश्च, "लार्ड रिपन का वायसराय काल केवल चार वर्ष रहा यद्यपि उसकी समाप्ति पर ब्रिटिश जाति के द्वारा कोई दुःख प्रकट न किया गया तथापि सभी प्रकार के भारतीयों ने इस सम्बन्ध में अनेक उत्साहपूर्ण प्रदर्शन किए, जिनके द्वारा उन्होंने उत्साहपूर्वक यह प्रकट किया कि उनकी राजनैतिक परम्परा में वह सबसे महान् सन्त था तथा आज भी वे उसके सम्बन्ध में यह प्रतिष्ठा की भावना रखते हैं कि वह स्थानीय स्वराज्य तथा राष्ट्रीयता की प्रगति का वास्तविक सूत्रधार था, जो भावना इन दिनों काफी प्रगतिशील रही है।"

जब रिपन ने दिसम्बर १८८४ में अपने पद का त्याग किया, उस समय जनता की ओर से अत्यन्त सौहार्द का निरन्तर प्रदर्शन हुआ। उसकी कलकत्ता से बम्बई की यात्रा एक ऐसी विजयी प्रगति थी, जिसमें भारतीय कृतज्ञता की भावना अपने मूर्त्तरूप में अत्यन्त हार्दिकता से प्रकट हुई। लार्ड नार्थब्रुक को अपने पत्र में, २८ नवम्बर, १८८४ को, लार्ड रिपन ने इस प्रकार लिखा, "जब से मैंने शिमला से प्रस्थान किया है तब से अनेक अभिनन्दन-पत्रों के कारण मैं अत्यन्त दब सा गया हूँ तथा मेरे लिए इन अभिनन्दन-पत्रों के उत्तर देने का कार्य अत्यन्त कठिन रहा है। मुझे ध्यान नहीं कि कभी मैंने किसी को बुरा-भला कहा हो, किन्तु मैं ईमानदारी से गत वर्ष के अपने विरोधियों के सिद्धान्तों अथवा कार्रवाइयों के सम्बन्ध में अथवा नागरिक सेवा के सामूहिक व्यवहार में जो खेदजनक दुर्बलता आ गई है उसके सम्बन्ध में अच्छी सम्मति नहीं रखता हूँ।" बम्बई में रुकते हुए लार्ड रिपन ने वर्तमान म्युनिसिपल भवन की आधार-शिला रखी, जो विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन के सामने है। अभिनन्दन पत्र श्री फिरोजशाह हता ने, जो उस समय बम्बई नगर निगम के प्रधान थे, पढ़ा। टाउन हाल में प्रेजिडेंसी के विभिन्न नगरों की ओर से अनेक अभिनन्दन-पत्र पढ़े गये। मंच पर लार्ड रिपन के पीछे चाँदी के बक्सों, नक्काशी से जड़े बक्सों, चर्मपत्रों, लिपटे हुए हस्ताक्षरों तथा

सचित्र अभिनन्दन-पत्रों के ढेर—जो सिल्क तथा साटन पर लिखे थे—के कारण एक नियमित पर्वत-शृंखला सी लग गई थी। बम्बई से विदाई के दिन सारा नगर पताकाओं से सुसज्जित था तथा परेल से अप्पोलो बन्दर तक मार्ग की गलियों और सड़कों पर मनुष्य ही मनुष्य दिखाई देते थे। एक बाजार में तो व्यापारियों ने हीरे-जवाहरातों की मालाएं लटकाई हुई थीं। रिपन की बग्घी भूलेश्वर तथा मुम्बादेवी मन्दिरों के समीप ठहरा दी गई तथा ब्राह्मण पुरोहितों तथा पुजारियों ने उसे आशीर्वाद दिया तथा उसके मस्तक पर कुमकुम तथा चावल लगाये गये। उन्होंने चाँदी के ट्रे भेंट में दिये, जिन पर नारियल रखे हुए थे।

लार्ड डफ़रिन (Lord Dufferin)—वायसराय के रूप में नियुक्ति के समय लार्ड डफ़रिन महान् प्रशासनिक तथा कूटनीतिक अनुभव रखता था। वह तुर्की तथा रूस में ब्रिटिश राजदूत रह चुका था। वह १८७२ से १८७८ तक कैनेडा का गवर्नर-जनरल भी था। वह एक प्रभावशाली वक्ता था तथा उसके महान् व्यक्तित्व में आकर्षण था। वृद्ध होने के कारण उसने कोई नया सुधार नहीं किया, अपितु पुराने सुधारों को ही जारी रखा। लेकी के अनुसार, "वह एक महान् कूटनीतिज्ञ तथा एक महान् राजनीतिज्ञ था। वह ऐसा व्यक्ति था, जो गुणों की दृष्टि में अपने समकालीन व्यक्तियों में सबसे बढ़कर था। वह प्रतिभावान था। उसने विशेष नीतियों को अपनाया। इन सब गुणों के साथ-साथ उसकी न्यायप्रियता तथा उसका संकल्प दृढ़ होता था। उसके महान् व्यक्तित्व की सम्भवत: उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि उसमें कम से कम मतभेद के साथ बड़े-बड़े कार्य पूर्ण करने की अनोखी प्रतिभा थी।

पंजदेह का मामला, १८८४ (Punjdeh Affair)—यहाँ प्रसिद्ध पंजदेह घटना का उल्लेख करना अभीष्ट है, जिसके कारण रूस तथा इंग्लैंड युद्ध के समीप आ पहुँचे। १८८४ में रूसियों ने मेर्व को अपने राज्य में मिला लिया। इससे भारत तथा इंग्लैंड की सरकारों में महान् चिन्ता उत्पन्न हुई। एक आयोग नियुक्त किया गया, जिसका कार्य अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा निश्चित करना था। पंजदेह की स्थिति के सम्बन्ध में एक बाधा प्रस्तुत हुई। पंजदेह अफगान शासन के आधीन था। रूसी सेनापति ने अफगानों को पंजदेह से चले जाने की आज्ञा दे दी तथा जब इस आज्ञा का पालन नहीं किया गया, तब उसने जबरदस्ती अफगानों की फौजों को बाहर धकेल दिया। स्थिति को गम्भीर देखते हुए भारतीय फौजें कोयटा में तथा रूसी फौजें हैरात में इकट्ठी हो गईं। तथापि "कूटनीतिज्ञों के परिश्रम, लार्ड डफ़रिन की निपुणता, तथा सबसे बढ़कर अब्दुर्रहमान के व्यावहारिक ज्ञान से युद्ध का भयानक प्रश्न टल गया।" अफगानिस्तान के अमीर अब्दुर्रहमान ने घोषणा की कि उसे इस बात का पूर्ण निश्चय नहीं है कि पंजदेह उसके अधिकार में है अथवा नहीं तथा वह इस बात के लिए भी बहुत इच्छुक नहीं कि वह उसे अपने अधिकार में रखे। उसने इस सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति की घोषणा की कि वह पंजदेह पर अपना दावा छोड़ देगा यदि उसे किसी अन्य स्थान पर क्षतिपूर्ति कर दी जायेगी। अमीर इस बात के लिए दृढ़प्रतिज्ञ था कि वह इंग्लैंड तथा रूस के मध्य संघर्ष से बचेगा। वह यह बात अच्छी प्रकार से जानता था कि यदि दोनों देशों में युद्ध हुआ, तब उसके देश को कष्ट भोगना पड़ेगा, क्योंकि उसे युद्ध की भूमि बनना पड़ेगा। अब्दुर्रहमान ने ठीक ही कहा था कि,

"अफगानिस्तान चक्की के दो पाटों के बीच में है तथा वह पहले ही आटे की भाँति पिस चुका है।" अब्दुर्रहमान के ही शब्दों में, "मेरा देश एक उस बेचारी बकरी के समान है, जिस पर सिंह तथा रीछ दोनों ने अपनी दृष्टि टिका रखी है। उस सर्वशक्तिमान् मुक्तिदाता की सहायता तथा रक्षा के बिना यह शिकार बहुत देर तक नहीं बच सकता।"

अमीर के इस दृष्टिकोण के होते हुए ब्रिटिश फौजों के पास कोई ऐसा उचित कारण नहीं था कि वे रूसी फौजों के साथ झगड़ें। रूस, इंग्लैंड, भारत तथा अफगानिस्तान के मध्य लम्बी बातचीत हुई तथा अन्त में जुलाई १८८७ में सीमान्त रेखा के सम्बन्ध में समझौता हो गया। अब्दुर्रहमान को किसी प्रकार से कोई हानि नहीं हुई। उसे न तो रुपये की हानि हुई और न किसी इलाके की हानि हुई।

लार्ड डफ़रिन ने अब्दुर्रहमान को रावलपिण्डी में एक दरबार में एक भोज दिया तथा उसे आश्वासन दिया कि ब्रिटिश आक्रमण के समय अँग्रेज उसकी सहायता करेंगे।

तृतीय बर्मा-युद्ध (Third Burmese War)--बर्मा के तृतीय युद्ध का वास्तविक कारण यह था कि बर्मा के नरेश थीबा ने अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रांसीसियों को कुछ विशेष सुविधायें तथा रियायतें देकर उनसे सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। बर्मा के प्रतिनिधि मण्डल ने १८८३ में पैरिस की यात्रा की तथा १८८५ में एक फ्रांसीसी राजदूत को मांडले भेजा गया। नरेश थीबा एक बर्बर तथा अत्याचारी राजा था तथा उसने बम्बई तथा बर्मा व्यापार कम्पनी पर भारी जुर्माना कर दिया तथा उसके अधिकारियों को बन्दी किये जाने की आज्ञा दे दी। लार्ड डफ़रिन ने इस सम्बन्ध में एक जाँच के लिए अनुरोध किया। नरेश थीबा ने इस प्रश्न को पुनः आरम्भ से इनकार कर दिया। लार्ड डफ़रिन ने चुनौती दी, जिसमें इस बात की माँग की कि नरेश थीबा एक ब्रिटिश राजदूत को माण्डले में रहने की अनुमति दे, कम्पनी के विरुद्ध कार्रवाई को तब तक स्थगित कर दे जब तक कि राजदूत वहाँ नहीं पहुँचता, विदेशों के साथ भारत सरकार की अनुमति के बिना किसी प्रकार के बाह्य सम्बन्ध न रखे तथा अंग्रेजों को इस बात का अधिकार दे कि वे इसके उपनिवेशों के द्वारा चीनियों के साथ व्यापार कर सकें। नरेश थीबा ने चुनौती की शर्तों को मानने से इनकार कर दिया, परिणामस्वरूप युद्ध की घोषणा कर दी गई। बर्मा के लोग अंग्रेजों के सम्मुख न ठहर सके तथा उन्होंने घुटने टेक दिये। नरेश थीबा को भारत भेज दिया गया तथा १८८६ में बर्मा के उत्तरी भाग को भारत में मिला लिया गया।

ऊपरी बर्मा के सम्बन्ध में ब्रिटिश हस्तक्षेप अनेक ओर से आलोचना का विषय रहा है। यह कहा जाता है कि यह ब्रिटिश सरकार का कार्य नहीं था कि वह ऊपरी बर्मा के कार्यों में हस्तक्षेप करे, चाहे उसका शासक अत्याचारी तथा बर्बर व्यक्ति था। ब्रिटिश सरकार को ऐसे पड़ौसी राज्य के कार्यों में हस्तक्षेप करने को समुचित नहीं कहा जा सकता, जिसका शासक अपनी इच्छानुसार नीति-निर्धारण में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र था। यदि नरेश थीबा फ्रांस के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखना चाहता था, तो अंग्रेज उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रिटिश सरकार इस बात के लिए कृतसङ्कल्प थी कि वह ऊपरी बर्मा में फ्रांस को बढ़ने से रोके। लार्ड डफ़रिन के शब्दों में, "यदि फ्रांसीसी कार्रवाई के कारण ऊपरी बर्मा में हमें किसी प्रकार से प्रविष्ट होने का अवसर मिलता है, तब मुझे बर्मा को अंग्रेजी राज्य में मिलाने में कुछ भी संकोच नहीं करना चाहिए।"

राबर्ट्स के अनुसार, "शक्तिशाली पश्चिमी साम्राज्यों तथा कमज़ोर पूर्वी जातियों में सम्बन्धों का नीति शास्त्र ऐसा विषय है, जिस सम्बन्ध में फैसला सचमुच कठिन है किन्तु इस बात का खतरा अवश्य है कि अर्ध-सभ्य देशों के संक्षिप्त अधिकारों को सीमित स्वीकृति मिलती है जबकि बड़ी उपनिवेशवादी शक्तियाँ उन पर छा जाती हैं।"

लार्ड डफ़रिन के समय की कुछ अन्य घटनाओं के सम्बन्ध में उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है। १८८५ में राष्ट्रीय महासभा का प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ। १६ फरवरी, १८८७ को महारानी विक्टोरिया की रजत जयन्ती मनाई गई। जून, १८८७ में बहुत से भारतीय नरेश इस उत्सव को देखने के लिये लन्दन गये।

लार्ड डफ़रिन के समय में किराये सम्बन्धी तीन अधिनियम स्वीकृत हुए। १८८५ के बंगाल किराया अधिनियम ने किरायेदारों को अवधि के सम्बन्ध में कुछ अधिक सुरक्षा प्रदान की। उनके किरायों में पक्षपातपूर्ण वृद्धि नहीं की जा सकती थी। १८८६ के अवधि किराया अधिनियम ने किरायेदारों की स्थिति को सशक्त करने के उद्देश्य से ७ वर्षों के लिये पूर्ण अधिकार प्रदान किया। साथ ही उन्हें इस बात का भी अधिकार दिया कि वे सुधारों के लिये क्षतिपूर्ति की माँग कर सकते हैं। १८८७ के पंजाब किराया अधिनियम के द्वारा किरायेदारों को हटाये जाने तथा किराये की वृद्धि के सम्बन्ध में सीमित आश्वासन प्राप्त हो गया।

लार्ड डफ़रिन के समय में स्वीकृति की आयु वाला अधिनियम भी स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम के द्वारा नवयुवती लड़कियों की आयु की सीमा जिसमें उन्हें सुरक्षा दी जा सकती थी, १० वर्ष से १२ वर्ष बढ़ा दी गई। इसका उद्देश्य देश की महिलाओं की दशा में सुधार करना था। १८८६ में लार्ड डफ़रिन ने महाराजा सिंधिया को ग्वालियर का दुर्ग दे दिया। झाँसी नगर के बदले में मुरार छोड़ दिया गया।

लार्ड कर्ज़न के कथनानुसार, "अपने कार्यों के करने में वायसराय ने एक अनोखी उदासीनता तथा कार्यशीलता के मिश्रण का परिचय दिया। उसने प्रशासन सम्बन्धी सभी आवश्यक गुणों को प्राप्त करने के लिये कड़ा परिश्रम किया तथा उसने लम्बे-लम्बे तथा प्रभावपूर्ण विवरण लिखे। उसने सार्वजनिक भाषणों के सम्बन्ध में काफी परिश्रम किया। वे भाषण उसके अन्य भाषणों तथा व्याख्यानों के समान ध्यानपूर्वक तैयार किये गये होते थे। उसने फ़ारसी का अध्ययन करने के लिये काफ़ी समय लगाया तथा परिश्रम किया। उसके मन में यह मिथ्या भावना अंकित थी कि फ़ारसी शिक्षित लोगों तथा भारतीय नरेशों की भाषा है, जिनके साथ वह उनकी ही भाषा में बातचीत करने की आशा रखता था। किन्तु वह विस्तार के सम्बन्ध में लापरवाह था, विभागीय कार्यों में बहुत कम हस्तक्षेप करता था तथा सभी छोटे मामलों के निबटाने का कार्य वह अपने निजी सचिव तथा अफसरों पर छोड़ देता था।

लार्ड लैन्सडौन, १८८८-९३ (Lord Lansdowne)—लार्ड लैन्सडौन प्रगतिशील विचारों का व्यक्ति था। उसने सीमान्त सुरक्षा के प्रश्न की ओर विशेष ध्यान दिया। अफ़ग़ानिस्तान तथा ब्रिटिश भारत के इलाकों में एक ऐसा क्षेत्र है जिसे कबायली क्षेत्र कहा जाता है। अंग्रेज इसे जीतना चाहते थे, यद्यपि यह कार्य कठिन था। इसे अफ़ग़ानों ने पसंद नहीं किया। कुछ घटनाओं के कारण अफ़गानिस्तान तथा भारत सरकार युद्ध के समीप

पहुँच गई। अफ़ग़ानों ने ब्रिटिश रेल के दर्रा बोलान तक बढ़ाये जाने के कार्य की पूर्णता को सन्देह की दृष्टि से देखा। भारत के मुख्य सेनापति लार्ड राबर्ट्स ने कबायली लोगों के प्रति आक्रमणकारी रीति से व्यवहार किया। १८९० में एक राजदूत चितराल गया। प्रसन्नतापूर्वक दोनों देशों का झगड़ा शान्त हो गया तथा एक सन्तोषजनक समझौता हो गया। सर मोर्टीमर ड्यूरैंड को काबुल भेजा गया। ड्यूरैंड ने स्वयं बिना किसी सुरक्षा के काबुल की यात्रा की तथा प्रकट किया कि उसे अफ़ग़ानों में पूर्ण विश्वास है। भारत तथा अफ़ग़ानिस्तान की सीमान्त रेखाओं को अलग-अलग करने के लिये प्रबन्ध किये गये। यह रेखा ड्यूरैंड रेखा कहलाती है।

काबुल के अमीर ने कबायली क्षेत्र में हस्तक्षेप न करना स्वीकार कर लिया। सीमान्त रेखा के अलग कर लेने से अमीर को कुछ जिले प्राप्त हो गये तथा उसने वचन दे दिया कि वह स्वात, दीर, चितराल तथा बाजौर के सम्बन्ध में हस्तक्षेप नहीं करेगा। अमीर ने चमन के सम्बन्ध में अपना दावा छोड़ दिया। उसे प्राप्त होने वाली रक़म १२ लाख से १८ लाख वार्षिक कर दी गई। उसे इस बात की अनुमति प्राप्त हो गई कि वह युद्ध के हथियार आदि खरीद सकता है तथा उनका आयात कर सकता है। इस सम्बन्ध में भारत सरकार किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेगी।

मणिपुर के सम्बन्ध में उत्तराधिकार का प्रश्न विवादास्पद था। आसाम के कमिश्नर से कहा गया कि वह इस विषय का निबटारा कर दे, किन्तु मणिपुर के मुख्य सेनापति की धोखे से हत्या कर दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार ने मणिपुर को अपनी फौजें भेज दीं। मुख्य सेनापति तथा उसके साथी बन्दी बना लिये गये तथा उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया। राजगद्दी पर एक बालक नरेश को बिठा दिया गया तथा उसकी अल्पवयस्कता की अवस्था में उसे राजनैतिक रैजीडेंट के संरक्षण में कर दिया गया।

राबर्ट सण्डेमन की मृत्यु के पश्चात् क़लात का खान बहुत से हिंसापूर्ण कार्यों के सम्बन्ध में अपराधी पाया गया। इन कार्यों में अपने वजीर, पिता तथा पुत्र की हत्याओं के अपराध भी सम्मिलित थे। उसे कोयटा बुलवाया गया तथा उसे राजगद्दी छोड़ने को कहा गया। उसका पुत्र राजगद्दी पर बिठाया गया तथा उसे शासक के रूप में स्वीकार किया गया। कश्मीर के सम्बन्ध में महाराज पर बहुत से दोष लगाए गये। वे अभियोग अस्पष्ट तथा काल्पनिक थे। इतना होने पर भी महाराज को गद्दी छोड़ने को कहा गया। प्रशासन-व्यवस्था का कार्य एक रीजैंसी कौंसिल के सिपुर्द किया गया। कश्मीर को उसके शासक को १६ वर्षों के पश्चात् पुनः दे दिया गया। १८९२ में प्रसिद्ध कौंसिलों का अधिनियम स्वीकार हुआ, जो १८६२ के अधिनियम का संशोधित रूप था।

कारखानों का नया कानून स्वीकृत हुआ। यह १८८१ के कारखाना अधिनियम में किए गये बहुत से संशोधनों पर आधारित था। इस नये अधिनियम के अनुसार स्त्रियों के लिए नौकरी के घण्टे दिन में ११ सीमित कर दिए गये। बच्चों की कम-से-कम आयु ७ वर्ष से ९ वर्ष कर दी गई तथा उनके कार्य के घण्टे भी ७ निश्चित कर दिये गये। बच्चों के लिये रात्रि में कार्य करना पूर्ण रूप से बन्द कर दिया गया, कारखानों में काम करने वालों के लिये एक साप्ताहिक अवकाश की व्यवस्था कर दी गई।

चाँदी के मूल्य घट जाने के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में कुछ अस्त-व्यस्तता सी हो गई। भारत सरकार ने चाँदी की निर्बाध सिक्केबन्दी के विरुद्ध टकसालों को बन्द कर दिया तथा सोने को अधिकृत मान लिया। विनिमय का भाव गिनती के लिये १५ रुपये निश्चित किया गया।

भारतीय रियासतों की सेनाओं को संगठित किया गया तथा उन्हें "साम्राज्य सेवा सेना" का नाम दिया गया।

लार्ड एलगिन द्वितीय, १८६४-६६ (Lord Elgin II)—लार्ड एलगिन द्वितीय एक गम्भीर तथा सावधान शासक था, किन्तु उसके कार्य-काल में अकाल, प्लेग तथा सीमान्त युद्धों के कारण बहुत से कष्टों का सामना करना पड़ा।

सब से पूर्व चितराल के मामलों का उल्लेख करना अभीष्ट है। यह कश्मीर के उत्तर-पूर्व में स्थित है। १८६५ में चितराल के शासक, जिसे मेहतर भी कहा जाता है, की हत्या कर दी गई। उसके उत्तराधिकार का प्रश्न विवादास्पद था। ब्रिटिश राजनैतिक एजेन्ट को घेर लिया गया। भारत सरकार ने १५०० सैनिक भेजे। इस बीच में इंग्लैण्ड में नया मंत्रिमण्डल बना, जिसने इस प्रदेश को खाली कर देने का आदेश दिया, किन्तु इससे पूर्व कि उस आदेश को कार्यान्वित किया जाय, एक नये मंत्रिमण्डल ने पद ग्रहण किया तथा उसने प्रदेश खाली कर देने वाली आज्ञा के विरुद्ध आज्ञा दे दी।

१८६७ में अफ़रीदियों ने दर्रा खैबर को बन्द कर दिया। उस क्षेत्र में अंग्रेजों की गतिविधियों के कारण अफ़रीदियों के मन में प्रबल सन्देह उत्पन्न हो गया था। अंग्रेजों के विरुद्ध एक प्रकार का आन्दोलन आरम्भ कर दिया गया। देश के उस सम्पूर्ण भाग में एक सामान्य क्रान्ति हो गई। दो बार बहुसंख्यक सेना क्रान्ति का मुकाबला करने के लिये भेजी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्रोहियों ने हथियार डाल दिये तथा उन पर लगाये गये जुर्माने को दे दिया।

१८६६ में बम्बई में गिलटी वाली भयंकर प्लेग फूटी। धीरे-धीरे वह देश के विभिन्न भागों में फैल गई तथा इसका परिणाम यह हुआ कि अत्यधिक जन-हानि हुई। सरकार ने उसको नियंत्रित करने के लिये जो कार्रवाई की उससे जनता में बहुत-सी ग़लतफ़हमी तथा कटुता फैली। पूना में दो अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी गई।

१८६६ तथा १८६८ के मध्य उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार तथा पंजाब के हिसार ज़िले में भयङ्कर अकाल पड़ा। १८६८ में अकालों के सम्बन्ध में जाँच करने के लिये पुनः एक आयोग नियुक्त किया गया।

इस समय भारत सरकार को अफ़ीम की उत्पत्ति की समस्या के सम्बन्ध में भी कार्रवाई करनी पड़ी। १८६३ में एक अफ़ीम आयोग नियुक्त किया गया था, जिसका काम अफ़ीम के प्रयोग के जनता के स्वास्थ्य पर प्रभाव के सम्बन्ध में जाँच करना तथा रिपोर्ट करना था। अफ़ीम की उपज के सरकार के एक-मात्र अधिकार होने के कारण सरकार उसे चीन को निर्यात करने के द्वारा बहुत-सा लाभ उठा रही थी। इस प्रथा के विरुद्ध विरोध किये गये। आयोग की रिपोर्ट यह थी कि अफ़ीम के बुरे प्रभावों को बढ़ा-चढ़ा कर वर्णित किया गया है। सरकार अफ़ीम की उपज से प्राप्त होने वाली आय को छोड़ने में असमर्थ थी। यह भी कहा गया कि यदि अफ़ीम का भारत से चीन में निर्यात न किया

गया, तो चीन के लोग घटिया ढंग की किसी अन्य ऐसी वस्तु का प्रयोग करेंगे तथा उसका और भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। अन्त में यह निश्चय किया गया कि चीन को भेजी जाने वाली अफ़ीम की मात्रा में कमी की जाए।

सेना में भी एक सुधार किया गया। पहले तीन प्रैज़िडैन्सियों के पृथक् मुख्य सेनापति होते थे। नये प्रबन्ध के अनुसार भारत का एक मुख्य सेनापति रखने का निश्चय हुआ तथा उसके अधीन विभिन्न प्रान्तों में सहायक जनरल नियुक्त किये गये।

Questions for Revision

1. Describe and explain the importance of the measures of reform introduced by Lord Ripon.
2. Give a critical review of the Viceroyalty of Lord Ripon.
3. "The Ilbert Bill was far less a part of Ripon's reforming policy than a normal outcome of certain necessities of the administration." Discuss.
4. Review the administration of India during the period from 1876 to 1884 and examine its effect upon the political awakening of India.

अध्याय १७

लार्ड कर्ज़न (१८९९-१९०५)

(Lord Curzon)

लार्ड कर्ज़न भारत के सबसे महान् तथा अत्यन्त प्रभावशाली गवर्नर-जनरलों में से था। उसका जन्म १८५९ में हुआ तथा वह १८८६ में पार्लियामेंट में प्रविष्ट हुआ। भारत का गवर्नर-जनरल बनने से पहले उसने भारत उप-मन्त्री के रूप में कार्य किया। उसने ३ जनवरी, १८९९ के दिन कलकत्ता में अधिकृत रूप से प्रवेश किया। उसकी आयु ४० वर्ष की थी तथा वह उत्साही तथा प्रतिभाशाली था। इससे पूर्व वह चार बार भारत की यात्रा कर चुका था। उसे पूर्व की पर्याप्त जानकारी थी। वह एशिया की समस्याओं के सम्बन्ध में तीन आवश्यक पुस्तकें लिख चुका था। उसने छः महत्त्वपूर्ण वर्ष भारत में व्यतीत किए तथा उसकी तुलना केवल लार्ड डलहौज़ी के साथ की जा सकती है। वह न केवल स्वयं कड़ा परिश्रम करता था, अपितु वास्तव में अपने अधीनस्थ लोगों को भी परिश्रम करने के लिये विवश करता था।

कर्ज़न की विदेश नीति (Curzon's Foreign Policy)—(१) **उसकी कबायली क्षेत्र की नीति** (His Tribal Area Policy)—जिस समय लार्ड कर्ज़न ने पद ग्रहण किया, तब भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त ने उसके तुरन्त ध्यान की मांग की। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि एलगिन द्वितीय के समय में चितराल में संकट उठ खड़ा हुआ तथा वहाँ शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिये ब्रिटिश सेना भेजी गई। इन सेनाओं को वापिस नहीं बुलाया गया। अंग्रेज़ों के विरुद्ध वहां जिहाद हुआ तथा अंग्रेजों ने स्थिति का मुकाबला करने के लिये दो बार सैनिक कार्रवाई की। १८९९ में लगभग १०,००० सैनिक अभी चितराल, टोची वादी, लंडीकोतल तथा दर्रा खैबर में थे। लार्ड कर्ज़न स्वयं "Forward School" का समर्थक था। तथा ऐसी सम्भावना की जाती थी कि वह कबायली क्षेत्र के सम्बन्ध में और अधिक आगे बढ़ने वाली नीति का अनुसरण करेगा। तथापि लार्ड कर्ज़न ने न तो "Forward Policy" को अपनाया तथा न ही "सिन्ध की ओर लौटो" वाली नीति का ही अनुसरण किया। उसने मध्यम मार्गवाली नीति का अनुसरण किया। वह चितराल, कोयटा तथा अंग्रेजों द्वारा अधिकृत अन्य सीमान्त स्थान को छोड़ने के लिये तैयार न था, साथ ही वह इस नीति को तर्कपूर्ण समाप्ति तक भी पहुँचाने के लिये उद्यत न था।

लार्ड कर्ज़न ने वस्तुतः यही कार्य किया कि उसने कबायली क्षेत्र से ब्रिटिश सेनाओं के क्रमशः वापिस हटाये जाने की आज्ञा दी। इन अंग्रेजी सेनाओं का स्थान युद्ध के लिये भरती किये गये कबायली लोगों ने ले लिया। उन्हें अंग्रेज अफ़सरों ने शिक्षा दी थी तथा उन्होंने ही उनका निर्देश किया था। इस सम्बन्ध में एक ही दृष्टान्त देना पर्याप्त होगा। खैबर राइफल के अफ़रीदियों को खैबर दर्रे का स्वामित्व सौंपा गया। दरगाई, जमरूद तथा थल तक सीधी रेलों का निर्माण किया गया। जमरूद खैबर दर्रे के प्रवेश

स्थान पर था तथा वह कुर्रम तलहटी के द्वार पर था। भारत सरकार ने कबायली क्षेत्र में शस्त्र तथा बारूद आदि के आयात पर एक सीमा निर्धारित कर दी। कबायली क्षेत्रों के लोगों को चेतावनी दे दी गई कि भारत सरकार उनकी स्वतन्त्रता का आदर करेगी, किन्तु भारत भूमि पर उनके आक्रमणों को सहन नहीं किया जाएगा। भारत सरकार ने भारतीयों को कबायली आक्रमणों से बचाने के लिये एक विशेष पुलिस शक्ति को भरती किया। इस पुलिस के सदस्यों को सदैव आक्रमण का सामना करने तथा उनका पीछा करने के लिये सावधान रहना पड़ता था। कबायली क्षेत्रों में सड़कें बनाई गईं, जिससे आक्रमणकारियों का पीछा करने में किसी प्रकार की कोई कठिनाई न पड़े। कबायली लोगों से इन सड़कों के निर्माण के समय तथा उनकी रक्षा के सम्बन्ध में भी पर्याप्त कार्य लिया जाता था जिससे वे कुछ धन कमा सकें। भारतीय सेनाओं को, जो कबायली क्षेत्र से हटा ली गई थीं, उन छावनियों में रख दिया गया जो कबायली क्षेत्र की सीमाओं पर स्थापित की गईं। इन छावनियों का परस्पर सड़कों के द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया गया। इन सब कार्रवाइयों का उद्देश्य यह था कि भारत सरकार आवश्यकता के समय कबायली क्षेत्र में अपनी सेनाएँ आदि शीघ्र ही भेज सके।

लार्ड कर्ज़न के समय उत्तर-पश्चिमी सीमान्त ज़िले पंजाब के उप-राज्यपाल के नियंत्रण में थे तथा भारत सरकार का उन पर सीधा नियंत्रण नहीं था। इसका परिणाम यह था कि प्रत्येक कार्रवाई पंजाब सरकार के द्वारा करनी पड़ती थी। इससे काफी देर लग जाती थी। साथ ही पंजाब के उप-राज्यपाल के पंजाब के कार्यों में फँसे रहने के कारण उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त की समस्याओं की ओर अपेक्षित ध्यान न दिया जाता था। इसका परिणाम अयोग्यता के रूप में हुआ। लार्ड लिटन ने भारत सरकार के सीधे नियंत्रण में एक अलग प्रान्त बनाने के सम्बन्ध में सुझाव दिया था किन्तु उसका सुझाव स्वीकार नहीं किया गया था। १९०१ में लार्ड कर्ज़न मुख्य आयुक्त के नियंत्रण में एक अलग उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त बनाने में समर्थ हुआ। मुख्य आयुक्त सीधे भारत सरकार के प्रति उत्तरदायी होता था। इस नये प्रान्त का क्षेत्रफल ४०,००० वर्गमील था। इस सुझाव का पंजाब के कुछ अधिकारियों ने विरोध किया, किन्तु उसका कुछ भी प्रभाव न हुआ।

कबायली क्षेत्र के प्रति लार्ड कर्ज़न की नीति का उसके उत्तराधिकारियों ने भी अनुकरण किया। लार्ड कर्ज़न ने स्वयं १९०८ में अपनी नीति का इन शब्दों में समर्थन किया, "यदि किसी को इस सीमान्त नीति की योजना की सफलता के सम्बन्ध में कभी सन्देह रहा हो, जो दस वर्षों से अस्तित्व में रही है, तो उसके सन्देह अवश्य दूर हो गये होंगे तथा मैं आशा करता हूँ कि हम अब और कबायली क्षेत्रों में बढ़ने की ऐसी भयंकर योजनाओं के सम्बन्ध में चर्चा नहीं सुनेंगे, जिनके द्वारा सीमान्त रेखा तक को अंग्रेजी राज्य में मिलाए जाने तथा कबायली प्रदेश में से मार्ग निकालने का सम्बन्ध हो।"

(२) **अफ़ग़ानिस्तान** (Afghanistan)––लार्ड एलगिन द्वितीय के समय से भारत सरकार के अफ़ग़ानिस्तान के साथ सम्बन्ध बहुत अच्छे न थे। काबुल का अमीर अब्दुर्रहमान बहुत विषम स्थिति में था। ब्रिटिश सरकार के द्वारा उस पर अभियोग लगाया गया था कि उसने अंग्रेजों के विरुद्ध सीमान्त रेखा के दूसरी ओर कुछ गड़बड़ पैदा की थी। अफ़ग़ानों ने भारत सरकार के प्रति उस पर कमज़ोर नीति के लिये दोष लगाया

था। कुल मिलाकर उसने सावधान रहने की नीति का अनुसरण किया। उसने अपने देशवासियों से शान्ति रखने तथा युद्ध के ढंग से चर्चा न करने को कहा। उसने घोषणा की कि जब युद्ध का समय आएगा, वह स्वयं अंग्रेजों के विरुद्ध उनका नेतृत्व करेगा। दुर्भाग्य से १९०१ में अब्दुर्रहमान की मृत्यु हो गई। उसका पुत्र उत्तराधिकारियों के पारस्परिक युद्ध के बिना ही राजगद्दी पर आसीन हुआ, किन्तु उसके साथ भारत सरकार के सम्बन्ध अच्छे न थे। इसका कारण यह था कि अब्दुर्रहमान तथा भारत सरकार के मध्य हुई सन्धि की व्याख्या के सम्बन्ध में मतभेद था। भारत सरकार का दृष्टिकोण यह था कि उक्त सन्धि व्यक्तिगत है तथा परिणामस्वरूप हबीबुल्ला के साथ नई सन्धि की जानी चाहिए। हबीबुल्ला का विचार यह था कि सन्धि दो देशों के मध्य में है, इसलिए नये शासक के राजगद्दी पर बैठने के कारण उसके दोहराने अथवा पृष्ठांकित करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसका परिणाम संकट में हुआ। नये अमीर को वह धनराशि प्राप्त नहीं हुई, जो उसका पिता भारत सरकार से प्राप्त कर रहा था। इस प्रकार व्यावहारिक रूप से अफ़ग़ानिस्तान तथा भारत सरकार में तीन वर्षों तक कोई सम्बन्ध न रहा।

१९०४ में लार्ड कर्ज़न इंग्लैंड गये हुए थे तथा उनकी अनुपस्थिति में लार्ड ऐम्प्टहिल ने वायसराय के रूप में कार्य किया। उसने सर लुइसडेन को एक मिशन पर काबुल भेजा। वह मिशन काबुल में साढ़े तीन मास रहा। यह सत्य है कि कुछ रियायतें काबुल के अमीर को दी गई तथा सन्धि के सम्बन्ध में उसकी व्याख्या को स्वीकार किया गया। उसकी "महामहिम" उपाधि को भी स्वीकार कर लिया गया, दोनों देशों के मध्य मित्रतापूर्ण सम्बन्ध भी स्थापित किये गए। अमीर ने आर्थिक सहायता वाली धनराशि के शेष भाग को भी लेना स्वीकार कर लिया।

(३) **फ़ारस की खाड़ी** (Persian Gulf)——लार्ड कर्ज़न के समय में कुछ शक्तियों ने प्रयत्न किए कि वे फ़ारस के एक अथवा दूसरे भाग में अपना प्रभुत्व स्थापित करें, किन्तु सावधान वायसराय ने उन सब प्रयत्नों को व्यर्थ कर दिया। १८९८ में ओमान के सुलतान ने फ्रांसीसी सरकार को कोयले का स्टेशन इस शर्त पर दिया कि उसे उस पर दुर्ग बनाने का अधिकार होगा। यह स्थान मुस्कत के समीप था। जब लार्ड कर्ज़न को १८९९ में इसका पता चला, तब उसने अपना एक जहाजी बेड़ा भेजा। सुलतान को धमकी दी गई कि यदि वह उक्त रियायत को वापिस न लेगा, तो उसके विरुद्ध कठोर कार्रवाई की जाएगी। सुलतान ने घुटने टेक दिये तथा रियायत को रद्द कर दिया।

१९०० में रूसियों ने फ़ारस की खाड़ी के प्रवेश के उत्तरी तट पर एक कोयले का स्टेशन बनाने का प्रयत्न किया। वह प्रयत्न भी व्यर्थ कर दिया गया। १८९९ में सरकार ने एक समझौता किया कि कोयटे का शासक किसी विदेशी शक्ति को किसी प्रकार की रियायत प्रदान न करेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि जब जर्मनी ने उससे यह प्रार्थना की कि वह बर्लिन बग़दाद रेलवे के अन्तिम स्टेशन बनाने के लिये भूमि प्रदान करे, तो उसने इन्कार कर दिया।

१९०३ में इंग्लैण्ड के विदेश मंत्री लार्ड लैन्सडाउन ने घोषणा की कि इंग्लैण्ड फ़ारस की खाड़ी में किसी भी शक्ति के द्वारा समुद्री बेड़े अथवा किलेबन्दी के कार्य को

"ब्रिटिश हितों के लिये एक भारी खतरा समझेगा तथा हम उसका अपनी पूरी शक्ति साथ सामना करेंगे।"

यह सच है कि कुछ मामलों में फ़ारस की खाड़ी के सम्बन्ध में लार्ड कर्ज़न की नीति अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण थी किन्तु उसके कारण ब्रिटिश सरकार के लिये फ़ारस की खाड़ी को सुरक्षित करने के लिये सहायता प्राप्त हुई। किसी विदेशी शक्ति को वहाँ अपना पाँव जमाने की अनुमति न दी गई, जिससे वह ब्रिटिश प्रभुत्व को चुनौती दे सके।

(४) तिब्बत (Tibet)—जहाँ तक भारत सरकार के तिब्बत के साथ सम्बन्धों का विषय है, वारेन हेस्टिंग्ज़ ने १७७४-७५ में मि० जार्ज बोलगले को ल्हासा भेजा। १७८३ में सेम्युअल टर्नर भेजा गया। १८११-१२ में मैन्निग ल्हासा गया तथा दलाई लामा से मिला। १८८५-८६ में चीन सरकार ने एक ब्रिटिश व्यापार-मण्डल को तिब्बत आने की आज्ञा दी। १८८६ में तिब्ब्रतवासियों ने सिक्किम पर आक्रमण किया, किन्तु उन्हें खदेड़ दिया गया। १८९० में एक सम्मेलन ने सिक्किम तथा तिब्बत की सीमा के सम्बन्ध में निर्णय कर दिया। १८९३ में यातुंग में एक व्यापार मंडी को स्थापित किया गया। इस सबके होते हुए भी तिब्ब्रतवासी भारत के साथ स्वतन्त्र सम्बन्ध के लिये प्रस्तुत न थे "सिवाए किसी वस्तु के भय के, जिसे वे बड़ी विपत्ति समझते हों।"

जब लार्ड कर्ज़न गवर्नर-जनरल बने, कुछ नई बातें प्रकट हुईं। तिब्बत के लोगों ने चीन से स्वतन्त्र होने की दृढ़ इच्छा प्रकट करनी आरम्भ की। नये दलाई लामा ने अपने आपको शक्तिशाली शासक के रूप में प्रमाणित किया। उस पर मि० डोरजीफ़ का, जो जन्म से रूसी प्रजाजन था, प्रभाव था। मि० डोरजीफ़ रूस में ज़ार के प्रदेश में बौद्धों से धन इकट्ठा करने गया था। १९००-०१ में डोरजीफ़ ने ज़ार से भेंट की। रूसी समाचार-पत्रों ने डोरजीफ़ की रूसी यात्राओं को बहुत महत्त्व प्रदान किया। भारत सरकार में यह एक संकट का प्रश्न बना हुआ था। लार्ड कर्ज़न तिब्बत की राजधानी में बढ़ते हुए रूसी प्रभाव को सहन करने के लिये तैयार न था। यह सत्य है कि रूसी विदेश मंत्री ने दृढ़तापूर्वक बतलाया कि डोरजीफ़ की यात्राओं का कोई राजनैतिक महत्त्व नहीं है। किन्तु उससे भारत सरकार के सन्देह नहीं हटे। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि नया दलाई लामा स्वयं अपने देश में रूसी प्रभाव को बढ़ाना चाहता था जिससे चीनी प्रभाव को दूर किया जा सके।

लार्ड कर्ज़न तिब्ब्रत में एक मिशन भेजने के पक्ष में था। ऐसा समझा गया कि तिब्बत सरकार के अलगाव की तुलना बड़ी सुसभ्य शक्ति के प्रदेशों से नहीं की जा सकती, जिसके हाथों तिब्बत सरकार पारस्परिक सम्बन्ध तथा व्यापारादि के सम्बन्ध में पूर्ण अवसरों को प्राप्त करती है अथवा उन सन्धियों के लिये उचित आदर की भावना, जिसमें चीनी सरकार अपनी ओर से सम्मिलित हुई थी।" ब्रिटिश सरकार तिब्बत में अपना मिशन भेजने के पक्ष में नहीं थी। वह रूस के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने में अधिक तत्पर दिखाई देती थी। वह नहीं चाहती थी कि तिब्बत में अपना मिशन भेजकर रूस के साथ सम्बन्ध बिगाड़े जाएँ। भारत सरकार ने इंग्लैण्ड सरकार पर बहुत दबाव डाला, किन्तु इंग्लैण्ड की सरकार ने इस विषय को लम्बा करने की नीति से काम लिया। अन्त में ब्रिटिश सरकार यंगहसबैंड के नेतृत्व में मिशन भेजने के लिए प्रस्तुत हो गई।

जब एक बार मिशन चल पड़ा, तब वह निरन्तर आगे ही बढ़ता गया, जब तक कि वह ल्हासा ही नहीं पहुंच गया। तिब्बतवासियों ने उसको रोकने का जो प्रयत्न किया वह व्यर्थ हो गया।

यंगहसबैंड ने दलाई लामा के साथ सन्धि कर ली तथा वह सन्धि ल्हासा की सन्धि (१९०४) कहलाती है। इस सन्धि के अनुसार चुम्बी की तलहटी पर ब्रिटिश सैनिकों का तब तक के लिये अधिकार हो गया, जब तक कि युद्ध का मुचलका दे न दिया जाए। मुचलके की राशि ७५ लाख निश्चित की गई तथा इसे ७५ बराबर किश्तों में चुकाने का निश्चय किया गया। यातुंग, ग्यान्त्से तथा गुरतोक में व्यापार केन्द्र खोले जाने का निश्चय हुआ। एक ब्रिटिश व्यापारी प्रतिनिधि को ग्यान्त्से रखने का निश्चय हुआ किन्तु उसे इस बात का अधिकार दिया गया कि वह परिस्थितियों के कारण ल्हासा जा सकता है। इंग्लैण्ड को तिब्बत की विदेश नीति पर पूर्ण नियन्त्रण दिया गया। किसी विदेशी शक्ति के किसी भी प्रतिनिधि को तिब्बत में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं थी। तिब्बत का कोई भी भाग किसी अन्य देश को नहीं दिया जा सकता था। किसी विदेशी शक्ति को रेलों, सड़कों तथा तार आदि के रूप में किसी प्रकार की रियायतें नहीं दी जा सकती थीं। यदि ऐसी कोई सुविधाएँ किसी भी शक्ति को दी गईं तब वैसी ही सुविधाएँ ब्रिटिश सरकार को भी देने का निश्चय हुआ।

यंगहसबैण्ड दिए गये अधिकारों का उल्लंघन कर चुका था, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने ल्हासा की सन्धि को मानने से इनकार कर दिया। रूस की सरकार ने इसका विरोध किया। अन्त में लार्ड कर्ज़न के विरोध होने पर भी, ल्हासा की सन्धि में संशोधन किया गया। युद्ध के मुचलके की राशि ७५ लाख से कम करके २५ लाख कर दी गई। ऐसा निश्चय किया गया कि तीन किश्तों के चुकाए जाने के पश्चात् ब्रिटिश सेनाओं को चुम्बी की तलहटी से हटा लिया जाएगा। ग्यान्त्से स्थित ब्रिटिश प्रतिनिधि को ल्हासा जाने की अनुमति न दिए जाने का भी निश्चय हुआ।

लार्ड कर्ज़न की तिब्बत सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में बहुत-सा मतभेद रहा है। लार्ड कर्ज़न ने ब्रिटिश सरकार के अनुचित हस्तक्षेप की शिकायत की। ऐसा कहा गया है कि भारत सरकार तथा ब्रिटिश सरकार का इस सम्बन्ध में मतभेद उचित नहीं था। या तो ब्रिटिश सरकार को यंगहसबैण्ड वाले मिशन को स्वीकृति नहीं देनी चाहिए थी अथवा यदि उसने ऐसा किया भी, तो उन्हें ल्हासा की सन्धि में संशोधन नहीं करना चाहिए था। ब्रिटिश सरकार की ओर से यह सफ़ाई दी गई कि ब्रिटिश साम्राज्य के हितों में रूस के साथ मित्रतापूर्वक सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक था। जर्मनी का ख़तरा इतना अधिक था कि शेष सभी विचारों को एक ओर रखा जा सकता था। इन परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार को लार्ड कर्ज़न के कार्य में हस्तक्षेप करना पड़ा। जब सब कुछ कहा जा चुका है, तब इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि ल्हासा की यात्रा सफल रही। निस्सन्देह यह संगठन तथा साहस की विजय थी।

कर्ज़न का आन्तरिक प्रशासन (Internal Administration of Curzon)—लार्ड कर्ज़न ने बहुत से क्षेत्रों में बहुत सुधार किए।

अकाल (Famine)–यह पहले ही कहा जा चुका है कि लार्ड एलगिन द्वितीय के

समय में एक अकाल पड़ा। लार्ड कर्ज़न ने स्वयं संकट-ग्रस्त क्षेत्रों का भ्रमण किया तथा प्रत्येक क्षेत्र से सहायता के लिये कहा। इतना होने पर भी उसकी सरकार की इस बात के लिये आलोचना की गई कि अकाल सहायता के सम्बन्ध में अत्यधिक मितव्ययिता से काम लिया गया तथा करों और भूमि के लगान के सम्बन्ध में वह जनता को रियायतें देने में असफल रही। मैक्डॉनल्ड की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति हुई, जिसका कार्य अकाल सहायता की व्यवस्था को योग्यतापूर्वक चलाने के सम्बन्ध में सिफ़ारिशें करना था। आयोग ने १९०१ में अपनी रिपोर्ट दी। इसमें इस बात पर बल दिया गया कि वास्तविक तैयारी की कमी रही है। आयोग ने अकाल के पुनः न होने देने तथा उनकी बुराइयों को दूर करने के सम्बन्ध में कुछ सुझाव प्रस्तुत किए। उसने अनैतिकता को रोकने की आवश्यकता पर भी बल दिया। सरकार को नैतिक युद्ध-कौशल की नीति का अनुसरण करना था। उसे जनता में चारित्रिक पतन को रोकने के लिये शीघ्र कार्रवाई करने को कहा गया। आयोग ने ग़ैरसरकारी सहायता के लाभों पर भी बल प्रदान किया। उसने रेलों, कृषि बैंकों तथा सिंचाई के कार्यों में नियुक्त कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि की सिफ़ारिश की। आयोग की सिफ़ारिशों के आधार पर अकाल-संहिताओं में संशोधन किए गये।

कृषि (Agriculture)—लार्ड कर्ज़न ने किसानों की दशा को सुधारने के सम्बन्ध में बहुत से कार्य किए। १९०० में पंजाब भूमि हस्तान्तरण अधिनियम स्वीकृत हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकृत ज़मींदारों की भूमि ग़ैर-ज़मींदारों को सरकार की स्वीकृति के बिना प्राप्त न हो सकती थी। कृषि बैंक तथा सहकारी समितियों की स्थापना इसलिए की गई जिससे कृषकों को साहूकारों के अत्याचारों से बचाया जा सके। १९०४ में सहकारी ऋण समिति अधिनियम स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम के द्वारा नागरिक तथा देहाती क्षेत्र में सहकारी समितियों के निर्माण का सुझाव दिया गया। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य देहाती ऋण पद्धति को सहायता देना था। सरकार को सब प्रकार की आवश्यक सहायता प्रदान करनी थी।

लार्ड कर्ज़न ने भारत में कृषि के लिए वैज्ञानिक पद्धतियों को लागू करने का प्रयत्न किया। उसके निजी शब्दों में, "हमारा वास्तविक सुधार पहली बार यह प्रयत्न करना है कि भारतीय कृषि के अध्ययन तथा अभ्यास के लिये विज्ञान को भारी मात्रा में लागू किया जाए।" १९०१ में लार्ड कर्ज़न ने कृषि के इन्सपेक्टर-जनरल की नियुक्ति की। उसने बंगाल में पूसा के स्थान पर कृषि अनुसन्धान संस्था भी स्थापित की, जिससे कृषि की मौलिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता प्रदान की जाए। भारत सरकार ने अनुसन्धान तथा प्रयोग के लिये १,३०,००० पौण्ड का वार्षिक अनुदान दिया।

१९०१ में भारत में सिंचाई की समस्या का अध्ययन करने के लिये एक आयोग की नियुक्ति हुई। सर वालिवन स्टाक मोन्क्रीफ़ को इसके प्रधान के रूप में नियुक्त किया गया। आयोग ने १९०३ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसने २० वर्षों में ४४ करोड़ रुपये के व्यय की सिफ़ारिश की। सिंचाई के क्षेत्र में ६५ लाख एकड़ भूमि की वृद्धि की आशा की गई। लार्ड कर्ज़न ने आयोग की बहुत-सी सिफ़ारिशों को स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि पंजाब की नहरों में सुधार हुआ। ऊपरी चनाब नहर, ऊपरी जेह-

लम नहर तथा लोअर वारी द्वाव नहरों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया।

रेलें (Railways)—लार्ड कर्ज़न से पूर्व रेलवे व्यवस्था की दो पद्धतियाँ थीं। कुछ रेलें कम्पनियों की व्यवस्था में थीं तथा कुछ का प्रबन्ध भारत सरकार सार्वजनिक निर्माण विभाग के द्वारा करती थी। लार्ड कर्ज़न ने भारत में रेलों की पद्धति के सम्बन्ध में रिपोर्ट करने के लिये सर थामस रावर्टसन को नियुक्त किया। उसने १९०३ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसने सम्पूर्ण पद्धति के पूर्ण परिवर्तन की सिफ़ारिश की। उसका विचार था कि रेलों का कार्य पहले के समान न होकर व्यापारिक कार्यों के रूप में होना चाहिए। लार्ड कर्ज़न ने १९०५ में सार्वजनिक निर्माण कार्य की रेलवे शाखा को तोड़ दिया। रेलों के कार्य को तीन सदस्यों वाले रेलवे वोर्ड के सिपुर्द कर दिया। नई रेलवे लाइनें खोली गईं। २८,१५० मील से अधिक रेलवे लाइनें पूर्ण की गईं तथा लगभग ३,१६७ मील रेलवे लाइनों का निर्माण कार्य चल रहा था।

पुलिस के सुधार (Police Reforms)—१८६१ में प्रारम्भ की गई पुलिस पद्धति जनता की आशाओं के अनुरूप नहीं थी, तथा जब लार्ड कर्ज़न ने कार्यभार सँभाला, उस समय जनता में महान् असन्तोष था। १९०२ में कर्ज़न ने फ़्रेज़र आयोग की इसलिए नियुक्ति की कि वह देश की पुलिस व्यवस्था की जाँच कर सके। इस विषय की पूर्ण जाँच करने के अनन्तर आयोग ने अपनी रिपोर्ट दी। उसने पुलिस पद्धति के कार्यों की कड़ी आलोचना की। रिपोर्ट के शब्दों में, "पुलिस शक्ति असन्तोषजनक है। प्रशिक्षण तथा संगठन की दृष्टि से भी यह दोषपूर्ण है, इस पर निरीक्षण भी अपर्याप्त है तथा वह जनता के सहयोग तथा विश्वास को प्राप्त करने में पूर्ण रूप से असफल हुई है।"

फ़्रेज़र आयोग की सिफारिशों के द्वारा देशी स्थानीय संस्थाओं का प्रयोग, सुधरी स्थिति तथा सुधरे भविष्य के साथ अच्छे प्रकार के लोगों को नौकरी पर लगाना, अफ़सरों तथा अन्य प्रकार के व्यक्तियों के प्रशिक्षण का अच्छा प्रबन्ध तथा पुलिस शक्ति में निचली श्रेणी के लोगों का अधिक समीपता से निरीक्षण आदि लक्ष्य निश्चित किये गये थे।

(१) आयोग ने सिफ़ारिश की कि निचली श्रेणी से ऊपर की श्रेणी में पदोन्नति के स्थान पर सीधी नियुक्ति की जाए।

(२) एक सिपाही का कम से कम वेतन इतना होना चाहिए जिससे उसको निर्वाह-योग्य मज़दूरी मिल सके तथा वह ८ रुपये मासिक से किसी प्रकार कम न होना चाहिए।

(३) आयोग ने प्रान्तीय पुलिस शक्ति में वृद्धि तथा पुलिस कार्य के लिये वर्तमान और प्राप्त ग्रामीण सूत्रों को नौकरी पर लगाने की सिफ़ारिश की। देहातों के गश्त की पद्धति उड़ा दी गई। पुलिस के सिपाहियों को देहातों की यात्राओं के लिए किसी विशेष सूचना प्राप्त करने के लिये ही अनुमति दी गई।

(४) सिपाहियों तथा पुलिस के अफ़सरों के प्रशिक्षण के लिये प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना की सिफ़ारिश की गई।

(५) आयोग ने सिफ़ारिश की कि अपराधों की छान-बीन घटना-स्थल पर ही की जाए। बिना औपचारिक गिरफ़्तारी के किन्हीं संदिग्ध व्यक्तियों को रोकना ग़ैर-कानूनी घोषित किया गया। स्वीकारोक्ति पर विश्वास करने तथा उसके लिये कार्य करने के

अभ्यास को निरुत्साहित किया गया। पुलिस कार्य का महत्त्व आँकड़ों से नहीं, अपितु स्थानीय निरीक्षण तथा पूछ-ताछ से आँका जाना था। प्रत्येक प्रान्त में एक खुफ़िया विभाग की स्थापना होनी थी तथा इसे केन्द्रीय विभाग के आधीन कार्य करना था तथा इसका सर्वोच्च अधिकारी फौजदारी विभाग का निर्देशक होता था। भारत सरकार ने आयोग की सिफ़ारिशें स्वीकार कर लीं। इन सिफ़ारिशों को कार्यान्वित करने से पुलिस का व्यय बहुत बढ़ गया। १६०१-२ में यह व्यय २६,६१,३४४ पौण्ड था तथा १६११ में यह व्यय ४६,०२,६७७ पौण्ड था, किन्तु पुलिस पद्धति के कार्य में उतना सुधार नहीं हुआ।

फौजी सुधार (Military Reforms)––फ़ौजी क्षेत्र में भी कुछ सुधार किए गये। १६०२ तथा १६०४ के मध्य मोपलों, गोरखों तथा पंजाबियों ने बड़ी संख्या में स्थानीय रंगरूटों के स्थान पर पैदल तथा घुड़सवार सेनाओं में प्रवेश किया।

१६०० में स्थानीय पैदल सेना को पुनः संगठित किया गया तथा चार दुगुनी कम्पनियों के फ़ौजी दस्ते संगठित किए गये। देशी अफ़सर ही प्रत्येक दस्ते की आन्तरिक व्यवस्था के लिये उत्तरदायी थे तथा फ़ौजी परेड और युद्ध-भूमि में ब्रिटिश अफ़सर ही उनका संचालन करते थे।

लार्ड किचनर के नेतृत्व में देशी फ़ौजों को पुनः शस्त्र बाँटे गये। तोपखाने को अच्छी तोपें दी गईं। यातायात पद्धति को पूर्ण रूप से परिवर्तित किया गया। १६०१ में राजाओं तथा प्रतिष्ठित परिवारों के युवकों पर सम्मिलित इम्पीरियल केडेट कोर (I.C.C.) आरम्भ की गई। भारतीय फौज की सेवाएँ विदेशों में भी प्रयुक्त की गईं। भारतीय सेना को चीन तथा सुमालीलैण्ड में राजद्रोहियों के विरुद्ध नियुक्त किया गया। भारतीय फौजों ने नेटाल तथा लेडीस्मिथ की रक्षा करने में सहायता दी।

१८७१ में तटीय रक्षा के लिये एक समुद्री रक्षा फौज को जारी किया गया। १६०३ में भारतीय रक्षा का भार राजकीय समुद्री सेना ने ले लिया तथा आन्तरिक सुरक्षा फ़ौज को तोड़ दिया गया।

किचनर ने फौज में उपयोगी सुधार किये, किन्तु फौजी नियन्त्रण के सम्बन्ध मे उसका प्रभाव घातक सिद्ध हुआ। वह फौजी मामलों पर अपने पूर्ण नियन्त्रण के लिये दृढ़-निश्चयी था, चाहे वे मामले व्यवस्था-सम्बन्धी हों अथवा कार्यपालिका-सम्बन्धी। वह वायसराय की कार्यकारिणी के फौजी सदस्य को अधिकारहीन बना देना चाहता था। लार्ड किचनर ने विद्यमान दोहरी पद्धति की इन शब्दों में आलोचना की, "इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि यदि हमें सीमान्त प्रदेश पर बड़े युद्ध का सामना करना पड़े, तो भयंकर हानि होगी। एक ऐसी पद्धति, जिसके आधीन यातायात, पूर्ति, घुड़सवार तथा गोला-बारूद फौजी नियन्त्रण से पूर्ण रूप से अलग किये जाते हैं तथा उन्हें एक स्वतन्त्र शक्ति के आधीन रख दिया जाता है, पर सम्पूर्ण संगठन का व्यय शीघ्रातिशीघ्र पड़ सकता है, ज्यों ही युद्ध आरम्भ हो जाए, भले ही वह देर से आरम्भ हो।" लार्ड किचनर ने इस वैध नियन्त्रण को समाप्त करने की तथा सम्पूर्ण फौजी व्यवस्था को एक ही व्यक्ति के नियन्त्रण में रखने की सिफ़ारिश की। ऐसे मुख्य व्यक्ति को सेनापति अथवा वायसराय की कौंसिल का युद्ध-सदस्य कहा जा सकता है।

ब्रिटिश सरकार ने ठीक प्रकार से मत-भेद के इस प्रश्न को समझने का प्रयत्न

नहीं किया । लार्ड रावर्ट्स तथा लार्ड लैन्सडाउन न समझौते की एक पद्धति का समर्थन किया, जिसके द्वारा फौजी सामान के लिये एक सदस्य की नियुक्ति का प्रस्ताव किया गया था । लार्ड कर्ज़न ने एक अलग फौजी विभाग की स्थापना का विरोध किया, जिसका अध्यक्ष मुख्य सेनापति हो तथा जिसे फौजी व्यवस्था का समस्त कार्य हस्तांतरित कर दिया जाए । एक समझौते का प्रस्ताव रखा गया । मुख्य सेनापति के नियन्त्रण में समस्त शासन-व्यवस्था के केवल फौजी विभाग रहने का सुझाव दिया गया तथा उसे ही वायसराय की कार्यकारिणी में फौजी मामलों का एक-मात्र प्रतिनिधि मानकर बोलने का अधिकार दिये जाने का प्रस्ताव किया गया । अन्य सहायक विभाग, जो शुद्ध रूप से फौजी नहीं थे, एक अन्य फौजी पूर्त्ति सदस्य के आधीन करने का विचार प्रस्तुत किया गया । लार्ड कर्ज़न ने इस समझौते के फ़ार्मूले को स्वीकार नहीं किया तथा उसने त्याग-पत्र दे दिया । उसकी यह निश्चित सम्मति थी कि नई व्यवस्था दोषपूर्ण है । उसके दृष्टिकोण से मैसोपोटामिया की रक्षा भारतीय सैनिकों तथा ब्रिटिश प्रतिष्ठा के मूल्य पर की गई । मुख्य सेनापति अपने नियन्त्रण के मुख्य कर्त्तव्य को पूर्ण करने में असफल रहा ।

वित्त का विकेन्द्रीकरण, १९०४ (Decentralisation of Finance)-- १८८२ में की गई पंचम-वर्षीय व्यवस्था को अर्धस्थायी घोषित कर दिया गया ।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, १९०४ (Indian Universities Act)- लार्ड कर्ज़न ने देश की शिक्षा-पद्धति को सुधारने का प्रयत्न किया । उसने १९०१ में शिमला में एक सम्मेलन बुलाया तथा इस सम्मेलन में सरकार के बड़े से बड़े शिक्षाधिकारी तथा मुख्य विश्वविद्यालयों के अधिकृत प्रतिनिधि निमन्त्रित किये गये । इस सम्मेलन के पश्चात् एक विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त किया गया । इस आयोग की अध्यक्षता सर थामस रैले ने की । यह भारत सरकार का कानून सदस्य था । इस आयोग में भारतीय सदस्य भी नियुक्त किये गये । आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी तथा तदनुसार एक विश्वविद्यालय बिल बनाया गया । इस बिल की मुख्य बातों की व्याख्या लार्ड कर्ज़न ने इन शब्दों में की—"इसका मुख्य उद्देश्य शिक्षा के स्तर को प्रत्येक क्षेत्र में, विशेष रूप से उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में, उन्नत करना है । हमारी इच्छा है कि वर्तमान परीक्षाओं के स्थान पर उत्तम तथा कम भ्रमपूर्ण परीक्षाओं को लागू किया जाए, कालेजों में ऐसी प्रत्येक वस्तु के बलिदान को रोकना, जिससे हमारी विश्वविद्यालय की परिपाटी बनती है । उत्तम रीति के अध्यापकों की सहायता से उचित अध्यापन की व्यवस्था, उन कालेजों तथा संस्थाओं के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रवन्ध, जिन्हें आजकल व्यावहारिक रूप से जुदा छोड़ दिया जाता है, विश्वविद्यालयों की व्यवस्था को योग्य, निपुण तथा उत्साहपूर्ण हाथों में छोड़ना, सीनेट का पुनः संगठन, सिण्डीकेटों के अधिकारों का स्पष्टीकरण तथा उनके नियमित उपयोग की व्यवस्था, नियमित सदस्यों को पूर्णाधिकृत स्वीकृति देना, जो चुनाव क्षेत्रों से नियमित रूप से निर्वाचित हुए हों, आदि बातों को विधिवत् प्रारम्भ किया जाए । ऐसे मार्गों का प्रदर्शन करना जिससे हमारे विश्वविद्यालय, जो इस समय केवल परीक्षा-संस्थाएँ हैं, अन्त में जाकर शिक्षण-संस्थाओं के रूप में परिवर्तित हो सकें तथा वास्तव में भारत में उच्च शिक्षा को पाखण्ड के स्थान पर वास्तविकता में परिवर्तित करना है ।"

यद्यपि भारतीय विश्वविद्यालय बिल पर जनता द्वारा कटु आलोचना की गई,

तथापि यह १९०४ में स्वीकृत हो गया। इस अधिनियम की धाराएँ शिक्षा के अलग अध्याय में दी गई हैं। इतना कहना पर्याप्त है कि इस अधिनियम ने भारतीय विश्वविद्यालयों को पूर्ण रूप से अधिकृत रूप दे दिया।

नौकरशाही ढाँचे का सुधार (Reforms of the Bureaucratic machinery)—लार्ड कर्ज़न ने केन्द्रीकरण की अपनी नीति को चलाने में जिन बाधाओं का अनुभव किया, उनमें से एक नौकरशाही ढाँचे की असन्तोषजनक अवस्था थी, जो अपने रूप में पुरानी हो चुकी थी तथा जिसकी जड़ें दृढ़ थीं। नोटों तथा सूचना लिखने का कार्य इतना व्याप्त था कि एक-एक मामले को निबटाने में बहुत समय लगता था। लार्ड कर्ज़न के शब्दों में, "यहाँ की कार्य-प्रणाली इतनी खराब है कि एक समय ऐसा आता है जबकि एक प्रश्न हाथ से लिखे तथा छपे हुए कागजों में इस प्रकार बाँध दिया जाता है कि वहाँ वास्तविक समस्याएँ सर्वथा अस्पष्ट हो जाती हैं।" कर्ज़न ने इस पद्धति की तुलना महान् दलदल से की, जिसमें प्रत्येक समस्या, जो कहीं से प्रकट होती है उसमें डूब जाती है। "जब तक आप एक पर्ची लगी निशानी उस स्थान पर न लगा दें जहाँ कोई चीज गुम हुई थी और समय-समय पर चारों ओर चक्कर न लगाते रहें और पुरानी चीजों को खोजकर न निकालते रहें तो आपको वे चीजें कभी दिखाई नहीं देंगी।"

लार्ड कर्ज़न को ऐसे भी बहुत से मामलों का पता चला, जिन्हें उस तक पहुँचने में वर्षों लग गये। एक ऐसा विषय भी था जो पूरे इकसठ वर्षों से खटाई में पड़ा था।

लार्ड कर्ज़न की सिफ़ारिशों को उन नियमों में कार्यान्वित कर दिया गया, जिसे विभागीय सचिवों की एक समिति ने बनाया था तथा उसने उन्हें सम्पूर्ण केन्द्रीय सचिवालय में लागू कर दिया। उन नियमों की प्रतियाँ प्रान्तीय सरकारों को भी अपने सचिवालयों में लागू करने के लिये भेज दी गईं। लार्ड कर्ज़न ने सभी विभागों को प्रेरित किया कि वे निजी परामर्श के द्वारा अपने कार्य को निपटा लिया करें, लम्बे मतभेदों से बचकर नोटादि लिखने की परिपाटी तथा निर्णयों तक पहुँचने में होने वाली देर से बचें।

लार्ड कर्ज़न ने प्रयत्न किया कि सरकारी रिपोर्टों तथा आँकड़ों के प्रकाशन में उल्लेखनीय कमी की जाए। फ़्रेजर के अनुसार, यह कार्य बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं था। रिपोर्टों के छोटा किये जाने के कारण सरकारी रिपोर्टें सूखी हड्डियों के ढाँचे के समान हो गईं। सरकार जनता को आँकड़े देने के महत्त्व को समझने में सफल न हो सकी।

कलकत्ता निगम (कार्पोरेशन) (The Calcutta Corporation)—लार्ड कर्ज़न को भारत में स्थानीय सरकार के क्षेत्र में कमी करने का एक अवसर प्राप्त हो गया। बंगाल व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख कलकत्ता कार्पोरेशन में संशोधन करने का एक बिल था। इसे रिपन-विरोधी संगठन के द्वारा चलाये गये आन्दोलन के परिणामस्वरूप लाया गया था। आलोचकों का विचार था कि तात्कालिक कलकत्ता कार्पोरेशन सफाई की कठिन समस्या को सुलझाने में असमर्थ है। इस बिल का उद्देश्य कलकत्ता निगम के अधिकारों को कम करना तथा कार्यकारिणी को अधिक अधिकार देने थे। निगम में निर्वाचित प्रतिनिधियों को तो रखा गया किन्तु "नगर के कार्यों का वास्तविक नियन्त्रण कार्यकारिणी समिति को हस्तांतरित कर दिया गया, जो कि निर्माण तथा शैली में अधिकांश ब्रिटिश थी।"

लार्ड कर्ज़न ने इस पद्धति को दोहरे शासन का भद्दा तथा शरारत से भरा रूप

बताया। अन्त में लार्ड कर्ज़न की इच्छानुसार बिल में परिवर्तन कर दिया गया तथा यह १६०० में कानून बन गया। इस नये अधिनियम के अनुसार कलकत्ता कार्पोरेशन के सदस्यों की संख्या ७५ से ५० कर दी गई। निगम के २५ निर्वाचित सदस्यों को जो कर-दाताओं के प्रतिनिधि थे, कम कर दिया गया। ब्रिटिश दल को निश्चित बहुमत प्राप्त हो गया। निगम आंग्ल-भारतीय सदन बन गया। एस० एन० बैनर्जी के अनुसार, १६०० के अधिनियम के द्वारा कलकत्ता में स्थानीय स्वराज्य का लोप हो गया।

प्रैज़ीडैंसी गवर्नरों का पद (Status of Presidency Governors)—लार्ड कर्ज़न प्रत्येक क्षेत्र में केन्द्रीकरण की नीति में विश्वास करता था। उसकी इच्छा थी कि सब प्रकार के महत्त्वपूर्ण अधिकार उसके अपने हाथों में रहें। वह चाहता था कि भारत के सब भागों में होने वाली प्रत्येक वस्तु की जानकारी उसे प्राप्त हो। वह अधिकारियों की तनिक-सी स्वतन्त्रता को भी सहन नहीं कर सकता था, चाहे वे अधिकारी कितने ही ऊँचे तथा प्रतिष्ठित हों। यह बात इस प्रकार से भली प्रकार समझी जा सकती है कि उसने प्रैज़ीडैंसी गवर्नर के अधिकारों तथा पदों को भी कम करने का असफल प्रयत्न किया।

लार्ड कर्ज़न बम्बई तथा मद्रास के राज्यपालों की उदासीन मनोवृत्ति को भी पसंद न करता था। १८६६ में उसने भारत मन्त्री को इस प्रकार लिखा, "विकेन्द्रीकरण अच्छी वस्तु है, किन्तु बम्बई तथा मद्रास की स्थिति में मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह नीति इतनी आगे बढ़ गई है, जिसमें सर्वोच्च सरकार कहीं नहीं तथा जिसमें इन सरकारों के छोटे नवाब भी इस सम्बन्ध में सावधान हैं कि सारा उत्तरदायित्व उन पर ही है।"

लार्ड कर्ज़न ने मद्रास तथा बम्बई के राज्यपालों की चुप्पी की भी शिकायत की तथा उसने उन्हें कहा कि वे उसे घटनाओं से सूचित करते रहें। उसने सुझाव दिया कि प्रैज़ीडैंसी गवर्नरों की पदवी भी उत्तर प्रदेश आदि के राज्यपालों के समान घटा दी जाये। उसका विचार यह था कि उसके सुझाव में भारतीय नागरिक सेवा की लोकप्रियता को फिर से प्रगति मिलेगी क्योंकि उस सेवा के लिये दो अधिक आकर्षक पदों की वृद्धि हो रही थी। तथापि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने उसके विचारों को स्वीकार न किया।

अधिकारप्रियतापूर्ण नीति (Policy of Officialisation)—लार्ड कर्ज़न का विश्वास था कि भारतीय उन सब गुणों से हीन हैं, जो अंग्रेजों को अच्छा प्रशासक बनाते थे। वह लोगों के माध्यम से शासन में विश्वास नहीं रखता था तथा न ही उनकी सहायता से राज्य-संचालन में विश्वास रखता था। उसने समस्त ऊँचे पदों को अंग्रेजों के लिये सुरक्षित कर दिया। उसके विचार में अंग्रेज, कुछ तो परम्परागत पैतृक रूप से, कुछ पालन-पोषण के साधनों से तथा कुछ शिक्षा के द्वारा, सरकार के सिद्धान्त, मन के स्वभाव तथा चरित्र का वह उत्साह तथा स्फूर्ति रखते थे, जो उस कार्य के लिये आवश्यक है। उसकी सरकार की कुंजी यह थी कि "नौकरशाही जानती थी कि लोगों की भलाई के लिये क्या करना चाहिए।" वह इस नीति में विश्वास नहीं रखता था कि भारतीयों को स्वराज्य के लिये शिक्षा दी जाए। उसकी इस प्रकार की इच्छा नहीं थी कि भविष्य की स्वतन्त्रता तथा योग्यता के लिये वर्तमान की योग्यता का बलिदान कर दिया जाए। उसका उद्देश्य तत्कालीन योग्यता था।

इसका परिणाम यह हुआ कि लार्ड कर्ज़न के वायसराय के रूप में कार्य करते समय

देश के प्रशासन में लोगों का भाग घट गया तथा स्थानीय स्वराज्य वाली संस्थाओं के विकास को धक्का पहुँचा। हैनरी काटन के शब्दों में, "लार्ड कर्ज़न ने स्थानीय स्वराज्य की योजनाओं को कमजोर तथा निरुत्साहित कर दिया। उसने विश्वविद्यालयों को तथा लोकप्रिय शिक्षा की यथासम्भव सम्पूर्ण पद्धति को अफसरी रूप दे दिया। उसने सरकारी नौकरी में खुले मुकाबले की परीक्षाओं के स्थान पर मनोनीत करने की पद्धति को बदल दिया तथा उसने ऊँचे सार्वजनिक पदों के लिये एक प्रकार की जातिगत अयोग्यता की घोषणा कर दी। इस सब का उद्देश्य प्रशासन कार्य को अपने समस्त अधिकारों तथा उपायों से सरकारी रूप देना था तथा बंगाल के बँटवारे में भी यही उद्देश्य छिपा हुआ था।

लार्ड कर्ज़न भारतीयों को घृणा की दृष्टि से देखता था। १९०५ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपाधि-वितरण भाषण में उसने इस प्रकार की घोषणा की—"मुझे आशा है कि मैं कोई भ्रमपूर्ण तथा गर्वपूर्ण दावा नहीं कर रहा, जब मैं कहता हूँ कि सत्य का सबसे ऊँचा आदर्श पर्याप्त सीमा तक पश्चिमी धारणा है। निस्संदेह सत्य को पश्चिम के चारित्रिक नियमों में उससे पूर्व ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ जबकि पूर्व में उसकी इसी प्रकार प्रतिष्ठा हुई, जहाँ चतुराई तथा कूटनीति का सदैव बोलबाला रहा है। हम इस तथ्य को उस सामान्य उक्ति से प्रमाणित कर सकते हैं, जो "प्राच्य कूटनीति" इन शब्दों में निहित है तथा जिसका अर्थ ऐसी वस्तु से है जो छलपूर्ण तथा हानिकर हो।"

यहाँ लार्ड कर्ज़न के द्वारा किये गये कुछ और सुधारों का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है। खानों का अधिनियम तथा आसाम का श्रमिक अधिनियम श्रमिकों को कुछ सुरक्षा प्रदान करने के लिये स्वीकृत किये गये। १८९९ में मुद्रा आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित किया गया तथा १६ पैन्स वाले रुपये तथा सोने के विनिमय स्तर की स्थापना की गई। लार्ड कर्ज़न ने उपहारस्वरूप जर्मनी से प्राप्त होने वाली चीनी पर अनेक प्रकार की चुंगी आदि कर लगाये। उसने पुरातत्त्व विभाग के लिये एक मुख्य निर्देशक की नियुक्ति की तथा १९०४ में प्राचीन-भवन-सुरक्षा अधिनियम को स्वीकार किया, जिसके आधीन सरकार ने प्राचीन ऐतिहासिक भवनों को अपनी सुरक्षा में लिया। लार्ड कर्ज़न ने खानों के लिये भी एक मुख्य निरीक्षक, स्वच्छता निरीक्षक, कृषि के मुख्य निरीक्षक, सिंचाई के मुख्य निरीक्षक तथा खुफ़िया विभाग के मुख्य निर्देशक के पदों की नियुक्ति की व्यवस्था की।

बंगाल का बँटवारा, १९०५ (Partition of Bengal)—लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर के द्वारा बंगाल जैसे बड़े क्षेत्र वाले प्रान्त के प्रशासन के कार्य को, जिसकी जनसंख्या ७८० लाख के लगभग थी, बहुत अधिक समझा गया। लार्ड कर्ज़न ने इसे दो भागों में बाँट दिया। पूर्वी बंगाल तथा आसाम का एक नया प्रान्त बनाया गया, जिसमें पुराने बंगाल के १५ जिलों को, आसाम तथा चिटागांग को मिला दिया गया। इस नये प्रान्त का क्षेत्रफल १०६,००० वर्गमील तथा जनसंख्या ३१० लाख के लगभग थी।

विभाजन के सम्बन्ध में जनता की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में सर एस० एन० बैनर्जी लिखते हैं: "घोषणा बम के गोले के समान गिरी। हमने ऐसा अनुभव किया कि हमें अपमानित किया गया है तथा हमारे साथ धोखा हुआ है। हमने अनुभव किया कि वह एक जान बूझ कर बंगला-भाषी जनता के विकसित होने वाले आत्म-सम्मान तथा

एकता पर की गई चोट थी। मूल रूप से इसका जन्म प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हुआ था। हमने ऐसा अनुभव किया कि इसने एक राजनैतिक समस्या तथा हीन भावना को जन्म दिया तथा यदि उसे स्वीकृत किये जाने की अनुमति दे दी जाती, तो यह हमारे राजनैतिक विकास तथा हिन्दू मुसलमानों के मध्य घनिष्ठता के लिये घातक होता, जिन पर भारतीय प्रगति का भविष्य इतना निर्भर करता है।"

बंगाल के निवासियों ने इस आन्दोलन को अपनी राष्ट्रीयता के लिये चुनौती के रूप में समझा तथा एक प्रबल आन्दोलन भड़क उठा। इसका नेतृत्व साहित्यिक तथा वकील वर्ग कर रहा था, क्योंकि इस नये परिवर्तन से उनके सुरक्षित हितों को खतरा था। सरकार के लिये बंगाल का विभाजन प्रशासनिक सीमाओं का केवल पुनर्वर्गीकरण था। भारतीयों के लिये इसका अर्थ जाति का बँटवारा था, यह एक ऐसा प्रयत्न था, जिसका उद्देश्य एक जैसे लोगों को बाँटना था। यह बंगालियों की परम्परा, इतिहास तथा भाषा पर जानबूझ कर किया गया शरारतपूर्ण आक्रमण था। विभाजन ने बंगाल के हिन्दुओं को दो भागों में बाँट दिया। पूर्वी बंगाल में उन लोगों से अधिक संख्या ऐसे लोगों की थी, जो बंगाली नहीं थे। लार्ड कर्ज़न ने यह सुझाव मानने से इनकार कर दिया कि बम्बई तथा मद्रास के समान बंगाल पर भी एक राज्यपाल शासन करे तथा उसकी सहायता के लिये एक कार्यकारिणी समिति हो। उसने लोगों के द्वारा चलाए गये आन्दोलन के आगे झुकने से इनकार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि समय के बीतने के साथ-साथ आन्दोलन भी क्रमशः बढ़ता गया। यह एक महान् राष्ट्रीय आन्दोलन हो गया, जिसने सब भारतीयों को भड़का दिया। १९११ में विभाजन को रद्द करना पड़ा।

लार्ड कर्ज़न का मूल्यांकन (Estimate of Lord Curzon)--लार्ड कर्ज़न की सफलताओं के विषय में बहुत-सा मतभेद है। यह सम्भवतः सत्य है कि भारत में बहुत-सी अशान्ति का कारण लार्ड कर्ज़न की अप्रतिहत शक्ति थी। उसने पूर्ण रूप से भारतीय जनता का विरोध किया। वह देशवासियों के लिये महान् घृणा की भावना रखता था। उसका विश्वास था कि भगवान् ने अंग्रेजों को भारत के प्रशासन-कार्य जारी रखने के लिये नियुक्त किया है तथा यदि उसने जनता को किसी प्रकार की रियायतें प्रदान कीं, तो वह भगवान् की इच्छा के विरुद्ध जाएगा। उसके अपने ही शब्दों में, "यदि मैं ऐसा अनुभव करता कि हम किसी ऊँचे कानून तथा अच्छे लक्ष्य के लिये काम नहीं कर रहे, तब मैं उस सम्बन्ध को, जो भारत तथा इंग्लैंड को परस्पर जोड़े हुए है, तोड़ते हुए तनिक भी देरी न करता, परतु मैं इस देश के भविष्य में तथा अपनी जाति की उस शक्ति में विश्वास करता हूँ, जो उसे उन उद्देश्यों की ओर अग्रसर किए रहती है जो उसने अब तक प्राप्त नहीं किया तथा मैं साहस बनाए रखता हूँ तथा आगे चलता रहता हूँ।" उसने देश की जनता की सम्मति के सम्बन्ध में विचार करने से इसलिए इनकार कर दिया क्योंकि उसके अपने ही शब्दों में, "मैंने अपनी हार्दिक भावना को टटोला तथा अपने आप से पूछा कि कौन सच्चे भारतीय हैं।" उसके विचारानुसार काँग्रेस पतन की ओर उन्मुख है। तथा भारत में रहते हुए मेरी एक बड़ी महत्त्वाकांक्षा यह है कि "मैं इसे एक शान्तिपूर्ण मृत्यु की ओर ले जाने में सहायता करूँ।" लार्ड कर्ज़न ने १९०५ में घोषणा की कि, "मैंने किसी प्रकार की राजनैतिक रियायतें इसलिए प्रस्तुत नहीं कीं, क्योंकि मैंने इस कार्य को बुद्धिमत्तापूर्ण तथा राजनीतिज्ञता-

पूर्ण नहीं माना । किसी कौंसिल में कुछ साहसी लोगों के लिए कुछ अधिक स्थानों की प्राप्ति से किसानों का कल्याण नहीं होगा।"

सीतलवाड के कथनानुसार, "लार्ड कर्ज़न एक अत्यन्त प्रतिभाशाली, योग्य तथा परिश्रमी वायसराय था तथा उसने सम्पूर्ण प्रशासनिक ढाँचे को योग्यता के सांचे में ढाला, किंतु वह एक महान् साम्राज्यवादी था तथा वह सदैव प्रयत्नशील रहता था कि किसी प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की सीमा तथा प्रभाव को फैलाया जाए। उसे भारतवर्ष से महान् आशाएँ थीं, क्योंकि वह इस देश को पृथ्वी के विस्तृत भागों पर फैले हुए ब्रिटेन के उपनिवेशों के विस्तार तथा संरक्षण के सम्बन्ध में एक महान् पूंजी समझता था।" पुनः उसने कभी स्वतन्त्र भारत के सम्बन्ध में विचार अथवा कल्पना तक न की। उन दिनों लोग यह कहते थे कि लार्ड कर्ज़न भारत को उतना ही प्रेम करता था, जिस प्रकार कोई अपने कुत्ते को प्यार करता है । वह उसे एक उपयोगी तथा आज्ञाकारी गुलाम समझता था। एक कठोर प्रशासक के रूप में उसके चरित्र की महान् शक्ति का चित्रण उसके उस कार्य से किया जा सकता है, जो उसने बर्मा में होने वाली किसी घटना के सम्बन्ध में किया था । एक अंग्रेज सैनिक ने एक बर्मी महिला के प्रति अत्यन्त विद्रोहपूर्ण अपराध किया था। उस स्थान के फौजी अधिकारियों ने उस मामले को दबाने की दण्डयोग्य व्यवस्था की तथा स्थानीय अदालत के अधिकारियों ने भी उन्हें सहायता दी। सम्बद्ध सैनिकों पर लगाया गया अभियोग कुछ शाब्दिक कारणों से असफल हो गया यद्यपि सर्व-साधारण के लिये यह बात अत्यन्त स्पष्ट थी कि अपराधियों को मुक्त किए जाने में न्याय की महती अवहेलना हुई है। मुख्य सेनापति की सहमति से लार्ड कर्ज़न ने अभियुक्तों को सैनिक नौकरी से अलग कर दिया । उच्च फौजी अधिकारियों के विरुद्ध कठोर कार्रवाई की गई तथा कुछ सैनिक अफसरों को पदच्युत कर दिया गया। उस सारी की सारी फौजी पलटन को देश-निकाला देकर दो वर्षों के लिये अदन में भेज दिया। उनकी सारी छुट्टी बन्द कर दी गई तथा उन पर अन्य दया-भाव भी रोक दिया गया। नागरिक अधिकारियों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की गई तथा कौंसिल की ओर से एक आज्ञा निकाली गई जिसमें उस घटना के सम्बन्ध में सरकार की ओर से अत्यन्त भयानक तथा घृणायुक्त भावना व्यक्त की गई तथा यह बात सरकारी काग़ज़ों में भी अंकित कर दी गई । साथ ही उत्तरदायी क्षेत्रों ने जिस प्रकार की उपेक्षा तथा उदासीनता का परिचय दिया था, उसके प्रति भी धिक्कार की भावना प्रकट की गई।

लार्ड कर्ज़न में कार्य को प्रारम्भ करने की महान् शक्ति थी। वह अपने कर्त्तव्य के प्रति अत्यधिक जागरूक था। अपने बुरे स्वास्थ्य, शारीरिक दुःख तथा घरेलू दुःख के होते हुए भी कठोर परिश्रम करता था। उसका विश्वास था कि भारत में अंग्रेजों का औचित्य इस बात में है कि वे भारतीयों को "कुछ अधिक न्याय अथवा प्रसन्नता अथवा सुख-सम्पत्ति, मनुष्यता की भावना, चारित्रिक प्रतिष्ठा, देश-प्रेम का झरना, बौद्धिक प्रकाश की उषा तथा कर्त्तव्य-निष्ठा की भावना प्रदान करें, जहाँ वह पहले नहीं थी।" उसका विचार यह था कि उसने "किसी अन्य उद्देश्य के लिये कार्य नहीं किया। भारत को मेरा न्यायाधीश बनना चाहिए ।" वह योग्यता का पुजारी था । मि० माण्टेग्यू के अनुसार, "लार्ड कर्ज़न एक मोटर ड्राइवर के समान था, जिसने अपनी सारी शक्ति तथा समय यन्त्र के विभिन्न पुर्जों को रंग करने में लगा दिया किन्तु उसने लक्ष्य का ध्यान रखे बिना उसे

चलाया। डलहौज़ी के समान उसने वायु की दिशा दिखा दी तथा उसका परिणाम भोगने का कार्य अपने उत्तराधिकारी पर छोड़ दिया। यद्यपि वह एक महान् व्यवस्थापक था, तथापि राजनीतिज्ञ के रूप में असफल था।" रासबिहारी घोष के शब्दों में, "लार्ड कर्ज़न ने वह प्रत्येक कार्य अधूरा छोड़ दिया, जिसे वह करना चाहता था, तथा जिस कार्य को उसे नहीं करना चाहिए था, उसे वह पूर्ण कर गया।" हम पी० ई० राबर्ट्स के इन शब्दों के साथ अपने कथन को समाप्त करते हैं—"जो भी भूलें तथा जो भी असफलताएँ—ये दोनों भूलें तथा असफलताएँ मानव से अलग नहीं की जा सकतीं—उसके आलोचकों ने उसके छः वर्ष के कार्यकाल में दिखाई हों, तथापि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जब तत्कालीन विरोध की बाढ़ का प्रवाह रुक जाएगा, तब लार्ड कर्ज़न का नाम उन व्यक्तियों में सब से आगे होगा, जिन्होंने भारत में गवर्नर-जनरलों के उच्च-पद की प्रतिष्ठित परम्परा को बनाया है।

Questions for Revision

1. Trace succinctly the history of British India policy on the North-West Frontier to 1900.

2. "Lord Curzon did not solve the frontier problem. Many of its difficulties will remain as a legacy, but he introduced a system which has proved to be a sensible compromise between conflicting views of experts." (Thompson and Garrat). Discuss.

3. "The Curzon frontier policy has now been superseded by or perhaps it would be fairer to say has developed into a new forward policy……not of military conquests but of civilisation." Discuss.

4. "Lord Curzon helped to consolidate Indian opinion against British rule." Do you agree ?

5. "Many causes, economic and political, evidently concurred to produce the general condition of unrest which prevailed about the conclusion of Lord Curzon's term of office." (Dodwell). Discuss those causes.

6. Give a critical estimate of the administration of Lord Curzon.

7. "Lord Curzon's period of office was specially notable for a drastic overhauling of the whole machinery of administration." Explain.

अध्याय १८

लार्ड मिण्टो से डा० राजेन्द्र प्रसाद तक (१९०५-५८)
(Lord Minto to Dr. Rajendra Prasad)

लार्ड मिण्टो द्वितीय १९०५-१० (Lord Minto II)—लार्ड कर्जन का उत्तराधिकारी लार्ड मिण्टो था। लार्ड मिण्टो १८०७-१३ तक भारत का गवर्नर-जनरल रहा था। द्वितीय लार्ड मिण्टो उसीका पोता था। उसका जीवन कई विभिन्नताओं का मिश्रण था। उसने द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध में भाग लिया तथा कनाडा के गवर्नर-जनरल के रूप में १८९८ से १९०४ तक कार्य किया। प्रो० डाडवैल ने लार्ड मिण्टो के चरित्र को इन शब्दों में चित्रित किया है, "नया गवर्नर-जनरल राजनीतिज्ञ तो नहीं था, किन्तु उसने मनुष्यों के विस्तृत तथा विभिन्न अनुभवों का सामीप्य प्राप्त किया था। वह सदैव एक कुशल खिलाड़ी रहा। उसने अनेक वर्षों तक फौज में सेवा की थी तथा द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध तथा मिस्र के युद्ध में भाग लिया था। अंग्रेजी नौकरशाही की प्रशंसा-योग्य परम्परा के अनुसार उसने स्थानीय प्रशासन में उत्साहपूर्ण भाग लिया था तथा उसने कनाडा के गवर्नर-जनरल के उच्च प्रशासनिक स्थान पर कार्य किया था। इस प्रकार उसने लोगों को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा था तथा इस अनुभव से उसे जो सूक्ष्म तथा पूर्ण दृष्टि प्राप्त हुई थी, जो उन्हें नहीं प्राप्त होती, जो जीवन को केवल अध्ययन-कक्ष से देखते हैं अथवा दल वाद-विवादों के उतार-चढ़ावों के कारण राजनैतिक समस्याओं को उलझा देते हैं। इन लाभों के अतिरिक्त उसने अपने सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन में लोगों का प्रबन्ध करने की कला, अपना मार्ग बनाने की कुशलता अथवा परिस्थितियों के अनुसार उसका अधिकाधिक भाग, बिना दूसरों पर जिनके साथ वह कार्य करता था, बिना प्रभुत्व जमाये तथा बिना किसी को क्रुद्ध होने अथवा भड़काये जाने का अवसर दिये, प्राप्त कर लिया था।"

लार्ड मिण्टो को अत्यन्त कठिन स्थिति का सामना करना पड़ा। यह स्थिति बंगाल के विभाजन से उत्पन्न हुई थी। समय के साथ आन्दोलन दृढ़ से दृढ़तर होता गया। सरकार की ओर से किया जाने वाला दमन आन्दोलन को कुचलने में सफल न हुआ। अंग्रेजी माल का बहिष्कार किया गया तथा ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हिंसातमक भाषण किए गये। बहुत-सी हत्याएँ तथा डकैतियाँ की गईं। इन सबका उद्देश्य देश में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को डराना था। मजिस्ट्रेटों, पुलिस अधिकारियों तथा राजस्व के कलक्टरों आदि के प्राण लेने के प्रयत्न किए गये। उनके सम्बन्धियों तक को निशाना बनाया गया। सरकार ने १९०८ तथा १९१० के अधिनियम जैसे बहुत से कड़े कानून बनाये। सहस्रों व्यवितयों को जेलखानों में बन्द कर दिया गया। कुछ को देश से निर्वासित कर दिया गया।

आँग्ल-रूसी प्रतिनिधि सम्मेलन, १९०७ (Anglo-Russian Convention)—लार्ड मिण्टो के समय की एक अन्य आवश्यक घटना १९०७ का आँग्ल-रूसी प्रतिनिधि सम्मेलन है। इसके द्वारा इंगलैण्ड तथा रूस के मध्य सभी शेष मतभेद सुलझ गये। दोनों देश एक दूसरे के समीप आ गये। अफ़ग़ानिस्तान के सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ कि रूस भारत सरकार के

द्वारा अफगानिस्तान के साथ निश्चय करे। यह बात उल्लेखनीय है कि अफ़ग़ानिस्तान के अमीर हबीबुल्ला ने इस निश्चय को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उससे किसी प्रकार का परामर्श नहीं लिया गया। फारस के सम्बन्ध में रूस तथा इंग्लैण्ड इन दोनों ने उसकी प्रादेशिक स्थिरता तथा स्वतन्त्रता का आश्वासन दे दिया था। यह बात भी निश्चित हो गई थी कि उत्तरी फारस रूस के प्रभाव-क्षेत्र में तथा दक्षिणी पर्शिया इंग्लैण्ड के प्रभाव-क्षेत्र में रहेगा। तिब्बत के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड तथा रूस दोनों ने तिब्बत की प्रादेशिक स्थिरता को मानना तथा उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना स्वीकार कर लिया। उन दोनों ने चीन के माध्यम से तिब्बत के साथ बात करना तथा तिब्बत को कोई राजदूत न भेजना स्वीकार कर लिया। स्पष्ट रूप से रूसी प्रभाव को तिब्बत में फैलने से रोकने का लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया।

चीन के साथ व्यापार (Trade with China)—अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से लेकर भारत सरकार चीन को बहुत-सी अफीम निर्यात करती थी। इससे ८ और १० करोड़ के लगभग राजस्व की प्राप्ति हो जाती थी। चीनी सरकार ने अफीम के व्यापार के सम्बन्ध में विरोध किया तथा भारत सरकार से कई बार प्रार्थना की कि उसे बन्द कर दे। १९०७ में भारत सरकार मान गई कि अफीम के निर्यात में कमी की जाएगी। इस प्रकार कुछ समय के बीतने पर अफीम का निर्यात बिल्कुल बन्द किये जाने का निश्चय हो गया। यह सत्य है कि भारत सरकार को राजस्व की बहुत हानि उठानी पड़ी, किन्तु निस्सन्देह यह एक मानवतापूर्ण पग था।

मिण्टो-मार्ले सुधार (Minto-Morley Reforms)—१९०९ में इण्डियन कौंसिल अधिनियम स्वीकृत हुआ। इससे न केवल विधान सभाओं के गैरसरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ गई, अपितु उनके अधिकार भी बढ़ाए गये। इस सम्बन्ध में वैधानिक विकास के अध्याय में विस्तृत चर्चा की गई है।

१९१० में एडवर्ड सप्तम की मृत्यु हो गई तथा जार्ज पञ्चम उसके पश्चात् राज्य-सिंहासन पर बैठा। लार्ड मिण्टो ने नवम्बर १९१० में भारत से विदा ली। उसके पश्चात् लार्ड हार्डिङ्ग ने उसका कार्यभार सम्भाला।

लार्ड हार्डिङ्ग, १९१०-१६ (Lord Hardinge)—लार्ड हार्डिङ्ग उस लार्ड हार्डिङ्ग (१८४४-४८) का पोता था, जिसने प्रथम सिख युद्ध का सञ्चालन किया था। भारत में आने से पूर्व उसे प्रशासन कार्य का कोई भी अनुभव न था, यद्यपि कूटनीति के क्षेत्र में उसका अनुभव पर्याप्त था। नया गवर्नर-जनरल भारतीय आकाँक्षाओं के प्रति अत्यन्त सहानुभूतिशील था। उसने इस देश तथा विदेशों में भारतीयों के हित-चिन्ता के कार्य में अपने आपको ऐसा लगा लिया कि वह सम्भवतः भारत का सबसे अधिक लोकप्रिय वायसराय था। कहा जाता है कि वह भारतीयों के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक मिलता था तथा कभी-कभी भारतीय छात्रों के छात्रावासों तथा विद्यालयों का दौरा भी किया करता था। अपने कार्य में सच्चा होने के कारण उसने भारतीय लोगों का विश्वास प्राप्त कर लिया।

दिल्ली दरबार, १९११ (The Delhi Durbar)—१९१० में गद्दी पर बैठने के पश्चात् जार्ज पञ्चम ने १९११ में भारत की यात्रा की। दिल्ली में एक भारी दरबार वर्तमान रेडियो बस्ती के समीप ही १२ दिसम्बर, १९११ को हुआ। उस अवसर पर बहुत-

सी धन राशि बाँटी गई। यह घोषणा की गई कि भारत की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली परिवर्तित की जाएगी। बंगाल का विभाजन रद्द कर दिया गया।[1] आसाम का शासन

---

[1] बंगाल के विभाजन को रद्द करने तथा राजधानी के कलकत्ता से दिल्ली में परिवर्तित करने के विस्तृत विवरणों के सम्बन्ध में लार्ड हार्डिंग हमें बताते हैं कि उन्हें जनवरी, १९११ में लार्ड क्रीव की ओर से एक सुझाव प्राप्त हुआ, जिसमें बंगाल के विभाजन के सम्बन्ध में कुछ संशोधनों की सम्भावना प्रकट की गई थी। उनके सुझाव के द्वारा उस भारतीय राजनैतिक जाति को सन्तुष्ट करने की भावना कार्य कर रही थी, जो विभाजन को एक भूल मानते थे। उसका विचार यह था कि बंगाल के लिए उप-गवर्नर के पद के स्थान पर गवर्नर का स्थान रखा जाए, जिसकी राजधानी ढाका को बनाया जाए तथा कलकत्ते की सरकारी बस्ती को सीधे वायसराय के आधीन रखा जाए तथा विभिन्न डिवीजनों के लिये कमिश्नर नियुक्त किए जाएँ। सुझाव यह था कि विभाजन की पुष्टि सम्राट् के द्वारा भारत में होने वाले दरबार के अवसर पर की जाए।

लार्ड हार्डिंग स्वयं यह अनुभव करता था कि यदि बंगाल के दोनों भागों में शान्ति स्थापित करनी है, तो उसके लिये यह आवश्यक है कि सब के सब बंगाली जिसे अन्याय तथा अनौचित्य समझते हैं, उसे अवश्य हटा दिया जाए। यह बात अच्छी प्रकार से समझ ली गई कि यदि इस विषय में कुछ भी कार्रवाई न की गई तो बंगाल में और भी अधिक अशान्ति की सम्भावना हो सकती है। जहाँ तक शान्ति तथा सुरक्षा का प्रश्न है, बंगाल सरकार वास्तव में अपनी सत्ता खोए हुए थी। वास्तव में वायसराय ही प्रान्त का प्रशासन कर रहा था। उप-राज्यपाल तथा उसकी कौन्सिल उससे समय-समय पर परामर्श तथा सहयोग प्राप्त करते रहते थे। कलकत्ता में विधान सभा की विद्यमानता के कारण भी सदस्यों पर बंगालियों का अवश्यम्भावी तथा अत्यधिक प्रभाव पड़ रहा था तथा यह वैधानिक पक्षपातहीनता के लिये घातक था तथा इसके कारण षड्यन्त्रों तथा छल-छिद्रों के लिये व्यापक अवसर उपस्थित होता था।

भारत सरकार के गृह मन्त्री सर जान जैनकिन्स ने १७ जून, १९११ को गवर्नर-जनरल को एक स्मरण-पत्र भेजा। उसने राजधानी को कलकत्ता से दिल्ली बदले जाने की आवश्यकता के सम्बन्ध में जोरदार शब्दों में माँग की। उसका विचार था कि यह राजनीतिज्ञता का साहसपूर्ण कार्य होगा तथा इससे सर्वव्यापी सन्तोष उत्पन्न होगा तथा भारतवर्ष के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होगा।'' सर जान चाहते थे कि यह घोषणा दिल्ली में होने वाले दरबार में सम्राट् करें। यह परिवर्तन इसलिए किया जा रहा था कि जनता की विचारधारा पर 'जादू का सा प्रभाव हो क्योंकि बहुत पुराने काल से दिल्ली तथा साम्राज्य का परस्पर सम्बन्ध चला आ रहा था। कलकत्ता से दिल्ली में राजधानी बदलने का विचार पूर्ण रूप से मौलिक न था। लार्ड लारैन्स इस योजना पर विचार कर चुके थे तथा इसके पक्ष में थे। लार्ड कर्ज़न राजधानी के आगरा ले जाने के पक्ष में थे।

लार्ड हार्डिङ्ग ने सर जान जैनकिन्स की योजना को स्वीकार कर लिया तथा उसने १९ जुलाई, १९११ को लार्ड क्रीव को एक लम्बा पत्र लिखा। उसने नये प्रस्तावों से होने वाले लाभों पर बल दिया। वायसराय ने लार्ड क्रीव से कहा कि वह सारे मामले को गुप्त रखे, चाहे वह स्वीकार किया जाए अथवा नहीं। ७ अगस्त, १९११ को वायसराय को एक अत्यन्त सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त हुआ। लार्ड क्रीव ने उसे सूचित किया कि ''उसे उसका पूर्ण सहयोग है तथा इस सम्बन्ध में यथोचित कार्रवाई करने का पूर्ण अधिकार।''

लार्ड क्रीव ने सम्राट् के साथ इस योजना के सारांश पर बात-चीत की तथा उसने महान् उत्सुकता के साथ उसे स्वीकार कर लिया। वह उत्सुक था कि वह दरबार के अवसर पर स्वयं यह घोषणा करे तथा इस सम्बन्ध में पूर्ण गोपनीयता के सम्बन्ध में भी उसने अनुरोध प्रकट किया। लार्ड क्रीव ने लार्ड मार्ले तथा एस्क्विथ को भी उक्त प्रस्ताव बताए तथा दोनों बहुत प्रभावित हुए। एस्क्विथ इस विचार के महत्व से अत्यन्त प्रभावित हुआ तथा उसने सोचा कि विरोधी आशङ्काओं की अपेक्षा इस योजना के लाभ बहुत हैं। शेष समय, जो दरबार के होने तक का मिल गया था, वैधानिक तथा व्यवस्था-सम्बन्धी कार्रवाइयों पर विचार करने में लगाया गया, क्योंकि यह भी नई नीति को चलाने के लिये आवश्यक था। यह रहस्य दिसम्बर १९११ में दिल्ली दरबार होने से पूर्व भारत में केवल १२ व्यक्तियों को ही ज्ञात था।

पृथक् रूप से एक मुख्य आयुक्त के आधीन कर दिया गया। प्रो० पी० ई० राबर्ट्स के शब्दों में, "ये परिवर्तन ज़ोरदार तथा नाटकीय थे। राजधानी के परिवर्तन से निस्सन्देह बहुत से काल्पनिक तथा तर्कपूर्ण लाभ थे। सरकार ने इस आधार पर अपने पक्ष का पोषण किया कि भारत में अंग्रेजी राज्य का एकीकरण तथा रेलवे पद्धति के विकास के कारण सरकार के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह समुद्री तट पर रहे। इसके पश्चात् वायसराय का सम्बन्ध मुख्य रूप से उन्हीं मामलों से रहेगा, जो वस्तुतः साम्राज्यवादी हितों के साथ सम्बद्ध होंगे तथा अधीनस्थ गवर्नर अपने प्रशासन-कार्यों में अधिक स्वतन्त्र होंगे। केन्द्रीय स्थिति तथा ऐतिहासिक महत्त्व के कारण दिल्ली भारतवर्ष में अर्ध-संघीय साम्राज्य की राजधानी के कारण सबसे उपयुक्त नगर था। बंगाल का पुनः एकीकरण विभाजन के विपरीत न होकर अनुभव के पश्चात् एक पुनर्वर्गीकरण कहा गया—यह एक ऐसा वक्तव्य था, जो कठिनता से तथ्यों के अनुकूल था।"

आलोचकों ने दिल्ली के राज्यारोहण दरबार के सम्बन्ध में बहुत सी रियायतों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। यह कहा गया है कि ये परिवर्तन संसद् के किसी अधिनियम के द्वारा किये जाने चाहिए थे, न कि सरकार की एक घोषणा के द्वारा। वह विधि ठीक नहीं थी। यह भी कहा गया कि दिल्ली में नई राजधानी के निर्माण के कारण बहुत-सा अनावश्यक व्यय होगा। उससे कलकत्ता की सुख-समृद्धि में कमी पड़ जायगी। यह भी कहा गया कि १९११ में बंगाल के विभाजन का रद्द करना भी अवसरानुकूल नहीं था क्योंकि उसके विरुद्ध आन्दोलन बहुत कमज़ोर हो गया था तथा ऐसा पग उस अवसर पर तनिक भी आवश्यक नहीं था।

२३ दिसम्बर, १९१२ को दिल्ली में अधिकृत रूप से प्रवेश करते समय लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया। वह स्वयं भी घायल हुआ तथा जो व्यक्ति उसके पीछे हाथी पर बैठा था, वह भी मारा गया। इतनी उत्तेजनापूर्ण कार्रवाई के होते हुए भी लार्ड हार्डिंग ने भारतीयों के प्रति पहले जैसी अपनी सहानुभूति बनाए रखी।

१९१२ में यह अफ़वाह उड़ी कि चीन तिब्बत को जीत लेगा। इसका यह परिणाम हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने चीन सरकार को चेतावनी दी कि वह ऐसा पग न उठाए। इसका यह परिणाम हुआ कि तिब्बत पर चीन के द्वारा विजय प्राप्त करने का डर जाता रहा।

२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ से दक्षिणी अफ्रीका की सरकार दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों को भयभीत करने वाली नीति का अनुसरण कर रही थी। यद्यपि दक्षिणी अफ्रीका की समृद्धि के लिये भारतीय भी उतने ही उत्तरदायी थे जितने यूरोपीय, तथापि यूरोपीय भारतीयों को उस प्रदेश से निकालने के लिये कृतसङ्कल्प प्रतीत होते थे। १९१३ में एक कानून स्वीकृत किया गया, जिसके द्वारा भारतीयों के प्रवेश को सीमित कर दिया गया तथा उन्हें व्यापार, बागवानी तथा सम्पत्ति हस्तगत करने के अधिकार को रोक दिया गया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों ने अन्यायपूर्ण कानूनों के विरुद्ध सत्याग्रह किया। महात्मा गांधी तथा उनके अनुयायी बन्दी बना लिये गये तथा उन्हें कारागृह में डाल दिया गया। भारतवर्ष में भी क्रोधाग्नि भड़क उठी तथा लार्ड हार्डिंग भी जनता की भावनाओं के साथ सम्मिलित हुए। इसका परिणाम यह हुआ

कि दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने एक आयोग को नियुक्त किया तथा अन्त में १९१४ का भारतीय सहायता-अधिनियम स्वीकृत किया। इस नये अधिनियम के द्वारा भारतीयों के एक ही बार विवाह करने को वैध रूप से स्वीकार किया गया। इसके द्वारा प्रत्येक भारतीय मजदूर पर तीन पौण्ड के कर को हटा दिया गया। यह सच है कि नये अधिनियम ने दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों की सब शिकायतों को दूर नहीं किया किन्तु महात्मा गांधी ने इसे दक्षिणी अफ्रीका में भारतीय स्वतन्त्रता का घोषणा-पत्र कह कर वर्णित किया। भारत से श्रमिकों के अफ्रीका लाये जाने की पद्धति के प्रश्न को गोखले ने १९१० में अपने हाथों में लिया तथा यह पद्धति १९१७ में टूट गई। प्रथम महायुद्ध सितम्बर १९१४ में आरम्भ हुआ। क्योंकि इंग्लैंड जर्मनी तथा आस्ट्रेलिया के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हुआ, इसलिए भारत भी ब्रिटिश सरकार के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित हुआ। भारतीयों ने बिना किसी शर्त के इंग्लैंड को उनकी आवश्यकता तथा खतरे के समय सहायता प्रदान की। भारतीय फौजों ने अन्य फौजों के साथ फ्रांस, फ्लैंडर्ज़, मिस्र, अफ्रीका, फिलस्तीन, मैसोपोटामिया तथा मकदूनिया की युद्ध-भूमियों में युद्ध किया।

लार्ड चैम्सफोर्ड, १९१६-२१ (Lord Chelmsford)—लार्ड चैम्सफ़ोर्ड ने लार्ड हार्डिंग के स्थान पर उस समय पद ग्रहण किया, जब प्रथम महायुद्ध चल रहा था। भारत में गवर्नर-जनरल के रूप में आने से पूर्व वह आस्ट्रेलिया के एक राज्य में कार्य कर चुका था। अगस्त १९१७ में भारत मंत्री मि० माण्टेग्यू ने भारत में अंग्रेजी सरकार के उद्देश्य के विषय में अपनी प्रसिद्ध घोषणा की। वह घोषणा इस प्रकार थी––"सम्राट् नीति—जिसके साथ भारत सरकार पूर्ण रूप से सहमत है, प्रशासन की प्रत्येक शाखा में तथा स्वयं राज्य करने वाली संस्थाओं के क्रमिक विस्तार में, भारतीयों का बढ़ता हुआ सम्बन्ध है तथा इसका उद्देश्य यह है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न अंग के रूप में उत्तरदायी सरकार की प्रगतिशील प्राप्ति की जाय। उन्होंने यह निश्चय कर लिया है कि इस दिशा में यथासंभव शीघ्रातिशीघ्र क्रियात्मक पग उठाए जाएं। इस सम्बन्ध में सब से प्रथम तथा आवश्यक पग यह सोचना है कि इंग्लैंड तथा भारत के शासकों के मध्य स्वतन्त्र तथा अनौपचारिक चर्चा की जाए। ब्रिटिश सरकार ने सम्राट् की स्वीकृति से यह निश्चय किया है कि मैं भारत जाने के लिये प्राप्त वायसराय के निमंत्रण को स्वीकार कर लूं तथा वायसराय और भारत सरकार के साथ इन विषयों की चर्चा करूँ तथा स्थानीय सरकारों के विचारों के सम्बन्ध में वायसराय के साथ विचार करूँ तथा उसके साथ मिलकर प्रतिनिधि संस्थाओं, अन्य संस्थाओं तथा व्यक्तिओं के सुझावों को प्राप्त करूँ।

"मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि इस नीति को क्रमपूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। ब्रिटिश सरकार तथा भारत सरकार को जिन पर भारतीयों के कल्याण तथा उन्नति का उत्तरदायित्व है समय तथा उन्नति के प्रत्येक पग का निश्चय करना चाहिए तथा उन्हें उन लोगों के सहयोग से पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना चाहिए, जिन पर सेवा कार्य के सबसे बड़े अवसर प्राप्त हुए हैं तथा यह सहयोग उस सीमा तक लिया जाए कि विश्वास उनके उत्तरदायित्व की भावना में प्राप्त किया जाए।"

इस घोषणा के पश्चात् मि० मान्टेग्यू भारत आये तथा उन्होंने लार्ड चैम्सफोर्ड के साथ देश का भ्रमण किया। बहुत से प्रतिनिधि-मण्डलों ने उनसे भेंट की तथा विचारों

का आदान-प्रदान हुआ। अन्त में रिपोर्ट दे दी गई तथा प्रकाशित कर दी गई। १९१९ में भारत सरकार का अधिनियम स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम के द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन प्रारम्भ किया गया तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को अधिक अधिकार प्राप्त हो गये।

यहाँ १९१९ के प्रथम अफ़गान युद्ध का प्रसंगवश उल्लेख किया जाता है। वास्तविक घटना यह है कि अफ़गानिस्तान के लोगों ने हवीबुल्ला की ब्रिटिश-समर्थक नीति का समर्थन नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी हत्या की गई। अमानुल्ला काबुल की राजगद्दी पर आसीन हुआ। १९१९ में पंजाब में रौलेट अधिनियम के कारण दंगे हुए। नया शासक उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के कुछ भागों पर अधिकार करने में समर्थ हो गया। अन्त में उसकी प्रगति को रोका गया तथा उसे पूर्ण रूप से पराजित कर दिया गया। अगस्त १९२१ में एक सन्धि की गई। इस सन्धि के द्वारा अफगानिस्तान के शासक को विदेशी मामलों को स्वयं निबटाने का अधिकार प्राप्त हो गया। ब्रिटिश नियंत्रण उठा दिया गया। भारत सरकार अफगानिस्तान को जो धनराशि उपहार तथा सहायता के रूप में दिया करती थी, वह भी बन्द कर दी गई। यहाँ महात्मा गांधी के द्वारा चलाए गये असहयोग आन्दोलन का प्रसंगवश उल्लेख अपेक्षित है। इस आन्दोलन का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार की ओर से किए गये अत्याचारों का विरोध करना था। सारे देश में सभाएँ की गई तथा हड़तालें संगठित की गई। ब्रिटिश सरकार ने फौजी कानून (मार्शल ला) आरम्भ कर दिया। जनरल डायर अमृतसर के जलियांवाला बाग़ की दुःखान्त घटना के लिए उत्तरदायी था। इस असहयोग आन्दोलन में हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों ने सहयोग दिया।

यहाँ खिलाफ़त आन्दोलन का उल्लेख करना भी अपेक्षित है। इस आन्दोलन का संगठन भारत के मुसलमानों ने किया था। इसका उद्देश्य मित्र-राष्ट्रों के द्वारा टर्की के साथ किए गये दुर्व्यवहार के प्रति विरोध का प्रदर्शन करना था। इस सम्बन्ध में भारतीय मुसलमानों ने टर्की को अनेक वचन तथा आश्वासन दिये थे। खिलाफत आन्दोलन टर्की साम्राज्य की अखण्डता के पक्ष में था। खलीफ़ा की राजधानी कान्स्टेंन्टीनोपल निश्चित की गई। उन्होंने इस बात की भी माँग की फ़िलस्तीन में एक मुस्लिम राज्य की स्थापना कर दी जाए।

लार्ड रीडिंग, १९२१-२६ (Lord Reading)—लार्ड रीडिंग ने एक साधारण यहूदी गृहस्थ में जन्म लिया था, किन्तु अपने परिश्रम से वे इंग्लैंड के मुख्य न्यायाधीश जैसे उच्च पद तक पहुँच गये। सरकार में अत्यधिक विरोध चल रहा था। बहुत से स्थानों में हड़तालें तथा दंगे हो रहे थे। काँग्रेस में फूट थी। काँग्रेस का एक पक्ष विधान सभाओं में प्रवेश का पक्षपाती था तथा इस प्रकार संविधान को नष्ट करने के पक्ष में था। ये काँग्रेसी स्वराज्यवादी कहलाते थे तथा उनका नेतृत्व सी० आर० दास तथा मोतीलाल नेहरू जैसे व्यक्ति कर रहे थे। अन्त में स्वराज्यवादियों को विधान सभाओं में प्रवेश करने की अनुमति मिल गई। भारतीयों की प्रबल तथा निरन्तर माँगों के कारण मुड्डीमैन समिति की रिपोर्ट प्रकाशित कर दी गई। इसका सम्बन्ध नये संविधान के आधीन दोहरे राज्य (Dyarchy) को लागू करना था।

लार्ड इर्विन, १९२६-३१ (Lord Irwin)—लार्ड इर्विन को अपने वायसराय

होने के कार्यकाल में अत्यन्त गम्भीर समस्याओं से उलझना पड़ा। १९२७ में प्रसिद्ध साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई। भारतीयों ने इस के संगठन का विरोध किया, क्योंकि इसमें सभी सदस्य अंग्रेज थे। भारतीयों ने आयोग का बहिष्कार किया। सम्पूर्ण देश में हड़तालें तथा बहिष्कार हुआ। लाठी चार्ज तथा गोलियाँ चलीं। दिसम्बर, १९२८ में कलकत्ता के अधिवेशन में काँग्रेस ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें ब्रिटिश सरकार से माँग की गई कि वह एक वर्ष के भीतर औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान करे। यह सत्य है कि अक्तूबर, १९२९ में लार्ड कर्ज़न ने ब्रिटिश सरकार की ओर से एक वक्तव्य दिया कि ब्रिटिश सरकार का भारत में यह उद्देश्य है कि भारत को औपनिवेशिक दर्जा दिया जाए, किन्तु ऐसी घोषणा भारतीय नेताओं को सन्तुष्ट न कर सकी तथा परिणामस्वरूप दिसम्बर, १९२९ में काँग्रेस ने अपने लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति को अपना उद्देश्य घोषित किया।

२६ जनवरी, १९३० का दिन भारत के लिये स्वाधीनता का दिवस घोषित किया गया तथा देश में असहयोग आन्दोलन आरम्भ हो गया। महात्मा गांधी ने स्वयं आन्दोलन का नेतृत्व किया। सहस्रों व्यक्ति गिरफ्तार हुए तथा उन्हें दण्ड दिये गये। उनकी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गई।

इसी वातावरण में साइमन आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की तथा १९३० में प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन लन्दन में हुआ। काँग्रेस की अनुपस्थिति में अधिक कुछ भी प्राप्त न हो सका। सप्रू तथा जयकर के प्रयत्नों से १९३१ में गाँधी-इर्विन समझौता हो गया तथा गांधीजी काँग्रेस के एक-मात्र प्रतिनिधि बनकर इंग्लैंड के लिये रवाना हुए।

लार्ड इर्विन के कार्य के सम्बन्ध में अलग-अलग अनुमान हैं। कुछ लोगों ने उसकी कमजोरी के लिये उसका विरोध किया तथा कुछ ने उसकी दमनपूर्ण नीति के लिये उसका विरोध किया। ऐसा अवसर भी आया कि अनुदार दल के सदस्यों ने उसे वापिस बुलाए जाने की माँग प्रस्तुत की। निस्सन्देह वह उच्च आत्मा का व्यक्ति था।

लार्ड विलिंगडन, १९३१-३६ (Lord Willingdon)—१९३१ में गवर्नर-जनरल के रूप में नियुक्ति से पूर्व लार्ड विलिंगडन १९१३ से १९२४ तक बम्बई तथा मद्रास के गवर्नर के रूप में कार्य कर चुका था। वह १९२६ से १९३० तक कैनेडा के गवर्नर-जनरल के रूप में भी कार्य कर चुका था।

द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन उसके कार्य-काल में लन्दन में हुआ। मि० जिन्ना की मनोवृत्ति के कारण वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहा। ज्यों ही महात्मा गाँधी लन्दन से लौटे, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। भय तथा दमन का राज्य देश में प्रारम्भ हो गया। आन्दोलन को जितना ही दबाया गया वह उतना ही प्रबल होता गया। सरकार द्वारा स्वीकृत किये गये अध्यादेश भी लोगों की भावना को कुचलने में प्रभावहीन हुए। अगस्त १९३२ में रैम्ज़े मैकडानल्ड ने प्रसिद्ध साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा कर दी। महात्मा गाँधी ने उसका दृढ़ विरोध किया तथा उन्होंने आमरण अनशन करने की चेतावनी दी, यदि दलित जातियों के सम्बन्ध में इसमें से कुछ धाराएँ परिवर्तित न की गईं। अन्त में पूना समझौते पर हस्ताक्षर हुए तथा इस समझौते ने दलित जातियों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर साम्प्रदायिक निर्णय में परिवर्तन कर दिया।

१९३२ में तृतीय गोलमेज सम्मेलन लन्दन में बुलाया गया। मार्च १९३३ में भारतवर्ष के नये विधान के सम्बन्ध में सरकार के सुझाव सरकारी घोषणा के रूप में प्रकाशित कर दिये गये। १९३५ में भारत सरकार का अधिनियम स्वीकार हो गया।

लार्ड विलिंगडन के कार्य-काल में बिहार तथा क्वेटा में भूचाल आये। इनमें अपार जन-हानि तथा सम्पत्ति की भी हानि हुई।

भारतीय लार्ड विलिंगडन से उसकी दमनपूर्ण नीति के कारण अत्यन्त घृणा करते थे। नौकरशाही में विश्वास करने वाले इस महान् व्यक्ति के सब प्रयत्नों के होते हुए भी भारतीय राष्ट्रीयता की विजय हुई।

लार्ड लिनलिथगो, १९३६-४४ (Lord Linlithgow)—गवर्नर-जनरल के रूप में नियुक्ति से पूर्व लार्ड लिनलिथगो के कार्यों का क्रम उल्लेखनीय रहा था। वह भारतीय कृषि के राजकीय आयोग का प्रधान था। वह भारतीय वैधानिक सुधारों की संयुक्त प्रवर समिति का भी प्रधान था। भारत सरकार के १९३५ के अधिनियम का ढाँचा बनाने में भी उसका हाथ था। उसे उस कानून को कार्यान्वित करने के लिये भारत भेजा गया, जिसके निर्माण में उसने सहायता की थी।

अधिनियम के संघीय भाग को पूर्ण रूप से लागू नहीं किया गया; केवल प्रान्तीय भाग को ही लागू किया गया। १९३७ के आरम्भ में निर्वाचन हुए तथा काँग्रेस को बहुत-से प्रान्तों में बहुमत प्राप्त हुआ। इतना होने पर भी उसने मन्त्रिमण्डल के निर्माण-कार्य से इनकार कर दिया जब तक गवर्नरों की ओर से यह आश्वासन प्राप्त न हो जाए कि वे भारतीय मन्त्रियों के आधीन विभागों के दैनिक कार्यों में हस्तक्षेप न करेंगे। जब ऐसा आश्वासन दे दिया गया, तब काँग्रेस मन्त्रिमण्डल बनाये गये तथा वे १९३९ तक कार्य करते रहे, जब उन्होंने द्वितीय महायुद्ध की घोषणा के अनन्तर त्याग-पत्र दे दिए।

इस समय काँग्रेस में पुनः फूट हो गई। सुभाषचन्द्र बोस १९३८ तथा १९३९ में काँग्रेस के प्रधान निर्वाचित हुए। उनके तथा गाँधीजी व उनके अनुयायियों के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गये। अन्त में सुभाषचन्द्र बोस ने काँग्रेस छोड़ दी तथा फारवर्ड ब्लाक बनाया। १९४० में लार्ड लिनलिथगो ने अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव प्रस्तुत किया, किन्तु काँग्रेस ने उसे अस्वीकार कर दिया।

मार्च १९४२ में मि० क्रिप्स भारत आए, जिससे वे अपने द्वारा लाये गये तथा ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों के सम्बन्ध में काँग्रेस के साथ किसी प्रकार का समझौता कर सकें। क्रिप्स वार्ता भी असफल रही।

अगस्त १९४२ में काँग्रेस ने "भारत छोड़ो" का प्रसिद्ध प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसके परिणामस्वरूप काँग्रेस के नेता गिरफ्तार कर लिये गये तथा द्वितीय महायुद्ध की अवधि में कारावास में रहे।

लार्ड वेवल, १९४४-४७ (Lord Wavell)—लार्ड वेवल के कार्य-काल में, द्वितीय महायुद्ध सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। जर्मनी पराजित हुआ तथा जापान ने घुटने टेक दिये। यह सब कुछ १९४५ में हुआ।

लार्ड वेवल ने जून, १९४५ में भारत के मुख्य राजनैतिक दलों के साथ समझौता करने के लिये एक सम्मेलन बुलाया। दुर्भाग्य से शिमला सम्मेलन मुस्लिम लीग की मनो-

वृत्ति के कारण असफल हो गया।

जब इंग्लैण्ड में मजदूर दल शक्ति में आया, तो भारत में प्रान्तीय विधान सभाओं के नये चुनाव करने की आज्ञा दी गई। मार्च १९४६ में एक मन्त्रिमण्डल का दल, जिसमें लार्ड पैथिक लारैन्स, सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स तथा ए० वी० एलैक्ज़ैण्डर थे, भारत आया। लम्बी वार्त्ताओं के पश्चात् १६ मई, १९४६ को इस दल ने अपनी योजना प्रकाशित की। इस योजना के अनुसार अन्तरिम सरकार की व्यवस्था की गई थी तथा भारत के संविधान बनाने के लिये कार्य-पद्धति का विचार किया गया था। इसके साथ ऐसे समूह बनाये गये थे, जिनमें प्रान्तों को मिलाया जाना था। मुस्लिम लीग ने योजना को स्वीकार कर लिया तथा काँग्रेस ने इसे कुछ कारणों से अस्वीकार कर दिया। किन्तु, जब काँग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया, तब मुस्लिम लीग ने इसे अस्वीकार कर दिया। अगस्त १९४६ में कलकत्ता की प्रसिद्ध मार-धाड़ हुई। २ सितम्बर, १९४६ को, पं० नेहरू ने अन्तरिम सरकार बनाई, मुस्लिम लीग ने आरम्भ में तो सम्मिलित होने से इनकार कर दिया, किन्तु बाद में वह सम्मिलित हो गई।

विधान परिषद् की बैठक दिसम्बर, १९४६ में नई दिल्ली में हुई। मुस्लिम लीग ने इसका बहिष्कार किया। इस सम्बन्ध में मतभेद था कि प्रान्तों का सामूहिक वर्गीकरण आवश्यक है अथवा नहीं। ब्रिटिश सरकार ने आवश्यक वर्गीकरण के पक्षों में अपना निर्णय दे दिया।

लार्ड माउण्टबेटन, मार्च १९४७–जून १९४८ (Lord Mountbatten)—मार्च १९४७ में लार्ड वेवल के स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन ने कार्यभार सँभाला। जब लार्ड माउण्टबेटन भारत पहुँचा, तो उसने स्थिति को अत्यन्त गम्भीर पाया। मुस्लिम लीग अपनी भेद-भाव की नीति के सम्बन्ध में सारे देश में तथा विशेष रूप से पंजाब में आन्दोलन चला रही थी। मार्च १९४७ में दंगे हुए। लार्ड माउण्टबेटन ने अनुभव किया कि स्थिति का सामना करने का एकमात्र उपाय यही है कि भारतीयों के हाथों में शक्ति को हस्तान्तरित करने के कार्य को कम से कम समय में पूर्ण किया जाय। इसी उद्देश्य के लिये उसने भारतीय नेताओं के साथ परामर्श किया। वह मई, १९४७ में ब्रिटिश सरकार के साथ विचार-विनिमय करने के लिये लन्दन गया। वापिसी पर उसने अपनी प्रसिद्ध ३ जून वाली योजना की घोषणा की। इस योजना के द्वारा भारत को दो भागों में विभक्त करने का सुझाव था। भारत तथा पाकिस्तान – दोनों उपनिवेशों को स्वतन्त्रता दी जानी थी। मुस्लिम लीग तथा काँग्रेस दोनों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। १९४७ का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ३ जून की योजना को कार्यान्वित करने के लिये स्वीकृत हुआ। देश का विभाजन १८ अगस्त, १९४७ को हुआ।

भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् लार्ड माउण्टबेटन पुनः भारत के गवर्नर-जनरल निर्वाचित हुए तथा वे इस पद पर जून १९४८ तक कार्य करते रहे। इस बीच में आक्रमणकारियों ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। कश्मीर भारत में सम्मिलित हो गया तथा कश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्र के सामने ले जाया गया।

साम्प्रदायिक दंगों के कारण भारत तथा पाकिस्तान इन दोनों देशों में पर्याप्त रुधिर वहा। भारत से पाकिस्तान तथा पाकिस्तान से भारत जनसंख्या का सामूहिक

निकास हुआ।

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, जून १९४८—जनवरी १९५० (C. Rajagopalachariar)—चक्रवर्ती भारत के प्रथम तथा अन्तिम गवर्नर-जनरल थे। इस समय में पं० नेहरू भारत के प्रधान मन्त्री थे। हैदराबाद के निजाम के विरुद्ध पुलिस कार्रवाई की गई। कासिम रिज़वी तथा उसके साथी पराजित हुए तथा हैदराबाद भारतीय संघ का एक भाग बन गया।

इस समय में विधान परिषद् ने भारत का संविधान स्वीकार किया तथा वह २६ जनवरी, १९५० को लागू कर दिया गया।

भारत तथा पाकिस्तान के मध्य सम्बन्ध मित्रतापूर्ण नहीं थे। कश्मीर की समस्या तथा निष्क्रमणार्थियों की सम्पत्ति के कारण पर्याप्त कटुता रही।

भारतीय संसद् ने भारतीय श्रमिकों के लिये बहुत से कानून स्वीकृत किये। बहुत से प्रान्तों में जमींदारी उन्मूलन के कानून स्वीकृत हुए।

डा० राजेन्द्र प्रसाद, १९५० (Dr. Rajendra Prasad)—भारत का नया संविधान २६ जनवरी, १९५० के दिन लागू हुआ। इसके द्वारा गवर्नर-जनरल के स्थान पर भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन का उपबन्ध है। डा० राजेन्द्र प्रसाद भारतीय गणतंत्र के प्रथम निर्वाचित राष्ट्रपति हैं। वे गांधी दर्शन के सच्चे अनुयायी हैं। उनके चरित्र का महत्त्व इस देश में उनके पद के आकर्षण को और भी बढ़ा देता है। भारत सौभाग्यशाली है कि उसे नेहरू जैसा प्रधान मन्त्री तथा राजेन्द्र प्रसाद जैसा राष्ट्रपति प्राप्त हुआ।

भारत की विदेश नीति ने इसकी प्रसिद्धि को चार चाँद लगा दिये हैं। कोरिया के सम्बन्ध में भारतीय प्रस्ताव राष्ट्र संघ की असेम्बली में स्वीकृत हुआ। आँग्ल-सूडानी समझौते में भारत को उल्लेखनीय स्थान प्राप्त हुआ।

पं० नेहरू जून १९५३ में महारानी एलिज़ाबैथ द्वितीय के राज्य-तिलक में सम्मिलित होने के लिये लन्दन गये।

आँग्ल-अफ़ग़ान मित्रता सन्धि अक्तूबर १९५० से लागू की गई। इसके द्वारा दोनों देशों में स्थायी शान्ति तथा मित्रता के वातावरण का अवसर प्राप्त हुआ। दोनों देशों ने दोनों देशों के मध्य सांस्कृतिक सम्बन्धों को दृढ़ तथा विकसित करना स्वीकार कर लिया है तथा औद्योगिक और कृषि क्षेत्रों में भी एक दूसरे की सहायता करना स्वीकार कर लिया है।

प्रत्येक प्रयत्न किया जा रहा है कि देश को औद्योगिक दृष्टि से उन्नत किया जाए किन्तु भारत की आशा तथा भविष्य पंचवर्षीय योजनाओं के सफलतापूर्वक कार्यान्वित होने पर निर्भर है। पं० नेहरू के नेतृत्व में देश के सभी प्रकार से उन्नति करने की पूर्ण आशा है।

Questions for Revision

1. Critically examine the provisions of the Minto-Morley Reforms.
2. What do you understand by dyarchy as introduced in the provinces under the Government of India Act, 1919 ?
3. Write a critical note on provincial autonomy under the Act of 1919.

अध्याय १९

संवैधानिक विकास (१७७३-१९५०)

(Constitutional Development)

रैगुलेटिंग ऐक्ट, १७७३ (Regulating Act)—भारत के संवैधानिक विकास में रैगुलेटिंग ऐक्ट पहला महत्त्वपूर्ण चरण है। यह बात लोकप्रसिद्ध है कि लार्ड क्लाइव को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी १७६५ में मुगल सम्राट् शाह आलम से प्राप्त हुई। शेयर होल्डर्स ने अधिक लाभाँश की माँग की तथा वह १२½% तक बढ़ा दिया गया। ब्रिटिश सरकार भी १७६७ के पश्चात् ४० लाख पौण्ड धनराशि प्राप्त करने लगी। एडमण्ड बर्क ने ब्रिटिश सरकार का विरोध किया तथा यह विचार प्रकट किया कि "सरकार ने यह रक्तपात, यह लुटेरापन, यह शैतानियत, यह निष्पीड़न ४०००,००० पौण्ड के महत्त्वपूर्ण विचार के लिये किया है। हमने इस अपराध-कर की स्वीकृति से अधिक भ्रष्ट बात नहीं सुनी।"

यद्यपि अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा अंग्रेजी सरकार दोनों को लाभ हुआ, तथापि बंगाल के लोगों की स्थिति और अधिक दुःखद हो गई। जनता अकाल तथा कम्पनी के कर्मचारियों की रिश्वत का शिकार थी। लैकी के कथनानुसार, "इससे पूर्व भारतीयों ने इतने बुद्धिमत्तापूर्ण, खोजपूर्ण तथा दृढ़ अत्याचार का अनुभव नहीं किया था। सब के सब जिले, जो घनी आबादी वाले तथा समृद्धिशाली थे, अन्ततः पूर्ण रूप से जनसंख्यारहित कर दिये गये। यह देखा गया है कि कुछ अंग्रेजी व्यापारियों के एक दल के आने पर ग्राम शीघ्र ही खाली हो गये। दुकानें बन्द हो गईं। सड़कें भयभीत निष्क्रमणार्थियों से भर गईं।" चैथम के विचार में, "भारत में विषमताओं का विस्तार इतना अधिक है जितना ज़मीन और आसमान का फर्क।" स्थिति इतनी सड़ी गली हो चुकी थी कि अप्रैल १७७२ में ३१ सदस्यों वाली एक प्रवर समिति ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सम्बन्ध में जाँच करने के लिये नियुक्त की गई। उसी वर्ष अगस्त मास में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ब्रिटिश सरकार से ऋण की माँग की। संसद् ने एक प्रवर समिति नियुक्त की, जिसका कार्य कम्पनी के मामलों की जाँच करना तथा उस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट देना था। समिति ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट मई, १७७३ में प्रस्तुत कर दी। तभी संसद् ने १७७३ का रैगुलेटिंग ऐक्ट स्वीकृत किया।

रैगुलेटिंग ऐक्ट की धाराएँ (Provisions of the Regulating Act)—

(१) रैगुलेटिंग ऐक्ट ने उन शेयर होल्डरों को, जिनके पास चुनाव तिथि के १२ महीने पूर्व १००० पौण्ड के शेयर थे, कम्पनी के डायरेक्टरों के चुनाव के लिये मताधिकार प्रदान किया। पहले डायरेक्टर एक वर्ष के लिये चुने जाते थे, किन्तु ऐक्ट के द्वारा इस बात की व्यवस्था कर दी गई कि वे चार वर्ष के लिये चुने जाएँगे। किन्तु उनमें से एक-चौथाई को प्रतिवर्ष अवकाश ग्रहण करना था। डायरेक्टरों को कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल से प्राप्त पत्रों तथा परामर्शों की नकलें प्रस्तुत करने को कहा गया। राजस्व-सम्बन्धी पत्रों की नकलें

खज़ाना विभाग को भेजी जानी थीं। नागरिक तथा फौजी मामलों के पत्रों की नकलें राज्य के एक सचिव को भेजी जानी थीं। कौंसिल-स्थित बंगाल के गवर्नर-जनरल तथा बम्बई और मद्रास के गवर्नरों को डायरेक्टरों की आज्ञाओं के प्रति यथोचित आज्ञाकारिता की भावना प्रदर्शित करनी थी। कम्पनी के हितों पर प्रभाव डालने वाले सभी मामलों के सम्बन्ध में उन्हें डायरेक्टरों को निरन्तर सूचना देते रहने को भी कहा गया।

(२) बंगाल के गवर्नर-जनरल तथा चार सदस्यों वाली कौंसिल की भी व्यवस्था की गई। उन पर उक्त प्रैजिडेंसी की नागरिक तथा फौजी सरकार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व रखा गया तथा साथ ही उन पर विहार, बंगाल तथा उड़ीसा के राज्यों में प्रादेशिक अर्जन तथा राजस्व के सम्बन्ध में आज्ञा देने तथा व्यवस्था करने का भी भार डाला गया।" वारेन हेस्टिंग्ज को बंगाल का प्रथम गवर्नर-जनरल बनाया गया तथा क्लेवरिंग, मानसन, फिलिप फ्रांसिस तथा बारवैल उसकी परिषद् के सदस्य नियुक्त किये गये। कौंसिल के सदस्यों का कार्यकाल पाँच वर्ष के लिये था। उन्हें सम्राट् के बिना कोई भी हटा नहीं सकता था और वह भी डायरेक्टरों के कहने पर। बंगाल के गवर्नर-जनरल से आशा की गई थी कि वह कौंसिल की बहुसम्मति के अनुसार अपना कार्य चलाएगा। वह कौंसिल की बहुसम्मति के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता था। किन्तु उसे मतों के बराबर आ जाने की अवस्था में निर्णायक मत देने का अधिकार था। गवर्नर-जनरल को यह भी अधिकार दिया गया था कि वह मद्रास तथा बम्बई की प्रैज़िडैंसियों की व्यवस्था तथा नियंत्रण भी अपने हाथों में रखे। किन्तु आपत्तिकाल में तथा लन्दन-स्थित डायरेक्टरों से सीधे आदेश प्राप्त होने की स्थिति में मद्रास तथा बम्बई की प्रैज़िडैंसियों को बंगाल के गवर्नर-जनरल की आज्ञाओं के अनुसार कार्य न करने की छूट थी।

(३) बम्बई तथा मद्रास के कौंसिल-स्थित गवर्नरों से बंगाल के गवर्नर-जनरल की आज्ञाओं के प्रति यथोचित आदर भावना की आशा की गई थी। उन्हें यह भी कहा गया था कि वे सरकार, राजस्व तथा कम्पनी के हितों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल के आदेशों का पालन करें। उन्हें अपने द्वारा बनाये गये सभी नियमों को कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को भेजने का आदेश दिया गया। यदि वे कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल के आदेशों का पालन न करें अथवा अपने कर्त्तव्यों को ठीक प्रकार से पूरा न करें, तो कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को उन्हें मुअत्तल करने का अधिकार दिया गया। कौंसिल-स्थित मद्रास तथा बम्बई के गवर्नरों का यह भी कर्त्तव्य था कि वे कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को उन सब नियमों से सूचित रखें, जिन्हें वे बनाएँ।

(४) कौंसिल-स्थित गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह कम्पनी की फोर्ट विलियम वाली बस्तियों, कारखानों तथा उनके आधीन स्थानों के नागरिक प्रशासन तथा शान्ति स्थापित करने के लिये अध्यादेश तथा नियम बना सके। वे नियमादि इंग्लैण्ड के कानूनों के विरुद्ध न होने चाहिए थे तथा उनकी रजिस्ट्री सर्वोच्च न्यायालय के साथ होनी चाहिए थी। उन्हें दो वर्षों के भीतर कौंसिल-स्थित सम्राट् रद्द कर सकता था।

(५) रैगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा तीन अवर न्यायाधीश रखे जाने का विचार था। सर एलिजाह

इम्पे को मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किया गया। सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया कि वह दीवानी, फौजदारी, समुद्री सेना तथा चर्च सम्बन्धी मुकद्दमों की सुनवाई कर सके। इसे ही कलकत्ता नगर, कारखाने, फोर्ट विलियम तथा उसके आधीन अन्य कारखानों के लिये अभिलेख अदालत, कोर्ट आॅफ आॅयर एण्ड टर्मीनर तथा जेल डिलीवरी का अधिकार दिया गया। इस न्यायालय का क्षेत्र अंग्रेज प्रजा के लिये बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा थे। इस न्यायालय को अधिकार था कि वह सम्राट् की प्रजा की किसी ऐसी शिकायत को सुन सके जो किसी अपराध अथवा दमन के सम्बन्ध में हो। उच्चतम न्यायालय को कम्पनी अथवा सम्राट् के किसी प्रजाजन की नौकरी में लगे हुए किसी व्यक्ति के विरुद्ध मुकदमे, शिकायतें अथवा कार्रवाइयाँ करने का अधिकार था। इसे दोनों प्रकार का कार्यक्षेत्र दिया गया—मौलिक तथा अपील सम्बन्धी। इन मुकदमों की सुनवाई ज्यूरी द्वारा होनी चाहिए थी।

(६) रैगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा कम्पनी के कर्मचारियों को उपहार तथा रिश्वत लेने से रोक दिया गया। "किसी भी व्यक्ति को जो राज्य के आधीन नागरिक अथवा फौजी नौकरी करता हो अथवा उसे ऐसा कोई अधिकार प्राप्त हो, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कोई उपहार, भेंट, दान, उपदान, पारितोषिक, अर्थ-सम्बन्धी, अथवा कोई भी वस्तु लेने का अधिकार नहीं था।" यह बात स्पष्ट कर दी गई कि अपराधियों पर दुगुना जुर्माना होगा तथा उन्हें इंग्लैंड भेज दिया जाएगा।

(७) किसी ब्रिटिश-प्रजाजन को १२% से अधिक सूद लेने की आज्ञा नहीं थी। यदि गवर्नर-जनरल, गवर्नर, कौंसिल का सदस्य, उच्चतम न्यायालय का कोई न्यायाधीश अथवा कम्पनी का कोई अन्य कर्मचारी कोई अपराध करे तब इंग्लैंड में सम्राट् के न्यायालयों में उसकी सुनवाई तथा दण्ड की व्यवस्था की गई। इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल, गवर्नर, मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों के वेतनों का भी निश्चय कर दिया गया। गवर्नर-जनरल को वार्षिक २५००० पौण्ड लेने का अधिकार था। कौंसिल के प्रत्येक सदस्य को १०,००० पौण्ड वार्षिक दिया गया। मुख्य न्यायाधीश का वेतन ८,००० पौण्ड निश्चित किया गया तथा सामान्य न्यायाधीश का वेतन ६,००० पौण्ड था।

रैगुलेटिंग ऐक्ट की आलोचना (Criticism of the Regulating Act)—यह सब लोग स्वीकार करते हैं कि रैगुलेटिंग ऐक्ट में बहुत सी त्रुटियाँ थीं। उन दोषों के कुछ भी कारण हों, किन्तु यहाँ इस स्थान पर उनका उल्लेख तो हमें करना ही है। (१) रैगुलेटिंग ऐक्ट का एक गम्भीर दोष यह था कि उसने गवर्नर-जनरल, उसकी कौंसिल के सदस्यों तथा उच्चतम न्यायालय के सदस्यों के निश्चित कार्य-क्षेत्र का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। ऐसा जान-बूझकर किया गया था अथवा अनजाने में किन्तु इसमें बहुत सा विरोध था। गवर्नर-जनरल तथा सर्वोच्च न्यायालय के सम्बन्ध कभी अच्छे नहीं रहे। इसका परिणाम यह होता था कि वे सदैव विभिन्न दिशाओं की ओर चलते थे।

(२) उच्चतम न्यायालय का दावा था कि वह देश के सभी वासियों को नोटिस भेज सकता है तथा उन्हें न्यायालय में उपस्थित होने के लिये विवश कर सकता है। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने इस दावे का विरोध किया। कासी जुराह के मामले में शैरिफ़ तथा उसके साथ आने वाले अन्य अफसरों को कम्पनी के सिपाहियों ने जमींदारों के विरुद्ध नोटिस देने के

विरुद्ध निषेधाज्ञा लगा दी। इन सिपाहियों का कहना था कि वे केवल गवर्नर-जनरल की आज्ञा का पालन कर रहे हैं।

(३) उच्चतम न्यायालय का दावा था कि वह कम्पनी के राजस्व के कलेक्टरों पर भी उनके द्वारा अधिकृत रूप से की गई भूलों के कारण उन पर कार्रवाई कर सकता है। उसका यह भी दावा था कि वह कम्पनी के न्याय-सम्बन्धी अफसरों पर भी इसी प्रकार की कार्रवाई कर सकता है। उसने प्रान्तीय तथा देशी अदालतों के कार्य-क्षेत्र को मानने से इनकार कर दिया। उसने एक जिले के कोषाध्यक्ष को छोड़ दिया; उस पर रुपये की जालसाज़ी करने का अभियोग लगाया गया था। उसको मुक्त करने की आज्ञा पर ईस प्रकार विचार प्रकट किये—"हम नहीं जानते कि तुम्हारे प्रान्तीय मुख्य अधिकारी तथा कौंसिल क्या हैं—तुम यह भी कह सकते हो कि उसे परियों के सम्राट् ने बन्दी किया होगा।" वारेन हेस्टिंग्ज़ ने इस विवाद को मिटाने का एक उपाय यह किया कि उसने सर एलिजाह इम्पे को सदर दीवानी अदालत का न्यायाधीश नियुक्त कर दिया, किन्तु यह व्यवस्था देर तक न चली, क्योंकि इम्पे को इंग्लैंड वापिस बुला लिया गया। रैगुलेटिंग ऐक्ट ने यह स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया था कि उच्चतम न्यायालय को किस कानून को लागू करना चाहिए। यह एक मौलिक प्रश्न था कि हिन्दू कानून, मुस्लिम कानून, ईसाई कानून अथवा अंग्रेजी कानून प्रयोग में लाया जाये। यह भी स्पष्ट नहीं किया गया प्रतिवादी का कानून लागू किया जाये अथवा वादी का, जबकि दोनों पक्ष विभिन्न धर्मों के अनुयायी हों। वास्तव में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश केवल अंग्रेजी कानून जानते थे तथा व्यवहार रूप से प्रत्येक मामले में उसका ही प्रयोग करते थे। स्पष्ट रूप से इसके बहुत बुरे परिणाम हुए।

(४) रैगुलेटिंग ऐक्ट में कई प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं था। इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं था कि अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी कौन थे तथा कम्पनी के आधीन नौकरी का वास्तविक अभिप्राय क्या था। एक प्रश्न किया जा सकता था कि क्या राजस्व के निर्माता कम्पनी के कर्मचारी होंगे।

(५) रैगुलेटिंग ऐक्ट ने गवर्नर-जनरल की स्थिति को बहुत कमजोर कर दिया था। वस्तुतः वह तो अपनी कौंसिल के सदस्यों के बहुमत की कृपा पर निर्भर था। कहा जाता है कि छः वर्षों तक गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल के सदस्यों में कटु संघर्ष चला। उसे कई अवसरों पर बहुमत के कारण हराया गया तथा उसे ऐसी नीति का पालन करना पड़ा, जिसे वह स्वीकार नहीं करता था। मानसन तथा क्लेवरिंग की मृत्यु के पश्चात् ही वारेन हेस्टिंग्ज़ अपनी कौंसिल की व्यवस्था करने में समर्थ हुआ। इससे पूर्व उसकी स्थिति इतनी कठिन थी कि एक अवसर पर तो उसने अपने लन्दन-स्थित प्रतिनिधि को आदेश दिया कि वह उसका त्यागपत्र डायरैक्टरों को दे दे।

(६) मतदाता बनने की योग्यता का स्तर ५०० पौंड से १००० पौंड कर दिया गया। इससे डायरैक्टरों की परिषद् अल्पजनशासित राज्य बन गई। लगभग १२४६ स्टाक होल्डर्स को मत-वंचित कर दिया गया। "सारे विनियमन—कोर्ट तथा उसके स्वामियों से सम्बद्ध नियम—दो सिद्धान्तों पर निर्भर थे, जो मिथ्या प्रमाणित हो चुके हैं। वे दो सिद्धान्त ये हैं—अल्पसंख्या दलबन्दी तथा अव्यवस्था के विरुद्ध सुरक्षात्मक

उपाय है तथा आचरण की गम्भीरता का विकास अधिक सम्पत्ति के कारण पूरा होगा।"

(७) बंगाल का मद्रास तथा बम्बई पर नियन्त्रण प्रभावशाली न था।

(८) बर्क के कथनानुसार, रैगुलेटिंग ऐक्ट "राष्ट्रीय अधिकारों, राष्ट्रीय निष्ठा तथा राष्ट्रीय न्याय का उल्लंघन था।" राबर्ट्स के मत में, ऐक्ट अधूरा पग था तथा कई प्रश्नों के सम्बन्ध में अत्यन्त अस्पष्ट था। बंगाल के नवाब का नाममात्र का स्वामित्व नीतिपूर्वक छोड़ दिया गया तथा सम्राट् अथवा भारत में कम्पनी के सम्बन्ध में किसी स्पष्टोक्ति से काम नहीं लिया गया। श्रीराम शर्मा ने निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं—"इस प्रकार रैगुलेटिंग ऐक्ट ने भारत में कम्पनी के अधीन प्रदेशों में एक अच्छी सरकार प्राप्त करने का साहसपूर्ण प्रयत्न किया किन्तु इसमें सम्राट् के द्वारा इस सम्बन्ध में पूर्ण उत्तरदायित्व को सीधे ग्रहण करने का उल्लेख नहीं किया गया था। यह पहली कार्रवाई थी, जिसके द्वारा एक यूरोपीय सरकार ने अपने द्वारा प्राप्त सुसभ्य लोगों के निवास वाले प्रदेशों के शासन का उत्तरदायित्व यूरोप की सीमा के बाहर प्राप्त किया। किसी अन्य यूरोपीय जाति ने ऐसा प्रयत्न अबतक नहीं किया था। अंग्रेजों के लिये भी अपनी प्रकार का यह पहला पग था। यह अधिनियम ऐसे समय में स्वीकृत हुआ जबकि अमरीका के स्वतन्त्रता-युद्ध के रूप में प्रादेशिक अमरीका में मतभेद भड़कने वाले थे। उस समय ब्रिटिश राजनैतिक दर्शन पर एडम स्मिथ की "Wealth of Nations" का प्रभाव एक ओर तथा दूसरी ओर जार्ज तृतीय तथा ह्विग (Whigs) लोगों में संघर्ष चल रहा था। इस अधिनियम में वे सब पुष्टियाँ तथा दवाव थे। इसका सबसे प्रशंसनीय कार्य सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना करना था, जो बंगाल में सबके लिये अच्छी सरकार का आश्वासन रूप था। इसके द्वारा भारत के मामलों के सम्बन्ध में कम्पनी से समय पर सूचना प्राप्त करने के लिये जबरदस्ती करने के रूप में सम्राट् की ओर से सीधे प्रशासन के क्रम का अन्त हो गया। इसके द्वारा भारत में डायरैक्टरों के बोर्ड को अन्य साठ वर्षों के लिये स्वीकृति प्राप्त हो गई। भारत में ईमानदार प्रशासन के सम्बन्ध में डायरैक्टरों की माँग को संसदीय उच्चादेश के रूप में कार्यान्वित कर दिया गया। इसके लिये कम्पनी के सार्वजनिक कर्मचारियों के द्वारा निजी व्यापार तथा उपहार लेने पर रोक लगा दी गई। उसका बंगाल के गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल को मध्य में रखने का सिद्धान्त १८६१ तक पूर्ण रूप से अपरिवर्तित रहा। इसके द्वारा भारत में कम्पनी के उपनिवेशों के लिये एक सर्वोच्च अधिकार-प्राप्त संस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

(९) पी० ई० राबर्ट्स के अनुसार, "डायरैक्टरों की समिति के विधान में परिवर्तन इसलिए किया गया, जिससे कि उनको अवधि के सम्बन्ध में अधिक सुरक्षा प्रदान की जाए; उन्हें भ्रष्टाचारपूर्ण साधनों से मतों को प्राप्त करने के लिये कम प्रेरित होना पड़े। साथ ही इससे उनकी नीति अपने देश में तथा समुद्र-पार के प्रदेशों में सुनिश्चित तथा स्थिर बनी रहे। अब तक प्रति वर्ष चौबीस डायरैक्टर निर्वाचित होते थे तथा इसकी सम्भावना रहती थी कि प्रतिवर्ष उनमें परिवर्तन हो। जैसे कि क्लाइव ने एक बार दृढ़तापूर्वक कहा था कि वे अपने कार्यकाल (एक वर्ष) का आधा समय अपने उन दायित्वों के पालन करने में व्यस्त रहते थे, जिनके द्वारा उन्हें स्थान प्राप्त हुए थे, तथा उनका शेष आधा वर्ष नये चुनाव की तैयारी तथा उसके प्रचार-कार्य के लिये लग

जाता था। बिल की स्वीकृति के पश्चात् छः डायरैक्टरों का चुनाव, एक वर्ष के लिये, छः का दो वर्ष के लिये, छः का तीन वर्षों के लिये, तथा छः का चार वर्षों के लिये होना था। व्यवहार रूप में जो छः डायरैक्टर प्रति वर्ष अवकाश ग्रहण करते थे, वे ही आगामी वर्ष के लिये पुनः चुन लिये जाते थे। इसका प्रभाव यह होता था कि तीस डायरैक्टरों की संस्था वन जाती थी, जिनमें से छः, जो अपने आपमें एक प्रभावहीन सूची का स्थान लेते थे, बारी-बारी प्रतिवर्ष अवकाश ले लेते थे।" स्वामिवर्ग के लिये इस वात की सम्भावना प्रत्येक चुनाव के समय रहती थी कि वे छः नये सदस्यों का चुनाव कर सकें, किन्तु व्यवहार रूप में वे ऐसा कभी नहीं करते थे।

(१०) बौटिन रौज़ के अनुसार, "अधिनियम का उद्देश्य अच्छा था, किन्तु उसके द्वारा संस्थापित पद्धति अपूर्ण थी।"

(११) रावर्ट्स के अनुसार, "रैगुलेटिंग ऐक्ट के द्वारा राज्य को कम्पनी पर न तो निश्चित नियन्त्रण प्राप्त हुआ था और न ही डायरैक्टरों को कम्पनी के कर्मचारियों पर निश्चित नियन्त्रण था। साथ ही कलकत्ता प्रैज़िडैंसी का बम्बई तथा मद्रास प्रान्तों पर कुछ निश्चित नियन्त्रण न था।"

(१२) १९१८ के भारतीय संवैधानिक सुधारों के विवरण के अनुसार रैगुलेटिंग ऐक्ट द्वारा एक ऐसे गवर्नर-जनरल के पद का निर्माण हुआ, जो अपनी कौंसिल तथा कार्यकारिणी के प्रति अधिकारहीन था। कौंसिल तथा कार्यकारिणी स्वयं भी सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख अधिकारहीन तथा शक्तिहीन थी। सर्वोच्च न्यायालय स्वयं देश की शक्ति तथा कल्याण के सम्बन्ध में सब प्रकार के उत्तरदायित्व से मुक्त था—यह ऐसी पद्धति थी, जो एक महान् व्यक्ति की प्रतिभा तथा सहनशीलता के कारण चालू हो सकी।"

रैगुलेटिंग ऐक्ट संसद् के द्वारा स्वीकृत उन बहुत से अधिनियमों की लम्बी शृंखला का एक प्रथम अंग था, जो भारत सरकार में परिवर्तन करने तथा उन्हें नियमित करने के लिये बनाए गये थे। इसके द्वारा ब्रिटिश भारत के लिये लिखित संविधान प्रणाली का प्रारम्भ हुआ। कम्पनी के कार्यों में हस्तक्षेप करने तथा उसके द्वारा अधिकृत प्रदेशों के लिये विधान बनाने के सम्बन्ध में संसदीय अधिकार को स्वीकार किया गया। कम्पनी के द्वारा संसद् में सत्ता के हस्ताँतरित किए जाने के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है। इस अधिनियम के द्वारा एक व्यक्ति के शासन के स्थान पर संस्था का शासन स्थापित हो गया।" इसके द्वारा कम्पनी के राजनैतिक कार्यों को भी स्वीकार कर लिया गया। लायल के मतानुसार, १७७३ के अधिनियम के द्वारा प्रशासन की प्रणाली एक प्रकार का ऐसा पहला प्रयत्न था, जिसके द्वारा कम्पनी के अस्पष्ट तथा पक्षपातपूर्ण शासन के स्थान पर कुछ निश्चित तथा स्वीकृत रूप-रेखा वाली शासन-पद्धति को विकसित किया गया। उस समय से लेकर आँग्ल-भारतीय सरकार की रूप-रेखा धीरे-धीरे विकसित होने लगी।

१७८१ का सशोधनात्मक अधिनियम (Amending Act of 1781)—सब ओर से यह स्वीकार किया गया कि रैगुलेटिंग ऐक्ट में बहुत-सी कमियाँ थीं तथा परिणामस्वरूप १७८१ में उनको दूर करने के लिये एक अधिनियम स्वीकार किया गया। नये अधिनियम में यह उपबन्ध किया गया कि सर्वोच्च न्यायालय कम्पनी के कर्मचारियों के विरुद्ध

उन कार्यों के लिये कार्रवाई नहीं कर सकता, जो उन्होंने एक सरकारी अधिकारी की हैसियत से किए हों। इस प्रकार कम्पनी के राजस्व कलैक्टरों तथा कानूनी अधिकारियों की भी, यदि उन्होंने कोई ऐसा कार्य सरकारी अधिकारी के रूप में किया हों, सर्वोच्च न्यायालय के कार्य-क्षेत्र से मुक्त कर दिया गया। गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद् के सदस्यों को भी व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से सर्वोच्च न्यायालय के कार्य-क्षेत्र से उनके द्वारा सार्वजनिक अधिकारियों के रूप में किए गये कार्य के सम्बन्ध में मुक्त किया गया।"

सर्वोच्च न्यायालय के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में ऐसा नियम बनाया गया कि वह कलकत्ता के सब निवासियों पर लागू होता है। उसका कार्य प्रतिवादी के व्यक्तिगत कानून की व्यवस्था करना था। यह बात बाद में कह दी गई कि ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा कार्रवाई नहीं की जा सकती, जो जमींदार अथवा कृषक अथवा भूमि को किराये पर जोतने वाला हो, अथवा किसी उपाधि के उपलक्ष में रुपया अथवा पैंशन दे रहा हो, अथवा भूमि या भूमि के किराये पर पहले से ही अधिकार रखता हो अथवा किराया इकट्ठा करने के सम्बन्ध में उसे कोई क्षतिपूर्ति अथवा लाभाँश की प्राप्ति होती हो। कम्पनी के कर्मचारियों के विरुद्ध उनकी भूलों अथवा अनुचित कार्रवाइयों के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय कार्रवाई कर सकता था। दोनों पक्षों की स्वीकृति से सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख बहुत से मामले लाए जा सकते थे। भूमि अथवा सम्पत्ति के उत्तराधिकार अथवा दाय भाग के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय का कार्य-क्षेत्र अलग कर दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय को अपनी आज्ञप्ति तथा विधि लागू करते समय धार्मिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों तथा भारतीयों के व्यवहारों का ध्यान तथा उनके प्रति आदर की भावना रखनी पड़ती थी। सरकार को भी नियम बनाते समय इन बातों का ध्यान रखना होता था।

कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को प्रान्तीय अदालतों तथा कौंसिल के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार दिया गया। पहले तो गवर्नर-जनरल के द्वारा बनाए गए नियमों को सर्वोच्च न्यायालय के पास रजिस्टर करवाना पड़ता था। इससे बहुत-सी असुविधाएँ हुईं। परिणामस्वरूप १७८१ के अधिनियम के द्वारा यह निश्चय किया गया कि इस प्रकार के पञ्जीकरण (Registration) की आवश्यकता नहीं है।

इस अधिनियम की एक धारा यह भी थी कि प्रान्तीय न्यायालयों के विरुद्ध कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल की सेवा में अपीलें की जा सकती थीं। ५,००० पौण्ड से नीचे की राशि वाले मामलों की अपीलों में गवर्नर-जनरल अन्तिम अधिकारी था; किन्तु ५,००० पौंड से अधिक राशि वाली अपीलों को सम्राट् तक ले जाया जा सकता था।

डा० कीथ के अनुसार, "१७८१ के अधिनियम ने १७७३ की पद्धति में बहुत से परिवर्तन किए। प्रस्तावना ने स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया कि प्रतिस्पर्धा में कौन विजयी रहा है। इसके द्वारा सरकार के समर्थन, राजस्व के नियमित रूप से इकट्ठा करने तथा जनता को पुराने कानूनों में पाबन्द रहने की आवश्यकता पर बल दिया गया।"

डण्डास बिल, १७८३ (Dundas's Bill)——१७८१ के संशोधित अधिनियम से रैगुलेटिंग ऐक्ट के सारे दोष दूर नहीं हुए तथा परिणामस्वरूप बहुत से विधेयक संसद् में

प्रस्तुत किए गये जिससे उन दोषों को दूर किया जा सके। अप्रैल, १७८३ में डण्डास ने अपना विधेयक प्रस्तुत किया। इसके अनुसार सम्राट् को इस बात के अधिकार प्राप्त हो गये कि वह कम्पनी के मुख्य कर्मचारियों को वापिस बुला सके। बंगाल प्रान्त का बम्बई तथा मद्रास पर नियन्त्रण बना दिया गया। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह अपने उत्तरदायित्व पर अपनी कौंसिल की सम्मति के विरुद्ध कार्य कर सके। उसे मुख्य सेनापति के पद सम्भालने का भी अधिकार दिया गया। बंगाल के उन ज़मींदारों को, जिन्हें पंचवर्षीय बन्दोबस्त के कारण शरणार्थी बनना पड़ा था, पुनः उनकी भूमि दे दी गई। इस विधेयक के कारण गवर्नर-जनरल तथा मुख्य सेनापति को ब्रिटिश भारत के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार तथा नियन्त्रण प्राप्त हो गया। डण्डास के विरोधी दल में होने के कारण यह विधेयक प्रस्तावित होने के पश्चात् वापिस ले लिया गया।

फ़ॉक्स इण्डिया बिल, १८७३ (Fox India Bill)--पहली नवम्बर, १७८३ को फ़ॉक्स ने भारत के सम्बन्ध में अपना प्रसिद्ध बिल प्रस्तुत किया। इस विधेयक के द्वारा डायरैक्टरों की समिति तथा स्वामियों की समिति को समाप्त करने का प्रस्ताव किया गया तथा इनके स्थान पर दो नये संगठन बनाने का निश्चय किया गया। सात कमिश्नरों अथवा डायरैक्टरों को भारत के राजस्व तथा प्रदेशों की व्यवस्था के लिये नियुक्त किये जाने का निश्चय हुआ। उन्हें अधिकार दिया गया कि वे कम्पनी की नौकरी में सभी कर्मचारियों को नियुक्त अथवा अलग करें। अधिनियम में उनके नामों की घोषणा की जानी थी तथा उन्हें संसद् के सदस्य ही अलग कर सकते थे। रिक्त स्थानों की पूर्ति का अधिकार सम्राट् को था। कमिश्नरों को लंदन में ही कार्य करना था तथा संसद् को उनकी कार्रवाइयों के विवरण निरीक्षित करने का अवसर प्राप्त हो सकता था। अधिनियम में नौ सहायक डायरैक्टरों को मनोनीत किया जाना था, जो स्वामी वर्ग में से ही लिये जा सकते थे तथा जिनकी सर्वाधिक पूंजी कम्पनी में लगी हुई थी। उनका कार्यकाल पाँच वर्ष था तथा रिक्त स्थानों की पूर्ति करने का अधिकार स्वामी वर्ग की समिति को था।

फ़ॉक्स के अनुसार, उसका बिल कम्पनी के हितों के अन्तिम तथा पूर्ण नाश को रोकने अथवा उससे बचने का एकमात्र उपाय था। मैल्कम के अनुसार, इन सात कमिश्नरों को "दिवालिए व्यापारी वर्ग के ट्रस्टियों के समान कार्य करना था।" फ़ॉक्स के विचार में, यह अधिनियम स्वेच्छापूर्ण शिशु न होकर आवश्यकता की उपज था। भारत में मिले-जुले ब्रिटिश हितों के लिये सरकार की मिली-जुली पद्धति अनुकूल थी। उसका विचार था कि भारतीय लोग व्यवस्थापिका तथा डायरैक्टरों की समिति इन दोनों के दबाव के कारण एक अत्याचारी तथा उद्दण्ड व्यक्ति के कोड़ों, लूट तथा हत्या के शिकार होकर दुःखी हो रहे हैं तथा जिसे मैं अपने हृदय तथा अन्तरात्मा से घृणा करता हूँ।

बर्क ने विधेयक के समर्थन में सुन्दर भाषण दिया। उसने अपना यह विचार प्रकट किया, "हमारी भारत सरकार सचमुच शिकायतों का पुञ्ज है।" उसने कम्पनी की सरकार को संसार में विद्यमान सर्वाधिक भ्रष्ट तथा नाश की ओर अग्रसर अत्याचारी सरकार वर्णित किया। "भारत में एक भी ऐसा नरेश, रियासत अथवा अधिकारी छोटा अथवा बड़ा नहीं है, जिसके सम्पर्क में वे (कम्पनी के कर्मचारी अथवा अधिकारी) न आये हों तथा जिसे उन्होंने बेच न दिया हो। ऐसी एक भी सन्धि नहीं है, जिसे उन्होंने

स्वीकार किया हो तथा जिसे उन्होंने न तोड़ा हो। एक भी राजा अथवा रियासत ऐसी नहीं, जिसने कम्पनी में विश्वास किया हो तथा जो पूर्ण रूप से नष्ट न हुआ हो।" उसके कथनानुसार, "कम्पनी के प्रत्येक कर्मचारी में अपने समय के सभी दुर्गुण थे। उनमें यौवन का उन्माद था। वे एक-एक कर के सबको अपनी लपेट में ले लेते हैं। इससे भारतीयों के सम्मुख और कोई विकल्प नहीं बचता। वे केवल उस शिकारी पक्षी के समान अपने आपको पाते हैं, जिन्हें नई उड़ान की कोई नई आशा न हो तथा जिसकी भूख सदैव उस भोजन के लिये भड़कती रहे, जो लगातार नष्ट हो रहा हो। उनका शिकार इंग्लैंड में है तथा भारत की चिल्लाहट समुद्रों तथा पवनों में मानसून की प्रत्येक झड़ी के साथ एक ऐसे सागर में विलीन हो जाती है, जहाँ से यह सुनाई नहीं देती।"

यह बात उल्लेखनीय है कि उक्त विधेयक हाउस ऑफ कॉमन्स में १०८ विपक्षी मतों के होते हुए २०८ मतों से स्वीकृत हो गया। तथापि हाउस ऑफ लार्ड्स में जार्ज तृतीय के हस्तक्षेप से यह अस्वीकृत हो गया। जार्ज तृतीय ने एक पत्र में यह बात स्पष्ट कर दी कि "जो कोई भी बिल के पक्ष में मत देगा वह केवल उसका अमित्र ही नहीं होगा, अपितु वह उसका शत्रु होगा।" इस बिल की अस्वीकृति अथवा पराजय का एक और कारण फ़ॉक्स तथा नार्थ का अत्यधिक अलोकप्रिय होना था। बिल की विशेषताएं अथवा गुणों की चर्चा करने के स्थान पर विरोधियों ने फ़ॉक्स तथा नार्थ के मिले-जुले मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में प्रबल माँग की। पिट के कथनानुसार, "यह बिल अत्यन्त साहसपूर्ण, पूर्ववर्तितारहित, अत्यधिक तीव्र, चौंका देने वाला था, तथा जिसके द्वारा ऐसे अत्याचारपूर्ण कृत्य किए जाने के प्रयत्नों को प्रोत्साहन मिल रहा था, जिसके कारण इंग्लैण्ड अथवा किसी अन्य देश का इतिहास अपमानित हो सकता था।" ग्रेनविल के कथनानुसार, "बिल का उद्देश्य एक ऐसी निरंकुश पद्धति को स्थापित करना था, जो सम्भवत: इंग्लैण्ड के स्वतन्त्र संविधान को कुचल सके।" जैनकिन्स के कथनानुसार, "यह बिल प्रशासनिक व्यवस्था में एक ऐसा पग था, जो सम्राट् के नियन्त्रण तथा अनुशासन से स्वतन्त्र था।" विल्बरफ़ोर्स ने सात डायरैक्टरों तथा आठ सहायक डायरैक्टरों की समता सात डाक्टरों तथा आठ औषधिविक्रेताओं से की, जो रोगी को मारने के लिये आये हों। फ़ॉक्स ने अपने आलोचकों को इस प्रकार उत्तर दिया, "मैं इस बिल के गुणों पर अपना सब कुछ खतरे में डालने के लिये प्रस्तुत हूँ अथवा जिसे लोग अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हैं—चरित्र, पूर्णता, प्रतिभा, आदर, वर्तमान प्रतिष्ठा तथा भावी आदर तथा अन्य कोई भी वस्तु जो मेरे लिये मूल्यवान है। मैं इस पग की वैधानिक सुरक्षा, व्यापक नीति, समता तथा बुद्धिमत्ता को भी दाँव पर लगाने को तैयार हूँ।"

फ़ाक्स ने इस सम्बन्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी से परामर्श न करके एक भूल की, क्योंकि कम्पनी की इस विषय में अत्यधिक रुचि थी तथा कम्पनी ने भी बिल का पूर्ण रूप से विरोध किया।

जार्ज तृतीय न केवल हाउस ऑफ लार्ड्स में फ़ाक्स के भारतीय बिल की अस्वीकृति के लिये उत्तरदायी था, अपितु उसने १८ दिसम्बर, १७८३ के दिन संयुक्त मंत्रिमण्डल को भी संग कर दिया। ऐसा करने पर उसने पिट (यंग) को नये मंत्रिमण्डल के निर्माण के लिये निमंत्रित किया। पिट ने जनवरी १७८४ में अपना बिल प्रस्तुत किया। प्रारम्भ में

हाऊस आफ़ कामंस में उसे वहुमत का विश्वास प्राप्त न था। परिणामस्वरूप उसने उपर्युक्त समय पूरे संसद् को भंग कर दिया तथा वह वहुमत का विश्वास प्राप्त करने में सफल हो गया। उसने अपना विल कुछ संशोधनों के साथ पुनः प्रस्तुत किया तथा अगस्त, १७८३ में वह उसे स्वीकृत कराने में सफल हो गया। यह विल पिट के भारतीय विल (Pitt's India Bill) के नाम से प्रसिद्ध है। यह बात उल्लेखनीय है कि पिट ने अंग्रेज़ी कम्पनी के विरोध को निष्पक्ष करने में सावधानी वरती। इसका परिणाम यह हुआ कि विल को संसद् में कम्पनी की स्वीकृति तथा सिफारिश से प्रस्तुत किया गया। विल वस्तुतः वही था, जो फ़ॉक्स का था। तथापि उसमें कम्पनी का संरक्षण नहीं था। पिट ने स्वयं यह वात स्पष्ट की कि फ़ॉक्स के भारतीय विल में व्यक्तियों के स्थायित्व का आश्वासन दिया गया था, किन्तु उसके विल में पद्धति के स्थायित्व पर वल दिया गया था।

पिट्स इण्डिया अधिनियम के उपबन्ध (Provisions of Pitt's India Act)—(१) पिट के भारतीय बिल में प्रिवी कौंसिल के छः सदस्यों के नियंत्रण बोर्ड की व्यवस्था की गई। बोर्ड को भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में निरीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण सम्बन्धी विस्तृत अधिकार दिये गये। इसके द्वारा भारत से आये हुए सब प्रार्थना-पत्र पहले उस बोर्ड में प्रस्तुत करने की व्यवस्था की गई तथा बोर्ड को अधिकार दिया गया कि वे पुरानी फाइलें मंगवा सकें तथा उसके द्वारा प्रशासन के कार्यों की समीक्षा कर सकें। बोर्ड के संगठन के सम्वन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि वास्तविक अधिकार प्रारम्भ से ही नियंत्रण-बोर्ड के प्रधान के हाथों में था। उसके दो सदस्य—अर्थ मंत्री तथा भारत मंत्री—कभी इसकी बैठकों में साम्मिलित नहीं हुए। शेष चार सदस्यों में से केवल मुख्य सदस्य ही उपस्थित हुआ करता था तथा शेष तीन सदस्य अनुपस्थित रहा करते थे। नियंत्रण-बोर्ड का प्रधान इस बात की व्यवस्था कर लेता था कि भारत मंत्री तथा अर्थ मंत्री के हस्ताक्षर प्राप्त हो जाएं।

(२) एक गुप्त कमेटी, जिसमें तीन डायरैक्टर होते थे, डायरैक्टरों के बोर्ड के स्थान पर राजनीतिक तथा फौजी मामलों के लिये वनाई गई।

(३) डायरैक्टरों के पास इस बात के अधिकार सुरक्षित रहे कि वे भारत में विभिन्न पदों के लिये नियुक्तियाँ कर सकें। उन्हें इस बात का भी अधिकार दिया गया कि वे भारतीय प्रशासन के अधिनियमों का संशोधन तथा उनकी समीक्षा कर सकें।

(४) स्वामियों के बोर्ड को इस अधिकार से वंचित किया गया कि वे डायरैक्टरों के बोर्ड के निश्चयों में परिवर्तन कर सकें।

(५) कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह अनेक प्रैज़िडेंसियों के कार्यों का निरीक्षण, नियंत्रण तथा निर्देशन कर सके। पहले गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में चार सदस्य होते थे। पिट के भारतीय अधिनियम ने गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों की कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या तीन कर दी तथा उनमें से एक सदस्य स्थानीय मुख्य सेनापति होता था।

(६) यह घोषित किया गया कि सरकारी अपराधियों को क्षमा प्रदान न की जाए यदि वे किसी अपराध करने के दोषी सिद्ध हो जाएँ। इस बात की अच्छी व्यवस्था की गई कि जो अपराध भारत में किए गये हों, उनकी सुनवाई इंग्लैंड में हो सके। ऐसे मुकदमों की

सुनवाई के लिये ३ न्यायाधीशों, ४ पियरों तथा हाऊस ऑफ़ कामन्स के ६ सदस्यों सहित एक विशेष अदालत बनाई गई।

(७) इस अधिनियम के द्वारा भारत में कम्पनी के कर्मचारियों के द्वारा हस्तक्षेप की नीति को अस्वीकार किया गया। अधिनियम में निम्नलिखित धारा डाली गई "क्योंकि उपनिवेशों को विजित करने तथा उनके विस्तार की कार्रवाइयाँ इस जाति की इच्छा, प्रतिष्ठा तथा नीति के विरुद्ध हैं, कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को बिना डायरैक्टरों अथवा कमेटी के मन्त्री की विशेष अनुमति के भारत के किसी प्रदेश, प्रान्त अथवा रियासत के विरुद्ध युद्ध घोषित अथवा आक्रमणात्मक कार्रवाइयाँ करने, अथवा युद्ध करने के सम्बन्ध में सन्धि करने का अधिकार नहीं दिया गया।"

(८) गवर्नर-जनरल की नियुक्ति का अधिकार डायरैक्टरों को दिया गया, जो सम्राट् की स्वीकृति से यह कार्य कर सकते थे। किन्तु प्रैज़िडेंसियों के गवर्नरों, उनकी कार्यकारिणी के सदस्यों तथा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सदस्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं थी। सम्राट् गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नरों को वापिस भी बुला सकता था।

१७८६ का ऐक्ट (Act of 1786)—१७८६ के ऐक्ट के द्वारा कार्नवालिस को भारतीय फौजों का मुख्य सेनापति बना दिया गया। उसे इस बात का अधिकार भी दे दिया गया कि वह अपने उत्तरदायित्व पर अपनी कौंसिल के निर्णय के विरुद्ध कार्रवाई भी कर सके।

१७९३ का चार्टर ऐक्ट (Charter Act of 1793)--(१) अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को १७९३ में नया चार्टर दिया गया। १७९३ का चार्टर बहुत लम्बा है। इसने बहुत से पुराने कानूनों को निरसित तथा विद्यमान कानूनों को संग्रहीत किया किन्तु इसने कुछ परिवर्तन नहीं किए। गवर्नर-जनरलों तथा गवर्नरों को अपनी कौंसिलों के निर्णयों को बदलने का भी अधिकार दिया गया। यह अधिकार विशेष रूप से कार्नवालिस को १७८६ में दिया गया था।

(२) मद्रास तथा बम्बई की प्रैज़िडेंसियों पर गवर्नर-जनरल के नियन्त्रण को और अधिक किया गया। यह स्पष्ट कर दिया गया कि जब कभी गवर्नर-जनरल किसी प्रैज़िडेंसी की यात्रा पर हो, तो वह गवर्नर के किसी कार्य को बदल भी सकता है अथवा उसमें हस्तक्षेप कर सकता है।

(३) गवर्नर-जनरल को अपनी कार्यकारिणी के सदस्यों में से किसी एक को उप-प्रधान नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। उप-प्रधान का कार्य ऐसे अवसर पर, जब गवर्नर-जनरल बंगाल से अनुपस्थित हो, उसके स्थान पर कार्य करना था।

(४) मुख्य सेनापति गवर्नर-जनरल की कौंसिल का सदस्य नहीं होता था, जब तक कि उसे डायरैक्टरों की समिति विशेष रूप से एक सदस्य के रूप में नियुक्त न करे।

(५) अपने कार्यकाल में गवर्नर-जनरल, गवर्नरों, मुख्य सेनापति तथा कुछ अन्य उच्च अधिकारियों को भारत से बाहर जाने के अवकाश की अनुमति न दिए जाने की व्यवस्था की गई।

(६) कलकत्ता उच्चतम न्यायालय का नावधिकरण क्षेत्र अधिकार बढ़ा कर महासमुद्र तक कर दिया गया।

(७) इस बात का अधिकार दिया गया कि नागरिक सेवा के सदस्यों की नियुक्ति शान्ति के न्यायाधीश के रूप में, प्रैज़िडेंसी नगरों के लिये मेहतरों की नियुक्ति, स्वच्छता के लिये कर लगाने तथा बिना अनुमति-पत्र के शराब की बिक्री पर रोक लगा दी गई।

(८) यह व्यवस्था की गई कि नियंत्रण बोर्ड के सदस्यों तथा कर्मचारियों का वेतनादि भारतीय राजस्व में से दिया जाए। यह पद्धति १९१९ तक चालू रही।

(९) यह व्यवस्था की गई कि नियंत्रण बोर्ड के दो निम्न सदस्यों के लिये प्रिवी कौंसिलर होना आवश्यक नहीं।

(१०) इस अधिनियम के द्वारा कम्पनी के आर्थिक ढाँचे को नियमित किया गया। कुछ विशेष धनराशि को कम्पनी की वार्षिक बचत के रूप में अनुमानित कर लिया गया। उस वार्षिक बचत में से कम्पनी के ऋणों के भुगतान के लिये पाँच लाख पौण्ड की व्यवस्था की गई। इतनी ही धनराशि का प्रयोग हिस्सेदारों को लाभाँश की ८% से १०% की वृद्धि के रूप में किया जाना था।

(११) कम्पनी के अधिकारपत्र को २० वर्षों के लिये पुनः चालू कर दिया गया। निजी व्यापार के लिये तीन हज़ार टन की अनुमति दी गई, किन्तु इस अधिकार का कभी भी प्रयोग न किया गया।

१८१३ का चार्टर ऐक्ट (Charter Act of 1813)—१७९३ के अधिकार-पत्र अधिनियम के द्वारा कम्पनी के अधिकार-पत्र को २० वर्षों के लिये पुनः चालू कर दिया गया। जब इस अधिकार-पत्र को पुनः चालू करने का समय आया, तब बहुत आन्दोलन हुआ। लोगों ने कम्पनी के व्यापारिक सर्वाधिकार को समाप्त करने की माँग की। उन्होंने सर्वाधिकार के हटाने के सम्बन्ध में चार लाभों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। (१) ब्रिटिश व्यापार तथा उद्योग का विस्तार, (२) यूरोप तथा अमेरिका के दूसरे देशों को भारतीय व्यापार के प्रवाह को रोकना, (३) व्यापार की लागत में, विशेष रूप से यातायात तथा गोदामों के व्यय में कमी, तथा (४) भारतीय कच्चे आयात पदार्थों को इंग्लैंड में सस्ता करना। वारेन हेस्टिंग्ज, मैलकम तथा मुनरो ने कम्पनी के सर्वाधिकार की रक्षा की। अन्त में १८१३ का चार्टर ऐक्ट बहुत से परिवर्त्तनों तथा समझौतों के पश्चात् स्वीकृत हो गया।

(१) १८१३ के अधिनियम ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार-पत्र को बीस वर्षों के लिये और बढ़ा दिया। कम्पनी को भारत के साथ व्यापार करने के सर्वाधिकार को छीन लिया गया, किन्तु उसे चीन के साथ २० वर्षों के लिये व्यापार सम्बन्धी सर्वाधिकार प्राप्त हो गये। भारतीय व्यापार सब ब्रिटिश व्यापारियों के लिये खोल दिया गया, यद्यपि उन्हें कुछ विशेष सीमाओं के अधीन कार्य करना पड़ता था। डायरेक्टरों को उन अंग्रेजों को अनुमति-पत्र देने पड़े, जिन्होंने भारत के साथ व्यापार के सम्बन्ध में अनुमति के लिये प्रार्थना-पत्र दिये थे। उन व्यक्तियों को भी अनुमति-पत्र दिये जाने की व्यवस्था थी जो भारतीयों को शिक्षित करने तथा उनके सुधार के लिये अथवा अन्य वैध कार्यों के लिये भारत में आना चाहते थे। यदि डायरैक्टर अनुमति-पत्र देने से इनकार करते थे, तब नियंत्रण बोर्ड से इस सम्बन्ध में अपील की जा सकती थी। जो व्यक्ति बिना अनुमति-पत्र के भारत जाना

चाहते थे, उन्हें अनधिकृत प्रदेश में प्रवेश करने वाला समझा जाता था तथा वे दण्ड पाने के अधिकारी समझे जाते थे।

(२) इस अधिनियम में भारतीय राजस्व के प्रयोग के लिये कुछ नियम बनाये गये थे। कम्पनी के राजस्व पर सबसे प्रथम उत्तरदायित्व फौज को रखना था। सूद का देना दूसरी बड़ी मद थी तथा नागरिक तथा व्यापारिक कर्मचारियों को रखना तीसरी मद थी। कम्पनी के ऋण को घटाने के सम्बन्ध में भी इसमें व्यवस्था की गई थी। कम्पनी से यह आशा की जाती थी कि वह अपने व्यापारिक तथा प्रादेशिक खातों को अलग-अलग रखे।

(३) इस बात की व्यवस्था की गई कि कम्पनी के राजस्व में से २९ सहस्र से अधिक सैनिक न रखे जाएँ।

(४) कम्पनी को अधिकार दिया गया कि वह भारतीय फौजों के लिये युद्ध के कानून तथा नियम बनाये। उसे फौजी अदालतें करने का भी अधिकार दिया गया।

(५) नियंत्रण बोर्ड की व्यवस्था तथा निर्देशन-सम्बन्धी अधिकार न केवल निश्चित कर दिये गये अपितु अत्यधिक सीमा तक विस्तृत कर दिये गये।

(६) भारत में स्थानीय सरकारों को व्यक्तियों पर कर लगाने तथा कर न देने वालों को दण्डित करने का अधिकार दिया गया। इन अधिकारों का प्रयोग स्थानीय सरकारें सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश में कर सकती थीं।

(७) इस अधिनियम के द्वारा भारतीय लोगों के लिये धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था की गई। इसके द्वारा एक लाख रुपये की धनराशि अलग रखने का प्रबन्ध किया गया, जिससे भारत के लोगों में साहित्य का पुनरुत्थान तथा उन्नति हो सके तथा शिक्षित लोगों को प्रोत्साहन मिल सके। इसके साथ ही भारत में ब्रिटिश उपनिवेशों के निवासियों में विज्ञान के ज्ञान का परिचय तथा विकास किया जा सके।

(८) इस अधिनियम के द्वारा कम्पनी के नागरिक तथा फौजी कर्मचारियों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गई। हेलीबरी के कालेज तथा अदिसकोम्ब के फौजी स्कूलों को चालू रखने तथा नियन्त्रण बोर्ड के अधिकार में रखने का निश्चय किया गया। कलकत्ता तथा मद्रास के कालेजों को भी नियन्त्रण बोर्ड के नियमों के अनुसार चलाने की व्यवस्था की गई।

(९) इस अधिनियम के द्वारा बिशप तथा तीन छोटे पादरियों की नियुक्ति का प्रबन्ध किया गया, जिनका कार्य भारत में यूरोपीय लोगों के हितों का ध्यान करना था।

(१०) इस अधिनियम के द्वारा उन मुकदमों के लिये न्याय-व्यवस्था का विशेष प्रबन्ध किया गया, जिनमें ब्रिटिश प्रजाजन तथा भारतीय व्यक्ति प्रभावित हों। चोरी, जालसाज़ी तथा सिक्कों के अपराधों के लिये विशेष जुर्मानों की व्यवस्था की गई।

१८३३ का अधिकार-पत्र (Charter Act of 1833)—१८३३ में कम्पनी का अधिकार-पत्र पुनः चालू किया गया। अधिकार-पत्र के वस्तुतः चालू किये जाने से पूर्व बहुत-सा वाद-विवाद चल रहा था। अंग्रेज कम्पनी के सर्वाधिकार को जारी रखने के विरोधी थे तथा परिणामस्वरूप नये अधिकार-पत्र की एक धारा यह थी कि कम्पनी का सर्वाधिकार समाप्त कर दिया जाय। यद्यपि कम्पनी के व्यापारिक कार्य तो समाप्त हो गये तथापि उसके राजनैतिक कार्यों को अभी जारी रखा जाना था। भारत सरकार को कम्पनी

के ऋण चुकाने थे। कम्पनी के शेयर होल्डरों को आगामी ४० वर्षों में भारतीय राजस्व में प्रतिवर्ष १०½% के लाभाँश का आश्वासन दिया गया। कम्पनी की भारतीय अधिकृत वस्तियों को ब्रिटिश सरकार के विश्वास के रूप में कम्पनी द्वारा अधिकृत ही घोषित कर दिया गया।

(२) इस अधिकार-पत्र के अधिनियम के द्वारा डायरैक्टरों का संरक्षण सीमित कर दिया गया। ऐसा प्रबन्ध किया गया कि हेलीबरी कालेज में मनोनीत स्थानों की संख्या दुगुनी कर दी जाय। मनोनीत व्यक्तियों को कालेज में प्रवेश मिलता था तथा उनमें सबसे अच्छे परिणाम वाले प्रार्थी रिक्त स्थानों की पूर्त्ति के लिये नियुक्त किये जाते थे। इस धारा में डायरैक्टरों की इच्छानुसार सुधार किया गया तथा यह १८५३ तक लागू रही।

(३) नियन्त्रण बोर्ड का प्रधान भारतीय मामलों का मन्त्री बना। उसके सहयोगी वास्तविकता में तथा नाम में अप्रकट हो गये। मंत्री के आधीन दो सहायक आयुक्त नियुक्त किये जाने थे, जिन्हें सहयोगी न होकर सहायक रूप में ही कार्य करना था। मन्त्री के सचिव का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता था क्योंकि उसे सदन में उपस्थित होना पड़ता था तथा जब मंत्री हाऊस आफ लार्ड्स में बैठता था तो वह अपने प्रमुख के स्थान पर बोलता था।

(४) इस अधिकार-पत्र के अधिनियम के द्वारा भारत में अंग्रेजी कम्पनी के प्रशासन कार्य का केन्द्रीकरण हो गया। बंगाल का गवर्नर-जनरल भारत का गवर्नर-जनरल हो गया। कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को भारत में कम्पनी के नागरिक तथा फौजी कार्यों का नियन्त्रण, व्यवस्था तथा निर्देशन-सम्बन्धी अधिकार प्रदान किया गया। बम्बई, मद्रास, बंगाल तथा अन्य अधिकृत प्रदेशों को कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल के नियन्त्रण में रखा गया। राजस्व केन्द्रीय सरकार के आदेश से प्राप्त किए जाते थे। केन्द्रीय सरकार का व्यय पर पूर्ण नियन्त्रण होता था। जहाँ तक प्रैज़िडेंसियों का सम्बन्ध था उन्हें उसी धनराशि को व्यय करने की अनुमति थी, जिसके सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार ने उन्हें स्वीकृति दी हो। पेन्शन वाले किसी नये पद के लिये केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति आवश्यक थी। कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल मद्रास तथा बम्बई के किसी सरकारी कर्मचारी को नौकरी से बर्खास्त सकता था, यदि उसने उसकी आज्ञा मानने के इन्कार किया हो। यदि कोई प्रान्तीय सरकार केन्द्रीय सरकार की आज्ञा मानने में असफल हो जाए तो उसकी अवहेलना की जा सकती थी। जब गवर्नर-जनरल किसी प्रेज़िडेंसी में जाता था, तो वह गवर्नर के अधिकारों को अपने हाथ में ले सकता था तथा स्थानीय कौंसिल के अधिकार के उल्लंघन करने के अधिकार का प्रयोग कर सकता था।

(५) इस ऐक्ट के द्वारा भारत का कानूनी केन्द्रीकरण किया गया। पहले प्रेज़िडेंसियाँ अपने-अपने कानून बना सकती थीं तथा परिणामस्वरूप देश के कानूनों के सम्बन्ध में बहुत सी गड़बड़ थी। सम्पूर्ण देश के लिये कानून की समान पद्धति की स्थापना के लिये बम्बई तथा मद्रास की प्रेज़िडेंसियों को उनके कानून-निर्माण-सम्बन्धी अधिकारों से वंचित कर दिया गया। भविष्य में केवल कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को ही कानून बनाने का अधिकार दिया गया। वह सब विषयों पर कानून बना सकता था। उन कानूनों के ब्रिटिश भारत में सभी वस्तुओं तथा सभी व्यक्तियों पर लागू होने की व्यवस्था की गई। देश के

सभी न्यायालयों को उन कानूनों के पालन करने के सम्बन्ध में आवश्यक कार्रवाई करनी थी और कोई भी उन्हें लागू करने से इन्कार नहीं कर सकता था। कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह युद्ध-सम्बन्धी धाराएँ तथा फौजी अनुशासन-सम्बन्धी संहिता बनाए तथा न्याय की व्यवस्था का उचित प्रबन्ध करे। कानून बनाने के अधिकार में भारत में लागू होने वाले सभी कानूनों को बनाने, लागू करने, संशोधन तथा परिवर्तित करने के अधिकार अन्तर्गत थे। तथापि कानून बनाने के अधिकारों के सम्बन्ध में कुछ सीमाएँ थीं। कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल कम्पनी के विधान में परिवर्तन न कर सकता था तथा न ही अधिकार-पत्र में संशोधन कर सकता था। विद्रोह अधिनियम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। सम्राट् के असाधारण अधिकार में परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। इंग्लैंड के कानूनों के विरुद्ध कानून स्वीकार नहीं किए जा सकते थे। भारत सरकार के द्वारा स्वीकृत कानून ही अधिनियम कहलाते थे। १८३३ से पूर्व उन्हें नियम कहा जाता था।

(६) चार्टर ऐक्ट के द्वारा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में एक नये सदस्य की वृद्धि की गई तथा वह कानून सदस्य के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उसका कार्य केवल कानून-सम्बन्धी था। वह गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी की बैठकों में विशेष निमन्त्रण से उपस्थित होता था। उसे मताधिकार प्रदान नहीं किया गया। कानून सदस्य की उपस्थिति अथवा सहमति बिल के विचार अथवा उसकी स्वीकृति के लिये आवश्यक न थी। कार्यकारिणी की गणपूर्त्ति कानून-सम्बन्धी कार्यों के लिये तीन तथा प्रशासनिक कार्य के लिये दो निश्चित की गई।

(७) बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों की कौंसिलों के सदस्यों की संख्या घटा कर दो कर दी गई।

(८) बम्बई तथा मद्रास को मुख्य सेनापति के आधीन अपनी अलग सेनाएँ रखनी थीं, किन्तु उनका नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार के आधीन ही रखने का निश्चय किया गया।

(९) अधिनियम के द्वारा भारत के कानूनों का वर्गीकरण किया गया। इस कार्य के लिये कानून आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की कई। यह बात स्वीकार की गई कि देश में चल रहे कानूनों में बहुत-सी गड़बड़ तथा अनिश्चय है। प्रत्येक प्रेज़िडैंसी के कानून अलग-अलग हैं। जो कानून एक स्थान पर वैध था, वही दूसरे स्थान पर अवैध था। जो वस्तु एक स्थान पर सामान्य अपराध समझी जाती थी वही दूसरे स्थान पर गम्भीर समझी जाती थी। कानून आयोग के शब्दों में, "ब्रिटिश नियम तीन अलग-अलग धारा सभाओं के द्वारा बनाए जाने के कारण आशानुसार अलग-अलग धाराएँ थीं। इस प्रकार बंगाल में गम्भीर जालसाज़ी करने वालों को उन लोगों की अपेक्षा दुगुना कारावास भोगना पड़ता था, जो झूठी गवाही के अपराधी हों। दूसरी ओर बम्बई प्रेज़िडैंसी में झूठी गवाही का दण्ड मद्रास प्रेज़िडैंसी के इसी अपराध के दण्ड की अपेक्षा दुगुना था। इसी प्रकार के बहुत से अन्य स्पष्ट भेद तथा गड़बड़ दृष्टिगोचर होते थे। इसका परिणाम यह होता था कि अपराधों के लिये कानून की व्यवस्था में गड़बड़ फैली हुई थी। इस कानून सम्बन्धी गड़बड़ तथा अनिश्चय के सम्बन्ध में कलकत्ता के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कहना

था कि कोई भी व्यक्ति किसी विवादास्पद विषय के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सम्मति अथवा निर्णय नहीं दे सकता, चाहे वह कितना ही ठीक क्यों न हो, फिर भी कुछ लोग उसमें सन्देह तथा भ्रम किए बिना नहीं रहेंगे, क्योंकि बहुत कम संख्या में कर्मचारियों से यह आशा की जा सकती है कि वे आधुनिक भारतीय पद्धति के सम्बन्ध में इतना विस्तृत तथा स्पष्ट ज्ञान रखते हों कि वह इसके प्रत्येक भाग के शेष भागों पर होने वाले प्रभाव को अच्छी प्रकार से समझ सकें।

संसद् के कुछ अंग्रेजी अधिनियम ऐसे हैं, जिन्हें विशेष रूप से भारत के लिये लागू किया गया है। कुछ ऐसे अधिनियम हैं, जिनके सम्बन्ध में यह सन्देह है कि वे पूर्ण रूप से भारत पर लागू किए जा सकते हैं अथवा नहीं। अंग्रेजी सामान्य कानून तथा विधान ऐसा है जिसको व्यवहार रूप में कार्यान्वित करना अधिक अस्पष्ट तथा भ्रमपूर्ण है। मुस्लिम कानून तथा उसका प्रयोग; हिन्दू कानून, उसका प्रयोग तथा धर्म-पुस्तक, अधिकार-पत्र तथा सरकार के पेटेंट एकस्व-पत्र, सरकार के वे नियम, जिन्हें संसद् के अधिनियमों के द्वारा विशेष रूप से लागू किया गया है तथा कुछ ऐसे कानून भी हैं, जिन्हें सरकार के सामान्य अधिकार के द्वारा संसद् ने कम्पनी के लिये प्रतिष्ठित किया है तथा कुछ ऐसे कानून हैं जो पुरानी देशी सरकारों के उत्तराधिकार के रूप में अपने-अपने अधिकारों का प्रयोग करते हैं; कुछ नियम ऐसे हैं, जिनकी रजिस्ट्री उच्चतम न्यायालय में होनी चाहिए। कुछ के सम्बन्ध में ऐसा आवश्यक नहीं। कुछ का प्रभाव सामान्य रूप से सम्पूर्ण भारत में होता है। कुछ एक अथवा दो प्रेजिडेंसियों के लिये विशेष रूप से बनाये गये हैं। कैम्पबेल के अनुसार, "हमारे फौजदारी कानून में भी अत्यधिक गड़बड़ है।" यह सब समयों तथा ऋतुओं के लिये संयुक्त, एक ऐसे आधार पर आश्रित है, जो लगभग अदृश्य है। इसका सामान्य परिणाम यह है कि सब बुरे से बुरे तथा सबसे सामान्य अपराधों का सन्तोषजनक रूप से विशेष अधिनियमों के द्वारा नियन्त्रण किया जाता है किन्तु फुटकर अपराधों के सम्बन्ध में परिभाषा, स्पष्टवादिता तथा समानता के सम्बन्ध में बहुत-सी न्यूनता रहती है...हम इनमें सहन करने के योग्य पद्धति के मुख्य चिह्न पाते हैं, किन्तु इनकी पुनर्योजना, वर्गीकरण तथा संहिताकरण की आवश्यकता है।" उस समय की स्थानीय पद्धति के सम्बन्ध में एक अन्य लेखक ने इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं, "उस समय तीनों प्रेजिडेंसियों में से प्रत्येक के अधिकार कानून बनाने की दृष्टि से समान थे। यद्यपि गवर्नर-जनरल आधीन सरकारों के बने हुए कानूनों के सम्बन्ध में विशेष वीटो का अधिकार रखता था, तथापि वास्तव में इस अधिकार का बहुत कम प्रयोग किया गया था। तीन प्रकार के नियमों का क्रम अस्तित्व में आया था; इन कानूनों को शीघ्रता में बनाया गया कहा जाता था क्योंकि उनके कानून बनाने वाले लोग अनुभवी नहीं थे तथा उनका अनुभव तथा बुद्धि सीमित थी। कई स्थानों पर तो विभिन्न अवस्थाओं के कारण परस्पर-विरोधी कानून हो जाते थे। कुछ अन्य कानूनों की अवस्था में कुछ सीमा तक विरोध रहता था तथा सभी अवस्थाओं में वे कम्पनी की अदालतों में लागू होते थे, क्योंकि वे सम्राट् के दरबार में प्रस्तुत किये गये थे तथा उसके द्वारा ही रजिस्टर्ड हुए थे। (ब्रिटिश साम्राज्य का कैम्ब्रिज इतिहास, भाग पाँचवाँ, पृष्ठ ५)

घोषणा-पत्र वाले अधिनियम की ५३वीं धारा में इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता

है—"और जैसे कि कहा गया है कि ऐसे कानून, जो उक्त इलाकों के निवासियों पर समान रूप से लागू होने के योग्य हों, जिनमें जनता के अधिकारों, भावनाओं तथा विशेष रिवाजों का विशेष ध्यान रखा गया हो, बनाये जाने चाहिएँ, तथा उन्हीं इलाकों में प्रचलित सभी कानूनों तथा प्रथाओं का निश्चय किया जाना चाहिए तथा उन्हें इकट्ठा कर दिया जाना चाहिए और आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी किया जाना चाहिए। इसलिए इसे कानून का रूप दे दिया जाए"······तथा उक्त आयोग पूर्ण रूप से क्षेत्र-सम्बन्धी अधिकारों तथा विद्यमान न्यायालयों तथा पुलिस सेवाओं के नियमों तथा न्याय-सम्बन्धी पद्धतियों की पूर्ण रूप से जाँच करेगा तथा इस बात का भी ध्यान रखेगा कि उन कानूनों का स्वभाव तथा व्यवहार पक्ष क्या है, चाहे वे कानून दीवानी हों अथवा फौजदारी, लिखित हों अथवा परम्परागत, उक्त इलाकों में से किन्हीं भागों में प्रचलित हों तथा जो उन इलाकों के निवासियों पर लागू होते हों, चाहे वे यूरोपीय हों अथवा अन्य; तथा उक्त आयोग समय-समय पर इस बात का विवरण प्रस्तुत करता रहेगा, जिसमें उनकी उक्त पूछताछ अथवा जाँच का परिणाम अंकित होगा। समय-समय पर वह ऐसे परिवर्तनों का सुझाव देगा, जो उनकी सम्मति में अनधिकृत रूप से उक्त न्यायालयों तथा पुलिस कार्यालयों में न्याय-सम्बन्धी कार्रवाई तथा कानून की शैली में लागू किये जाएँ। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की जाति, धर्म, विचार तथा स्वभाव की विभिन्नताओं तथा उक्त प्रदेशों के भिन्न-भिन्न भागों का ध्यान रखा जाएगा।"

(१०) अधिनियम की ८७ वीं धारा में यह घोषणा की गई थी कि भारत में कम्पनी के किसी भारतीय प्रजाजन को कम्पनी के आधीन किसी पद ग्रहण करने से उसके धर्म, जन्म-स्थान, निवास तथा वर्ण-भेद के कारण अयोग्य नहीं ठहराया जाएगा। यह घोषणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। यह सत्य है कि इसका तात्कालिक प्रभाव बहुत कम हुआ, किन्तु आगे जाकर इसका बहुत प्रभाव होने वाला था।

(११) यूरोपीय लोगों को भारत आने तथा यहाँ बसने की अनुमति दे दी गई, किन्तु उन्हें भारतीय तट पर पहुँचते ही अपने आपको रजिस्टर कराना आवश्यक था। कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को इस बात का अधिकार था कि वह यूरोपियनों के हाथों भारतीयों के व्यक्तित्व, धर्म तथा विचार के कारण होने वाले अपमान अथवा संघर्ष से उनकी रक्षा करे।

(१२) भारत में ईसाइयों के लाभ के लिये बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता के बिशपों की नियुक्ति किये जाने की भी इस अधिनियम के द्वारा व्यवस्था की गई।

(१३) भारत सरकार को गुलामी से हटाने तथा दासता से मुक्ति दिलाने और सुधारने के लिये कार्रवाई करने की भी व्यवस्था की गई।

(१४) अधिनियम के द्वारा बंगाल प्रैजिडैंसी को दो प्रैजिडैन्सियों में बाँटने का सुझाव दिया गया—आगरा प्रैजिडैंसी तथा बंगाल प्रैजिडैन्सी, किन्तु यह धारा १८३५ के अधिनियम के द्वारा स्थगित कर दी गई, जिसके द्वारा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लिये एक उप-राज्यपाल की नियुक्ति का अधिकार दिया गया। भारत के गवर्नर-जनरल को वहीं बंगाल के गवर्नर के रूप में कार्य करते रहने का निश्चय किया गया।

आलोचकों का कहना है कि १८३३ का ऐक्ट हाऊस आफ कामन्स के खाली बैंचों

तथा उदासीन जनता के सम्मुख स्वीकृत हुआ, किन्तु अक्तूबर १८३३ के कलकत्ता गजट ने चार्टर के नवीनीकरण का स्वागत "सामान्य दीपमाला तथा आतिशबाजी छोड़ने के रूप में" किया, तथा इससे वहाँ की जनता को अत्यन्त सन्तोष हुआ, जो इस प्रकार के तमाशों की आदी थी। (भारत में अंग्रेजी राज्य, लेखक थामसन तथा गराट, पृ० ३०२)

१८५३ का अधिकार-पत्र अधिनियम (Charter Act of 1853)—कम्पनी का आज्ञा पत्र पुनः १८५३ में पुनः चालू किया गया। नये अधिनियम के अनुसार कानून सदस्य को गवर्नर-जनरल की अन्तरंग कौंसिल का पूर्ण सदस्य बना दिया गया। गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह अपनी कौंसिल का उप-प्रधान चुन सके। विभिन्न कानूनों तथा अधिनियमों की जो चर्चा आरम्भ हो चुकी थी, उसे जनता के लिये सार्वजनिक रूप दे दिया गया। धारा सभा के विभिन्न कानूनों को परीक्षा के लिये प्रवर समितियों को सौंप दिया गया। व्यवस्थापिका-सम्बन्धी सब सुझावों के लिये गवर्नर-जनरल की स्वीकृति आवश्यक कर दी गई।

(२) प्रान्तों को केन्द्रीय व्यवस्थापिका कौंसिल में एक प्रतिनिधि भेजने की अनुमति प्राप्त हो गई। किसी भी प्रान्त के लिये किसी सुझाव पर तब तक विचार नहीं हो सकता था जब तक कि उस प्रान्त का प्रतिनिधि उपस्थित न हो। कलकत्ता के उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश अपने पद के कारण कौंसिल के सदस्य होते थे तथा एक अन्य सदस्य की नियुक्ति भी होनी थी। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह दो अन्य नागरिक सेवाओं के व्यक्तियों को कौंसिल के सदस्य के रूप में नियुक्त कर सके, किन्तु इस अधिकार का कभी प्रयोग नहीं किया गया। व्यवस्थापिका परिषद् के रूप में कौंसिल के १२ सदस्य होते थे। वे इस प्रकार थे—(१) गवर्नर-जनरल, (२) मुख्य सेनापति, (३) कौंसिल के चार सदस्य, (४) व्यवस्था-सम्बन्धी छः सदस्य। इन छः सदस्यों में से चार तो प्रान्तों के प्रतिनिधि थे तथा शेष दो मुख्य न्यायाधीश तथा अवर न्यायाधीश थे। प्रान्तों के प्रतिनिधियों को वार्षिक ५,००० पौंड की राशि मिलती थी। कौंसिल में कम से कम एक ऐसे सदस्य का उपस्थित होना अनिवार्य था जो स्थानीय ज्ञान रखता हो। इस प्रकार कौंसिल में अंग्रेजी प्रभाव बहुत बढ़ गया।

(३) इस बात के लिये निश्चय किया गया कि बंगाल प्रैज़िडैन्सी के लिए एक अलग गवर्नर की नियुक्ति हो तथा जब तक ऐसा संभव न हो, तब तक कौंसिल-स्थित भारतीय गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह प्रान्त के लेफ्टीनेंट-गवर्नर के रूप में किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति कर सके जो दस वर्षों की नियमित सेवा का अनुभव रखता हो। उक्त दोनों सुझावों में से लेफ्टीनेंट-गवर्नर के पद की नियुक्ति इसलिए कर दी गई, क्योंकि दोनों में से यह सस्ती थी।

(४) डायरैक्टरों के बोर्ड को अधिकार दिया गया कि वह नई प्रैज़िडैंसी का संगठन कर सके। उसे यह भी अधिकार दिया गया कि वह समय-समय पर विभिन्न प्रान्तों की सीमाओं में परिवर्तन कर सके तथा उन्हें नियमबद्ध कर सके। पंजाब को एक उप-राज्यपाल वाले प्रान्त बनाने के सम्बन्ध में इस अधिकार का प्रयोग किया गया।

(५) कोर्ट आफ डायरैक्टर्स से नौकरियाँ देने का काम ले लिया गया। भविष्य में, रिक्त स्थानों की पूर्ति प्रतियोगिता परीक्षाओं से करने का निश्चय किया गया।

१८५४ में एक समिति इस कार्य के लिये बनाई गई जिसके प्रधान लार्ड मैकाले थे।

(६) डायरैक्टरों की संख्या १८ कर दी गई तथा छः को मनोनीत करने का अधिकार सम्राट् को दिया गया।

(७) इस अधिनियम के द्वारा सम्राट् को अधिकार दिया गया कि वे इंग्लैंड में एक कानून आयोग की नियुक्ति कर दें। इस कानून आयोग का कार्य भारतीय कानून आयोग के द्वारा छोड़े हुए अधिनियमों के मसविदे तथा रिपोर्टों की जाँच करना तथा उन्हें कार्यान्वित करना था। अंग्रेजी कानून आयोग की नियुक्ति पर क्रोध प्रकट किया गया। इसके द्वारा ब्रिटिश सरकार को भारतीय व्यवस्थापिका के अधिनियमों के विस्तार कार्य में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रदान किया गया था तथा इससे भारतीय व्यवस्थापिका परिषद् केवल एक रजिस्ट्रेशन कार्यालय बनकर रह गई थी। सर चार्ल्स वुड को कौंसिल को प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रता की सीमा के सम्बन्ध में लार्ड डलहौज़ी से झगड़ना पड़ा।

(८) १८५३ के चार्टर अधिनियम के द्वारा कम्पनी को पुनः अधिकार प्राप्त हो गये तथा उसे अनुमति प्राप्त हो गई कि वह भारतीय इलाकों पर सम्राज्ञी तथा उसके उत्तराधिकारियों की ओर से तब तक अधिकार रख सके, जब तक संसद् की ओर से कोई और व्यवस्था न कर दी जाए।

आलोचना (Criticism)--आलोचकों का कथन है कि १८५३ का अधिनियम भारत में संसदीय पद्धति के आरम्भ को प्रकट करता है। कावेल के अनुसार, चर्चा लिखित के स्थान पर मौखिक रही। बिलों को किसी एक सदस्य के स्थान पर प्रवर समिति के सुपुर्द किया गया तथा व्यवस्थापिका-कार्रवाई गुप्त रूप में होने के स्थान पर सार्वजनिक रूप में हुई।

१८५३ के अधिनियम का भारी दोष यह था कि व्यवस्थापिका परिषद् के कार्य में किसी भारतीय तत्त्व को सम्बद्ध नहीं किया गया। उस परिषद् को बंगाल के बाहर की स्थानीय परिस्थितियों तथा दशाओं का ज्ञान पर्याप्त नहीं था, जिसके अनुसार अन्य प्रान्तों के लिये कानून बनाये जाएँ। "विद्रोह की भयानक घटनाओं ने लोगों को उन खतरों के विषय में सावधान कर दिया, जो देश की व्यवस्थापिका सभाओं में भारतीयों के सहयोग न लेने के कारण प्रकट हो रहे थे।" सर सैय्यद अहमद के कथनानुसार, इस पद्धति के कारण भारतीय लोगों को किसी अलोकप्रिय कानून के सम्बन्ध में विरोध प्रकट करने के अवसर से भी वञ्चित रखा गया। सरकार को अपने उद्देश्यों तथा भावनाओं को स्पष्ट करने का कोई भी अवसर प्राप्त नहीं हुआ, जो परिणामस्वरूप ग़लत समझे गये। १८६० के अपने विवरण में सर वार्टल फ्रेरे ने व्यवस्थापिका परिषदों में भारतीयों को लेने की आवश्यकता का समर्थन किया, जिससे विद्रोह जैसे प्रयोगों के बिना भी असंख्य लोगों के लिये कानून आदि बनाने का कार्य जारी रखा जाए तथा उनकी प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में अपरिचित रहा जाए चाहे वे कानून अनुकूल हों अथवा नहीं।

अन्य बाधाएँ भी थीं, जिन के कारण भारतीय सरकार के निर्माण में परिवर्तन का खतरा प्रस्तुत था। १८५३ के अधिनियम के निर्माताओं की भावनाओं के विरुद्ध विधान परिषद् ने आँग्ल-भारतीय हाऊस ऑफ कामंस के रूप में प्रगति कर ली थी तथा व्यवस्थापिका परिषद् और उसके अधिनियमों के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर

दिया था यहाँ तक कि परिषद् उन्हें गोपनीय कागजों को भी प्रस्तुत करने को विवश करती थी। उसने भारत मंत्री को वैधानिक योजनाएँ देने से भी इनकार कर दिया जब तक कि परिषद् उनपर विचार न कर ले। साथ ही भारत मंत्री अथवा डायरैक्टरों की समिति (१८५८ से ५९) के द्वारा अभिलषित किसी भी कानून को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इसके विपरीत उसने स्वतंत्र कानून आदि बनाने की अपने अधिकार की पुष्टि की।

व्यवस्थापिका परिषद् के द्वारा आरंभ से ही प्रदर्शित स्वतन्त्रता की भावना ने उसके जन्मदाता, सर चार्ल्स वुड, जो कि नियन्त्रण समिति के प्रधान थे, को बाधा पहुँचाई। उसने कहा, "मैं इसे, जैसा कि कुछ नवयुवक भारतीय समझते हैं, भारत में वैधानिक संसद् का प्रारंभ नहीं मानता।" डलहौज़ी ने स्पष्ट कर दिया कि उसने व्यवस्थापिका परिषद् को इससे अधिक कोई महत्त्वपूर्ण अधिकार प्रदान नहीं किया, जैसे कि कानून के द्वारा स्पष्ट रूप से इस प्रकार का निर्देश किया है। यह बात ठीक ही कही गई है कि "वुड न तो प्रथम तथा न ही अन्तिम ऐसा व्यवस्थापक था जो अपनी भावनाओं के अनुसार बिल के परिणामों को सीमित करने में असफल हुआ हो।"

१८५८ का अधिनियम (Act of 1858)—अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन को जारी रखने के सम्बन्ध में इंग्लैंड में प्रबल आन्दोलन था। यह कहा गया कि एक व्यापारी कम्पनी को जिसका मुख्य उद्देश्य लाभ प्राप्त करना था, भारत जैसे महाद्वीप की व्यवस्था का कार्य नहीं सौंपा जा सकता। विद्रोह के फूटने तथा इसके दमन ने उन लोगों के हाथ दृढ़ कर दिये, जो कम्पनी के शासन को उड़ाना चाहते थे। ब्रिटेन की सरकार ने कम्पनी को हटाने का निश्चय कर दिया। स्वाभाविक रूप से कम्पनी ने इसका विरोध किया। उसने विद्रोह के कारणों की विस्तृत जाँच के सम्बन्ध में चुनौती दी तथा अपना यह मत प्रकट किया कि ब्रिटिश सरकार भी कम्पनी की भूलों तथा असावधानियों के लिये उत्तरदायी है क्योंकि कम्पनी के मामलों में ब्रिटिश सरकार का निश्चित मत था। कम्पनी ने भारत में अपनी सफलताओं पर गर्व प्रकट किया। तथापि लार्ड पामर्स्टन ने संसद् में भारत की अच्छी सरकार के सम्बन्ध में अपना बिल प्रस्तुत किया। बिल को प्रस्तुत करते हुए उसने इस प्रकार घोषणा की, "हमारी राजनैतिक पद्धति का सिद्धान्त है कि सब प्रकार के प्रशासनिक कार्य मंत्रियों तथा संसद् के प्रति उत्तरदायित्व से युक्त होने चाहिएँ। किन्तु इस विषय में भारत सरकार के मुख्य कार्य ऐसी संस्था के साथ सम्बद्ध हैं, जो संसद् के प्रति उत्तरदायी नहीं है। न ही उसे सम्राट् ने नियुक्त किया है। किन्तु जिसका निर्वाचन उन लोगों ने किया है जिनका भारत से इससे अधिक कोई सम्बन्ध नहीं है कि वे भारतीय माल पर कुछ अधिकार रखते हैं।" विरोध होने पर भी संसद् ने १८५८ में यह अधिनियम स्वीकृत कर दिया।

अधिनियम के उपबन्ध (Provisions of the Act)—(१) १८५८ के अधिनियम के द्वारा इस बात की घोषणा की गई कि इस समय से भारत का शासन सम्राज्ञी की ओर से तथा उसके नाम से होगा, तथा सम्राज्ञी को सब प्रदेशों तथा कम्पनी का अधिकार प्रदान कर दिया गया। तथापि भारत सरकार का कार्य सम्राज्ञी की ओर से वायसराय को चलाना था। कम्पनी की फौजें तथा नौ-सेनाएँ सरकार को हस्तांतरित कर दी गईं।

(२) नियंत्रण बोर्ड तथा डायरक्टरों की समिति तोड़ दी गई तथा उनके सब अधिकार भारत मंत्री तथा उसकी भारतीय परिषद् को दे दिए गये। भारत मंत्री को भारत सरकार के समस्त कार्यों की व्यवस्था, नियंत्रण तथा निर्देशन का कार्य सौंपा गया। उसे संसद् में सदस्य रूप से सम्मिलित होने का अधिकार दिया गया तथा उसकी सहायता के लिये संसदीय सहायक सचिव की नियुक्ति होती थी। भारत मंत्री मंत्रिमण्डल का सदस्य होता था, किन्तु उसके वेतन तथा भत्ते भारत के राजस्व में से प्राप्त किए जाते थे।

(३) भारत मंत्री की भारतीय कौंसिल में १५ सदस्यों की व्यवस्था की गई। इसमें सात का निर्वाचन तो डायरैक्टरों की समिति द्वारा होना था तथा शेष आठ सदस्यों की नियुक्ति सम्राट् द्वारा होनी थी। कौंसिल के आधे से अधिक सदस्य वे व्यक्ति लिये जाने थे जो भारत में दस अथवा दस से अधिक वर्ष रहे हों तथा उन्हें नियुक्ति के समय भारत छोड़े हुए दस वर्ष से अधिक न हुए हों। सदस्य अपने अच्छे व्यवहार-पर्यन्त ही कार्य कर सकते थे। प्रत्येक सदस्य को भारत के राजस्व खाते में से १२०० पौंड वार्षिक पारिश्रमिक लेने की व्यवस्था की गई।

(४) राज्य सचिव (Secretary of State) को भारतीय परिषद् की बैठकों का सभापतित्व करना था। उसे न केवल एक सम्मति देने का ही अधिकार दिया गया, अपितु एक निर्णयात्मक मत देने का भी अधिकार दिया गया। परिषद् की बैठक सप्ताह में दो बार करने की व्यवस्था की गई थी। भारतीय परिषद् के सदस्य प्रशासनिक सुविधा के लिये विभिन्न समितियों में विभाजित होकर कार्य कर सकते थे। सामान्य रूप से भारत मन्त्री को भारतीय परिषद् के बहुमत वाले निर्णयों के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार दिया गया था, किन्तु अनुदानों के सम्बन्ध में अथवा भारतीय राजस्व के विनियोग के सम्बन्ध में राज्य सचिव को अपनी परिषद् के बहुमत के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार नहीं दिया गया था। किसी विशेष बैठक में उपस्थित सदस्यों की बहु-सम्मति से संरक्षण के बँटवारे तथा विभाजन, तथा भारत सरकार की ओर से ठेके, बिक्री अथवा खरीद आदि का कार्य किया जाता था। भारत सरकार की सम्पत्ति से सम्बद्ध प्रत्येक मामले में भी इसी प्रकार की कार्रवाई की जाती थी। भारतीय परिषद् को सम्राट् के आधीन नागरिक तथा फौजी कर्मचारियों के नियन्त्रण का कार्य दिया गया। राज्य-सचिव को इस बात का भी अधिकार दिया गया कि वह गवर्नर-जनरल से प्राप्त गुप्त सन्देशों को प्राप्त कर सके तथा भेज सके। उसके लिये यह आवश्यक नहीं था कि वह उन्हें भारतीय परिषद् को भिजवाए। भारतीय कौंसिल ऐसे स्थायी नागरिक कर्मचारियों की एक संस्था थी, जिन्हें भारत के मामलों का विशेषज्ञों के समान ज्ञान था।

(५) राज्य सचिव को एक निगम निकाय (body corporate) घोषित किया गया, जो इंग्लैण्ड तथा भारत में मुकदमा चलाने का अधिकार रखती थी अथवा जिस पर इंग्लैण्ड तथा भारत में मुकदमा चलाया जा सकता था। भारत मन्त्री को प्रति वर्ष ब्रिटिश संसद् में भारत की नैतिक तथा भौतिक प्रगति के सम्बन्ध में कार्य-विवरण प्रस्तुत करना होता था। भारत में तथा भारत मन्त्री द्वारा बनाए गये नियमों को हाऊस ऑफ कामन्स में प्रस्तुत करना पड़ता था। गवर्नर-जनरल तथा प्रैज़िडेंसियों के गवर्नरों की नियुक्ति सम्राट् के द्वारा की जाती थी। लेफ्टीनेन्टगवर्नर की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर-

जनरल को था, किन्तु उसके लिये सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त करनी आवश्यक होती थी। विभिन्न कौंसिलों के सदस्यों की नियुक्ति कौंसिल-स्थित भारत मन्त्री को करनी होती थी।

(६) यह निश्चय किया गया कि सिवाए आक्रमणों के मुकाबले के अथवा किसी अन्य आकस्मिक तथा आवश्यक कारण को छोड़ कर, भारतीय राजस्व को भारत की सीमा से बाहर किसी भी फौजी कार्रवाई में बिना संसद् की स्वीकृति से व्यय नहीं किया जाएगा।

(७) १८५८ के अधिनियम द्वारा संरक्षण भारत सरकार तथा कौंसिल-स्थित भारत मन्त्री के मध्य बँट गया। सब नियुक्तियाँ तथा पद-वृद्धियाँ, "जो कानून के द्वारा अथवा किन्हीं नियमों, प्रयोग अथवा प्रथा के द्वारा भारत में किसी अधिकारी के द्वारा नहीं की जातीं, वे उसी प्रकार के अधिकारी के द्वारा भारत में की जाती रहेंगी।" नागरिक सेवाओं में नियुक्तियाँ खुली प्रतियोगिताओं के द्वारा कौंसिल-स्थित भारत मन्त्री के द्वारा बनाए गये नियमों के अनुसार नागरिक सेवा आयुक्तों की सहायता से की जाएँगी।

यह बात लोक-विरुद्ध प्रतीत हो सकती है, किन्तु तथ्य यह है कि संसद् ने भारत पर अपना नियन्त्रण उसी क्षण रखना समाप्त कर दिया, जिस क्षण वह अधिकार उसे प्राप्त हुआ। इसका कारण यह है कि पहले अधिकार नियन्त्रण बोर्ड तथा डायरैक्टरों की समिति के हाथों में था तथा इसके कारण संसद् को अपना अधिकार प्रयोग करने का अवसर मिल गया। किन्तु विद्रोह के अनन्तर नियन्त्रण बोर्ड तक डायरैक्टरों की समिति तोड़ दी गई तथा शक्ति भारत मन्त्री के हाथों में आ गई, जो संसद् के प्रति उत्तरदायी था, तब संसद् सन्तुष्ट हो गई। उसे इसलिए सन्तोष हुआ, क्योंकि जो उसने प्राप्त करने की इच्छा की थी, वह उसे प्राप्त हो गया तथा उसे प्राप्त करने के पश्चात् उसने लगातार भारतीय प्रशासन को नियन्त्रित करने तथा उसकी आलोचना के अधिकारों का प्रयोग करने में उपेक्षा की। इसका एक अन्य कारण यह था कि भारत मन्त्री नियन्त्रण बोर्ड के सदस्यों की अपेक्षा काफी योग्य व्यक्ति हुआ करते थे। भारत तथा इंग्लैण्ड के मध्य यातायात के शीघ्र साधनों के कारण भारतीय समाचार इंग्लैण्ड में पूर्व की अपेक्षा और भी शीघ्र प्राप्त हो जाते थे। संसद् को सन्तोष था कि उसने राज्य सचिव को स्वेच्छापूर्वक कार्य करने की छूट दे दी। राज्य सचिव भारत के कार्यों की अधिक योग्यतापूर्वक व्यवस्था करते थे। इसके अतिरिक्त सन् १८५७ से १९१५ तक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ तथा दल अपने अन्य कार्यों में अत्यन्त व्यस्त थे तथा उन्हें भारतीय समस्याओं के अध्ययन करने की कोई अभिलाषा नहीं थी। भारतीय समस्याओं की कठिनाई तथा व्यापकता के कारण वे कठिनता से इस योग्य थीं कि वैज्ञानिक रुचि के रूप में भी उनका अध्ययन किया जाए। क्योंकि बहुत से होशियार अंग्रेज भारतीय नागरिक सेवा में प्रविष्ट हो गए थे तथा भारतीय प्रशासन का कार्य चला रहे थे, उनकी आलोचना करना अनुदारतापूर्ण कार्य समझा गया। इसके परिणामस्वरूप स्थानीय व्यक्तियों पर विश्वास तथा समर्थन करने के सिद्धान्त को प्रगति करने का अवसर मिला। राज्य सचिव गवर्नर-जनरल का तथा गवर्नर-जनरल गवर्नरों का समर्थन करते थे। यही परम्परा आगे के अफसरों के सम्बन्ध में भी चलती रही। संसद् सदस्यों ने अनुभव किया कि भारतीय मामलों में रुचि लेने का कोई लाभ नहीं। इस प्रकार भारत में संसदीय रुचि न तो लगातार स्थिर रह सकी तथा न ही उसे प्रश्रय मिला।

सर एच० एस० कनिंघम के अनुसार, "सम्राट् के द्वारा भारत सरकार का कार्य-भार किसी विशेष परिवर्तन की अपेक्षा एक सामान्य कार्य था।" सारी वास्तविक शक्ति नियन्त्रण बोर्ड के प्रधान के हाथों में चली गई तथा डायरैक्टरों का स्थान परामर्शदात्री परिषद् का सा हो गया यद्यपि वे अब भी किसी कार्य को आरम्भ करने में अपनी कार्य-कुशलता प्रकट कर सकते थे। १८५३ के अधिनियम से उनकी स्थिति और भी अधिक कमज़ोर हो गई। उनका संरक्षण जाता रहा। उनकी संख्या २४ से १८ कर दी गई। इन १८ में से ६ की नियुक्ति सम्राट् के द्वारा की जाती थी। पहले के अवसरों के समान १८५३ के अधिनियम के द्वारा कम्पनी के चार्टर का पुनः नवीनीकरण नहीं किया गया। इसमें केवल यही उल्लेख किया गया कि भारतीय प्रदेश कम्पनी के प्रशासन में सम्राट् के विश्वास रूप में रहेंगे, जब तक कि संसद् अन्य कोई निश्चय न कर ले। यह स्पष्ट था कि १८५३ के अधिनियम के द्वारा सम्राट् भारत सरकार के व्यवस्था भार को प्रकट तथा वास्तविक रूप से धारण करने के लिये मार्ग प्रस्तुत कर रहा था। १८५८ के अधिनियम के द्वारा इस प्रक्रिया की शीघ्र पूर्त्ति कर दी गई। राज्य सचिव ने नियन्त्रण बोर्ड के अध्यक्ष का तथा भारतीय परिषद् ने डायरैक्टरों की समिति का स्थान ले लिया। भारतीय परिषद् के १५ सदस्यों में से ७ का निर्वाचन डायरैक्टरों की समिति के द्वारा किया जाना था। यह ठीक है कि डायरैक्टरों की समिति के कुछ पुराने अधिकार राज्य सचिव को प्राप्त हो गए, किन्तु उसका प्रभाव परिषद् में जारी रहा।

ऐसा कहा जाता है कि डायरैक्टरों की समिति तथा नियन्त्रण बोर्ड के अधिकारों के भारत मन्त्री के हाथों में चले जाने के कारण कुछ आवश्यक परिणाम हुए। दो स्वामियों की सेवा करना भले ही एक कठिन कार्य हो, किन्तु इसके लाभ भी थे। डायरैक्टरों की समिति तथा नियन्त्रण बोर्ड के बाहरी संघर्ष के कारण एक समझदार, चतुर तथा योग्य गवर्नर-जनरल उन दोनों को परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध तैयार करके अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता था। इसी संघर्षपूर्ण स्पर्धा के कारण भारत सरकार किसी दृढ़ तथा संगठित नीति का अवलम्बन नहीं कर पाती थी। नई व्यवस्था के अनुसार राज्य सचिव अपने अधिकारों का प्रयोग बिना किसी नियन्त्रण के कर लेता था। वह अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव का भी प्रयोग कर लेता था। १८५८ के अधिनियम के द्वारा भारतीय परिषद् को भारत सरकार की आर्थिक नीति के सम्बन्ध में विस्तृत अधिकार प्राप्त हो गये, किन्तु धीरे-धीरे ये अधिकार भी राज्य सचिव के हाथों में चले गये तथा इससे उसे वायसराय तथा उसकी परामर्शदात्री समिति पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखने का अवसर तथा अधिकार प्राप्त हो गया।

१८५८ का सम्राज्ञी का घोषणा-पत्र (Queen's Proclamation of 1858)—१ नवम्बर, १८५८ को लार्ड कैनिंग ने इलाहाबाद में सम्राट् द्वारा भारत सरकार के उत्तरदायित्व की घोषणा करने के लिये एक दरबार किया। उस अवसर पर लार्ड कैनिंग ने भारत के लोगों तथा राजाओं के नाम महारानी का घोषणा-पत्र पढ़ा। हमें बताया जाता है कि मन्त्रियों को मसविदा बनाते समय इस बात का निर्देश दिया गया कि—एक महिला शासिका जो १० करोड़ से अधिक पूर्वी लोगों के साथ सीधी सरकार का पद ग्रहण करते हुए बात कर रही है तथा एक भयानक युद्ध के पश्चात् उन्हें ऐसे वचन

दे रही है जो उसके भावी शासन में उसे पूरे करने हैं तथा जिसमें उसकी अपनी सरकार के नियमों की व्याख्या की गई है। ऐसे दस्तावेज़ में उदारता, दया, धार्मिक सहिष्णुता की भावना अन्तर्हित होनी चाहिए तथा जिसमें उन सुविधाओं तथा समृद्धि का भी उल्लेख होना चाहिए, जो भारतीयों को प्राप्त होंगी, जब उन्हें ब्रिटिश सम्राट् के अन्य प्रजाजनों के समकक्ष रखा जाएगा तथा जो सभ्यता के क्रम में एक कड़ी है। वास्तव में महारानी की घोषणा उसकी भावनाओं के अनुकूल शब्दों में रची गई थी।

महारानी की घोषणा इस प्रकार है—

"भगवान् की कृपा से इंग्लैंड तथा आयरलैंड तथा यूरोप, एशिया, अफ्रीका, अमेरिका व आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों और तदधीन बस्तियों की विक्टोरिया तथा विश्वास की रक्षिका महारानी—"क्योंकि कुछ महत्त्वपूर्ण कारणों से हमने हाऊस ऑफ़ कामन्स तथा हाऊस ऑफ लार्ड्स के इकट्ठे हुए सदस्यों की सलाह तथा स्वीकृति से, पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी हमारे लिये भारत में जो प्रशासन कार्य करती थी, वह हमने अपने हाथों में लेने का निश्चय कर लिया है।

"इसलिए अब इन सब की उपस्थिति में हम यह सूचित तथा घोषित करते हैं कि उक्त सभी लोगों के परामर्श तथा स्वीकृति से हमने उक्त सरकार को अपने हाथों में ले लिया है तथा हम इस घोषणा के द्वारा इन सब प्रदेशों के लोगों को आज्ञाकारी होने की प्रेरणा करते हैं तथा हममें तथा हमारे उत्तराधिकारियों में पूर्ण राज्य-भक्ति धारण करने के लिये प्रेरित करते हैं तथा इसके साथ ही उन लोगों की आज्ञा तथा शासन मानने की प्रेरणा करते हैं जिन्हें हम अपने नाम से तथा अपनी ओर से समय-समय पर योग्य समझ कर उक्त प्रदेशों की शासन-व्यवस्था के लिये नियुक्त करें।

"तथा हम अपने पूर्ण विश्वस्त तथा प्रिय भतीजे चार्ल्स जान वाईकाउण्ट कैनिंग की वफादारी में पूर्ण विश्वास रखते हुए उक्त वाईकाउण्ट कैनिंग को इन प्रदेशों का हमारा पहला वायसराय तथा गवर्नर-जनरल नियुक्त करते हैं। उन्हें अपने नाम पर तथा अपनी ओर से शासन की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सौंपते हैं। वे समय-समय पर हमारी ओर से हमारे राज्य-मन्त्रियों में से प्रमुख एक राज्य सचिव के द्वारा प्राप्त आदेशों तथा नियमों का पालन भी करते रहेंगे।

"हम भारत के देशी नरेशों के प्रति घोषणा करते हैं कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ उनके जो समझौते अथवा सन्धियाँ हुई हैं, उनको हम स्वीकार करते हैं तथा उनका विधिवत् पूर्ण रूप से उसी प्रकार पालन किया जाएगा जिस प्रकार कि कम्पनी उनका पालन करती है।

"हम अपनी वर्तमान सीमाओं के अधिकार को बढ़ाने की इच्छा नहीं रखते तथा जबकि हम अपने प्रदेशों पर किसी प्रकार के आक्रमण की आज्ञा नहीं देंगे और अपने अधिकारों पर किसी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नहीं करेंगे, उसी प्रकार हम भी दूसरों के अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, न ही उसी प्रकार की आक्रमणात्मक भावना रखेंगे। हम अपने देशी राजाओं के अधिकारों, प्रतिष्ठा तथा गौरव का अपने अधिकारों, प्रतिष्ठा गौरव के समान ध्यान रखेंगे। हम इच्छा करते हैं कि वे तथा हमारे प्रजाजन उस समृद्धि तथा सामाजिक प्रगति का उपभोग करें, जिसकी प्राप्ति आन्तरिक शान्ति तथा अच्छी सरकार से हो सकती है।

"हम अपने आपको अपने भारतीय प्रदेशों के निवासियों के प्रति उस कर्त्तव्य भावना से बँधे हुए समझते हैं, जिस प्रकार हम अपने अन्य प्रजाजनों के साथ बँधे हुए हैं। हम भगवान् की कृपा से इन सब उत्तरदायित्वों को हृदय से तथा सच्ची कर्त्तव्य-भावना से पूरा करने का पूर्ण प्रयत्न करेंगे।

"ईसाई धर्म की सत्यता पर दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हुए तथा धर्म की शक्ति को सधन्यवाद स्वीकार करते हुए *हम अपने किसी प्रजाजन पर अपने विचारों को लादने की इच्छा नहीं रखते तथा न ही इस प्रकार के अधिकार के सम्बन्ध में हमारा कोई विश्वास ही है।* हम घोषणा करते हैं कि यह हमारी शाही इच्छा तथा प्रसन्नता है कि हम *किसी व्यक्ति को उसकी धार्मिक भावनाओं तथा विश्वासों के कारण पक्षपात, उपेक्षा, घृणा अथवा अयोग्यता की दृष्टि से नहीं देखेंगे तथा सब लोगों को समान रूप से कानून की ओर से समान तथा पक्षपातरहित सुरक्षा प्राप्त होगी तथा हम कठोरता से उन लोगों को भी आदेश देते हैं जिन पर हमारे आधीन किसी प्रकार का प्रशासनिक उत्तरदायित्व है कि वे हमारे प्रजाजनों के धार्मिक विश्वासों तथा पूजा आदि में किसी प्रकार के हस्तक्षेप से अलग रहें, क्योंकि इससे हमें सबसे अधिक असंतोष होगा।* तथा हमारी यह इच्छा है कि *बिना किसी जाति तथा वर्गगत भेदभाव के हमारे प्रजाजनों को पक्षपात रहित सार्वजनिक सेवाओं में विभिन्न पदों पर प्रतिष्ठित किया जाएगा,* जिन पदों के लिये उनमें तदनुसार शिक्षा, योग्यता तथा पूर्णता होगी।

"हम जानते हैं तथा उस ममता की भावना का आदर करते हैं, जो भारत-निवासी अपने पूर्वजों के द्वारा प्राप्त भूमि में रखते हैं तथा हमारी इच्छा है कि इस सम्बन्ध में उनके सब कर्त्तव्यों तथा अधिकारों की पूर्ण रक्षा की जाए तथा राज्य की समान माँगों का भी ध्यान रखा जाए तथा हमारी इच्छा है कि राज्य के सामान्य नियमों तथा कानूनों का पालन करते हुए पुराने अधिकारों, प्रयोगों तथा भारतीय प्रथाओं के प्रति समुचित प्रतिष्ठा का ध्यान रखा जाएगा।"

घोषणा में पुराने अपराधों तथा भूलों के लिये बिना किसी शर्त के क्षमा, बन्दियों की रिहाई आदि के सम्बन्ध में भी आदेश दिये गये थे। घोषणा के अन्त में कहा गया था "जब भगवान् की कृपा से आभ्यन्तरिक शान्ति की स्थापना हो जाएगी, तब हमारी हार्दिक इच्छा यह होगी कि शान्तिपूर्ण उद्योग को प्रोत्साहन दिया जाये, सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यों को प्रगति प्रदान की जाए तथा प्रशासन की व्यवस्था में इस प्रकार सुधार किया जाए जिससे हमारे सब देशवासी प्रजाजनों का हित हों। *उनकी समद्धि में ही हमारी शक्ति, उनके सन्तोष में हमारी सुरक्षा तथा कृतज्ञता में ही हमारा सबसे बड़ा पुरस्कार है।*"

यदि इसे सरल भाषा ऐं अङ्कित किया जाए तो यह कहना होगा कि महारानी की घोषणा के द्वारा भारतीय नरेशों को आश्वासन दिया गया कि उनके प्रदेशों को अंग्रेजी सरकार अपने राज्य में नहीं मिलाएगी तथा उन्हें गोद लेने का अधिकार प्राप्त होगा। ब्रिटिश सरकार ने अपने भारत-स्थित कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे भारतीयों के धार्मिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। भारत में कानूनादि बनाने में इस बात का ध्यान रखे जाने के निर्देश दिये गये थे कि भारतीय प्रथाओं, पुरानी रीतियों तथा

अन्यं बातों का ध्यान रखा जाए। साम्राज्य के भारतीय प्रजाजनों को साम्राज्य के अन्य भागों में रहने वाले ब्रिटिश लोगों के समान बराबर का स्थान दिया गया। अन्य ब्रिटिश प्रजाजनों के समान भारतीयों को समान अधिकारों तथा अवसरों का आश्वासन प्रदान किया गया। उन सब भारतीयों को क्षमा तथा मुक्ति का वचन दिया गया, जो उस समय भी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किए हुए थे तथा जिनके विरुद्ध ब्रिटिश प्रजाजनों की हत्या के आरोप नहीं थे। आंग्ल-ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सन्धियों को जारी किया गया।

भारत के वैधानिक इतिहास में महारानी की १८५८ की घोषणा एक महान् उल्लेखनीय घटना है। नीतिगत यह घोषणा १९१७ तक भारतीय प्रशासन का आधार रही जब कि ब्रिटिश सरकार ने भारत के सम्बन्ध में एक नई घोषणा की। घोषणा ने भारतीय नरेशों को उनकी स्थिति के सम्बन्ध में आश्वासन प्रदान करते हुए उनकी आशंकाओं को दूर करने का प्रयत्न किया। इसने भारतीयों को यह आश्वासन भी प्रदान किया कि अंग्रेज उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करेंगे।

१८६१ का भारतीय कौंसिल ऐक्ट (Indian Councils' Act, 1861)—(१) १८५८ के अधिनियम ने, जिसके द्वारा भारत सरकार का कार्य सम्राट् के हाथों में हस्तांतरित कर दिया गया था, भारतीय प्रशासन में कोई परिवर्तन नहीं किया। यह कार्य १८६१ के अधिनियम के द्वारा किया गया। इस नये अधिनियम के द्वारा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् में पाँचवें सदस्य की वृद्धि की व्यवस्था की गई। उसकी योग्यता के सम्बन्ध में कहा गया कि वह कानूनी अनुभव का व्यक्ति होना चाहिए। वैधानिक वकील होने की अपेक्षा उसके न्यायशील कानूनदाँ होने को अधिक महत्त्व दिया गया।

(२) इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह अपनी कार्यकारिणी परिषद् के प्रत्येक सदस्य को विशेष कार्य का उत्तरदायित्व सौंपे। तब से लेकर परिषद् के विभिन्न सदस्यों को अपने-अपने विभागों का उत्तरदायित्व मिला तथा वे अपने-अपने विभागीय आवश्यक कार्यों को अपनी पूर्ण योग्यता से करते थे। अत्यन्त आवश्यक विषय ही गवर्नर-जनरल के सम्मुख उपस्थित किये जाते थे। यदि कहीं कोई मत-भेद भी प्रकट हुए, तो उस पर सारी परिषद् विचार करती थी। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह अपनी अनुपस्थिति में परिषद् के सभापतित्व के लिये किसी को सभापति मनोनीत कर सके। उसे कार्यकारिणी परिषद् के कार्यों को चलाने के लिये आवश्यक नियमों को बनाने का भी अधिकार दिया गया।

(३) गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में कम से कम छः तथा अधिक से अधिक १२ सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार गवर्नर-जनरल को दिया गया; जिससे व्यवस्था-सम्बन्धी कानून बनाने आदि का कार्य किया जा सके। इनमें से कम से कम आधे सदस्यों का गैर-सरकारी होना आवश्यक था तथा उनका कार्यकाल दो वर्ष था। परिषद् का कार्य व्यवस्था-सम्बन्धी कानूनादि बनाने तक सीमित था तथा अधिनियम के द्वारा अन्य किसी प्रकार की कार्रवाई के सम्बन्ध में रोक लगा दी थी। उसे इस बात का अधिकार दिया गया कि वह सब लोगों के लिये अंग्रेजों, देशी लोगों, विदेशियों अथवा अन्य सबके लिये कानून तथा नियमों आदि का निर्माण करे। उसका कार्यक्षेत्र वे सब स्थान तथा

प्रदेश थे, जिन पर शासन जारी था तथा वे सभी सरकारी कर्मचारियों पर लागू होते थे तथा सम्राट् के आदेशानुसार देशी नरेशों तथा रियासतों पर भी लागू होते थे। कानून-निर्माण सम्बन्धी अधिकारों पर कुछ पाबंदियाँ लगा दी गई। सार्वजनिक ऋण, सार्वजनिक राजस्व, भारतीय धार्मिक रीतियों, सैनिक अनुशासन तथा भारतीय रियासतों के प्रति नीति आदि के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कानून प्रस्तुत करने से पूर्व गवर्नर-जनरल की पूर्व-स्वीकृति आवश्यक थी। ऐसा कोई कानून अधिकृत नहीं समझा जा सकता था जो ब्रिटिश सरकार के अधिकारों का उल्लंघन करता हो; जिसमें संसद् के द्वारा स्वीकृत कानून की किन्हीं धाराओं का उल्लंघन होता हो। गवर्नर-जनरल को परिषद् के द्वारा स्वीकृत किसी कानून को रद्द करने का अधिकार प्रदान किया गया था। आवश्यकता के समय उसे अध्यादेश जारी करने का अधिकार था, जिनका अधिकार-क्षेत्र कानून के समान ही था। ये अध्यादेश ६ मास तक लागू रह सकते थे, यदि इस बीच में किसी कानून अथवा अध्यादेश के द्वारा उन्हें परिवर्तित अथवा अनधिकृत नहीं कर दिया जाता था। अध्यादेश (ordinance) जारी करने के कारण के सम्बन्ध में राज्य-सचिव को सूचना देना आवश्यक था। प्रत्येक स्वीकृत अधिनियम के लिये गवर्नर-जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी। सम्राट् को इस बात का अधिकार था कि वह किसी अधिनियम को लागू न होने दे तथा ब्रिटिश संसद् तथा सम्राट् के सामान्य अधिकार इस सम्बन्ध में अत्यन्त सुरक्षित थे।

(४) बम्बई तथा मद्रास की सरकारों को एडवोकेट-जनरल तथा कानून निर्माणादि के लिये कार्यकारिणी के लिये कम से कम चार तथा अधिक से अधिक आठ अतिरिक्त सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार दिया गया। इन अतिरिक्त सदस्यों का कार्यकाल दो वर्ष का था। परिषद् का कार्य कानून आदि बनाने तक ही सीमित था। मद्रास तथा बम्बई सरकार द्वारा स्वीकृत अथवा परिवर्तित सभी कानून आदि पर गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी।

(५) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विषयों में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया गया तथापि सार्वजनिक ऋण, अर्थ, मुद्रा, डाकखाने, तार, धर्म, पेटेण्ट तथा पुस्तकों के सम्बन्ध में कापीराइट आदि विषय सामान्य रूप से केन्द्रीय सरकार के आधीन रखे गए।

(६) गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह नये प्रान्त बना सकता है। उसे इस बात का भी अधिकार दिया गया कि वह लेफ्टीनेण्ट-गवर्नर की नियुक्ति भी कर सकता है। उसे किसी प्रैज़िडैन्सी, प्रान्त तथा प्रदेश की सीमाओं को बाँटने अथवा परिवर्तित करने का अधिकार दिया गया।

१८६१ का इण्डिया कौंसिल एक्ट भारत के वैधानिक इतिहास में एक आवश्यक पग है। इससे प्रतिनिधित्व वाली संस्थाओं तथा कानून आदि के निर्माण कार्य का आरम्भ हुआ। इसके द्वारा कानून आदि के निर्माण-कार्य में गवर्नर-जनरल को भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने में सहायता प्राप्त हुई। ग़ैर-सरकारी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय परिषदों ने तीन प्रकार से कार्य पूरा किया—प्रकाशन, चर्चा तथा सूचना। जनता को अपने कष्टों को प्रस्तुत करने का एक अवसर प्राप्त हुआ तथा सरकार को अपनी नीति की रक्षा करने का एक अवसर प्राप्त हुआ। तथापि यह बात उल्लेखनीय है कि परिषद् के ग़ैर-सरकारी सदस्य वायसराय द्वारा मनोनीत होते थे। जनता द्वारा उनका निर्वाचन नहीं होता था। ये ग़ैर-

सरकारी सदस्य या तो भारतीय नरेश अथवा उनके दीवान, बड़े ज़मींदार अथवा अवकाश-प्राप्त अधिकारी होते थे। वे जनता के स्वाभाविक नेता नहीं होते थे, जो उनके विचारों अथवा भावनाओं का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकें। गैर-सरकारी सदस्य अधिवेशनों में अधिक रुचि नहीं दिखाते थे। वास्तविकता यह है कि वे आते समय अत्यधिक उपेक्षा तथा जाते समय अत्यन्त शीघ्रता का प्रदर्शन करते थे। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि व्यवस्थापिका परिषदों के अधिकार अत्यन्त सीमित थे। गैर-सरकारी सदस्यों की वास्तव में इस सम्बन्ध में कोई आवाज़ नहीं थी। परिषद् केवल अन्तरंग परिषद् की आज्ञाओं की पुष्टि करती थी। निस्सन्देह यह प्रयोग असफल रहा, किन्तु इससे प्रतिनिधित्वँ-पूर्ण संस्थाओं का आरम्भ हुआ।

१८६७ के अधिनियम को एक पीछे ले जाने वाला अधिनियम समझा गया है। उसे नीति-सम्बन्धी विषयों पर प्रश्न पूछने तथा चर्चा करने का अधिकार नहीं दिया गया। धारा परिषदों की स्थिति इस प्रकार वर्णित की गई है—"वे ऐसी कमेटियाँ हैं, जिनका उद्देश्य कानून बनाना है, जिनके द्वारा सरकार की अन्तरंग परिषद् अपने कानून आदि बनाने के कार्यों में सम्मति तथा सहायता प्राप्त कर सके तथा जनता को कानून बनाने के प्रत्येक विकास क्रम के समय पूर्ण प्रकाशन का लाभ प्राप्त हो। ये परिषदें ऐसी विचार-शील परिषदें नहीं, जिनमें किसी विशेष विषय की चर्चा होती हो। अपितु इनमें ऐसे ही विषय उपस्थित किए जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में आवश्यक कानून बनाने आदि की कार्रवाई करनी अभीष्ट हो। उनमें कार्यपालिका के द्वारा की गई किसी कार्रवाई के सम्बन्ध में सूचना तथा पूछ-ताछ आदि नहीं की जा सकती।" (वैधानिक सुधारों पर रिपोर्ट, पृष्ठ ४०-४१)

प्रो० गुरुमुख निहाल सिंह के अनुसार, १८६१ का भारतीय कौंसिल अधिनियम दो मुख्य कारणों से भारत के वैधानिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, इससे गवर्नर-जनरल को कानून-निर्माणादि के कार्य में जनता के सहयोग प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ तथा द्वितीय, बम्बई तथा मद्रास की सरकारों को कानूनादि बनाने के सम्बन्ध में अधिकार प्रदान किया गया तथा इससे अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार की व्यवस्थापिका परिषदें बनाने के सम्बन्ध में व्यवस्था का अवसर प्राप्त हुआ। इस प्रकार इसने वैधानिक परिवर्तन की नीति की नींव रखी, जिसका परिणाम यह हुआ कि १९३७ में प्रान्तों को लगभग पूर्ण स्वायत्त शासन प्राप्त हुआ।

१८९२ का भारतीय कौंसिल अधिनियम (Indian Councils Act of 1892)—पूरे ३१ वर्षों तक अंग्रेज सरकार ने भारत में सुधार करना आवश्यक नहीं समझा। अन्त में लार्ड डफ़रिन ने कुछ अधिक सुधारों का सुझाव दिया, जिससे कोई आन्दोलन न हो। उसके विस्तृत सुझाव, कुछ परिवर्तनों के साथ लार्ड क्रास के भारतीय कौंसिल्ज़ अधिनियम के द्वारा स्वीकृत हुए। इस अधिनियम ने व्यवस्थापिका कौंसिलों के कार्यों में वृद्धि कर दी। उन्हें अधिकार दिया गया कि वे कुछ विशेष अवस्थाओं तथा सीमाओं के आधीन वार्षिक आर्थिक ब्योरे के सम्बन्ध में चर्चा कर सकेंगी। लार्ड कर्ज़न के अनुसार, "इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम भारत में बजट की एक-एक मद पर इस प्रकार मत प्रदान करेंगे, जिस प्रकार हम इस संसद् में यहाँ करते हैं। किन्तु ऐसा सुझाव है

कि कौंसिल के सदस्यों को इस बात का अवसर प्रदान किया जाए कि वे सरकार की आर्थिक नीति के सम्बन्ध में पूर्ण, स्वतन्त्र तथा उचित आलोचना कर सकें।" इस नई व्यवस्था का एक बड़ा लाभ यह था कि सरकार को अपनी आर्थिक नीति के समझने, भ्रमनिवारण करने, आक्रमण का उत्तर देने के सम्बन्ध में अवसर प्राप्त होगा तथा वे सार्वजनिक रूप से की गई उस आलोचना से लाभ प्राप्त कर सकेंगे, जो उत्तरदायित्व की भावना से उन लोगों द्वारा की गई हो जो गैर-सरकारी भारत के सबसे अधिक योग्य प्रतिनिधि हैं। (२) परिषद् के सदस्यों को अधिकार दिया गया कि वे सार्वजनिक हित के विषयों पर सरकार से प्रश्न पूछ सकें। उन्हें प्रश्न पूछने के लिये सरकार को ६ दिन पूर्व सूचना देनी आवश्यक थी। प्रधान को इस बात का अधिकार था कि वह किसी प्रश्न के सम्बन्ध में अनुमति प्रदान न करे। सार्वजनिक हित वाले प्रश्नों को ऐसी शर्तों तथा पाबन्दियों को छोड़ कर पूछा जा सकता था, जिनका उल्लेख गवर्नर-जनरल ने प्रान्तीय गवर्नरों की ओर से बनाए गए नियमों में किया हो। (३) परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई। यह संख्या उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध में कम से कम १० तथा अधिक से अधिक १६ तथा मद्रास तथा बम्बई की अवस्था में कम से कम ८ तथा अधिक से अधिक २० थी। बंगाल के लिये यह अधिकतम संख्या २० तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तथा अवध के लिये १५ निश्चित की गई। अतिरिक्त सदस्यों का दो-पाँचवाँ भाग गैर-सरकारी होना आवश्यक था। (४) भारतीय राष्ट्रीय महासभा की ओर से डाले गये दबाव के परिणामस्वरूप सरकार ने इन नियमों के आधीन चुनावों की अनुमति के लिये स्वीकृति प्रदान कर दी, यद्यपि इस प्रकार के निर्वाचित सदस्य अपने स्थान तभी ग्रहण कर सकेंगे, जब वे सरकार द्वारा मनोनीत हो जाएँगे। सरकार ने इस बात का आश्वासन दिया कि "इस धारा के अधीन गवर्नर-जनरल के लिये सम्भव होगा कि वह ऐसा प्रबन्ध कर दे कि कुछ व्यक्तियों को उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाए, जो चुनाव के द्वारा निर्वाचित हुए हों, यदि गवर्नर-जनरल ऐसा समझे कि ऐसी पद्धति अच्छी प्रकार से चल सकती है।"

अधिनियम के दोष (Defects in the Act)—(१) यद्यपि १८९२ का भारतीय कौंसिल्ज़ अधिनियम भारी आन्दोलन तथा धैर्यपूर्ण प्रतीक्षा का परिणाम था, तथापि इससे भारतवर्ष को कुछ विशेष लाभ न हुआ। आलोचक इसके अनेक दोषों का उल्लेख करते हैं। चुनाव की पद्धति अस्पष्ट थी। जो व्यक्ति व्यवस्थापिका सभाओं के लिये इस पद्धति के द्वारा चुने जाते थे, वे इस शब्द के वास्तविक अर्थों के अनुसार जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। वे चुनाव के अधिकार रूप में व्यवस्थापिका सभाओं में बैठ नहीं सकते थे।

(२) व्यवस्थापिका सभाओं में कार्य अत्यन्त सीमित थे। सदस्य पूरक प्रश्न नहीं पूछ सकते थे। अध्यक्ष किसी प्रश्न के पूछे जाने से इनकार कर सकता था तथा उसके इस निर्णय के विरुद्ध कोई प्रतिकार नहीं था। कौंसिलों को बजटों पर कोई विशेष नियन्त्रण प्राप्त न था।

(३) चुनाव के नियम उचित नहीं थे। कुछ वर्गों को अत्यधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त था तथा कुछ को तनिक भी प्रतिनिधित्व प्राप्त न था। बम्बई के सम्बन्ध में छः स्थानों में दो यूरोपीय व्यापारियों को प्राप्त थे किन्तु भारतीय व्यापारियों को एक भी

स्थान प्राप्त नहीं था। सिन्ध को दो स्थान प्राप्त थे किन्तु पूना तथा सतारा को एक भी स्थान नहीं दिया गया।

(४) गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या बहुत कम थी। केन्द्र में २४ सदस्यों में से १४ सरकारी थे, ४ निर्वाचित गैर-सरकारी थे, तथा ५ मनोनीत गैर-सरकारी थे।

(५) पंजाब को वायसराय की कौंसिल में कुछ भी प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था।

(६) गोखले के कथनानुसार, "अधिनियम की वास्तविक क्रियाशीलता उसके खोखलेपन को प्रकट कर रही थी। बम्बई प्रान्त को ८ स्थान दिये गये। दो स्थान तो भारत सरकार के द्वारा अपने नियमानुसार बम्बई विश्वविद्यालय तथा बम्बई कार्पोरेशन को प्राप्त हुए। बम्बई सरकार ने दो स्थान यूरोपीय व्यापारिक वर्ग को प्रदान किये, एक स्थान दक्खिन के सरदारों को, एक स्थान सिन्ध के जमींदारों को तथा केवल दो स्थान सामान्य जनता को दिये गये।" यह स्पष्ट है कि सार्वजनिक प्रतिनिधित्व प्रायः शून्य सा ही था।

(७) एक आलोचक के मतानुसार, "१८९२ का अधिनियम एक प्रकार के समझौते का प्रयत्न था, जो एक ओर कौंसिलों के सम्बन्ध में सरकारी दृष्टिकोण व्यवस्थापिका सभाओं के लघु रूप में प्रस्तुत करता था तथा दूसरी ओर उनके सम्बन्ध में शिक्षित भारतीय दृष्टिकोण उनकी अपरिपक्व अवस्था को प्रकट करता था। इस प्रकार दोनों दृष्टिकोणों का अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है जिसका पहला पग एक ऐसे मार्ग पर था, जो अन्ततः राजनैतिक गत्यवरोध के रूप में तथा एक गला घोटने वाले सरकार के प्रबन्ध-विभाग के रूप में प्रकट होता था। शिक्षित वर्ग की सीमाएँ व्यापक करने के सम्बन्ध में कोई भी प्रयत्न नहीं किये गये, जिससे वे उत्तरदायी सरकार के कार्य में किसी प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें अथवा उनके नियन्त्रण के लिये भावी निर्वाचक दल की नींव स्थापित कर सके। इस प्रकार अधिनियम के द्वारा जानबूझ कर चुनाव के सम्बन्ध में देरी की गई।

(८) जब यह बिल व्यवस्थापिका सभा में प्रस्तुत होने वाला था, तब १८९० में फ़िरोज़शाह मेहता ने इस प्रकार विचार प्रकट किए, "इस बिल का निर्माण करते हुए प्रधान मन्त्री तथा राज्य सचिव को भारतीय लोगों के सम्बन्ध में मिथ्या भावना-सी प्रतीत होती है जो मानो सदैव अधिकाधिक माँगने में प्रवृत्त हों तथा जिनके लिये दूरदर्शी नीति यही है कि उन्हें यथासम्भव कम-से-कम दिया जाए। सरकारी बिल को उचित रूप में एक अत्यन्त उन्नत प्रकार के स्टीम इंजन के रूप में वर्णित किया जा सकता है, जिसमें से भाप उत्पन्न करने वाली आवश्यक सामग्री को ध्यानपूर्वक निकाल अलग कर दिया गया हो तथा उसके स्थान पर नकली रंग-बिरंगे ऐसे पदार्थ लगा दिये गये हों, जो वैसे ही दिखाई दें।"

(९) मि० श्वान ने, जो संसद् सदस्य थे, व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों में वृद्धि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए उसे "अत्यन्त अनुल्लेखनीय तथा तुच्छ" बताया। अपने सभापति के भाषण में, जो उन्होंने १८९५ में पूना में दिया, श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने इस प्रकार अपने विचार प्रकट किए, "यदि १८९२ के भारतीय कौंसिल्ज़ एक्ट को उसी भावना में क्रियान्वित किया जाए, जिसमें कि उसे बनाने वालों ने सोचा था

तथा यदि इससे सम्पूर्ण भारतीय जनता को कुछ उल्लेखनीय प्रतिनिधित्व दिया जाना है, न कि जनता के किसी छोटे से वर्ग को, तो निर्वाचित सदस्यों की संख्या में अवश्य ही काफी वृद्धि होनी चाहिये।"

(१०) व्यवस्थापिका कौंसिलों के सदस्यों के अधिकारों तथा सुविधाओं में बहुत-सी सीमाएँ लगा दी गईं। स्मिथ के कथनानुसार, "बजट पर चर्चा की जा सकती थी, किन्तु तभी जब कार्यकारिणी अनुमानित आँकड़ों को निश्चित कर देती थी।" पूरक प्रश्नों के सम्बन्ध में लार्ड लैन्सडाउन ने १८९२ में इस प्रकार विचार प्रकट किये, "प्रश्न इस प्रकार के होने चाहिएँ जिनमें केवल सम्मति प्रकट करने की प्रार्थना हो। उनमें किसी प्रकार की तर्क भावना, कल्पना तथा मानहानि पूर्ण भाषा का प्रयोग नहीं होना चाहिए। एक प्रश्न के दिये गये उत्तर में किसी प्रकार की चर्चा की अनुमति नहीं थी।" सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के कथनानुसार, "इन बन्धनों के कारण एक उपयोगी व्यवस्था का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता है। हाउस ऑफ़ कामन्स में, जब कि प्रश्न का उत्तर दे दिया जाता है, तो उसी विषय पर मंत्रियों से अन्य प्रश्न किये जाते हैं, जिससे और अधिक स्पष्टीकरण प्राप्त किया जा सके अथवा किसी प्रकार की मिथ्या भावना अथवा भ्रम मिटाया जा सके। हाउस ऑफ़ लार्ड्स में तो प्रश्न पूछने के सम्बन्ध में इससे भी अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। इस प्रकार स्वतन्त्रता का एक उद्देश्य सरकार के सामने यह था कि इस प्रकार के प्रश्नों से अनेक प्रकार की ग़लतफ़हमियाँ दूर हो जाती थीं, जो सरकार की किसी भी कार्रवाई तथा अफ़सरों के कार्य-व्यवहार के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई हों। इस दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार के सम्मुख जो उद्देश्य था उसकी प्राप्ति का सबसे अच्छा उपाय यही था कि हाउस आफ़ कामन्स की पद्धति को अपनाया जाता, जिस पद्धति में युगों की बुद्धिमत्ता अंकित है।

(११) व्यवहार रूप में गैर-सरकारी सदस्यों के लिये कोई भी अवसर नहीं था कि वे सरकार के द्वारा प्रस्तुत किये गये किसी बिल में संशोधन कर सकें। बिल उसी रूप में ही स्वीकृत किया जाता था, जिस रूप में भारत सरकार अथवा राज्य सचिव उसे पहले से पुष्ट करते थे। इन परिस्थितियों में व्यवस्थापिका सभाओं के वाद-विवाद केवल एक औपचारिक प्रथा बनकर रह गये थे। कुछ आलोचक तो उन्हें केवल दिखावा समझते थे। सर बार्निस पीकाक के शब्दों में, "वह सदैव यही समझता था तथा अब भी उसका यही विचार था कि कौंसिल की सदस्यता का पद एक ऊँचा तथा आदरणीय था, किन्तु यदि वह यह विश्वास कर ले कि इस कौंसिल का विधान इस प्रकार का था कि उसके सदस्य इस बात के लिये बाध्य थे कि वे किसी कानून को उस प्रकार बनाएँ, जैसा कि नियन्त्रण बोर्ड अथवा डायरेक्टरों की समिति उन्हें आज्ञा करे, तो उसे कहना चाहिए कि एक ऊँचे पद के स्थान पर यह एक ऐसा पद था, जिसे कोई भी ऐसा व्यक्ति, जिसे अपने आदर तथा प्रतिष्ठा का ध्यान हो, ग्रहण करने के लिये तत्पर न होता तथा वह ऐसे पद पर कार्य करने के स्थान पर त्याग-पत्र देना उचित समझता। उसका विश्वास था कि व्यवस्थापिका कौंसिल के प्रत्येक सदस्य का विश्वास तथा कर्त्तव्य यह था कि वह अपने विवेक तथा बुद्धि से कार्य करे।"

(१२) दादाभाई नॉरोजी ने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के १८९३ के अधिवेशन

में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा, "१८६२ के अधिनियम के अनुसार किसी भी सदस्य को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी प्रकार का प्रस्ताव प्रस्तुत कर सके अथवा इस प्रकार की वित्तीय चर्चा में कौंसिल में वोटिंग करा सके। इस अधिनियम के अनुसार अथवा इस अधिनियम के नियमों के सम्बन्ध में किसी प्रश्न का उत्तर देने में इस अधिकार का प्रयोग कर सके। इस प्रकार वित्तीय चर्चा अथवा प्रश्न पूछने के सम्बन्ध में दी गई सुविधाओं अथवा अधिकारों के विषय में सीमाओं की अनुचित व्यवस्था है। इस अधिनियम के आधीन बनाये गये नियमों में किसी प्रकार का परिवर्त्तन अथवा संशोधन ऐसी बैठकों में नहीं किया जाएगा, जो कानून तथा नियम बनाने के लिये बुलाई गई हों। इस प्रकार हम एक स्वेच्छाचारी शासन के आधीन चल रहे हैं।"

(१३) डब्ल्यू० सी० बैनर्जी के कथनानुसार, "अधिनियम हमें बहुत कुछ देने का दावा नहीं करता। हमें अपना आन्दोलन चालू रखना चाहिए तथा तब तक आराम नहीं लेना चाहिए जब तक हमें वह कुछ प्राप्त नहीं हो जाता, जैसा कि हम सब विचार तथा विश्वास करते हैं कि हमें ऐसा प्राप्त करने का अधिकार है।" सी० वाई० चिन्तामणि के अनुसार, "सदस्यों को जो सुविधाएँ तथा अवसर प्राप्त थे, वे अत्यन्त सीमित थे तथा उनमें से कोई भी उपयोगी सिद्ध न हुए।"

(१४) पं० मदनमोहन मालवीय के कथनानुसार, "इस अधिनियम से भारतीयों को उनके देश की शासन-व्यवस्था में कोई वास्तविक अधिकार प्राप्त न हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि देश का प्रशासन देश की जनता के वास्तविक लाभ के लिये नहीं हो रहा। इसके विपरीत इसमें बहुत फ़िजूलखर्ची हो रही है। उन्होंने यह भी देखा कि करों का स्तर उस सामान्य स्तर से बहुत ऊँचा है, जिससे कि देश की शासन-व्यवस्था को अच्छी प्रकार से चालू रखा जा सके। सरकार का फौजी व्यय देश की शक्ति से बहुत अधिक था। जनता से प्राप्त किये गये राजस्व का बहुत बड़ा अंश साम्राज्यवादी कार्यों के लिये व्यय किया जा रहा था।"

(१५) प्रान्तीय कौंसिलें इतनी छोटी थीं, कि उनमें प्रान्तों के लोगों को प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हो रहा था। बंगाल के विषय में सात करोड़ व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व सात निर्वाचित सदस्य करते थे। प्रान्तों के कुछ भाग तो ऐसे थे, जिन्हें प्रतिनिधित्व प्राप्त ही न था। लखनऊ में दिये गये अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री रमेशचन्द्रदत्त ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए—"अस्पष्ट तथा उलझे हुए नियमों के आधीन निर्वाचित आधे दर्जन सदस्य ऐसे प्रान्त की जनता के विचारों को कठिनाई से ही प्रकट कर सकते हैं, जिस प्रान्त की जनसंख्या तीन चार करोड़ अथवा इससे भी अधिक हो। हम अपने देश के प्रशासन पर अपना पूर्ण नियन्त्रण नहीं चाहते किन्तु सरकार के सम्मुख अपने विचार प्रकट करने के लिये हम किसी-न-किसी समुचित मार्ग अथवा साधन की अवश्य माँग करते हैं जिससे कि सरकार हमारी भलाई के लिये किसी समस्या अथवा प्रश्न का निर्णय करने से पूर्व हमारे विचारों का ध्यान रख सके। तथापि कोई भी व्यक्ति इससे इस प्रकार का परिणाम निकाल सकता है कि यद्यपि १८६२ का अधिनियम भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की माँगों की अपेक्षा बहुत कम था, तथापि वह उस समय की स्थिति के अनुसार काफी प्रगतिपूर्ण था। चुनाव के सिद्धान्त को स्वीकार करने के द्वारा तथा शासन-प्रबन्ध पर व्यवस्था-

पिका सभाओं के कुछ नियन्त्रण प्रदान किये जाने के कारण इससे भावी प्रगति के लिये मार्ग खुल गया, जिसके अनुसार भारतीयों के हाथों में देश के प्रशासन का काफी नियन्त्रण सौंपा जाना था।"

मिण्टो-मार्ले सुधार, १९०९ (Minto-Morley Reforms)—१८९२ तथा १९०९ के मध्य का समय तूफान तथा दबाव का था। लार्ड कर्जन के वायसराय काल में देश में बहुत-सा आन्दोलन तथा असन्तोष था। यही बात लार्ड मिण्टो के सम्बन्ध में कही जा सकती है। बंगाल-विभाजन का आन्दोलन सब ओर फैला हुआ था। भारत सरकार को देश में राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने के लिये बहुत कठोर कार्रवाइयाँ करनी पड़ीं। तथापि सरकार ने नरम दल वालों को अपने पक्ष में करने के लिये विचार किया तथा उनके लिये १९०९ में भारतीय कौंसिल अधिनियम स्वीकार किया। लार्ड मार्ले ने ब्रिटिश संसद् में इस बिल को स्वीकार करवाया।

अधिनियम की धाराएँ (Provisions of the Act)—१९०९ के अधिनियम के द्वारा व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। गवर्नर-जनरल के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या अधिकाधिक ६० तक बढ़ा दी गई; मद्रास, बंगाल, यू० पी०, बम्बई, बिहार तथा उड़ीसा की अधिकाधिक संख्या ५० कर दी गई तथा पंजाब, बर्मा तथा आसाम की ३० कर दी गई।

(२) लार्ड मार्ले ने साम्राज्यवादी व्यवस्थापिका परिषद् में सरकारी बहुमत रखने पर ज़ोर दिया तथा परिणामस्वरूप यह निश्चय किया गया कि साम्राज्यवादी व्यवस्था परिषद् में ३७ सरकारी तथा २३ गैर-सरकारी सदस्य होंगे। ३७ सरकारी सदस्यों में से २८ को गवर्नर-जनरल मनोनीत करेंगे तथा शेष अपने पदों के कारण सदस्य होंगे। ऐसे सदस्यों में गवर्नर-जनरल, ६ परिषद् के सामान्य सदस्य तथा दो असाधारण सदस्य होंगे। ३२ गैर-सरकारी सदस्यों में से ५ को गवर्नर मनोनीत करेगा तथा शेष का चुनाव होगा।

(३) इस अधिनियम ने प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों के लिये किसी सरकारी बहुमत की व्यवस्था नहीं की। सदस्यों का बहुमत गैर-सरकारी होना था। तथापि इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रान्तीय परिषदों में गैर-सरकारी बहुमत आवश्यक था। कुछ गैर-सरकारी लोगों को राज्यपाल ने मनोनीत करना था तथा सरकार मनोनीत किए हुए सदस्यों की दृढ़ वफादारी पर सदैव निर्भर कर सकती थी। सरकार प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों में कामचलाऊ बहुमत की व्यवस्था कर सकती थी। दृष्टान्त के रूप में मद्रास की व्यवस्थापिका परिषद् में २१ सरकारी कर्मचारी थे तथा २५ गैर-सरकारी। पद के कारण सदस्य होने वाले राज्यपाल, कार्यकारिणी परिषद् के तीन सदस्य तथा ऐडवोकेट-जनरल थे। शेष १६ अफसरों को राज्यपाल मनोनीत करता था। २६ गैर-सरकारी सदस्यों में से ५ मनोनीत तथा २१ निर्वाचित होते थे। यह स्पष्ट है कि २६ मनोनीत सदस्य थे तथा केवल २१ निर्वाचित सदस्य थे। स्पष्ट रूप से मनोनीत सदस्यों का बहुमत था। यही बात अन्य प्रान्तों पर भी लागू होती थी।

(४) भारत सरकार के अनुसार क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व भारतीय जनता के अनुकूल न था। "वर्गों तथा हितों के द्वारा प्रतिनिधित्व ही एकमात्र ऐसा व्यावहारिक तरीका था, जिससे भारतीय व्यवस्थापिका परिषदों के विधान में निर्वाचन के नियम को लागू किया

जा सकता था।" अधिनियम के द्वारा अलग अथवा विशेष चुनाव-क्षेत्र की व्यवस्था की गई थी, जिसमें विभिन्न जातियों, वर्गों तथा हितों का उचित प्रतिनिधित्व होता था। शेष स्थान नगरपालिका सभाओं तथा जिला बोर्डों को मिलते थे, जिन्हें "सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र" कहा जाता था।

मद्रास के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका सभा के २१ निर्वाचित सदस्य थे। उनमें से २ मुसलमानों के द्वारा, २ ज़मींदारों के द्वारा, ३ ज़मींदारों के अतिरिक्त अन्य भूमिपतियों के द्वारा, एक मद्रास कार्पोरेशन के द्वारा, एक मद्रास के व्यापार-संघ के द्वारा, एक मद्रास व्यापार-सभा के द्वारा तथा एक बोने वालों के समुदाय के द्वारा चुना जाता था। शेष नौ सदस्यों का चुनाव नागरिक परिषदें तथा जिला तथा तालुका बोर्ड करते थे। केन्द्रीय व्यवस्था परिषद् में कुल निर्वाचित स्थान २७ थे। इनमें से ५ स्थान भूमिपतियों को, ५ मुसलमानों को, एक मुस्लिम जमींदार को तथा बंगाल और बम्बई व्यापार-संघों को एक-एक स्थान दिया गया। शेष १३ स्थानों की पूर्ति प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों के गैर-सरकारी सदस्यों के द्वारा की जाती थी।

(५) व्यवस्थापिका परिषदों के कार्य बढ़ गए। केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषदों में बजट की चर्चा के लिये विस्तृत नियम बनाये गए। प्रत्येक सदस्य को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह आर्थिक वक्तव्य अथवा व्याख्यात्मक स्मृति-पत्र में वर्णित अथवा प्रस्तावित कर-प्रणाली में परिवर्तन, स्थानीय सरकारों को नये ऋण अथवा अतिरिक्त अनुदान के सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव प्रस्तुत कर सके। परिषद् को इस बात की अनुमति नहीं थी कि वह ऋण पर होने वाले सूद, पादरियों का व्यय तथा राज्य रेलवे आदि के व्यय के सम्बन्ध में चर्चा कर सके। यह बात उल्लेखनीय है कि आर्थिक वक्तव्य को प्रथम परिषद् की एक समिति को सौंपा जाता था, जिसका सभापति वित्त सदस्य होता था। उस समिति के आधे सदस्यों को सरकार का सर्वोच्च अधिकारी मनोनीत करता था तथा शेष आधे सदस्यों का चुनाव परिषद् के गैर-सरकारी सदस्य करते थे।

(६) सदस्यों को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे किसी बात के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकें। किन्तु सम्बद्ध विभाग का अधिकृत सदस्य पूरक प्रश्न का उत्तर देने से इनकार कर सकता है। वह उसके लिये कुछ समय की माँग कर सकता है।

(७) सदस्यों को बात का अधिकार दिया गया कि वे परिषदों में प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकें। प्रस्ताव सरकार के प्रति निश्चित अनुमोदन के रूप में होने चाहिए थे। उनमें स्पष्ट तथा निश्चित विचार प्रकट होने चाहिएँ तथा उनमें निश्चित प्रश्नों पर चर्चा की गई हो। प्रस्तावों में दलील, अनुमान तथा आक्षेप आदि की चर्चा नहीं होनी चाहिए। प्रधान किसी भी प्रस्ताव अथवा प्रस्ताव के अंश के सम्बन्ध में अनुमति देने से बिना किसी कारण दिये इनकार कर सकता है।

(८) इस अधिनियम के आधीन व्यवस्थापिका परिषदों में सामान्य सार्वजनिक हितों वाले विषयों की चर्चा के सम्बन्ध में नियम भी बनाए गये। किसी विशेष व्यवस्थापिका सभा की सीमा में जिन विषयों का समावेश न हो सके ऐसे विषयों पर चर्चा की अनुमति नहीं दी जाती थी। ऐसे विषय वे थे, जिन से भारत सरकार के किसी विदेशी

शक्ति अथवा देशी राज्य के साथ सम्बन्धों पर प्रभाव पड़े तथा ऐसे विषय, जिनके सम्बन्ध में किसी कानूनी अदालत में चर्चा चल रही हो।

(९) इस अधिनियम के द्वारा बम्बई, बंगाल तथा मद्रास की कार्यकारिणी परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। इसके द्वारा सरकार को अधिकार प्रदान किया गया कि वह उप-राज्यपाल के प्रान्त के लिये भी कार्यपालिका का निर्माण कर सके।

(१०) प्रान्तों में, विश्वविद्यालयों की सीनेटों, जमींदारों, जिला बोर्डों, नगरपालिका सभाओं तथा व्यापार-मण्डलों के सदस्यों का चुनाव करना था। मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व दिया गया। व्यवस्थापिका सभाओं के मुस्लिम सदस्यों का चुनाव मुसलमान ही कर सकते थे।

(११) राजनैतिक अपराधियों पर अयोग्यताएँ थोप दी गईं। वे चुनाव में खड़े नहीं हो सकते थे। सरकार के सर्वोच्च अधिकारियों को अधिकार दिया गया कि वे इन अयोग्यताओं को हटा सकते हैं।

अधिनियम की आलोचना (Criticism of the Act)—१९०९ के सुधार भारतीयों की आशाओं के अनुरूप न हो सके। भारतीयों ने यह माँग की थी कि देश में एक उत्तरदायी सरकार हो, किन्तु १९०९ के सुधारों की पवित्र भावना "दयापूर्ण स्वेच्छाचारिता" थी। संसद् में बिल को प्रस्तुत करते हुए लार्ड मार्ले ने घोषणा की थी कि भारतीयों को उत्तरदायी सरकार देने के सम्बन्ध में उसकी कोई इच्छा नहीं थी। इन परिस्थितियों में सुधार लोगों को सन्तुष्ट न कर सके। यह बात ठीक ही कही गई है कि भारतीयों ने १००० पौण्ड का चैक प्रस्तुत किया था और उन्हें केवल एक पौण्ड दिया गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोग सन्तुष्ट नहीं थे। सुधारों से कुछ परिवर्तन तो हुआ, किन्तु वह केवल आँशिक ही था। व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकारों में कुछ साधारण वृद्धि की गई तथा उनके सदस्यों की संख्या के सम्बन्ध में भी, किन्तु वह कठिनता से उल्लेखनीय था। लोग असन्तुष्ट थे।

(२) सुधारों से काफी गड़बड़ हुई। संसदीय पद्धति तो प्रस्तुत की गई, किन्तु कोई भी उत्तरदायित्व न दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार की विवेकहीन तथा उत्तरदायित्वहीन आलोचना हुई। भारतीय नेताओं ने विधान सभाओं को सरकार की आलोचना के मञ्च का रूप दे दिया। इस भावना के कारण कि उन्हें उत्तरदायित्व नहीं संभालना होगा, सदस्य सरकार के आलोचक बन गए।

(३) सुधारों ने चुनाव की प्रणाली को आरम्भ किया, किन्तु मतदाताओं की संख्या बहुत कम थी। कुछ अवस्थाओं में एक चुनाव-क्षेत्र में यह संख्या ९ अथवा १० से अधिक न हो सकी। क्योंकि यह संख्या नगण्य थी, सब मत मोल लिये जा सकते थे। महिलाओं को पूर्ण रूप से अलग किया गया।

(४) चुनाव की प्रणाली अप्रत्यक्ष थी। लोग स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों का चुनाव करते थे। चुने हुए ये सदस्य चुनाव आदि संस्था के सदस्यों का चुनाव करते थे। यह चुनाव संस्था प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों का चुनाव करती थी। इसका परिणाम यह होता था कि जनता तथा विधान सभाओं के सदस्यों का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। सदस्य जनता के प्रति कोई उत्तरदायित्व अनुभव नहीं करते थे।

१९१८ की ज्वाइंट रिपोर्ट के लेखकों ने इस प्रकार लिखा था : "सम्भावित मूल मतदाता तथा विधान परिषद् में बैठने वाले उसके प्रतिनिधि के मध्य पूर्ण रूप से कोई सम्बन्ध नहीं तथा सम्भावित मूल मतदाता विधान परिषद् की कार्रवाइयों पर कोई प्रभाव नहीं रखता। इन परिस्थितियों में उन लोगों का न कोई उत्तरदायित्व है तथा न कोई राजनैतिक शिक्षा ही, जो नाममात्र से मत का प्रयोग करते हैं। अभी ऐसे मतदाताओं का अस्तित्व, जिनपर उत्तरदायी सरकार के भार को वहन करने की योग्यता हो, तैयार करना है।"

(५) १९०९ के अधिनियम के द्वारा मुसलमानों के लिये अलग चुनाव-क्षेत्रों का आरम्भ किया गया। दोष यहीं समाप्त नहीं हुआ। १९१९ में सिखों को भी अलग मतदान का अधिकार प्राप्त हो गया। १९३५ के अधिनियम ने भारतीय ईसाइयों, आँग्ल-भारतीयों, यूरोपियनों तथा हरिजनों को अलग प्रतिनिधित्व प्रदान किया। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का एक परिणाम १९४७ में पाकिस्तान की स्थापना था।

(६) अधिनियम ने सुरक्षित हितों को विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान करने के द्वारा अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया; दृष्टान्त रूप में जमींदार, व्यापार मण्डल आदि।

(७) भारतीयों ने केन्द्रीय परिषद् में सरकारी बहुमत के स्थिर रखने पर क्रोध प्रकट किया। यद्यपि भारत-सरकार ने भारतीयों के केन्द्र में बहुमत रखने के सम्बन्ध में अनुमति देने में अपनी सहमति प्रकट की थी, लार्ड मार्ले इस कारण सहमत न हुए क्योंकि प्रान्तीय परिषदों में भारतीयों को गैर-सरकारी बहुमत दे दिया गया था, इसलिए केन्द्रीय परिषद् में सरकार को शरण लेने का पूर्ववत् अधिकार होना चाहिये, यदि उन्हें प्रान्तों में पराजय प्राप्त हो।

(८) यद्यपि प्रान्तीय परिषदों में गैर-सरकारी बहुमत प्राप्त हो गया तथापि उसका वास्तविक परिणाम शून्य था। गैर-सरकारी बहुमत इस तथ्य से व्यर्थ हो जाता था, कि इसमें मनोनीत सदस्य भी सम्मिलित थे। उन लोगों का वास्तविक बहुमत था, जो लोगों का प्रतिनिधित्व करते थे।

(९) भारतीय चाहते थे कि इंग्लैंड सरकार इस बात का स्पष्ट संकेत करे कि उनका भारत में क्या उद्देश्य होने वाला था। क्या वह उद्देश्य भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना था? यदि हाँ, तो कितने समय में तथा किन कारणों से? १९०९ के अधिनियम ने इन सब आवश्यक प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया।

(१०) ये सुधार एक प्रकार का मध्यम मार्ग था, जिसके द्वारा भारतीयों की आशाएँ कठिनता से पूर्ण हो सकती थीं, जो शक्ति का हस्तांतरण चाहते थे।

(११) उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्त को पद्धति में पनपने की अनुमति नहीं दी गई। इस बात का उत्तरदायित्व अब भी सरकार पर था। संसदीय व्यवहार अपनाये गए तथा सामान्य रूप से उनका अनुकरण किया गया, किन्तु उनमें संसदीय सरकार की भावना का अभाव था। इसका परिणाम संघर्ष तथा दलबन्दी के रूप में प्रस्तुत हुआ। उत्तरदायित्व के बिना प्रभाव सदैव अपने व्यवहार में घातक रहा है। वाद-विवाद निर्जीव हुआ करते थे, क्योंकि उनका सरकार पर प्रभाव न होता था। ग़ैर-सरकारी लोगों की जो भी सम्मति हो,

सरकार सरकारी पक्ष की सहायता से विजय प्राप्त कर लेती थी। भारतीय संवैधानिक रिपोर्टों के लेखकों ने १९०९ के सुधारों से उत्पन्न अवस्था को इन शब्दों में वर्णन किया : "मार्ले-मिण्टो सुधार हमारे विचार में उस पुराने विचार का अन्तिम परिणाम हैं, जिसने सरकार को उदार, पुरानी तथा सामयिक सावधानी से होने वाले प्रजातन्त्र को मृदु बना दिया जो सम्भवतः अपनी प्रजा की इच्छाओं के सम्बन्ध में अपने ज्ञान के लिये परामर्श कर सकता है।" सर बार्टल फ्रेरे के अनुसार, सरकार दरबार में एक शासक के रूप में है किन्तु उसके परामर्शदाता दुःखी हैं। वे उसके व्यक्तिगत शासन से सन्तुष्ट नहीं। इसके परिणामस्वरूप प्रशासन-कार्य धीरे-धीरे गतिशील तथा भीरु है। संसदीय प्रयोगों का परिषदों में उस सीमा तक आरम्भ तथा ग्रहण किया जा चुका है जहाँ अधिकाधिक झगड़े उत्पन्न हों, किन्तु इसे छोड़कर जब उन्हें समर्थन प्राप्त हो जाता है, तब वे कल्याण करना आरम्भ कर देते हैं। हमारे पास इस वर्तमान समय में न तो पुरानी प्रथा का सबसे अच्छा रूप है तथा न ही नई प्रथा का। उत्तरदायित्व लोकप्रिय सरकार का रक्षक है और वह हमें नहीं दिया गया।

लायोनल कर्टिस ने इस प्रकार उत्पन्न असहाय स्थिति का इन शब्दों में वर्णन किया है, "मिण्टो-मार्ले सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि यह सरकार का समस्त उत्तरदायित्व कुछ एक प्रकार के व्यक्तियों पर छोड़ देता है तथा शीघ्रतापूर्वक शक्ति का हस्तांतरण कुछ और व्यक्तियों पर डाल देता है। इसके द्वारा यह निर्वाचक दल को उत्तरदायी सरकार के लिये अधिक उपयुक्त बनाने के स्थान पर कम उपयुक्त बनाता है। यह ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि प्रबन्ध-विभाग तथा व्यवस्थापिका विभाग को परस्पर भड़का देता है तथा इस प्रकार ब्रिटिश सरकार व बहुसंख्यक भारतीय जाति को परस्पर वैर-भाव की स्थिति में डाल देता है।" निर्वाचित सदस्य, जिन्हें स्वयं सरकार को चलाने के लिये कोई विशष अवसर नहीं था, सरकार को भयभीत करके लाभ उठा सकता था तथा उसे ऐसी कार्रवाहियों को स्वीकार करने से रोक सकता था, जिन्हें वह महत्त्वपूर्ण समझती थी। व्यवहार में यह होता है कि सरकार नहीं हारती अपितु जिन कार्यों के स्वीकृत होने की उसे आशा नहीं होती, उसे प्रस्तुत करने में वह कुछ झिझक जाती है। राज्य की नसें धीरे-धीरे किन्तु अवश्य डगमगा जाती हैं। अशान्ति के तत्त्व विकसित हो जाते हैं तथा अपना सिर उठा लेते हैं। शान्ति को स्थिर रखने के लिये जो भी आवश्यक पग उठाया जाता है उसे अत्याचारपूर्ण कार्य के रूप में समझकर उसकी निन्दा की जाती है। कानून की नीवें नष्ट हो जाती हैं, जब तक कि अकस्मात् जैसे कि आयर्लैण्ड में, सम्पूर्ण ढाँचा लड़खड़ा जाता है, रुधिर बहाकर शान्ति को स्थापित करना पड़ता है तथा वैधानिक सरकार के विकास को निश्चित रूप से स्थगित किया जाता है। कोई भी सरकार इस प्रकार के लकवे की स्थिति से अपनी प्रतिष्ठा स्थिर नहीं रख सकती है।"

श्री के० एम० मुंशी के कथनानुसार, "मिण्टो-मार्ले सुधार के रूप में राजनैतिक परिवर्तन नरम दल वालों को शान्त करने के लिये प्रदान किए गये। व्यवस्थापिका परिषदों के द्वारा, जिनकी स्थापना इसके आधीन हुई थी, संसदीय सरकार का निर्माण कार्य अभीष्ट नहीं था, जैसे कि वायसराय मिण्टो ने स्वयं पुष्टि की थी। यद्यपि वे केवल परामर्शदात्री समितियाँ थीं, इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि किसी वर्ग को दूसरे के

विरुद्ध खड़ा कर दिया जाए, एक जाति को दूसरी जाति के विरुद्ध भड़काया जाए, जिससे प्रत्येक दूसरे पक्ष के प्रभाव को रद्द कर सके।" ज़मींदारों तथा व्यापारी वर्गों को राजनैतिक जाग्रति वाले वर्गों की अपेक्षा अत्यधिक प्रतिनिधित्व दिया गया, जिससे इन लोगों को उचित प्रतिनिधित्व न मिल सके। ऐसे लोगों के स्थान पर उन लोगों को स्थान दिया गया, जो किसी भी प्रकार की आलोचना न कर सकें, भले ही उनके लिये विशेष हितों की व्यवस्था की जाए तथा चाहे वे वर्ग उसके लिये संगठित न भी हों। तत्कालीन राज्य सचिव मार्ले, स्वयं ब्रिटेन में रैडीकल था, जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, वह एक टोरी दल वाले से भी बुरा सिद्ध हुआ।

गराट तथा थाम्पसन के कथनानुसार, "इस अधिनियम के प्रबन्ध-विभाग में कोई सैद्धान्तिक परिवर्तन नहीं किया गया, यद्यपि व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों का आलोचना-सम्बन्धी अधिकार बढ़ा दिया गया। व्यवस्थापिका सभाओं में जो परिवर्तन किए गये वे सावधानतापूर्ण तथा प्रयोग-सम्बन्धी थे। २८ नवम्बर, १९०८ की सम्राट् की घोषणा में सुधारों का पहले से ही संकेत कर दिया गया था। उनमें प्रतिनिधि संस्थाओं के सिद्धान्त को दूरदर्शितापूर्ण व्यापक कर दिया गया था किन्तु मार्ले नहीं चाहता था कि भारत में किसी प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली को लागू किया जाए। व्यक्तिगत दृढ़ विश्वासों तथा संसदीय सुविधा के कारण उसकी इच्छा यह थी कि व्यवस्थापिका सभाओं को परामर्शदात्री संस्थाओं के रूप में रखा जाए, न कि स्वतन्त्र कानून बनाने वाली संस्थाओं के रूप में। प्रान्तीय समितियों के स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में विकसित होने की कोई भी आशा शेष न रही, क्योंकि मार्ले ने अत्यधिक विकेन्द्रीकरण की भावना को प्रोत्साहित किया तथा विकेन्द्रीकरण आयोग ने उसमें बहुत कम संशोधन किया।

डा० ए० बी० कीथ के कथनानुसार, "१९०९ के सुधार अपने उद्देश्य में असफल हुए, यदि वह उद्देश्य स्वराज्य के आन्दोलन को रोकना था, तथा उनसे गरम दल वालों की माँगें स्पष्ट रूप से सन्तुष्ट नहीं की जा सकती थीं। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण नीति पर पुनः लागू कर दिया गया तथा स्थानीय सरकारों को पुनः स्मरण करवा दिया गया कि उनके अफसर व्यवस्थापिका सभाओं में भारतीय सरकार के निश्चयों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक रवैय्या न अपनावें।"

पं० विशननारायण धर के मतानुसार, "ये सुधार कई प्रकार से अपूर्ण तथा दोषपूर्ण हैं, किन्तु हमारी शिकायत उन नियमों तथा व्यवस्था के विरुद्ध है, जो अत्यन्त दोषपूर्ण है तथा जो कुछ पक्षों में अधिनियम के उद्देश्य को क्रियान्वित करने के लिये जो नियम तथा व्यवस्था अपनाई गई है उनसे सुधार योजना वास्तव में नष्ट हो गई है।" उन्होंने प्रश्न किया, "क्या नौकरशाही हमसे उस कार्य का बदला ले रही है, जो हमने सुविधाएँ प्राप्त करने के लिये प्रयत्नों के रूप में किया ?"

इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने १९०९ के सुधारों के सम्बन्ध में चार प्रस्ताव स्वीकृत किए। डा० पट्टाभिसीतारमैया के शब्दों में, "प्रथम तो धर्म के आधार पर पृथक् निर्वाचन-स्थानों की सृष्टि के सम्बन्ध में अस्वीकृति प्रकट की गई। इसने इन बातों पर अपना असन्तोष प्रकट किया—(क) एक विशेष धर्मावलम्बियों को अधिक तथा अनुचित प्रतिनिधित्व का भाग दिया जाना, (ख) नियोजक तथा नागरिक अधिकारों तथा उम्मीद-

वारों की योग्यताओं के सम्बन्ध में मुस्लिम तथा गैर-मुस्लिमों में अन्यायपूर्ण, अपमानजनक तथा द्वेष उत्पन्न करने वाली पक्षपातपूर्ण नीति, (ग) कौंसिलों के लिये चुने जाने वाले उम्मीदवारों के लिये विस्तृत, पक्षपातपूर्ण तथा अनुचित अनर्हताएँ तथा पाबन्दियाँ, तथा (घ) प्रान्तीय कौंसिलों में गैर-सरकारी बहुमत का असन्तोषपूर्ण संगठन, जो अप्रभावपूर्ण तथा अवास्तविक हो गया था।

दूसरे प्रस्ताव के द्वारा इसने माँग की कि कार्यकारिणी कौंसिलों का निर्माण किया जाए जो उत्तर प्रदेश, पंजाब, पूर्वी बंगाल, आसाम तथा बर्मा के लेफ्टिनेन्ट-गवर्नरों को सहायता प्रदान कर सकें। तीसरे प्रस्ताव के द्वारा काँग्रेस ने पंजाब के सम्बन्ध में सुधार नियमों के असन्तोषजनक होने के विषय में इन बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया, (क) कौंसिल की सदस्य-संख्या इतनी अपर्याप्त थी कि उससे सब वर्गों तथा हितों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता था, (ख) निर्वाचित तत्त्व बहुत छोटा तथा अत्यन्त अपर्याप्त था, (ग) अल्पमतों को संरक्षण देने वाले सिद्धान्त को, जिसे अन्य प्रान्तों में लागू किया गया था, उसे पंजाब के गैर-मुस्लिम अल्पमत के सम्बन्ध में लागू नहीं किया गया। (घ) इन नियमों तथा धाराओं के द्वारा केन्द्रीय कौंसिल से वास्तव में गैर-मुस्लिमों को अलग रखा गया। चौथे प्रस्ताव के द्वारा काँग्रेस ने मध्यप्रान्त तथा बरार के लिये एक कौंसिल की स्थापना न करने तथा मध्य प्रान्त के ज़मींदारी व जिला बोर्ड तथा म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्यों के द्वारा केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् के दो सदस्यों के चुनाव में बरार को सम्मिलित न करने के सम्बन्ध में असन्तोष प्रकट किया।"

डा० ज़कारिया ने १९०९ के सुधारों के सम्बन्ध में अपनी आलोचना का उपसंहार इन शब्दों में किया है—"इन सुधारों का सार इस बात के ग्रहण करने में था, जो एक समय सब अर्थों से रिक्त कर दिया गया था। इस प्रकार प्रजातन्त्र का चुना गया सिद्धान्त ग्रहण किया गया, तथापि उसी समय प्रजातन्त्र-विरोधी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व बढ़ा दिया गया। सरकारी बहुमत समाप्त कर दिया गया, किन्तु निर्वाचित सदस्य अल्पमत बने रहे। सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ा दी गई किन्तु तत्काल ही एक ज़ोरदार चेतावनी प्रकाशित कर दी गई कि नई परिषदों का किसी भी प्रकार यह अभिप्राय नहीं था कि संसदीय प्रणाली को आरम्भ किया जाये। भारतीय परिषद् तथा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् में केवल कुछ चुने हुए भारतीयों के लिये प्रवेश मिल सका, किन्तु भारतीयों को सरकारी क्षेत्र में प्रविष्ट करने का उदार दृष्टिकोण इस तथ्य को न छिपा सका कि वास्तविक शक्ति ब्रिटिश हाथों में सुरक्षित रही।"

आलोचकों ने कहा कि १९०९ के सुधारों से लोगों को वास्तविकता के स्थान पर छाया ही मिली। "*उनके कारण लोगों को प्रभाव प्राप्त हुआ, शक्ति नहीं*" और जार्ज वाशिंगटन के कथनानुसार, "*प्रभाव सरकार नहीं है।*" मजूमदार ने सुधारों को केवल "चाँद की चाँदनी" वर्णित किया।

मॉंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार (१९१९) की कारणभूत परिस्थितियाँ (Circumstances leading to Montagu-Chelmsford Reforms)—यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि १९०९ के सुधार भारतीयों को सन्तुष्ट न कर सके। यहाँ तक कि गोखले जैसे नरम दलीय लोग भी सुधारों के खोखलेपन के सम्बन्ध में दृढ़ मत वाले

थे। सुधारों से इस भारतीय माँग के सम्बन्ध में कुछ भी ऐसा उत्तर प्राप्त नहीं हुआ कि ब्रिटिश सरकार यह घोषित कर दे कि उसका लक्ष्य भारत में क्या है तथा ब्रिटिश सरकार इसकी प्राप्ति के लिये क्या करना चाहती है। १९०९ के विकेन्द्रीकरण आयोग की सिफ़ारिशें अपर्याप्त तथा निराशाजनक थीं। लार्ड क्रीव ने, जो लार्ड मार्ले के पश्चात् भारत मन्त्री बना, एक सार्वजनिक सेवा आयोग १९१२ में नियुक्त कर दिया। इस आयोग ने दो वर्ष साक्षियाँ लेने में व्यतीत कर दिये, किन्तु उसका कार्य-विवरण १९१७ से पूर्व प्रकाशित न हो सका। सरकार का कार्य जिस प्रकार से चल रहा था, उससे जनता में क्रोध की भावना उमड़ी।

१९०९ के सुधारों के आलोचनात्मक अध्ययन से यह पता चलेगा कि १९०९ के सुधारों के निर्माताओं का मुख्य उद्देश्य यह था कि वे नरम दल वाले नेताओं को अपनी ओर लाना चाहते थे। लोगों के असन्तोष तथा निराशा का परिणाम क्रान्तिकारी कार्यों के रूप में हुआ। बम का सिद्धान्त लोकप्रिय हो गया। हिंसावादियों के द्वारा होने वाली घटनाओं की संख्या में वृद्धि होने लगी। लार्ड हार्डिंग जैसे व्यक्ति तक को भी अछूता नहीं छोड़ा गया।

मुसलमान भी हठी थे। वे अपनी स्थिति के महत्त्व को पृथक् निर्वाचन के अनुभव के आधार पर समझने लगे। उन्हें पता चल गया था कि भारत सरकार उन्हें प्रसन्न करने के लिये प्रयत्नशील है। इससे वे अपनी स्थिति के सम्बन्ध में सावधान हो गये। १९११ में बंगाल के विभाजन के विषय में पुनर्निश्चय के कारण हिन्दू सन्तुष्ट न हुए, क्योंकि उन्हें यह निश्चय बहुत कष्टों के पश्चात् प्राप्त हुआ था। सरकार के इस कार्य से मुसलमान भी क्रुद्ध हुए। वे नहीं चाहते थे कि पूर्वी बंगाल की मुस्लिम जनसंख्या को बंगाल के हिन्दू प्रान्त में फिर से सम्मिलित किया जाए। मुसलमानों ने सरकार के इस कार्य को उन हिन्दुओं के लिए रियायत के रूप में स्वीकार किया, जिन्होंने आन्दोलन किया था तथा सरकार को परेशान किया था। उन्होंने "बमों तथा उपहारों के मध्य के सम्बन्ध पर" बल दिया था।

इसके साथ ही ब्रिटिश सरकार की युद्धपूर्व विदेश नीति भारत की मुस्लिम जनसंख्या के लिए कष्टदायक थी। यूरोप की ईसाई शक्तियाँ बलकान में मुस्लिम इलाकों को अपने में सम्मिलित कर रही थीं। मोरक्को, फ़ारस तथा त्रिपोली के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की भूलों तथा अन्य असावधानताओं के कारण मुसलमान भड़के हुए थे। बलकान के युद्धों को इस्लाम पर एक सामान्य आक्रमण के रूप में स्वीकार किया गया। यह स्पष्ट है कि मुसलमान भी उतने क्रुद्ध थे, जितने कि हिन्दू, यद्यपि इसके कारण अलग-अलग थे।

समुद्र-पार भारतीयों के साथ व्यवहार भारत में अधिक अशान्ति उत्पन्न कर रहा था। उनके साथ नैटाल तथा ट्राँसवाल में होने वाले अत्याचारपूर्ण व्यवहार से विशेष रूप से भारतीय ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भड़क रहे थे तथा उन्हें भारतीय हितों की उपेक्षा का दोषी समझा जा रहा था। १९१३ में लार्ड हार्डिंग ने भारतीयों की सर्व-सम्मत आवाज़ का प्रतिनिधित्व किया, जब उसने कहा कि "भारत की सहानुभूति—गम्भीर तथा भड़की हुई—तथा केवल भारत की ही नहीं, अपितु मुझ जैसे समस्त भारतप्रेमियों की सहानुभूति उन भारतवासियों के साथ है, जो दक्षिणी अफ्रीका में अन्यायपूर्ण कानूनों का मुकाबला कर रहे हैं।" श्री गोखले भारत सरकार की ओर से वार्त्तालाप करने के लिये दक्षिणी अफ्रीका

गये। तथापि भारतीयों के कष्टों को दूर करने के लिये कुछ भी वास्तविक कार्रवाई नहीं की गई। जाँच आयोग तथा भारतीय सहायता अधिनियम को अपर्याप्त समझा गया।

आस्ट्रेलिया तथा कनाडा में बसे हुए सिखों के साथ भी बुरा व्यवहार किया जाता था। कनाडा के पश्चिमी तट के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में बसे हुए कुछ भारतीय क्रान्तिकारियों की कार्रवाइयों के कारण स्थिति कुछ विषम हो गई थी। ये क्रान्तिकारी अपने क्रान्ति-विरोधी लोगों तथा मि० हापकिन्स की हत्या के उत्तरदायी थे, जो भारत सरकार तथा औपनिवेशिक सरकारों की ओर से कार्य कर रहा था। वह झगड़ा जापानी जहाज़ 'कोमागाता मारु' के भेजने के सम्बन्ध में सीमा को पहुँच गया जिसे भारत से वेनकोवर तक सीधी यात्रा के लिये हस्तगत किया गया था और जिसका उद्देश्य बाहर से आये हुए तथा वहाँ रहने वाले अन्य देशवासियों के विषय में लगाई हुई पाबन्दियों को दूर करना था। जो सिख जहाज पर सवार थे, उन्हें जहाज से उतरने नहीं दिया गया। अनेक कष्टों तथा एकान्तवास आदि दण्डों को सहन करने के पश्चात् उन्होंने पंजाब में एक क्रान्तिकारी आन्दोलन का क्रम बना लिया।

असन्तोष के इस वातावरण में १९१४ में प्रथम महायुद्ध का आरम्भ हुआ। किन्तु इस सब स्थिति के होते हुए भी भारतीयों की ओर से उदारतापूर्ण सहयोग प्रस्तुत किया जा रहा था। महात्मा गांधी ने भारतीयों को परामर्श दिया कि वे ब्रिटिश सरकार को यथासम्भव सहायता प्रदान करें। भारतीय राजनैतिक दलों ने एक प्रकार का समझौता कर लिया तथा सरकार को युद्ध-मोर्चे पर अपना ध्यान केन्द्रित करने की सुविधा प्रदान कर दी। भारतीयों के इस व्यवहार से ८००,००० सैनिक तथा ४००,००० असैनिक भर्ती स्वयमेव हो गई। भारत सरकार ने लगभग २०० लाख तथा ३०० लाख पौंड के मध्य वार्षिक धनराशि प्रदान की। इंग्लैण्ड को १० करोड़ पौंड धनराशि का उपहार भी दिया गया। भारत सरकार ने भारतीय फौज के यथापूर्व व्यय को भी सहन किया। ये फौजें भारत की सीमाओं के बाहर युद्ध-कार्य में प्रवृत्त थीं। इसके अतिरिक्त कुछ और उत्तरदायित्व भी अप्रैल, १९१८ में ले लिये गए यद्यपि युद्ध समाप्त हो चुका था। वह धनराशि १२,०००,००० पौण्ड की थी। रैडक्रास संस्थाओं को बहुत-सा दान तथा रुपया दिया गया तथा भारत में युद्ध-ऋण आरम्भ किया गया। सामान्य सहानुभूति की भावना इतनी थी कि ब्रिटिश सरकार ने भारत के तट से अंग्रेज फौजों के मुख्य भाग को हटा लिया। एक ऐसा समय भी आया जब भारत में अंग्रेज फौजें १५,००० से अधिक संख्या में नहीं थीं।

तथापि १९१९ तक स्थिति में अन्तर पड़ गया था। शीघ्र तथा अन्तिम सफलता की सब आशाएँ समाप्त हो चुकी थीं तथा अविश्वास आरम्भ हो चुका था। भरती तथा रेडक्रास के लिए रुपया इकट्ठा करने के सम्बन्ध में जो उपाय काम में लाए जा रहे थे, उनसे और भी स्थिति अधिक अपमानजनक हो गई थी। वस्तुओं के भाव चढ़ गए तथा लोगों की अवस्था अधिक कष्टयुक्त हो गई, विशेष रूप से इसलिए कि वे ब्रिटिश सरकार को काफी सहायता दे चुके थे। भारतीयों को योरुपीय अधिकारियों के अधीन तथा उनके निरीक्षण में कार्य करने के लिये बाध्य होना पड़ा। धीरे-धीरे यह विचार भीतर ही भीतर बल ग्रहण कर रहा था कि भारतीयों का युद्ध से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। भारतीय देशप्रेमियों को

ग्रायलैंण्ड के विद्रोह तथा पश्चिमी सभ्यता के स्पष्ट नाश के कारण साहस प्राप्त हो रहा था। भारत का व्यापारी-वर्ग सरकार के साथ युद्ध-संयम की पाबन्दियों के कारण जड़-बुद्धि था। उन्होंने सुरक्षा नीति की माँग की। नरम दल के लोग गोखले की मृत्यु से कमज़ोर पड़ गये थे। लार्ड सिन्हा, जिन्होंने सरकार के युद्ध-प्रयत्नों में समर्थन करने के लिये कांग्रेस का नेतृत्व किया था, संस्था में ग्रपना सारा प्रभाव खो चुके थे। श्री ऐस्क्विथ की घोषणा कि "ग्रब भारतीय प्रश्नों को किसी ग्रलग दृष्टिकोण से देखना होगा"--को दो वर्षों तक कार्यरूप में परिणत न किया गया।

१९१५ में, वम्बई ग्रधिवेशन के कांग्रेस प्रधान लार्ड सिन्हा ने ग्रंग्रेज सरकार को परामर्श दिया कि "वे भारत में ग्रपने उद्देश्य के सम्बन्ध में एक घोषणा करें, जिससे भारतीय नवयुवकों को, जो स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता तथा स्वशासन के भावों से ग्रोत-प्रोत हैं, शान्त किया जा सके।"

लार्ड चैम्सफ़ोर्ड, जो १९१५ में लार्ड हार्डिंग के पश्चात् वायसराय बने शीघ्र ही इस परिणाम पर पहुँचे कि ब्रिटिश भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का एक ग्रभिन्न ग्रंग बना दिया जाना तथा उसे स्वराज्य देना ब्रिटिश शासन का उद्देश्य है। किन्तु, सरकार को उस उद्देश्य तक पहुँचने के लिये क्या निश्चित पग उठाने चाहिएँ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन था। सर ग्रास्टिन चैम्बरलेन, जो भारत-मन्त्री थे, किसी एक फार्मूले के सम्बन्ध में स्पष्ट तथा निश्चित होने को तैयार नहीं थे। वे केवल यह इच्छा प्रकट करने को तैयार थे कि स्वराज्य की प्राप्ति के लिये वे स्वतन्त्र संस्थाग्रों के क्रमिक विकास के लिये वचन-वद्ध हैं। किन्तु उन्हें मैसोपोटामिया की समस्या पर त्याग-पत्र देना पड़ा तथा मि० माण्टेग्यू उनके स्थान पर भारत-मन्त्री बने।

ग्रगस्त घोषणा (August Declaration)—मि० माण्टेग्यू भारत के एक महान् मित्र थे। वे भारतीयों की भावनाग्रों के सम्बन्ध में सहानुभूति रखते थे। इसलिए उनकी समता लार्ड पैथिक लारेंन्स तथा सर स्टैफर्ड क्रिप्स से की जा सकती है। वे ग्रपने पद पर एक नये दृष्टिकोण के साथ ग्रासीन हुए। जब मित्र-राष्ट्रों का भाग्य ग्रपने निम्नतम स्तर पर था, तब उन्होंने ग्रगस्त १९१७ में निम्नलिखित घोषणा की "ब्रिटिश सम्राट् की नीति, जिससे भारत सरकार पूर्ण रूप से सहमत है, यह है कि प्रशासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों के सम्बन्ध को ग्रधिक बढ़ाए तथा स्वशासन करने वाली संस्थाग्रों का क्रमिक विकास इस दृष्टि से करे कि भारत को उत्तरदायी शासन की प्रगतिपूर्ण प्राप्ति ब्रिटिश साम्राज्य का एक ग्रभिन्न ग्रंग हो जाए। उन्होंने निश्चय कर लिया है कि इस सम्बन्ध में शीघ्रातिशीघ्र क्रियात्मक पग उठाए जाएँ तथा इस सम्बन्ध में सबसे ग्रावश्यक प्रारम्भिक बात यह विचार करना है कि वे पग क्या हों, जिससे भारत सरकार तथा ब्रिटिश सरकार के ग्रधिकारियों में स्वतन्त्र तथा ग्रनौपचारिक परामर्श होना चाहिए। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने सम्राट् की स्वीकृति से निश्चय किया है कि मैं भारत जाने के सम्बन्ध में वायसराय के निमन्त्रण को स्वीकार कर लूं तथा वायसराय ग्रौर भारत सरकार के साथ इन विषयों पर चर्चा करूँ तथा स्थानीय सरकारों के विचार पर वायसराय के साथ मिलकर विचार करूँ तथा उसके साथ मिलकर प्रतिनिधि संस्थाग्रों के विचारों से सम्मतियाँ प्राप्त करूँ।

"मैं यह बात और भी कहना चाहता हूँ कि इस नीति में प्रगति केवल क्रमशः प्राप्त की जा सकती है। अंग्रेज सरकार तथा भारत सरकार को जिन पर भारतीयों के कल्याण तथा उन्नति का उत्तरदायित्व है, समय तथा प्रत्येक प्रगति के स्तर के सम्बन्ध में जाँच करनी चाहिए तथा उन्हें उन लोगों से सहयोग प्राप्त करने में प्रयत्नशील होना चाहिए, जिन पर सेवा के नये अवसर प्रदान किए जाएँ तथा यह उस सीमा तक होना चाहिए जहाँ तक उनके उत्तरदायित्व की भावना की रक्षा हो सके।"

इस घोषणा का महत्त्व इस तथ्य में है कि इसके द्वारा स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी गई थी कि ब्रिटिश सरकार का भारत में क्या लक्ष्य है। इस घोषणा को उसी स्तर पर रखा जा सकता है, जिस प्रकार महारानी की १८५८ की घोषणा को रखा गया था। भारतीय वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट के लेखकों ने इसे भारतीय इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया था "तथा इससे इस युग की समाप्ति तथा नये युग का आरम्भ हुआ था।" प्रधान ने घोषणा की कि यह "क्रान्तिकारी घोषणा है।" उसके शब्दों में "२० अगस्त, १९१७ की घोषणा से वर्त्तमान भारत ने अपने इतिहास में एक नये युग में प्रवेश किया है।"

सुधारों के प्रस्ताव (Suggestions of Improvement)—भारतीय राजनीतिज्ञ देश के भावी संगठन के सम्बन्ध में अपने सुझाव का प्रारूप बना रहे थे। मद्रास पार्लियामेंट नामक एक संस्था ने, जो श्रीमती बेसेण्ट की होमरूल लीग से सम्बन्ध रखती थी, "कामनवेल्थ ऑफ इन्डियन एक्ट" नामक अधिनियम का प्रारूप बनाया, जिसके द्वारा प्रान्तों में विधान सभाओं के निर्माण का सुझाव दिया गया था।

भारतीय विधान परिषद् के १९ निर्वाचित सदस्यों ने भी इस प्रकार के सुझाव अक्तूबर १९१६ में रखे थे। इसी वर्ष कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के मध्य लखनऊ समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इस योजना के द्वारा बड़े प्रान्तों में १२५ सदस्यों वाली तथा छोटे प्रान्तों में ५० से ७५ सदस्यों वालो विधान परिषदों के निर्माण का विचार किया गया। इन सदस्यों का ८०% भाग जनता से द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाना था। केन्द्रीय परिषद् में १५० सदस्यों की व्यवस्था की गई थी। प्रान्तीय परिषदों को कानून बनाने तथा वित्त के सम्बन्ध में पर्याप्त स्वतन्त्र नियंत्रण का विचार प्रदान किया गया। केन्द्रीय विधान परिषद् के लिये केवल वे ही विषय विचारार्थ रखे जाने थे, जिनका अखिल भारतीय महत्त्व हो। भारत सरकार के लिये सामान्य नियंत्रण के अस्पष्ट अधिकार को छोड़ दिया गया। प्रान्तीय गवर्नर सामान्य रूप से अपने अनुदार दृष्टिकोण के कारण नियमित सेवाओं के नहीं होते थे। गवर्नर की परिषद् में आधे सदस्य ऐसे भारतीय होते थे, जिनका चुनाव प्रान्तीय परिषदों के निर्वाचित सदस्यों के द्वारा करने की व्यवस्था की गई थी। विधान परिषदों को अपने प्रधानों का चुनाव करना होता था। पूरक प्रश्नों तथा काम रोको प्रस्तावों के सम्बन्ध में अधिक स्वतन्त्रता का प्रबन्ध किया गया था। मुसलमानों को विशेष चुनाव क्षेत्रों के द्वारा निश्चित अनुपात में प्रतिनिधित्व दिये जाने की व्यवस्था की गई थी, जिसके द्वारा वे जिन प्रान्तों में अल्पमत में थे, उन्हें वहाँ अपनी जनसंख्या से अधिक स्थान प्राप्त करने की सुविधा प्रदान की गई थी।

लन्दन में "गोल मेज़" के विद्यार्थियों ने देश के भावी ढाँचे के सम्बन्ध में, जो देश

के सम्मुख समस्या के रूप में उपस्थित था; समस्या सुलझाने के लिये क्रियात्मक योगदान दिया। वे इस प्रश्न के परीक्षण में व्यस्त थे "एक ब्रिटिश नागरिक उपनिवेशों में विदेश नीति पर उसी प्रकार नियंत्रण कर सकता है, जैसे कोई ब्रिटिश महाद्वीपों में रहने वाला।" १९१५ में उन्होंने भारत के मामले की परीक्षा की तथा वे इस परिणाम पर पहुँचे कि भारतीयों पर साम्राज्यवादी नीति का उत्तरदायित्व नहीं डाला जा सकता, जब तक उन्हें उनकी अपनी सरकार में कुछ उत्तरदायित्वपूर्ण भाग नहीं मिल जाता। १९१६ में, सर विलियम ड्यूक ने, जो गोल मेज़ के एक सदस्य थे, सुझाव दिया कि कुछ विभागों तथा कार्यों की व्यवस्था किसी न किसी प्रकार की उत्तरदायी सरकार के द्वारा होनी चाहिए। मि० कुर्टिस, जो गोल मेज़ का एक अन्य सदस्य था, १९१६ में भारत आया तथा वह एक वर्ष इस सुझाव के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार तथा सम्मेलनों के द्वारा उत्साहपूर्वक व्यस्त रहा।

भारतवासियों के प्रति एक सार्वजनिक पत्र में १९१७ में मि० कुटिस ने क्रमशः भारत को उत्तरदायी सरकार देने के सम्बन्ध की नीति में अपना विश्वास प्रकट किया। उसका विचार था कि वर्त्तमान में प्रान्तों में कुछ आंशिक उत्तरदायी सरकार स्थापित कर दी जाय। सार्वजनिक कार्य, प्रारम्भिक शिक्षा, स्थानीय स्वराज्य आदि विभागों को प्रान्तों में उत्तरदायी मन्त्रियों के हाथ में सौंप दिया जाय। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया, किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि द्वैध-शासन-पद्धति, जैसी कि वह १९१९ के भारत सरकार अधिनियम में वर्णित है, इसी योजना पर आधारित है।

भारतीयों को क्या दिया जाय, इस सम्बन्ध में एक राज्य आयोग नियुक्त करने के स्थान पर मि० माण्टेग्यू लन्दन से १८ अक्तूबर, १९१७ को एक प्रतिनिधि मण्डल के नेता के रूप में चले तथा १० नवम्बर, १९१७ को बम्बई पहुँचे। भारत में लगभग ५½ मास के अध्ययन के पश्चात् वे अप्रैल, १९१८ के अन्त में लन्दन के लिये वापिस चल पड़े। भारत में निवास करते हुए उनके मन में केवल एक ही विचार मुख्य था। मि० माण्टेग्यू के अपने ही शब्दों में, "मैंने अपना सारा समय, यही सोचने में व्यतीत किया कि किस प्रकार मैं कोई ऐसी वस्तु प्राप्त करूँ, जिसे भारत स्वीकार कर ले। हाउस ऑफ कामन्स उसे अस्वीकृत किये बिना ही मुझे तदनुसार अनुमति प्रदान कर देगी।" उसे इतना कड़ा परिश्रम करना पड़ा कि उन अन्तिम दिनों में रोग ने आ घेरा। वस्तुतः उसने कड़ा परिश्रम किया, जो थका देने वाला था। उसने न केवल देश का भ्रमण किया, अपितु अनेक प्रतिनिधि-मण्डलों से भेंट की। लार्ड चैम्सफोर्ड के साथ मिलकर लम्बे विचार तथा अध्ययन करने के पश्चात् माण्टेग्यू ने १९१८ में अपना विवरण प्रकाशित किया। माण्टेग्यू की डायरी रोचक है।

१९१८ की सिफारिशें (Recommendations of 1918)—माण्टेग्यू तथा चैम्सफ़ोर्ड के संयुक्त विवरण में "उत्तरदायी सरकार" शब्द के अर्थों का सूक्ष्म अन्वीक्षण किया गया तथा यह प्रस्ताव किया गया कि उत्तरदायी सरकार के विकास के लिये प्राथमिक कार्रवाई प्रान्तों में चालू कर दी जाए। भारत सरकार को भारत मन्त्री के माध्यम से ब्रिटिश संसद् के प्रति उत्तरदायी रहना था। पूर्ण प्रान्तीय स्वायत्तता को समय से पूर्व की वस्तु समझा गया था। तथापि गवर्नर के लिये दो सदस्यों की कार्यकारिणी बनाने की

व्यवस्था की गई, जिसमें एक सदस्य का भारतीय होना निश्चित किया गया। कौंसिल-स्थित गवर्नर को सुरक्षित विषयों के सम्बन्ध में कार्रवाई करनी थी। शेष विषय भारतीय मन्त्रियों को हस्तांतरित किए जाने की व्यवस्था की जानी थी। वे मन्त्री प्रान्तीय विधान सभाओं के प्रति उत्तरदायी थे। मन्त्रियों के साथ अपने सम्बन्धों के विषय में गवर्नर को सदैव वैधानिक शासक के रूप में ही कार्य नहीं करना था। यह सुझाव दिया गया कि स्थानीय स्वराज्य, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा स्वच्छता, कृषि, सार्वजनिक निर्माण कार्य (सिंचाई के कार्य को छोड़ कर) तथा चुंगी के विभाग मन्त्रियों को हस्तांतरित कर दिए जाएँ। गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ाने के सम्बन्ध में भी व्यवस्था की गई तथा यथासम्भव प्रत्यक्ष चुनावों के करने का निश्चय किया गया।

तथापि केन्द्रीय सरकार में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन किए जाने के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी, किन्तु गवर्नर-जनरल की परिषद् में एक भारतीय सदस्य लिये जाने का निश्चय हो गया। भारत मन्त्री का नियन्त्रण वास्तविक रूप में पूर्व की भाँति रहना था।

रिपोर्ट जुलाई १९१८ में प्रकाशित हुई तथा उसकी सर्वत्र निन्दा हुई। दुर्भाग्य से गर्मियों में रौलेट कमेटी की रिपोर्ट के प्रकाशित हो जाने से सम्पूर्ण वातावरण विषैला हो गया। रौलेट कमेटी की सिफ़ारिशें दो बिलों में सम्मिलित की गई थीं। उनके अनुसार न्यायाधीशों को राजनैतिक मामलों की सुनवाई बिना पंच-निर्णय के सूचित क्षेत्रों में करने का अधिकार दिया गया तथा प्रान्तीय सरकारों को किसी व्यक्ति को भी बन्दी करने का अधिकार दिया गया। लोग माण्टेग्यू की सिफारिशों को भूल गये तथा रौलेट बिलों के रूप में ब्रिटिश सरकार के द्वारा दिए गये पुरस्कार पर क्रुद्ध हो गये। महात्मा गाँधी तथा बाल गंगाधर तिलक दोनों ने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक सरकार की कार्रवाई की निन्दा की।

इसी समय १९१९ में प्रसिद्ध जलियाँवाला बाग की दुर्घटना घटी। अन्य बहुत से स्थानों पर दिल्ली, कसूर, लाहौर आदि में मार्च तथा अप्रैल में उपद्रव हुए। पंजाब के कुछ भागों में फौजी शासन लगा दिया गया। नेताओं की गिरफ्तारी से असन्तोष की अग्नि और भी भड़क उठी।

इस तूफान तथा विपत्ति के वातावरण में १९१८ की रिपोर्ट में की गई सिफारिशों से युक्त एक बिल संसद् में २ जून, १९१९ को प्रस्तुत किया गया। वह दोनों सदनों में १८ दिसम्बर, १९१९ को स्वीकृत हो गया तथा २३ दिसम्बर, १९१९ के दिन उस पर सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त हो गई।

१९१९ के अधिनियम की मुख्य धाराएँ (Main Provisions of the Act of 1919)––(१) १९१९ के अधिनियम के द्वारा भारत के प्रशासन में बहुत से परिवर्तन हुए। पहले भारत-मन्त्री को वेतनादि भारत के राजस्व में से मिलता था। इस नये अधिनियम के द्वारा इस बात की व्यवस्था की गई कि भविष्य में उसे वेतनादि ब्रिटिश राजस्व से प्राप्त होगा। तथापि भारत मन्त्री के कुछ कार्य उससे ले लिये गए तथा भारतीय हाई कमिश्नर को दे दिए गये। हाई कमिश्नर की नियुक्ति भारत सरकार के द्वारा होती थी तथा उसे वेतन भी भारत सरकार से ही मिलता था। वह कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल

के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। उसे स्टोर विभाग, भारतीय विद्यार्थी विभाग आदि का कार्य-भार मिलना था। भारत मन्त्री का नियन्त्रण प्रान्तीय क्षेत्र में हस्तांतरित विषयों के सम्बन्ध में कम कर दिया गया, किन्तु केन्द्रीय भारत सरकार के लिये नियन्त्रण पूर्ववत् सम्पूर्ण रहा। भारत मन्त्री भारत के कार्यों के प्रबन्धक, निर्देशक तथा नियन्त्रण के सम्पूर्ण अधिकार रखता था तथा उनका प्रयोग करता था। यह गवर्नर-जनरल का कर्त्तव्य था कि वह भारत मन्त्री की आज्ञाओं का पालन करे।

(२) १९१९ के अधिनियम के द्वारा एक सदन वाले केन्द्रीय सदन के स्थान पर दो सदन वाले विधान-मण्डल की स्थापना की गई। दोनों सदनों के नाम केन्द्रीय विधान सभा तथा राज्य परिषद् थे। राज्यपरिषद् में ६० सदस्य होते थे, जिनमें ३३ का चुनाव होता था तथा २७ गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत होते थे। केन्द्रीय विधान सभा में १४५ सदस्य होते थे, जिनमें से १०३ का चुनाव होता था तथा शेष मनोनीत होते थे। मनोनीत सदस्यों में से २५ सरकारी तथा शेष गैर-सरकारी होते थे। १०३ निर्वाचित सदस्यों में से ५१ सामान्य चुनाव-क्षेत्रों से, ३२ साम्प्रदायिक चुनाव-क्षेत्रों से (३० मुसलमानों के द्वारा तथा २ सिखों के द्वारा) तथा २० विशेष चुनाव-क्षेत्रों से (७ ज़मींदारों के द्वारा, ९ यूरोपियनों द्वारा तथा ४ व्यापार-मण्डलों के द्वारा) चुने जाते थे।

(३) केन्द्रीय विधान सभा का कार्यकाल तीन वर्ष तथा राज्य परिषद् का कार्यकाल ५ वर्ष होता था तथा इस अवधि को गवर्नर-जनरल बढ़ा सकता था। यह उल्लेखनीय है कि अन्तिम विधान सभा ११ वर्षों तक कार्य करती रही। सभा का पहला अध्यक्ष सरकार के द्वारा मनोनीत किया गया तथा तत्पश्चात् अध्यक्षों का चुनाव विधान सभा के सदस्यों के द्वारा किया गया।

(४) मताधिकार समिति ने सिफारिश की थी कि केन्द्रीय विधान सभा के चुनाव अप्रत्यक्ष पद्धति से इस आधार पर होने चाहिएँ, क्योंकि प्रत्यक्ष चुनाव, यद्यपि वे अधिक अच्छे होते हैं, चुनाव क्षेत्रों के बहुत विस्तृत होने के कारण व्यावहारिक नहीं होते। अन्त में भारत सरकार ने केन्द्रीय विधान-मण्डल के दोनों सदनों के लिये प्रत्यक्ष चुनावों के पक्ष में निश्चय किया।

(५) केन्द्रीय विधान-मण्डल के दोनों सदनों के मतदान का अधिकार बहुत अधिक सीमित कर दिया गया। राज्य परिषद् के सम्बन्ध में मतदाताओं के लिये आवश्यक था कि वे या तो १०००० से लेकर २०००० रुपये से कम न होने वाली वार्षिक आय पर आयकर देने वाले हों अथवा ७५० रुपये से ५००० रुपये तक भूमिकर देने वाले हों।

इसके अतिरिक्त जिन लोगों को सार्वजनिक कार्यों का पहले का अनुभव हो अथवा जो लोग विद्या अथवा शिक्षा के सम्बन्ध में ऊँची योग्यता के स्वीकृत किए गये हों, उन्हें भी राज्य परिषद् के लिये सामान्य चुनाव-क्षेत्रों की मतदाता सूची में नाम लिखाने का अधिकार था। विधान सभा के मतदाताओं की योग्यता के सम्बन्ध में ये शर्तें थीं कि या तो वे १५) से २०) तक कम से कम नागरिक कर के रूप में देते हों अथवा ऐसे घर के स्वामी हों जिसका किराया १८०) हो अथवा जो २०००) से ५०००) वार्षिक आय पर आयकर देते हों अथवा ५०) से १५०) तक का भूमिकर वार्षिक (यह रकम प्रान्त-भेद से अलग-अलग थी) देते हों। यह बात उल्लेखनीय है कि राज्य परिषद् के लिये मतदाताओं

की कुल संख्या लगभग १७,३६४ थी तथा विधान सभा के मतदाताओं की कुल संख्या सन् १९२० में ९०६,८७४ थी।

(६) गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह सदनों की बैठक बुला सकता है, स्थगित कर सकता है तथा सदनों को तोड़ भी सकता है। उसे इस बात का भी अधिकार था कि वह दोनों सदनों के सदस्यों के सम्मुख भाषण दे सकता है।

(७) केन्द्रीय विधान-मण्डल को बहुत विस्तृत अधिकार दिए गये। उसे अधिकार था कि सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत के लिये कानून बना सकता है तथा सम्राट् की प्रजा के लिये अथवा सम्राट् के फौजियों के लिये, जो भारत के अन्य भागों में रहते हों, तथा सरकार के उन भारतीय प्रजाजनों के लिये, जो कहीं भी रहते हों, तथा उन सब लोगों के लिये, जो सम्राट् के आधीन सुरक्षा सेना में कार्य कर रहे हों, कानून बना सकता है। वह ब्रिटिश भारत में चालू कानूनों को वापिस ले सकता है अथवा उन्हें परिवर्तित कर सकता है। उसे इस बात का भी अधिकार था कि वह ऐसे कानूनों के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार की कार्रवाई कर सकता है जो उक्त वाक्यों में वर्णित व्यक्तियों पर लागू हों तथापि कौंसिल-स्थित भारत मन्त्री की स्वीकृति ऐसे विषय में आवश्यक थी, जिसके द्वारा किसी उच्च न्यायालय को बन्द करने का प्रस्ताव हो। भारतीय व्यवस्थापिका सभा को ऐसा कोई अधिकार नहीं था कि वह ऐसे संसदीय नियम को वापिस ले अथवा उसमें परिवर्तन करे, जिसका सम्बन्ध ब्रिटिश भारत के साथ हो अथवा ऐसा कोई कार्य करे, जिसका प्रभाव संसद् के अधिकार पर अथवा इंग्लैंड के किसी अलिखित कानून अथवा संविधान पर पड़ता हो।

निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित बिलों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक कार्रवाई के विषय में गवर्नर-जनरल की पूर्व-स्वीकृति आवश्यक होती थी :

(१) भारत का सार्वजनिक ऋण अथवा सार्वजनिक राजस्व;

(२) भारत में रहने वाले ब्रिटिश प्रजाजनों के धर्म, धार्मिक रीतियों तथा व्यवहार;

(३) सम्राट् की फौज—नौ सेना तथा वायुसेना के अनुशासन अथवा रखने के सम्बन्ध में;

(४) भारत सरकार का विदेशी राज्यों अथवा देशी राज्यों के साथ सम्बन्ध; और

(५) गवर्नर-जनरल के द्वारा बनाए गये किसी अध्यादेश अथवा व्यवस्थापिका सभा के किसी अधिनियम को संशोधित अथवा वापिस लेने के सम्बन्ध में कोई कार्रवाई।

(६) इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के किसी सदन को किसी बिल अथवा उसके किसी अंश पर किसी भी अवसर पर विचार करने से रोक दे यदि उसकी सम्मति में "उसका प्रभाव ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की शान्ति तथा सुरक्षा पर पड़ता है।" गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह ऐसे कानून बना सकता है, जिन्हें वह ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा, शान्ति तथा हितों के लिये आवश्यक समझता है, यदि दोनों सदनों में से कोई एक सदन उसे स्वीकार करने से इनकार करता है अथवा उसके स्वीकार किए जाने में असफल हो जाता है। प्रत्येक ऐसे अधिनियम पर सम्राट् की स्वीकृति आवश्यक

थी। गवर्नर-जनरल को अधिकार था कि वह आवश्यकता पड़ने पर शान्ति के लिये अध्यादेश जारी अथवा लागू कर सके। गवर्नर-जनरल के द्वारा जारी किए गए अध्यादेश का वही कानूनी महत्त्व था, जो भारतीय व्यवस्थापिका के द्वारा स्वीकृत किसी कानून का। इसकी अवधि छः मास होती थी। गवर्नर-जनरल को अधिकार था, कि वह किसी ऐसे निश्चय को, जिसे दोनों केन्द्रीय सदन स्वीकार कर चुके हों, अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति देने से पूर्व उन्हें पुन: विचार करने के लिए भेज सकता था। व्यवस्थापिका सभा के द्वारा स्वीकृत किसी कानून अथवा अधिनियम लागू करने से पूर्व गवर्नर-जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी। उसे इस बात का अधिकार था कि वह अपनी स्वीकृति दे दे अथवा बिल के सम्बन्ध में सम्राट् की इच्छानुसार स्वीकृति के लिए सुरक्षित कर दे। सम्राट् को इस बात का अधिकार था कि वह भारतीय व्यवस्थापिका सभा अथवा गवर्नर-जनरल के द्वारा बनाए गए किसी अधिनियम को अस्वीकार कर दे। गवर्नर-जनरल का "वीटो" का अधिकार वास्तविक था तथा कई अवसरों पर उसका वास्तविक प्रयोग किया गया था।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के दोनों सदनों को इस बात का अधिकार था कि वे प्रश्नोत्तर तथा पूरक प्रश्न कर सकें, प्रस्ताव रख सकें, काम रोको प्रस्ताव भी कर सकें तथा नियमानुसार व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यों का प्रारम्भ कर सकें। सदस्यों को दोनों सदनों में भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया था।

(७) केन्द्रीय बजट के सम्बन्ध में सरकार विनियोग के विषय में अपने सुझाव अनुदान के लिये माँगों के रूप में देती थी, जिससे उसे भारतीय धारा सभा में मतदान के लिये प्रस्तुत किया जा सके। तथापि बजट में ऐसी कुछ मदें भी थीं जिन पर मत नहीं लिया जा सकता था। उन मदों पर किसी भी सदन में चर्चा नहीं हो सकती थी, जब तक कि गवर्नर-जनरल इसके विपरीत निर्देश करे। 'व्यय की शेष सब मदें धारा सभा के सम्मुख सम्मत्यर्थ प्रस्तुत की जाती थीं, जो किसी भी माँग को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती थी, अथवा किसी माँग में सम्पूर्ण अनुदान में कमी के द्वारा रुपये की कमी कर सकती थी।" यदि गवर्नर-जनरल को सन्तोष हो जाता था कि कोई माँग, जिसे धारा सभा ने अस्वीकार कर दिया है, उसके उत्तरदायित्व को निभाने के लिए आवश्यक है, तो वह उस अनुदान को फिर से बहाल कर सकता है, यद्यपि उसे धारा सभा ने अस्वीकार कर दिया था। आवश्यकता पड़ने पर उसे इस बात का अधिकार था कि "वह ऐसे व्यय के लिये स्वीकृति दे सकता है जो उसकी सम्मति में ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा के लिये आवश्यक हो।"

यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय धारा सभा केन्द्रीय कार्यकारिणी के सम्मुख असहाय थी। कार्यकारिणी धारा सभा से न केवल स्वतन्त्र थी, अपितु लगभग सभी विषयों में वह उसके निर्णयों को रद्द करने का अधिकार रखती थी।

(८) यह ठीक ही कहा गया है कि १९१९ के अधिनियम के द्वारा केन्द्र में उत्तरदायी सरकार नहीं अपितु सहानुभूतिशील सरकार का आरम्भ हुआ। गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सदस्य मनोनीत सदस्य थे। जनता का न उनकी नियुक्ति में और न उनके अलग करने में कोई हाथ था। धारा सभा का कोई अविश्वास का प्रस्ताव उन्हें निकाल नहीं सकता था, किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कार्यकारिणी के

सदस्यों ने केन्द्रीय धारा सभा के सदस्यों तथा उनके द्वारा देश की जनता की इच्छाओं का आदर किया। धारा सभा के कुछ सदस्य स्थायी समितियों के, जैसे अर्थ समिति तथा सार्वजनिक हिसाब समिति के, सदस्य थे। इस प्रकार उन्हें सरकार को प्रभावित करने का अवसर प्राप्त हुआ। सदस्य सरकार को--प्रश्न, पूरक प्रश्न तथा काम रोको प्रस्ताव उपस्थित करके--सारी स्थिति जान सकते थे। वे बजट को अस्वीकार कर सकते थे तथा सरकार के विरुद्ध प्रस्तावों को प्रस्तुत तथा स्वीकृत कर सकते थे। ये कारण थे, जिनके कारण सरकार को धारा सभा के सदस्यों की इच्छाओं का ध्यान रखना पड़ा। बड़े से बड़ा अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्यकारिणी का सदस्य धारा सभा के सदस्यों की इच्छाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता था। इस प्रकार यद्यपि प्रबन्धकारिणी धारा सभा से स्वतन्त्र थी तथापि धारा सभा अपने नागरिकों पर प्रभाव डाल सकती थी। केन्द्रीय धारा सभा के निर्वाचित सदस्यों के भारी मत ने सरकार की स्थिति विषम कर दी थी तथा इस परिस्थिति को सुधारने का एकमात्र उपाय यह था कि प्रशासन कार्य जनता की इच्छानुसार चलाया जाए।

(९) नये अधिनियम में दो प्रकार के विषयों की सूचियाँ बनीं--केन्द्रीय सूची तथा प्रान्तीय सूची। इस विभाजन का आन्तरिक उद्देश्य यह था कि जिन विषयों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण भारत के लिये अथवा एक से अधिक प्रान्तों के लिये एक जैसा कानून आवश्यक हो, उसे केन्द्रीय समझा जाए। दूसरी ओर वे कानून, जिनमें किसी विशेष प्रान्त की रुचि हो, प्रान्तीय समझा जाए। केन्द्रीय विषय ये थे--सुरक्षा, विदेश तथा राजनैतिक सम्बन्ध, सार्वजनिक ऋण, पण्यशुल्क तथा चुंगी, डाक तथा तार, पेटेन्ट तथा कापी राइट, मुद्रा तथा सिक्के, संचार, वाणिज्य तथा नौ-चालन, दीवानी तथा फौजदारी कानून तथा उसकी पद्धति, बड़ी-बड़ी बन्दरगाहें आदि। प्रान्तीय विषय ये थे—स्थानीय स्वराज्य, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सफाई तथा चिकित्सा का प्रशासन, शिक्षा, सार्वजनिक निर्माण कार्य, जल-व्यवस्था तथा सिंचाई, भूमि-कर, राजस्व प्रशासन, अकाल सहायता, कृषि, वन, सहयोगी संस्थाएँ, कानून तथा शान्ति-व्यवस्था आदि। शेष विषयों को केन्द्र तथा प्रान्तों में उसी प्रकार उसी सिद्धान्त के अनुसार बाँटा गया था, जिस प्रकार सूचियाँ बनाई गई थीं। यह बात उल्लेखनीय है कि विभाजन स्पष्ट अथवा निश्चित नहीं था। आलोचकों का कहना है कि व्यापार तथा सम्पत्ति सम्बन्धी कानून केन्द्रीय सूची में रखे गए थे, आवश्यक कानून जैसे चुँगी तथा भूमि अधिकार सम्बन्धी कानून प्रान्तों को दे दिये गए। यद्यपि सभी विषय जो प्रान्तीय सूची में थे, वे प्रशासन के लिए प्रान्तीय थे, किन्तु कानून-निर्माण की दृष्टि से ऐसा नहीं किया गया था। उनके कुछ भाग, जिनके सम्बन्धों में कानूनों का एक जैसा होना वाँछनीय समझा गया था, वे "भारतीय धारा सभा के कानून-निर्माण के अनुसार बनाये गये।" ये विषय थे स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं के ऋण तथा कर लगाने के सम्बन्ध में अधिकार, मनुष्यों, पशुओं तथा पौधों के छूत सम्बन्धी तथा रोग फैलाने वाले रोग, जल-व्यवस्था, सिंचाई, औद्योगिक विषय, जिनमें कारखाने, बिजली, मजदूरों के विवादों को निबटाना, समाचार-पत्रों तथा छापेखानों का नियन्त्रण आदि था।

(१०) प्रान्तीय धारा सभाओं की सदस्य संख्या में बहुत वृद्धि कर दी गई। जब कि प्रान्तीय धारा सभाओं के ७०% सदस्य निर्वाचित होते थे, लगभग ३०% सदस्य

गवर्नर द्वारा मनोनीत किये जाते थे। इन मनोनीत सदस्यों में से कुछ सरकारी तथा कुछ गैर-सरकारी होते थे। धारा सभा का कार्य-काल सामान्य रूप से तीन वर्ष हुग्रा करता था, किन्तु यदि गवर्नर चाहे तो वह उसे तीन वर्ष से पूर्व भी स्थगित कर सकता था। गवर्नर उसके कार्यकाल में वृद्धि भी कर सकता था। सदस्यों को ग्रधिकार दिया गया कि वे प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकें। वे बजट को ग्रस्वीकार कर सकते थे, यद्यपि ग्रावश्यकता पड़ने पर गवर्नर उसे बहाल कर सकता था।

(११) १९१९ के ग्रधिनियम के द्वारा प्रान्तों में दोहरा राज्य ग्रारम्भ हो गया। इस पद्धति के ग्रनुसार प्रान्तीय सरकारों के द्वारा विषयों को दो भागों में बाँटा जाता था——हस्तांतरित तथा सुरक्षित विषय। सुरक्षित विषयों की व्यवस्था गवर्नर कार्यकारिणी की सहायता से तथा हस्तांतरित विषयों की व्यवस्था गवर्नर ग्रपने मंत्रियों की सहायता से करता था। जब कि कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों को गवर्नर मनोनीत करता था, मंत्रियों का चुनाव गवर्नर धारा सभा के सदस्यों में से करता था। सुरक्षित विषय निम्नलिखित थे——न्याय व्यवस्था, पुलिस, सिंचाई तथा नहरें, भूमिगत नालियाँ तथा बाँध, जल को इकट्ठा करना तथा जल शक्ति, भूमि-राजस्व व्यवस्था, भूमि-सुधार तथा कृषि-सम्बन्धी ऋण, ग्रकाल सहायता, समाचार पत्रों, पुस्तकों, छापेखानों, जेलों तथा सुधार-गृहों की व्यवस्था, प्रान्तों के उत्तरदायित्व पर ऋण लेना, बम्बई तथा बर्मा के वनों को छोड़ कर बन, कारखानों का निरीक्षण, मज़दूरों के कलहों का निबटाना, ग्रौद्योगिक बीमा तथा ग्रावास। निम्नलिखित विषय हस्तांतरित थे——स्थानीय स्वराज्य, इसमें नगरपालिका, निगमों तथा ज़िला बोर्डों के मामले सम्मिलित थे, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफ़ाई तथा डाक्टरी व्यवस्था, जिसमें ग्रौषधालयों तथा पागलखानों की व्यवस्था सम्मिलित है, तथा डाक्टरी शिक्षा के लिये व्यवस्था, भारतीयों की शिक्षा, सार्वजनिक निर्माण-कार्य, जिसमें सड़कों, पुल तथा नगरपालिका की ट्रामें भी सम्मिलित हैं, किन्तु इनमें सिंचाई, कृषि तथा मछली पकड़ने का कार्य सम्मिलित नहीं था; सहयोगी संस्थाएँ, चुंगी, केवल बम्बई तथा बर्मा के बन, उद्योगों का विकास, जिसमें ग्रौद्योगिक खोज तथा ग्रौद्योगिक शिक्षा सम्मिलित है। प्रान्तीय गवर्नर वैधानिक मुख्याधिकारी नहीं था। उसे बहुत से विशेष उत्तरदायित्व दिये गये थे। उसे ग्रधिकार था कि वह ग्रपने मन्त्रियों तथा कार्यकारिणी के सदस्यों के निश्चयों को भी बदल सके, यदि ऐसा उसके उत्तरदायित्व को पालन करने के लिये ग्रावश्यक समझा जाय। गवर्नर से यह ग्राशा की जाती थी कि वह मंत्रियों तथा कार्यकारिणी के सदस्यों के मध्य संयुक्त परामर्श को प्रोत्साहित करे। ऐसी व्यवस्था की गई कि ग्रावश्यकता होने पर हस्तांतरित विषयों की ग्रस्थायी व्यवस्था की जा सके। यदि किसी मंत्री पर किसी हस्तांतरित विषय का उत्तरदायित्व नहीं होता था तब गवर्नर स्वयं ग्रस्थायी रूप से उसका उत्तरदायित्व तब तक के लिये संभालता था जबतक किसी मंत्री की नियुक्ति होती थी। कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल कौंसिल-स्थित भारत मन्त्री की पूर्व-स्वीकृति से प्रान्त में तथा सब ग्रथवा किसी विषय को हटा ग्रथवा स्थगित कर सकता था तथा उस स्थिति में वे विषय सुरक्षित विषयों में सम्मिलित कर लिये जाते थे तथा गवर्नर-जनरल के द्वारा प्रशासित होते थे।

द्वैधशासन की पद्धति का प्रचलन (Working of Dyarchy)——द्वैधशासन की

पद्धति १९२१ से १९३७ तक प्रान्तों में चालू रही किन्तु अनुभव बताता है कि यह पद्धति सन्तोषजनक रूप से नहीं चली। इस पद्धति की असफलता के कई कारण थे :—

(१) द्वैध शासन का सिद्धान्त ही भूल से भरा था। प्रशासन का दो भागों में विभाजन, जो एक दूसरे से स्वतन्त्र थे, सरकारों की राजनीति, सिद्धान्त तथा प्रक्रिया के विरुद्ध था। राज्य एक प्रकार का संगठन है तथा दोनों भागों को एक दूसरे से पूर्णरूप से अलग नहीं किया जा सकता। तथापि १९१९ के अधिनियम के अनुसार विषयों का वास्तविक विभाजन शीघ्रता में किया गया था। १९१९ के अधिनियम में जिस विभाजन की चेष्टा की गई थी उससे बुरा और विभाजन नहीं हो सकता था। सर के०वी० रेड्डी, जो मद्रास के मंत्री रह चुके हैं, का कथन है—"मैं एक विकास मंत्री था किन्तु मेरे आधीन बन नहीं थे। मैं कृषि मंत्री था, किन्तु सिंचाई-विभाग मेरे आधीन नहीं था। कृषि मंत्री के रूप में मद्रास के ज़मींदारों के ऋण अधिनियम अथवा मद्रास भूमि सुधार ऋण अधिनियम के प्रशासन-कार्य के सम्बन्ध में मेरा कोई कार्य नहीं था। कृषि मंत्री अकाल सहायता के सम्बन्ध में तो कोई कार्रवाई कर ही नहीं सकता था। कृषि मंत्री की योग्यता तथा प्रभाव के सम्बन्ध में सिंचाई, कृषि-सम्बन्धी ऋण, भूमि-सुधार ऋण, तथा अकाल सहायता के विना केवल कल्पना ही की जा सकती है, वर्णन नहीं की जा सकती। इसके साथ ही मैं उद्योग मंत्री था किन्तु कारखाने, भाप यन्त्र तथा जल-विद्युत, खानें अथवा श्रम विभाग मेरे आधीन न होकर सुरक्षित विषय थे जब कि शिक्षा एक हस्तांतरित विषय था। यूरोपियनों तथा एंग्लो-इण्डियनों की शिक्षा एक सुरक्षित विषय था।"

श्री सी० वाई० चिन्तामणि ने, जो उत्तर प्रदेश के मंत्री रह चुके हैं, द्वैधशासन पद्धति के कार्य के सम्बन्ध में कुछ दृष्टान्त दिये हैं। १९२१ में एक जाँच कृषि विभाग में भूमि के टुकड़े करने के सम्बन्ध में आरम्भ की गई। जब रिपोर्ट १९२२ में प्रस्तुत की गई तब यह अनुभव किया गया कि प्रश्न पर राजस्व विभाग के द्वारा कार्रवाई की जानी चाहिए थी तथा मामला उस विभाग को हस्तांतरित कर दिया गया। १९२४ में यह निश्चय किया गया कि यह विषय सहकारी विभाग को भेज दिया जाए, जिससे वह सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार के बहुत से दृष्टान्त प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

(२) सरकार के दोनों विभागों में किसी प्रकार का वास्तविक सम्बन्ध नहीं था। मंत्रिगण जनता के प्रतिनिधि थे। कार्यकारिणी के सदस्य नौकरशाही से सम्बन्धित थे। वे सामान्य रूप से मिलकर कार्य नहीं कर सकते थे। उनमें निरन्तर कलह रहती थी। कभी-कभी मंत्री तथा कार्यकारिणी के सदस्य सार्वजनिक रूप में एक दूसरे की निन्दा करते थे। इसके परिणामस्वरूप प्रशासन-कार्य पर बुरा प्रभाव पड़ता था। सिद्धान्त के रूप में गवर्नर कार्यकारिणी के सदस्यों का समर्थन करता था क्योंकि वह स्वयं उसी श्रेणी से सम्बन्ध रखता था, जिससे उनका सम्बन्ध था।

(३) मन्त्रियों की स्थिति अत्यन्त कमज़ोर थी। उन्हें दो स्वामियों की सेवा करनी पड़ती थी। वे दो स्वामी थे—गवर्नर तथा धारा सभा। गवर्नर अपनी इच्छानुसार किसी मन्त्री को नियुक्त करता तथा हटाता था। वह अपने विभाग के प्रशासन के लिये धारा सभा के प्रति उत्तरदायी था। वह धारा सभा के द्वारा अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा अलग किया जा सकता था। व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से मन्त्री धारा सभा की

अपेक्षा गवर्नर का अधिक ध्यान रखते थे। प्रान्तीय धारा सभाओं में दृढ़ दल नहीं थे। इसका परिणाम यह था कि किसी मन्त्री के समर्थन में किसी प्रकार का बहुमत प्राप्त नहीं था। उसे सदैव धारा सभा में सरकारी क्षेत्र के समर्थन तथा सहायता पर निर्भर करना पड़ता था। जबकि प्रान्तीय धारा सभा के निर्वाचित सदस्य विभिन्न धर्मों के आधार पर अनेक दलों में बँटे हुए थे, तथापि सरकारी दल का समर्थन, जो सदा गवर्नर के संकेत पर मतदान देता था, सदा उस मन्त्री को प्राप्त होता था जो गवर्नर का ध्यान रखता था। इसलिए मन्त्री सदा गवर्नर की ओर देखते रहते थे तथा उस पर निर्भर रहते थे। यह कहा जाता है कि पानागल के राजा स्पष्ट रूप से मद्रास धारा सभा में यह कहा करते थे कि वे केवल गवर्नर के प्रति उत्तरदायी हैं तथा और किसी के प्रति नहीं। कुछ अवस्थाओं में मन्त्रियों को आशा होती थी कि वे मन्त्री रूप में अपने कार्य-काल की समाप्ति पर कार्यकारिणी के सदस्य बन जाएँगे। इस सबका परिणाम यह होता था कि मन्त्री शान वाले सचिव भर रह जाते थे। सी० वाई० चिन्तामणि ने ठीक ही कहा कि मन्त्रियों की कोई शक्ति नहीं थी। "शक्ति गवर्नर के हाथों में है न कि मन्त्रियों के हाथों में।" गवर्नर मन्त्री के आधीन किसी भी मामले में हस्तक्षेप कर सकता था। सी० पी० के केलकर के अनुसार उसे नीति के मामले में कार्य करने की अनुमति दी जाती थी, किन्तु विस्तार में उसका निरन्तर हस्तक्षेप किया जाता था। "दृष्टान्तके रूपमें मैं यह नहीं विचार सकता था कि किस प्रकार एक गवर्नर नगरपालिका के सम्बन्ध में हस्तक्षेप न करनेवाली मेरी नीतिका समर्थन कर सकता था, जो नगरपालिका अपने कार्यालय में राष्ट्रीय झण्डा लहराना चाहती थी तथा किस प्रकार वही गवर्नर मुझे एक डिप्टी कमिश्नर की आज्ञा को स्थापित करने के लिये कह सकता था जिसने एक नगरपालिका के उस प्रस्ताव को स्थगित कर दिया था जिसके द्वारा उसके कर्मचारियों को खद्दर की वर्दी पहनने के लिये कहा गया था।"

(४) गवर्नर इस बात का ध्यान नहीं रखते थे कि वे मन्त्रियों में संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना को प्रोत्साहित करें। मन्त्री कभी साथियों के समान कार्य नहीं करते थे। वे सदैव परस्पर लड़ते रहते थे। कलकत्ता नगर निगम अधिनियम के मामले में नवाब साहेब तथा सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने स्पष्ट रूप से परिषद् में एक दूसरे का विरोध किया। १९२८ में सर फ़िरोज़खान नून ने सार्वजनिक रूप से अपने हिन्दू साथियों के कार्य के सम्बन्ध में निन्दा की। यह बात उल्लेखनीय है कि एक मन्त्री के हटाए जाने अथवा त्याग-पत्र के कारण उसके साथियों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। गवर्नर प्रत्येक मन्त्री के साथ अलग-अलग रूप से व्यवहार करता था।

(५) स्थायी सेवाओं की स्थिति के कारण बहुत सी दिक्कतें हुईं। अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्यों की नियुक्ति, वेतन, हटाया जाना तथा हस्तांतरण ये सभी बातें भारत मन्त्री के नियन्त्रण में थीं। ये व्यक्ति भारत मन्त्री के नियन्त्रण में ही रहे, यद्यपि उनकी तबदीली ऐसे विभागों में हो गई, जो हस्तांतरित विभाग थे। वे मन्त्रियों की भी परवाह नहीं करते थे। जब कभी उनके विभागों में रिक्त स्थान होते थे, तो मन्त्रियों को अधिकार नहीं था कि वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को चुन सकें। आवश्यक पदों में से अधिकांश अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्यों के लिये सुरक्षित थे। मद्रास के सम्बन्ध में जब मुख्य सर्जन का पद रिक्त हुआ, उस विभाग के द्वारा मन्त्री अपने मनोनीत व्यक्ति को नियुक्त

न करा सका । एक अखिल भारतीय मैडिकल सेवा के अफसर को स्थान पूर्त्ति के लिये भेजा गया । यद्यपि मन्त्री चाहता था कि वह भारतीय पद्धति की चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहित करे, मुख्य सर्जन ने उसके विचारों की कुछ भी परवाह न की। हमें बताया गया कि कुछ पद व्यर्थ थे। किन्तु विभागीय मन्त्री को इस बात का कुछ भी अधिकार न था कि वह उन पदों को खत्म कर सके। उत्तर प्रदेश के सम्बन्ध में एक जिला अफ़सर ने चुंगी के एक मामले में अपील के लिये प्रार्थना करने से इनकार कर दिया, जैसे कि मन्त्री ने आदेश दिया था। कार्यकारिणी के एक सदस्य ने उसका समर्थन किया। सामान्य नियम के अनुसार गवर्नरों से आशा की जाती थी कि वे मन्त्रियों के विरुद्ध नागरिक सेवाओं के सदस्यों का समर्थन करेंगे।

(६) प्रवन्ध-सम्बन्धी कार्य के नियमों के अनुसार उन मामलों को जिनमें मंत्री, स्थायी सचिव अथवा विभागीय प्रमुख अथवा डिवीज़न के कमिश्नर की सम्मति से मतभेद होता हो, गवर्नर के पास उसके अन्तिम आदेशों के लिये भेजा जाता था। सचिव तथा विभागीय अध्यक्ष दोनों सीधे गवर्नर के पास पहुँच सकते थे । सचिव की गवर्नर के साथ साप्ताहिक भेंट हुआ करती थी तथा वह अपने विभाग के विषय में गवर्नर से सब कुछ चर्चा कर सकता था। इससे मंत्रियों की स्थिति अवश्य कमज़ोर होती होगी। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि गवर्नर को किसी विभाग के सम्बन्ध में ऐसी बातें ज्ञात होती थीं, जिन्हें मन्त्री तक नहीं जानता था।

(७) द्वैध शासन की असफलता का एक और कारण यह था कि अर्थ विभाग कार्यकारिणी परिषद् के एक सदस्य के हाथों में सुरक्षित था । राष्ट्र-निर्माण के सब के सब विभाग तो मंत्रियों को दे दिए गये, किन्तु उन्हें उनके लिये धन नहीं दिया गया। इसका परिणाम यह था कि मंत्रियों को वित्त सचिव की कृपा पर निर्भर रहना पड़ता था। भारतीय नागरिक सेवा का सदस्य होने के नाते वित्त सचिव की भारतीयों की भावनाओं के साथ, जिसका प्रतिनिधित्व मंत्रियों के द्वारा होता था, कोई सहानुभूति नहीं थी। यह सुरक्षित विभागों की आवश्यकताओं का हस्तांतरित विभागों की अपेक्षा अधिक ध्यान रखता था। सी० वाई० चिन्तामणि के विचार में अर्थ-सदस्य निश्चित रूप में इस बात के लिये अधिक उत्सुक रहता था कि उसके सुरक्षित विभागों को उनकी आवश्यकता के अनुसार पहले सारा धन मिल जाए तब अन्य विभागों की बारी आती थी। कई अवस्थाओं में अर्थ विभाग किसी योजना की परीक्षा करने से इस आधार पर इनकार कर देता था कि धन के प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है । उत्तर प्रदेश के सम्बन्ध में अर्थ विभाग ने एक वार एक परिपत्र सभी विभागों के अध्यक्षों को भेज़ा कि वे ऐसे सुझाव न भेजें, जिन पर व्यय होने की आशा हो। जब वास्तव में ऐसा पता चला कि धन प्राप्त हो सकता है तब वित्त विभाग ने यह कहा कि कुछ भी धन नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि सुझाव ठीक समय पर प्रस्तुत नहीं किए गये। कई बार वित्त विभाग का यह उत्तर होता था कि सुझाव ऐसे नहीं हैं "जिन पर रुपया व्यय किया जाए।" हमें वतलाया गया है कि यद्यपि योजनाएँ स्वीकार कर ली जाती थीं, तथापि उनके साधन तथा उपाय अथवा मार्ग ऐसे होते थे, जिससे उनका वास्तविक उद्देश्य समाप्त हो जाता था अथवा उन्हें वर्ष के अन्त तक स्थगित रखा जाता था, जिससे मंत्री को विवश होकर पुनः नये सिरे से आरम्भ करता

पड़े। चिन्तामणि के अनुसार, "मैं यह बात बिना किसी अतिशयोक्ति के कह सकता हूँ कि उत्तर प्रदेश के दोनों मंत्रियों का सामान्य अनुभव इस सम्बन्ध में यह रहा कि वे जब कभी वित्त विभाग में जाते, तो उन्हें महान् कठिनाइयों का सामना करना पड़ता, उन्हें बार-बार गवर्नर के पास जाना पड़ता था और गवर्नर हर बार उनका पक्ष नहीं लेता था। अन्त में उन्हें गवर्नर के पक्ष में आत्म-समर्पण करके ही उन्हें उनके दृष्टिकोण में सफलता प्राप्त होती थी।

(८) द्वैध शासन के सफलतापूर्ण कार्य में एक बाधा और पड़ती थी। इसका जन्म किसी भाग्यहीन नक्षत्र में हुआ था। पंजाब में कुछ घटनाओं तथा तुर्की के प्रति अंग्रेजों के रवैये के कारण देश में राजनैतिक वातावरण सन्देह तथा अविश्वास से भरा हुआ था। १९२० में वर्षा नहीं हुई तथा इससे लोगों का कष्ट और भी बढ़ गया। मण्डी में मन्दी आ गई। इस सबका परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की अर्थ-व्यवस्था विशृङ्खल हो गई। भारत का अनुकूल व्यापार ढाँचा भी टूट गया। मैस्टन निर्णय के आधीन प्रान्तीय सरकारों के लिये भारत सरकार को कुछ निश्चित वार्षिक धनराशि देने का निश्चय हुआ। आर्थिक संकट के कारण भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों से उक्त पूरी धनराशि की माँग की। प्रान्तीय सरकारें स्वयं बुरी अवस्था में थीं। बिना धन के द्वैध शासन के चलने की आशा न थी।

(९) साधारण व्यक्ति भी यह जानता था कि १९१९ के सुधारों में मध्यम मार्ग का आश्रय लिया गया था। भारतीय यह जानते थे कि उन्हें भविष्य में अधिक मिलने की आशा है। इसका परिणाम यह था कि भारत में जनता सुधारों के सम्बन्ध में उचित परीक्षण भी देने के लिये तत्पर न थी।

द्वैध शासन के कार्य के सम्बन्ध में सर एच० बटलर कहते हैं—"भारत में यह एक प्रकार की गाली की परिभाषा ही बन गई है। मैंने एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के लिये यह चिल्लाते हुए सुना "तुम द्वैध शासन हो।" "मैं तुम्हें द्वैध शासन से मारूँगा।" ऐसा एक लड़के ने दूसरे लड़के से कहा। तथा जब उससे पूछा गया कि द्वैध शासन क्या है? तो उसने उत्तर दिया कि यह रैकट का नया दाँव है। मेरा बर्मा के एक गाँव में एक द्वैध शासनात्मक बैंड के द्वारा स्वागत हुआ है जो होम रूल बैंड के विरुद्ध गाँव वालों के पूर्ण उत्साह से रेंक रहा था। किन्तु किसी को भी इस बात का बहुत कम पता था कि स्वराज्य अथवा द्वैध शासन का कम से कम क्या अभिप्राय है।"

राबर्ट्स के अनुसार, "द्वैधशासन ऐसा यन्त्र है, जो विकल्पों के लम्बे परीक्षण के पश्चात् प्रकट हुआ। इसमें निस्सदेह कष्ट के बीज थे। निस्संदेह, इतिहास में अन्तरिम युग हुए हैं, किन्तु उनके विषय में ऐसी खोज तो ऐतिहासिकों की तत्कालीन जाँच से ही सम्भव हो सकी है। राष्ट्रीय विकास के सफल क्रमों को सामान्य रूप से बारी-बारी सभी अन्तिम समझते रहे हैं। १९१९-२९ के सम्बन्ध में विशेषता यह है कि वह युग वैसा था, जैसी कि माँग थी···पूर्ण वैधानिक अधिनियम के द्वारा जिससे उसके अपने क्षणिक स्वभाव का विचार किया जाए तथा इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि वह सदा निराशापूर्ण मार्ग से लम्बी आशानुकूल मृत्युशैय्या की ओर बढ़ रहा था।" (ब्रिटिश भारत, पृ० ५८९-९०)

थामसन और गराट के मतानुसार ये सुधार असफल हुए। भारतीय मन्त्रियों ने

३ वर्ष तक प्रान्तों में सफलतापूर्वक कार्य किया। सरकार में भारतीयकरण की प्रक्रिया चालू रही। (ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, पृ० ६१५)

भारत सरकार का अधिनियम, १९३५ (Government of India Act, 1935)—१९१९ के सुधारों को काँग्रेस ने अपर्याप्त, असन्तोषजनक तथा निराशापूर्ण घोषित किया था। इसीलिए जब पहली बार उन सुधारों को लागू किया गया तब कांग्रेस ने चुनावों में भाग लेने से इनकार कर दिया। तथापि बाद में स्वराज्य दल ने केन्द्रीय धारा सभा में प्रवेश किया। मुडीमैन कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, किन्तु उसकी सिफारिशों को कार्यान्वित नहीं किया गया। बाद में साइमन कमीशन ने भारतवर्ष का भ्रमण किया तथा १९३० में अपना प्रतिवेदन दे दिया। लन्दन में १९३०, १९३१ तथा १९३२ में तीन गोलमेज सम्मेलन हुए, जिससे भारत के नये संविधान के भविष्य के सम्बन्ध में निश्चय किया जा सके। अगस्त १९३२ में रैम्ज़े मैकडानल्ड ने अपने प्रसिद्ध साम्प्रदायिक निर्णय को घोषित किया। मार्च १९३३ में प्रसिद्ध श्वेत-पत्र प्रकाशित हुआ। संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट १९३४ में प्रकाशित हुई तथा १९३५ में प्रसिद्ध भारत सरकार का अधिनियम स्वीकृत हुआ।

अधिनियम की धाराएँ—(१) अधिनियम के द्वारा एक अखिल भारतीय संघ की व्यवस्था की गई। भारतीय संघ के प्रश्न ने एक विशेष समस्या प्रस्तुत कर दी क्योंकि भारतीय रियासतों तथा ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के कानूनी दर्जे तथा उनके आन्तरिक राजनैतिक रचना-सम्बन्ध में बहुत अन्तर था। भारतीय रियासतें भारत सरकार के राजनैतिक विभाग के पूर्ण नियन्त्रण के आधीन थीं। दूसरी ओर प्रान्तों को एक प्रकार की प्रजातान्त्रिक सरकार प्राप्त थी। १९३५ के अधिनियम के अनुसार सब प्रान्तों को अन्त में भारतीय संघ में सम्मिलित होना था। संघ में प्रवेश प्रत्येक रियासत के लिये पूर्ण रूप से वैकल्पिक कार्य था, चाहे वह रियासत कितनी ही छोटी तथा अनुल्लेखनीय क्यों न हो। संघ में प्रवेश के समय रियासत के शासक को सम्राट् के पक्ष में सम्मिलित होने के प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर करने आवश्यक थे। उस प्रार्थना-पत्र के स्वीकार हो जाने पर, वह रियासत संघ की एक इकाई समझी जानी थी। सरकार को संघ में मिलने के लिए ऐसे प्रार्थना-पत्र को स्वीकृत करने से रोक दिया गया यदि शर्तें संघ की योजना के सम्बन्ध में अनुकूल अथवा पूर्ण न हों। प्रान्तों को संघीय धारा सभा में सदस्य संख्या तथा उनके संघ के अन्तरंग अधिकारों के सम्बन्ध में समानता प्राप्त थी, किन्तु रियासतों को संघ में अपने अधिकारों की सीमा के सम्बन्ध में भिन्नता प्राप्त थी। संघीय सीमा का रियासतों का क्षेत्राधिकार पूर्ण रूप से इस बात पर निर्भर था कि उनके अपने-अपने शासक रियासत को संघ में मिलाने के नियमों के सम्बन्ध में हस्तांतरण करते हैं। शर्तों के द्वारा विभिन्न संघीय अधिकारियों को अधिकार दिया गया था कि वे अपने-अपने कार्यों को अधिनियम के आधीन उस विशेष रियासत के सम्बन्ध में प्रयोग करें। शासक का यह कर्त्तव्य निश्चित किया गया कि वह इस बात का ध्यान रखे कि उसकी अपनी रियासत में अधिनियम की उन धाराओं को उस सीमा तक कार्यान्वित किया जा रहा है, जैसे कि शर्तों में वर्णन किया गया हो। शासक को यह भी अधिकार दिया गया कि वह संघीय अधिकारियों के कर्त्तव्यों को किसी सहायक आज्ञा-पत्र के द्वारा अपनी रियासत में लागू कर दे,

किन्तु कोई अन्य आज्ञा-पत्र संघ के अधिकार-क्षेत्र में कमी नहीं कर सकता था, जैसे कि मौलिक आज्ञा-पत्र में विधान हो।

भारतीय रियासतों को संघीय सभा में १२५ सदस्य तथा राज्य परिषद् में १०४ सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया। प्रान्तों को संघीय सभा में २५० तथा राज्य परिषद् में १५६ सदस्य भेजने का अधिकार था। भारतीय रियासतों के सदस्यों को उनके शासकों ने मनोनीत करना था, किन्तु प्रान्तों के सदस्यों का चुनाव साम्प्रदायिक पद्धति से होना था।

सम्राट् की ओर से भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में भारत में समस्त कार्य उसके प्रतिनिधि को करने होते थे, जो वास्तव में वायसराय स्वयं था।

(२) १९३५ के अधिनियम के द्वारा जिस भारतीय संघ की व्यवस्था की गई थी वह अन्य संघीय प्रणालियों से अलग था। केन्द्र तथा इकाइयों के मध्य अधिकारों का कोई सरल वर्गीकरण नहीं था। अधिनियम के द्वारा तीन सूचियों की व्यवस्था की गई—संघीय सूची, प्रान्तीय सूची तथा संयुक्त सूची। संघीय सरकार को अधिकार दिया गया कि वह संघीय सूची में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में कानून स्वीकृत कर सके। प्रान्तीय सूची में दिए गए विषय एक-मात्र प्रान्तीय धारा सभा के अधिकार-क्षेत्र में थे। संयुक्त सूची के सम्बन्ध में संघीय तथा प्रान्तीय धारा सभाएँ उस सूची में दिए गये विषयों के सम्बन्ध में कानून स्वीकृत कर सकती थीं। तथापि यदि संघीय विधान सभा शेष सूची में दिए गये किसी विषय पर कानून बना ले, तो प्रान्तीय विधान सभा को यह अधिकार नहीं था कि वह उसी विषय पर पुनः कानून बना सके। अधिकारों के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल को यह निश्चय करने का अधिकार दिया गया कि किसी विशेष विषय को तीनों सूचियों में से किस में सम्मिलित किया जाए।

(३) १९३५ के अधिनियम के द्वारा केन्द्र में द्वैध शासन की व्यवस्था की गई। जो द्वैध शासन १९३५ के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में उड़ा दिया गया था, उसे केन्द्र में पुनः लागू किया गया। कुछ संघीय विषयों को गवर्नर-जनरल के हाथ में सुरक्षित कर दिया गया ताकि वह उनकी समुचित व्यवस्था कर सके। इस सम्बन्ध में वह अधिक से अधिक तीन परामर्शदाताओं से सहायता प्राप्त कर सकता था, जिनकी नियुक्ति भी उसे स्वयं करनी होती थी। वे विषय ये थे—सुरक्षा, विदेश विषय, पादरियों के मामले तथा कबायली क्षेत्रों की व्यवस्था। अन्य संघीय विषयों की व्यवस्था के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल को सहायता तथा परामर्श देने के लिए मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था की गई थी, जिसमें मन्त्रियों की संख्या दस से अधिक नहीं हो सकती थी। संघीय मन्त्रिमण्डल को उक्त सुरक्षित विभागों के अतिरिक्त सभी संघीय विभागों की व्यवस्था करनी होती थी। संघीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण पूर्ववत् मन्त्रिमण्डल पद्धति के आधार पर करने की व्यवस्था की गई थी, सिवाय इस बात के कि महत्त्वपूर्ण अल्पमतों के प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित किया जाए। यह सत्य है कि इन तत्त्वों को सम्मिलित करना अधिनियम के आधीन आवश्यक नहीं था, किन्तु गवर्नर-जनरल को एक निर्देश-पत्र के द्वारा इस बात का निर्देश किया गया कि वह अपनी पूर्ण योग्यता के आधार पर इस प्रकार के प्रतिनिधियों को प्राप्त करे। मन्त्रिमण्डल के समझौते में चलते हुए भी उनका उत्तरदायित्व सामूहिक था।

मन्त्रिमण्डल के लिये संघीय धारा सभा के प्रति उत्तरदायी होना आवश्यक था।

(३) संघीय विधान सभा के दो सदन रखे गये थे, जिनमें से एक संघीय विधान सभा तथा दूसरी राज्य परिषद् थी। संघीय धारा सभा का कार्यकाल प्रथम बैठक से आरम्भ होकर पाँच वर्ष था। उस काल के समाप्त होने पर वह स्वयं टूट जाती थी। तथापि गवर्नर-जनरल को अधिकार दिए गये कि वह उसका कार्यकाल बढ़ा सकता है। राज्य परिषद् एक स्थायी परिषद् थी, जिसके एक-तिहाई सदस्यों को प्रति तीन वर्ष के पश्चात् अवकाश प्राप्त करना होता था। रियासतों के सदस्यों को उनके शासक ने मनोनीत करना होता था। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का चुनाव होना था। हिन्दू, मुसलमान तथा सिख सदस्यों का चुनाव साम्प्रदायिक विधि से होना था।

(४) भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकार अत्यन्त सीमित थे। कुछ विषय ऐसे थे, जिन पर न तो संघीय व्यवस्थापिका सभा तथा न ही प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा ही कोई कानूनादि बना सकती थी। भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं को ऐसे कानून बनाने से रोक दिया गया, जिससे राज-परिवार अथवा राजगद्दी के उत्तराधिकार अथवा सरकार अथवा भारत के किसी भाग के आधिपत्य का प्रश्न हो, अथवा फौजी अधिनियम, हवाई फौज अधिनियम, पुरस्कार अदालतों के कानून पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़ सके। भारतीय व्यवस्थापिका सभा कोई ऐसा कानून बनाने का अधिकार नहीं रखती थी, जिससे १९३५ के अधिनियम की किसी धारा अथवा इसके आधीन स्वीकृत किसी आज्ञा अथवा भारत मन्त्री, गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नर के द्वारा इसके आधीन दी गई व्यक्तिगत किसी आज्ञा में संशोधन किया जा सके। वे ऐसा कोई कानून भी नहीं बना सकते थे जिससे सम्राट् के उस असाधारण अधिकार पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़े, जिसके अनुसार प्रिवी कौंसिल में किसी विशेष प्रकार की अपील की जा सके, सिवाए उस अवस्था के, जिसके लिये अधिनियम में विशेष आज्ञा दी गई हो। वे ऐसा भी कोई निर्णय नहीं कर सकते थे, जिसके द्वारा व्यापार तथा अन्य क्षेत्रों में ब्रिटिश हितों के विरुद्ध कोई पक्षपातपूर्ण प्रभाव पड़ सके। इसके साथ ही अत्यन्त महत्व के बहुत से ऐसे विषय थे, जिनके सम्बन्ध में संघीय धारा सभा में किसी प्रकार का विचारादि करने से पूर्व गवर्नर-जनरल की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता था तथा प्रान्तीय धारा सभाओं में ऐसी किसी भी कार्रवाई के लिये गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था।

बजट में ऐसी कई मदें थीं, जिन पर मत नहीं लिये जा सकते थे तथा उन पर संघीय धारा सभाओं को किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं दिया गया था। ऐसी मदें संघीय बजट का लगभग ८०% थीं। यदि संघीय धारा सभा बजट की किसी मद को अस्वीकार कर देती, तो उसी मद को गवर्नर-जनरल के निर्देश से राज्य-सभा में प्रस्तुत किया जा सकता था। यदि संघीय धारा सभाओं के दोनों सदन किसी माँग के सम्बन्ध में मतभेद रखते हों, तो गवर्नर-जनरल दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता था जिससे उस माँग पर मतदान कराया जा सके तथा बहुमत का निर्णय सभी को मान्य होता था।

गवर्नर-जनरल को संघीय धारा सभा के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाने का अधिकार था, जब एक सदन के द्वारा स्वीकृत किसी अधिनियम को दूसरा सदन अस्वीकार कर दे अथवा किसी विशेष अधिनियम में ऐसा संशोधन किया जाए, जो पहले सदन को

स्वीकृत न हो। बिल के दोनों सदनों के द्वारा स्वीकृत हो जाने के पश्चात् गवर्नर-जनरल अपनी इच्छानुसार उसे स्वीकृति प्रदान कर सकता था, उसे वीटो कर सकता था, उसे पुर्नविचार के लिये पुनः वापिस भेज सकता था अथवा सम्राट् के विचार के लिये सुरक्षित भी कर सकता था। गवर्नर-जनरल के द्वारा स्वीकृत हो जाने पर भी एक वर्ष के भीतर कौंसिल-स्थित सम्राट् उस अधिनियम को अनुमति दिए जाने से रोक सकता था।

(५) अधिनियम के द्वारा एक संघीय न्यायालय की स्थापना की भी व्यवस्था की गई, जिसका अधिकार-क्षेत्र रियासतों तथा प्रान्तों तक व्यापक था। न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा दो अवर न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई थी। न्यायालय को मौलिक तथा अपील-सम्बन्धी अधिकार दिए गये। संघीय न्यायालय का कर्त्तव्य था कि वह संविधान की व्याख्या करे तथा इस बात का ध्यान रखे कि प्रान्त तथा संघीय कौंसिल उन्हीं क्षेत्रों में कार्य करें, जो उनके लिये संविधान के द्वारा सुरक्षित हैं। तथापि इस विषय में लन्दन स्थित प्रिवी कौंसिल का शब्द अन्तिम तथा मान्य होता था।

(६) १९३५ के अधिनियम के द्वारा भारत मन्त्री की भारतीय कौंसिल को तोड़ दिया गया। भारत मन्त्री के लिये कुछ परामर्शदाता मनोनीत किए गये, जिनसे परामर्श लेना अथवा न लेना, उनकी सलाह लेना अथवा न लेना, उसकी इच्छा पर निर्भर करता था, किन्तु सेवाओं के सम्बन्ध में उनकी सलाह माननी पड़ती थी। यह परिवर्त्तन इसलिए किया गया क्योंकि भारत में भारतीय परिषद् के विरुद्ध बहुत सा आन्दोलन उसके भारत-विरोधी दृष्टिकोण के कारण चल रहा था।

(७) गवर्नर, गवर्नर-जनरल के द्वारा तथा गवर्नर-जनरल स्वयं भारत मन्त्री के प्रति अपने व्यक्तिगत अधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में कठोरतापूर्वक उत्तरदायी बना दिए गये थे। तथापि यह बात उल्लेखनीय है कि नियन्त्रण भारत के मामलों में कम कर दिया गया। इसका एक कारण तो यह था कि प्रान्तों मे प्रान्तीय स्वायत्तता तथा केन्द्र में उत्तरदायी सरकार का कार्य आरम्भ हो गया। तब गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर अपने मन्त्रिमण्डल के परामर्श तथा स्वीकृति से, बिना लन्दन के नियन्त्रण के कार्य कर सकते थे।

(८) इस अधिनियम की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता विस्तृत संरक्षण तथा आश्वासनों की धारा थी। ये संरक्षणात्मक तथा आश्वासनात्मक कार्रवाइयाँ उत्तरदायी सरकार तथा स्वराज्य के सिद्धान्त से बहुत नीचे की बातें थीं। ये आश्वासन दो प्रकार के थे। प्रथम भारतीय धारा सभाओं को व्यवस्था-सम्बन्धी अनेक विषयों के अधिकारों के सम्बन्ध में इनकार था तथा द्वितीय गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नरों को ऐसे बहुत से अधिकार दिए गये थे, जिससे वे कुछ परिस्थितियों में मन्त्रियों तथा धारा सभाओं के निर्णयों की उपेक्षा कर सकते थे। यहाँ तक कि संविधान के भंग होने पर वे अपने हाथों में पूर्ण एकाधिकार ग्रहण कर सकते थे। आलोचकों का कहना था कि संरक्षणात्मक धाराएँ देश की प्रादेशिक एकता के विरुद्ध हैं। डा० कीथ के शब्दों में, अल्पमत को संरक्षण देने के कारण उत्तरदायी सरकार के वास्तविक भावों के साथ गम्भीरतापूर्वक समझौता है, यह भले ही पूर्ण न हो।

(९) १९३५ का संविधान कठोर था। केवल ब्रिटिश सरकार को ही संविधान में संशोधन का अधिकार दिया गया था। एस० एम० बोस के अनुसार, "भारतीय धारा सभाओं को केवल ये अधिकार दिये गये हैं कि वे प्रस्ताव के द्वारा सम्राट् की सरकार के

प्रति इस अनुभाग में वर्णित विषयों के सम्बन्ध में वैधानिक परिवर्त्तन की भावना को प्रकट कर सकें, किन्तु अधिनियम में परिवर्त्तन करने का वास्तविक अधिकार सम्राट् की सरकार को दिया गया है, जिसके द्वारा ३०९वीं धारा के आधीन कौंसिल-स्थित सम्राट् इस प्रकार के संशोधनों का मसविदा दोनों सदनों के सम्मुख प्रस्तुत कर सकता है। दूसरे शब्दों में संसद् द्वारा किसी प्रकार के संशोधन-सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अधिनियम में विशेष रूप से बताए गये अन्य विषयों के सम्बन्ध में कौंसिल-स्थित सम्राट् की आज्ञा के द्वारा परिवर्त्तन किया जा सकता था।

(१०) १९३५ के अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता प्रान्तीय स्वायत्तता की धारा थी। यह अगस्त, १९१७ की घोषणा के अनुसार थी। १९१९ के अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय क्षेत्र में भारतीय मन्त्रियों के हाथों में बहुत थोड़ा नियन्त्रण दिया गया था। १९३५ का अधिनियम १९१९ के अधिनियम की अपेक्षा निश्चित सुधार था, क्योंकि इसमें गवर्नर के हाथों में कोई भी सुरक्षित विषय नहीं थे। तथापि इसका यह अभिप्राय नहीं कि १९३५ के अधिनियम के द्वारा प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायित्व वाली सरकार की स्थापना हो गई। ऐसा सम्भव नहीं था, क्योंकि यह तथ्य था कि गवर्नर को बहुत से अधिकार दिए गये, जिन्हें वह अपनी इच्छानुसार व्यक्तिगत रूप से प्रयोग कर सकता था।

अधिनियम के दोष (Defects of the Act)—(१) यह बताना उचित प्रतीत होता है कि १९३५ के अधिनियम के विरुद्ध कौन-कौन सी आलोचनात्मक बातें कही जाती हैं। पं० नेहरू के कथनानुसार, "नया संविधान एक ऐसा यंत्र था जिसकी ब्रेकें तो दृढ़ थीं, किन्तु जिसका कोई इंजन न था।" एक अन्य आलोचक के कथनानुसार, "१९३५ के अधिनियम के द्वारा प्रशासन तथा सरकार के सम्बन्ध में भारतीयों की योग्यता के विषय की उसी प्रकार पूरी जाँच की जा सकती है, जिस प्रकार एक मनुष्य के हाथ तथा पाँव बँधे हुए हों तथा फिर भी उसकी शक्ति तथा योग्यता का परीक्षण किया जाए। नये भारतीय संविधान को स्वराज्य का भवन कहना एक ऐसा दुःखपूर्ण हास्य है, जिसे हँसने वाला तो शायद पसन्द कर सकता हो, किन्तु वे लोग नहीं, जिनके बल पर वह किया जा सकता हो।" स्मरण रखो, नये संघीय ढाँचे के सम्बन्ध में तो पूर्ण रूप से संघर्ष करना नितान्त अपेक्षित है। इसका वर्णन करने के लिये उपयुक्त भाषा ढूँढ़ना अत्यन्त कठिन है। यह निराशाजनक, विषैला तथा आक्रमणात्मक है। पं० मदनमोहन मालवीय के शब्दों में, "नया अधिनियम हम पर लाद दिया गया है। बाह्य रूप से यह कुछ प्रजातन्त्रात्मक प्रतीत होता है, किन्तु आन्तरिक रूप से यह पूर्ण रूप से खोखला है।" सर षणमुखम् चेट्टी के मतानुसार, "यह निस्संदेह एक दूर की चिल्लाहट है, जो भारत सरकार के अधिनियम तथा औपनिवेशिक स्वराज्य के मध्य दृष्टिगोचर होती है।" राजगोपालाचार्य के शब्दों में, "नया संविधान द्वैध शासन से भी बुरा है।" मि० एम० ए० जिन्ना के अनुसार १९३५ की योजना "पूर्ण रूप से सड़ी हुई, मौलिक रूप से बुरी तथा पूर्ण रूप से स्वीकार न करने के योग्य है।" डा० कीथ ने प्रस्तावित संघ के सम्बन्ध में इसे अधिकारहीन संघ कहकर इसकी निंदा की।

(२) भारतीयों को इस देश की सरकार पर नियंत्रण करने का अधिकार नहीं दिया गया था। वे अपने संविधान को परिवर्तित अथवा संशोधित नहीं कर सकते थे। ब्रिटिश सरकार ने नीति निर्माण कर लिया था तथा भारत सरकार उसका अनुकरण कर

रही थी। भारतीय लन्दन से होने वाले नियन्त्रण को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

(३) भारतीय केन्द्र में सरकार के द्वैध ढंग को भी घृणा की दृष्टि से देखते थे। यह कहा गया कि द्वैध शासन के जो दोष १८९१ के अधिनियम के अनुसार देखे गये थे, उनका केन्द्र में भी दोहराया जाना आवश्यक प्रतीत हो रहा था।

(४) अखिल भारतीय संघ का उद्घाटन इस शर्त पर निर्भर करता था कि कुछ निश्चित संख्या में रियासतें संघ में सम्मिलित हों। तथापि अधिनियम के अनुसार भारतीय रियासतों को संघ में सम्मिलित होने अथवा न होने की स्वतन्त्रता थी। यह एक गम्भीर त्रुटि थी।

(५) भारतीय रियासतों को संविधान के आधीन एक सुविधापूर्ण स्थिति प्राप्त हुई। उन्हें राज्य परिषद् तथा संघीय धारा सभा इन दोनों में जो प्रतिधिनित्व प्राप्त हुआ वह उनके इलाके, जनसंख्या तथा संघीय सरकार को दिए जाने वाले राजस्व के भाग से कहीं अधिक था। ब्रिटिश भारत से सदस्यों का चुनाव जनता के द्वारा होता था। इसके विपरीत भारतीय रियासतों के शासकों को इस बात की सुविधा दी गई थी कि वे अपने अनुपात के अनुसार सदस्यों को मनोनीत कर दें। आलोचकों का कहना था कि भारतीय नरेश पूर्ण रूप से भारत सरकार के राजनैतिक विभाग के नियन्त्रण में थे तथा वे वही कार्य करते थे जो उन्हें करने का निर्देश प्राप्त होता था, इसलिये भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों का नियन्त्रण ब्रिटिश सरकार के आधीन होता था। वे अपने स्वामियों के विरुद्ध मतदान देने का साहस नहीं कर सकते थे। भारतीय रियासतों के मनोनीत प्रतिनिधियों को ब्रिटिश सरकार भारत में अपने हितों में देश की उन्नति को रोकने के लिये प्रयोग में ला सकती थी।

(६) भारतीयों ने संघीय धारासभा के लिये अप्रत्यक्ष चुनावों की पद्धति के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। इसका यह तर्क दिया गया कि अप्रत्यक्ष चुनाव प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के ही विरुद्ध हैं। वे समय की भावना के विरुद्ध थे।

(७) भारतीयों ने भारतीय नागरिक सेवाओं, भारतीय पुलिस सेवाओं तथा अन्य भारतीय सेवाओं के सम्बन्ध में भारत मन्त्री के द्वारा नियंत्रण के विरुद्ध आवाज उठाई।

(८) भारतीय फौज को भारतीय बजट का बहुत बड़ा भाग प्राप्त हो जाता था, किन्तु भारतीयों का उस पर कुछ भी नियंत्रण न था, क्योंकि सुरक्षा को एक सुरक्षित विषय बना दिया गया। भारतीयों ने उस गति के विरुद्ध भी आवाज उठाई जो फौज के भारतीयकरण के सम्बन्ध में की जा रही थी।

(९) धारा सभाओं में स्थानों की पूर्ति साम्प्रदायिक निर्णय के अनुसार होती थी। इसका परिणाम यह था कि संविधान साम्प्रदायिकता से दूषित था। साम्प्रदायिक निर्णय ने भारतीय राष्ट्रीयता तथा एकता को मूल से ही काट दिया तथा परिणामस्वरूप यह बहुत खतरनाक था। यह कहा गया कि जितने अधिक समय तक साम्प्रदायिक निर्णय के अनुसार कार्य होगा, देश की एकता को रखने में उतनी ही अधिक कठिनाई होगी।

(१०) बंगाल के मुख्य मंत्री फज़लुल हक़ के कथनानुसार १९३५ के अधिनियम के अनुसार न हो हिन्दू राज्य तथा न ही मुस्लिम राज्य की सम्भावना थी, अपितु ब्रिटिश

राज्य की ही आशा की जा सकती थी (भारतीय वार्षिक रजिस्टर, १९३७ द्वितीय भाग, पृ० ४११)।

(११) सरकार के भारतीय बिल, १९३५ पर समीक्षा करते हुए मि० एटली ने इस प्रकार अपने विचार प्रकट किए, "बिल का केन्द्र-बिन्दु अविश्वास है।" कांग्रेस ने संघीय योजना की अनेक आधारों पर निन्दा की। यह कहा गया कि योजना में भारतीयों के हाथों में अधिकारों का वास्तविक हस्तांतरण न होने के समान था। अपितु संघीय विधान-मण्डल में रियासतों को मनोनीत प्रतिनिधियों के रूप में अनुदारतापूर्ण तत्त्वों से कस दिया गया था। ऐसा समझा गया कि भारतीय वैधानिक प्रगति में भारतीय रियासतें सदैव रोड़ा अटकाएँगी।

(१२) भारतीय रियासतों के शासकों ने संघीय योजना की आलोचना इसलिये की कि इसके द्वारा उन्हें ऐसा कोई अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था कि एक बार संघ में सम्मिलित होने के पश्चात् वे उसे छोड़ सकते हैं। संघ के पास महान् शक्ति थी कि वह उन्हें तंग कर सकता था। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि संघीय व्यवस्थापिका सभा तथा कार्यकारिणी में निश्चित रूप से महत्त्वशाली थे तथा अपने इस महत्त्व तथा प्रभुत्व के कारण वे वायसराय को प्रभावित कर सकते थे कि वह ऐसा पग उठाए, जो शासकों की प्रभुसत्ता के लिए घातक हो सकता था।

(१३) गवर्नरों के स्वेच्छापूर्ण अधिकारों के कारण प्रान्तीय स्वायत्तता एक प्रदर्शन-मात्र होकर रह गई थी। उनके अधिकार तथा उत्तरदायित्व मिलकर, प्रान्तीय विधान-मण्डल तथा कार्यकारिणी के अधिकारों को सीमित तथा संकुचित कर देते थे। इनमें से कुछ अधिकार तथा उत्तरदायित्व इस प्रकार से अस्पष्ट तथा अनिश्चित थे कि उनकी व्याख्या आन्दोलन की आवश्यकता अथवा महत्त्व के अनुसार की जा सकती थी। गवर्नर को एकमात्र इस बात के लिए न्यायाधीश अथवा निर्णायक मान लिया गया कि वह यह निर्णय कर सके कि क्या कोई विशेष विषय उसकी स्वेच्छापूर्ण योजना के अन्तर्गत आता है अथवा उसके किसी विशेष उत्तरदायित्व को प्रभावित करता है। गवर्नर कानून के शाब्दिक अर्थों में तो प्रान्त का एकमात्र डिक्टेटर बन सकता था।

(१४) प्रान्तीय विधान मण्डलों के अधिकार अत्यन्त सीमित थे। वरिष्ठ सदनों को जान-बूझकर प्रतिक्रियावादी संस्थाएँ बना दिया गया था।

१९३७ से १९५० तक का विकास (Development from 1937 to 1950)–१९३५ का भारत सरकार अधिनियम पूर्ण रूप से लागू नहीं किया गया। प्रान्तीय स्वायत्तता से सम्बन्ध रखने वाला भाग ही पहली अप्रैल, १९३७ को लागू किया गया। कांग्रेस ने चुनावों में भाग लिया तथा उसे छः प्रान्तों में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। बाद में यह संख्या ७ हो गई। आरम्भ में संकट उपस्थित हो गया, किन्तु शीघ्र ही काँग्रेसी मंत्रिमण्डल बनाए गये। वे १९३९ तक शासन-कार्य चलाते रहे, जब द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने ब्रिटिश सरकार के साथ मतभेदों के कारण त्याग-पत्र दे दिये। सम्पूर्ण युद्ध-काल में ब्रिटिश सरकार ने इस बात का प्रयत्न किया कि वह भारतीयों के सहयोग को प्राप्त करे। १९४० में लार्ड लिनलिथगो ने प्रसिद्ध अगस्त माँग प्रस्तुत की किन्तु कांग्रेस ने सहयोग देने से इनकार कर दिया।

उक्त महत्त्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक प्रस्ताव एक वक्तव्य के रूप में वायसराय के द्वारा ब्रिटिश सरकार की ओर से प्रस्तुत किया गया। तथाकथित प्रस्ताव का सारांश इस प्रकार है—

(१) यद्यपि मतभेद, जिनके कारण राष्ट्रीय एकता पूर्ण न हो सकी, भारत में मिट नहीं सके, तथापि गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी समिति का विस्तार तथा युद्ध की परामर्शसमिति की स्थापना को और अधिक स्थगित नहीं किया जाना चाहिए।

(२) इन सन्देहों के विद्यमान होते हुए कि क्या अल्पमतों की स्थिति किसी भावी वैधानिक परिवर्तन में पर्याप्त रूप से सुरक्षित की जायेगी, ब्रिटिश सरकार ने अपनी इस इच्छा की पुनः पुष्टि की कि अल्पमतों की सम्मति को पूर्ण महत्त्व प्रदान किया जाए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वे अपने वर्तमान उत्तरदायित्वों को भारत की शान्ति तथा कल्याण के लिए किसी ऐसी सरकार को हस्तांतरित करने के सम्बन्ध में विचार नहीं कर सकते, जिसकी प्रभुसत्ता को भारत के राष्ट्रीय जीवन के बड़े तथा शक्तिशाली तत्त्व स्पष्ट रूप से इनकार कर दें और न ही वे ऐसी सरकार के प्रति घुटने टेकने के लिये दबाव डालने वाले तत्त्वों के साझीदार ही बन सकते हैं। इससे भली भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश सरकार मुस्लिम लीग को देश के विभाजन के सम्बन्ध में स्वेच्छापूर्वक कार्रवाई करने की अनुमति देने के लिये प्रस्तुत थी।

(३) अपने वचन-पालन करने की इच्छा के आधीन—वह भले ही सुरक्षा, अल्पमतों के अधिकार, रियासतों के साथ सन्धियाँ तथा भारत मन्त्री की सेवाओं में लगे हुए कर्मचारियों की स्थिति की ओर संकेत करता हो—ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की इस इच्छा के प्रति अपनी सम्मति प्रकट कर दी कि भारत के नये संविधान के निर्माण का उत्तरदायित्व "मुख्य रूप से भारतीयों पर होना चाहिए तथा उसका आधार भारतीय जीवन के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक ढाँचे के भारतीय विचार पर होना चाहिए।"

(४) वैधानिक प्रश्न ऐसे क्षण में निश्चित नहीं किए जा सकते थे, जब कि राष्ट्रीय जीवन अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष में लगा हुआ है किन्तु युद्ध के पश्चात् एक प्रतिनिधि भारतीय संस्था की स्थापना की जानी चाहिए, जो अपने नये संविधान का ढाँचा तैयार करे तथा इस बीच में ब्रिटिश सरकार इस संविधान-निर्मात्री संस्था के कार्यशील होने के सम्बन्ध में समझौते तक पहुँचने के लिए किसी भी प्रयत्न का स्वागत करेगी तथा उसमें सहायता प्रदान करेगी जिससे कि संविधान-निर्मात्री संस्था कार्यशील हो तथा संविधान के सिद्धान्तों के विषय में भी समझौते हो सकें।

(५) इस बीच में, ब्रिटिश सरकार ने आशा प्रकट की कि भारत के सब दल तथा जातियाँ भारत के युद्ध-मोर्चे में सहयोग देंगी तथा इस प्रकार इकट्ठे होकर कार्य करते हुए जातियों के ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में भारत स्वतन्त्र तथा बराबरी का साझीदार बनेगा। तथापि काँग्रेस की मनोवृत्ति के कारण इस महत्त्वपूर्ण घोषणा का कुछ भी लाभ न हुआ। इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया गया।

क्रिप्स-प्रस्ताव, १९४२ (The Cripps Proposals)—भारतीय राजनीति में संकट बना रहा। ब्रिटिश सरकार ने काँग्रेस के साथ समझौता करने से इनकार कर दिया तथा काँग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से सहयोग करना अस्वीकार कर दिया। इस समय

द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिगड़नी आरम्भ हो गई। दिसम्बर १९४१ में इंग्लैंड तथा अमरीका के विरुद्ध जापान युद्ध में सम्मिलित हो गया। जापान की सेनाएँ उत्तर-पूर्वी एशियाई देशों पर तेजी से आगे बढ़ीं। उनकी विजय की लहर बर्मा तथा भारत की ओर अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक अग्रसर हुई, जब फरवरी १९४२ में सिंगापुर का पतन हुआ। इससे भारत की सुरक्षा को खतरा हो गया। रंगून का पतन ७ मार्च को हुआ। कोलम्बो पर बम वर्षा हुई। कुछ बम भारत के पूर्वी तट पर भी पड़े। कलकत्ता पर खतरा छा गया तथा शरणार्थियों ने उक्त बड़े नगर को छोड़ना आरम्भ कर दिया।

किन्तु इस खतरनाक स्थिति के होते हुए भी भारतीय नेताओं की मनोवृत्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। काँग्रेस पूर्व की भाँति विरोधी भावना लिये हुए थी। वह किसी के विरुद्ध भी ब्रिटेन को सहायता देने को प्रस्तुत न थी। वह तभी सहायता प्रदान करने को प्रस्तुत थी, यदि भारत को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती। मुस्लिम लीग के लिये भारत का विभाजन अधिक आवश्यक समस्या थी। उसके लिए जापानी विजय से मुक्ति उतनी आवश्यक समस्या न थी।

मार्च १९४२ में श्रमिक दल का नेता सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स भारत आया। वह अपने साथ ब्रिटिश सरकार की ओर से कुछ प्रस्ताव लाया था। क्रिप्स के द्वारा ब्रिटिश सरकार की ओर से लाई गई घोषणा का मसविदा इस प्रकार था—

(क) युद्ध की समाप्ति के पश्चात् शीघ्र भारत में देश के नये संविधान का निर्माण करने के लिए एक निर्वाचित समिति का संगठन किया जायेगा, जिसका ढाँचा तथा विधि आगे बताये हुए अनुसार होगा।

(ख) इस बात की व्यवस्था की जायेगी कि विधाननिर्मात्री सभा में भारतीय रियासतें भी सम्मिलित हो सकें।

(ग) सम्राट् की सरकार इस प्रकार निर्मित संविधान को शीघ्र ही स्वीकार करने तथा इसे लागू करने का उत्तरदायित्व लेती है। इसकी शर्तें निम्नलिखित होंगी—

(i) ब्रिटिश भारत के किसी भी प्रान्त को यह अधिकार होगा, जो नये संविधान को मानने को तैयार न हो, कि वह अपनी वर्तमान संवैधानिक स्थिति को स्थिर रख सके। इस बात की भी व्यवस्था कर दी गई कि वह बाद में भी उसे स्वीकार कर सकेगा। ऐसे न मानने वाले प्रान्तों को, यदि वे ऐसा चाहें, सम्राट् की सरकार एक नये संविधान की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत हो सकती है, जिसके अनुसार उन्हें भी भारतीय संघ के समान उस प्रकार का पूर्ण दर्जा प्राप्त होगा तथा उसका निर्माण भी उसी कार्य-पद्धति तथा उसके विस्तार के अनुसार होगा, जैसे कि नीचे लिखा गया है।

(ii) एक सन्धि पर हस्ताक्षर होंगे, जिसके सम्बन्ध में सम्राट् की सरकार तथा विधान-निर्मात्री समिति के मध्य बातचीत होगी। इस सन्धि में उन सभी आवश्यक विषयों की चर्चा होगी, जो अंग्रेजों के हाथों से भारतीय हाथों में उत्तरदायित्व के पूर्ण रूप से हस्तांतरित करने के सम्बन्ध में आवश्यक होंगे। इसमें जातिगत तथा धर्मगत अल्पमतों की रक्षा के लिए सम्राट् की सरकार के द्वारा दिये गये आश्वासनों तथा वचनों के अनुसार व्यवस्था की जायगी, किन्तु इसके परिणामस्वरूप भारतीय संघ की प्रभुसत्ता पर किसी

प्रकार का बन्धन नहीं लगाया जाएगा कि वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्ध के विषय में क्या निश्चय करती है।

(iii) चाहे कोई भारतीय रियासत संविधान के पालन किये जाने के सम्बन्ध में तथा उसमें सम्मिलित होने के लिए प्रस्तुत है अथवा नहीं, तो भी यह आवश्यक होगा कि उसकी सन्धि-व्यवस्था के सम्बन्ध में समुचित परिवर्त्तन के लिए यथेष्ठ बातचीत की जाए, जैसे कि नई स्थिति के अनुसार अपेक्षित हो।

(iv) विधान परिषद् का संगठन निम्न प्रकार से होगा, जब तक कि युद्ध की समाप्ति से पूर्व इस विषय में मुख्य जातियों के भारतीय नेता किसी अन्य रूपरेखा पर सहमत न हो जाएँ।

युद्ध की समाप्ति पर होने वाले प्रान्तीय चुनावों के परिणामस्वरूप प्रान्तीय विधान-मण्डलों के छोटे सदनों के प्रत्येक सदस्य को विधान परिषद् के चुनाव में मतदान का अधिकार होगा तथा वे अपनी संख्या के दसवें भाग के अनुसार व्यक्तियों का चुनाव करेंगे। इस प्रकार उन्हें आँशिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाएगा।

भारतीय रियासतों को भी ब्रिटिश भारत के समान अपनी जनसंख्या के अनुपात से अपने प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार होगा तथा उनके अधिकार भी वही होंगे, जो ब्रिटिश भारत से निर्वाचित अन्य सदस्यों के होंगे। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों की जनसंख्या के अनुसार संख्या का अनुपात निकालने के लिये, शेष ब्रिटिश भारत की जनसंख्या तथा उसके निर्वाचित सदस्यों की संख्या का ध्यान रखा जाएगा।

(v) इस बीच के संकटकाल में जिसमें से भारत गुजर रहा है तथा जब तक कि नये संविधान का निर्माण नहीं हो जाता, तब तक सम्राट् की सरकार को अवश्य भारत की सुरक्षा का उत्तरदायित्व, जो उनके विश्वयुद्ध प्रयत्नों का एक भाग है, उसका नियन्त्रण तथा संचालन अपने हाथों में रखना होगा, किन्तु भारतीय सैनिक, नैतिक तथा भौतिक साधन सामग्री का उत्तरदायित्व भारत सरकार का ही होगा तथा इस कार्य में भारत के लोग उसके सहयोगी होंगे। सम्राट् की सरकार की यह इच्छा है तथा वे भारतीय जनता के मुख्य वर्गों के नेताओं से यह आशा रखते हैं कि वे अपने देश की कौंसिलों में भाग लें तथा साथ ही राष्ट्र-मण्डल तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ में भाग लें तथा इसके लिये सरकार उनको निमन्त्रित करती है। इस प्रकार वे एक ऐसे कार्य में अपनी पूर्ण तथा रचनात्मक सहायता दे सकेंगे, जो भारत की भावी स्वतन्त्रता के लिए महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है।

आलोचना (Criticism)—(१) यह कहा जाता है कि घोषणा का यह मसविदा अगस्त के महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव से चार दृष्टियों से प्रगतिशील था। इसके द्वारा भारत संघ को इस बात की स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई कि यदि वह चाहे तो ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से पृथक् हो सकता है। क्रिप्स ने अपने प्रेस सम्मेलन में इस सम्बन्ध में ज़ोर देकर कहा। भारत संघ को यह निर्णय करने की स्वतन्त्रता दी गई कि वह राष्ट्रमण्डल में रहे अथवा उससे पृथक् हो जाए।

(ख) नये संविधान के निर्माण का कार्य पूर्ण रूप से भारतीयों के हाथों में ही सौंपने का निश्चय किया गया। तथापि इसकी स्वीकृति के सम्बन्ध में ब्रिटिश वचनों की पूर्त्ति की शर्त लगा दी गई। यदि भारतीय एक अकेली इकाई के रूप में स्वतन्त्र न हो सकें,

तो वे दो अथवा अधिक इकाइयों के रूप में स्वतन्त्र हो सकते थे। भारतीयों के मध्य विचार-भिन्नता को ब्रिटिश सरकार के लिये भारत में अपने शासन को स्थिर करने का बहाना नहीं बनाया जा सकता था।

(ग) अगस्त की घोषणा के द्वारा भारतीय नेताओं को नये संविधान के सिद्धान्तों तथा उसके निर्माण की प्रणाली के सम्बन्ध में चर्चा करने के लिये निमन्त्रित किया गया था। उक्त घोषणा के मसविदे में विधान-निर्मात्री परिषद् की स्थापना सम्बन्धी योजना अपनाए जाने के विषय में प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था कि यदि युद्ध की समाप्ति से पूर्व किसी भारतीय योजना के सम्बन्ध में सहमति न हो सके, तो उक्त परिषद् की स्थापना की जाए।

(घ) इस घोषणा के मसविदे में अगस्त के प्रस्ताव से आगे जाकर अन्तरिम सरकार के संगठन के सम्बन्ध में भी विचार प्रकट किये गये थे। इस प्रस्ताव में कार्यकारिणी परिषद् में कुछ प्रतिनिधि भारतीयों के लिये जाने की व्यवस्था की गई थी। इस घोषणा में भारतीय जनता के मुख्य वर्गों के नेताओं को भारत के राष्ट्रमण्डल तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की कौंसिलों में भाग लेने के लिये निमन्त्रित किया गया।

(२) तथापि भारत के सभी प्रमुख दलों ने क्रिप्स के प्रस्तावों की आलोचना की। प्रत्येक दल ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार प्रस्तावों की आलोचना की। काँग्रेस की आलोचना मुख्य रूप से दीर्घकालीन व्यवस्था के सम्बन्ध में इतनी नहीं थी जितनी कि अन्तरिम व्यवस्था के सम्बन्ध में। काँग्रेस ने 'नौ नकद, न तेरह उधार' इस सिद्धान्त पर कार्य किया कि जो वस्तु मिलती है उसे ले लेना चाहिए तथा केवल भावी की कल्पना में व्यर्थ समय नहीं खोना चाहिए। क्रिप्स ने काँग्रेस को वचन दे दिया था कि सुरक्षा विभाग को छोड़कर शेष सब विभाग पूर्ण रूप से भारतीयों को सौंप दिये जाएँगे तथा गवर्नर-जनरल वैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करेगा। तथापि आगे जाकर उसने इस वक्तव्य को वापिस ले लिया। इससे ब्रिटिश सरकार की दयानतदारी के सम्बन्ध में काँग्रेस के मन में सन्देह उत्पन्न हो गया। काँग्रेस चाहती थी कि गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् मन्त्रिमण्डल के रूप में कार्य करे। ब्रिटिश सरकार यह मानने को तैयार न थी।

(३) यह कहा जाता है कि युद्धोत्तर विधान सभा के संगठन, पाकिस्तान के प्रश्न के सम्बन्ध में घोषणा में वर्णित प्रस्तावों के अनुसार समझौते तथा सुरक्षा आदि के आधीन अधिकारों के बँटवारे के विषय में विरोधों पर बल नहीं दिया गया। वायसराय के 'वीटो' पर सारे प्रश्न उलझ गए। कार्यकारिणी के न हटाए जा सकने तथा अनुत्तरदायित्वपूर्ण होने तथा डिक्टेटर के समान शक्तिशाली होने के कारण 'वीटो' शक्ति को पूर्ण रूप से हटाया नहीं जा सका, किन्तु ऐसा करना कठिन नहीं था कि ऐसी परम्परा डाल दी जाए कि वायसराय दैनिक प्रशासन के कार्यों में परामर्शदाता के रूप में कार्य करे तथा विशेष कारणों से उसे 'वीटो' के अधिकार को सुरक्षित कर सकने में कोई विरोध न हो।

(४) काँग्रेस प्रान्तों के सम्मिलित न होने वाले अद्भुत सिद्धान्त को स्वीकार करने में विरोधी थी। उनके मतानुसार ऐसा करना पाकिस्तान वाले सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा तथा यह भारतीय एकता के लिये एक सुदृढ़ चोट के समान घातक होगा।

(५) हिन्दू महासभा ने क्रिप्स प्रस्तावों का दो कारणों से विरोध किया। प्रथम

तो वह प्रान्तों को दी जाने वाली स्वाधीनता के विरुद्ध थी जिसके अनुसार उन्हें भारत-संघ को छोड़ने का तथा अपनी सरकार पृथक् रूप से बनाने का अधिकार था। सभा को साम्प्रदायिक निर्णय के अनुसार चुनावों के सम्बन्ध में भी विरोध था, जो अराष्ट्रीय तथा प्रजातन्त्र-विरोधी था।

(६) सर तेज बहादुर सप्रू तथा एम० आर० जयकर के मतानुसार "एक से अधिक संघों की रचना, चाहे वह आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार कितनी ही समुचित क्यों न हो, देश के चिरकालीन हितों के लिये तथा इसकी एकता व सुरक्षा के लिये हानिप्रद होगी। युद्ध की समाप्ति के पूर्व ऐसा प्रयत्न किया जाना चाहिए कि संघीय आधार पर भारतीय एकता की रक्षा के लिये अन्त:साम्प्रदायिक समझौता किया जाए। यदि ऐसा समझौता असफल हो जाए तथा प्रान्त विभाजन के लिये बहुसम्मत स्थिति में हों, तभी प्रस्तावित प्रयोग के सम्बन्ध में परीक्षण किया जा सकता है। इसकी एक शर्त यह रखी जाए कि पृथक् रहने का निर्णय तब तक उचित न स्वीकार किया जाए, जब तक किसी प्रान्तीय विधान-मण्डल में ६५% का बहुमत इस पक्ष में न हो।"

(७) सिखों ने भी प्रान्तों के भारत संघ में न मिलने वाली धाराओं का विरोध किया। उनका कथन था कि वे पंजाब के अखिल भारतीय संघ से पृथक् रहने का यथा-सम्भव विरोध करेंगे।

(८) दलित जातियों ने इन प्रस्तावों की इस आधार पर निन्दा की कि उनके हितों के लिये आवश्यक संरक्षण की व्यवस्था नहीं की गई।

(९) मुस्लिम लीग ने एकमात्र भारत संघ की रचना का विरोध किया। उसे इस बात का भय था कि यदि एक संघ की सृष्टि की गई, तो अन्य संघ की रचना असम्भव हो सकती है। लीग ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के द्वारा—एक चुनाव संस्था के द्वारा—चुनाव-पद्धति का विरोध किया। यह पद्धति साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार नहीं, जिसके अनुसार मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि भेजने का अवसर प्राप्त हो जाता था। लीग ने भारतीय प्रान्तों के संघ में सम्मिलित होने की पद्धति तथा कार्य-शैली का भी विरोध किया। उनका विचार यह था कि भारतीय प्रान्तों की सृष्टि प्रशासनिक सुविधा के लिये हुई है न कि किसी अन्य तर्कपूर्ण आधार पर। उन्होंने प्रान्तों के पुनर्गठन की माँग की। उन्होंने सम्पूर्ण भारत की वयस्क जनसंख्या के द्वारा मतदान का भी विरोध किया। उन्होंने केवल मुसलमानों के लिये आत्मनिर्णय के जन्मसिद्ध अधिकार की माँग की। संक्षेप में लीग को यह योजना स्वीकार न थी, क्योंकि पाकिस्तान की माँग को स्पष्ट रूप से स्वीकार न किया गया था तथा मुसलमानों के आत्म-निर्णय के अधिकार को अस्वीकार कर दिया था, यद्यपि विभाजन के सिद्धान्त को दी गई स्वीकृति की महान् प्रशंसा की गई।

(१०) यह योजना असफल हो गई क्योंकि या तो इसे पूर्ण रूप से स्वीकार किया जा सकता था अथवा अस्वीकार। इसमें किसी प्रकार की चर्चा अथवा सुधार के लिये कोई स्थान न था।

(११) आलोचकों ने इन प्रस्तावों में दो अवरोधों के सम्बन्ध में विचार प्रकट किया है। प्रथम तो यह कि यह एक प्रकार से १९४० के अगस्त प्रस्तावों को दोहराना था

तथा साथ ही इस व्याख्या को जोड़ दिया गया था—"यह वर्तमान घोषणा किसी घोषणा के स्थान पर नहीं अपितु इन सामान्य घोषणाओं को शुद्धतापूर्वक इकट्ठा कर दिया गया है तथा भारतीयों को युद्धकालीन मन्त्रिमण्डल के सौहार्दपूर्ण निश्चय के सम्बन्ध में प्रतीति कराना है।" इससे भारतीयों के हृदयों में सन्देह हुआ। इससे ब्रिटिश सरकार की ओर से अपनी प्रतिष्ठा के सुरक्षित करने के सम्बन्ध में आवश्यकता की प्रतीति हुई। दूसरी बाधा यह थी कि इन प्रस्तावों में इस प्रकार का कोई निर्देश नहीं था कि ब्रिटिश सरकार अधिकारों को छोड़ने के लिए उद्यत थी।

(१२) महात्मा गाँधी क्रिप्स के द्वारा लाए गए प्रस्तावों से बिल्कुल प्रभावित नहीं हुए। उन्होंने तो क्रिप्स को यह कहा, बताया जाता है, "आप क्यों आए हैं, यदि आपको यही कुछ देना है ? यदि भारत के लिये आपका यही कुछ प्रस्ताव है, तो मैं आपको यही परामर्श दूंगा कि आप पहले हवाई जहाज़ से घर चले जाएँ।" सर स्टैफ़र्ड का उत्तर था, "मैं उस पर विचार करूँगा।"

(१३) सर स्टैफर्ड के एक मित्र ने इन प्रस्तावों के सम्बन्ध में इस प्रकार सम्मति प्रकट की, "यह बात अत्यन्त दुःखपूर्ण है कि सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स जैसे व्यक्ति ने शैतान का वकील बनना किस प्रकार स्वीकार किया।"

क्रिप्स मिशन असफल रहा क्योंकि काँग्रेस ने उसके अन्तर्गत अल्पकालीन व्यवस्थाओं को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इसकी असफलता के पश्चात् देश में पर्याप्त असन्तोष रहा। काँग्रेस के नेताओं को विश्वास हो गया कि उन्हें निकट भविष्य में ब्रिटिश सरकार की ओर से कुछ भी आशा नहीं करनी चाहिए। इन परिस्थितियों में काँग्रेस ने ८ अगस्त, १९४२ के दिन 'भारत छोड़ो' का प्रसिद्ध प्रस्ताव स्वीकृत किया। मार्च, १९४४ में राजगोपालाचार्य ने भारत के राजनैतिक संकट को दूर करने के लिये अपनी योजना प्रस्तुत की। किन्तु मि० जिन्ना ने उनके सुझावों को स्वीकार नहीं किया। जनवरी, १९४६ में देसाई-लियाकत फार्मूला जनता के सम्मुख प्रस्तुत हुआ, किन्तु उससे भी कुछ परिणाम न निकला। १४ जून, १९४५ के दिन भारत के वायसराय तथा गवर्नर-जनरल लार्ड वेवल ने भारत की जनता के प्रति अपना एक भाषण प्रसारित किया। तत्पश्चात् उसने भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन संकट को समाप्त करने के उद्देश्य से निमंत्रित किया। उसके प्रस्ताव भी स्वीकार न किए गये तथा उसने सार्वजनिक रूप से अपनी असफलता स्वीकार कर ली।

केबिनट मिशन (The Cabinet Mission)—जब मज़दूर दल इंग्लैंड में १९४५ में सत्तारूढ़ हुआ, तब उसकी ओर से भारत में प्रान्तीय चुनावों की आज्ञा दी गई। तत्पश्चात् मजदूर सरकार ने मार्च, १९४६ में अपना प्रसिद्ध मन्त्रियों का प्रतिनिधिमण्डल भारत भेजा। काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग के नेताओं के मध्य लम्बी चर्चाएँ चलीं। किन्तु दोनों मुख्य दल परस्पर किसी एक परिणाम पर न पहुँच सके। इसका परिणाम यह हुआ कि मिशन के सदस्यों को अपना फार्मूला प्रस्तुत करना पड़ा, जिससे वैधानिक संकट को हल किया जा सके। यह फार्मूला एक सम्मिलित वक्तव्य के रूप में मन्त्रिमंडल के मिशन तथा लार्ड वेवल की ओर से १६ मई, १९४६ के दिन प्रकाशित किया गया।

पाकिस्तानी योजना को अव्यवहार्य ठहराने के बाद १६ मई के वक्तव्य में इस बात का समर्थन किया गया कि भारत के नये संविधान में निम्नलिखित मौलिक तथ्य आधार रूप होने चाहिएँ—

"(१) भारत का एक संघ होना चाहिए, जिसमें ब्रिटिश भारत तथा भारतीय रियासतें सम्मिलित होनी चाहिएँ। इसके आधीन निम्नलिखित विषय होने चाहिएँ— विदेशी मामले, सुरक्षा, यातायात तथा इसे अधिकार होना चाहिए कि उक्त विषयों के लिए अपेक्षित अर्थ की व्यवस्था कर सके।

"(२) इस संघ की एक कार्यकारिणी तथा एक व्यवस्थापिका समिति होनी चाहिए, जिसका संगठन ब्रिटिश भारत तथा देशी रियासतों के प्रतिनिधियों से होना चाहिए। व्यवस्थापिका सभा में किसी महत्त्वपूर्ण साम्प्रदायिक समस्या पर निर्णय करते समय प्रतिनिधियों के बहुमत का उपस्थित होना अपेक्षित है तथा दोनों मुख्य जातियों के उपस्थित होने तथा मत देने की अपेक्षा है।

"(३) संघीय विषयों के अतिरिक्त सभी विषय तथा शेष सभी अधिकार प्रान्तों के अधीन होने चाहिएँ।

"(४) संघ के अन्तर्गत सभी विषयों तथा अधिकारों के अतिरिक्त शेष सभी विषय तथा अधिकार रियासतों के आधीन होंगे।

"(५) प्रान्तों को अपनी कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका सभाओं सहित परस्पर समूह बनाने की स्वतन्त्रता होगी तथा प्रत्येक ऐसे समूह को सामान्य रूप से प्रान्तीय विषयों के निश्चित करने की छूट होगी।

"(६) संघीय तथा समूह राज्यों के संविधानों में एक ऐसी धारा होनी चाहिए, जिसके द्वारा कोई प्रान्त अपनी विधान सभा की बहु-सम्मति द्वारा प्रथम दस वर्षों के पश्चात् तथा तत्पश्चात् प्रति दस वर्षों के पश्चात् संविधान की धाराओं पर पुनर्विचार कर सकता है।"

संविधान बनाने वाली समिति के सम्बन्ध में इस प्रकार की व्यवस्था की गई कि प्रान्त की व्यवस्थापिका सभाएँ उक्त समिति के सदस्यों को चुनेंगी। प्रति दस लाख की जनसंख्या के हिसाब से एक सदस्य का निर्वाचन होगा। विधान सभाओं के सिख तथा मुसलमान सदस्यों को जनसंख्या के आधार पर अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करने की व्यवस्था की गई थी। शेष सदस्यों को शेष जनसंख्या के प्रतिनिधियों का निर्वाचन करना था। प्रान्तों के प्रतिनिधियों को तीन भागों में विभक्त होना था—क, ख तथा ग। 'ग' भाग में बंगाल तथा आसाम के प्रतिनिधि, 'ख' भाग में पंजाब, सिन्ध तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के प्रतिनिधि तथा 'क' भाग में शेष प्रान्तों के प्रतिनिधि सम्मिलित किये जाने की व्यवस्था थी। ये विभाग अपने-अपने प्रान्तों के प्रान्तीय संविधानों का निश्चय करेंगे तथा इस बात का भी निश्चय करेंगे कि किस विभाग का संविधान इन प्रान्तों के लिये निश्चित किया जाएगा। तब भारतीय रियासतों के विभागों के प्रतिनिधि पुन इकट्ठे होंगे तथा संघीय संविधान का निश्चय करेंगे।

भारत के प्रान्तों को इन समूहों से अलग होने का अधिकार था। इसके लिये उन्हें अपने विधान-मण्डल के द्वारा निश्चय करना होता था तथा इस प्रकार का निश्चय वे नए संविधान के अनुसार सामान्य चुनावों के पश्चात् कर सकते थे।

संघीय विधान सभा के उन प्रस्तावों के सम्बन्ध में, जिनमें महत्त्वपूर्ण साम्प्रदायिक समस्याओं पर विचार किया जाना हो, यह आवश्यक था कि प्रतिनिधियों की बहुसंख्या उपस्थित हो तथा दोनों मुख्य जातियों में से प्रत्येक का मतदान हो। संविधान सभा के अध्यक्ष को ही इस बात का निश्चय करना होता था कि किस प्रस्ताव में मुख्य साम्प्रदायिक विषयों पर विचार किया जाना है। अपना निर्णय देने से पूर्व उसे संघीय न्यायालय से परामर्श करना होता था।

प्रतिनिधि-तालिका (Table of Representation)

भाग 'क'

प्रान्त	जनरल	मुस्लिम	योग
मद्रास	४५	४	४९
बम्बई	१९	२	२१
उत्तर प्रदेश	४७	८	५५
बिहार	३१	५	३६
मध्यप्रदेश	१६	१	१७
उड़ीसा	९	०	९
योग	१६७	२०	१८७

भाग 'ख'

प्रान्त	जनरल	मुस्लिम	सिख	योग
पंजाब	८	१६	४	२८
उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त	०	३	०	३
सिन्ध	१	३	०	४
योग	९	२२	४	३५

भाग 'ग'

प्रान्त	जनरल	मुस्लिम	योग
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
योग	३४	३६	७०

ब्रिटिश भारत का योग	...	...	२९२
रियासतों के लिये अधिकाधिक स्थान	...	...	९३
योग	...	...	३८५

१६ मई, १९४६ की योजना में अन्तरिम सरकार के सम्बन्ध में भी एक योजना थी।

मन्त्रिमण्डल मिशन ने १२ मई, १९४६ को यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार किसी भी परिस्थिति में किसी भारतीय सरकार को प्रभुसत्ता का हस्तांतरण नहीं करेगी। किन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया था कि जब कोई नई आत्म-शासन करने वाली सरकार अथवा सरकारें ब्रिटिश भारत में अस्तित्व में आईं, तब ब्रिटिश सरकार के लिये

प्रभुसत्ता के कर्त्तव्यों का पालन करना सम्भव नहीं होगा। उस स्थिति में वे सब अधिकार, जो भारतीय रियासतों ने प्रभुसत्ता को सौंपे हैं, उन रियासतों को लौटा दिये जाएँगे। "राजनैतिक व्यवस्था, जो एक ओर रियासतों तथा ब्रिटिश सम्राट् के मध्य तथा दूसरी ओर ब्रिटिश सम्राट् तथा ब्रिटिश भारत के मध्य है, वह समाप्त हो जाएगी। जो स्थान इस प्रकार खाली होगा, वह या तो ब्रिटिश भारत की उत्तराधिकारी सरकार अथवा सरकारों के साथ संघीय सम्बन्ध में प्रविष्ट होने वाली रियासतों के द्वारा पूर्ण किया जाएगा, अथवा यदि ऐसा न हुआ तो वह रियासत अथवा रियासतें किसी विशेष राजनैतिक व्यवस्था में प्रविष्ट होंगी जो उत्तराधिकारी सरकार अथवा सरकारों के साथ किया जाएगा।" इस नीति को "एक राजनैतिक झुलसी हुई भूमि वाली नीति" वर्णित किया गया है।

गुण (Merits)—मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के गुण तथा दोष दोनों थे।

(१) इसका सबसे बड़ा लाभ यह था कि विधान सभा का निर्माण जनसंख्या की शक्ति के प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त पर आधारित था। दबाव के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से छोड़ दिया गया।

(२) साम्प्रदायिक समस्याओं अथवा प्रश्नों के सम्बन्ध में बहुमत की प्रजातान्त्रिक पद्धति के द्वारा निर्णय को स्वीकार कर लिया गया। अल्पसंख्यकों के लिये संरक्षण की व्यवस्था की गई।

(३) इन प्रस्तावों के द्वारा प्रान्तों तथा रियासतों के एक भारतीय संघ की व्यवस्था कर दी गई तथा पाकिस्तान के विचार को पूर्ण रूप से छोड़ दिया गया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के द्वारा देश को विभाजन तथा विपत्ति से बचाने के लिये यह अन्तिम प्रयत्न था। इस योजना में कुछ नियम-विरुद्ध अथवा नीति-विरुद्ध बातें भी थीं तथा इसका कारण यही था कि मन्त्रिमण्डल मिशन भारतीय एकता की किसी भी मूल्य पर रक्षा करना चाहता था।

(४) इस योजना का एक अंग यह भी था कि विधान सभा के सभी सदस्य भारतीय हों। उसमें न तो ब्रिटिश सरकार को तथा न गैर-सरकारी यूरोपियनों को किसी प्रकार का प्रतिनिधित्व दिया गया। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के यूरोपियन सदस्यों को मतदान के समय अनुपस्थित रहने की व्यवस्था की गई थी।

(५) इस बात की भी व्यवस्था की गई कि विधान सभा के कार्य में न तो ब्रिटिश सरकार तथा न उसके भारत-स्थित अधिकारी किसी प्रकार का हस्तक्षेप करेंगे। योजना के ढाँचे में विधान सभा को अपने कार्यक्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

दोष (Demerits)—(१) मन्त्रिमण्डल मिशन योजना में कुछ दोष भी थे। यद्यपि मुस्लिम अल्पमत के अधिकार सुरक्षित किए गये थे, किन्तु पंजाब में सिख आदि अन्य भारतीय अल्पमतों के सम्बन्ध में इस प्रकार के संरक्षण की व्यवस्था नहीं की गई।

(२) प्रान्तों के समूहीकरण के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल मिशन के प्रस्ताव स्पष्ट नहीं थे। काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने उक्त धाराओं की व्याख्या विभिन्न तरीकों से की। मुसलमानों ने प्रान्तों के समूहीकरण को मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया तथा इस सम्बन्ध में वे किसी प्रकार का समझौता करने

को उद्यत न थे । काँग्रेस की व्याख्या इस सम्बन्ध में यह थी कि प्रान्तों का समूहीकरण प्रान्तों के लिये वैकल्पिक है । उसके अनुसार यह प्रान्तों की अपनी इच्छा पर निर्भर है कि वे किसी समूह में प्रविष्ट हों अथवा नहीं । वास्तव में महात्मा गाँधी ने आसाम की जनता से कहा कि यदि वे समूहीकरण को नहीं मानते, तो वे समूह में प्रवेश न करें। उन्हें कहा गया कि वे परिणाम की चिन्ता न करें। कठिनता का हल निकालने के लिये यह प्रस्ताव किया गया कि प्रान्त अस्थायी रूप से समूहों में सम्मिलित हो जाएँ, किन्तु आगे जाकर उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि यदि वे चाहें, तो वे समूह को छोड़ने में स्वतन्त्र हैं । काँग्रेस ने सुझाव दिया कि उक्त विषय संघीय न्यायालय को निर्णय के लिये सौंप दिया जाए। किन्तु, ब्रिटिश सरकार ने प्रान्तों के आवश्यक समूहीकरण के पक्ष में अपना निर्णय दिया । मुस्लिम लीग इस सम्बन्ध में जीत गई तथा काँग्रेस को पराजित होना पड़ा ।

(३) इस योजना का तीसरा दोष वह आज्ञा थी जिसके अनुसार संघीय तथा सामूहिक विधान सभाओं को मिलकर अपने विधानों के मसविदे तैयार करने थे । पहले-पहले यह बात अद्भुत सी लगी कि समूहों तथा प्रान्तों के संविधान तैयार कर लिये जाएँ तथा फिर संघ का संविधान तैयार किया जाए। यह बात तो वैसी ही थी जैसे गाड़ी को घोड़े के आगे रख दिया जाए। यदि सम्पूर्ण योजना को कार्य रूप में परिणत किया गया होता, तो इस व्यावहारिक कठिनाई का अनुभव अवश्य हो जाता ।

यह बात उचित प्रतीत होती है कि १६ मई, १६४६ की घोषणा के प्रकाशित होने के पश्चात् की घटनाओं पर दृष्टिपात किया जाए। अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने ६ जून, १६४६ के दिन एक प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसके अनुसार उसने योजना को पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया । दूसरी ओर काँग्रेस कार्यसमिति ने २६ जून, १६४६ के दिन एक प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसके अनुसार उसने योजना को आँशिक रूप से स्वीकार कर लिया । काँग्रेस ने योजना के उस भाग को स्वीकार किया, जिसमें संविधान-निर्माण के सम्बन्ध में चर्चा की गई थी। समिति का विचार यह था कि प्रान्तों के समूहीकरण की योजना आवश्यक नहीं है। तथापि काँग्रेस ने अन्तरिम सरकार की योजना को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि उन्हें जो स्पष्टीकरण दिया गया था, वह स्वीकार करने योग्य नहीं था। काँग्रेस कार्यसमिति के प्रस्ताव को अखिल भारतीय काँग्रेस समिति ने अपनी पुष्टि प्रदान कर दी।

सिखों ने पूर्णरूप से योजना को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि प्रान्तों का आवश्यक समूहीकरण, जैसे कि योजना में विचारा गया था, उनके लिए आत्महत्या के समान घातक था ।

मन्त्रिमण्डल मिशन ने भारत छोड़ने से पूर्व लार्ड वेवल के साथ एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें यह सन्तोष प्रकट किया गया कि संविधान का निर्माण कार्य भली प्रकार से भारत के मुख्य दलों की स्वीकृति से सम्पन्न होगा। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि विभिन्न दलों की संयुक्त अन्तरिम सरकार कुछ विशेष कठिनाइयों के कारण नहीं बन सकी। ऐसी आशा की गई कि विधानसभा के चुनावों के

पश्चात् विभिन्न दलों की संयुक्त अन्तरिम सरकार के सम्बन्ध में बातचीत तथा चर्चा आरम्भ की जाएगी।

जिन्ना, जिसने योजना को पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया था, इस बात पर क्रुद्ध हो गया कि ब्रिटिश सरकार ने अन्तरिम सरकार के निर्माण के सम्बन्ध में अपने निश्चय को क्यों स्थगित कर दिया है। उसने लार्ड वेवल पर अभियोग लगाया कि वह अपने वचन से फिर गया है। वह इतना अधिक बिगड़ गया कि मुस्लिम लीग ने उसके नेतृत्व में २९ जुलाई, १९४६ को एक अन्य प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसके द्वारा उसने मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के सम्बन्ध में अपनी पूर्व-स्वीकृति को वापिस ले लिया। जिन्ना अपने इस नकारात्मक कार्य से भी संतुष्ट न हुआ। मुस्लिम लीग ने अपना प्रसिद्ध "सीधी कार्रवाई वाला प्रस्ताव" भी स्वीकार किया, जिसके द्वारा कांग्रेस तथा ब्रिटिश सरकार दोनों की इसलिए निन्दा की गई कि उन्होंने मुसलमानों के साथ विश्वासघात किया है। यह घोषणा की गई कि समय आ गया है जब मुस्लिम लीग पाकिस्तान की प्राप्ति के लिये सीधी कार्रवाई करे। इस प्रस्ताव के द्वारा कार्य-समिति को अधिकार दिया गया कि वह शीघ्र ही सीधी कार्रवाई का कार्यक्रम तैयार करे। १६ अगस्त का दिन सीधी कार्रवाई के दिन के लिये निश्चित किया गया। उस दिन कलकत्ता में अभूतपूर्व ढंग से हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। प्राण तथा सम्पत्ति की अत्यधिक हानि हुई। ब्रिटिश सरकार ने इस बड़े पैमाने पर होने वाली हत्याओं को रोकने के लिये कुछ भी कार्रवाई न की।

लार्ड वेवल ने कांग्रेस के अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू को अन्तरिम सरकार बनाने के सम्बन्ध में निमंत्रण दिया। पं० नेहरू के द्वारा बनाई गई सरकार ने २ सितम्बर १९४६ को पद-ग्रहण किया। मुस्लिम लीग ने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। इस अन्तरिम सरकार के सदस्य ये थे—पं० नेहरू, सरदार पटेल, डा० राजेन्द्र प्रसाद, राजगोपालाचार्य, डा० जान मथाई, सरदार बलदेव सिंह, सर शफ़ात अहमद खान, श्री जगजीवन राम, सैयद अली ज़हीर, श्री भाभा, आसफ़ अली तथा शरतचन्द्र बोस। १३ अक्तूबर, १९४६ को मुस्लिम लीग ने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया तथा १५ अक्तूबर को मुस्लिम लीग के पाँच सदस्य अन्तरिम सरकार में सम्मिलित कर लिये गए। इसलिए उक्त कुछ सदस्यों ने मुस्लिम लीग के पाँच सदस्यों को स्थान देने के लिये त्याग-पत्र दे दिये। यह सरकार भारत के विभाजन अगस्त, १९४७ तक पदारूढ़ रही।

संविधान सभा (Constituent Assembly)—संविधान सभा के चुनाव जुलाई, १९४६ में हुए तथा ९ दिसम्बर, १९४६ के दिन नई दिल्ली में पहली बार इस सभा का अधिवेशन हुआ। मुस्लिम लीग ने इसकी चर्चा में भाग लेने से इनकार कर दिया।

फरवरी, १९४७ में इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार जून, १९४८ से पूर्व भारत छोड़ देगी, चाहे मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस में परस्पर कोई समझौता न भी हो। मार्च १९४७ में लार्ड माउंटबेटन को भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया तथा कांग्रेस और मुस्लिम लीग के साथ लम्बी चर्चाओं के पश्चात् उसने अपनी प्रसिद्ध ३ जून की योजना प्रस्तुत की, जिसमें देश के दो भागों में—भारत तथा पाकिस्तान—विभाजन का प्रस्ताव रखा। यह योजना कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने स्वीकार कर

ली। ये प्रस्ताव एक बिल के रूप में प्रस्तुत किये गये तथा ब्रिटिश संसद् ने १८ जुलाई, १९४७ के दिन इसे भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १९४७ के रूप में स्वीकार किया।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम (The Indian Independence Act)—इस अधिनियम का उद्देश्य लार्ड माउंटबेटन की ३ जून की योजना को कार्यान्वित करना था। इसके द्वारा केवल उस वस्तु को कानूनी रूप दिया गया, जिसके सम्बन्ध में भारत के लोगों से प्रतिज्ञा की गई थी।

(१) अधिनियम के द्वारा भारत के विभाजन तथा दो उपनिवेशों––भारत तथा पाकिस्तान––की १५ अगस्त, १९४७ की निश्चित तिथि से व्यवस्था की गई। इस अधिनियम के द्वारा दो उपनिवेशों की वैधानिक मुख्यता को स्वीकार किया गया।

(२) दोनों उपनिवेशों की व्यवस्थापिका सभाओं को इतर प्रादेशिक कार्यक्षेत्र वाले कानून बनाने का पूर्ण अधिकार दिया गया।

(३) ब्रिटिश सरकार को १५ अगस्त, १९४७ के पश्चात् उपनिवेशों, प्रान्तों अथवा उपनिवेशों के किसी भाग के मामलों पर किसी प्रकार के नियंत्रण की कोई भी व्यवस्था नहीं रखी गई थी।

(४) जब तक प्रत्येक उपनिवेश का संविधान न बन जाए, इस अधिनियम के द्वारा वर्तमान विधान सभाओं को अन्तरिम काल के लिये औपनिवेशिक व्यवस्थापिका सभाओं का रूप दे दिया गया। इन धारा सभाओं को उन सब अधिकारों का प्रयोग करने का अधिकार था जिन्हें पहले केन्द्रीय धारा सभा करती थी। इसके साथ ही उन्हें एक नये संविधान बनाने का अधिकार भी दिया गया।

(५) नये संविधान बन जाने तक प्रत्येक उपनिवेश तथा सभी प्रान्तों का शासन १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार होना था। प्रत्येक उपनिवेश को अधिकार दिया गया कि वह भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के आधीन कुछ आवश्यक परिवर्तन कर ले।

(६) गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम को ३१ मार्च, १९४८ तक आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर ले। उसके पश्चात् विधान सभा को अधिकार था कि वह १९३५ के पुराने भारत सरकार के अधिनियम में परिवर्तन कर दे अथवा उसे अपना ले।

(७) सम्राट् का वह अधिकार छोड़ दिया गया जिसके द्वारा वह किसी कानून को अपनी इच्छानुसार वीटो कर सकता था अथवा सुरक्षित कर सकता था। यह अधिकार गवर्नर-जनरल को दे दिया गया। उसे पूर्ण अधिकार दिया गया कि वह औपनिवेशिक धारा सभा में स्वीकृत किसी सामान्य कानून को सम्राट् की ओर से स्वीकृति प्रदान कर सके।

(८) इस अधिनियम के द्वारा भारतीय रियासतों पर सम्राट् के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया गया। रियासतों तथा उनके शासकों के सम्बन्ध में सब सन्धियाँ, समझौते तथा कार्य जिनका प्रयोग सम्राट् करते थे, वे सब १५ अगस्त, १९४७ को समाप्त हो जाने थे। यह व्यवस्था की गई कि तात्कालिक व्यवस्था जो भारत सरकार तथा भारतीय रियासतों में चल रही थी, वह तब तक पूर्ववत् चलती रहेगी, जब तक भारतीय रियासतों तथा नये उपनिवेशों के मध्य विस्तृत बातचीत नहीं चलती।

(९) उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के कबीलों के साथ समझौतों के सम्बन्ध में उत्तराधिकारी उपनिवेश को चर्चा करने का अधिकार दिया गया।

(१०) भारत मन्त्री के पद से हटाए जाने का निश्चय हो गया तथा उसका कार्य भाईचारे वाले देशों के मामलों के मन्त्री के अपने हाथों में लेने का निश्चय किया गया।

(११) इंग्लैंड के शासक की उपाधियों में से "भारत सम्राट्" का शब्द हटाए जाने का निश्चय हुआ।

(१२) इस अधिनियम के द्वारा भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व समाप्त हो गया। इसके द्वारा दो स्वतन्त्र उपनिवेश अस्तित्व में आए। दोनों में से प्रत्येक को इस बात का पूर्ण अधिकार दिया गया कि वह अपनी इच्छानुसार कोई संविधान बना ले। दोनों उपनिवेशों को पूर्ण अधिकार तथा स्वतन्त्रता दी गई कि यदि वे चाहें तो वह ब्रिटिश राष्ट्रमंडल को छोड़ भी सकते हैं।

१९४७ का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम आँग्ल-भारतीय सम्बन्धों की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय ऐतिहासिक घटना है। इससे भारत में अंग्रेजी राज्य समाप्त हुआ। यह भारतीयों के उस अधिकार की स्वीकृति थी कि वे स्वतन्त्र हो सकते हैं, किन्तु दुर्भाग्य से इसने भारत को दो भागों में विभक्त कर दिया। केवल भविष्य ही बता सकता है कि देश का विभाजन देश के हितों में था।

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ। संविधान सभा ने अपना कार्य जारी रखा तथा उसने फरवरी, १९४८ में नये संविधान का मसविदा तैयार किया। विधान सभा ने २६ नवम्बर, १९४९ के दिन संविधान को अन्तिम रूप दिया। यह संविधान २६ जनवरी, १९५० के दिन लागू कर दिया गया।

भारत का नया संविधान (The New Constitution of India)—नये संविधान की प्रस्तावना निश्चय करती है कि एक स्वतन्त्र प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र की स्थापना करनी है। यह इस बात की घोषणा करता है कि हमारी स्वतन्त्र सत्ता देश के लोगों में है। हमारे संविधान के उद्देश्यों में न्याय, स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुत्व का भी उल्लेख किया गया है।

(३) संविधान के आधीन चार प्रकार के राज्य थे—"क" भाग के राज्य, "ख" भाग के राज्य, "ग" भाग के राज्य तथा "घ" भाग के राज्य। "क" भाग के राज्य भूतपूर्व गवर्नर वाले प्रान्त थे। "ख" भाग के राज्य भूतपूर्व देशी रियासतें थीं जिन पर भारतीय नरेश राज्य करते थे। "ग" भाग के राज्य मुख्य आयुक्तों तथा उप-राज्यपालों के आधीन थे। राज्यपाल "क" श्रेणी के राज्यों में थे तथा राजप्रमुख "ख" श्रेणी के राज्यों में थे।

संविधान के सातवें संशोधन के फलस्वरूप इस समय भारत में १४ राज्य हैं तथा ६ संघ क्षेत्र हैं। राजप्रमुखों की संस्था समाप्त कर दी गई है। जो पहले राज्यों में अन्तर था वह भी समाप्त कर दिया गया है। नये राज्यों के नाम ये हैं: आंध्र प्रदेश, आसाम, बिहार, बम्बई, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और जम्मू व कश्मीर। ६ संघ क्षेत्रों के नाम ये हैं: दिल्ली, हिमाचल

प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, अण्डमान निकोबार द्वीप समूह, लकादीव, मिनिकौय और अमिनदीव।

(३) भारत की नागरिकता के सम्बन्ध में जिन व्यक्तियों ने भारत में जन्म लिया अथवा जो यहाँ के रहने वाले हैं, शरणार्थी, जो पाकिस्तान से भारत में आए, तथा समुद्र-पार के भारतीय, जो भारत की नागरिकता के लिये प्रार्थना करें––ये सभी भारतीय नागरिक हैं। भारत के संविधान ने सम्पूर्ण भारत के लिये इकहरी नागरिकता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। कोई भी व्यक्ति इस बात के लिये माँग नहीं कर सकता कि वह दो देशों का नागरिक है।

(४) संविधान में ऐसे बहुत से मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है, जो भारत के प्रत्येक नागरिक को गारंटी के रूप में प्राप्त हैं। ये अधिकार संविधान की १२वीं धारा से ३५वीं धारा तक में पाए जाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को मौलिक अधिकारों का संरक्षक नियुक्त किया गया है। इन अधिकारों में कानून के प्रति समानता का अधिकार है, धर्म जाति, नस्ल, लिंग तथा जन्म स्थान के आधार पर भेद-भाव न करने की माँग, सार्वजनिक सेवाओं में समान अवसरों की प्राप्ति, छूतछात का नाश, भाषण तथा विचार की स्वतन्त्रता, शान्तिपूर्ण उपायों से तथा बिना शस्त्रों के सभा करने का अधिकार, सभा अथवा संघ बनाने का अधिकार, भारतीय क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने का अधिकार, भारत के किसी भाग में रहने तथा स्थायी रूप से बसने का अधिकार, सम्पत्ति को प्राप्त करने, रखने तथा बेचने का अधिकार, किसी भी व्यवसाय व्यापार अथवा कार्य करने, कुछ मामलों में गिरफ्तारी अथवा बन्दी किए जाने से स्वतन्त्रता का अधिकार, मनुष्यों के व्यापार तथा जबरदस्ती काम लिये जाने पर रोक, बच्चों के किसी कारखाने अथवा खान अथवा किसी ऐसे आपत्तिजनक काम में नियुक्ति पर रोक, धार्मिक प्रचार तथा व्यवहार की स्वतन्त्रता, धार्मिक विषयों की व्यवस्था की स्वतन्त्रता, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार तथा वैधानिक उपायों का अधिकार आदि सब अधिकार सम्मिलित हैं।

(५) संविधान में राज्यनीति के निर्देशक सिद्धान्त भी वर्णित हैं। इन सिद्धान्तों का सम्बन्ध देश की जनता के कल्याण के सम्बन्ध में सरकार द्वारा ध्यान रखने के विषय में है। इस प्रकार सभी भारतीय नागरिकों को इस बात का अधिकार है कि उन्हें अपने निर्वाह के लिये पर्याप्त साधनों की प्राप्ति हो। देश के भौतिक साधनों का समान बँटवारा होना चाहिए। देश का आर्थिक स्वातन्त्र्य इस बात की माँग करता है कि धन तथा उपज के साधनों पर ही एकमात्र ध्यान केन्द्रित न किया जाए। पुरुषों तथा स्त्रियों के लिये समान कार्य के लिए समान वेतन दिए जाने का उल्लेख है। मजदूरों के धन तथा शक्ति का दुरुपयोग करने का निषेध किया गया है। बच्चों तथा युवकों के शोषण, चारित्रिक तथा भौतिक (धन-सम्बन्धी) मुक्ति से संरक्षण की व्यवस्था है। सभी मजदूरों को निर्वाह-योग्य मजदूरी प्राप्त होनी चाहिए। उनके कार्यों की शर्तें न्यायपूर्ण तथा मानवतापूर्ण हों। सब व्यक्तियों को कार्य करने, शिक्षा प्राप्त करने तथा बेकारी, बुढ़ापे तथा बीमारी की अवस्था में सार्वजनिक सहायता का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। देश के सब लोगों के लिये समान नागरिक संहिता होनी चाहिए। बच्चों के लिए निःशुल्क तथा आवश्यक शिक्षा का

प्रबन्ध होना चाहिए। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह जनता के जीवन-स्तर तथा स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न करे। राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को विकसित करना है; जातियों के मध्य न्याय तथा प्रतिष्ठापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने हैं, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा संधियों के सम्बन्ध में प्रतिष्ठा की भावना विकसित करनी है तथा अन्तर्राष्ट्रीय कलहों को मध्यस्थता के द्वारा सुलझाना है। तथापि यह बात उल्लेखनीय है कि राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त मौलिक अधिकारों से इस बात में भिन्न हैं, क्योंकि मौलिक अधिकारों के समान उन्हें क नूनन अदालतों के द्वारा लागू नहीं किया जा सकता।

(६) संविधान में भारत गणतन्त्र के लिये एक राष्ट्रपति की व्यवस्था की गई है। उसका निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से एक निर्वाचक-मण्डल के द्वारा होता है, जिसमें संसद् के दोनों सदनों के सदस्य तथा प्रान्तीय धारा सभाओं के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होते हैं। राष्ट्रपति के लिये भारत का नागरिक होना आवश्यक है। वह ३५ वर्ष से अधिक आयु वाला होना चाहिए तथा वह लोक सभा के सदस्य के रूप में चुने जाने के योग्य होना चाहिए। वह चुनाव के लिये अधिकारी नहीं समझा जा सकता, यदि वह सरकार के आधीन किसी पद पर कार्य करता हो। वह पाँच वर्ष के कार्यकाल के लिये पद ग्रहण करता है, किन्तु उसे पुनः चुना जा सकता है। उसे १००००) का मासिक वेतन तथा भत्ते प्राप्त होते हैं। उस पर संविधान के उल्लंघन करने के सम्बन्ध में मुकदमा चलाया जा सकता है। संविधान में राष्ट्रपति पर मुकदमा चलाए जाने की विशेष प्रक्रिया है। राष्ट्रपति को व्यवस्था, धारा तथा कानूनी क्षेत्रों में बहुत से अधिकार दिये गये हैं। आपातकाल में उसे विशेष कार्रवाई करने के भी अधिकार प्राप्त हैं। उससे आशा की जाती है कि वह इंग्लैंड के सम्राट् के समान वैधानिक सर्वोच्चाधिकारी के रूप में कार्य करे।

(७) भारत का उपराष्ट्रपति पदेन राज्य सभा का अध्यक्ष होता है। कोई भी भारतीय जो ३५ वर्ष अथवा अधिक आयु का हो तथा जो राज्य सभा के सदस्य होने की योग्यता रखता हो, इस पद के लिये संसद् के दोनों सदनों के द्वारा चुना जा सकता है। जब राष्ट्रपति बीमार हो, अथवा त्याग-पत्र दे अथवा उसकी मृत्यु हो जाए, अथवा उसे पदच्युत कर दिया जाए अथवा वह अन्य किसी कारण से अनुपस्थित हो, उस अवस्था में भारत का उपराष्ट्रपति उसका स्थान उस समय तक ग्रहण कर लेगा जब तक भारत के नये राष्ट्रपति का चुनाव नहीं होता।

(८) संविधान के द्वारा मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था है, जिसका कार्य राष्ट्रपति को सहायता देना है। राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री को नियुक्त करता है तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति वह प्रधानमन्त्री के परामर्शानुसार करता है। सभी मन्त्री सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्रधानमन्त्री का यह कर्त्तव्य है कि वह मन्त्रिमण्डल में हुए निर्णयों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सूचित कर दे। प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल के मध्य कड़ी है। उसकी स्थिति इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री के समान है।

(९) भारतीय संसद् के दो सदन हैं—लोक सभा तथा राज्य सभा। लोक सभा में ५०० सदस्य होते हैं, जो कई राज्यों में मतदाताओं के द्वारा चुने जाते हैं। प्रत्येक वयस्क अथवा भारत के नागरिक को मताधिकार प्राप्त है। लोक सभा का कार्य-काल पाँच वर्ष होता है। लोक सभा का एक अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष होता है। राज्य सभा २५० सदस्यों

की एक स्थायी संस्था है। उसके सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होता है। इसके सदस्यों का एक-तिहाई भाग प्रत्येक दो वर्षों के पश्चात् अवकाश ग्रहण करता है। राज्य सभा के बारह सदस्यों को राष्ट्रपति विद्वानों तथा अनुभवी व्यक्तियों में से मनोनीत कर लेता है। राज्य सभा के सदस्य को भारत का नागरिक होना आवश्यक है तथा उसकी आयु ३० वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए।

यह बात उल्लेखनीय है कि लोक सभा राज्य सभा से दृढ़ है। इसका धन सम्बन्धी विधेयकों पर पूर्ण नियन्त्रण है। सामान्य विधेयकों के विषय में भी लोक सभा की सम्मति अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दोनों सदनों के सम्मिलित सदस्यों की संख्या में लोक-सभा के सदस्यों की संख्या बहुमत वाली अथवा अधिक है।

(१०) संविधान के द्वारा भारत के उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था की गई है। इसमें भारत का एक मुख्य न्यायाधीश तथा सात से अधिक अन्य न्यायाधीश होते हैं। तथापि संसद् उनकी संख्या में वृद्धि कर सकती है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होती है। न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु तक अच्छे व्यवहार की दशा में कार्य करते रहते हैं। इस बात की भी व्यवस्था है कि उच्चतम न्यायालय के तदर्थ न्यायाधीश नियुक्त किए जा सकें। उच्चतम न्यायालय को मौलिक तथा अपील-सम्बन्धी कार्यक्षेत्र दिया गया है। मौलिक कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में, यह भारत सरकार तथा एक अथवा अधिक राज्यों के मध्य झगड़े की सुनवाई कर सकता है अथवा भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्यों के एक अथवा अधिक राज्यों के विरुद्ध अथवा दो अथवा अधिक राज्यों के मध्य किसी विवादास्पद झगड़े को निपटा सकता है। इसकी शर्त यह है कि झगड़ा किसी ऐसे प्रश्न के सम्बन्ध में हो जो कानूनी अथवा तथ्यपूर्ण हो, जिस पर कानूनी अधिकार की सत्ता तथा कार्यक्षेत्र निर्भर करता हो। उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार है कि वह मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में किसी प्रार्थना-पत्र पर निर्देश अथवा आज्ञा दे सके। ऐसे प्रार्थना पत्र कई प्रकार के हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय का अपील-सम्बन्धी कार्य-क्षेत्र तीन प्रकार का है—वैधानिक, दीवानी तथा फौजदारी। उच्च न्यायालय से उच्चतम न्यायालय को अपील ले जाई जा सकती है, यदि उसमें संविधान की व्याख्या के सम्बन्ध में कोई कानूनी प्रश्न उलझा हुआ हो। दीवानी मुकदमों में उच्चतम न्यायालय में अपील तभी की जा सकती है, जब मुकदमे में २०,००० से अधिक रकम विवादग्रस्त हो। फौजदारी मामलों में उच्चतम न्यायालय में अपील तभी ले जाई जा सकती है यदि उच्च न्यायालय में अपील करने पर किसी अभियुक्त की मुक्ति की आज्ञा के विपरीत उसे मृत्यु दंड प्राप्त हो गया हो। संसद् को फौजदारी के मुकदमों में इसके अधिकारों को बढ़ाने की व्यवस्था विद्यमान है।

उच्चतम न्यायालय अपना परामर्शदाता कार्य-क्षेत्र भी रखता है। इसका कार्य कानून तथा तथ्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर राष्ट्रपति को परामर्श देना है। इसे इस बात का भी अधिकार है कि कुछ विशेष मामलों में यह अपील करने की विशेष अनुमति प्रदान कर दे। इसे समीक्षा करने का भी अधिकार है। यह बात ठीक ही कही गई है कि भारत का उच्चतम न्यायालय संसार के किसी अन्य उच्चतम न्यायालय से अधिक अधिकार रखता है।

संविधान के द्वारा प्रत्येक राज्य के लिये एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई

है। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा ऐसे अन्य न्यायाधीशों को नियुक्त किया जा सकता है, जैसे भारत का राष्ट्रपति समय-समय पर उचित समझे। प्रत्येक उच्च न्यायालय फौजी न्यायालयों को छोड़कर अपने क्षेत्र के न्यायालयों पर पूर्ण नियंत्रण रखता है। ज़िला न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ, पदोन्नतियाँ तथा उन्हें किसी विशेष स्थान पर लगाने के सम्बन्ध में सब कार्रवाई राज्यपाल राज्य के उच्च न्यायालय के परामर्श के अनुसार करता है।

(११) संविधान में संघीय सार्वजनिक सेवा आयोग तथा राज्य सार्वजनिक सेवा आयोगों की व्यवस्था है। सार्वजनिक सेवा आयोगों के मुख्य कार्य नियुक्ति के लिये प्रार्थियों की सिफारिश करना तथा सेवा में भरती के लिये परीक्षाओं की व्यवस्था करना है।

(१२) संविधान में एक महालेखापरीक्षक की भी व्यवस्था की गई है। राष्ट्रपति संघ तथा राज्यों के हिसाव-किताव के सम्बन्ध में सब प्रकार के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का प्रयोग करने के लिये उसकी नियुक्ति करता है। उसका मुख्य कर्त्तव्य संघ तथा राज्यों की धन-राशि पर सावधानी से ध्यान रखना तथा विशेष रूप से यह देखना है कि व्यय संसद् अथवा राज्य की विधान सभाओं के द्वारा स्वीकृत सीमा से, जैसाकि विनियम अधिनियम में उल्लेख है, बढ़कर अथवा भिन्न तो नहीं है।

(१३) संविधान में संघ तथा राज्यों के मध्य अधिकारों के वर्गीकरण की व्यवस्था की गई है। संघ सूची में वे विषय हैं, जिनके सम्बन्ध में भारतीय संसद् में अधिनियम स्वीकृत हो सकते हैं। राज्य सूची में वे विषय हैं, जिनके विषय में राज्य विधान सभा में कानून बनाए जा सकते हैं। संयुक्त सूची में उन विषयों का उल्लेख है जिनके सम्बन्ध में संघीय संसद् तथा राज्यों की विधान सभाओं—इन दोनों के द्वारा कानून स्वीकृत किये जा सकते हैं। शेष अधिकार संघीय संसद् को दिये गए हैं। इस सबका परिणाम यह है कि नये संविधान के अनुसार संघ सरकार बहुत शक्तिशाली है।

(१४) संविधान में व्यापार, वाणिज्य तथा भारत के सम्पूर्ण प्रदेशों में पारस्परिक व्यापार-सम्बन्धों की भी व्यवस्था है। तथापि जनहित की दृष्टि से कुछ बन्धन लगाए जा सकते हैं। संविधान के अनुसार कोई भी कर अधिकृत आज्ञा के विना न तो लगाया ही जा सकता है तथा न ही प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी व्यवस्था है कि नागरिक निधियाँ खोली जा सकें। सामान्य कोष को भारत का संचित कोष कहा जाता है तथा इसमें भारत सरकार की सम्पूर्ण आय सम्मिलित की जाती है। प्रत्येक राज्य का भी ऐसा ही एक संचित कोष होता है। इसके अतिरिक्त भारत की तथा प्रत्येक राज्य की एक सार्वजनिक निधि होती है। इसी प्रकार भारत तथा प्रत्येक राज्य की आकस्मिक निधि होती है। ये निधियाँ भारत के राष्ट्रपति, राज्यों के राज्यपाल तथा राजप्रमुखों के अधिकार में होती हैं। संविधान के अनुसार संघीय संसद्, राज्य की विधान-सभाओं तथा राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के चुनाव की व्यवस्था, निर्देशन तथा नियंत्रण तथा चुनाव अधिकरणों की नियुक्ति का कार्य चुनाव आयोग के आधीन केन्द्रित है। प्रत्येक प्रादेशिक चुनाव-क्षेत्र की एक सामान्य मतदाता सूची बनेगी। किसी व्यक्ति को उस सूची में से धर्म, जाति, वर्ण, लिंग के कारण अथवा इनमें से किसी एक कारण से हटाया नहीं जा सकता। मतदाताओं के लिये सम्पत्ति की कोई योग्यता नहीं रखी गई। प्रत्येक व्यक्ति, जो भारत का नागरिक है तथा जिसकी आयु २१ वर्ष से कम नहीं है तथा जिसे किसी अन्य कारण से अनर्ह घोषित नहीं

किया गया, को लोक सभा तथा राज्य की विधान सभाओं में मताधिकार प्रदान किया गया है।

(१५) संविधान में इस बात की व्यवस्था है कि देवनागरी लिपि में हिन्दी संघ की सरकारी भाषा होगी। अंग्रेजी भाषा संघ के सब सरकारी कार्यों के लिये १५ वर्षों तक जारी रहेगी, किन्तु राष्ट्रपति को इस बात का अधिकार है कि वह इस समय में अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी के प्रयोग की भी अनुमति दे दे। यदि १५ वर्षों के अन्त में ऐसा समझा गया कि हिन्दी पूर्ण रूप से अंग्रेजी का स्थान नहीं ले सकती, तो संसद् को अधिकार है कि वह अंग्रेजी के प्रयोग की उन कार्यों के लिये अनुमति प्रदान कर दे, जिन्हें कानून के द्वारा उल्लिखित कर दिया जाए। संविधान में विभिन्न राज्यों के लिये भारतीय भाषाओं को प्रादेशिक भाषाओं के रूप में प्रयोग करने के सम्बन्ध में स्वीकृति प्रदान की गई है।

(१६) संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में भी व्यवस्था की गई है। संविधान में तभी संशोधन हो सकता है जब राष्ट्रपति किसी ऐसे बिल पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे, जो संसद् के दोनों सदनों के द्वारा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई से अधिक के बहुमत से स्वीकार कर लिया गया है। कुछ विशेष धाराओं के संशोधन के सम्बन्ध में अपवाद किया गया है। ये धाराएँ वे हैं, जिनमें परिवर्तनों की पुष्टि के लिये राज्य-विधान सभाओं की आधी संख्या इस पक्ष में है।

संविधान की आलोचना (Criticism of the Constitution)––(१) प्रथम, आलोचकों का कहना है कि नये संविधान में कुछ भी मौलिक नहीं है। कुछ धाराएँ तो शब्दशः ही १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम से ले ली गई हैं। इसी प्रकार, बहुत सी धाराएँ संसार के अन्य देशों के संविधानों से ली गई हैं। इसके सम्बन्ध में कोई स्वदेशीपन नहीं है। इसमें हिन्दू युग की सभा अथवा समिति का उल्लेख नहीं है। इसमें मध्यकालीन भारत की राजनैतिक संस्थाओं का भी कोई उल्लेख नहीं। किन्तु ऐसा कहना समुचित है कि एक राजनैतिक संस्था से भी कुछ उधार लेने में कोई बुराई नहीं, यदि वह अन्यथा ठीक कार्य करती है। साथ ही वर्तमान वैधानिक ढाँचे में पुरानी राजनैतिक संस्थाओं को फिट करना कठिन है।

(२) आलोचकों का कहना है कि भारतीय संविधान में केन्द्र पर अधिक बल दिया गया है तथा इकाइयों को स्थानीय संस्थाओं के समकक्ष कर दिया गया है। यह पहले ही कहा गया है कि केन्द्रीय सरकार को भारत की एकता तथा सुरक्षा को स्थिर रखने के लिये विशेष रूप से दृढ़ बनाया गया है। ऐसा अनुभव किया गया कि भारत की राजनैतिक दलबन्दी की वर्तमान प्रवृत्तियों का नियन्त्रण करने के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं। केन्द्रीय सरकार के विस्तृत अधिकार इस रोग के निराकरण के लिए आवश्यक हैं।

(३) आलोचकों का कहना है कि संविधान में दिए मौलिक अधिकार काल्पनिक अथवा मिथ्या हैं तथा वास्तविक नहीं। वे सब ओर से अनेक सीमाओं से इस प्रकार घिरे हुए हैं कि संविधान में उनके सम्मिलित करने से लोगों को कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ। किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि न्यायालयों ने मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिये उत्साहपूर्वक कार्य किया है। साथ ही अधिकारों के सम्बन्ध में सीमाएँ इसलिए रखी गई हैं, क्योंकि पूर्ण अधिकारों के सबके द्वारा प्रयोग करने की अनुमति दी नहीं जा

सकती । वे सदैव कुछ व्यक्तियों की ही सम्पत्ति हैं ।

(४) यह कहा जाता है कि राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्त बिना किसी उद्देश्य के संविधान में सम्मिलित किए गये थे । क्योंकि वे न्यायसंगत नहीं, इसलिए उनका कोई प्रभाव नहीं है । प्रत्येक सरकार उनकी आत्महानि के बिना उपेक्षा कर सकती है । वे केवल नीति-वचन हैं, जिनके सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए । किन्तु यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि ये निदेशक सिद्धान्त देश में विधान के मार्ग को अवश्य प्रभावित करेंगे । वे जनता से प्राप्त आज्ञा-पत्र के समान हैं । कोई सरकार जो जनता का विश्वास स्थिर करने को उत्सुक है, इन निदेशों के विरुद्ध कार्य करने का साहस न कर सकेगी ।

(५) यह सत्य है कि संविधान में उन बातों के लिये धाराएँ हैं जिनके द्वारा उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीशों, सार्वजनिक सेवा आयोगों के सदस्यों तथा महालेखा परीक्षक की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में आश्वासन प्राप्त हैं । आधीन न्यायालयों की शिकायत है कि उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये कुछ भी आश्वासन नहीं । संविधान ने केवल उसकी उपेक्षा कर दी है। इसी प्रकार सरकारी कर्मचारी भी संविधान की अपनी पदवी के सम्बन्ध में प्रसन्न नहीं । कुछ अवस्थाओं में सम्बद्ध अधिकारी को अपने आपको निरपराध सिद्ध करने के लिये अवसर न भी दिया जाए, इस बात का निर्णय उस शासन के अधिकारी पर निर्भर करता है, जो सरकारी नौकर को हटाने अथवा अलग करने के लिये अधिकृत है, कि उसे ऐसा अवसर देना व्यवहार्य है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में उसका निश्चय अन्तिम माना जाता है ।

(६) संविधान में भारत के राष्ट्रपति, राज्य के राज्यपाल अथवा राज्य के राजप्रमुख को अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया है । आलोचकों का कहना है कि ऐसा प्रजातन्त्री व्यवस्था में उचित नहीं है। ऐसी धारा इंग्लैंड जैसे स्वतन्त्र देश में नहीं है । इसलिए कोई कारण नहीं कि इसे भारत के नये संविधान में रखा जाए। इस प्रकार के अधिकारों के सम्बन्ध में कुछ औचित्य उस समय तो था, जब भारत एक विदेश के द्वारा शासित था। यह अनुचित है कि भारत के पुराने संविधान में से एक बुरी से बुरी धारा उधार में ली जाए ।

(७) आलोचक राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों की भी निन्दा करते हैं। यह कहा गया है कि कहीं राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग देश में डिक्टेटरशिप स्थापित करने के लिये न करे । जर्मनी के दृष्टान्त को एक चेतावनी के रूप में प्रस्तुत किया गया है । किन्तु केवल भविष्य ही बता सकता है कि इस देश में इन अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार होगा । पैगम्बर तक भी इस क्षेत्र में असफल हो सकते हैं ।

(८) संविधान अत्यधिक विस्तृत तथा स्पष्ट है । यह अपने प्रकार का सबसे लम्बा है । यह इतना स्पष्ट है कि किसी प्रकार की अस्पष्टता का इसमें अभाव है । हमारे संविधान में अमरीका के संविधान की भाँति संक्षेप से कार्य नहीं लिया गया है तथा इसमें प्रशासनिक विस्तार है, जो उसमें नहीं है । यह अच्छा होता यदि हमारे संविधान के निर्माता अमरीका के आदर्श को अपने सामने रखते न कि भारत सरकार के १९३५ के अधिनियम को । भारतीय संविधान के निर्माताओं की महत्त्वाकाँक्षा इसे किसी प्रकार की अशुद्धि से

बचाना था। उन्होंने उन सब खामियों से बचने का प्रयत्न किया, जो विभिन्न संविधानों के व्यवहार-काल में प्रकट हुई थीं। सब प्रकार की संभावित न्यूनताओं से संरक्षण के परिणामस्वरूप यह संविधान लम्बा बन गया।

(९) राज्य संविधान के स्थगित करने की धाराओं के सम्बन्ध में, इस बात में औचित्य प्रतीत होता है कि बाह्य आक्रमण होने पर राष्ट्रपति हस्तक्षेप कर सकते हैं किन्तु ऐसा हस्तक्षेप आन्तरिक अशान्ति के समय अपेक्षित नहीं प्रतीत होता। इस अधिकार की विद्यमानता इसे किसी छोटे से छोटे आधार अथवा बहाने पर इसे प्रयोग करने का स्थायी निमन्त्रण तथा प्रलोभन है। इससे राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता एक प्रदर्शन-मात्र होकर रह जाती है। यदि भारत का राष्ट्रपति संसद् के विश्वास-प्राप्त मन्त्रियों के साथ मिलकर किसी राज्य के कार्य को हस्तगत करने का विचार अपने मस्तिष्क में लाता है अथवा किसी राज्य के कार्य-सञ्चालन के विरुद्ध किसी गुप्त किन्तु पूर्ण रूप से निराधार तथ्य से प्रभावित होता है, तब संविधान में इससे बचने के लिये कोई पर्याप्त संरक्षण अथवा उपाय नहीं। केन्द्रीय सरकार ने जिस प्रकार से पेप्सू तथा पंजाब की सरकारों का कार्य केन्द्रीय नियन्त्रण में लिया, उसे उचित नहीं समझा गया। आलोचकों का यह भी कहना है कि संविधान में स्वयं केन्द्र में संकट उत्पन्न होने की स्थिति में कोई विशेष तथा पर्याप्त व्यवस्था नहीं की गई है।

(१०) यह कहा जाता है कि भारतीय संविधान में ईश्वर के आशीर्वाद तथा प्रार्थना का कहीं उल्लेख नहीं है जैसा कि बहुत से अन्य संविधानों में है। ऐसे संविधान में इस प्रकार का उल्लेख होना और भी अधिक अद्भुत प्रतीत होता है, जो ऐसे लोगों के लिये बनाया गया हो, जो ईश्वर-भक्ति के लिये विख्यात हैं। संविधान बनाने वालों ने जान-बूझकर धर्म के सम्बन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया, जिससे धर्म-निरपेक्ष राज्य का विचार देश की नस-नस में आसानी से घर कर जाए। तथापि ऐसा तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि "गम्भीरतापूर्वक निश्चय किया गया" इस विचार में, जो प्रस्तावना में अंकित है, भगवान् के नाम के अभाव की पूर्त्ति हो जाती है। 'गम्भीर' शब्द के द्वारा संविधान में धार्मिकता का पर्याप्त तत्त्व निहित है तथा जिसके कारण इसे आध्यात्मिक शोभा प्रदान की गई है।

(११) ऐसा कहा जाता है कि वह धारा, जिसके द्वारा राष्ट्रपति को सार्वजनिक महत्त्व के किसी प्रश्न के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय से सम्मति प्राप्त करने की अनुमति प्रदान की गई है, अत्यन्त आपत्तिजनक है। इसके कारण सर्वोच्च न्यायालय की प्रतिष्ठा को धक्का लगता है, जिसके कारण उसे देश में अपील करने का सब से बड़ा न्यायालय स्वीकार किया गया। इसके कारण सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति व्यग्रतापूर्ण हो जाती है, जब कि वही प्रश्न जिस पर वह राष्ट्रपति को अपनी सम्मति प्रदान कर चुका है, दो दलों के मध्य एक मुकद्दमे के रूप में उसके समक्ष प्रस्तुत होता है। प्रश्न यह है कि क्या सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को दी गई सम्मति से बाध्य है अथवा नहीं। यह अच्छा होता यदि इस प्रकार की धारा संविधान में न होती। भारत का राष्ट्रपति मुख्य अभिकर्ता से सम्मति प्राप्त कर सकता है जिसकी योग्यता सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समान अपेक्षित है।

(१२) ऐसा तर्क उपस्थित किया गया कि भारतीय संविधान वकीलों के द्वारा तथा वकीलों के लिए बनाया गया। संविधान जान बूझकर ऐसा बनाया गया, जिससे व्याख्या की कठिनाइयों को जागरूक किया जा सके। इसका उद्देश्य कानूनी कार्य करने वालों को मुकद्दमों के रूप में अच्छा तथा पर्याप्त कार्य देना था।

डा० जैनिंग्ज़ के कथनानुसार विधि-विशेषज्ञ राजनीतिज्ञों ने भारतीय राजनीति में संसार के किसी और देश की राजनीति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। "एक वकील के रूप में मैं इस प्रथा के विरुद्ध कोई आक्षेप नहीं कर सकता, यद्यपि यह बात अवश्य स्वीकार करनी चाहिए कि इसमें खतरा है, क्योंकि कानूनदाँ राजनीतिज्ञ कभी-कभी न तो अच्छा वकील होता है और न अच्छा राजनीतिज्ञ। संविधान सभा में कानूनदाँ राजनीतिज्ञों की प्रमुखता भारत के लाभ के लिये हुई है, यह इतिहास बताएगा, जिसके सम्बन्ध में इस समय कुछ भी नहीं कहना चाहिये। इस समय तो यही कहा जा सकता है इसके कारण संविधान का पेचीदापन और भी बढ़ गया है।"

(१३) डा० जैनिंग्ज़ ने बताया है कि भारतीय संविधान अत्यन्त विस्तृत है तथा इसीलिए अत्यन्त कठोर है। संविधान की कठोरता केवल संशोधनात्मक प्रक्रिया से ही नहीं आंकी जा सकती। इसका निश्चय संशोधनों की इयत्ता से भी किया जा सकता है। भारतीय संविधान सब से लम्बा संविधान है तथा इसमें संशोधन करने की प्रक्रिया भी आसान नहीं है।

(१४) समाजवादियों का कहना है कि विधान सभा पूर्ण रूप से प्रतिनिधि सभा नहीं थी तथा परिणामस्वरूप वह भारतीयों के लिये संविधान बनाने के कार्य में समर्थ नहीं थी। २६ जनवरी, १९५० के दिन, जबकि नया संविधान लागू किया गया, श्री जयप्रकाश नारायण ने इस प्रकार अपने विचार प्रकट किए—"अन्ततः हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जो संविधान आज लागू हो रहा है तथा जो हमारे लोकतन्त्र को अस्तित्व में आज ला रहा है, वह स्वयं अपने आप में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक न्याय इन दोनों के लिये बड़े से बड़े खतरे का आधार है। इसलिये शीघ्रातिशीघ्र एक वास्तविक विधान सभा की एक ऐसे नए संविधान को बनाने के लिये अवश्य व्यवस्था की जानी चाहिये जो सामाजिक प्रजातन्त्र का एक उपयुक्त साधन हो।" यह भी सुझाव दिया गया कि किसी विरोध को समाप्त करने के लिये संविधान में प्रथम पाँच वर्षों में साधारण बहुमत की सामान्य प्रक्रिया से संशोधन कर दिया जाए। ऐसा वास्तव में आयरलैंड में हुआ भी है। यदि इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाता तो वयस्क मतदान के आधार पर चुनी गई संसद् के निर्वाचित जनता के प्रतिनिधि आवश्यकतानुसार जनता के आदेशों के प्रकाश में संशोधन कर लेते।

(१५) लक्ष्मी नारायण साहू के कथनानुसार, "प्रजातन्त्र को दिल्ली के चारों ओर उसी प्रकार केन्द्रित कर दिया गया है जिस प्रकार पवित्रता बनारस के चारों ओर केन्द्रित है।" प्रो० के० टी० शाह के कथनानुसार, "संविधान प्रधान मन्त्री को एक महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिशाली डिक्टेटर बना देगा।" १९४९-५० में कांग्रेस के प्रधान मन्त्री श्री शंकरराव देव के कथनानुसार, "जर्मनी के संविधान के समान हमारे राष्ट्रपति भी एक शक्तिशाली डिक्टेटर बन सकते हैं।" ए० सी० गुहा के कथनानुसार, "राष्ट्रपति के

हाथों में दी गई शक्ति अत्यधिक है तथा इसमें हिटलर के सत्तारूढ़ होने पर जर्मनी के प्रधान की शक्ति के समान शक्ति ध्वनित होती है।" ए० के० घोष के मतानुसार, "राष्ट्रपति के हाथों में संकटकालीन अधिकारों के दिए जाने के कारण वे एक शक्तिशाली डिक्टेटर बन गये हैं।"

(१६) डा० जैनिंग्ज़ के कथनानुसार, भारतीय संविधान पर्याप्त रूप में ब्रिटिश शासन की उपज है। संयुक्त राष्ट्र का संविधान प्रतिक्रिया के कारण जार्ज तृतीय तथा लार्ड नार्थ की उपज था। भारतीय संविधान भी प्रतिक्रियात्मक रूप से मैकडानल्ड, बाल्डविन, चैम्बरलेन तथा कुछ कम अंशों में चर्चिल की उपज है। इसमें यह विचार भरा हुआ है कि कानून तथा सरकार खतरनाक हैं तथा इन्हें एक केन्द्र में केन्द्रित करने की आवश्यकता है। सम्भवत: ये साम्प्रदायिक अशान्ति तथा सन्देहों का निश्चित परिणाम हैं कि क्या प्रजातन्त्र सदैव योग्यतम तथा सर्वाधिक सार्वजनिक भावना वाले प्रतिनिधियों को त्याग देता है।

(१७) बी० आर० मिश्र के कथनानुसार, "भारतीय संविधान केन्द्रित संघीय संविधान है। संविधान के आर्थिक ढाँचे के कारण केन्द्र १९३५ के अधिनियम की आधीन स्थिति से भी निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली बन गया है। सम्भवत: देश के नये राजनैतिक ढाँचे में ऐसा आवश्यक भी था, क्योंकि पार्थक्य की मनोवृत्तियों की रोक-थाम आवश्यक थी। राज्यों को अपने सीमित साधनों के कारण सदैव आर्थिक सहायता के लिये केन्द्र की ओर देखना पड़ता है तथा इस प्रकार उन्हें सभी आवश्यक आर्थिक तथा राजनैतिक मामलों में उनके निर्देशानुसार कार्य करना पड़ता है।" पुनश्च, "संविधान की सफलता लोगों की इच्छा तथा उन राजनैतिक दलों के आर्थिक कार्यक्रमों पर अवश्य निर्भर होनी चाहिये जो सरकार को चलाएँगे। जब तक लोगों की आर्थिक अवस्था नहीं सुधरती, तब तक राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्त एक कोरे स्वप्न बने रहेंगे" (भारतीय संविधान के आर्थिक पहलू, १९५२, पृ० ७१)।

Questions for Revision

1. "The Regulating Act made a bold attempt at securing good government in the Company's territory in India without the Crown's directly assuming the responsibility for the same." Discuss the merits and defects of the Act of 1773 as disclosed by its working.

2. Was Burke's denunciation of the Regulating Act as an "Infringement of national right, national faith and national justice" just and fair ?

3. Carefully describe the position and powers of the Governor-General-in-Council under the Act of 1773. In what way was the position altered by subsequent statutes during the Company's period ?

4. Discuss the provisions and significance of Pitt's India Act of 1784.

5. Pitt's India Act of 1784 "embodied essentially a compromise." Comment.

6. Discuss the salient features of the Charter Act of 1833. In what manner and to what extent did they curtail the Company's powers ?

7· "The double Government of India was a system of hocus pocus which deluded public opinion, obscured responsibility and evaded parliamentary control." Discuss this statement and point out the changes introduced by the Act of 1858.

8. "The Charter Act of 1833 is the most important constitutional measure of the 19th century." Discuss.

9. What were the provisions of the Charter Act of 1833 and how far is it correct to say that the way was left open by the Act of 1853 for taking over the Government of India from the hands of the Company ?

10. "We have the paradox that parliament ceased to assert control at the very moment it had acquired it." Discuss.

11. "Although no changes were made in the form of Government by the Act of 1858, important changes speedily followed in the substance." Discuss the nature of those changes.

12. What were the reasons which delayed so long the direct assumption by the Crown of the Government of India ?

13. "The deposition and exile of the Mughal Emperor after the Mutiny was an event of greater importance in Indian history than is commoney admitted." (Keith). Comment.

14. "And it is our further will that, so far as may be our subjects of whatever race or creed, be freely and impartially admitted to offices in our service the duties of which they may be qualified by their education, ability and integrity to discharge." (Queen Victoria's Proclamation of 1858). To what extent did the British Government implement the policy laid down in 1858 ?

15. Describe the changes that the India Councils Act of 1861 introduced or made possible in the Indian administration and discuss fully their effects.

16. "The India Councils Act of 1892 was an advance on the Act of 1861." Discuss.

17. "The reforms of 1909 afforded no answer and could afford no answer to the Indian political problem." Elucidate and discuss.

18. Analyse the significance of the Indian Councils Act of 1909 in terms of later political development in India.

19. Discuss the limitations and defects of system of Government introduced by the Government of India Act, 1919 as revealed in its subsequent execution.

20. Explain as precisely as possible the political reforms introduced in India between 1909 and 1919 (both inclusive). Can you

detect any underlying general principles embodied in these reforms ?

21. How far is it correct to say that the Reforms of 1909 were based on the principle of benevolent despotism while there was a demand for democratic responsible government in India ?

22. Trace the genesis of the Montford Reforms of 1919 and summarize their main features.

23. Critically examine the system of dyarchy as introduced by the Act of 1919.

24. Was the failure of dyarchy due to inherent causes ?

25. Give brief account of the evolution of the idea of Dyarchy as finally embodied in the Act of 1919. Enumerate the main causes that made it unworkable.

26. "We regard any system of communal electorates therefore, as a very serious hindrance to the development of the self-governing principle." How far did the authors of the Joint Report act upon this principle while making proposals for constitutional advancement and what reception was given to this principle by the British Parliament ?

27. "Please remember in granting separate electorates, we are sowing Dragon's teeth and the harvest will be bitter." (Lord Morley to Lord Minto). Comment.

28. What were the Indian objections to the Government of India Act of 1935 ?

29. Write a critical note on the constitutional and political deadlock (1939-1947) and the various efforts made to resolve it.

30. "The Cripps Mission was the result of American pressure. It was a stage-managed show to buy off world opinion and to foist preconceived failure on the people of India." (The National Herald). Comment.

31. Mahatma Gandhi describes the Cripps proposals as "a post-dated cheque on a bank that was obviously failing." In the light of this statement say why Cripps proposals were rejected by the Congress, the Muslim League and the Hindu Mahasabha.

32. "The two countries, England and India, are at any rate associated in a community of moral and material interests. That has exercised a powerful influence over the history of each people in Europe and Asia, and must affect, to no small degree, their future destiny. It may be confidently affirmed that this alliance cannot now be impaired or interpreted without incalculable injury to both nations." Comment and account for the abdication of the British from India.

33. Give the main provisions of the Indian Independence Act of 1947, with special reference to the consequences of the establishment of new Dominions in India.

अध्याय २०

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभाओं का विकास

(Growth of Central and Provincial Legislatures)

केन्द्रीय विधान सभा का विकास (Growth of the Central Legislature)—मॉंटेग्यू चैम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट के अनुसार "भारत सरकार के वैधानिक अधिकारों का मूल १६०० के एलिजाबैथ के घोषणा-पत्र में निहित है, जिसके द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अधिकार दिया गया था कि वह कम्पनी की अच्छी सरकार तथा उसके अफसरों के लिये ऐसे उचित कानून, संविधान, आज्ञाएँ तथा अध्यादेश बनाए, जो अंग्रेजी कानून के विरोधी न हों।" इससे पहले के आज्ञा-पत्रों के आधीन बने हुए कानूनों की प्रतिलिपियाँ इस समय उपलब्ध नहीं। इसके पश्चात् के आज्ञा-पत्रों के द्वारा कम्पनी के अधिकारों में आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन हुए। १७२६ के आज्ञा-पत्र के द्वारा कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल तथा तीन प्रैजिडैन्सियों को अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में कानून, अध्यादेश तथा नियम बनाने के अधिकार प्रदान किये गये।

१७७३ के रैगुलेटिंग अधिनियम के द्वारा यह निश्चय किया गया कि मद्रास तथा बम्बई की सरकारें अपने कानूनों तथा आज्ञाओं की प्रतिलिपियाँ बंगाल सरकार को अवश्य भेजें। यह बात स्पष्ट नहीं कि बंगाल के गवर्नर-जनरल को उनमें संशोधन करने का अधिकार था या नहीं। १८०७ के अधिनियम द्वारा मद्रास तथा बम्बई के कौंसिल-स्थित गवर्नरों को अधिकार दिया गया कि वे नियम बना सकें। संक्षेप में विधान-सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग तीन प्रैजिडेंसियों में सरकार की कार्यकारिणी परिषदें करती थीं। प्रत्येक प्रैजीडैंसी की कानून बनाने की पद्धति थी, जो अन्य प्रैजीडैंसी की पद्धति से भिन्न हो सकती थी।

१८३३ का चार्टर एक्ट (Charter Act of 1833)—१८३३ का आज्ञा-पत्र विधान-निर्माण में एक उल्लेखनीय घटना है। इसके द्वारा वैधानिक निर्माण का कार्य सरल हो गया। इससे मद्रास तथा बम्बई प्रैजिडेंसियों को कानून-निर्माण सम्बन्धी अधिकारों से वंचित कर दिया गया। कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह सारे भारत के लिये सभी विषयों पर कानून-निर्माण का कार्य कर सकता है। इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में विधि सदस्य की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। उसके कर्त्तव्य पूर्ण रूप से वैधानिक थे।

१८५३ का चार्टर एक्ट (Charter Act of 1853)—१८५३ के घोषणा अधिनियम के द्वारा विधि सदस्य को गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् का पूर्ण सदस्य बना दिया गया। प्रान्तों को अधिकार दिया गया कि वे भारत सरकार को एक-एक प्रतिनिधि भेज सकते हैं। जब तक कि तत्सम्बन्धी प्रान्त का प्रतिनिधि उपस्थित न हो उस प्रान्त के सम्बन्ध में कोई कानूनादि नहीं बनाया जा सकता था। कलकत्ता के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को परिषद् का पदेन (ex-officio) सदस्य बनाया गया तथा एक और सदस्य की नियुक्ति की गई। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि

वह कौंसिल के सदस्यों के रूप में दो अन्य सरकारी कर्मचारियों को नियुक्त कर सकता है। वैधानिक स्थिति में कौंसिल के १२ सदस्य होते थे। वे थे—गवर्नर-जनरल, मुख्य सेनापति, कार्यकारिणी परिषद् के चार सदस्य तथा छः विधान सम्बन्धी सदस्य, इन छः सदस्यों में से चार प्रान्तों के प्रतिनिधि होते थे तथा शेष दो सदस्य थे—मुख्य न्यायाधीश तथा अवर न्यायाधीश। प्रान्तों के प्रतिनिधियों को ५,००० पौण्ड दिये जाने की व्यवस्था की गई। यह स्पष्ट है कि कम से कम एक सदस्य ऐसा उपस्थित होता था, जिसे स्थानीय स्थिति का ज्ञान होता था। अनुभव से प्रकट है कि १८५३ के अधिनियम के द्वारा बनी हुई कौंसिल के "व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यों में असुविधा हुई।" सर चार्ल्स वुड ने हाउस ऑफ कामन्स में यह शिकायत की कि "परिषद् एक प्रकार की वाद-विवाद सभा तथा छोटी संसद् का रूप बन चुकी है।" परिषद् के सदस्य सब प्रकार के प्रश्न सरकार से पूछा करते थे तथा इससे सरकार की स्थिति अत्यन्त असमंजसपूर्ण हो जाती थी। यह कहा गया कि परिषद् आँग्ल-भारतीय हाउस ऑफ कामन्स बन गया था।

१८६१ का अधिनियम (Act of 1861)—१८६१ के भारतीय कौंसिल अधिनियम के द्वारा इस बात की व्यवस्था की गई कि गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में कम-से कम छः तथा अधिक से अधिक १२ सदस्य गवर्नर-जनरल के द्वारा विधान कार्य के लिये मनोनीत किये जाने थे। अतिरिक्त सदस्यों में कम से कम आधे सदस्य गैर-सरकारी लिये जाने थे। उनका कार्यकाल दो वर्ष था। परिषद् का कार्य कानून-निर्माण तक सीमित था। उसे किसी भी अन्य कार्य करने से रोका गया। उसे इस बात का अधिकार था कि "वह सब लोगों के लिये—चाहे वे अंग्रेज हों अथवा भारतीय, विदेशी हों अथवा अन्य तथा सब स्थानों तथा सब वस्तुओं के लिये, जो भी उक्त क्षेत्रों में हों, भारत सरकार के सभी सरकारी कर्मचारियों के लिये तथा देशी नरेशों के राज्यों के लिये तथा सम्राट् के साथ सन्धिवाली देशी रियासतों के लिये, कानूनादि बनाएँ।" तथापि केन्द्रीय विधान सभा पर बहुतसी रोक लगा दी गई। कुछ विशेष विषयों में—सार्वजनिक ऋण, सार्वजनिक राजस्व, भारतीय धार्मिक रीति-रिवाज, सैनिक नियन्त्रण तथा भारतीय छात्रों के प्रति नीति आदि के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। कोई ऐसा कानून नहीं बनाया जा सकता था, जिससे ब्रिटिश सरकार के अधिकारों का अथवा संसद् के द्वारा बनाई गई कुछ धाराओं का उल्लंघन होता हो। गवर्नर-जनरल को निषेधाधिकार (veto) दिया गया। संकट-स्थिति में उसे अधिकार दिया गया कि वह अन्य कानूनों के समान अध्यादेश प्रकाशित कर सकता है। इन अध्यादेशों की अवधि छः मास होती थी। तथापि उन्हें शीघ्र ही रद्द किया जा सकता था अथवा उनके स्थान पर कानून आदि बन सकते थे। ज्योंही कोई अध्यादेश जारी किया जाता, उसके सम्बन्ध में राज्य सचिव को सूचित करना आवश्यक था। प्रत्येक स्वीकृत अधिनियम के लिये गवर्नर-जनरल की पुष्टि आवश्यक थी। सम्राट् किसी भी अधिनियम को अस्वीकृत कर सकता था। संसद् तथा सम्राट् के सामान्य अधिकार भी संकटकाल के लिये संरक्षित थे।

१८९२ का अधिनियम (Act of 1892)—१८९२ के भारतीय कौंसिल अधिनियम ने भी केन्द्रीय तथा साम्राज्यीय विधान सभा के अधिकारों में परिवर्त्तन कर दिया। अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गई। साम्राज्यीय विधान सभा के लिए यह

संख्या कम-से-कम दस तथा अधिक-से-अधिक १६ थी। इसमें से $\frac{२}{५}$ वाँ भाग गैर-सरकारी होना आवश्यक था। सरकार ने नियमों के आधीन भारत में चुनावों के लिये अनुमति देना स्वीकार कर लिया। तथापि सरकार द्वारा मनोनीत होने पर ही इस प्रकार के निर्वाचित सदस्य अपने स्थान ग्रहण कर सकते थे।

विधान परिषद् के अधिकार बढ़ा दिये गये। सदस्यों को इस बात की अनुमति प्रदान की गई कि वे कुछ शर्तों तथा प्रतिबन्धों के आधीन वार्षिक वित्त विवरणों के सम्बन्ध में चर्चा कर सकते हैं। उन्हें इस बात का भी अधिकार दिया गया कि वे सार्वजनिक हित के कार्यों के सम्बन्ध में सरकार से प्रश्न पूछ सकते हैं। इस सम्बन्ध में सरकार को छः दिन का नोटिस देना जरूरी था। प्रधान बिना कारण दिये किसी भी प्रश्न को अनुमति देने से रोक सकता था। सार्वजनिक हितों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जा सकते थे, "किन्तु उसमें कुछ शर्तों तथा नियमों का ध्यान रखना होता था, जो गवर्नर-जनरल अथवा राज्य के गवर्नरों ने इस सम्बन्ध में बनाए हों।"

१६०६ का अधिनियम (Act of 1909)—१६०६ के भारतीय कौंसिल अधिनियम के आधीन गवर्नर-जनरल की कौंसिल के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या अधिकाधिक ६० तक बढ़ा दी। इनमें से ३७ सरकारी तथा २३ गैर-सरकारी होने थे। ३७ सरकारी सदस्यों में से, २८ गवर्नर-जनरल के द्वारा मनोनीत किये जाने थे तथा शेष पदेन सदस्य थे। पदेन सदस्य ये थे--गवर्नर-जनरल, परिषद् के छः सामान्य सदस्य तथा २ असाधारण सदस्य, गैर-सरकारी सदस्यों में से २ को गवर्नर-जनरल मनोनीत करता था तथा शेष चुने जाते थे।

विधान परिषदों के कार्य बढ़ा दिए गये। कौंसिल के द्वारा बजट की चर्चा के लिये विस्तृत नियम बनाए गये। प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार दिया गया कि वह करों के परिवर्त्तन, नए ऋण अथवा स्थानीय सरकारों को अतिरिक्त अनुदान आदि विषयों के सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव उपस्थित कर सकता है। कौंसिल को इस बात का अधिकार नहीं था कि ऋण के सूद, धर्म-सम्बन्धी व्यय तथा राज्य रेलवे आदि के व्यय के सम्बन्ध में चर्चा की जाए। विधान परिषद् के सदस्यों को अधिकार दिया गया कि वे किसी विषय में अधिक स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में प्रश्न अथवा पूरक प्रश्न पूछ सकें। तथापि कार्यकारिणी परिषद् का कोई सदस्य पूरक प्रश्न का उत्तर देने से इनकार कर सकता है। इसके लिये कुछ समय की माँग कर सकता है। कौंसिल के सदस्यों को प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार भी दिया गया। यह प्रस्ताव किसी निश्चित विषय के सम्बन्ध में स्पष्ट तथा निश्चित शब्दों में वर्णित होना जरूरी था। प्रस्तावों में कारणों, अनुमानों, तर्क तथा व्यंग्यात्मक कथनों की आज्ञा नहीं थी। अध्यक्ष को अधिकार था कि वह किसी भी प्रस्ताव अथवा उसके अंश को, बिना कारण दिए, अनुमति देने से इनकार कर सकता था।

इस अधिनियम के आधीन सामान्य सार्वजनिक हित के मामलों की चर्चा के लिये नियम बनाए गये। किसी ऐसे विषय पर चर्चा की आज्ञा नहीं दी जाती थी, जो विधान सभा के क्षेत्र में वर्णित हो अथवा ऐसा विषय, जिससे भारत सरकार तथा किसी विदेशी अथवा देशी राज्य अथवा रियासत के सम्बन्धों पर प्रभाव पड़े। इसके अतिरिक्त अदालत

के द्वारा विचाराधीन अथवा पञ्चनिर्णय के आधीन किसी विषय पर चर्चा न की जा सकती थी।

इम्पीरियल कौंसिल के चुनाव की परोक्ष रीति प्रारम्भ की गई। इसके सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचित सदस्यों के द्वारा होना था।

यह बात स्पष्ट है कि केन्द्रीय विधान परिषद् के अधिकार विशेष उल्लेखनीय नहीं थे। यह सच है कि सरकार की सब प्रकार की संसदीय पद्धतियों का आरम्भ हुआ, किन्तु उसमें विशेष उल्लेखनीय बात कुछ भी नहीं थी। गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सदस्य, जो विभिन्न विभागों के अध्यक्ष थे, विधान-मण्डलों के सदस्यों के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। वे उनके प्रति घृणापूर्वक उपेक्षा का व्यवहार कर सकते थे। उन्होंने वास्तव में ऐसा ही किया। विधान-मण्डल में जो वार्त्तालाप हुए, उनमें वास्तविकता का अभाव था क्योंकि विधान-मण्डल के सदस्य यह जानते थे कि उन्हें सरकार के उत्तरदायित्वों को संभालने के लिये कभी भी नहीं कहा जाएगा, भले ही सरकार की वे कितनी ही आलोचना करें।

१९१९ का अधिनियम (Act of 1919)— १९१९ के भारत सरकार अधिनियम के द्वारा केन्द्र में दो सदनों की व्यवस्था की गई। दोनों सदनों के नाम केन्द्रीय विधान असेम्बली तथा राज्य परिषद् थे। राज्य परिषद् में ६० सदस्य होते थे। इनमें से ३३ चुने जाते थे तथा २७ गवर्नर-जनरल के द्वारा मनोनीत होते थे। केन्द्रीय विधान असैम्बली में १४५ सदस्य होते थे। इनमें से १०३ चुने जाते थे तथा शेष मनोनीत किए जाते थे। मनोनीत सदस्यों में से २५ सरकारी तथा शेष गैर-सरकारी होते थे। १०३ सदस्यों में से ५१ का चुनाव सामान्य चुनाव-क्षेत्रों से, ३२ का साम्प्रदायिक चुनाव-क्षेत्रों से (३० मुससमानों के द्वारा तथा २ सिखों के द्वारा) तथा २० विशेष चुनाव-क्षेत्र द्वारा (७ जमींदारों के द्वारा, ९ यूरोपियनों के द्वारा तथा ४ भारतीय व्यापार क्षेत्र से) चुने जाते थे।

केन्द्रीय विधान असेम्बली का कार्यकाल ३ वर्ष तथा राज्य परिषद् का ५ वर्ष था, किन्तु इस कार्यकाल में गवर्नर-जनरल के द्वारा वृद्धि की जा सकती थी। यह बात उल्लेखनीय है कि अन्तिम विधान असेम्बली ११ वर्षों तक कार्य करती रही। असेम्बली का पहला अध्यक्ष मनोनीत हुआ। बाद के अध्यक्ष असेम्बली के सदस्यों के द्वारा चुने गये। गवर्नर-जनरल को केन्द्रीय विधान-मण्डल के दोनों सदनों को आमन्त्रित करने, सत्रावसान करने तथा विघटन करने का अधिकार दिया गया।

केन्द्रीय विधान-मण्डल को विशेष अधिकार दिए गये। यह सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत, भारत के अन्य भागों में सम्राट् की प्रजा तथा सम्राट् के कर्मचारियों, सम्राट् की भारतीय प्रजा के लिये, वे जहाँ भी हों, तथा सम्राट् की सुरक्षा सेनाओं के लिये कानून बना सकता था। ब्रिटिश भारत में लागू कानूनों के सम्बन्ध में उसे कानूनों में परिवर्त्तन करने अथवा रद्द करने का अधिकार था। कुछ मामलों में कानून की स्वीकृति के लिये कौंसिल-स्थित राज्य सचिव की स्वीकृति प्राप्त करनी आवश्यक थी। इसी प्रकार विधान-मण्डल में कुछ विशेष बिलों को प्रस्तुत करने के लिये गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी।

केन्द्रीय विधान-मण्डल के दोनों सदनों के सदस्यों को प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछने

का अधिकार दिया गया। इसी प्रकार उन्हें प्रस्ताव तथा स्थगन प्रस्ताव (adjournment motion) रखने का भी अधिकार दिया गया। केन्द्रीय विधान-मण्डल को बजट पर पूर्ण नियन्त्रण प्रदान नहीं किया गया। जिन मदों पर मताधिकार की आज्ञा थी, असेम्बली उन्हें अस्वीकृत कर सकती थी, किन्तु गवर्नर-जनरल को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह उन मदों को पुनः स्थापित कर सकता था, यदि वह समझता था कि भारत की सुरक्षा तथा शान्ति के लिये उन विषयों पर व्यय आवश्यक था।

यह बात भली प्रकार से कही जा सकती है कि केन्द्रीय विधान-मण्डल १९१९ के अधिनियम के आधीन केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् के सम्मुख असहाय था। कार्यकारिणी न केवल विधान-मण्डल से स्वतन्त्र थी अपितु वह प्रायः सभी विषयों में विधान सभा के अधिकारों के ऊपर थी।

१९३५ का अधिनियम (Act of 1935)—१९३५ के भारत सरकार के अधिनियम के आधीन दो सदनों वाले फेडरल विधान-मण्डल की व्यवस्था की गई। इनके नाम फेडरल असेम्बली तथा राज्य-परिषद् थे। फेडरल असेम्बली का कार्यकाल प्रथम बैठक की तिथि से पाँच वर्ष का था। उस अवधि की समाप्ति पर वह स्वयमेव टूट जाती थी। तथापि गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह उसका कार्यकाल बढ़ा दे। राज्य परिषद् एक स्थायी संस्था बनाई गई जिसके एक-तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते थे। फेडरल असेम्बली में ३७५ सदस्यों की व्यवस्था की गई थी तथा राज्य परिषद् में २६० सदस्यों की। रियासतों के प्रतिनिधियों को शासकों के द्वारा मनोनीत किए जाने की व्यवस्था थी। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का चुनाव साम्प्रदायिक रीति से होता था।

विधान-मण्डल के अधिकार पूर्ण रूप से नियन्त्रित थे। कुछ ऐसे निश्चित विषय थे जिनके सम्बन्ध में विधान-मण्डल को कानून बनाने का अधिकार न था। यह कोई ऐसा कानून न बना सकता था जिससे शाही परिवार अथवा राज्य के लिये उत्तराधिकार आदि विषयों पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़े। ब्रिटिश राष्ट्रीयता, प्राइज़-कोर्टों के कानून, सैनिक तथा वायुसेना अधिनियम आदि के सम्बन्ध में यह कोई कानून नहीं बना सकता था। फेडरल विधान-मण्डल कोई ऐसा कानून न बना सकता था, जिससे १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम की किसी धारा का संशोधन किया जा सके अथवा उसके आधीन कौंसिल-स्थित कोई आज्ञा अथवा राज्य सचिव, गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नर द्वारा बनाए गये किसी नियमादि का संशोधन किया जा सके। यह कोई ऐसा कानून भी स्वीकृत नहीं कर सकता था, जो व्यापार तथा अन्य क्षेत्रों में ब्रिटिश हितों के विरुद्ध भेद-भाव की भावना उत्पन्न करे। कुछ मामलों में फेडरल विधान-मण्डलों में विशेष बिलों को प्रस्तुत करने के लिये गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति लेनी आवश्यक थी।

फेडरल विधान-मण्डल को बजट की ऐसी मदों पर, जिनपर मताधिकार की आज्ञा न थी, कोई नियन्त्रण न था। ऐसी मदें फेडरल बजट का लगभग ८०% भाग था। यदि बजट की कोई मद फेडरल विधान सभा के द्वारा अस्वीकृत हो जाती थी, तो वह राज्यपरिषद् के सम्मुख प्रस्तुत की जा सकती थी, यदि गवर्नर-जनरल तदनुसार निर्देश दें। यदि फेडरल विधान-मण्डल के दोनों सदन किसी मद के सम्बन्ध में मतभेद रखते हों तो गवर्नर-जनरल

का कर्त्तव्य होता था कि वह दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन को उस मद पर मताधिकार के लिये बुलाए तथा बहुमत से जो निर्णय हो, उसका पालन किया जाए।

गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह फेडरल विधान-मण्डल के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाए, जब एक सदन से स्वीकृत कोई बिल अन्य सदन के द्वारा अस्वीकृत हो गया हो अथवा उसमें ऐसा परिवर्तन कर दिया गया हो, जो दूसरे सदन को स्वीकार्य न हो। जब एक बिल दोनों सदनों के द्वारा स्वीकृत हो जाता था, तब गवर्नर-जनरल अपनी इच्छानुसार उसे स्वीकृत कर दे, उसे वीटो कर दे अथवा उसे पुनर्विचार के लिये वापिस भेज दे अथवा सम्राट् के परामर्श के लिये सुरक्षित कर दे। गवर्नर-जनरल द्वारा स्वीकृत किसी अधिनियम को कौंसिल-स्थित सम्राट् एक वर्ष की अवधि में अस्वीकृत कर सकता था।

१९५० का संविधान (Constitution of 1950)—भारत के नये संविधान के अनुसार, जो २६ जनवरी, १९५० को लागू किया गया, संघीय संसद् (Union Parliament) के दो सदन होते हैं—राज्य सभा (Council of States) तथा लोक सभा (House of the People)। राज्य सभा के सदस्यों की कुल संख्या २५० है। इनमें से १२ को राष्ट्रपति उनके विशेष ज्ञान तथा साहित्य, विज्ञान, कला तथा समाज-सेवा के क्षेत्र में ख्याति के कारण मनोनीत करता है। शेष २३८ विभिन्न राज्यों से चुने जाते हैं। लोक सभा में ५०० सदस्य होते हैं। सभी सदस्य विभिन्न राज्यों में मतदाताओं के द्वारा निर्वाचित होते हैं। लोक सभा के चुनाव के लिये राज्यों को प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँटा जाता है।

राज्य सभा एक स्थायी सदन है। इसे तोड़ा नहीं जा सकता। इसके सदस्य ६ वर्षों के लिये चुने जाते हैं। इनमें से एक-तिहाई प्रति दो वर्षों के पश्चात् अवकाश ग्रहण कर लेते हैं। लोक सभा की अवधि प्रथम अधिवेशन के लिये निश्चित तिथि से पाँच वर्ष होती है। ५ वर्षों के पश्चात् लोक सभा विघटित हो जाती है। तथापि पाँच वर्षों का यह कार्यकाल राष्ट्रपति के द्वारा एक समय में अधिक से अधिक एक वर्ष तक के लिये बढ़ाया जा सकता है।

संघीय संसद् को अधिकार है कि वह संघीय सूची तथा समवर्ती सूची के अन्तर्गत किसी विषय के सम्बन्ध में कानून बना सके। कोई राज्य भारत सरकार को अधिकार दे सकता है कि वह कुछ विषयों के सम्बन्ध में कानून बना दे तथा उस दशा में संसद् उन विषयों पर भी कानून बना सकती है, यद्यपि वे विषय राज्य सूची में दिए गये हैं। राज्य में वैधानिक स्थिति के टूटने पर संघीय संसद् को इस बात का अधिकार है कि वह उस राज्य के उन विषयों पर भी कानून स्वीकृत करे, जो राज्य की सूची में हों। संघीय संसद् को अधिकार है कि वह राज्य सूची के किसी विषय में कानून बनाए यदि राज्य सभा दो-तिहाई के बहुमत से प्रस्ताव स्वीकृत कर दे, जिसमें इस बात की घोषणा कर दी जाए कि वह विषय अथवा वे विषय राष्ट्रीय महत्त्व तथा हित के हैं। संघीय संसद् संविधान में दो-तिहाई के बहुमत से संशोधन कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय किसी ऐसे कानून को, जिसे संघीय संसद् स्वीकृत कर चुकी हो, अवैध घोषित कर सकता है, यदि वह संविधान के विरुद्ध (ultra vires) हो।

संसद् राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखती है। सरकार संसद् के अधिकार तथा आज्ञा के बिना न कर लगा सकती है, न धन उधार ले सकती है, अथवा न धन का व्यय

कर सकती है, किन्तु यह बात व्यय की उन मदों पर लागू नहीं होती, जो राष्ट्रीय राजस्व पर निर्भर हों।

संघीय मन्त्री संघीय संसद् के सदस्य हैं तथा उसके प्रति उत्तरदायी हैं। यदि संसद् में उन्हें अधिक मतों से पराजित कर दिया जाए अथवा उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाए तो उन्हें पद-त्याग करना पड़ता है। संसद् के द्वारा स्वीकृत कानून तब तक वैध नहीं होते, जब तक वे राष्ट्रपति की अनुमति (assent) नहीं प्राप्त कर लेते। कोई भी मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति को इस प्रकार का परामर्श देने का साहस नहीं कर सकता कि वह संसद् के द्वारा स्वीकृत किसी बिल को वीटो कर दे अथवा रोक दे। संसद् को इस बात का अधिकार है कि वह राष्ट्रपति के विरुद्ध इस कारण महाभियोग लगा सकती है कि उसने संविधान का उल्लंघन किया है। इस प्रकार का प्रस्ताव संसद् का कोई भी सदन दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृत कर सकता है तथा ऐसी स्थिति में दूसरे सदन को अभियोग की छान-बीन करनी पड़ती है। यदि उस सदन के द्वारा दो-तिहाई बहुमत से उसकी पुष्टि हो जाती है तो राष्ट्रपति को अपने पद से हटाया जाता है।

संसद् के सदस्यों की राष्ट्रपति के प्रति प्रार्थना के परिणाम स्वरूप उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश अपने पद से पृथक् किए जा सकते हैं। संसद् के दोनों सदनों के समान अधिकार हैं, किन्तु धन-सम्बन्धी बिल लोक सभा में ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। तब ये धन-सम्बन्धी बिल राज्य सभा को भेजे जा सकते हैं। यदि राज्य सभा के द्वारा किए गये संशोधन स्वीकार कर लिये जाते हैं तब तो ठीक ही है, अन्यथा ऐसा समझा जाएगा कि तीस दिनों की समाप्ति पर धन-सम्बन्धी बिल संसद् के द्वारा स्वीकृत समझे जाएँगे। धन-सम्बन्धी बिलों के अतिरिक्त कोई भी बिल किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। मत-भेद की अवस्था में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की जा सकती है। यदि वह बिल संयुक्त बैठक में बहुमत में स्वीकृत हो जाता है, तब ऐसा समझा जाता है कि दोनों सदनों ने उसे स्वीकार कर लिया है।

प्रांतीय विधान सभाओं का विकास (Growth of Provincial Legislatures)—प्रांतीय विधान सभाओं का इतिहास रुचिपूर्ण तथा शिक्षाप्रद है। प्रांतों के वैधानिक अधिकारों का आरंभ ढूँढ़ते हुए, हमें पता चलता है कि १७९७ में बंगाल प्रैज़ीडैंसी को अपनी सीमा में स्वतन्त्र नियम बनाने का अधिकार था। मद्रास तथा बम्बई प्रैज़िडैंसियों को भी १८०७ में ऐसे ही अधिकार प्रदान किये गये। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक प्रैज़ीडैंसी ने कानून सम्बन्धी अपनी पद्धति का विकास किया। ऐसा पता चला कि विभिन्न प्रैज़िडैंसियों में विरोधी कानून प्रचलित हैं। ऐसी स्थिति देश के हितों के अनुकूल नहीं समझी गई। परिणामस्वरूप १८३३ के आज्ञा-पत्र के द्वारा मद्रास तथा बम्बई प्रैज़िडैंसियों को विधान सम्बन्धी अधिकारों से वञ्चित कर दिया गया। सारे भारत के लिये विधान-सम्बन्धी कार्य केन्द्रीय सरकार द्वारा किये जाने का निश्चय हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई। भारत सरकार विभिन्न प्रैज़िडैंसियों की आवश्यकताओं को न तो समझ सकी और न उसकी सराहना कर सकी। इस पद्धति की बुराइयों के सम्बन्ध में शिकायतें की गई।

१८५३ का चार्टर एक्ट (Charter Act of 1853)—१८५३ के आज्ञा-पत्र

अधिनियम के द्वारा पद्धति की कुछ बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। ऐसी व्यवस्था की गई कि प्रत्येक प्रैज़ीडेंसी केन्द्रीय सरकार में एक प्रतिनिधि भेजे तथा गवर्नर-जनरल किसी प्रैज़ीडेंसी के लिये किसी वैधानिक कार्रवाई पर विचार नहीं कर सकता था जबतक कि उस प्रैज़िडेंसी का सदस्य उपस्थित न हो। यह उपाय भी प्रचलित पद्धति के दोष हटाने के लिये इलाज न था। लार्ड कैनिंग का मत था कि १८३३ से पूर्व वाली पद्धति की ओर लौटना उचित होगा।

१८६१ का अधिनियम (Act of 1861)—१८६१ के भारतीय कौंसिल्ज़ अधिनियम के द्वारा १८३३ के चार्टर अधिनियम का क्रम बदल दिया गया। मद्रास तथा बम्बई की प्रैज़िडेंसियों को कानून का अधिकार दिया गया। वैधानिक कार्यों के लिये गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् की सदस्य संख्या में कम से कम दो तथा अधिक से अधिक चार अतिरिक्त सदस्यों की वृद्धि की गई। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान-मण्डलों में कार्य-क्षेत्र संबंधी रेखा नहीं खींची गई। कुछ मामलों में स्थानीय कौंसिलों के द्वारा विधान-सम्बन्धी कार्रवाइयों के लिये गवर्नर-जनरल की पूर्व-स्वीकृति की आवश्यकता थी। प्रान्तीय सरकारों के द्वारा स्वीकृत अधिनियमों के लिये गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल की स्वीकृति लेनी आवश्यक थी। १८६१ के अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल को प्राप्त अधिकारों के परिणामस्वरूप बंगाल में विधान कौंसिल की स्थापना १८६२ में तथा उत्तर प्रदेश में १८६६ में हुई। यह बात उल्लेखनीय है कि इन कौंसिलों का कार्य पूर्ण रूप से वैधानिक था, अन्य कुछ नहीं। वास्तव में वे कानून भी सरकार की ही आज्ञाएँ थीं। इस पद्धति के दोष होते हुए भी १८९२ तक कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

१८९२ का अधिनियम (Act of 1892)—१८९२ के भारतीय अधिनियम के द्वारा विभिन्न प्रान्तों की विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। बंगाल के लिये अतिरिक्त सदस्यों की संख्या २० निश्चित कर दी गई तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त और अवध के लिये यह संख्या १५ थी। बम्बई तथा मद्रास के सम्बन्ध में यह आठ से कम तथा २० से अधिक नहीं थी। अप्रत्यक्ष चुनावों की पद्धति की भी व्यवस्था की गई। कुछ निगम निकायों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया तथा वे व्यक्ति गवर्नर के द्वारा मनोनीत होने थे। परिषद् के सदस्यों को अधिकार दिया गया कि वे वित्त-सम्बन्धी मामलों में प्रश्न पूछ सकते हैं तथा चर्चा भी कर सकते हैं। तथापि उन्हें पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं दिया गया। सदस्य बजट को अस्वीकृत भी नहीं कर सकते थे। निस्सदेह १८६१ के अधिनियम की अपेक्षा यह आगे का पग था। किन्तु जनता ने इस प्रगति को पर्याप्त नहीं समझा।

१९०९ का अधिनियम (Act of 1909)—अगला पग १९०९ के भारतीय कौंसिल अधिनियम ने उठाया। प्रान्तीय विधान सभाओं में ५० अतिरिक्त सदस्यों तक बड़े प्रान्तों में तथा तीस अतिरिक्त सदस्यों तक छोटे प्रान्तों में वृद्धि की गई। सदस्यों का बहुमत निर्वाचित किया जाता था। चुनाव के पश्चात् मनोनीत किये जाने की पद्धति को छोड़ दिया गया। ऐसी व्यवस्था कर की गई कि निगम निकायों को निर्वाचन-क्षेत्र के सदस्यों का चुनाव करना होता था तथा उन्हें प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों का चुनाव करना होता था। मुसलमानों को इस अधिनियम के द्वारा विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।

उन्हें केवल मुसलमानों के ही चुनाव-क्षेत्रों में मत देने थे। प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों को प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार प्रदान किया गया, किन्तु पूरक प्रश्न केवल वही व्यक्ति पूछ सकता था, जिसने मूलभूत प्रश्न पूछा हो। सदस्यों को बजट पर विचार-विनिमय करने तथा इस सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकृत करने का अधिकार दिया गया। सरकार का यह कर्त्तव्य था कि वह उन प्रस्तावों पर विचार करे। वास्तव में सरकार ने पूर्ण रूप से उन प्रस्तावों की उपेक्षा की। १६०६ के अधिनियम के आधीन प्रान्तीय विधान-मण्डल "कार्यकारिणी के साथ सम्बद्ध आवश्यक परामर्शदात्री समितियाँ थीं।" मतदान देने की योग्यताएँ इतनी ऊँची थीं कि किसी भी निर्वाचन-क्षेत्र में मतदाताओं की संख्या बहुत कम थी। चुनाव-पद्धति के अप्रत्यक्ष होने के कारण उत्तरदायित्व की भावना कम थी। विधान परिषदों को सरकार अथवा विधान-कार्य के सम्बन्ध में कोई नियन्त्रण नहीं था। उनके सदस्य पूर्ण ज्ञान के साथ केवल आलोचना कर सकते थे कि उन्हें उत्तरदायित्व निभाने के लिये कभी भी नहीं कहा जायगा। इसका परिणाम यह होता था कि सदस्य सरकार की आलोचना में असंयम से काम लेते थे। सरकार भी इन परिषदों को घृणा की दृष्टि से देखती थी।

१६१६ का अधिनियम (Act of 1919)—१६१६ के भारत सरकार के अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय विधान-मण्डलों के संगठन तथा कार्यों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये गये थे। प्रत्येक प्रान्तीय विधान परिषद् में गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य तथा निर्वाचित और मनोनीत सदस्य होते थे। इन प्रान्तीय विधान-मण्डलों की सदस्य संख्या में वृद्धि की गई। सामान्य तथा विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था की गई। विभिन्न सम्प्रदायों तथा हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। मुसलमानों तथा सिखों को अलग-अलग प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। इस बात की भी व्यवस्था की गई कि जमींदारों, नील व चाय आदि की खेती करने वालों, खान वालों, व्यापार तथा उद्योग, विश्वविद्यालय आदि विशिष्ट क्षेत्रों का भी प्रतिनिधित्व हो। प्रान्तीय परिषदों के मताधिकार की योग्यता को कम किया गया। एक मतदाता की सामान्य योग्यता सम्प्रदाय, निवास, गृहस्वामी होना, आय कर देना, फौजी पैंशन का प्राप्त करना, भूमि के एक भाग का स्वामी होना आदि थी। महिलाओं के प्रतिनिधित्व के लिए भी व्यवस्था की गई।

१६१६ के अधिनियम के द्वारा प्रान्तों में द्वैध-शासन पद्धति की सरकार की व्यवस्था की गई। भारतीय मन्त्री हस्ताँतरित विषयों के लिए उत्तरदायी होते थे तथा सुरक्षित विषय गवर्नर तथा उसकी कार्यकारिणी के सदस्यों के हाथों में होते थे। मंत्रियों का चुनाव गवर्नर विधान-मण्डलों के सदस्यों में से करता था। इस बात की भी व्यवस्था थी कि विधान परिषद् के अध्यक्ष का निर्वाचन किया जाए।

अधिनियम के द्वारा दो सूचियों की व्यवस्था की गई——केन्द्रीय सूची तथा प्रान्तीय सूची। प्रान्तीय विधान-मण्डल को अधिकार दिया गया कि प्रान्तीय सूची में वर्णित विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाए। इसके सदस्यों को विभिन्न विषयों पर प्रस्ताव प्रस्तुत करने तथा स्वीकृत करने का अधिकार दिया गया। उन्हें इस बात का भी अधिकार दिया गया कि वे प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकें। उन्हें इस बात की अनुमति दी गई कि वे सदन में

स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकें, जिससे ताज़ी महत्त्वपूर्ण घटनाओं के सम्बन्ध में सोच-विचार किया जा सके। विधान-परिषद् को अधिकार दिया गया कि वह प्रान्तीय बजट पर सोच-विचार कर सके तथा उसको अस्वीकृत भी कर सके। तथापि उसका बजट की उन माँगों पर कोई नियंत्रण न था, जिन पर मतदान नहीं किया जा सकता था। यदि बजट को अस्वीकार कर दिया जाता, तो गवर्नर को उसे बहाल करने का अधिकार था।

प्रान्तीय परिषदों के वैधानिक अधिकारों पर कुछ निश्चित सीमाएँ थीं। कुछ निश्चित बिलों को प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में भारत सरकार तथा गवर्नर की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी। यहाँ तक कि जब कोई बिल प्रान्तीय विधान-मण्डल के द्वारा स्वीकृत हो जाता था, गवर्नर को अधिकार था कि वह उसे प्रमाणित करे, उसे वीटो करे अथवा गवर्नर-जनरल के विचार के लिए सुरक्षित कर दे।

१९३५ का अधिनियम (Act of 1935)—१९३५ के भारत सरकार के अधिनियम के अनुसार छः प्रान्तों में दो सदनों वाले तथा पाँच प्रान्तों में केवल एक सदन वाले विधान-मण्डलों की स्थापना की व्यवस्था कर दी गई। ऊपरी सदन का नाम प्रान्तीय विधान परिषद् तथा निचले सदन का नाम प्रान्तीय विधान सभा रखा गया। ऊपरी सदन में २१ से ६५ तक सदस्य होते थे। इसके कुछ सदस्यों का चुनाव होता था तथा कुछ राज्यपाल के द्वारा मनोनीत किए जाते थे। विधान परिषद् एक स्थायी संस्था थी, क्योंकि प्रति तीन वर्षों के पश्चात् इसके एक-तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण कर लेते थे। किसी भी समय सम्पूर्ण सदन में पूर्ण परिवर्त्तन नहीं होता था।

निचले सदन में ६० से २५० सदस्य होते थे। निचले सदन का कार्यकाल ५ वर्ष था, किंतु वह गवर्नर के द्वारा पहले भी भंग किया जा सकता था। उसका कार्यकाल गवर्नर के द्वारा ५ वर्ष से आगे भी बढ़ाया जा सकता था। ऐसी व्यवस्था की गई थी कि धन-सम्बन्धी बिल केवल निचले सदन में ही प्रस्तुत हो सकते थे यद्यपि अन्य दृष्टियों में दोनों सदनों के अधिकार समान थे। दोनों सदनों में पारस्परिक संघर्ष की स्थिति में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की व्यवस्था थी।

यह बात उल्लेखनीय है कि प्रान्तीय-विधान-मण्डलों के अधिकार १९३५ के अधिनियम के आधीन सीमित थे। उन्हें वैधानिक मामलों पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं दिया गया था, यहाँ तक कि उनका बजट पर भी पूर्ण नियन्त्रण नहीं था। प्रान्तीय बजट के ५०% भाग पर मतदान नहीं हो सकता था। प्रान्तीय विधान-मण्डल बहुत कुछ प्राप्त नहीं कर सके।

नया संविधान (New Constitution)—भारत के नये संविधान के अधीन, जो २६ जनवरी, १९५० को लागू किया गया, भारतीय रियासतों तथा प्रान्तों में कुछ भी अन्तर नहीं रखा गया है। सभी इकाइयों को राज्य कहा गया है। कुछ राज्यों में दो सदनों वाले विधान-मण्डलों की तथा कुछ में एक ही सदन वाले विधान-मण्डल की व्यवस्था की गई है। जहाँ दो सदन हैं वहाँ उनके नाम विधान सभा तथा विधान परिषद् हैं। जहाँ एक ही सदन है, वहाँ इसे विधान सभा कहा जाता है। संविधान के १६९ वें अनुच्छेद में राज्यों में विधान परिषदों के उड़ाने तथा स्थापित करने की व्यवस्था की गई है।

इस बात की व्यवस्था है कि विधान सभाओं में वयस्क मताधिकार के द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव हो। लगभग ७५००० की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि का चुनाव होता है। एक विधान सभा की कुल सदस्य संख्या ६० से ५०० तक जनसंख्या के अनुसार होती है। विधान सभा का कार्यकाल ५ वर्ष है, किन्तु राज्यपाल इसे पहले भी भंग कर सकता है। इसका कार्यकाल आवश्यकता पड़ने पर बढ़ाया भी जा सकता है।

विधान परिषद् के कुल सदस्यों की संख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों की संख्या से एक-चौथाई से अधिक नहीं होनी चाहिए। तथापि यह संख्या ४० से कम नहीं होनी चाहिए। विधान परिषद् के सभी सदस्यों का चुनाव नहीं होता। उनमें से कुछ राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। शेष का चुनाव नगरपालिकाएँ, जिला बोर्ड, स्नातक, अध्यापक तथा विधान सभा के सदस्य करते हैं। यह एक स्थायी सदन है। इसके एक-तिहाई सदस्यों को प्रति दो वर्षों के पश्चात् अवकाश ग्रहण करना होता है।

विधान-मण्डलों के अधिकारों के सम्बन्ध में इतना ही कहना अभीष्ट है कि वे राज्य सूची तथा समवर्ती सूची में दिए गये विषयों पर कानून बना सकते हैं। तथापि यदि संघीय संसद् समवर्ती सूची के अन्तर्गत किसी विषय पर कानून बनाए, तो राज्य का विधान-मण्डल उक्त विषय पर कानून स्वीकृत नहीं कर सकता। संविधान के द्वारा राज्यों में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था की गई है। सरकार मंत्रियों के हाथों में है, जो न केवल विधान-मण्डल के सदस्य ही होते हैं अपितु उसके प्रति उत्तरदायी भी होते हैं। राज्य विधान-मण्डलों को अधिकार है कि वे मन्त्रि-मण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार कर दें, बजट को अस्वीकार कर दें अथवा सरकार के विरुद्ध प्रस्ताव अथवा स्थगन प्रस्ताव स्वीकृत कर दें। विधान-मण्डलों को अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्रता दी गई है।

Questions for Revision

1. Trace the evolution of the Central Legislature in India.
2. Trace the evolution of the Central Legislature since 1909.
3. Outline the development of Indian Legislatures upto 1950.
4. Trace the growth of Legislative Councils in British India upto to the outbreak of the First World War. How far did it satisfy Indian aspirations?
5. Discuss the growth and development of Provincial Legislative Councils in India from 1861 to 1919.
6. Trace the evolution of Provincial Legislatures in India.

अध्याय २१

राष्ट्रवादी आन्दोलन का विकास

(Growth of the Nationalist Movement)

भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन का विकास कुछ आंदोलनकर्त्ताओं का ही परिणाम न था। दूसरी ओर यह ऐतिहासिक परम्परा का पुनरागमन तथा जनता की आत्मा की मुक्ति का रूप था। इसके विकास का उत्तरदायित्व बहुत से महत्त्वपूर्ण कारणों पर आधारित था।

कारण (Causes)--(१) सबसे महत्त्वपूर्ण कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कारण ही देश को एकता प्राप्त हुई तथा इसके कारण ही लोगों ने एक राष्ट्र के रूप में सोचना आरम्भ किया। अंग्रेजों के भारत में आने से पूर्व दक्षिण के लोग प्राय: कुछ थोड़ी अवधि को छोड़कर देश के शेष भाग से अलग थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कारण ही सम्पूर्ण भारत के लोगों ने एक राष्ट्र के रूप में सोचना आरम्भ किया। प्रो० मून के शब्दों में, "भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने इसे एक अन्य दल के आधीन राजनैतिक एकता प्रदान की, यद्यपि भारतीय समाज में बहुत से विरोधी तथा असंगठित तत्त्व विद्यमान हैं।"

(२) भारत में ब्रिटिश शक्ति की स्थापना के कारण भारतीयों को यूरोपीय देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्राप्त हुआ तथा उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया। यूरोप में १९वीं शताब्दी राष्ट्रीयता तथा स्वतन्त्रता की शताब्दी थी तथा भारतीयों ने यूरोपीय लोगों से उक्त दोनों विषयों के सम्बन्ध में शिक्षाएँ ग्रहण कीं। यदि जर्मनी तथा इटली स्वतन्त्र हो सकते हैं, तो भारतीयों के मन में जो स्वाभाविक प्रश्न उठता था, वह यही था कि भारत क्यों स्वतन्त्र नहीं हो सकता? उन देशों के क्रियात्मक दृष्टान्त ने भारतीयों में देश की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करने की एक भावना उत्पन्न की। जब भारतीय पश्चिम के साथ सम्पर्क में आए, तब वे स्वतन्त्रता के दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हुए। इस प्रकार मुक्ति, स्वतन्त्रता तथा अधिकारों के विचार भारतीयों के मस्तिष्कों में पड़े। लार्ड रानल्डशे के कथनानुसार, पश्चिमी ज्ञान की नई शराब नवयुवक भारतीयों के मस्तिष्कों में पड़ी। उन्होंने मुक्ति तथा राष्ट्रीयता के स्रोत से उसका पूर्ण पान किया। उनके सम्पूर्ण दृष्टिकोण में क्रान्ति की भावना ने प्रवेश किया।

कूपलैंड के अनुसार, हिन्दुस्तानियों ने ब्रिटिश इतिहास से यह सीखा कि ब्रिटिश उदारतावाद ने दक्षिण अमरीका में, बाल्कन में, इटली में और आयरलैंड में स्वतन्त्रता के लिये उचित संघर्ष करने वाले राष्ट्रों के पक्ष का समर्थन किया था। उन्होंने देखा कि ब्रिटेन पश्चिम में लोकप्रिय शासन का सबसे प्रबल समर्थक ही नहीं है बल्कि उसने इसका एक विशेष रूप भी विकसित किया है जो सबसे अच्छा रूप प्रतीत होता है। उन्होंने यह भी समझा कि शासन का यह खास ब्रिटिश रूप अर्थात् संसदीय उत्तरदायी शासन, दूसरे देश में जमाया जा सकता है, और कि वह अमरीकन क्रान्ति के बाद से समुद्र-पार के ब्रिटिश-

शासित उपनिवेशों में धीरे-धीरे लागू किया गया है।

(३) परिवहन तथा संचार के साधनों में सुधार तथा विकास के कारण देश में राष्ट्रीय आन्दोलन को और भी शीघ्र प्रगति प्राप्त हुई। भारतीय नेताओं ने अपने आपको इस स्थिति में अनुभव किया कि वे अपने राष्ट्रीय आन्दोलन को देश के प्रत्येक कोने में ले जा सकें। यातायात तथा संचार के इन साधनों के बिना ऐसी बातें सोची भी नहीं जा सकती थीं। नेताओं के आपस में बार-बार मिलने तथा देश के विभिन्न भागों में उनके जनता के साथ सीधे और व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण देश में राष्ट्रीय आन्दोलन को अत्यंत प्रगति प्राप्त हुई।

(४) बहुत से विद्वानों, कवियों तथा धार्मिक सुधारकों ने देश के राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति में बहुत योग दिया। एशियाटिक सोसाइटी के द्वारा प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन तथा पुनः प्रकाशन के द्वारा तथा मैक्समूलर, मोनियर विलियम्ज़, कोलब्रुक, रानाडे, हरप्रसाद शास्त्री, आर० जी० भंडारकर, राजेन्द्रलाल मित्र आदि विद्वानों ने भारतीयों में इस रहस्य का उद्घाटन किया कि संस्कृत भाषा का कितना महत्त्व है। उन्होंने अतीत के प्रति गर्व की भावना तथा भविष्य में विश्वास की भावना का संचार किया।

(५) धार्मिक तथा सामाजिक सुधारकों—जैसे राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, किशोर चन्द्रसेन, पी० सी० सरकार, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि—ने भारत के अतीत का गौरवपूर्ण चित्र उपस्थित किया तथा भारतीय लोगों को अपील की कि वे उन अच्छे दिनों को पुनः वापिस लावें। कर्नल अर्काट के कथनानुसार, ''स्वामी दयानन्द ने अपने अनुयायियों पर प्रबल राष्ट्रीय प्रभाव डाला।'' श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के कथनानुसार, ''दयानन्द ने ही 'भारत भारतीयों का है,' इस नारे को बुलन्द किया।'' विवेकानन्द के प्रभाव के सम्बन्ध में निवेदिता ने कहा, ''उसकी उपास्य देवी उसकी मातृभूमि थी।'' दयानन्द के समान विवेकानन्द ने भारत के नवयुवकों को आत्म-विश्वास तथा अपनी शक्ति में विश्वास करने की शिक्षा दी। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने भी अपनी रचनाओं तथा जीवन के कार्यों के द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता की हित-रक्षा में योग-दान किया।

(६) भारतीय समाचार-पत्रों तथा साहित्य ने—अंग्रेजी तथा भारतीय दोनों ने—देश की जनता में राष्ट्रीय जागरण की भावना को जगाया। इण्डियन मिरर, बम्बई समाचार, दि हिन्दू पैट्रियाट, अमृत बाजार पत्रिका, दि हिन्दू, दि केसरी, दि बंगाली इत्यादि समाचार-पत्रों का प्रभाव बहुत महत्त्वपूर्ण था। दीनबन्धु मित्र, हेमचन्द बैनर्जी, नवीनचन्द्र सेन, बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय, रमेशचन्द्रदत्त तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं ने भी लोगों के मन को प्रभावित किया। बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय के 'आनंदमठ' को ''वर्त्तमान बंगाली देश-प्रेम का बाइबल'' ठीक ही कहा गया है। टैगोर तथा द्विजेन्द्रलाल राय ने हमें बहुत-सी राष्ट्रीय कविताएँ, गीत तथा संगीत प्रदान किया।

भारतीय देशप्रेमियों की रचनाओं के कारण भारतीयों के मन में क्रान्ति की भावना जाग्रत हुई। क्रान्तिकारी ही भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के लिये उत्तरदायी थे।

(७) देश में अनेक कारणों से बहुत-सा असन्तोष था। जनता आर्थिक कष्टों से

पीड़ित थी। मध्यवर्ग के लोग बेकारी के कारण संकट में थे। सभी बुद्धिमान भारतीय सोच-विचार में थे तथा अपने देश के आर्थिक शोषण के कारण दुःखी थे। भारत में कार्य करते हुए ब्रिटिश अधिकारी वर्ग भारतीय राजस्व के लिये भार-स्वरूप थे। भारत की आर्थिक पद्धति को इंग्लैण्ड की जनता की आवश्यकता के अनुसार ढाल दिया गया। भारतीयों के हितों को पूर्ण रूप से उपेक्षित किया गया। ब्लण्ट के अनुसार, भारतीय अर्थ की बुराई यह थी कि भारतीय वित्त मन्त्री इंग्लैण्ड के हितों का भारत के हितों की अपेक्षा अधिक ध्यान रखते थे। सर हैनरी काटन भारत के आर्थिक शोषण तथा उससे होने वाले देश के लोगों के कष्टों की निन्दा करते थे। भारतीय अपने प्रति होने वाली अंग्रेजों की मनोवृत्ति के विषय में असन्तोष प्रकट करते थे। भारतीय चरित्र के सम्बन्ध में उनके विचार बहुत भिन्न थे। वे भारतीयों को निम्न कोटि के पशु पुकारते हुए प्रसन्नता का अनुभव करते थे, आधे गोरिल्ला, आधे हब्शी। वे भारतीय काले मूर्तिपूजकों का यह कह कर मज़ाक उड़ाते थे कि वे पत्थरों की पूजा करते हैं तथा मधुमक्खियों के समान बाँस के वृक्षों पर झूलते हैं। यूरोपियन स्वामी भारतीयों को भूमि का दास, लकड़ी काटने वाला तथा जल खींचने वाला समझते थे। इस दृष्टि से इस बात में कोई आश्चर्य नहीं कि भारतीयों तथा यूरोपियनों के मध्य सम्बन्ध कटु हो गये हों।

भारतीयों को रेलवे के ऊँची श्रेणी के डिब्बों में यात्रा करने का अधिकार नहीं था। यहाँतक कि शासक वर्ग के राजा आदि भी जब ऊँचे दर्जों में यात्रा करते थे तब उन्हें भी शिकार यात्राओं से लौटे हुए साहब लोगों के बूटों के तस्मे खोलने तथा उनकी थकी हुई टाँगों पर तेल लगाने आदि का कार्य करने को विवश किया जाता था। यूरोपीय लोगों के द्वारा भारतीयों पर प्रहार की घटनाएँ तो सामान्य हो गई थीं। क्योंकि ऐसे मुकदमों की सुनवाई यूरोपीय जूरी के लोग करते थे, इसलिए वे प्रायः साफ बच जाते थे। ऐसे मामलों में फ़ौजदारी न्याय का प्रशासन एक "न्यायालय सम्बन्धी कलंक" था। गैरेट के कथनानुसार, "अंग्रेजों के द्वारा भारतीयों पर हत्या तथा अत्याचार की घटनाओं की लम्बी शृंखला होती थी, जिसमें अंग्रेज या तो दण्डित नहीं हो पाते थे अथवा सम्पूर्ण यूरोपीय जाति की माँग पर उन्हें एक छोटा-सा दण्ड दे दिया जाता था। इस प्रकार के कलंक के बहुत से दृष्टान्त १८६० के लगभग उपलब्ध होते हैं तथा वे इस समय तक जारी हैं।"

(एक भारतीय टिप्पणी—पृ० ११६-१७)

भारतीय नागरिक सेवा के एक सदस्य सर थियोडोर मोरिसन ने १८६० में इस प्रकार लिखा :—"यह एक अवाञ्छनीय तथ्य है तथा जिसे छिपाने का कोई लाभ नहीं कि अंग्रेजों के द्वारा भारतीयों की हत्या प्रतिदिन होने वाली घटना है।" भारतीयों के विषय में यूरोपीय लोगों में अनेक प्रकार की कहावतें प्रचलित थीं। प्रथम, एक यूरोपीय जीवन का मूल्य कई भारतीय जीवनों के समान था। द्वितीय, प्राच्य व्यक्ति केवल एक ही वस्तु को समझता है और वह है भय। तृतीय, इंग्लैंड को विवश होकर कई प्राणों को गंवाना पड़ा तथा भारत पर अधिकार रखने के लिये लाखों रुपये व्यय करने पड़े। क्या उसे कुछ और पर्याप्त बदला उपहार के रूप में प्राप्त नहीं हुआ कि वह भारत पर बुद्धिमत्ता तथा निःस्वार्थ की भावना में शासन करने की सुविधा ग्रहण कर सके। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि शासन करने वालों तथा शासित होने वालों में पर्याप्त कटुता उत्पन्न

हुई। एडवर्ड थाम्पसन के कथानानुसार, "बहुत से भारतीयों के हृदय से विद्रोह भावना लुप्त हो जाती है, जब वह किसी अंग्रेज से बात करता है—एक ऐसे भूत के रूप में, जिसका बदला नहीं लिया गया तथा जिसे सन्तुष्ट नहीं किया गया। (दी अपर साइड आफ दी मेडल, पृ० ३०)

(८) भारत सरकार के खुले व्यापार की नीति देश के विकास के मार्ग में बाधक थी। पंजाब के ला० मुरलीधर ने १८९१ में इस समय अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये—"खुला व्यापार, जातियों के मध्य न्याय—इस प्रकार के पाखण्ड को मैं घृणा की दृष्टि से देखता हूँ। दरिद्र किये गये भारत तथा फूले हुए पूँजीपति इंग्लैंड में क्या न्याय हो सकता है ?" पुनश्च "ये सब झाड़-फानूस तथा लैम्प यूरोप में बनी हुई मेजें तथा कुर्सियाँ, चुस्त कपड़े तथा टोप, अंग्रेजी कोट तथा स्त्रियों की टोपियाँ, फ्राक, चाँदी मढ़े बेंत तथा तुम्हारे घर की यह सब विलास की वस्तुएँ क्या हैं ? ये केवल भारतीय दुर्गति के विजय-चिह्न तथा भारतीय भूख के अवशेष अथवा चेतावनी हैं।" डी० ई० वाचा के कथनानुसार, "भारतीयों की आर्थिक अवस्था ब्रिटिश शासन के आधीन बिगड़ चुकी थी। चार करोड़ भारतीयों को केवल दिन में एक बार खाना खाकर सन्तुष्ट रहना पड़ता था। इसका एक-मात्र कारण यह था कि इंग्लैंड भूखे किसानों से बलपूर्वक कर प्राप्त करता था तथा वहाँ अपना माल भेज कर लाभ कमाता था।" इस प्रकार दूर के इन द्वीपों के अतुल ऐश्वर्य में और भी वृद्धि होती थी। सर विलियम हण्टर ने १८८० में इस प्रकार लिखा, "लगभग चार करोड़ व्यक्ति यहाँ अपर्याप्त भोजन पर अपना निर्वाह करते हैं।" भारत मन्त्री लार्ड सैलिसबरी ने १८७५ में स्वीकार किया कि "ब्रिटिश शासन भारत का रक्त शोषण करके उसे रक्तहीन, दुर्बल बना रहा है।" डब्ल्यू० टी० थार्नटन ने १८८० में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि "भारतीय लोग इंग्लैंड को जो वार्षिक कर देते हैं, उसके कारण भारत का अपना सारा रुधिर चुस गया है तथा उसकी औद्योगिक स्थिति के मुख्य स्रोत सूख चुके हैं।"

१८५७ में विद्रोह के फूटने से पूर्व, बहुत से अंग्रेज ऐसे थे, जो दयानतदारी के साथ भारतीयों के भले के लिये विश्वास और कार्य करते थे, किन्तु विद्रोह के दिनों में दोनों ओर बहुत-सा रुधिर बहाया गया। विद्रोह के पश्चात् यूरोपियनों ने भी असहाय तथा निर्दोष भारतीयों से अपना बदला लिया। इस दमन तथा कठोरता की पद्धति के कारण देश में असन्तोष की वृद्धि हुई। भारतीयों को देश में विधान-मण्डलों से पूर्ण रूप से बहिष्कृत कर दिया गया तथा प्रशासन के अन्तर्गत आवश्यक पदों से भी।

जकारियास के अनुसार, भारत के साथ इंग्लैंड के सम्बन्धों में अविश्वास की छाया पड़ने लगी थी। जिन लोगों ने एक बार गदर किया है और भयानक जुल्म किए हैं, उन पर यह कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वे भविष्य में विद्रोह नहीं करेंगे। गदर के बाद, एक प्रत्यक्षदर्शी ने लिखा था—भारत के साथ पिछली सहानुभूति घृणा की भावना में बदल गई है। भारत में जीवन और कार्य में सन्तोष की पुरानी भावना तथा बातों को देखने की पुरानी प्रवृत्ति के स्थान पर अब भारत में जरूरत से ज्यादा जरा भी ठहरने की अनिच्छा पैदा हो गई है और बातों को अँग्रेजी पैमाने से नापने की प्रवृत्ति पैदा हुई है। गरट के अनुसार, अंग्रेज लोग अपने कैदियों को बिना मुकदमा चलाए और ऐसी रीति से

मार डालते थे जिसे सब भारतीय बर्बरता की पराकाष्ठा समझते थे। उन्होंने हजारों भारतीयों का कत्ले-ग्राम किया। जनरल नील ने अपने सहायकों को यह ग्रादेश दिया कि कुछ गाँव बर्बाद करने के लिये तय किए गये हैं और उनमें रहने वाले सब ग्रादमियों को मौत के घाट उतार दिया और जहां कहीं हमारी अंग्रेज सेना गई वहाँ गाँवों के मकानों को अन्धाधुन्ध आग लगा दी गई।

अंग्रेजी भाषा ने इस देश में राष्ट्रीयता के विकास में एक अत्यन्त ग्रावश्यक भाग लिया। इसने भारत के पढ़े-लिखे समुदाय की मातृ-भाषा के रूप में कार्य किया। अंग्रेजी भाषा के सामान्य माध्यम के बिना मद्रासियों, बंगालियों तथा पंजाबियों के लिए एक मेज पर बैठना तथा देश के सम्मुख खड़ी होने वाली सामान्य समस्याओं के सम्बन्ध में चर्चा करना असम्भव होता।

अंग्रेजी साहित्य पढ़ने से भारतीयों पर जो प्रभाव पड़ा उसके बारे में टैगोर ने इस प्रकार लिखा है—"हमने इंग्लैंड को उसके शानदार साहित्य के जरिये जाना जिससे हमारे तरुण हृदयों को एक नई प्रेरणा मिली। जिन अंग्रेज लेखकों की पुस्तकें और कविताएँ हम पढ़ते थे, वे मानवता, न्याय और स्वतन्त्रता के प्रेम से भरे हुए थे। यह महान् साहित्यिक परम्परा क्रान्ति के काल से हमारे पास पहुँची थी। हमने वर्ड्सवर्थ के मनुष्य की आजादी सम्बन्धी गीतों में इसकी शक्ति को अनुभव किया। हमें शैले की तरुण अवस्था के उत्साह में लिखी हुई अधकचरी रचनाएँ भी प्रेरणा देती थीं। इस सबसे हमारी तरुण कल्पना-शक्ति जाग्रत हो उठी। हमने समझा कि यदि हम विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह करेंगे तो पश्चिमी देश हमसे सहानुभूति दिखलाएँगे। हम समझते थे कि हमारी आज़ादी के प्रयत्नों में इंग्लैंड हमारा साथ देगा।"

भूमि तैयार थी तथा लार्ड लिटन के समय में होने वाली कुछ भूलों आदि के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन को तीव्र गति प्राप्त हुई। १८७६ से १८८४ तक का समय भारतीय राष्ट्रीयता का बीज बोने का समय कहा गया है। लार्ड लिटन ने अपना प्रसिद्ध दरबार १८७७ में ऐसे समय में लगाया जब कि दक्षिण भारत के लोग अकाल से होने वाले भयंकर नाश से दुःखी हो रहे थे। लोग लिटन की लापरवाही से अत्यन्त हैरान थे। इन शब्दों में उचित आलोचना की गई, "जब रोम जल रहा था नीरो चैन की वंशी बजा रहा था।" द्वितीय अफगान युद्ध ने भारतीय कोष पर बहुत बोझ डाला। इसमें आश्चर्य नहीं कि भारतीयों ने निर्दयतापूर्वक लिटन की आलोचना की हो। भारतीयों की सार्वजनिक सम्मति का गला घोंटने के लिये लिटन ने १८७८ में प्रसिद्ध भारतीय प्रेस अधिनियम स्वीकार किया। सब प्रकार के लोगों ने इस अधिनियम की पक्षपातपूर्ण धाराओं की सब प्रकार से निन्दा की। सर एर्सकाइन पेरी के कथनानुसार, यह अधिनियम एक ऐसा पग था, जो भारत की भावी प्रगति के लिये दुर्भावनापूर्ण था। इसीलिये इसे मुँह बन्द करने वाला अधिनियम कह कर पुकारा गया। लिटन ने १७७८ में शस्त्र अधिनियम भी स्वीकार किया। इस अधिनियम द्वारा भारतीयों तथा यूरोपियनों में भेद-भाव किया गया। जब कि यूरोपियनों को स्वतन्त्रतापूर्वक शस्त्र रखने की अनुमति दी गई, भारतीय बिना लाइसैंस के वैसा नहीं कर सकते थे। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के मतानुसार, शस्त्र अधिनियम के द्वारा "हम पर जातीय तुच्छता का एक बिल्ला थोप दिया गया।" ऐसा पग भारतीय लोगों के आत्म-

सम्मान के लिये अपमानजनक था । लार्ड लिटन ने सूती माल पर आयात-कर भी हटा दिया जिससे ब्रिटिश निर्माताओं की सहायता हो सके । भारतीयों ने इस सम्बन्ध में भी रोष प्रकट किया ।

यह सत्य है कि लार्ड रिपन ने भारतीयों की कुछ शिकायतों को दूर करने का प्रयत्न किया, किन्तु इससे पूर्व कि वह ऐसा कर सकता, इल्बर्ट बिल का वाद-विवाद तूल पकड़ गया । इस अवसर पर यूरोपियनों ने इतना लज्जापूर्ण व्यवहार किया कि भारतीयों की उनमें विश्वास-भावना जाती रही ! यह बात स्पष्ट हो गई कि भारतीय अंग्रेजों से किसी प्रकार के न्याय की आशा नहीं रख सकते, जब कि उनके अपने हित फँसे हुए हों । सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने इस प्रकार विचार प्रकट किया 'कोई भी प्रतिष्ठित भारतीय इस प्रकार के रहस्योद्घाटन के भयानक वातावरण में चुप नहीं बैठ सकता । यह उन लोगों के लिये ऊँची देश-प्रेम से पूर्ण कर्त्तव्य की पुकार थी, जो उसके महत्त्व को स्वीकार करते थे ।"

इससे पूर्व कि इल्बर्ट बिल का वाद-विवाद समाप्त हो, भारतीयों ने अपने-आप को पहले से ही एक तथाकथित भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन के रूप में संगठित कर लिया । यह सम्मेलन १८८३ में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के नेतृत्व में हुआ । यह सम्मेलन इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अग्रगामी के रूप में हुआ जो १८८५ में स्थापित हुई । यह बात उल्लेखनीय है कि और भी बहुत-सी संस्थाएँ थीं, जैसे ब्रिटिश भारती बंग-संघ, बम्बई प्रैज़ीडैंसी संघ, मद्रास निवासियों का संघ तथा पूना सार्वजनिक सभा ।

कांग्रेस की स्थापना (Foundation of the Congress)—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन दिसम्बर १८८५ के अन्त में बम्बई में हुआ । पहले यह निश्चय किया गया था कि यह पूना में हो । कांग्रेस की स्थापना करने का प्रारम्भिक विचार ए० ओ० ह्यूम से प्राप्त हुआ, जो अवकाश-प्राप्त अंग्रेज सरकारी नौकर थे । ह्यूम को कांग्रेस के पिता के रूप में स्वीकार किया जाता है। कहा जाता है कि ह्यूम का प्रारम्भिक विचार प्रमुख भारतीय सार्वजनिक लोगों के द्वारा देश की सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार करना था । लार्ड डफ़रिन ने ह्यूम की इस मौलिक योजना को परिवर्त्तित किया । उसने उसे सुझाव दिया कि प्रस्तावित संस्था वे कार्य करे जो सम्राज्ञी का विरोधी दल इंग्लैंड में करता है । लार्ड डफरिन की इच्छा थी कि "भारतीय राजनीतिज्ञ वर्ष में एक बार इकट्ठे हों तथा सरकार का ध्यान आकर्षित करें कि प्रशासन के कार्यों में क्या दोष हैं तथा उन्हें किस प्रकार सुधारा जा सकता है ।" ह्यूम ने लार्ड डफ़रिन की इच्छानुसार योजना में परिवर्त्तन किया । कांग्रेस को लोकप्रिय असन्तोष के सम्बन्ध में एक सुरक्षा-साधन के रूप में कार्य करना था । इसे भारतीय अशान्ति प्रकट करने के लिये एक शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक मार्ग का कार्य करना था, जिससे कि वह सशस्त्र क्रान्ति की ओर प्रवाहित न हो जाए । "यह स्पष्ट है कि कांग्रेस आन्दोलन का मुख्य श्रेय यही है कि इसने भीतरी तथा अस्पष्ट कार्य-प्रणाली को अपने आप से दूर रखा है तथा इसने सब प्रकार के राजनैतिक आन्दोलन को दिन के उज्ज्वल प्रकाश में परिणत तथा क्रियान्वित करके मधुर बनाए रखा है ।" कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि ह्यूम का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य को विशृंखल होने से बचाना था । तथापि कांग्रेस से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह भारत में

अंग्रेजी साम्राज्य के संरक्षक के रूप में कार्य करे। ह्यू म ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विश्वस्त अनुचर नहीं था। उसके हृदय में स्वतन्त्रता की भावना थी। उसने स्पष्ट रूप से कांग्रेस के सम्बन्ध में यह इच्छा प्रकट की कि वह भारतीय लोगों की सेवा करे।

१ मार्च, १८८३ को ह्यू म ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को एक विज्ञप्ति भेजी, जिसमें निम्नलिखित पंक्तियाँ भी हैं—"क्योंकि आप लोग सर्वाधिक शिक्षित भारतीयों के एक महान् समूह का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, आपको स्वाभाविक रूप से भारत की मानसिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रगति का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन बनना चाहिए। चाहे व्यक्तिगत हो अथवा जातीय, सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण प्रगति का स्रोत भीतरी होना चाहिए तथा इस सबका आधार आप लोग हो, जो इस देश के सुसभ्य, ज्ञानवान तथा प्रतिभा-सम्पन्न नागरिक हो। आप इस देश के ऐसे योग्यतम पुत्र हो कि आपका देश इस कार्य के श्रीगणेश के लिये आपकी ओर देखता है। व्यर्थ में मुझ जैसे परदेसी भारत तथा उसके बच्चों को प्यार करते हैं जो बहुत प्यारे लगते हैं। व्यर्थ में ही वे इस देश के लिए तथा उनके भले के लिए समय देते हैं, कष्ट उठाते हैं, धन देते तथा विचार करते हैं, व्यर्थ में वे संघर्ष करें तथा बलिदान दें, वे अपनी शिक्षा तथा सुझावों से सहायता कर सकते हैं। वे इन कार्यकर्त्ताओं के लाभ के लिये अपना अनुभव, योग्यताएँ तथा ज्ञान प्रदान करें, किन्तु उनमें जातीयता का आवश्यक गुण नहीं। वास्तविक कार्य तो देश के लोग ही स्वयं कर सकते हैं।" यह भी सुझाव रखा गया कि कार्य का आरम्भ संस्थापकों के एक समूह से किया जाए जो भावी विकास के लिये सरसों के बीज के समान कार्य करे। उसने और अधिक विचार प्रकट करते हुए लिखा––"यदि केवल ५० व्यक्ति, अच्छे और सच्चे संस्थापकों के रूप में प्राप्त हो सकते हैं, तो यह वस्तु स्थापित की जा सकती है तथा इसका भावी विकास अपेक्षाकृत आसान हो जाएगा।" इस अपील का प्रभाव हुआ तथा अपेक्षित संख्या में लोग भारत के प्रत्येक भाग से आए। भारतीय राष्ट्रीय यूनियन, जिसका आगे जाकर इंडियन नेशनल कांग्रेस नाम रखा गया, की प्रथम बैठक की व्यवस्था दिसम्बर १८८५ में की गई। किन्तु बैठक बम्बई में हुई। डा० यू० सी० बैनर्जी, जो कलकत्ता के अग्रणी बैरिस्टर थे, प्रधान रूप से निर्वाचित हुए। देश के विभिन्न भागों से प्रतिनिधि आए तथा उनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय थे––फ़िरोज़शाह मेहता, दादाभाई नारोजी, के० टी० तेलाँग, दिनशा वाचा आदि। यह बैठक वास्तव में एक राष्ट्रीय अधिवेशन था जिसमें भारत के सभी भागों से महत्त्वपूर्ण तथा अग्रणी व्यक्तियों ने भाग लिया।

उद्देश्य :- पहली इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अध्यक्ष ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कांग्रेस के निम्नलिखित उद्देश्य बताये थे––

१. साम्राज्य के विभिन्न भागों में हमारे देश के हित के लिए काम कर रहे संजीदा कार्यकर्त्ताओं में व्यक्तिगत निष्ठा और मित्रता बढ़ाना।

२. देश के सब प्रेमियों में सीधे मित्रतापूर्ण व्यक्तिगत मेल-जोल द्वारा सब तरह के जाति, धर्म या प्रान्त-सम्बन्धी पक्षपात को दूर करना और राष्ट्र को उन भावनाओं की ओर अधिक बढ़ाना तथा दृढ़ करना जो हमारे प्यारे लार्ड रिपन के सदा स्मरणीय शासन-काल में पैदा हुई थीं।

३. भारत के शिक्षित वर्गों के परिपक्व विचारों का जो वे आजकल की अधिक

महत्त्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक समस्याओं के बारे में रखते हैं, अधिकृत निरूपण।

४. उन रीतियों का निश्चय करना जिनसे अगले बारह महीनों में देशी राजनैतिक नेताओं को सार्वजनिक हित के लिए काम करना चाहिए।

इंडियन नेशनल काँग्रेस का द्वितीय अधिवेशन १८८६ में कलकत्ता में हुआ। लार्ड डफ़रिन ने काँग्रेस के सदस्यों को "प्रतिष्ठित अतिथियों" के रूप में राज्य-भवन में उद्यान-पार्टी में आमन्त्रित किया। इस प्रकार का सम्मान मद्रास के गवर्नर ने १८८७ में किया। किन्तु सरकार की मनोवृत्ति में इस नवजात संस्था के प्रति कुछ परिवर्त्तन हो गया। १८८७ के मद्रास अधिवेशन के पश्चात् जनता में आक्रामक आन्दोलन आरम्भ किया गया। ह्यूम ने "एक वृद्ध व्यक्ति की आशा" नामक लघु पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें उसने इंग्लैंड के लोगों से इन शब्दों में अपील की—"हे महानुभाव, आपको अच्छी प्रकार से भोजन प्राप्त है तथा आप प्रसन्न हैं। क्या आप इस असंख्य जनता के कष्टों का अनुभव करते हैं? इनके जन्म से लेकर मृत्यु तक––क्या आप जानते हैं कि सूर्य के प्रकाश की कितनी किरणें उनके उदास मार्गों को प्रकाशित करती हैं? परिश्रम, परिश्रम, परिश्रम; भूख, भूख, भूख; रोग, कष्ट, अफ़सोस––ये इनकी संक्षिप्त तथा उदास अस्तित्व की महत्त्वपूर्ण तथा संक्षिप्त विशेषताएँ हैं।"

ह्यूम ने इंग्लैंड से भारत के सम्बन्ध में समाचार-पत्रों में आन्दोलन के लिये प्रबन्ध किए। वह ब्रिटिश संसद् के कुछ सदस्यों के समर्थन को भी प्राप्त करने में समर्थ हो सका। अप्रैल, १८८८ में ह्यूम ने इलाहाबाद में एक जोशीला भाषण दिया, जिसमें उसने भारत की जनता में भी उसी प्रकार आन्दोलन करने का समर्थन किया जिस प्रकार इंग्लैंड में "एन्टी कॉर्न लीग" ने किया था। भारत की ब्रिटिश नौकरशाही ने यह पसन्द न किया तथा यह सुझाव रखा गया कि इण्डियन नेशनल काँग्रेस को कुचल दिया जाए तथा ह्यूम को देश-निकाला देकर इंग्लैंड भेज दिया जाए। अक्तूबर १८८८ में सर ए० काल्विन ने, जो कि उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के गवर्नर थे, ह्यूम को २० छपे हुए पृष्ठों का एक पत्र लिखा, जिसमें उसे अपने कार्यों के परिणामों के सम्बन्ध में उसने चेतावनी दी। ह्यूम का उत्तर ६० पृष्ठों में आया। नौकरशाही की मनोवृत्ति के कारण दिसम्बर १८८८ में इलाहाबाद में अधिवेशन करना कठिन हो गया। तथापि दरभंगा के महाराजाधिराज सर लच्छमेश्वरसिंह ने "लाउथर दुर्ग" नामक सम्पत्ति के खरीदने में काँग्रेस की सहायता की, जहाँ अधिवेशन हुआ। कलकत्ता के एक यूरोपीय सम्पन्न व्यक्ति श्री एण्ड्रयूल ने इलाहाबाद अधिवेशन का सभापतित्व किया।

काँग्रेस का अगला अधिवेशन दिसम्बर १८८९ में बम्बई में हुआ। इस अधिवेशन में ब्रिटिश संसद् के एक सदस्य चार्ल्स ब्रैडला सम्मिलित हुए। सर विलियम वैडरबर्न ने इसी अधिवेशन का सभापतित्व किया। उसने इतनी उच्च तथा स्पष्ट ध्वनि में भाषण दिया कि पंडाल के प्रत्येक कोने में ही नहीं सुना गया अपितु पंडाल के बाहर भी लोगों ने उसे सुना। उसने इस प्रकार घोषणा की "मैं जनता को छोड़ कर किसके लिये कार्य करूँ? *जनता में उत्पन्न होकर जनता के द्वारा विश्वास किया जाकर मैं जनता के लिए ही मरूँगा!"*

ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स के सदस्य दादा भाई नारोजी काँग्रेस के लाहौर अधि-

वेशन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए, जो दिसम्बर १८९३ में होना था। उनकी बम्बई से लाहौर तक की यात्रा एक विजयी के जलूस के समान थी। मार्ग के विभिन्न स्थानों के लोगों ने उन्हें अभिनन्दन-पत्र भेंट किए। अमृतसर के सिखों के स्वर्णिम गुरुद्वारे में उन्हें प्रतिष्ठापूर्वक एक पोशाक भेंट की गयी। दादा भाई ब्रिटिश संसद् के आयरिश सदस्यों की ओर से निम्नलिखित सन्देश लाए, "काँग्रेस अधिवेशन में अपने साथियों से यह कहना न भूलना कि आयलैंड के होम रूल (स्वराज्य) के संसदीय सदस्य भारतीय जनता के कार्य के लिये आपके साथ हैं।"

अगला अधिवेशन १८९५ में मद्रास में हुआ तथा उसकी अध्यक्षता अलफ्रैड वैब ने की, जो संसद् का आयरिश सदस्य था। सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी ने १८९५ में होने वाले काँग्रेस के पूना अधिवेशन की अध्यक्षता की। ऐसा कहा जाता है कि बैनर्जी की स्मरण-शक्ति इतनी तीक्ष्ण थी कि छपे हुए भाषण पर बिना देखे ही वे अपने सम्पूर्ण भाषण के प्रत्येक शब्द को मौखिक रूप से दोहरा गए। उन्होंने इस प्रकार निरन्तर दो घण्टों तक अपना भाषण-क्रम जारी रखा।

गोखले ने १९०५ में बनारस अधिवेशन की अध्यक्षता की। अगला अधिवेशन १९०६ में कलकत्ता में दादा भाई नारोजी की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन में दादा भाई नारोजी ने भारत के लिये स्वराज्य का झण्डा फहराया तथा निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुआ—"निश्चय हुआ कि इस तथ्य का ध्यान रखते हुए कि इस देश के लोगों का उसके प्रशासन में बहुत कम अथवा शून्य भाग है तथा सरकार के प्रति प्रेषित स्मृति-पत्रों पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता, इस काँग्रेस की यह सम्मति है कि प्रान्त के विभाजन के विरोध में बंगाल में जिस बहिष्कार आन्दोलन का आरम्भ हुआ है, वह न्यायसंगत था तथा है।"

सूरत में फूट (Surat Split, 1907)—अगला अधिवेशन नागपुर में होना था, किन्तु नागपुर के वायुमण्डल के अनुकूल न होने के कारण अधिवेशन का स्थान नागपुर से सूरत में परिवर्त्तित करना पड़ा। बाल गंगाधर तिलक उस समय काँग्रेस की नीति के विरोधी थे।

वह यह नहीं चाहते थे कि नरम दल वालों के कहने पर काँग्रेस अपने १९०६ के प्रस्ताव से मुकर जाए। २३ दिसम्बर, १९०७ को सूरत में आपने कहा "हम काँग्रेस में फूट डालने के लिए नहीं आए हैं। हम अलग काँग्रेस नहीं करना चाहते। हम तो यही चाहते हैं कि काँग्रेस अपनी बात से न हटे। हम गम्भीरतापूर्वक कहते हैं कि हम काँग्रेस को समय के साथ चलता देखना चाहते हैं। पर जो लोग काँग्रेस को सूरत लाए हैं, हालाँकि नागपुर अधिवेशन कराने को तैयार था, वे काँग्रेस को पीछे घसीट रहे हैं। उनमें नैतिक साहस नहीं है। जब आप स्वदेशी को स्वीकार करते हैं तब आपको विदेशी वस्तुओं का अवश्य बायकाट करना चाहिए। बायकाट के बिना स्वदेशी की तरक्की नहीं हो सकती है। यह दो उसूलों की लड़ाई है। एक, जो ठीक है उसे सचाई से करना, और दो, उसे करना पर सरकार को नाराज न करते हुए। मैं उस पार्टी में हूँ जो वह काम करने को तैयार है जिसे वह ठीक समझती है, चाहे सरकार खुश हो या नाखुश। हम भीख माँगने की नीति के खिलाफ हैं। बहुत से बंगाली नौजवानों ने इसके लिये खुशी से कष्ट सहा है। किसी को यह अधिकार

नहीं कि वह काँग्रेस को उसके ग्रादर्श से पीछे ले जाए। हम नरमदलियों को परेशान नहीं करने ग्राए, मगर हमारा यह पक्का इरादा है कि हम काँग्रेस को पीछे नहीं हटने देंगे। हम यहाँ वैधानिक रूप से लड़ने ग्राए हैं। हम भद्र पुरुषों की तरह ही व्यवहार करेंगे चाहे हमारे विरोधी वैसा न करें। हमारे विरोधी हार के डर से गड़बड़ पैदा कर रहे हैं। हम विदेशी स्वेच्छाचारी के खिलाफ चल रहे हैं। हम स्वदेशी स्वेच्छाचारी को क्यों चलने देंगे? काँग्रेस सब लोगों की संस्था है ग्रौर उसमें जनता की ग्रावाज ही मुख्य होनी चाहिए। नरमदलियों की नीति विनाशकारी है। मैं नहीं चाहता कि ग्राप इस पर चलें। हम ग्रागे बढ़ना चाहते हैं।"

तिलक ग्रौर उनके साथियों की ग्रोर से नरम दल ग्रौर गरम दल में समझौता कराने के सब प्रयत्न बेकार रहे। यद्यपि काँग्रेस के ग्रधिवेशन का एजेन्डा प्रतिनिधियों को नहीं बाँटा गया था पर तिलक को काँग्रेस के गोखले द्वारा बनाए गये प्रस्तावित संविधान की एक कापी मिल गई ग्रौर उसे पढ़ने से पता चलता था कि कलकत्ता काँग्रेस की तुलना में, जो एक साल पहले हुई थी; ग्रब काँग्रेस के उद्देश्य में स्पष्ट रूप से परिवर्त्तन किया जा रहा है। इस पर तिलक चुप न रह सके। ग्रापने कहा कि प्रस्तावित संविधान स्वतन्त्र उपनिवेशों की तरह के स्वराज्य के ग्रादर्श को बिगाड़ने का ग्रौर इस नये उद्देश्य की स्वीकृति को काँग्रेस की सदस्यता की ग्रावश्यक शर्त बनाकर राष्ट्रवादियों को काँग्रेस से ग्रलग करने का सीधा प्रयत्न है। ग्रापने कहा कि यदि मुझे ग्रौर मेरे साथियों को यह ग्राश्वासन मिल जाए कि काँग्रेस को पीछे ले जाने की कोशिश नहीं की जायगी तो प्रेजीडैण्ट के चुनाव के बारे में विरोध वापस ले लिया जाएगा। तिलक इस बात पर सहमत हो गये कि दोनों पक्षों के दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करने वाली एक संयुक्त समिति इस सवाल को तय कर दे। पर नरम दलीय समझौता करने को तैयार नहीं थे। वे ग्रपने ही ढंग से चलने का इरादा किए हुए थे। गरम दल वालों की प्रतिक्रिया यह थी—"काँग्रेस का पीछे की ग्रोर जाना एक गम्भीर बात है ग्रौर इसका फैसला किसी एक दल के ग्राकस्मिक बहुमत से विषय समिति में या सारी काँग्रेस (जैसी कि वह ग्राजकल बनी हुई है) में नहीं किया जा सकता कि खास साल में किसी खास जगह या प्रांत में वह ग्रधिवेशन होने से वह बहुमत हो गया है, ग्रौर ग्रामतौर से होने वाला प्रेजीडैण्ट का चुनाव इन खास परिस्थितियों में हमारी स्थिति को बहुत कमजोर करेगा।

जब काँग्रेस का ग्रधिवेशन २७ दिसम्बर, १९०७ को ग्रारम्भ हुग्रा, तो वायुमण्डल परिमाण से ग्रधिक ग्रशान्त था तथा ग्रनेक प्रकार की ग्रफवाहें सुनने में ग्रा रहीं थीं। रासबिहारी घोष का नाम ग्रध्यक्षता के लिये प्रस्तावित हुग्रा। जब सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी इस प्रस्ताव का समर्थन करने के लिये खड़े हुए, तब उन्हें जबर्दस्ती बिठाने के प्रयत्न किए गये। पण्डाल में गड़बड़ मच गई। सभा को स्थगित करना पड़ा। दूसरे दिन डा० घोष ग्रध्यक्ष चुन लिये गये। किन्तु ज्यों ही वे ग्रपना सभापति का भाषण देने खड़े हुए, श्री बाल गंगाधर तिलक मंच पर चढ़ गये, प्रधान के सामने खड़े हो गये तथा उन्होंने इस बात की माँग की कि उन्हें दर्शकों से कुछ कहने की ग्रनुमति प्रदान की जाए। उन्होंने ग्रध्यक्ष के इस निर्णय को मानने से इनकार कर दिया कि उन्हें उस समय बोलने की ग्रनुमति नहीं दी जा सकती। जब यह विवाद चल रहा था, तब गरम दल वाले लोगों ने ग्रशान्ति उत्पन्न

कर दी तथा अनेक प्रकार की हुल्लड़बाजी मची। तिलक को मनाने के सभी प्रयत्न व्यर्थ गये। वे वहीं हाथ बाँधे खड़े रहे तथा उन्होंने अपने स्थान पर जाने से इनकार कर दिया, जब तक कि उन्हें जबर्दस्ती हटा न दिया जाए। नागपुर तथा पूना के कुछ व्यक्ति हाथों में लाठियाँ लेकर मंच की ओर बढ़े। दर्शकों की ओर से एक जूता फेंका गया तथा वह फिरोजशाह मेहता को लगा। अशान्ति तथा हुल्लड़ मच गया। मंच पर कुर्सियाँ फेंकी गई तथा लाठियों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया गया। एक अंग्रेज पत्रकार नेवीनान ने उक्त दृश्य का इन शब्दों में वर्णन किया है—"अकस्मात् एक वस्तु हवा में उड़ी। एक जूता! एक मरहठा जूता! लाल चमड़ा, नोकदार अग्रभाग, सीसे से जुड़ा तलवा। यह सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के गाल पर लगा; यह सर फिरोजशाह मेहता से टकराया। इशारा पाते ही सफेद पगड़ी वाले कुछ व्यक्ति मंच पर आ चढ़े। कूदते, उछलते तथा क्रोध से पूर्ण, अपने हाथों में चक्करदार लम्बी-लम्बी सोटियाँ लिये वे आए तथा जो भी उन्हें नरम दल वाला दीखा उसके सिर पर उन्होंने प्रहार किया तथा दूसरे ही क्षण में मैंने इण्डियन नेशनल कांग्रेस को गड़बड़ में विसर्जित होते हुए देखा।" अधिवेशन को स्थगित करना पड़ा।

२८ दिसम्बर, १९०७ को नरम दल वालों का एक सम्मेलन कांग्रेस पंडाल में हुआ जिसमें राष्ट्रवादियों को नहीं बुलाया गया यद्यपि उनमें से कुछ आवश्यक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने को तैयार थे। जो लोग कलकत्ता कांग्रेस वाले निश्चय से पीछे नहीं हटना चाहते थे उन्होंने अलग स्थान पर अपनी बैठक की और यह विचार किया कि कांग्रेस के काम को जारी रखने के लिये क्या कदम उठाए जाएँ। कांग्रेस का सूरत अधिवेशन इस तरह समाप्त हुआ। सूरत की गड़बड़ी के बाद यह स्पष्ट हो गया कि नरम दलीय गरम दल वालों के सामने झुकने को तैयार न थे। वे जानते थे कि एक बार उग्रता का पौधा जम गया तो वह स्वयं बढ़ता जाएगा। वे किसी तरह के समझौते के लिये तैयार न थे और तिलक का उपहास किया गया और उन्हें गालियाँ दीं गई और यहाँ तक कि उन्हें देशद्रोही कहा गया। नरम दलीयों के अखबार कैसी गरम भाषा लिख रहे थे इसका अनुमान निम्नलिखित से हो सकता है। "तिलक उस ज्वाला को चेता रहे थे जिसने कांग्रेस को जलाकर राख कर दिया है। वह देश-भक्त नहीं बल्कि देश-द्रोही है और उसने अपना मुँह काला कर लिया है। भगवान् हमें ऐसे देशभक्तों से बचाए।" नरम दलीयों की इन आलोचनाओं के बावजूद तिलक उनसे मिलकर चलने को तैयार थे; आपने केसरी में लिखा था; "यह समझना भूल है कि अंतिम आदर्श के बारे में मतभेद होने से भारतीय लोग एक साँझे उद्देश्य की प्राप्ति के लिये एक दूसरे से सहयोग नहीं कर सकते। हम देखते हैं कि पालियामेंट में रेडीकल सोशलिस्ट डेमोक्रेट और अन्य बहुत से लोग एक दूसरे से बहुत भिन्न आदर्श रखते हुए भी अपने देश के हित के लिये एक-दूसरे से सहयोग कर सकते हैं। इस उदाहरण के होते हुए क्या यह आग्रह करना अनुदारता के भाव को सूचित नहीं करता कि नेशनल कांग्रेस में एक ही विचारधारा के भारतीय राजनीतिज्ञों को शामिल किया जाए। हमारे राजनीतिज्ञों का कर्त्तव्य यह नहीं है कि वे सब मतभेदों को दूर कर दें बल्कि यह है कि साँझे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अलग-अलग विचारों वाले लोगों का सहयोग प्राप्त करें। आदर्शों के बारे में हमारे चाहे जो मतभेद हों पर नेशनल कांग्रेस के काम में हम नरम दल और गरम दल वालों को मिलकर काम करना चाहिए। नई पार्टी बनने से पुरानी के

साथ संघर्ष पैदा होना जरूरी है पर समझदार लोगों का काम यह है कि संघर्ष को तूल न दें और नई पार्टी के साथ सहयोग करते हुए राष्ट्रीय काम को आगे बढ़ाएँ।"

• **तीन चरण** (Three Stages)—काँग्रेस के इतिहास को तीन चरणों में बाँटा जा सकता है। प्रथम चरण १८८५ से १६०५ तक रहा। यह नरम राष्ट्रीयता का युग था। काँग्रेस क्रांतिकारी नहीं बनी थी। इसके नेता ब्रिटिश सम्राट् के प्रति निष्ठा और आज्ञाकारिता की भावना को प्रकट करते थे। दूसरा चरण, १९०६ से १९१८ तक का था। इस समय में काँग्रेस ने संघर्षपूर्ण स्थिति में प्रवेश किया। इस समय में मुसलमानों ने काँग्रेस को छोड़ दिया। तीसरा चरण १९१९ के भारत सरकार अधिनियम की स्वीकृति के साथ आरम्भ हुआ तथा इसकी समाप्ति भारत की स्वतन्त्रता के साथ १९४७ में हुई। इस चरण को गांधी युग कहा जा सकता है। नरम दल वालों ने कांग्रेस को छोड़ दिया तथा उन्होंने अपने आपको अखिल भारतीय उदार-दल में संगठित कर दिया। इस युग में पाकिस्तान के विचार ने जन्म लिया तथा विकसित हुआ। इसकी समाप्ति स्वयं पाकिस्तान की स्थापना के साथ हुई। इस युग में पाकिस्तान को बल प्राप्त हुआ।

आरम्भ से लेकर आज तक कांग्रेस के कार्यों की विस्तृत चर्चा करना तो कठिन है। यह कहना पर्याप्त है कि आरम्भ में यह एक क्रान्तिकारी संस्था न थी। इस पर मध्यम मार्ग के राष्ट्रीय लोगों का प्रभुत्व था जो अपनी माँगों में नम्र थे। उस युग के भारतीय देश-प्रेमी ब्रिटिश न्याय-भावना में विश्वास करते थे तथा उन्हें निश्चय था कि वे उनसे अपने कष्ट दूर करवा सकेंगे। वे आन्दोलन अथवा अवैधानिक उपायों में विश्वास न करते थे। वे अपना कार्य सार्वजनिक वाद-विवाद, आन्दोलन, प्रार्थना-पत्रों, प्रदर्शनों तथा प्रतिनिधि-मण्डलों के द्वारा करते थे। वे प्रार्थनाओं तथा अपीलों में विश्वास करते थे। उनके साधनों को "राजनैतिक-भिक्षावृत्ति" के रूप में वर्णित किया गया है। श्रीगुरुमुख निहालसिंह के कथनानुसार, "प्रारम्भिक दिनों की काँग्रेस ने अपनी वफादारी की घोषणाओं के साथ, मध्यम मार्ग तथा अपील के स्वर को अपनाया तथा उन दिनों राष्ट्रीय जाग्रति वाली राजनैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में पर्याप्त वास्तविक कार्य किया। साथ ही उसने भारतीयों को संगठित करने तथा उनमें समान भारतीय राष्ट्रीयता की जाग्रति की भावना उत्पन्न करने में भी पर्याप्त योग दिया।"

डा० पट्टाभिसीतारमैया के कथनानुसार, "हम उन्हें उनके उस दृष्टिकोण के लिए, जिसके द्वारा भारतीय राजनैतिक सुधार के नेताओं के रूप में उन्होंने कार्य किया, इससे अधिक दोष नहीं दे सकते, जिस प्रकार हम आजकल के किसी भवन की नींव के रूप में छः फुट गड़ी हुई ईंट और गारे को दोष नहीं दे सकते। उन्होंने हमारे लिए यह सम्भव कर दिया कि हम भवन की एक के पश्चात् एक ऊपर की मंज़िलें खड़ी कर सकें—औपनिवेशिक स्वराज्य, साम्राज्यान्तर्गत होम रूल (अपना शासन) स्वराज्य तथा इस सबसे ऊपर पूर्ण स्वतन्त्रता।" (काँग्रेस का इतिहास, पृष्ठ ९९)

यह बात उल्लेखनीय है कि भारत में ब्रिटिश सरकार का काँग्रेस के प्रति दृष्टिकोण आरम्भ में अनुकूल था। लार्ड डफरिन ने द्वितीय अधिवेशन के अवसर पर प्रतिनिधियों का स्वागत किया, किन्तु यह दृष्टिकोण देर तक न रह सका। १८८८ में लार्ड डफ़रिन ने काँग्रेस का विरोध किया। उसने इसे शिक्षित भारतीयों के अल्पमत का प्रतिनिधित्व करने

वाला बताया। १८८७ में एक व्यक्ति को २०००० रुपये की जमानत देने को कहा गया क्योंकि उसने जिला अफ़सर की आज्ञा के विरुद्ध काँग्रेस अधिवेशन में भाग लिया था। १८९० में एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई जिसके द्वारा सरकारी कर्मचारियों को काँग्रेस की सभाओं में भाग लेने से रोक दिया गया। काँग्रेस की नीति सरकारी आलोचना की ओर झुक गई।

चरमवाद का उदय (Rise of Extremism)—कुछ कारणों से काँग्रेस में चरमवाद का उदय हुआ। १८९२ के भारतीय कौंसिल अधिनियम के द्वारा नरम दल वालों की भावनाएँ भी सन्तुष्ट नहीं हुईं। ऐसा समझा गया कि अपीलों तथा प्रार्थनाओं की नीति से कुछ भी परिणाम नहीं निकला। ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत सरकार ने उस नीति को कमज़ोरी के चिह्न के रूप में स्वीकार किया। तिलक ने इस प्रकार विचार प्रकट किया, "राजनैतिक अधिकारों के लिये लड़ना ही होगा। नरम दल वालों का विचार है कि ये अधिकार प्रेरणा से प्राप्त किये जा सकते हैं। हमारा विचार है कि उनकी प्राप्ति केवल दृढ़ दबाव से ही हो सकती है।"

देश के साधनों पर विदेशी प्रभुत्व के कारण लगातार आर्थिक बोझ के कारण देश में और भी असन्तोष भड़क उठा। वाचा, रमेशचन्द्र दत्त तथा दादाभाई नौरोजी के लेखों से प्रमाणित हो गया कि भारतीयों के दारिद्र्य का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार की जान-बूझ कर चलाई जाने वाली नीति है। भारत सरकार की नीति ब्रिटिश निर्माताओं के हितों में भारत के उद्योगों का बलिदान कर देती थी। भारतीय उद्योगों के लिये कोई भी भविष्य दृष्टिगोचर नहीं होता था।

असन्तोष का एक और कार्य १८९७ में अकाल से पैदा हो गया। इस अकाल से दो करोड़ आबादी और ७० हजार वर्गमील क्षेत्र पर असर पड़ा। भारत सरकार का रवैया ठीक नहीं था। जनता तो अकाल की चपेट में पड़ी हुई थी और भारत सरकार रानी विकटोरिया का जयन्ती उत्सव मना रही थी। जिस धन की जनता की सहायता के लिये जरूरत थी वह अनावश्यक उत्सवों पर लुटाया जा रहा था। इसे सरकार की हृदयहीनता समझा गया।

बम्बई प्रान्त में प्लेग फैल जाने से जनता का असन्तोष और बढ़ गया। यह सच है कि इस बीमारी को फैलने से रोकने के लिये भारत सरकार ने कुछ कार्रवाई की। पर वह दुर्भाग्यपूर्ण थी। जनता की भावना की कोई परवाह नहीं की गई। पूना के प्लेग कमिश्नर श्री रेन्ड ने सबसे अधिक निर्दयता से काम किया। रामगोपाल के अनुसार, "रेन्ड के पीछे-पीछे सेना और पुलिस चलती थी और वे बीमारी वाले मकानों को गिरा देते थे और मकानों के निवासियों को जबर्दस्ती कैम्पों में भेज दिया जाता था। बहुत से स्थानों पर प्लेग के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिये बिस्तर और कपड़े जला दिये गये। यदि इस तरह वस्त्रहीन किये गये लोगों को कीटाणु-रहित कपड़े दिये जाते तो यह बात सहन कर ली जाती पर ऐसा नहीं किया गया। इसी प्रकार जिन्दगी की जरूरी चीजें नष्ट कर दी गईं और उनके स्वामियों को रोने-बिलखने के लिये बेघर छोड़ दिया गया। रेन्ड मकान के हर हिस्से में, यहाँ तक कि रसोई में और घर के मन्दिर में भी घुस जाता था। यह देखने के लिये ताले बेधड़क तोड़ दिये जाते थे कि मकान के अन्दर प्लेग का कोई मरीज तो नहीं

छिपाया। शस्त्रधारी हिन्दुस्तानी पुलिस और रिवालवरधारी योरोपियन सैनिक स्त्रियों के कमरे में घुस जाते थे। खुले हुए मकानों से घरेलू चीजें उठा ली जाती थीं जो कभी लौटाई नहीं जाती थीं। झोंपड़ों को जला डाला जाता। कुछ सैनिक दुकानदारों की तिजोरियाँ तोड़ लेते थे। कुछ सैनिक यह समझते थे कि सिलाई की मशीनें किसी भी तरह कीटाणु-रहित नहीं की जा सकतीं, उन्हें जला ही देना चाहिये। सारा काम इस ढंग का था जैसे दुश्मन द्वारा जीते गये किसी शहर को फूंका जा रहा हो।" (लोकमान्य तिलक, पृष्ठ १७३) इस तरह की हालत को जनता सहन नहीं कर सकती थी और कोई आश्चर्य नहीं कि सरकार की प्लेग नीति की, सरकार के आलोचकों, विशेषकर तिलक ने तीव्र आलोचना की। इससे इतना अधिक रोष फैल गया कि रेन्ड और उसके एक साथी को गवर्नमेंन्ट हाउस से रानी विक्टोरिया के जयन्ती उत्सव में भाग लेकर लौटते हुए गोली से उड़ा दिया गया।

एक और कारण हिन्दुत्व का पुनर्जागरण था जिससे लोगों में गरम दलीय आदर्श पैदा हुए। स्वामी विवेकानन्द ने १८९३ में शिकागो में सर्व-धर्म-सम्मेलन में भाग लिया था। वहाँ हिन्दू धर्म की महत्ता पर भाषण दिया था। स्वामीजी को भारत के आध्यात्मिक कार्य में विश्वास था और वे यह समझते थे कि देश की आजादी के बिना वह कार्य नहीं किया जा सकता। यही अवस्था अरविन्द घोष की थी जिन्होंने यह कहा कि स्वाधीनता जीवन का लक्ष्य है और हिन्दुत्व ही हमारी यह आकाँक्षा पूरी कर सकता है। तिलक भी हिन्दू पुनर्जागरण के परिणाम थे और कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने भारत की स्वाधीनता के लिए हिन्दू उत्सवों और हिन्दू संगठन पर बड़ा बल दिया। थियोसोफिकल सोसाइटी ने भी इस दिशा में कुछ काम किया। वेलेन्टाइन शिरोल के अनुसार, मेडम ब्लेवेस्टकी, कर्नल अलकाट और श्रीमती बेसेन्ट के नेतृत्व में थियोसोफिस्ट विचारधारा ने हिन्दू पुनर्जागरण को नई प्रेरणा दी और किसी हिन्दू ने इस आन्दोलन में इतना काम नहीं किया जितना श्रीमती बेसेन्ट ने, जिन्होंने बनारस में अपने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज और मद्रास के निकट अड़यार में अपने थियोसोफिकल इन्स्टीट्यूट में खुले रूप से यह घोषणा की कि सारी हिन्दू प्रणाली पश्चिमी सभ्यता से बढ़कर है। यह आश्चर्य की बात है कि जब प्रबल बुद्धि-सम्पन्न और कुशल वक्ता योरोपियन हिन्दुओं को आकर यह कहे कि परम ज्ञान की कुञ्जी तुम्हारे पास है और सदा से तुम्हारे पास ही रहे, कि तुम्हारे देवता, तुम्हारे दर्शन, तुम्हारी नैतिकता पश्चिम के मुकाबले ऊँचे धरातल पर हैं तब भी हिन्दू अपनी सभ्यता को उपेक्षित कर रहे हों।

सभी बड़े पदों के लिए भारत के अच्छे बुद्धिमान व्यक्तियों को अलग हटा दिए जाने से देश में कटुता उत्पन्न हुई। लार्ड कर्ज़न की भारत-विरोधी नीति से देश में होने वाले असन्तोष में और भी वृद्धि हुई। उसके अनुसार, "ऊँचे से ऊँचे सरकारी ग़ैर फौजी पद एक सामान्य नियम के अनुसार, अंग्रेजों के द्वारा ही ग्रहण किए जाने चाहिएँ।" उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि केवल अंग्रेज ही अपने जन्म तथा प्रशिक्षण के द्वारा भारत पर शासन करने योग्य हैं, भारतीय नहीं। उसके अनुसार भगवान् ने अंग्रेजों को भारत पर शासन के लिए चुना है तथा भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करना भगवान् की इच्छा के विरुद्ध है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शासन करने की यह दैवी नीति भार-

तीयों को सहन नहीं थी, जो स्वयं अपने को शासन करने के अधिकार की माँग करना सीख रहे थे।

लार्ड कर्ज़न एक पक्का नौकरशाही मनोवृत्ति का व्यक्ति था तथा वह योग्यता पर सबसे अधिक बल देता था। उसे भारतीयों की भावनाओं के साथ किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं थी। वास्तव में उसने उनकी पूर्ण रूप से उपेक्षा की। उसने लोगों की प्रतिक्रियाओं से उपेक्षित रहते हुए कार्य किया। उसने प्रशासन को एक मशीन समझा तथा उसने मशीन की योग्यता के हितों में ही कार्य किया, यद्यपि लोगों पर मशीन का प्रभाव पड़ता था।

१८९९ में उसने प्रसिद्ध कलकत्ता निगम अधिनियम स्वीकृत किया, जिसके द्वारा कलकत्ता निगम को पूर्णरूप से सरकारी रूप दे दिया गया। कलकत्ता निगम के सदस्यों की कुल संख्या ७५ से घटाकर ५० कर दी गई। जो २५ सदस्य कम किए गए वे कलकत्ता के लोगों के प्रतिनिधि थे। इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि निगम में यूरोपीय बहुमत हो गया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस अधिनियम की निन्दा की गई।

१९०४ में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम स्वीकृत हुआ। इस कानून से सिण्डीकेट, सीनेट तथा फैकल्टियों के सदस्यों की संख्या इसलिए घटा दी गई जिससे यूरोपियनों को महत्त्व दिया जा सके। इस कानून का परिणाम यह हुआ कि भारतीय विश्वविद्यालय संसार भर के विश्वविद्यालयों में सबसे अधिक सरकारी विश्वविद्यालय हो गए। विश्वविद्यालयों में व्यवहार रूप में कोई स्वतन्त्रता नहीं रह गई थी। भारतीय अनुभव करते थे कि कर्ज़न इस देश में विश्वविद्यालय की पद्धति पर आघात करना चाहता था।

१९०४ में प्रसिद्ध सरकारी गोपनीयता वाला अधिनियम (Official Secrets Act) स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम ने सरकार के अधिकारों में वृद्धि कर दी। "विद्रोह" शब्द की परिभाषा विस्तृत कर दी गई। १८८९ तथा १८९८ के सरकारी गोपनीयता के अधिनियम केवल फौजी गोपनीयता के प्रकट करने से सम्बन्धित थ। १९०४ के अधिनियम के द्वारा नागरिक मामलों के उन सरकारी रहस्यों तथा समाचार-पत्रों की आलोचना के सम्बन्ध में भी कार्रवाई की जा सकती थी, जो सरकार को सन्देह तथा घृणा के योग्य सम्भावित कर सकते थे।

लोगों की प्रतिक्रिया के प्रति उदासीन होकर लार्ड कर्ज़न ने बंगाल को १९०५ में दो भागों में बाँट दिया। इसका सबसे बड़ा सम्भावित उद्देश्य एक मुस्लिम बहुमत वाला प्रान्त बनाना था। बंगाल के लोगों ने विभाजन को "बंगाल की पनपती हुई राष्ट्रीय एकता के लिए धूर्ततापूर्ण आक्रमण" समझा। ए० सी० मज़ूमदार के शब्दों में, "लार्ड कर्ज़न का बंगाल के विभाजन का उद्देश्य न केवल बंगाली प्रशासन को मुक्त करना था, अपितु एक मुस्लिम प्रान्त बनाना था, जहाँ इस्लाम प्रभुत्वशाली हो सके तथा उसके अनुयायी महत्त्वशाली बन सकें।" बंगाल के लोगों ने अनुभव किया कि उनका अपमान किया गया है तथा उनके साथ धोखा किया गया है। बंगाल के विभाजन को रद्द करने के लिए ज़ोरदार आन्दोलन हुआ तथा इसका परिणाम यह हुआ कि इसे १९११ में रद्द कर दिया गया। इस प्रकार राष्ट्रीय भावनाओं को चोट पहुँचाने से भारतीयों के हृदय में देश-प्रेम उमड़ा और "वन्दे मातरम्" नामक राष्ट्रीय गीत के रूप में फूट निकला।

ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों के साथ व्यवहार असन्तोष का एक अन्य कारण था; विशेष रूप से दक्षिणी अफ्रीका में उन्हें एक नीच जाति का मनुष्य समझा जाता था। उनकी गतिविधि पर व्यर्थ के बंधन लगाए जाते थे। उन्हें पगडंडी पर चलने की आज्ञा नहीं थी, न ही उन्हें रेल के प्रथम श्रेणी के डिब्बों में यात्रा करने की आज्ञा थी। न ही वे बिना अनुमति-पत्र के यात्रा कर सकते थे तथा न वे ९ बजे रात्रि के पश्चात् घर से बाहर निकल सकते थे। ऐसा अनुभव किया गया कि भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार भारत की पराधीनता के कारण किया जा रहा है तथा उस अत्याचार को समाप्त करने का एकमात्र मार्ग यही है कि भारत को स्वतन्त्र करवा दिया जाए। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की भी भारत पर प्रतिक्रिया हुई। १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध में जापान ने रूस को पराजित कर दिया। इसे पूर्व की उन्नति का एक चिह्न समझा गया। भारतीयों को उस घटना से प्रेरणा मिल सकती थी। यदि एक यूरोपीय जाति को एशिया की शक्ति से पराजित किया जा सकता था, तो यह भी सम्भव था कि अंग्रेजों को भारत से बाहर निकाला जा सकता था। इसी प्रकार का अर्थ १८९६ के एडोवा के युद्ध से निकाला गया, जिसमें एबिसीनिया ने इटली को पराजित कर दिया था। यहाँ उग्रतावादियों के साधनों का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है। ये साधन थे—बहिष्कार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा। बहिष्कार मुख्य रूप से विदेशी माल का किया जाता था। इसमें सरकारी नौकरियों, प्रतिष्ठा तथा उपाधियों का बहिष्कार भी सम्मिलित था। बहिष्कार तथा स्वदेशी के आन्दोलनों ने अत्यन्त सफलता प्राप्त की। कलकत्ता के इंग्लिश मैन ने इस प्रकार लिखा––"यह पूर्णरूप से सत्य है कि कलकत्ता के वस्त्र-भण्डार ऐसे वस्त्रों से भरे हैं, जिन्हें बेचा नहीं जा सकता। बहुत सी मारवाड़ी फर्में पूर्णरूप से बरबाद हो चुकी हैं तथा बहुत सी बड़ी-बड़ी अंग्रेज फर्मों को या तो अपने कपड़े की शाखाएँ बन्द करनी पड़ीं अथवा उन्हें बहुत थोड़ा व्यापार करके सन्तुष्ट होना पड़ा। बहिष्कार के रूप में, राज्य के शत्रुओं को देश में ब्रिटिश हितों को हानि पहुँचाने का अत्यन्त प्रभावशाली शस्त्र प्राप्त हुआ।" लाला लाजपतराय ने इस प्रकार लिखा, "हम सरकारी भवन से अपने मुखों को मोड़ना चाहते हैं तथा उन्हें जनता की कुटियाओं की ओर परिवर्त्तित करना चाहते हैं। हम अपने मुख को उस सीमा तक बन्द करना चाहते हैं जहाँ तक सरकार के प्रति अपील का सम्बन्ध है तथा अपने मुख को खोलना चाहते हैं जिससे हम अपनी जनता से नई प्रार्थना कर सकें। यह मनोविज्ञान है, यह धर्म-शास्त्र है, तथा यह बहिष्कार आन्दोलन का आध्यात्मिक महत्त्व है।" उक्त लेखक ने इस प्रकार घोषणा की, "एक अंग्रेज माँगने के समान किसी वस्तु को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखता और न ही उसे पसन्द करता है। मेरे विचार में एक भिखारी घृणा के योग्य है। इसलिये हमारा अंग्रेज के प्रति यह कर्त्तव्य है कि अब हम भिखारी नहीं हैं।" इसी प्रकार का विचार श्री बालगंगाधर तिलक ने इन शब्दों में प्रकट किया—"हमारा उद्देश्य आत्म-विश्वास है, भिक्षावृत्ति नहीं।"

श्री अरविन्द घोष ने घोषणा की कि, "राष्ट्रीयता, एक धर्म है, जो भगवान् से आता है।" देसाई के कथनानुसार, "उग्रतावादी नेता हिन्दुओं के वैदिक अतीत, अशोक तथा चन्द्रगुप्त के महत्त्वशाली शासन-काल को, राणा प्रताप तथा शिवाजी के वीरतापूर्ण कार्यों, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई तथा १८५७ के नेताओं के देश-प्रेमपूर्ण कार्य की

स्मृतियों को ताजा करते हैं।" दुर्गा, काली, भवानी तथा अन्य हिन्दू देवता और देवियों का पुनः प्रतिष्ठापन किया गया तथा ऐसा विश्वास किया गया कि केवल वे ही ऐसी प्रेरणा दे सकते हैं जो देश के बन्धन-मुक्त होने के लिये आवश्यक है। अरविन्द घोष के कथनानुसार, "हमारे सभी आन्दोलनों में स्वतन्त्रता जीवन का लक्ष्य है तथा एकमात्र हिन्दुत्व ही हमारी आकाँक्षा की पूर्त्ति कर सकता है।"

बी० सी० पाल ने राष्ट्र के दलों को इस प्रकार संगठित करने की बात कही जिससे कोई भी शक्ति जो हमारे मुकाबले में आये हमारी इच्छा के सामने दबने को मजबूर हो जाए। आगे आपने कहा कि अगर सरकार आज मुझसे कहे कि यह लो स्वराज्य तो मैं कहूँगा कि मेहरबानी के लिये धन्यवाद। पर मैं ऐसी चीज नहीं लेना चाहता जो मैंने अपने हाथों से प्राप्त न की हो। बायकाट आन्दोलन के बारे में बी० सी० पाल ने कहा था, "हो सकता है कि आपको यहाँ हाई कोर्ट की जजी मिल जाए या आप लेजिस्लेटिव कौंसिल के मेम्बर हो जाएँ, पर शायद शासक परिषद् के सदस्य भी बन जाएँ। आप सिविल सर्विस में भारतीयों की अधिक संख्या चाहते हैं। चाहे सारी सिविल सर्विस भारतीय हो जाए, पर सिविल सर्विस वालों को तो सरकार का आदेश पालन करना है। यूरोपियनों की जगह हिन्दुस्तानी कार्यकर्त्ताओं के आ जाने से देश में स्वराज्य नहीं आ जाएगा। वे कहते हैं कि क्या आप सारे सरकारी दफ्तरों का बायकाट कर सकते हैं। किसने कहा है कि हम उनका बायकाट करना चाहते हैं। जो कुछ हम कर सकते हैं वह यह है—हम सरकार को नौकरी करने वाले आदमी बिल्कुल न दें तो हम सरकार को असम्भव बना सकते हैं। प्रशासन को कई तरह से असम्भव बनाया जा सकता है।"

देश का तूफानी दौरा करते हुए तिलक ने कहा कि नरम दली लोग देश को अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँचा सकते और लोगों को देश की आज़ादी के लिये गरम दल का भरोसा करना चाहिए। हर साल प्रार्थना के प्रस्ताव को दोहरा देने से कोई नतीजा नहीं निकलेगा। इसका इलाज प्रार्थना करना नहीं, बायकाट करना है। आपने कहा था—"हमारे पास हथियार नहीं हैं और हमें हथियारों की जरूरत भी नहीं है। हमारा बायकाट ही जबर्दस्त राजनैतिक हथियार है। यह सारा शासन मुट्ठी भर अंग्रेज हमारी सहायता से ही करते हैं। हम लोग छोटी-छोटी नौकरियों पर हैं। हम विदेशी सरकार के हाथों में क्लर्कों के रूप में स्वयं अपने ऊपर अत्याचार कराने के साधन हैं और सरकार अपनी ताकत से हम पर शासन नहीं कर रही, बल्कि इस तथ्य के प्रति हमें अन्धा रख कर हम पर शासन कर रही है। हर अंग्रेज जानता है कि वे इस देश में मुट्ठी भर लोग हैं और उनमें से हर आदमी हमें बेवकूफ बना कर यह विश्वास कराता है कि तुम कमजोर हो और वे ताकतवर हैं। नई पार्टी यही चाहती है कि आप इस बात को महसूस करें कि आपका भविष्य आपके अपने हाथों में है।"

सूरत अधिवेशन के बाद तिलक को चैन नहीं मिला। उन्होंने अकेले ही चारों ओर संघर्ष शुरू कर दिया और बम्बई प्रांत के कोने-कोने में देश-भक्ति की आग लगा दी। उन्होंने तूफानी दौरे किए और अनेक राष्ट्रीय कार्यों के लिये बहुत-सा धन जमा किया। आपने लोगों से कहा कि स्वराज्य के लिये काम करो और कष्ट उठाने के लिये तैयार हो जाओ, क्योंकि कष्ट उठाने से ही स्वराज्य आएगा। एक सभा में उन्होंने कहा था, "हम

स्वराज्य की माँग कर रहे हैं, और इसलिये शिवाजी उत्सव मनाना हमारे लिये सबसे अधिक उपयुक्त है। अगर शिवाजी दो सौ साल पहले स्वराज्य स्थापित कर सकते थे तो हम भी किसी दिन इसे प्राप्त कर सकते हैं। स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। नरम दल वालों की तुलना शिवाजी के पिता शाह जी से की जा सकती है जो सदा अपने बेटे को दक्खिन के ताकतवर मुसलमान शासक के खिलाफ हथियार न उठाने की सलाह दिया करते थे। तब शिवाजी ने, जिसकी तुलना आज गरम दल वालों से की जा सकती है, घटनाचक्र की दिशा ही बदल दी। हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं और उसे तभी बना सकते हैं जब हम उसे बनाने का पक्का इरादा कर लें। स्वराज्य हमसे बहुत दूर नहीं है। यह उसी क्षण हमारे पास आ जाएगा जिस क्षण हम अपने पाँवों पर खड़ा होना सीख लेंगे।'' इन सभाओं में उनका नारा था, "स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है। मैं इसे लेकर रहूँगा।" (Swaraj is my birthright; I will have it).

जैसी कि आशा थी, भारत सरकार ने उग्र विचारधारा के विकास को सन्देह तथा खतरे से भरा हुआ अनुभव किया। उग्र विचारधारा के समर्थकों के दमन के लिये कोई प्रयत्न शेष न रखा गया। उन्हें गिरफ्तार तथा बन्दी किया गया। भारतीय दण्ड संहिता में १२४ (अ) तथा १५३ (अ) धाराएँ जोड़ी गईं, जिससे स्थिति का मुकाबला किया जा सके। एक अन्य कानून के बल पर अधिकारियों को अधिकार दिया गया कि वे ऐसी राजनैतिक संस्थाओं पर रोक लगा दें, जिन पर संदिग्ध गतिविधियों का सन्देह किया जा सकता था तथा राजनैतिक अपराधियों पर संक्षिप्त मुकद्दमे की कार्रवाई पूर्ण करें। १९०८ तथा १९१० में भारतीय समाचार-पत्रों को कुचलने के लिये दो कानून स्वीकार किये गये। १९०७ में लार्ड मिण्टो ने सभा के सम्बन्ध में नियम सम्बन्धी एक अध्यादेश जारी किया, जिससे सार्वजनिक सभाएँ करने के जनता के अधिकार को सीमित कर दिया गया।

१९१९ के भारतीय कौंसिल अधिनियम के स्वीकृत होने तथा तिलक व श्रीमती ऐनी बेसेंट के द्वारा स्वशासन आन्दोलन के प्रारम्भ करने के अन्तरिम समय में कांग्रेस तथा भारत सरकार के मध्य में बहुत कटुता नहीं थी। ऐसी स्थिति के बहुत से कारण थे। उग्र विचार वाले लोग राजनैतिक क्षेत्र से अलग थे। नरम दल वालों का कांग्रेस पर अधिकार था। लार्ड हार्डिंग ने कांग्रेस के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नीति का अनुसरण किया। उसने भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं के सम्बन्ध में अपनी सहानुभूति की भावनाएँ प्रकट कीं। दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार के सम्बन्ध में उसने उनके समान सहानुभूति प्रकट की। इसके शासन काल में ही बंगाल के विभाजन को रद्द किया गया। भारतीय देश-प्रेमियों ने इसकी माँग की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस ने समझौते की नीति अपनाई। जार्ज पञ्चम की भारत-यात्रा तथा १९११ में दिल्ली दरबार किये जाने के सम्बन्ध में श्री अम्बिका चरण मजूमदार ने घोषणा की, "प्रत्येक हृदय ब्रिटिश सम्राट् के प्रति आदर तथा भक्ति से ओत-प्रोत है, तथा ब्रिटिश राजनीतिज्ञता के प्रति उसके पुनः स्थापित हो रहे विश्वास तथा कृतज्ञता से यह भरपूर हो रहा है। हममें से कुछ लोग तो कभी भी निराश नहीं हुए, यहाँ तक कि हमारी परीक्षा तथा कठिनाई के दिनों में भी हमारी उस आशा तथा हमारे उस विश्वास में कमी नहीं आई, जिसके द्वारा ब्रिटिश न्याय की रक्षा तथा उसकी अन्तिम सफलता में हमारा विश्वास नहीं डगमगाया।" जब

मद्रास के गवर्नर कांग्रेस के पण्डाल में पहुँचे तब सम्पूर्ण उपस्थित जन-समुदाय ने गवर्नर के आगमन पर तालियों से उनका स्वागत किया तथा एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसमें ब्रिटिश राज्य के प्रति निष्ठा की भावना प्रकट की गई।

जुलाई १६०६ में पूना में दिये गये अपने भाषण में गोखले ने दो कारणों से भारत में ब्रिटिश सरकार के साथ पूरा सहयोग करने के लिये कहा—"एक तो यह कि स्थिति की कठिनाइयों के देखते हुए ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान में अच्छा काम किया है और दूसरी बात यह कि ब्रिटिश शासन का कोई और विकल्प नहीं है और बहुत समय तक हो भी नहीं सकता। वे दो दिशाओं में चल सकते हैं; एक तो जातिमूलक भेद-भाव अर्थात् हिन्दुस्तानी और अंग्रेज के भेद को दूर करें और दूसरे, साम्राज्य के अन्य भागों में प्रचलित शासन के रूप की ओर बढ़ें। इस दूसरे आदर्श के लिये भारतीय जनता को अपने आपको योग्य बनाना होगा क्योंकि यह सारा सवाल चरित्र और सामर्थ्य पर निर्भर है और भारतवासियों को यह महसूस करना चाहिए कि हमारी असली कठिनाई हमारे ही कारण है।" उसी वर्ष अक्तूबर में बम्बई में छात्रों के सामने आपने कहा था—"राजनैतिक आन्दोलन में छात्रों का सक्रिय भाग लेना सार्वजनिक जीवन के उत्तरदायी रूप और महत्त्व को कम करना है।"

तिलक-माण्डले जेल में कैद रहने के कारण १६०८ से १६१४ तक भारतीय राजनीति से अलग रहे। उनकी गैर-हाजिरी में देश की राजनीति में सुस्ती छाई रही। नरम दल वालों को खुशी थी कि उनका दुश्मन जेल में है पर १६१४ में तिलक की रिहाई के बाद हालत बदलने लगी। तिलक कोई जल्दी नहीं करना चाहते थे। वे नरम दल वालों से समझौता करने को तैयार थे। यह सच है कि गोखले ने तिलक से समझौते की बातचीत शुरू की थी पर फिरोजशाह मेहता ने गोखले के कार्य को नापसन्द किया। परिणाम यह हुआ कि बात-चीत टूट गई। फिरोजशाह मेहता ने काँग्रेस का अगला अधिवेशन बम्बई में कराने का निश्चय किया ताकि उस पर उनका कब्जा बना रहे। एच० पी० मोदी के अनुसार, फिरोजशाह मेहता उन सब कोशिशों को हमेशा के लिये खत्म कर देना चाहते थे, जो समझौते के लिये कुछ वर्षों से चल रही थीं क्योंकि समझौते को वे शरारतपूर्ण समझते थे और उन्हें विश्वास था कि उनके व्यक्तित्व और उनके बम्बई में भारी प्रभाव से उनको विरोधियों पर विजय मिल जायगी। इसलिये उन्होंने १६१५ की काँग्रेस अध्यक्षता के लिये वायसराय की शासक परिषद् के भूतपूर्व सदस्य सर सत्येन्द्र सिन्हा को (जो बाद में रायपुर के लार्ड सिन्हा हुए) चुना। पर भाग्य मेहता के खिलाफ हो गया और काँग्रेस अधिवेशन से कुछ सप्ताह पहले उनकी मृत्यु हो गई। भाग्य नरम दल के भी विरुद्ध हो गया और उसी वर्ष इसके एक और ऊँचे नेता गोखले भी स्वर्ग सिधार गये। काँग्रेस अब नेता-विहीन रह गई। उमर अधिक हो जाने से दीनशा वाचा और चन्दावरकर असमर्थ हो गये थे, और जैसा कि डाक्टर पट्टाभिसीतारमैया ने अपनी पुस्तक 'काँग्रेस का इतिहास' में लिखा है—"सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी नये जमाने में फिट नहीं बैठते थे। मदन मोहन मालवीय नरम दलीय धारा में काँग्रेस का नेतृत्व करने की स्थिति में नहीं थे, न उनमें बलपूर्वक आगे बढ़ते जाने का गुण था।"

काँग्रेस का अधिवेशन १६१५ में बम्बई में हुआ। सिन्हा का भाषण भारत के प्रगतिशील लोगों के लिए आघात बनकर आया।

आपने कहा था—"अगर अंग्रेज हमें तुरन्त स्वराज्य देने को तैयार हों तो भी मुझे इस बात में सन्देह है कि यह वरदान लेने योग्य भी होगा, क्योंकि यह राजनीति की मोटी बात है कि व्यक्तियों की तरह राष्ट्रों को भी धीरे-धीरे आजादी के योग्य बनाना पड़ता है और राजनैतिक संस्थाओं में इतनी हानिकारक और कोई चीज नहीं जितनी अपरिपक्वता। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वतन्त्र भारत का यह अर्थ नहीं है कि फिर प्राचीन भारत आ जाए।" बम्बई कांग्रेस ने गरम दल वालों का कांग्रेस में फिर शामिल होने का अधिकार स्वीकार किया और कांग्रेस के संविधान में उचित संशोधन किए गये। यद्यपि तिलक कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में उपस्थित नहीं थे, तो भी श्रीमती ऐनी बेसेंट के होम रूल सम्बन्धी प्रस्तावों से काफी गर्मी पैदा हो गई थी। १९१५ में उनके भाषणों और लेखों से नरम दल वालों को गहरा धक्का लगा था। कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन के बाद गरम-दली राजनीतिज्ञों का उत्कर्ष और नरम दल वालों के प्रभाव का ह्रास होने लगा था। नरमदलियों के किले को सफलतापूर्वक ढा दिया गया था। स्वराज्य-सम्बन्धी प्रस्ताव का यह अर्थ लगाया गया कि कांग्रेस गरमदली संगठन बन गई है। तिलक और उनके साथियों के लिये अब रास्ता साफ हो गया था।

होम रूल आन्दोलन (Home Rule Movement)—किन्तु यह स्थिति देर तक जारी न रह सकी। श्रीमती ऐनी बेसेंट तथा बालगंगाधर तिलक ने १९१६ में होमरूल आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन के विषय में कुछ भी मौलिक तथा क्रान्तिकारी बात नहीं थी। ऐनी बेसेंट ब्रिटिश साम्राज्य की शत्रु नहीं थी। वह केवल भारतीयों को निद्रा से जगाना तथा झिंझोड़ना चाहती थी। उसने कहा, "मैं भारत की लम्बी बन्दूक हूँ, जो सब सोने वालों को जगाए जिससे वे जाग सकें तथा अपनी मातृभूमि के लिए कार्य कर सकें।" उसकी योजना केवल राष्ट्रीय उग्रवादियों को क्रान्तिकारियों के साथ समझौतापूर्ण सन्धि से अलग रखने के लिए, साम्राज्यान्तर्गत स्थिति में उन्हें सन्तुष्ट बनाए रखने के लिए तथा संयुक्त कांग्रेस में उन्हें नरम दल वालों के साथ एक ही पंक्ति में लाने के लिए थी।" उन्होंने स्वयं इस प्रकार लिखा, "राजनैतिक सुधार में हमारा उद्देश्य देहाती परिषदों से जिला बोर्डों तथा नगरपालिका बोर्डों और प्रान्तीय विधान सभाओं के द्वारा पूर्ण स्थानीय सरकार का निर्माण करना है। इसके अधिकार स्वयं शासन करने वाले उपनिवेशों की विधान सभाओं के समान होंगे, चाहे उन्हें किसी नाम से भी पुकारा जाए। इनके साथ ही साम्राज्य की संसद् में भी भारत का सीधा प्रतिनिधित्व होगा, जब उस संस्था में साम्राज्य के स्वयं शासन करने वाले राज्य होंगे।"

श्रीमती ऐनी बेसेंट ने यह स्पष्ट कर दिया कि अपना राज्य भारतीयों का जन्मसिद्ध अधिकार है तथा इस देश के लोग ब्रिटिश साम्राज्य के लिए अपनी सेवाओं के उपलक्ष में तथा ब्रिटिश राजगद्दी के लिए आज्ञाकारिता के पुरस्कार के रूप में इसे लेने को तैयार न थे। उसने इस प्रकार लिखा, "भारत अपने पुत्रों के रुधिर से तथा अपनी पुत्रियों के गर्वपूर्ण आँसुओं से इतनी अधिक स्वतन्त्रता तथा इतने अधिक अधिकारों के बदले में सौदा नहीं करना चाहता। भारत एक जाति के रूप में इस बात का दावा करता है कि उसे साम्राज्य के लोगों में न्याय का अधिकार प्रदान किया जाए। भारत ने इसके लिए युद्ध से पूर्व माँग की। भारत ने इसके लिए युद्ध के दिनों में माँग की, भारत इसके लिए युद्ध के

पश्चात् माँग करेगा, किन्तु पुरस्कार के रूप में नहीं, अपितु एक अधिकार के रूप में वह इसके लिए कहता है।"

होम रूल आन्दोलन १९१७ में अपने शिखर पर पहुँचा। उस वर्ष भारत सरकार ने आन्दोलन के विरुद्ध कठोर कार्रवाई की। श्रीमती ऐनी बेसेंट को बन्दी बना लिया गया। उनकी मुक्ति के लिए बहुत आन्दोलन हुआ। तिलक ने निष्क्रिय संघर्ष आरम्भ करने की धमकी दी। भारत का सम्पूर्ण वातावरण उत्साह से भर उठा। किन्तु इसी समय अगस्त, १९१७ में राज्य सचिव ने प्रसिद्ध घोषणा की। इस घोषणा द्वारा भारतीयों को क्रमशः उत्तरदायी सरकार देने का वचन दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे होम रूल का आन्दोलन ठप्प पड़ गया। ऐनी बेसेंट १९१७ में काँग्रेस की प्रधाना निर्वाचित हुईं। उसी वर्ष मि० माण्टेग्यू भारत आए तथा उन्होंने भारत का भ्रमण किया और जनता के प्रतिनिधियों से भेंट की। संयुक्त विवरण १९१८ में प्रकाशित हुआ तथा १९१९ में भारत सरकार का अधिनियम स्वीकृत हुआ।

आतंकवादी आन्दोलन (The Terrorist Movement)--१९ वीं सदी के अन्त में और बीसवीं सदी के शुरू में भारत में आतंकवादी आन्दोलन चला। आतंकवाद उग्र राष्ट्रवाद की एक अवस्था थी, पर यह तिलक-पक्षीय राजनैतिक उग्रतावाद (extremism) से बिलकुल भिन्न थी। क्रान्तिकारी लोग अपीलों, प्रेरणाओं और शान्तिपूर्ण संघर्षों को नहीं मानते थे। उन्हें यह निश्चय था कि पशुबल से स्थापित किये गये साम्राज्यवाद को हिंसा के बिना उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं। ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी और दमन की नीति ने उन्हें निराश कर दिया था। वे प्रशासन और उसके हिन्दुस्तानी सहायकों को पस्त-हिम्मत करने के लिए हिंसात्मक कार्य में विश्वास रखते थे। वे अपने आन्दोलन को चलाने के लिए सशस्त्र हमले करने और डकैतियाँ डालने को कोई बुरी बात नहीं समझते थे।

क्रान्तिकारी राष्ट्रवादियों का सबसे पहला केन्द्र महाराष्ट्र था। १८९९ में जनता की घृणा के पात्र श्री रैंड और रिहर्स्ट की हत्या की गई। प्रतीत होता है कि श्यामजी कृष्ण वर्मा का रैंड की हत्या से कुछ सम्बन्ध था पर वह भाग कर लन्दन पहुँच गया। वह १९०५ तक चुपचाप रहा और इसके बाद उसने लन्दन में इंडियन होम रूल सोसायटी को जन्म दिया। उसने *'इण्डियन सोशिओलोजिस्ट'* नाम का एक मासिक पत्र भी शुरू किया। पैरिस के एस० आर० राणा की मदद से एक हजार रुपये प्रत्येक की छः लैक्चररशिप और दो हजार रुपये प्रत्येक की तीन घूमने-फिरने की छात्रवृत्तियाँ भारतीय छात्रों के लिए पेश की गईं जिनसे वे बाहर जाकर राष्ट्र-सेवा के काम में अपने आपको शिक्षित करें। इस प्रकार लन्दन पहुँचे विद्यार्थियों में एक विनायक दामोदर सावरकर थे। श्यामजी कृष्णवर्मा के लन्दन से बच भागने के बाद विनायक सावरकर इण्डिया हाउस में क्रान्तिकारी दल के नेता हो गये। १९०९ में उन्होंने चतुर्भुज अमीन के सामान के साथ, जो इण्डिया हाउस में रसोइये के रूप में नौकर था, एक फर्जी तली वाले बक्स में छिपाकर बीस ब्राउनिंग आटोमैटिक पिस्तौल तथा गोलियाँ बम्बई भेजीं। ये पिस्तौल अभिनव भारत सोसाइटी के सदस्यों के लिए थीं, जो विनायक सावरकर के भाई गणेश सावरकर के नेतृत्व में काम कर रही थी। ये पिस्तौलें भारत पहुँचने से पहले ही गणेश सावरकर को सरकार के

खिलाफ युद्ध छेड़ने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया और आजीवन निर्वासन की सज़ा दे दी गई। अभिनव भारत सोसाइटी के सदस्यों ने नासिक के ज़िला मैजिस्ट्रेट जैक्सन को, जिसने गणेश सावरकर पर शुरू में मुकद्दमा सुना था, मार डालने का फैसला किया और उसे २१ दिसम्बर, १९०९ को सचमुच गोली से उड़ा दिया। जैक्सन की हत्या के आरोप में तीन ब्राह्मणों को फाँसी दे दी गई। पुलिस ने नासिक षड्यन्त्र का पता लगाया। उस सम्बन्ध में ३८ व्यक्तियों पर मुकद्दमा चलाया गया जिनमें २७ को विभिन्न अवधियों के लिए कैद की सजा दे दी गई। नासिक षड्यन्त्र नासिक की अभिनव भारत सोसाइटी का काम था। सोसाइटी की शाखाएँ ग्वालियर और सतारा में भी थीं।

नवम्बर १९०९ में उस बग्घी को उड़ाने की कोशिश की गई जिसमें बैठकर लार्ड और लेडी मिण्टो अहमदाबाद से गुजर रहे थे। दो नारियल के बम फेंके गये पर वे समय पर नहीं फटे।

बंगाल में श्री अरविन्द के भाई बारेन्द्र कुमार घोष और स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त ने अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया। शुरू में बारेन्द्रकुमार घोष ने राजनैतिक प्रचारक के रूप में आजादी के पक्ष में प्रचार करने की कोशिश की पर बाद में उसे यह निश्चय हो गया कि मेरा राजनैतिक प्रचार काफी नहीं। उन्होंने 'युगान्तर' अखबार शुरू किया, और इसके द्वारा जनता को राजनैतिक और धार्मिक शिक्षा देनी शुरू की। एक लेख में उन्होंने अपना क्रान्तिकारी विचार इन शब्दों में पेश किया था—"गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की उन्नति होगी तब ही साधुओं की रक्षा और पापियों के नाश के लिये भगवान् अवतार ग्रहण करेंगे।" आगे आपने लिखा था—"इस समय धर्म की हानि और अधर्म का उत्थान हो रहा है। थोड़े से विदेशी लुटेरे भारत का धन लूटकर करोड़ों भारतवासियों को बर्बाद कर रहे हैं। उनकी गुलामी की चक्की में असंख्य लोगों के शरीर पिस रहे हैं। भारतवासियो, डरो मत। ईश्वर चुप नहीं बैठा रहेगा। वह अपना वचन पूरा करेगा। भगवान् के वचन पर दृढ़ विश्वास करते हुए उसकी शक्ति का आह्वान करो। जब मनुष्यों के हृदयों में ईश्वरीय शक्ति की ज्योति चमकती है तब वह असम्भव कार्य भी कर डालते हैं।"

एक प्रोग्राम बनाया गया जिसमें छः चीजें थीं—(१) भारत के शिक्षित लोगों में दासता के विरुद्ध घृणा पैदा करने के लिये अखबारों में प्रबल प्रचार किया जाए। (२) बेकारी और भुखमरी का भय हिन्दुस्तानियों के दिल से निकाला जाए, और आजादी तथा मातृभूमि का प्रेम उनमें पैदा किया जाए। वह कार्य हृदयस्पर्शी संगीत और नाटकों द्वारा किया जाए जिनमें वीरों के जीवनों और आजादी के लिये किए गये उनके महान् कार्यों की प्रशंसा हो। (३) सरकार को वंदेमातरम् के जलूसों और स्वदेशी सम्मेलनों तथा बायकाट के जरिये काम में लगाए रक्खा जाए। (४) नौजवानों को भर्ती करके उनकी छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बना दी जाएँ, और उन्हें कसरत करायी जाए तथा शस्त्रों का प्रयोग बताया जाए और नियमों तथा नेताओं की आज्ञाओं के पूरी तरह पालन करने की शिक्षा दी जाय। (५) हथियार बनाए जाएँ, विदेशों से खरीदे जाएँ और चोरी से देश में लाए जाएँ। (६) आतंकवादी आन्दोलन के लिये छापे और डकैतियाँ मारकर धन हासिल किया जाए। उनका यह विश्वास था कि अंग्रेजों का कानून पशुबल पर कायम है और अपने को आजाद

करने के लिये यदि हमें भी पशुबल का प्रयोग करना पड़े तो यह ठीक ही है।" बंगाल के नौजवानों से इन शब्दों में अपील की गई : "क्या शक्ति के उपासक बंगाली रक्तपात से हिचकिचायेंगे ? इस देश में अंग्रेजों की संख्या डेढ़ लाख से अधिक नहीं है, और हर जिले में कितने थोड़े अफसर हैं। यदि आपका इरादा पक्का हो तो एक ही दिन में ब्रिटिश हुकूमत खत्म कर सकते हैं। अपना जीवन दे दो और उससे पहले एक जीवन खत्म कर दो। यदि आप बिना खून किये स्वतन्त्रता की वेदी पर अपना बलिदान कर देंगे तो देवी की पूजा पूरी नहीं होगी।"

बी० के० घोष और बी० एन० दत्त और उनके साथियों के काम का यह नतीजा हुआ कि कई क्रान्तिकारी समितियाँ बन गईं, जिनमें से एक थी अनुशीलन समिति या संस्कृति और शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिये बनाई गई सोसाइटी। समिति की शाखाएँ कलकत्ता और ढाका में थीं और वह इटली और रूस की गुप्त संस्थाओं के नमूने पर बनी हुई थी। इसने पूर्ण आतंकवादी कार्यक्रम शुरू किया।

६ दिसम्बर, १९०७ को उस गाड़ी को बम से उड़ाने की कोशिश की गई जिसमें लेफ्टिनेंट-गवर्नर सफर कर रहा था। २३ दिसम्बर, १९०७ को श्री ऐलन को जो पहले ढाका के मजिस्ट्रेट थे, पीठ में गोली मारी गई, पर वह चोट घातक सिद्ध नहीं हुई। ३० अप्रैल, १९०२ को श्रीमती केनेडी और मिस केनेडी की हत्या की गई। असलियत यह थी कि आतंकवादी किंग्सफोर्ड से नफरत करते थे क्योंकि वह स्वदेशी कार्यकर्ताओं को भारी दण्ड देता था। सम्मानित नौजवानों को शारीरिक दण्ड देने से विशेष रूप से असन्तोष फैला था। १५ साल के लड़के सुशील सेन को इसलिए खुले आम कोड़े लगाए गये कि वह पुलिस के साथ हुए झगड़े में खड़ा था। आतंकवादियों ने किंग्सफोर्ड को मारने की ठानी। उसे मारने के लिये एक अच्छी तरकीब सोची गई पर वह सफल नहीं हुई। उन्होंने श्री किंग्सफोर्ड से ली हुई एक पुस्तक के पन्नों का बीच का भाग काट दिया और इस तरह बनी जगह में एक बम रख दिया। यह सोचा गया कि जब किंग्सफोर्ड किताब खोलेगा तब बम फट जायेगा और वह मर जायेगा पर किंग्सफोर्ड को उस किताब की कोई जरूरत नहीं पड़ी और उसने वह पुस्तक कभी नहीं खोली। इसलिए यह योजना सफल न हो सकी। अब खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी को किंग्सफोर्ड की हत्या करने का काम सौंपा गया। जब वे किंग्सफोर्ड के बंगले की ओर ज़ा रहे थे, तब उन्होंने एक बग्घी आती हुई देखी। उन्होंने सोचा कि बग्घी में किंग्सफोर्ड होगा और उसमें बम फेंक दिया। दुर्भाग्य से उसमें किंग्सफोर्ड नहीं था बल्कि श्रीमती केनेडी और मिस केनेडी थीं, जो मारी गईं। प्रफुल्ल चाकी ने अपने आपको गोली से उड़ा दिया पर खुदीराम बोस पकड़ा गया और उस पर मुकदमा चलाया गया और उसे फाँसी दे दी गई। शिरोल के अनुसार, "बंगाल के राष्ट्रवादियों के लिये वह शहीद और अनुकरणीय वीर हो गया। विद्यार्थियों ने और अन्य बहुत से लोगों ने उसके लिये शोक मनाया और उसकी स्मृति में स्कूल दो-तीन दिन बन्द रहे। उसके चित्र बहुत अधिक बिके, और धीरे-धीरे नौजवान लोग ऐसी धोतियाँ पहनने लगे, जिनकी किनारी में खुदीराम बोस का नाम खुदा हुआ होता था।"

सरकार ने कलकत्ता में एक षड्यन्त्र का पता लगाया और कुछ बम, डायनामाइट, कारतूस और चिट्ठियाँ पकड़ीं, जिससे ३९ आदमी गिरफ्तार किये गये जिनमें अरविन्द

घोष, उनका भाई बी० के० घोष, हेमचन्द्र दास और नरेन्द्र गोसाईं भी थे। कनाई लाल दत्त और एस० एन० बोस पर अलग-अलग मुकदमा चलाया गया और उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया। शेष ३६ अभियुक्तों को भारी सजाएँ दी गईं। नरेन्द्र गोसाईं सुल्तानी गवाह बन गया पर उसे उसके साथियों ने गोली से उड़ा दिया। नन्दलाल सब-इन्सपैक्टर को, जिसने खुदीराम बोस को गिरफ्तार किया था, मार डाला गया। आशुतोष बिस्वास को जो गोसाईं हत्या केस में और अलीपुर केस में सरकारी वकील था, गोली से उड़ा दिया गया। पुलिस के डिप्टी सुपरिन्टैन्डेन्ट शमसुल आलम को भी, जो अलीपुर केस से सम्बन्धित था, गोली से उड़ा दिया गया। ७ नवम्बर, १९०८ को बंगाल के लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर सर एन्ड्रयू फ्रेजर को गोली से उड़ाने की कोशिश की गई पर कोशिश सफल न हुई। बंगाल के आतंकवादियों ने पुलिस अफसरों, मजिस्ट्रेटों, सरकारी वकीलों, विरोधी गवाहों, गद्दारों, देशद्रोहियों, इकबाली गवाहों——किसी को नहीं छोड़ा। एक-एक करके सबको गोली से उड़ा दिया गया। आतंकवादियों के लिये इसका परिणाम महत्त्वहीन था।

मदनलाल ढींगरा ने, जो उस समय इंग्लैंड में था, भारत में आतंकवादियों को दी गई अमानुषिक सजाओं का विरोध किया और परिणामतः १ जुलाई, १९०९ को सर विलियम कर्ज़न वायली को, जो लन्दन में इण्डिया आफिस में पोलीटिकल ए० डी० सी० था, गोली से उड़ा दिया गया। उसे गिरफ्तार करके फाँसी दे दी गई। विनायक सावरकर को भी गिरफ्तार किया गया और आजीवन निर्वासन की सजा दी गई।

१९०७ में बी० सी० पाल ने मद्रास प्रान्त का दौरा किया और स्वराज्य का नारा बुलन्द किया। उन्हें खुद को अरविन्द घोष के विरुद्ध गवाही देने से इनकार करने के कारण ६ महीने जेल में रखा गया। जब वे रिहा हुए तब उनके दो मद्रासी प्रशंसकों ने उनकी रिहाई की खुशी में एक सार्वजनिक सभा की, स्वराज्य का झण्डा फहराया और प्रत्येक विदेशी चीज़ का बायकाट करने का निश्चय किया गया। उन दोनों को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया जिससे तिनेवेली में दंगा हो गया। सेडीशन कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार, "इसमें सरकार की सत्ता की खुले आम अवहेलना करके बड़े पैमाने पर और जान बूझकर सरकारी सम्पत्ति को नष्ट किया गया। तिनेवेली में सब-रजिस्ट्रार के दफ्तर को छोड़कर और सब सरकारी मकानों पर हमला किया गया। इन मकानों के फर्नीचर और अभिलेखों (Records) को और मकानों के कुछ हिस्सों को आग लगा दी गई। म्यूनिसिपल आफिस जलकर राख हो गया। २७ व्यक्तियों को दंगे में हिस्सा लेने के आरोप में सज़ा दी गई।"

पांडीचेरी भी क्रान्तिकारी कामों का केन्द्र था। एम० पी० तिरूमल आचार्य और वी० वी० एस० अय्यर यहाँ मुख्य कार्यकर्त्ता थे। श्री अय्यर पांडीचेरी में नौजवानों को रिवाल्वर चलाने की शिक्षा देते थे। उनका एक शिष्य वांची अय्यर था जिसने १७ जून, १९११ को तिनेवेली के जिला मजिस्ट्रेट श्री ऐशी को गोली से उड़ाया। उसे भी फाँसी दी गई। उसके साथियों को भी गिरफ्तार किया गया और प्रसिद्ध तिनेवेली षड्यन्त्र केस में फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

कुछ क्रान्तिकारी काम श्यामजी कृष्ण वर्मा, कामा और मेडम कामा तथा एस० आर० राणा ने पेरिस से किया। क्रान्तिकारी काम का एक और केन्द्र अमेरिका के पैसि-

फिक तट पर था। इण्डो-अमेरिकन एसोसियेशन और यंग इण्डिया एसोसियेशन के मुख्य कार्यालय केलीफोर्निया में थे और अमेरिका में अन्य स्थानों पर इनकी शाखाएँ थीं। शिरोल के अनुसार, "इनके कार्यकर्त्ता बंगाल के छात्र हैं जिन्हें आयरिश-अमेरिकन छात्रों का सहयोग मिल रहा है। उन्हें ब्रिटिश भारत से उन लोगों का भी सहयोग मिल रहा है जिन्हें पैसीफिक के ढलान के साथ-साथ हुए एशियाई विरोधी आन्दोलन से बहुत नुकसान हुआ था। और इनमें से कुछ लोग सिख तथा पुराने सैनिक होने के कारण विशेष महत्त्व के हैं क्योंकि उनके द्वारा उन रेजिमेन्टों से जिनमें वे थे या उन वर्गों से जिनसे भारत की सेना का एक बहुत बड़ा हिस्सा भरती किया जाता है, सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। बहुत से राजद्रोहात्मक पर्चे जो तीन साल पहले सैनिकों में बाँटे गए थे, अमेरिका में ही छपे थे।"

बंगाल और पंजाब में १९१३-१४ में क्रान्तिकारी आन्दोलन बड़े उग्र रूप में था। बंगाल में १९१३ में १६ और १९१२ में १९ घटनाएँ हुईं। १९१६ में और भी अधिक घटनाएँ हुईं। पंजाब के कुछ क्रान्तिकारियों ने भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिंग की जान लेने की कोशिश की। दिल्ली षड्यन्त्र केस में अमीरचन्द, अवधबिहारी, बालमुकुन्द और बसन्तकुमार तथा विश्वास को मौत की सजा हुई। कनाडा से सिख लोगों के लौटने से पंजाब में क्रान्तिकारी आन्दोलन को बल मिला।

भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन के ह्रास के बहुत से कारण थे। यह थोड़े से नौजवानों तक सीमित था और इसे जनता का समर्थन प्राप्त न था। आतंकवादी आन्दोलन के कार्य को संचालित करने के लिये कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था। उच्च मध्य वर्ग के नेता इस आन्दोलन से सहानुभूति नहीं रखते थे। सर आशुतोष मुखर्जी और एस० एन० बैनर्जी जैसे नेताओं ने सरकार से आतंकवादियों के खिलाफ सख्त कार्रवाई करने के लिये कहा। भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन का नेतृत्व गाँधीजी के हाथ में आने पर क्रान्तिकारी आन्दोलन धीरे-धीरे खत्म हो गया। गाँधीजी का असहयोग, सविनय अवज्ञा और अहिंसा का तरीका, आतंकवादियों की अपेक्षा लोगों को अधिक अच्छा लगा। पर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी ने सरकार के आतंकवाद का मुकाबला और भी भयंकर आतंकवाद से करने की कोशिश की। सरदार भगतसिंह, जितीन्द्रनाथ दास और चन्द्रशेखर आजाद जैसे क्रान्तिकारियों ने देश के लिये अपना जीवन दे दिया। आतंकवादियों ने १९४२ के विद्रोह, भारतीय नौसेना के विद्रोह और सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज के युद्ध में भी काम किया।

प्रथम महायुद्ध १९१८ में समाप्त हुआ। इस महायुद्ध में भारतीयों ने ब्रिटिश सरकार की धन-जन से सहायता की थी। ब्रिटिश सरकार के युद्ध-प्रयत्नों को बढ़ाने के लिये सभी कुछ किया जा चुका था। युद्ध के दिनों में भारतीयों को ऊँचे मूल्यों, थोड़ी मज़दूरी तथा वस्तुओं की कमी के कारण कष्ट भोगना पड़ा। प्लेग तथा इन्फ्लुएन्ज़ा ने बहुत से प्राण ले लिये। लोगों की स्वतन्त्रता को भारत सुरक्षा नियमों के कारण बहुत सीमित कर दिया गया। भरती तथा युद्ध-निधियों के इकट्ठा करने के सम्बन्ध में अंग्रेज अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता तथा अत्याचार से लोग बहुत तंग थे। इतना सब कुछ कर लेने के पश्चात् भी लोग बिल्कुल प्रसन्न न थे, क्योंकि उन्हें १९१८ की रिपोर्ट से

वास्तव में कुछ भी प्राप्त न हुआ था। श्रीमती ऐनी बेसेंट ने ठीक ही कहा था कि "योजना इंग्लैंड की ओर से अनुदारता की परिचायक थी तथा भारतीयों के द्वारा स्वीकार करने के लिये उचित न थी।" जब भारत इस भावना में से गुज़र रहा था, तब भारत सरकार न सब ओर के विरोध के होते हुए भी कुख्यात रौलेट अधिनियम १९१८ में स्वीकृत किया। इसका परिणाम यह हुआ कि सारे भारत में क्रोध की एक लहर फैल गई तथा नरम दल वालों ने भी अन्य भारतीयों का साथ दिया। यह अधिनियम बहुत कठोर था। इसके द्वारा सरकार को अधिकार प्राप्त हो गए कि वह लोकप्रिय अधिकारों को कुचल सके, बिना वारण्ट के संदिग्ध व्यक्तियों को बन्दी तथा गिरफ़्तार कर सके तथा उन्हें नियमित मुकद्दमे के बिना जेल में डाल सके।

महात्मा गाँधी, जो प्रथम महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार के पूर्ण रूप से वफ़ादार थे, सबसे आगे आए तथा उन्होंने लोगों को अधिनियम के विरुद्ध सत्याग्रह करने के लिये कहा। सम्पूर्ण देश में भारी उत्साह था। हड़तालें सफलतापूर्वक की गई। हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने एक दूसरे को सहयोग दिया, किन्तु महात्मा गाँधी ने एकाएक सत्याग्रह स्थगित कर दिया, क्योंकि दिल्ली में झगड़ा हो गया तथा कुछ अन्य स्थानों पर भी झगड़े हुए। बाद में महात्मा गाँधी को मानना पड़ा कि उन्होंने "भारी भूल" की थी, किन्तु शरारत सफल हो चुकी थी।

जब कि सारे देश में भारत में अंग्रेज नौकरशाही के भारत-विरोधी दृष्टिकोण से सामान्य क्रोध की भावना चल रही थी कुछ अन्य घटनाएँ घटीं। १९२० में तुर्की तथा मित्र राष्ट्रों में सेवरेस की सन्धि हुई। इस सन्धि के द्वारा तुर्की को वास्तव में कष्ट पहुँचा। यह भारत के मुसलमानों के लिए असह्य था। उन्होंने ब्रिटिश सरकार पर युद्ध के दिनों में दिए हुए वचनों को भंग करने का अभियोग लगाया। भारत में दृढ़ खिलाफत आन्दोलन को प्रारम्भ किया गया। इसका उद्देश्य तुर्की साम्राज्य की सुरक्षा करना तथा खिलाफत की सत्ता आध्यात्मिक संस्था से कम के रूप में स्वीकार न करना था। महात्मा गाँधी ने मुसलमानों के हितों को अपने हाथों में लिया। महात्मा गांधी के लिए खिलाफत के प्रश्न से हिन्दुओं और मुसलमानों को संगठित होने का अवसर प्राप्त हुआ। काँग्रेस का एक विशेष अधिवेशन कलकत्ता में तथा एक अन्य अधिवेशन नागपुर में १९२० में हुआ।

असहयोग आन्दोलन (Non-Cooperation Movement)—काँग्रेस ने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में १९२० में असहयोग आन्दोलन शुरू करने का फैसला किया। यह सचमुच एक क्रान्तिकारी कदम था। काँग्रेस ने अब पहली ही बार सक्रिय कार्रवाई अपनाने का निश्चय किया। इस क्रान्तिकारी परिवर्त्तन के बहुत से कारण थे। अब तक महात्मा गाँधी ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता में विश्वास करते थे और उन्होंने पहले महायुद्ध में सरकार को पूरा सहयोग दिया था। अब जलियांवाला बाग काण्ड, पंजाब में मार्शल-ला और हंटर कमेटी की जाँच ने उनका अंग्रेजों के न्याय से विश्वास उठा दिया। उन्होंने यह महसूस किया कि पुराने तरीके छोड़ने होंगे। काँग्रेस से लिबरलों के अलग हो जाने के बाद काँग्रेस पर पूरी तरह से उग्र विचार वालों का कब्जा हो गया और काँग्रेस के लिए क्रान्तिकारी विचार करना सम्भव हो गया। तुर्की और मित्र राष्ट्रों में सेवरेस की जो सन्धि हुई थी, उसकी शर्तें बड़ी कड़ी थीं और भारत के मुसलमान उन्हें नापसन्द करते

थे। भारत के मुसलमानों ने ब्रिटिश सरकार को यह समझाना चाहा था कि वह तुर्की से नरमी बरते पर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें टका-सा जवाब दिया था। देश में अंग्रेजों के खिलाफ बड़ा असन्तोष था। मुसलमानों ने खिलाफत आन्दोलन शुरू किया था। महात्मा गाँधी ने उस आन्दोलन में उनका साथ दिया था। इसलिए महात्मा गाँधी को निश्चय था कि अब मुसलमान कांग्रेस का साथ देंगे। ऐसा सुनहरी मौका खोना ठीक नहीं था। इन परिस्थितियों में महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन छेड़ने का विचार किया।

कलकत्ते में सितम्बर १९२० में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ और महात्मा गाँधी ने स्वयं असहयोग का प्रस्ताव पेश किया। इसका बड़ा विरोध हुआ, खासकर सी० आर० दास, बी० सी० पाल, ऐनी बेसेंट, जिन्ना और मालवीय ने इसका विरोध किया। पर यह प्रस्ताव ८७३ के मुकाबले १८५५ के बहुमत से पास हो गया।

कलकत्ता अधिवेशन के बाद महात्मा गांधी ने लोगों में उत्साह उत्पन्न करने के लिये सारे देश का दौरा किया। जब दिसम्बर १९२० में कांग्रेस का नियमित अधिवेशन हुआ तब असहयोग का प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से पास हो गया। जिन्होंने तीन महीने पहले इसका विरोध किया था, अब उन्होंने इसका समर्थन किया, और इनमें सी० आर० दास, लाला लाजपतराय और मोतीलाल नेहरू थे।

असहयोग का कार्य असहयोग वाले प्रस्ताव में साफ तौर पर बता दिया गया था। इसमें खिताबों और आनरेरी पदों को छोड़ना और स्थानीय निकायों में नामज़दगी वाले पदों से इस्तीफा देना, सरकारी दरबारों में और सरकारी अफसरों द्वारा या उनके सम्मान में किए जाने वाले सरकारी और अर्द्ध-सरकारी उत्सवों में भाग न लेना, बच्चों को स्कूलों से हटा लेना, मामलों को अदालतों में न ले जाना, मेसोपोटामिया के लिये फौज में भरती न होना, छुआछूत को दूर करना आदि बातें थीं। महात्मा गांधी ने कहा कि अगर लोग पूरे मन से इस कार्यक्रम को अपना लें तो एक साल में स्वराज्य मिल जायगा। असहयोगियों के लिये अहिंसा और सत्य इन दो का पालन करना बहुत जरूरी था।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि असहयोग आन्दोलन का भारत की जनता के मन पर असर पड़ा। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने इसे मान लिया। विदेशी वस्तुओं की होली जलाई गई। बहुत से छात्रों ने स्कूल और कालेज छोड़ दिये और कांग्रेस ने काशी विद्यापीठ, बनारस विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, बंगाल नेशनल यूनिवर्सिटी, नेशनल कालेज, लाहौर; जामिया मिलिया, दिल्ली और नेशनल मुस्लिम यूनिवर्सिटी की स्थापना की। सेठ जमनालाल बजाज ने यह घोषणा की कि मैं प्रैक्टिस न करने वाले वकीलों के गुजारे के लिये एक लाख रुपये सालाना दूंगा। कांग्रेस ने चालीस लाख स्वयं-सेवक भरती किये। बीस हजार चर्खे बनवाए गये। लोग पंचायतों द्वारा अपने फैसले करने लगे। महात्मा गाँधी ने कैसरे हिन्द का खिताब छोड़ दिया और दूसरे लोगों ने उनके उदाहरण का अनुसरण किया।

जब प्रिन्स आफ वेल्ज १३ नवम्बर, १९२१ को बम्बई में उतरा तब शहर में उस दिन पूरी हड़ताल रही। जब दिसम्बर, १९२१ में वह कलकत्ता गया तब वहाँ भी शहर में ऐसी ही हड़ताल रही। प्रिंस के कलकत्ता जाने के पहले लार्ड रीडिंग ने महात्मा गांधी

से समझौते की कोशिश की पर समझौता न हो सका। क्योंकि काँग्रेस ने समझौते से पहले अली भाइयों की रिहाई की शर्त रक्खी और सरकार इसके लिये तैयार न थी।

सरकार ने असहयोग आन्दोलन को कुचलने के लिये दमन की नीति अपनायी। असहयोग करने वालों को पीटा जाता था और उनकी सभाओं को ताकत के जोर से भंग कर दिया जाता था। सैडीशस मीटिंग्स एक्ट पास किया गया और हजारों आदमी पकड़े गए। महात्मा गाँधी के अलावा सब काँग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गए। गाँधीजी को इसलिए नहीं पकड़ा गया क्योंकि सरकार को यह डर था कि उनकी गिरफ्तारी से न मालूम क्या हो जायगा। गिरफ्तार व्यक्तियों की कुल संख्या लगभग २५ हजार थी।

सरकार के इस भीषण दमन पर काँग्रेस की प्रतिक्रिया यह हुई। इसने १९२१ में काँग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में व्यक्तिगत और सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने का फैसला किया। महात्मा गाँधी को इसका एकमात्र कर्त्ता-धर्त्ता नियुक्त किया गया। पहली फरवरी, १९२२ को महात्मा गाँधी ने भारत के गवर्नर-जनरल को यह सूचित किया कि मेरा विचार बारडोली में सामूहिक सविनय अवज्ञा शुरू करने का और मंतूर में जो टैक्स-विरोधी आन्दोलन १२ जनवरी, १९२२ से चल रहा था, उसे स्वीकृति दे देने का है, पर यदि सारे अहिंसक असहयोगियों को रिहा कर दिया जाए और सरकार अहिंसक कार्यों में जरा भी दखल न देने का ऐलान करे तो वह आक्रामक ढंग की सविनय अवज्ञा स्थगित करने की सलाह देने को तैयार थे। आपने यह माँगें स्वीकार करने के लिये सरकार को सात दिन का समय दिया। पर सात दिन खतम होने से पहले ही चौरी-चौरा की घटना हो गयी जिसने भारतीय इतिहास की दिशा को ही बदल दिया। हुआ यह था कि तीन हजार आदमियों की भीड़ ने २१ पुलिस वालों और एक इंस्पेक्टर को मार दिया था। महात्मा गाँधी को जो पूर्ण अहिंसा के पक्षपाती थे, यह बात असह्य हुई। नतीजा यह हुआ कि महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन तुरन्त रोकने का आदेश दिया। ज्योंही आन्दोलन रोका गया, त्योंही महात्मा गाँधी की बड़ी आलोचना होने लगी और भारत सरकार ने उस समय उन्हें गिरफ्तार करके उन पर मुकद्दमा चलाने का निश्चय किया। उन्हें ६ साल कैद की सजा दी गई पर स्वास्थ्य के आधार पर फरवरी १९२८ में रिहा कर दिया गया।

असहयोग आन्दोलन की सफलताओं के बारे में यह स्पष्ट है कि खिलाफत और पंजाब के जुल्मों को दूर कराने के उद्देश्य पूरे नहीं हुए। स्वराज्य एक साल में नहीं मिला जिसका महात्मा गाँधी ने वचन दिया था। सुभाषचन्द्र बोस के अनुसार, एक साल में स्वराज्य की आशा दिलाना न केवल मूर्खता थी बल्कि बच्चों जैसी बात थी। काँग्रेस को खिलाफत आन्दोलन में नहीं पड़ना चाहिए था। पोलक के अनुसार, खिलाफत आन्दोलन का आधार ही गलत था। इधर हिंदोस्तानी मुसलमान तो पुरानी खिलाफत का पक्ष ले रहे थे, उधर तुर्क लोग जिनके हित की दृष्टि से ये समझते थे कि हम काम कर रहे हैं, उसे उखाड़ कर फेंक रहे थे। कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की लौकिक राज्य बन गया। अब १९२२ में खिलाफत खतम कर दी गई और खलीफा को देश से निकाल दिया गया। आन्दोलन को एकाएक रोक देने से हिन्दू-मुस्लिम तनाव बढ़ गया। साम्प्रदायिक दंगों का सिलसिला शुरू हो गया जो रुक-रुक कर वर्षों होते रहे।

पर असहयोग आन्दोलन के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। सुभाषचन्द्र बोस

के अनुसार, १९२१ के साल ने निस्सन्देह देश को बहुत संगठित पार्टी संगठन प्रदान किया। उससे पहले कांग्रेस मुख्यतः एक प्रस्ताव पास करने वाली संस्था थी। महात्माजी ने इसे केवल एक नया संविधान और एक राष्ट्रव्यापी आधार ही नहीं दिया, बल्कि उससे भी महत्त्व की बात यह है कि उन्होंने उसे क्रान्तिकारी संगठन बना दिया। सब जगह एक ही नारे बोले जाने लगे और भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक नीति और विचारधारा चल पड़ी। अंग्रेजी की अहमियत जाती रही और कांग्रेस ने हिन्दी को सारे देश के लिये व्यवहार की भाषा स्वीकार किया। खादी सब कांग्रेस वालों के लिये अधिकृत पोशाक बन गई। कूपलैंड के अनुसार, तिलक जो नहीं कर सके थे, उसे गाँधी ने कर दिखाया। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन बना दिया। उन्होंने भारत की आजादी प्राप्त करने के लिए इसे सरकार पर वैधानिक दबाव, और बहस के बजाय बल-प्रयोग करना सिखाया जो अहिंसक होने के कारण ही कम ताकतवर न था। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को न केवल क्रान्तिकारी बना दिया, बल्कि इसे लोकप्रिय भी बना दिया था। अब तक यह पढ़े-लिखे शहरी लोगों में थी। देहाती लोगों पर इसका कोई असर नहीं हुआ था। गाँधी के व्यक्तित्व ने देहात में गहरी हलचल मचा दी थी। श्री जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, दमन और निराशा की पिछली भावना बिलकुल दूर हो गई। अब सरकार के साथ झगड़े से बचने के लिए गोलमोल कानूनी शब्दावली और कानाफूसी की जरूरत नहीं रही। हम जो कुछ अनुभव करते थे वही कहते थे और उसे मकानों पर खड़े होकर चिल्लाकर कहते थे। ए० आर० देसाई के अनुसार, मजदूरों और किसानों के इसमें भाग लेने से राष्ट्रवादी आन्दोलन, जो १९१७ से उच्च और मध्यम वर्गों तक सीमित था, पहली बार आम जनता के आधार पर खड़ा हुआ। असहयोग आन्दोलन से जनता का आत्म-विश्वास बढ़ा। वह अब ब्रिटिश सरकार की ताकत से नहीं डरती थी। जेलों का डर जाता रहा और वह अब देश की मुक्ति के तीर्थ-स्थान बन गई। स्वदेशी का प्रचार हो गया। खादी भारतीय देशभक्तों का वेष बन गई। कांग्रेस अब जन-आन्दोलन बन गई।

स्वराज्य पार्टी (Swarajist Party)—स्वराज्य पार्टी के पैदा होने में कई बातों से मदद मिली। महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन स्थगित कर देने और उनके गिरफ्तार होकर जेल जाने के बाद देश के पास कोई कार्यक्रम नहीं रहा। इस खालीपन को पूरा करने के लिए स्वराज्य पार्टी बनी। महात्मा गाँधी ने जिस तरह एकाएक असहयोग आन्दोलन मुल्तवी कर दिया था, उससे देश में बड़ा असन्तोष था। चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू और एन० सी० केलकर ने गाँधीजी के काम की विशेष रूप से आलोचना की। खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन को जोड़कर जो हिन्दू-मुस्लिम समझौता बनाया गया था, वह टूट चुका था और अब नये कार्यक्रम की जरूरत थी, जो स्वराज्य पार्टी रखना चाहती थी। सरकार दमन की नीति अपनाने पर तुली हुई थी और भारत में ऐसे बहुत से देशभक्त थे जो विधान-मण्डलों में जाकर और वहाँ सरकार द्वारा पेश कानूनों को अस्वीकृत करके तथा इसे दुनिया की नजरों में गिराकर सरकार के काम में रुकावट डालना चाहते थे। चूँकि कांग्रेस ने १९१९ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के आधीन हुए चुनावों का बहिष्कार कर दिया था, इसलिए बहुत से मौका-परस्त लोग विधान-मण्डलों

में घुस गये थे। बहुत से देशप्रेमी उन्हें उन स्थानों से हटाना चाहते थे ताकि विधान-मण्डलों में उनके होने से गड़बड़ न पैदा हो।

स्वराज्य पार्टी ने १९२३ में जो मेनिफेस्टो निकाला, उसमें यह घोषित किया कि यह माँग करना पार्टी का पहला काम है कि भारतीय जनता का अपने देश के शासन-तन्त्र पर नियन्त्रण करने का अधिकार तुरन्त स्वीकार किया जाए और उसे अमल में लाया जाए। अगर स्वराज्य पार्टी की माँग नहीं मानी गई तो विधान-मण्डलों में चुने गए इसके सदस्यों का कर्त्तव्य होगा कि वे शासन-कार्य को असम्भव बनाने के उद्देश्य से लगातार बाधा डालने की नीति पर चलें। जब १९१३ में चुनाव हुए तब स्वराज्य पार्टी को अच्छी सफलता मिली। मध्य-प्रान्त में उनका स्पष्ट बहुमत हो गया। बंगाल लेजिस्लेटिव कौंसिल में स्वराज्य पार्टी सबसे बड़ी पार्टी थी और चितरंजनदास ने कुछ और सदस्यों को अपनी ओर मिलाकर बहुमत हासिल कर लिया। उन्होंने स्वयं मन्त्रिमण्डल बनाने से इनकार कर दिया और दूसरों को भी नहीं बनाने दिया। २३ मार्च, १९२४ को बंगाल लेजिस्लेटिव कौंसिल ने ६३ के मुकाबले ६९ वोटों से दो मन्त्रियों के वेतन नामंजूर कर दिए और इस तरह उन्हें त्याग-पत्र देने पर मजबूर कर दिया। सी० पी० में स्वराज्य पार्टी के मन्त्रिमण्डल बनाने से इनकार कर देने के कारण प्रान्त के गवर्नर को शासन अपने हाथों में लेना पड़ा। अन्य प्रान्तों में भी स्वराज्य पार्टी को अच्छी स्थिति हासिल हुई। केन्द्रीय विधान-सभा में स्वराज्य पार्टी को १४५ में से ४५ स्थान मिल गए। केन्द्रीय असेम्बली में श्री मोतीलाल नेहरू स्वराज्य पार्टी के नेता थे। ८ फरवरी, १९२४ को स्वराज्य पार्टी को केन्द्रीय असेम्बली में मोतीलाल नेहरू का एक प्रस्ताव पास कराने में सफलता मिली जिसमें यह माँग की गई थी कि गोलमेज सम्मेलन किया जाए जो पूर्ण उत्तरदायी शासन के आधार पर हो और भारत के लिए एक संविधान की सिफारिश करे। केन्द्रीय असेम्बली ने १९२४-२५, १९२५-२६, १९२६-२७ के बजट भी नामंजूर किये। सरकार द्वारा पेश किये गए बहुत से बिल स्वराज्य पार्टी ने अस्वीकृत कराये। कुछ राजनैतिक कैदियों की रिहाई और १८१८ के रेगूलेशन तीन में संशोधन की माँग करने वाले प्रस्ताव पेश किये गए। स्वराज्य पार्टी के सदस्यों ने गवर्नर-जनरल द्वारा या उसके सम्मान में किये गए समारोहों में भाग लेने से इनकार कर दिया। बहुत बार स्वराज्य पार्टी ने वाक आऊट किये और उनके इस कार्य को सर तेजबहादुर सप्रू ने 'उत्कट देशभक्ति' कह कर पुकारा।

कुछ समय तक स्वराज्य पार्टी अपनी लगातार बाधा डालने की नीति पर जोर-शोर से चलती रही, पर समय गुजरने के साथ-साथ इसका कार्यक्रम बदलने लगा। सुभाषचन्द्र बोस के शब्दों में १९२५ के मध्य भाग से स्वराज्य पार्टी की शुद्ध विरोध की नीति हलकी पड़ने लगी। जून १९२५ में सी० आर० दास की मृत्यु से पहले ही दिखाई पड़ रहा था कि पार्टी अपनी पहले की स्थिति से हट रही है। स्वराज्य पार्टी के सदस्यों ने यह महसूस किया कि निरी बाधा डालना निष्फल राजनीति है और रचनात्मक काम और समझौते की आवश्यकता है। खास तौर से चितरंजनदास की मौत के बाद स्वराज्य पार्टी सहयोग की ओर चलने लगी। विधान-मण्डलों को अन्दर से ठप्प करने की बजाए, यह फैसला किया गया कि विधान-मण्डलों में हिस्सा लिया जाए और उनका लाभ उठाया जाए और सरकार से सहयोग भी किया जाए। सरकार ने भी स्वराज्य पार्टी के प्रति समझौते का

रुख अपनाने का निश्चय किया। नतीजा यह हुआ कि स्वराज्य पार्टी के सदस्यों ने १९२४ में संरक्षण कमेटी में काम किया। १९२५ में मोतीलाल नेहरू खुद उस कमेटी के सदस्य बन गए जो यह देखने के लिए बैठाई गई थी कि भारतीय सेना का और तेजी से भारतीयकरण हो सकता है या नहीं। १९२५ में विट्ठल भाई पटेल ने अपने आपको केन्द्रीय असेम्बली का स्पीकर चुनवा लिया, यद्यपि वे स्वराज्य पार्टी के सदस्य थे। सी० पी० लेजिस्लेटिव कौंसिल के अध्यक्ष एस० वी० ताम्बे, जो स्वराज्य पार्टी के सदस्य थे, सी० पी० के गवर्नर की शासक परिषद् के सदस्य बन गए। श्री मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य पार्टी के रोगग्रस्त अंग को काट देने की दृष्टि से कार्रवाई करने की धमकी दी पर उसका कोई असर नहीं पड़ा। जयकर, केलकर और मुँजे आदि स्वराज्य पार्टी के सदस्यों ने मोतीलाल नेहरू की धमकी पर ऐतराज किया और पार्टी से विद्रोह कर दिया। पण्डित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने स्वराज्य पार्टी को छोड़कर नेशनल पार्टी बनाई क्योंकि उन्होंने यह महसूस किया कि स्वराज्य पार्टी के हाथों में हिन्दुओं के हित सुरक्षित नहीं हैं। नतीजा यह हुआ कि १९२६ में स्वराज्य पार्टी समाप्त हो गई।

स्वराज्य पार्टी के आलोचकों ने पहले ही बताया था कि उनकी बाधा डालने की नीति में स्वयं अपना विरोध छिपा हुआ था। अगर हर कदम पर शासन में बाधा डालनी थी, तो विधान-मण्डलों में जाने का कोई अर्थ नहीं था। स्वराज्य पार्टी के कार्यक्रम में ऐसी कोई चीज न थी जो शासन के कार्यक्रम को ठप्प कर सके। यह भी बताया गया है कि स्वराज्य पार्टी में वही लोग गए जो असहयोग और सविनय अवज्ञा के कार्यक्रम में आनेवाली मुसीबतें नहीं सहना चाहते थे। जकारियास के अनुसार, स्वराज्य पार्टी के लोग दोनों तरफ नफे में रहना चाहते थे। वे अपनी लोकप्रियता बनाये रखने के लिए गर्म बातें करना जरूरी समझते थे, पर साथ ही विधान-मण्डलों के आसान काम को पसन्द करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि स्वराज्य पार्टी के लोगों को यह समझाने की नौबत आई कि किस समय असहयोग होता है।

पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि स्वराज्य पार्टी ने राष्ट्रवादी हितों को काफी लाभ पहुँचाया। इसने उन लोगों के उत्साह को कुछ दूर तक आगे बढ़ाया जो असहयोग आन्दोलन के एकाएक रोक दिए जाने से निराशा महसूस कर रहे थे। सरकार के बजट और बिल नामंजूर करके उन्होंने शासन के काम में जनता की दिलचस्पी पैदा की। वे दुनिया की नजरों में सरकार को गिराने में नाकामयाब हुए, पर लोगों में विदेशी सरकार के विरुद्ध मुकाबले की भावना बनी रही। फरवरी १९२४ में स्वराज्य पार्टी का प्रस्ताव स्वीकार होने से भारत सरकार ने देश में द्वैध शासन के कार्य-संचालन पर रिपोर्ट देने के लिए मूडिमैन कमेटी की स्थापना की। स्वराज्य पार्टी की हलचलों के कारण साइमन कमीशन दो साल पहले ही नियुक्त कर दिया गया। एच० एन० ब्रेलसफोर्ड के अनुसार, "मेरे विचार में बाधा डालने का तरीका उचित सिद्ध हुआ क्योंकि इससे ब्रिटिश कंजरवेटिव लोगों को भी यह विश्वास हो गया कि द्वैध-शासन-प्रणाली नहीं चल सकती।"

सरकार ने १९२७ में साइमन कमीशन की नियुक्ति की। ऐसा भारत सरकार के १९१९ के अधिनियम की धाराओं के आधीन किया गया। कमीशन के संगठन में इस के सब सदस्यों के अंग्रेज होने के कारण भारत में खूब शोर मचा। भारतीयों ने आयोग

का बहिष्कार कर दिया। सारे देश में हड़तालें हुईं। साइमन आयोग के सदस्यों से वापिस जाने को कहा गया। यह सब कुछ होने पर भी साइमन आयोग ने अपना कार्य पूर्ण किया तथा अपनी रिपोर्ट १९३० में प्रस्तुत कर दी। भारतीयों के द्वारा इसके अस्वीकृत होने पर भी भारत मन्त्री सर सैम्युअल होर ने उसे १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम का आधार बनाया।

नेहरू रिपोर्ट, १९२८ (Nehru Report)—१९२८ के फरवरी तथा मार्च मास में एक सर्वदल सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने एक समिति मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में नियुक्त की, जिसका कार्य भारत का संविधान बनाना था। मसविदा तैयार कर लिया गया तथा उसे दिसम्बर १९२८ में सर्वदलीय राष्ट्रीय प्रतिनिधि सम्मेलन में प्रस्तुत कर दिया गया। इस मसविदे के अनुसार भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया जाना था, जिसका कोई धर्म न हो। इसमें संयुक्त चुनाव प्रणाली तथा स्थानों के सुरक्षण की व्यवस्था की गई थी। उन प्रान्तों में, जहाँ मुसलमान अल्पसंख्या में थे, मुसलमानों तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में ग़ैर-मुस्लिमों के लिये स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई। ऐसी सुरक्षा की व्यवस्था जनसंख्या के अनुसार की गई तथा उन्हें इस बात का अधिकार दिया गया कि वे अतिरिक्त स्थानों पर भी चुनाव लड़ सकते थे। इस रिपोर्ट में भारतवर्ष के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य की सिफारिश की गई। मुसलमानों ने इस रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया तथा मि० जिन्ना ने मुसलमानों की कम-से-कम माँगों के रूप में अपनी प्रसिद्ध १४ माँगें प्रस्तुत कीं।

काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन पर यह सोचा गया था कि भारत के उद्देश्य के रूप में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति की घोषणा के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव स्वीकार किया जाए, किन्तु महात्मा गाँधी ने बीच में पड़कर औपनिवेशिक स्वराज्य को भारत के उद्देश्य के रूप में घोषित किया। महात्मा गाँधी ने आश्वासन दिया कि वे स्वयं आन्दोलन का नेतृत्व करेंगे, यदि १९२९ के अन्त तक ब्रिटिश सरकार ने भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं दिया। यह सत्य है कि भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड इर्विन ने अक्तूबर १९२९ में घोषणा की कि भारत में ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य है, किन्तु केवल इस घोषणा से काँग्रेसी सन्तुष्ट न हुए। परिणामस्वरूप पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में काँग्रेस के लाहौर अधिवेशन ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें इस बात की घोषणा की गई कि पूर्ण स्वतन्त्रता भारत का उद्देश्य है।

२६ जनवरी, १९३० का दिन स्वाधीनता दिवस के रूप में घोषित किया गया तथा उस दिन भारतीयों ने निम्नलिखित प्रतिज्ञा ली तथा बाद में उसे प्रति वर्ष दोहराया जाता रहा—"हम विश्वास करते हैं कि भारतीय लोगों का यह पूर्ण अधिकार है कि वे स्वतन्त्र हों, अपने परिश्रम के फलों का उपभोग करें तथा जीवन की आवश्यकताएँ प्राप्त करें, जिससे उन्हें विकास के सम्पूर्ण अवसर प्राप्त हों।

"हम यह भी विश्वास करते हैं कि यदि सरकार जनता को उसके अधिकारों से वञ्चित रखती है तथा उसका दमन करती है, तो जनता को इस बात का भी अधिकार है कि वह उसे बदल दे अथवा समाप्त कर दे। ब्रिटिश सरकार ने भारत में भारतीयों को न केवल उनकी स्वतन्त्रता से वञ्चित रखा है अपितु उसका आधार ही जनता के शोषण

पर है तथा इसने भारत को आर्थिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से नष्ट कर दिया है।

"इसलिये हमारा विश्वास है कि भारत को अवश्य ही ब्रिटिश सम्बन्ध से पृथक् हो जाना चाहिए तथा स्वराज्य अथवा पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिए।

"हम स्वीकार करते हैं कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने की सबसे प्रभावशाली पद्धति हिंसा के द्वारा प्राप्त करने की नहीं।

"भारत शक्ति तथा आत्म-निर्भरता प्राप्त कर चुका है तथा शान्तिपूर्ण एवं उचित साधिनों से स्वराज्य की ओर अग्रसर हो चुका है। इन्हीं साधनों तथा उपायों से हमारा देश स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा।

"हमारा विश्वास है कि सामान्य रूप से अहिंसापूर्ण कार्य तथा विशेष रूप से अहिंसापूर्ण सीधी कार्रवाई के लिये खादी, साम्प्रदायिक एकता तथा अछूतोद्धार के कार्यक्रम पर सफलतापूर्वक चलने की आवश्यकता है।

"हम अपने साथियों में बिना जाति तथा विश्वास की पृथकता के सौहार्द तथा प्रेम की भावना फैलाना चाहते हैं। हम प्रयत्न करेंगे कि अज्ञान तथा निर्धनता से उन लोगों को ऊपर उठाएँ, जिनकी उपेक्षा की गई तथा जो लोग पिछड़े अथवा दलित हैं, उनके हितों को, प्रत्येक उपाय से अग्रसर किया जाए।"

सविनय अवज्ञा का एक कार्यक्रम तैयार किया गया तथा उसका आरम्भ कर दिया गया। महात्मा गाँधी ने अपनी प्रसिद्ध डाण्डी यात्रा १२ मार्च, १९३० को साबरमती आश्रम से आरम्भ की। कांग्रेस के सहस्रों स्वयंसेवक जेलों में भेज दिए गये। सरकार ने राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिये प्रत्येक प्रकार के दमन का उपयोग किया। काँग्रेस ने लन्दन में १९३० में होने वाले प्रथम गोलमेज सम्मेलन का बहिष्कार किया, किन्तु सम्मेलन के पश्चात् जयकर तथा सप्रू ने हस्तक्षेप किया तथा मार्च, १९३१ में गाँधी-इर्विन समझौते पर हस्ताक्षर हुए।

महात्मा गाँधी काँग्रेस के सर्वाधिकारी प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन में सम्मिलित हुए। तथापि मि० जिन्ना की मनोवृत्ति के कारण कुछ भी प्राप्त न हो सका। ऐसा समझा गया कि विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में किसी फ़ार्मूले पर पहुँचना असम्भव था। महात्मा गाँधी निराश होकर गोलमेज़ सम्मेलन से वापिस लौट आए। ज्योंही वे भारत पहुँचे, उन्हें लार्ड वैलिंगडन की आज्ञा से बन्दी बना लिया गया। काँग्रेस स्वयंसेवकों की सामूहिक गिरफ्तारी के सम्बन्ध में आज्ञा दे दी गई। नेताओं को जेलों में डाल दिया गया। अगस्त १९३२ में इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री रैम्ज़े मैकडानल्ड ने अपने प्रसिद्ध साम्प्रदायिक निर्णय के सम्बन्ध में निर्णय की घोषणा कर दी। इसमें पूना पैक्ट के अनुसार परिवर्त्तन किया गया। काँग्रेस तीसरे गोलमेज़ सम्मेलन में सम्मिलित न हुई। मार्च १९३३ में श्वेत-पत्र के प्रस्ताव प्रकाशित किए गए। १९३४ में केन्द्रीय विधान सभा के चुनाव सम्पन्न हुए। काँग्रेस ने चुनाव लड़ने का निश्चय कर लिया। उसे पर्याप्त स्थानों पर सफलता प्राप्त हुई।

साम्प्रदायिक निर्णय के सम्बन्ध में काँग्रेस ने न तो इसे अस्वीकार किया और न ही स्वीकार। तथापि जब भारत सरकार न १९३५ के अधिनियम के आधीन चुनावों की

आज्ञा दी, काँग्रेस ने चुनावों में लड़ना स्वीकार कर लिया तथा उसे बहुत से प्रान्तों में बहुमत प्राप्त हुआ। काँग्रेस तथा सरकार में प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाने के प्रश्न पर गतिरोध उत्पन्न हो गया। कुछ समय के पश्चात् सरकार ने काँग्रेस को इस बात का आश्वासन दिया कि गवर्नर प्रान्तीय सरकारों के प्रतिदिन के कार्यों में हस्तक्षेप न करेंगे। काँग्रेस ने जुलाई १९३७ में मन्त्रिमण्डल बनाए तथा ये मन्त्रिमण्डल नवम्बर १९३९ तक कार्य करते रहे। द्वितीय महायुद्ध की घोषणा के पश्चात् काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिए। यह बात सर्वविदित है कि काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने प्रान्तों में लोगों के लिए बहुत से कार्य किए क्योंकि उन्हें कार्य करने की लगन थी तथा उनमें बलिदान की भावना निहित थी।

अगस्त १९४० में लार्ड लिनलिथगो ने वायसराय की कार्यकारिणी का विस्तार करने के लिए काँग्रेस से सहयोग का आह्वान किया, जिससे भारतीयों का सहयोग प्राप्त किया जा सके, किन्तु काँग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया।

मार्च १९४२ में सर स्टैफर्ड क्रिप्स कुछ प्रस्तावों के साथ भारत आए। उन प्रस्तावों के द्वारा द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर अपने संविधान बनाने के सम्बन्ध में भारतीयों को अधिकार दिया गया था। वह सुरक्षा के अतिरिक्त भारतीयों को भारत सरकार के सभी विभाग हस्तांतरित करने को प्रस्तुत था। काँग्रेस दीर्घकालीन योजना को स्वीकार करने के लिए तो उद्यत थी, किन्तु अन्तरिम योजना को स्वीकार करने के लिए तैयार न थी। काँग्रेस "स्वीकार करो अथवा छोड़ दो" की क्रिप्स की मनोवृत्ति को पसन्द नहीं करती थी। क्रिप्स के लौटने के पश्चात् अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने ८ अगस्त, १९४२ को "भारत छोड़ो" (Quit India) वाला प्रसिद्ध प्रस्ताव स्वीकार कर दिया। प्रस्ताव में घोषणा की गई थी कि भारत में अंग्रेजी राज्य की शीघ्र समाप्ति अत्यन्त आवश्यक है। भारत के हित में तथा संयुक्त राष्ट्रों की सफलता के लिए ऐसा होना अपेक्षित है। उस शासन के जारी रहने से भारत अवनति कर रहा है तथा दुर्बल हो रहा है तथा इससे न वह स्वयं अपने को लाभ पहुँचा रहा है तथा न ही संसार की स्वतन्त्रता में योगदान कर रहा है। इस प्रकार इस देश में ब्रिटिश शासन की समाप्ति एक महत्त्वपूर्ण तथा शीघ्र ही लागू किए जाने वाला विषय है जिस पर युद्ध का भविष्य तथा स्वतन्त्रता एवं प्रजातन्त्र की सफलता निर्भर करती है। इसलिए अखिल भारतीय काँग्रेस समिति पुनः पूरे बल से भारत से ब्रिटिश शक्ति के हटाए जाने की माँग करती है। इसलिए समिति देश को बन्धन-मुक्ति तथा स्वतन्त्रता के अधिकार की रक्षा के लिए अहिंसापूर्ण उपायों से एक जन-संघर्ष को यथासम्भव व्यापक रूप से चलाए जाने की स्वीकृति प्रदान करती है। यह संघर्ष आवश्यक रूप से महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चलना चाहिए तथा समिति उनसे प्रार्थना करती है कि वे नेतृत्व संभालें तथा यथोचित पग उठाने के लिए राष्ट्र का नेतृत्व करें।"

"भारत छोड़ो" प्रस्ताव की स्वीकृति का तत्कालीन प्रभाव यह हुआ कि महात्मा गाँधी तथा अखिल भारतीय काँग्रेस कार्यसमिति के समस्त सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया। भारतीय काँग्रेस पर रोक लगा दी गई तथा पुलिस ने उसके कार्यालय पर अधिकार कर लिया। सरकार ने काँग्रेस संगठन कुचलने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। तथापि लोगों ने स्वयं इसका प्रतिकार किया। सरकार के अत्याचार तथा दमन के

विरुद्ध जनता ने विद्रोह किया। यह विद्रोह पूर्णरूप से बिना किसी योजना के था। उसके साधन हिंसापूर्ण थे तथा सरकार की मशीन को असफल करने वाले थे। देश के बहुत से भागों में सरकार की मशीन पूर्णरूप से विशृङ्खल हो गई। इस प्रकार की परिस्थिति १९४५ तक चलती रही।

ऐसा प्रतीत होता है कि मि० जिन्ना को कांग्रेस के "भारत छोड़ो" आन्दोलन से आश्चर्य हुआ। उसने घोषणा की कि आन्दोलन का उद्देश्य भारत से न केवल अंग्रेजों को बाहर निकालना है अपितु मुसलमानों तथा मुस्लिम लीग को भी कुचलना है। यह भी घोषणा की गई कि आन्दोलन का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए तंग करना है कि वह देश का प्रशासन हिन्दुओं को सौंप दे। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों से आन्दोलन से अलग रहने को कहा। लीग ने "विभाजन करो और छोड़ो" का नारा लगाया। लीग का दूसरा नारा था—"बँट के रहेगा हिन्दुस्तान।" देश में गतिरोध दूर करने के लिए राजगोपालाचार्य का फार्मला भी मि० जिन्ना की मनोवृत्ति के कारण असफल हो गया, यद्यपि मुसलमानों को उनकी इच्छानुसार सुविधाएँ दे दी गई थीं। वेवल का शिमला सम्मेलन भी इसीलिए असफल हुआ। १९४६ में इंग्लैंड की मज़दूर सरकार की ओर से नियुक्त मन्त्रिमण्डल का मिशन भारत आया। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के मध्य समझौता करवाने के उसके हार्दिक प्रयत्नों के होते हुए भी कुछ प्राप्त न हो सका। अन्त में मिशन ने १६ मई, १९४६ को अपना निर्णय दे दिया। यह निर्णय मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग तथा कांग्रेस के अखण्ड भारत की माँग के मध्य एक समझौता था। मुस्लिम लीग ने इस योजना को स्वीकार कर लिया तथा कांग्रेस ने अस्वीकार। तथापि जब कांग्रेस ने इस योजना को स्वीकार कर लिया, तब मुस्लिम लीग ने इसे अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम लीग ने सीधी कार्रवाई का दिन १६ अगस्त, १९४६ को मनाने का निश्चय किया। मुख्य मन्त्री सुहरावर्दी उस दिन कलकत्ता के जलूस का नेता था। चार दिनों तक कलकत्ता में हत्याकाण्ड जारी रहा। लगभग तीन सहस्त्र हिन्दू मारे गए तथा करोड़ों की सम्पत्ति जला दी गई।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने २ सितम्बर, १९४६ के दिन अन्तरिम सरकार बनाई, इससे मुस्लिम लीग क्रुद्ध हो गई। उसने प्रकट रूप से घोषणा की कि सारे देश में रुधिर की नदियाँ बह जाएँगी। लीग के स्वयंसेवकों ने "मरेंगे, मर जाएंगे, पाकिस्तान बनाएँगे" का नारा लगाया। नोआखाली तथा बिहार में दंगे हुए। मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हो गई। तथापि अन्तरिम सरकार का कार्य असफल रहा। सरदार पटेल को स्वीकार करना पड़ा कि अन्तरिम सरकार लड़खड़ाने की स्थिति में है। मुस्लिम लीगियों ने देश में अराजकता तथा गड़बड़ लाने का अत्यन्त प्रयत्न किया।

२० फरवरी, १९४७ के दिन एटली ने घोषणा की कि अंग्रेज सरकार जून, १९४८ तक भारत छोड़ देगी चाहे भारतीय दलों में समझौता हो अथवा नहीं। मार्च, १९४७ में लार्ड माउन्टबेटन भारत में गवर्नर-जनरल के रूप में आया। उसने कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग, दोनों के नेताओं से सम्पर्क स्थापित किया तथा इस परिणाम पर पहुँचा कि देश के हित में देश का विभाजन जितनी भी शीघ्र हो, तथा जितनी शीघ्र प्रशासन कार्य भारतीयों को सौंप दिया जाए, उतना ही अच्छा है। उसने तीन जून की योजना तैयार

की, जिसे सब दलों ने स्वीकार कर लिया। जुलाई, १९४७ में ब्रिटिश संसद् ने भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम स्वीकार किया, जिसके द्वारा भारत तथा पाकिस्तान के उपनिवेशों का निर्माण हुआ। भारत १५ अगस्त, १९४७ को स्वतन्त्र हो गया।

Questions for Revision

1. "The effects of the Mutiny were thus disastrous on both the English and the Indian mind". (G. N. Singh). Trace the effect of the Mutiny on British policy in India and how it contributed to the growth of the national movement. (Agra, 1950)

2. Write short essays on the Ilbert Bill Controversy and the Surat Split of 1907. (Agra, 1952)

3. · "A number of factors had been working for a considerable time which led to the rise of the Indian National Movement." Comment on this statement in the light of the political events from 1858 to 1884. (Agra, 1952)

4. What circumstances led to the birth of the Indian National Congress ? Trace its policy upto 1907. (Agra, 1955).

5. Describe the principles and methods of struggle of Liberal Nationalism between 1885 and 1905. (Agra, 1954)

6. "The partition of Bengal is the crowning act of folly of the Curzonian regime in India." Comment on the statement. (Agra, 1950)

7. Trace the various stages in the growth of Congress policy from 1885 to 1947. (Agra, 1950)

8. What were the factors which led to the growth of the revolutionary movement in the early years of the present century ? Who were its chief protagonists ? (Agra, 1951)

9. Describe the circumstances responsible for the rise of the Extremists and the Revolutionary Movement in Indian politics in the earlier years of the twentieth century. Make an estimate of their contribution to the growth of nationalism. (Agra, 1956)

10. Review briefly the circumstances that led to the rise of the Extremists.

11. "War intensified nationalism". Discuss this statement in the light of the political events in India between 1939 and 1945.

12. Write a short note on the Jallianwalabagh tragedy. (Agra, 1953)

13. Trace briefly the various stages through which the Freedom Movement passed from 1919 to 1947. How far was the achievement of Indian Independence due to the Congress ? (Agra, 1955)

14. How far do you agree with the view that changes in the policy and demands of the Indian National Congress from 1919 to 1947 were the direct results of British policy in regard to India ? (Agra, 1954)

15. "The introduction of Khilafat question into Indian politics was most unfortunate". Discuss. (Agra, 1954)

16. Discuss the role of the Non-Cooperation Movement in the national movement. How far do you agree with the view of Lord Chelmsford that it was the most foolish of all foolish schemes ? Give reasons for your views.

17. "Non-Cooperation Movement introduced a new programme and a new technique". Discuss this statement with special reference to 1920—21 and estimate its effects on the progress of the National Movement. (Agra, 1952)

18. "The creed of the Swarajists was inspired by distrust of civil disobedience and ethical principles of the Gandhian ideology of struggle. Discuss this statement in the light of the rise and achievements of the Swarajist Party in India. (Agra, 1953)

19. Write a short essay on the Gandhi-Irwin Settlement.

20. Narrate the circumstances that led to the agreement known as the Gandhi-Irwin Pact, outlining the main provisions of the Pact.

21. "All other parties at this meeting represent sectional interests; Congress alone claims to represent the whole of India and all interests. It is no communal organization. It is determined enemy of communalism in any shape or form." (Gandhiji at the Round Table Conference, 1931). Comment on this statement. (Agra, 1951)

22. What were the circumstances which led to the "Quit India" movement in 1942 ? How far did it contribute to the achievement of Indian Independence and the Partition of the country ?

23. Write short notes on the Surat Split, the Congress-League Scheme, Rowlatt Act, Quit India Resolution and the I.N.A. (Agra, 1956)

अध्याय २२

भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विकास

(Development of Muslim Communalism in India)

अंग्रेज भारत में मुस्लिम शासकों के उत्तराधिकारी थे तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस समय इस देश में ब्रिटिश राज्य-विस्तार हो रहा था, उस समय लाभ, सम्मान तथा प्रभाव के सब स्थान मुसलमानों के अधिकार में थे। जब वह शक्ति अंग्रेजों द्वारा हस्तगत कर ली गई, उस समय अंग्रेजों तथा मुसलमानों में किसी प्रकार प्रेम नहीं था। अंग्रेजों ने भी निरन्तर मुसलमानों को पूर्ण रूप से दबाने की नीति का अनुसरण किया। मुहम्मद नारमन के कथनानुसार, "ब्रिटिश लोगों ने निश्चय कर लिया था कि नई शक्ति के विस्तार तथा जारी रखने के लिये एकमात्र उपाय यही है कि मुसलमानों को दबाया जाए तथा उन्होंने जान बूझकर ऐसी नीतियाँ अपनायीं, जिनका उद्देश्य मुसलमानों का आर्थिक नाश करना था तथा उनकी बौद्धिक रोकथाम तथा सामान्य पतन के लिये कार्य करना था।" (मुस्लिम भारत)

१८७१ से पूर्व मुसलमानों की अवस्था––ऐसा कहा जाता है कि बंगाल की स्थायी भूमि-व्यवस्था के कारण हिन्दू कलैक्टरों को पद-वृद्धि का अवसर प्राप्त हुआ। वे अब तक कम महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त थे, उन्हें भूमि-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हो गए। उन्हें भूमि का स्वामित्व प्राप्त हो गया तथा इस प्रकार उन्हें धन बढ़ाने का अवसर प्राप्त हो गया, जो मुसलमानों को अपने शासन के अधीन प्राप्त हुआ होता। मुसलमानों का अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी में स्वागत नहीं होता था। यह कहा जाता है कि १८५२ तथा १८६२ के मध्य हाई कोर्ट में अनुमति-प्राप्त २४० भारतीय वकीलों में एक ही मुसलमान था। कुछ अवस्थाओं में तो ब्रिटिश सरकार स्पष्ट रूप से निर्देश कर देती थी कि पद हिन्दुओं को ही दिये जाएँ मुसलमानों को नहीं। ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीति इस प्रकार की थी, जिससे बेकारी के बढ़ने का अवसर मिलता था तथा मुसलमानों के लिये सब प्रकार के मार्ग तथा अवसर बन्द हो जाते थे। आर्थिक नीति के कारण भारतीय मुसलमान दरिद्र हो गये। सेना में उनकी भरती सीमित थी। कला तथा कौशल में भी उन्हें पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त न थीं तथा इस प्रकार वे असहाय कर दिए गये। इन नीतियों का परिणाम १८५७ का भयंकर विद्रोह था, जिसे कोई मानव नीति बचा न सकती थी।

१८५७ के विद्रोह से पूर्व ही मुसलमानों ने वहाबी नेताओं के अधीन ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। यह सत्य है कि वहाबी आन्दोलन भारत में मुख्य रूप से एक धार्मिक आन्दोलन था, किन्तु यह एक नीच जाति के लोगों का तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन था। वहाबी नेताओं ने भारत के मुसलमानों में जाग्रति की भावना भर दी थी तथा उत्साह की तरंग सम्पूर्ण देश पर छा गई थी। ब्रिटिश सरकार ने आन्दोलन को कठोरतापूर्वक दबा दिया था, किन्तु इस आन्दोलन ने विद्रोह का रूप धारण कर लिया।

१८५७ के विद्रोह के मुख्य नेता मुसलमान थे तथा वे मुसलमान भी निस्सन्देह वहाबी थे। क्योंकि ब्रिटिश लोग मुसलमानों को विद्रोह के लिये उत्तरदायी समझते थे, इसलिए उनके साथ १८५८ के पश्चात् अत्यन्त निष्ठुरतापूर्वक व्यवहार किया गया। १८७१ में बंगाल सरकार के द्वारा नियुक्त किए गये कुल २,१४१ कर्मचारियों में से केवल ९२ ही मुसलमान थे। शेष ७११ हिन्दू तथा १३३८ यूरोपीय थे। यह अवस्था १८७० तक जारी रही। उस समय मुसलमानों के प्रति अंग्रेज सरकार के रवैये में कुछ परिवर्त्तन हुआ।

सर विलियम हण्टर की पुस्तक "भारतीय मुसलमान", जिसका प्रकाशन १८७१ में हुआ, इस परिवर्त्तन के आरम्भ का उल्लेख करती है। एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया। ऐसा समझा गया कि मुसलमान स्वतन्त्र विद्रोह के लिये बहुत कमजोर थे। "उनको साथ रखना अधिक आसान था, इस बात की अपेक्षा कि उन्हें अलग रखकर असन्तुष्ट किया जाय।"

सर सैय्यद अहमदखां का कार्य—मुस्लिम आँग्ल-प्राच्य कालेज, अलीगढ़ के प्रिंसिपल बैंक ने मुसलमानों को अंग्रेजों के पक्ष में जीतने के सम्बन्ध में तथा उन्हें काँग्रेस से दूर रखने के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वह मुसलमानों के महान् नेता सर सैय्यद अहमदखां को विजित करने में सफल हो गया कि "आँग्ल-मुस्लिम समझौते से मुस्लिम जाति की अवस्था में सुधार हो जाएगा, नहीं तो राष्ट्रीय विचारधारा उनके लिये पुनः कष्ट, परिश्रम तथा आँसुओं का मार्ग खोल देगी। उसे यह विश्वास करना पड़ा कि सरकार का समर्थन करना ही अपनी जाति के लिये सुरक्षा प्राप्त करने का सबसे निश्चित मार्ग है। परिणामस्वरूप उसके प्रभाव का प्रयोग मुसलमानों को, विशेष रूप से उत्तर भारत के मुसलमानों को, काँग्रेस से दूर रखने के लिये किया गया।" सर सैय्यद अहमदखां अपने सहनशील विचारों के लिये प्रसिद्ध थे। उन्होंने हिन्दुओं तथा मुसलमानों की भारत-वधू की दो सुन्दर आँखों से समता दी थी। वह १८८४ में गुरुदासपुर में घोषणा कर चुके थे कि हिन्दू तथा मुसलमान एक हृदय तथा आत्मा वाले हो जाएँ तथा मिलजुलकर एकतापूर्वक कार्य करें। यदि इकट्ठे रहें तो हम एक दूसरे का समर्थन करेंगे। यदि ऐसा न हुआ तो एक का दूसरे के विरुद्ध प्रभाव दोनों के नाश तथा पतन का कारण होगा।

श्री बैंक का सर सैय्यद अहमदखाँ पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसने काँग्रेस तथा हिन्दुओं पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। उसने काँग्रेस आन्दोलन की एक ऐसे गृह-युद्ध से समता दी, जो बिना शस्त्र के हो। उसका ऐसा विचार था कि यदि भारत को काँग्रेस की माँग के अनुसार योग्यता, शिक्षा अथवा सिद्धान्तों के आधार पर चुनाव-प्रणाली प्रदान कर दी जाए, तो सारी कौंसिल बाबुओं से भर जाएगी तथा सब मुसलमान "बंगाल के मछली खाने वाले बाबुओं से घृणा करते थे।" उसने काँग्रेस की इस माँग का भी विरोध किया जिसके अनुसार नागरिक सेवाओं के लिये एक ही समय में साथ-साथ प्रतियोगिता की परीक्षाओं की व्यवस्था की जाए तथा उसने इस सम्बन्ध में प्रार्थना की, "हमें इस बात की अनुमति दी जाए कि हम अपने पूर्वजों के कलमों का प्रयोग कर सकें।" सर सैय्यद की नीति का आधार हिन्दुओं के द्वारा मुसलमानों पर शैक्षणिक, आर्थिक तथा राजनैतिक रूप से स्थायी महत्त्व का भय था। सर सैय्यद १८९८ में परलोक सिधारे।

सर सैय्यद ने इण्डियन पैट्रियाटिक ऐसोसियेशन की स्थापना की जिसका उद्देश्य

यह था कि ब्रिटेन की पार्लियामेंट के सदस्यों, अखबारों और जनता की जानकारी के लिये ऐसी पुस्तकें प्रकाशित की जाएँ जिनमें उन गलत-बयानियों का जिक्र हो, जिनमें इण्डियन नेशनल कांग्रेस के समर्थकों ने अंग्रेज जनता को यह विश्वास कराने का झूठा प्रयत्न किया है कि भारत के सब निवासी और भारतीय राजा और नवाव नेशनल कांग्रेस के उद्देश्यों से सहमत हैं और मुसलमानों के विचार और सब इस्लामी संस्थाओं और उन हिन्दुओं तथा हिन्दू संस्थाओं के विचार हों जो उससे सहमत नहीं हैं। इसका उद्देश्य भारत में शान्ति वनाये रखना और ब्रिटिश शासन को मजबूत वनाना और भारतीय जनता के दिलों से उन बुरी भावनाओं को दूर करना भी होगा, जो कांग्रेस के समर्थक सारे देश में पैदा कर रहे हैं। सर सैय्यद ने नेशनल कांग्रेस की स्थापना के एक साल बाद १८८६ में एनुअल मुस्लिम एजूकेशन कान्फ्रेंस की स्थापना भी की। १८९३ में मोहमडन डिफेन्स एसोसिएशन उत्तरी भारत के लिये बनाया गया। सर सैय्यद ने समझ लिया कि यदि मुसलमानों के मौजूदा धार्मिक विचारों को उनके अंधविश्वासों से मुक्त नहीं किया जा सकता तो हमारी शिक्षा-योजना सफल होने की संभावना नहीं है। पर ऐसे समय जबकि अंग्रेजी भाषा पढ़ने को भोले-भाले मुसलमान कुफ्र समझते थे, उनका काम बड़ा कठिन था। सर सैयद ने अपना काम पूरे दिल से किया और उन्हें इसमें बड़ी सफलता भी मिली।

बैंक का कार्य—बैंक ने १८८९ में ब्रिटिश संसद् में भारत को प्रतिनिधि संस्थाएँ प्रदान करने के सम्बन्ध में ब्रैडला के बिल के विरुद्ध मुसलमानों के विरोध को संगठित किया। भारतीय मुसलमानों के द्वारा भेजे गए स्मृति-पत्र में इस बात का दावा किया गया था कि प्रजातान्त्रिक संस्थाओं का आरम्भ भारतवर्ष के लिए अनुकूल नहीं है, क्योंकि भारत एक जाति नहीं है। १८९३ में मुस्लिम सुरक्षा-संस्था का संगठन किया गया, जिसमें बैंक भी एक मन्त्री थे। इस संस्था का उद्देश्य मुसलमानों को कांग्रेस में सम्मिलित होने से रोकना था। बैंक ने इस प्रकार लिखा—"कांग्रेस का उद्देश्य देश के राजनैतिक नियन्त्रण को अंग्रेजों से हिन्दुओं को हस्तांतरित करना है। मुसलमानों की इन माँगों के साथ किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं हो सकती। मुसलमानों तथा अंग्रेजों के लिए आवश्यक है कि वे इन आन्दोलनकारियों का मुकाबला करने के लिए संगठित हो जाएँ तथा देश की आवश्यकता तथा बुद्धि के प्रतिकूल प्रजातन्त्रात्मक सरकार के जारी करने के सम्बन्ध में रोक-थाम करें। इसलिए हम सरकार के प्रति वफ़ादारी तथा अंग्रेजों व मुसलमानों के संगठित होने का समर्थन करते हैं।" आपने आगे लिखा,—"भारत में संसदीय प्रणाली बहुत अनुपयुक्त है और यदि उत्तरदायी संस्थाएँ यहाँ बनाई गई तो यह परीक्षण असफल ही होगा। मुसलमानों को हिन्दू बहुमत के आधीन रहना होगा जिसे मुसलमान बहुमत नापसन्द करेगा और मुझे निश्चय है कि वह आसानी से इसे स्वीकार नहीं करेगा।"

बैंक ने जो महत्त्वपूर्ण भाग हिन्दुओं से मुसलमानों को पृथक् करने का किया उसका उल्लेख १८९९ में सर जान स्ट्रैचे ने इन शब्दों में किया है, "एक अंग्रेज, जो दूर के देश में साम्राज्य के निर्माणात्मक कार्यों में लगा हुआ था, परलोक सिधार गया है। वह अपने कर्त्तव्य के स्थान पर एक सिपाही के रूप में वीरतापूर्वक मृत्यु को प्राप्त हुआ। मुसलमान सन्देहशील लोग हैं। उन्होंने आरम्भ में बैंक का विरोध किया तथा उस पर अंग्रेजों के गुप्तचर होने का सन्देह किया, किन्तु उसकी मित्रतापूर्ण तथा निःस्वार्थ भावना शीघ्र ही

उनका विश्वास प्राप्त करने में सफल हो गई।"

बंगाल के विभाजन के बारे में लार्ड कर्ज़न का यह विचार था कि इसकी सीमाएँ अवैज्ञानिक हैं और उनमें हेर-फेर की जरूरत है। फ्रेजर के अनुसार, भारत में किसी अन्य प्रान्तीय प्रशासक के पास इतना बड़ा प्रदेश नहीं था और इसमें जल्दी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने में बहुत बाधा पड़ती थी। उस समय लिखे गये एक सरकारी पत्र में कहा गया है कि यदि बंगाल का लेफ्टिनेंट गवर्नर साल का सारा घूमने लायक समय दौरे में लगाए तो वह अपने पद-काल में इस विस्तृत प्रान्त के बहुत थोड़े भाग में जा सकता है। कलकत्ता रिव्यू के अनुसार, बंगाल के बहुत बड़े प्रान्त का विभाजन बहुत समय से तीव्र प्रशासकीय आवश्यकता था जिसे अफसरों की कठिनाई से वाकिफ सब लोग मानते थे। पर बंगाल के विभाजन का वास्तविक उद्देश्य विदेशी शासकों की यह इच्छा थी कि बंगाली राष्ट्रवाद के बलों को विभाजित करके बर्बाद कर दिया जाए। श्री जी० एन० सिंह के अनुसार, इसका उद्देश्य हिन्दुओं और मुसलमानों को अलग करना और एक मुस्लिम प्रान्त बनाना था जिसमें धार्मिक मतभेदों के आधार पर शासन होगा। पूर्वी बंगाल का पृथक् मुस्लिम प्रान्त बनाकर भारत सरकार मुसलमानों को उनकी राज-भक्ति का इनाम देना चाहती थी और हिन्दुओं को ब्रिटिश राजसत्ता के विरोध का दण्ड देना चाहती थी। बंगाल की जनता ने लार्ड कर्ज़न की चुनौती स्वीकार की और विभाजन को रद्द कराने के लिए आन्दोलन किया और अन्त में १९११ में यह रद्द किया गया।

विभाजन-विरोधी आन्दोलन के बड़े महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। बंगाल से की गई ज्यादती ने सारे भारत में एक राष्ट्रीयता की भावना में बल देने में जितना काम किया उतना पिछले ५० वर्षों में और किसी चीज ने नहीं किया। डाक्टर लाल बहादुर के अनुसार, विभाजन-विरोधी आन्दोलन इस बात का बड़े पैमाने पर प्रदर्शन था कि राष्ट्र विदेशियों द्वारा किए जाने वाले अत्याचार का विरोध करने में समर्थ है। इसने देश की सारी सोती हुई शक्ति को जगा दिया और देश-भक्तों के लिए एक कसौटी पेश की जिस पर वे खरे उतरे। हमारे देशवासियों का साहस अभूतपूर्व हो गया और विदेशी अधिपति के विरुद्ध भविष्य में होने वाले किसी अन्य संघर्ष में बहुत उपयोगी चीज बन गया। इससे यह भी स्पष्ट पता चल गया कि अगर पक्के इरादे से और देर तक प्रतिरोध किया जाए तो उससे जुल्म की जंजीर अवश्य टूट जाएगी और दमन बिल्कुल बेकार हो जाएगा। विभाजन के सारे इतिहास, उसके बाद हुए सारे आन्दोलन और अन्त में मूल योजना के रद्द हो जाने से हमारे राष्ट्र को ज़्यादती के खिलाफ खड़े होने का महत्त्व पता चला और यह सबक हमने १९४७ में स्वाधीन होने पर कभी नहीं भुलाया।

पर जिन मुसलमानों ने विभाजन को रद्द कराने के खिलाफ आन्दोलन किया था, वह १९११ में क्षुब्ध हुए और नवाब मुश्ताक हुसैन विकारुल मुल्क बहादुर ने दोनों बंगालों के पुनर्मिलन के अवसर पर ये शब्द कहे थे, "जहाँ तक मुसलमानों का सम्बन्ध है, आम लोकमत इस पुनर्मिलन के खिलाफ है। ब्रिटिश सरकार के मन्त्रियों ने विभाजन के स्थायी होने के बारे में बार-बार जो आश्वासन दिए थे उनके बावजूद दोनों हिस्सों को मिला देने से सरकार की कमजोरी पता चलती है और भविष्य में इसके कारण सरकार के वचनों और कार्यों पर कोई विश्वास नहीं किया जायेगा।"

जब भारत सरकार ने १६०६ के लगभग वैधानिक क्षेत्र में भारत को अधिक रियायतें देने के सम्बन्ध में अपना दृढ़ निश्चय कर लिया, तब मुसलमानों ने अपने लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्रों की माँग प्रस्तुत की। ये माँगें सर आग़ाखान के नेतृत्व में एक मुसलमान प्रतिनिधि-मण्डल ने लार्ड मिण्टो के सम्मुख प्रस्तुत कीं, किन्तु यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि इस सम्बन्ध में हर प्रकार का प्रबन्ध मि० आर्चीबाल्ड ने किया जो मि० बैक के पश्चात् अलीगढ़ कालेज का प्रिंसिपल बना। प्रतिनिधि-मण्डल एक आज्ञा के ढंग की वस्तु था। मि० आर्चीबाल्ड ने इस प्रकार लिखा—"कर्नल डनलप स्मिथ, जो वायसराय के निजी सचिव हैं, मुझे सूचना देते हैं कि वायसराय मुस्लिम प्रतिनिधि-मण्डल के साथ मिलने को तैयार हैं। उनकी इच्छा है कि वायसराय से भेंट करने के सम्बन्ध में आज्ञा प्राप्त करने के लिये एक औपचारिक-पत्र उन्हें भेज दिया जाए। इस सम्बन्ध में मैं कुछ सुझाव प्रस्तुत करना चाहता हूँ। औपचारिक-पत्र भेजने से पूर्व मुसलमानों के कुछ प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर होने चाहिएँ। प्रतिनिधि-मण्डल में सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि होने चाहिएँ। तीसरी बात, जिस पर विचार करना है, वह है पत्र का विषय। इस सम्बन्ध में मेरा सुझाव यह है कि हम पत्र को पूर्ण निष्ठा की भावना से आरम्भ करें। सरकार के इस निश्चय की, जिसके द्वारा वह स्वशासन के सम्बन्ध में कदम बढ़ाना चाहती है, सराहना की जानी चाहिए, किन्तु हमारी आशंकाएँ प्रकट कर दी जानी चाहिएँ कि यदि चुनाव का सिद्धान्त लागू किया जाना है तो वह मुस्लिम अल्पमत के हितों के लिये घातक सिद्ध होगा। यह बात आदरपूर्वक सुझाई जानी चाहिए कि मुस्लिम इच्छा की पूर्ति के लिये धार्मिक दृष्टिकोण से मनोनीत अथवा प्रतिनिधित्व करने की प्रणाली प्रारम्भ की जाए। हमें यह भी कहना चाहिए कि भारत जैसे देश में जमींदारों के विचारों को भी उचित बल दिया जाना चाहिए। किन्तु इन सब विचारों में मुझे पृष्ठभूमि में रखा जाना चाहिए। ये विचार आप लोगों की ओर से प्रस्तुत किए जाने चाहिएँ। मैं आपके लिये स्मृति-पत्र का मसविदा बना सकता हूँ अथवा उसका संशोधन कर सकता हूँ। यदि यह बम्बई में तैयार हो, तो मैं उसे पूरा पढ़ भी सकता हूँ। जैसे कि आपको पता है, मैं जानता हूँ कि इन वस्तुओं को ठीक और मुहावरेदार भाषा में किस प्रकार लिखा जा सकता है। कृपया ध्यान रखिए कि यदि हम एक प्रबल आन्दोलन को, थोड़े समय में जो हमारे पास है, संगठित करना चाहते हैं तो हमें अवश्य चीजों को शीघ्र ही निपटाना चाहिए।"

लार्ड मिण्टो ने सहानुभूतिपूर्वक प्रतिनिधि-मण्डल का स्वागत किया तथा निम्नलिखित उत्तर दिया, "जैसा कि मैं समझता हूँ, स्मृति-पत्र का सारांश यह दावा है कि किसी प्रकार की प्रणाली के आधीन, चाहे उसका नगरपालिका पर प्रभाव होता हो, अथवा जिला बोर्ड अथवा विधान परिषद् पर, जिसमें एक चुनाव संगठन को जारी करने अथवा बढ़ाए जाने का सुझाव हो, मुस्लिम जाति को जाति के रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। आप लोगों का कहना है कि कई अवस्थाओं में चुनाव-संस्थाएँ, जैसे कि वे इस समय संगठित हैं, एक मुसलमान उम्मीदवार को चुने जाने की आशा नहीं और यदि किसी प्रकार से वे ऐसा करने में सफल हो जाएँ, तो यह केवल तब ही सम्भव हो सकता है कि ऐसे उम्मीदवार के विचारों को बहुमत के विचारों की तुलना में अपनी जाति के विरुद्ध बलिदान किया जाए, जिसका प्रतिनिधित्व वह किसी अवस्था में नहीं कर सकता तथा आप

लोग उचित ही इस बात का दावा करते हैं कि आपकी स्थिति का अनुमान केवल आपकी जनसंख्या से ही न लगाया जाए अपितु आपकी जाति के राजनैतिक महत्त्व तथा साम्राज्य के प्रति की गई सेवाओं से लगाया जाए । मैं आपसे पूर्ण रूप से सहमत हूँ । कृपया मुझे गलत मत समझिए । मैं इस प्रकार का कोई इशारा करने का प्रयत्न नहीं करता कि जातियों का प्रतिनिधित्व किन साधनों से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु मेरी उतनी ही दृढ़ धारणा है जैसे कि मैं आपके सम्बन्ध में भी विश्वास करता हूँ कि भारत में ऐसा कोई चुनाव-सम्बन्धी प्रतिनिधित्व, जिसमें व्यक्तिगत मतदान का अधिकार प्रदान किया गया हो, शरारतपूर्ण असफलता को प्राप्त होगा, यदि इस देश की जनसंख्या में होने वाली जातियों की परम्परा तथा विश्वासों का ध्यान न रखा गया ।" श्रीमती मिण्टो अपनी डायरी में हमें बताती हैं कि लार्ड मिण्टो ने उस दिन को, जिस दिन मुसलमानों का प्रतिनिधि-मण्डल उनसे मिला, "भारतीय इतिहास में एक महत्त्व का दिन" बताया है ।

मुसलमानों को अलग चुनाव प्रतिनिधित्व देने के लिये वचनबद्ध होने के पश्चात् लार्ड मिण्टो ने इस सम्बन्ध में लार्ड मार्ले के साथ, जो उस समय उदारदलीय भारत मन्त्री था, चर्चा अथवा पत्र-व्यवहार किया । वह लार्ड मिण्टो के प्रस्ताव के पक्ष में नहीं था, किंतु वायसराय ने आग्रह किया कि भारत के मुसलमानों को अलग चुनावों से ही सन्तुष्ट किया जा सकता है, और किसी प्रकार से नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्त में लार्ड मार्ले ने लार्ड मिण्टो के दृष्टिकोण को स्वीकार किया तथा १९०९ के अधिनियम में मुसलमानों के लिये अलग चुनाव प्रतिनिधित्व की व्यवस्था कर दी गई । लार्ड मार्ले ने लार्ड मिण्टो को दिसम्बर १९१९ में इस प्रकार लिखा—"हमारे मुसलमानों के झगड़े में मैं पुनः आपका अनुकरण नहीं करूँगा । मैं आदरपूर्वक केवल आपको स्मरण कराता हूँ कि यह आपका पहला भाषण ही उनकी अतिरिक्त माँगों के सम्बन्ध में था, जिससे मुस्लिमों को प्रोत्साहन मिला । मैं सन्तुष्ट हूँ कि मेरा निर्णय सर्वोत्तम था ।" यह स्पष्ट है कि लार्ड मिण्टो ही साम्प्रदायिक चुनावों का वास्तविक पिता था, यद्यपि ब्रिटिश अधिकारियों ने भी अपना भाग लिया।

दिसम्बर १९०६ में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना इस विचार से हुई कि "सरकार से प्राप्त होने वाली सब प्रकार की व्यवस्था का यथासम्भव समर्थन किया जाए तथा सम्पूर्ण देश में अपने सहधर्मियों के हितों की रक्षा तथा वृद्धि के लिये प्रयत्न किया जाए और तथाकथित राष्ट्रीय महासभा के बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जाए, जिसकी चेष्टा यह रही है कि भारत में अंग्रेजी शासन का भारत में मिथ्या प्रतिनिधित्व किया जाए अथवा जिससे वैसी दयनीय स्थिति उपस्थित हो जाए तथा पढ़े-लिखे युवकों के लिये, जो ऐसी संस्था के अभाव में काँग्रेस दल में सम्मिलित हो गये हैं, सार्वजनिक जीवन के लिये उनकी योग्यता तथा उपयोग के अनुसार, अवसर ढूंढ़ा जाए ।"

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि थोड़े से समय के लिए हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण थे तथा काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने मिल-जुल कर कार्य किया । इस परिवर्त्तन के लिए बहुत से तत्त्व उत्तरदायी थे । सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण १९१४ से पूर्व यूरोपीय शक्तियों के द्वारा तुर्कों के साथ व्यवहार था । १९१२-१३ के बालकन युद्धों के कारण यूरोप में टर्की की शक्ति कमज़ोर पड़ गई । ऐसा प्रतीत हुआ

जैसे यूरोप में मुसलमानों के विरुद्ध एक प्रकार का धर्म-युद्ध हो। भारतीय मुसलसानों ने इस सम्बन्ध में रोष प्रकट किया। वे टर्की के सुलतान को इस्लाम का मुखिया मानते थे। टर्की इस्लामी महत्त्व का चिह्न समझा जाता था। क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने टर्की को बचाने के लिए कुछ भी कार्रवाई न की, भारतीय और भी क्रुद्ध हो उठे। क्योंकि बंगाल के विभाजन को रद्द करते समय मुसलमानों से परामर्श नहीं लिया गया था, इसलिए उन्होंने यह अनुभव किया कि उनके ब्रिटिश मित्र उनका विश्वासघात कर रहे हैं। कुछ मुस्लिम नेताओं ने भी इस सम्बन्ध में कार्रवाई में अपना भाग लिया। उन्होंने एम० ए० जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग पर अधिकार कर लिया। क्योंकि १९१३ में मुस्लिम लीग के विधान में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन किए गए थे, इसलिए आग़ाखान को मुस्लिम लीग की अध्यक्षता से त्याग-पत्र देने के लिए विवश किया गया। लीग तथा काँग्रेस के अधिवेशन कई वर्षों तक एक ही स्थान पर होते रहे। १९१६ में काँग्रेस तथा लीग दोनों के वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में हुए। इस प्रकार लेने-देने अथवा समझौते के वातावरण में काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने प्रसिद्ध लखनऊ समझौते पर हस्ताक्षर किए।

लखनऊ समझौता, १९१६—इस समझौते के अनुसार प्रान्त वित्त तथा प्रशासन के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने चाहिएँ। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों का $\frac{४}{५}$ वाँ भाग निर्वाचित होना चाहिए, तथा $\frac{१}{५}$ वाँ भाग मनोनीत होना चाहिए। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को अपनी-अपनी व्यवस्थापिका सभाओं के द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों के अनुसार कार्य करने को बाध्य होना चाहिए, जब तक कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल इस सम्बन्ध में प्रतिरोधात्मक कार्रवाई न करे। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को भारत सरकार के फौजी निर्देशों तथा विदेशी और राजनैतिक मामलों के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। इसमें युद्ध की घोषणा तथा सन्धियों में सम्मिलित होना भी अन्तर्गत है। भारत मन्त्री के सम्बन्ध भारत सरकार के साथ उसी प्रकार के होने चाहिएँ, जैसे कि औपनिवेशिक सरकारों के साथ उपनिवेश मन्त्री के हों। यद्यपि मुसलमानों को शान्त करने के लिए बहुत-सी रियायतें दी गईं तो भी भारत के अंग्रेज नौकरशाही में विश्वास रखने वाले लोगों का यह विचार था कि जो कुछ उन्हें दिया गया था, उससे अधिक के वे पात्र थे।

डाक्टर लाल बहादुर के अनुसार, "तथ्य यह था कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के विषय में काँग्रेस अपने आप को एक धोखे में डाले हुए थी। यह आशा करना कि साम्प्रदायिक निर्वाचन अपने शुरू होने के दस साल बाद खत्म हो जाएँगे, निरी मूर्खता थी। शुरू में इस बुराई को आसानी से खत्म किया जा सकता था पर इसे बढ़ने दिया गया और अन्त में यह पाकिस्तान की माँग पर पहुँची। मुसलमानों को अपने सम्प्रदाय के जरिए पृथक् प्रतिनिधित्व का अधिकार देना बड़ा भारी भूल थी। इससे अंग्रेजों का कहना उचित सिद्ध हो गया और इससे काँग्रेसी नेताओं की चतुराई का दिवाला भी स्पष्ट दिखलाई दिया। उन्हें यह समझ लेना चाहिए था कि मुसलमानों को यह रियायत मिलने पर राष्ट्र सदा के लिए दो विरोधी सम्प्रदायों में बँट जाएगा और विदेशी शासक शक्ति इस फूट को और बढ़ाएगी। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने लखनऊ पैक्ट को ही हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एक समझौता माना और उसने १९१९ और १९३५ के शासन विधानों में

पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की। एक बार निर्वाचकों में विभाजन का आधार स्वीकार कर लेने पर देश का विभाजन अनिवार्यतः स्वीकार करना पड़ता। लखनऊ पैक्ट पर देश को बहुत बड़ा बलिदान करना पड़ा और पाकिस्तान के निर्माण रूप में इसकी कीमत चुकानी पड़ी।" डाक्टर लाल बहादुर का कहना है कि बहुत बड़ी कीमत पर मुसलमानों का समर्थन खरीदने की कोई तत्काल आवश्यकता न थी। आपने लिखा है, "यह पैक्ट अस्थायी ही हो सकता था क्योंकि यह परिस्थितियों के कारण पैदा हुआ। भारतीय मुसलमानों की भारत के बाहर के मुसलमानों के साथ बन्धुता की भावना पैदा हो गई थी और उसमें उन्हें तभी सहायता मिल सकती थी यदि देश में सद्भावना का वातावरण हो और ज्योंही वह खतरा हट गया (या जो कुछ हुआ उसे स्वीकार कर लिया गया) त्योंही उस समझौते को कायम रखने वाला प्रेरक भाव खत्म हो गया। इसके अतिरिक्त, एक ऐसी साम्प्रदायिक संस्था से जो अपने जन्मकाल से ही देश-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रही थी, और जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेदभाव बढ़ाने के लिए भरसक कोशिश की, यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह रातों रात अपने बुनियादी सिद्धान्त बदल लेगी और काँग्रेस की विचारधारा को अपना लेगी। तुर्की के खिलाफ युद्ध भी उस राजभक्ति की भावना को नहीं बदल सका जो भारतीय मुसलमानों ने देश में ब्रिटिश सरकार के लिए बनाई थी। दूसरी ओर कांग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार, सरकार का सक्रिय विरोध आवश्यक था। इन दोनों संस्थाओं के विचारधारा-सम्बन्धी भेदों ने उन्हें कभी एक न होने दिया और वे पहला मौका मिलते ही अलग-अलग हो गए। हर दृष्टिकोण से देखने पर लखनऊ पैक्ट असफल सिद्ध होता है।"

यह बात उल्लेखनीय है कि महात्मा गाँधी तथा मदनमोहन मालवीय जैसे काँग्रेस के नेता १९१५, १९१६ तथा १९१७ के मुस्लिम लीग के अधिवेशनों में सम्मिलित हुए तथा कई प्रस्तावों के समर्थन में उन्होंने मंच से भाषण भी दिए। महमूदाबाद के राजा ने, जिसने मुस्लिम लीग के कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षता की, इस प्रकार कहा—"देश के हित सर्वोपरि हैं। हमें इस प्रकार की बहस करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए कि हम पहले मुसलमान अथवा भारतीय हैं। तथ्य यह है कि हम दोनों हैं। हमारे लिए प्राथमिकता का कोई प्रश्न नहीं। लीग ने मुसलमानों में अपने देश तथा अपने धर्म के लिये बलिदान की भावना भर दी है।"

उस मित्रतापूर्ण वातावरण का ही यह परिणाम था कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों ने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया। क्योंकि खिलाफत कमेटी तथा जमीयत-उलेमा मुस्लिम जनता पर अपना प्रभाव रखते थे, इसलिए मुस्लिम लीग का प्रभाव १९२० के पश्चात् कुछ कम पड़ गया। तथापि मुस्लिम लीग के बहुत से सदस्यों को सरकार ने संरक्षण प्रदान किया तथा वे सरकार में महत्त्वपूर्ण पद सम्भाले रहे।

जब महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन वापिस ले लिया, तब भारतवर्ष के बहुत से भागों में हिन्दू मुस्लिम दंगे फूट पड़े। इससे हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सम्बन्ध बिगड़ गये। हिन्दुओं के शुद्धि तथा संगठन के कार्यक्रम से भी मुसलमान हिन्दू-विरोधी बन गये। एम० ए० जिन्ना ने वातावरण से लाभ उठाया तथा उसने मुस्लिम लीग में नया जीवन भरने का प्रयत्न किया। तथापि उसे अधिक सफलता प्राप्त न हुई। जब साइमन

कमीशन की नियुक्ति हुई, तब मुस्लिम लीग के सदस्यों में कमीशन के प्रति अपने व्यवहार के सम्बन्ध में मतभेद था। जिन्ना के नेतृत्व में एक पक्ष कमीशन के बहिष्कार के पक्ष में था, किन्तु दूसरा पक्ष सर मुहम्मद शफ़ी के नेतृत्व में कमीशन को सहयोग देने के पक्ष में था। इसका परिणाम यह था कि दोनों दलों ने लीग के अधिवेशनों की अलग-अलग व्यवस्था की। हकीम अजमल खान, डा० अन्सारी, डा० किचलू, मौलाना आज़ाद, डा० सैय्यद महमूद तथा आसफ़अली ने एक अलग दल के रूप में अपने आपको संगठित किया। जिन्ना ने अपने आपको अकेला पाया। हुमायूँ कबीर के अनुसार, "वह अपने आपको मुस्लिम नरम दल वालों में सम्मिलित न कर पाया, क्योंकि राजनीतिज्ञ रूप से वह काँग्रेस विचारधारा से अत्यन्त प्रभावित था। वह प्रगतिशील मुसलमानों में भी अपने आपको मिला नहीं पाता था क्योंकि अपने कट्टर तथा अनुदार विचारों के कारण वे लोग उसे क्रान्तिकारी लगते थे।" वह काँग्रेस में भी पुनः सम्मिलित न हो सका, क्योंकि वह उसकी सीधी कार्रवाई को स्वीकार न करता था। इस बात में कोई आश्चर्य नहीं है कि उसने भारतीय राजनीति से अवकाश ग्रहण करने का निश्चय कर लिया तथा वकालत करने के लिये इंग्लैंड चला गया। तथापि वह सौभाग्यशाली था। कुछ ही वर्षों में अखिल भारतीय कीर्ति के नेता—फ़जल हुसेन, अजमल खान, मुहम्मद शफ़ी, अनसारी तथा मुहम्मद अली—स्वर्ग सिधारे तथा जिन्ना को मुसलमानों का नेता बनने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ। वह इंग्लैंड से वापिस आ गया तथा उसने लीग का नेतृत्व सम्भाला।

जब १९३७ में सामान्य चुनाव हुए, तब मुस्लिम लीग को मुस्लिम-बहुल प्रान्तों में आशानुकूल सफलता न मिली। तथापि काँग्रेस और मुस्लिम लीग में सहयोग के लिये वार्तालाप हुए। जिन्ना ने स्वतन्त्र दलों के मध्य मिली-जुली सरकारों की स्थापना का प्रस्ताव रखा। उसके ही शब्दों में लीग तथा काँग्रेस में कोई विशेष अथवा मौलिक मतभेद नहीं है। हम काँग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में सहयोग देने के लिये सदैव प्रस्तुत रहेंगे। काँग्रेस ने कुछ विशेष शर्तों पर मुस्लिम लीग को मन्त्रिमण्डलों में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया, किन्तु वे शर्तें मुस्लिम लीग को स्वीकार न हुई। उत्तर प्रदेश के सम्बन्ध में शर्तों के अनुसार मुस्लिम लीग दल को एक अलग दल के रूप में समाप्त होना था। उत्तर प्रदेश विधान सभा के तत्कालीन लीगी सदस्यों को काँग्रेस दल का ही एक भाग बनना था तथा उन्हें काँग्रेस दल के नियन्त्रण तथा अनुशासन में कार्य करना था। उत्तर प्रदेश में मुस्लिम लीग संसदीय बोर्ड तोड़ दिया जाएगा तथा उसके पश्चात् किसी भी उप-निर्वाचन में उसे अपने उम्मीदवार खड़े करने की अनुमति नहीं होगी। काँग्रेस का दृष्टिकोण यह था कि मन्त्रिमण्डलों में अनुशासन रखने के लिए इस प्रकार की शर्तें आवश्यक थीं। किन्तु आलोचकों का कहना था कि काँग्रेस अपनी सफलता के मद में थी। जिन्ना ने इन शर्तों को "एक सीधी अस्वीकृति" समझा तथा उसने घोषणा की कि मुसलमान काँग्रेस सरकार के आधीन न्याय की आशा नहीं कर सकते। उसने काँग्रेस पर एक तानाशाही हिन्दू संस्था के रूप में आक्रमण किया, जिसका उद्देश्य देश के अन्य सब दलों को विशेष रूप से मुस्लिम लीग को दबाना था।

यह बात विचारणीय है कि बड़े-बड़े मुसलमान काँग्रेस की जमींदारी सम्बन्धी नीति से भयभीत थे। उन्हें भय था कि यदि सब कुछ किसानों को दिया जाना है, तो वह

उनको ही बलिदान करके सम्भव है। इसलिए उन्होंने मुस्लिम लीग की स्थिति दृढ़ करने के लिए उन्हें सहयोग दिया।

मुसलमानों में से मध्य श्रेणी के लोगों ने भी अपने लिए अन्धकारमय तथा हर्ष-रहित भविष्य अनुभव किया। उन्होंने अनुभव किया कि वे उद्योग-क्षेत्र, अन्य कार्यों तथा सार्वजनिक सेवाओं में हिन्दुओं का मुकाबला नहीं कर सकते। इस कठिन स्थिति से निकलने का एकमात्र मार्ग यह था कि मुसलमानों के लिए एक अलग राज्य स्थापित किया जाए, जहाँ उन्हें हिन्दुओं के साथ प्रतिस्पर्धा करने की आवश्यकता ही नहीं होगी। वे काँग्रेस की शिक्षा नीति के सम्बन्ध में भी शंकित थे। उन्होंने शिल्प के माध्यम से काँग्रेस की प्राइमरी शिक्षा नीति का भी विरोध किया। ऐसा विचार प्रकट किया गया कि काँग्रेस की शिक्षा नीति आवश्यक रूप से एक हिन्दू नीति है। मुसलमानों ने शिकायत की कि उनकी संस्कृति पर काँग्रेस के द्वारा प्रहार किया जा रहा है तथा यह प्रहार मुसलमानों की सत्ता पर ही एक प्रहार के समान समझा जाता है। मुस्लिम लीग के द्वारा काँग्रेस की निन्दा के अन्य भी कारण थे। ब्रेल्सफोर्ड के कथनानुसार, "१९३७ के चुनावों के समय उत्तर प्रदेश में, एक प्रमुख मुसलमान राजनीतिज्ञ ने, जो तब तक काँग्रेस दल से सम्बन्ध रखता था तथा जिसने काँग्रेस को छोड़ दिया था, क्योंकि उसका विचार था कि वह पराजित हो जाएगा, इसलिए वह मुस्लिम लीग में सम्मिलित हो गया। वह भूल में था। काँग्रेस को विजय प्राप्त हुई तथा उसने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। इस व्यक्ति ने पुनः काँग्रेस में लिये जाने का प्रस्ताव किया तथा मन्त्रिमण्डल में भी प्रवेश पाने का पुरस्कार चाहा। स्वाभाविक रूप से, किन्तु सम्भवतः गलती से काँग्रेस ने इनकार कर दिया; ठीक उसी प्रकार जैसे कोई ब्रिटिश दल ऐसी अवस्था में करता। परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण हुए तथा ब्रिटिश मन के लिए चकित तथा भयभीत करने वाले हुए। मुस्लिम लीग ने काँग्रेस पर अपने आक्रमण दुगुने कर दिए तथा इसके और ऐसे ही मामलों के बल पर इसने काँग्रेस पर ऐसे तानाशाही दल होने का अभियोग लगाया, जो अधिकार पर छा जाना चाहता हो।" ("सबजेक्ट इण्डिया" पृ० ८३)।

एक और प्रधान कारण, जिसके कारण मुस्लिम लीग बौखला उठी, वह काँग्रेस का जनता-सम्पर्क आन्दोलन था, जिसे पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में चलाया गया था। इसका उद्देश्य मुस्लिम जनता को काँग्रेस में लाना था। इस आन्दोलन को मुस्लिम लीग की सत्ता ही के लिए एक चुनौती के रूप में समझा गया। जिन्ना ने घोषणा की कि काँग्रेस का आन्दोलन मुसलमानों को विभक्त करने तथा उन्हें कमजोर करने के लिए और उन्हें उनके स्वीकृत नेताओं से अलग करने के लिए आरम्भ किया गया है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मुस्लिम लीग ने "इस्लाम खतरे में" का नारा लगाया। यह घोषित किया गया कि काँग्रेस शासन के नियन्त्रण के अधीन मुसलमानों का भाग्य डूबने की आशंका है। अशोक मेहता तथा पटवर्धन ने अपनी पुस्तक "साम्प्रदायिक त्रिकोण" में बताया है कि मुस्लिम लीग ऐसी स्थिति तक पहुँच गई थी कि वह किसी अन्य नीति का अनुसरण नहीं कर सकती थी, सिवाए उसके, जिसका वह अनुसरण कर रही थी। यह एक प्रतिक्रियावादी संस्था थी तथा इस पर मुसलमान राजाओं, जमींदारों, औद्योगिक लोगों तथा ऐसे अन्य व्यक्तियों का नियन्त्रण था, जो ब्रिटिश सरकार के पिट्ठू थे। मुस्लिम लीग का अपना रचनात्मक

कार्यक्रम नहीं था तथा उसके दृढ़ बनाने का एकमात्र उपाय यही था कि वह काँग्रेस की निन्दा करे अथवा उसे नीचा दिखाए। उसने पृथक् निर्वाचन के लिए माँग की तथा उसे पृथक् मत, पृथक् मतदाता तथा अधिकार-सम्पन्न संरक्षण प्राप्त हो गए। इसका अगला तर्कपूर्ण कदम एक पृथक् राज्य की माँग था।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, मुस्लिम लीग ने जोर-शोर से काँग्रेस मन्त्रिमण्डल वाले प्रान्तों में मुसलमानों पर होने वाले अत्याचारों का वर्णन आरम्भ कर दिया। मार्च, १९३८ में मुस्लिम लीग ने एक विशेष समिति नियुक्त की, जिसके नेता पीरपुर के राजा थे। इसका कार्य दमन तथा दुर्व्यवहार की उन असंख्य शिकायतों की पूछ-ताछ तथा जाँच करना था, जो मुसलमानों तथा विशेष रूप से लीग के कार्यकर्त्ताओं पर किए जा रहे थे। *पीरपुर रिपोर्ट* में काँग्रेस राज्य के आधीन मुसलमानों के कष्टों की एक सूची प्रकाशित हुई तथा यह घोषित किया गया कि "बहुमत के अत्याचार से बढ़कर और कोई अत्याचार नहीं है।" मुस्लिम लीग के अभियोग में कुछ भी सत्य नहीं था। कूपलैण्ड के कथनानुसार, "काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने साम्प्रदायिक अन्याय की नीति का आश्रय नहीं लिया; जान-बूझकर दण्ड देने की बात तो और भी दूर की है।" सर हेरी हेग, जो उत्तर प्रदेश के गवर्नर थे, के कथनानुसार, "काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने मुसलमानों के साथ औचित्य तथा न्यायपूर्ण व्यवहार किया।" काँग्रेस के प्रधान ने मुस्लिम लीग से कहा कि वे काँग्रेस राज्य के आधीन मुसलमानों के कष्टों को किसी पक्षपात-रहित ट्रिब्यूनल के समक्ष प्रस्तुत करें, किन्तु मुस्लिम लीग ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। वह केवल अत्याचारों तथा दण्ड-सम्बन्धी समस्या पर ही उस दिन तक बल देते रहे, जब तक कि काँग्रेस के मन्त्रिमण्डलों ने १९३९ में त्याग-पत्र न दे दिया। इस बीच में उसने अपनी शिकायतों के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल के समक्ष अपनी फरियाद रखी, किन्तु तत्पश्चात् उनके विषय में कुछ भी नहीं सुना गया। मुस्लिम लीग ने काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों के त्याग-पत्र पर मुक्ति-दिवस मनाया। मुस्लिम लीग मिथ्या कल्पना की सत्यता अथवा असत्यता के सम्बन्ध में सरोकार न रखती थी। उसकी पद्धति ठीक प्रकार से चलती रही। जिन्ना को भारत में मुसलमानों का वीर नेता स्वीकार कर लिया गया। वह मुस्लिम जाति का नेता बन गया तथा मुस्लिम लीग प्रतिनिधि मुस्लिम संस्था बन गई। १९३७ तथा १९४२ के मध्य में मुस्लिम लीग को मुस्लिम ६१ उप-निर्वाचनों में से ४७ स्थान प्राप्त हुए तथा काँग्रेस को केवल चार स्थान ही मिले।

पाकिस्तान—सर मुहम्मद इक़बाल को पाकिस्तान के विचार का जनक समझा जाता है। १९३० में इलाहाबाद में होने वाले मुस्लिम लीग के अधिवेशन में उसने घोषणा की कि "कम से कम उत्तर-पश्चिमी भारत के मुसलमानों का अन्तिम लक्ष्य एक पूर्ण उत्तर-पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य के निर्माण के रूप में मुझे प्रतीत होता है।" किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि इक़बाल मुसलमानों के लिए एक पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न तथा स्वतन्त्र राज्य के पक्ष में न था। कूपलैण्ड के मतानुसार, "इक़बाल सम्पूर्ण भारत के लिए एक ढीले संघ के पक्ष में था। उसके अनुसार केन्द्रीय संघीय सरकार को केवल उन्हीं अधिकारों का प्रयोग करना चाहिए, जिनके सम्बन्ध में संघीय राज्यों ने अपनी स्वतन्त्र स्वीकृति प्रदान कर दी है।" ऐसा कहा जाता है कि इक़बाल ने एडवर्ड थाम्पसन से कह

दिया था कि "पाकिस्तान की योजना ब्रिटिश सरकार, हिन्दू जाति तथा मुस्लिम जाति के लिए घातक होगी।"

इतना होते हुए भी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के कुछ मुस्लिम छात्र जो उपाधि परीक्षोत्तीर्ण नहीं थे, इक़बाल के विचारों से प्रभावित हुए। रहमतअली उनका नेता था। १९३३ में रहमतअली ने भारतीय मुसलमानों को एक जाति के रूप में वर्णित किया तथा पाकिस्तान की स्थापना के लिए एक योजना बनाई, जिसमें पंजाब, कश्मीर, सिन्ध, बलोचिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त सम्मिलित किए जाने थे। उसने हैदराबाद के उसमानिस्तान तथा बंगाल व आसाम से बने बंगे-इस्लाम की स्थापना का भी उल्लेख किया। रहमतअली ने अपने विचारों को लोगों में प्रचारित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे कुछ भी प्रोत्साहन न मिला। अगस्त, १९३३ में जफरुल्ला खान ने इस योजना को "काल्पनिक तथा अव्यवहार्य" बतलाया। १९३७ तक मुस्लिम लीग ने भी पाकिस्तान के विचार को पुष्टि प्रदान न की। १९३८ में जिन्ना ने भारत के विभाजन की माँग की। जनवरी, १९४० में उसने भारत में हिन्दू तथा मुस्लिम इन दो जातियों का उल्लेख किया।

२२ मार्च, १९४० को लाहौर में मुस्लिम लीग के अधिवेशन का सभापतित्व करते हुए जिन्ना ने घोषणा की कि मुसलमान अल्पसंख्या में नहीं हैं तथा वे किसी भी परिभाषा के अनुसार एक जाति हैं। उसके अपने ही शब्दों में, "यदि ब्रिटिश सरकार वास्तव में भारत में अपने निवासियों की शान्ति तथा प्रसन्नता प्राप्त करना चाहती है, तथा अपने कार्य में वफ़ादार है, तो हम सबके सामने एकमात्र यही मार्ग है कि भारत को स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों में बाँटकर प्रधान जातियों को अलग-अलग घर बनाने की अनुमति प्रदान करें। कोई कारण नहीं कि ये राज्य एक दूसरे के प्रति विपक्षी तथा विरोधी हों। दूसरी ओर एक पक्ष के द्वारा स्पर्धा की भावना तथा स्वाभाविक इच्छा और प्रयत्न जिसके द्वारा वह दूसरे के सामाजिक ढाँचे पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है तथा देश की सरकार में राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है—ये सब बातें समाप्त हो जाएँगी। उनमें परस्पर अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के कारण स्वाभाविक भाईचारे की भावना बढ़ेगी तथा वे अपने पड़ोसियों के साथ पूर्ण शान्ति तथा प्रेम से रह सकते हैं। इससे अल्पमतों के सम्बन्ध में मित्रतापूर्ण समझौता और भी सरलतापूर्वक स्थापित होगा तथा बदले की भावना में मुस्लिम भारत तथा हिन्दू भारत में पारस्परिक मित्रतापूर्ण एकीकरण की भावना विकसित होगी और इससे मुस्लिम तथा विभिन्न अन्य अल्पमतों के हितों का सन्तोषजनक तथा पर्याप्त संरक्षण होगा।

"यह बात अत्यन्त कठिनतापूर्वक सराही जा सकती है कि हमारे हिन्दू भाई इस्लाम तथा हिन्दुत्व के वास्तविक स्वभावों को समझने में असफल हो जाते हैं। वे शाब्दिक भावना के अनुसार धर्म नहीं हैं, किन्तु वास्तव में वे सामाजिक ढाँचे के दो विभिन्न पहलू हैं। यह एक स्वप्न है कि हिन्दू तथा मुसलमान कभी सामान्य जातीयता का निर्माण कर सकते हैं। भारतीय जाति की यह मिथ्या-भावना सीमा का अतिक्रमण कर चुकी है। यह हमारे अधिकांश कष्टों तथा विपत्तियों का कारण है। यदि हम अपनी भावनाओं को समय रहते ठीक न कर सके, तो भारत का नाश हो जाएगा। हिन्दू तथा मुसलमान दो विभिन्न धार्मिक दर्शनों, सामाजिक रीति-रिवाजों तथा साहित्यों से सम्बन्ध रखते हैं। वे कभी परस्पर

विवाह नहीं करते, परस्पर खान-पान नहीं करते तथा निस्सन्देह वे दो विभिन्न संस्कृतियों के साथ सम्बन्धित हैं, जो मुख्य रूप से विरोधी विचारों तथा भावनाओं पर आधारित हैं। जीवन के सम्बन्ध में उनके विचार भिन्न-भिन्न हैं। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि हिन्दू तथा मुसलमान इतिहास के भिन्न-भिन्न आधारों से अपनी प्रेरणा ग्रहण करते हैं। उनके इतिहास के आधार भी भिन्न-भिन्न हैं। उनके महाकाव्य अलग-अलग हैं। उनके नायक तथा वीर अलग-अलग हैं तथा उनकी कथा-वार्त्ताएँ अथवा प्रसंग अलग-अलग हैं। प्रायः एक नायक दूसरे का शत्रु होता है तथा इसी प्रकार उनकी सफलताएँ तथा पराजय परस्पर एक दूसरे का उल्लंघन कर जाते हैं। ऐसी दो जातियों को एक ही राज्य के जूए में जोतने —एक संख्या की दृष्टि से अल्पमत के रूप में तथा दूसरी बहुमत के रूप में—का परिणाम असन्तोष की वृद्धि के रूप में होगा, तथा जो आगे जाकर किसी भी प्रबन्ध के स्थायी नाश का कारण बनेगा, जिसे वास्तव में उस राज्य की सरकार के कल्याण के लिये बनाया गया था।"

पाकिस्तान का प्रस्ताव (१९४०)—२३ मार्च, १९४० को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान का प्रस्ताव स्वीकार किया। प्रस्ताव के शब्द इस प्रकार हैं, "निश्चय हुआ कि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के इस अधिवेशन का दृढ़ विचार है कि देश में कोई भी वैधानिक योजना व्यवहार्य अथवा मुसलमानों को स्वीकार्य न होगी, जब तक उसकी रूप-रेखा निम्न मौलिक सिद्धान्त पर आधारित न हो, जैसे भौगोलिक समीपता वाली इकाइयाँ ऐसे प्रदेशों में बँटी हुई हों, जिनकी स्थिति तथा प्रादेशिक एकीकरण आवश्यकतानुसार इस प्रकार किया जाए कि जहाँ-जहाँ मुसलमान बहु-संख्या में हों, जैसे कि भारत के उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी भारतीय प्रदेशों में, उन्हें 'स्वतन्त्र राज्यों' का रूप दे दिया जाए तथा वहाँ की इकाइयाँ स्वतन्त्र तथा प्रभु-सत्ता-सम्पन्न होंगी।

"इन इकाइयों में पर्याप्त, प्रभावपूर्ण तथा आज्ञा-सम्बन्धी संरक्षण स्पष्टतापूर्वक विधान में अंकित होने चाहिएँ, जो कि अल्पमतों के लिये धार्मिक, साँस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, प्रशासनिक तथा अन्य अधिकारों तथा हितों की सुरक्षा के लिये उनके परामर्श से उसमें सम्मिलित किए जाएँ तथा भारत के अन्य भागों में जहाँ मुसलमान अल्पमत में हैं, वहाँ पर्याप्त, प्रभावपूर्ण तथा आज्ञा-सम्बन्धी संरक्षणों की स्पष्टतापूर्वक विधान में उनके तथा अन्य अल्पमतों के लिये व्यवस्था की जाएगी, जिससे उनके धार्मिक, साँस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, प्रशासनिक तथा अन्य अधिकारों और हितों की रक्षा उनके परामर्श के अनुसार की जाएगी।

"यह अधिवेशन कार्यसमिति को यह अधिकार देता है कि वह संविधान के लिये एक योजना मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर बनाए, जिसमें तत्सम्बन्धित प्रदेशों के सब अधिकारों आदि की व्यवस्था हो—जैसे सुरक्षा, विदेशी मामले, यातायात, चुंगी तथा अन्य ऐसे विषय, जो आवश्यक हों।"

डाक्टर लाल बहादुर के अनुसार, "लाहौर का प्रस्ताव सैयद अहमद के जमाने से लेकर आज तक के नेताओं द्वारा जगाई गई मुस्लिम आकांक्षाओं का ऊँचे से ऊँचा रूप था। पर इसे इतने स्पष्ट रूप में पहले पेश नहीं किया गया था जितना १९४० में किया गया।

संगठनों और व्यक्तियों ने अनेक आधारों पर इसकी प्रबल आलोचना की और कुछ लोगों का खयाल था कि यह व्यवहारतः असम्भव है पर इसके बनाने वाले जानते थे कि एक दिन यह मूर्त्त रूप में आएगा और दूरदर्शी तथा राजनैतिक कल्पना-शक्ति रखने वाले लोग इस तरह की माँग के पीछे झलकने वाले खतरे को समझते थे। इसने लीग को एक नई आकांक्षा और एक नया कार्यक्रम दे दिया। दो राष्ट्रों के सिद्धान्त पर बहुत बल दिया गया और साम्प्रदायिक मतभेदों को और भी बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया गया। इसलिये यह स्वभाविक था कि काँग्रेस और मुस्लिम लीग के सम्बन्ध बिगड़ जाते।" पाकिस्तान का प्रस्ताव श्री जिन्ना के लिये व्यक्तिगत विजय भी था और इससे उसका ऐसा ताना-शाही नेतृत्व स्थापित हो गया जिसे खत्म करना असंभव था। दूसरे महायुद्ध के कारण ब्रिटिश सरकार मुस्लिम लीग के समर्थन पर अधिक भरोसा करने लगी और जिन्ना ने इस बात का पूरा-पूरा फायदा उठाया। स्वयं जिन्ना के शब्दों में, "यद्यपि घोषणा के बाद वायसराय स्वभावतः मुस्लिम लीग से मदद चाहता था, पर तभी उसने यह अनुभव किया कि मुस्लिम लीग एक शक्ति है क्योंकि युद्ध की घोषणा होने पर वायसराय ने कभी मेरी ओर ध्यान नहीं दिया बल्कि गाँधी की ओर ही ध्यान दिया। मैं समझता हूँ कि काँग्रेस हाई कमाण्ड को इससे बड़ा धक्का कभी नहीं लगा क्योंकि यह उनके भारत की ओर से बोलने के एकाधिकार को चुनौती थी।" पाकिस्तान वाले प्रस्ताव ने केन्द्र में फैडरेशन का विरोध करने वाले मुस्लिम लीग के पिछले प्रस्तावों का भी समर्थन किया। यह स्पष्ट रूप से घोषित किया गया कि फैडरेशन मुस्लिम लीग को स्वीकार नहीं। इसलिए जिन्ना ने स्वयं कहा था—"युद्ध की घोषणा होने से पहले भारत के मुसलमानों के लिये सबसे बड़ा खतरा केन्द्रीय शासन में फैडरेशन की योजना का सूत्रपात था। ब्रिटिश सरकार को केन्द्रीय फैडरेशन शासन की योजना छोड़ने के लिये प्रेरित करने में हमारा बड़ा योग रहा। पाकिस्तान वाले प्रस्ताव में वायसराय की १८ अक्तूबर, १९३९ की इस घोषणा पर सन्तोष प्रकट किया गया था कि १९३५ के शासन विधान की नीति और खाके पर पुनः विचार किया जाएगा। मुस्लिम लीग यह महसूस करती थी कि अब हमारी इतनी ताकत है कि हम यह घोषणा कर सकें कि मुसलमानों को भारत के लिये कोई ऐसी नई वैधानिक योजना स्वीकार नहीं होगी जो उनकी अपनी सम्मति के बिना बनाई गई हो। पाकिस्तान वाले प्रस्ताव में देश के विभाजन वाले सिद्धान्त को स्वीकार करने का आग्रह किया गया था। उसमें यह माँग की गई थी कि मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों को मिलाकर स्वतन्त्र राज्य बनाए जाएँ जो स्वतन्त्र और प्रभुत्व-सम्पन्न हों। प्रस्ताव में यह संभावना रखी गई थी कि भविष्य में किसी अमुक समय पर अपनी माँग को बढ़ाया जा सके। डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद के अनुसार, "जब उस योजना को विस्तृत रूप में रखने के लिये कहा गया, और यह पूछा गया कि कौन-कौन से क्षेत्र इस प्रदेश में शामिल होंगे तब उन्होंने यह बताने से इनकार कर दिया और यह आग्रह किया कि पहले यह उसूल स्वीकार किया जाए और इसके बाद ही हम कोई विस्तार की बात बता सकते हैं। प्रस्ताव में यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि मुस्लिम राज्यों को किस प्रकार की सर्वोच्चता प्राप्त होगी।" इस प्रस्ताव से जो बातें अक्सर अस्पष्ट रह जाती थीं उनके बारे में डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने ये प्रश्न रखे थे, "इससे यह सवाल पैदा होता है—(क) संविधान कौन बनाएगा? (ख) संविधान धर्मतन्त्रीय

(Theocratic), अल्पतन्त्रीय (Oligarchic), एकदलीय (Totalitarian) या और किस प्रकार का होगा ? (ग) इन स्वतन्त्र राज्यों का ब्रिटिश साम्राज्य तथा गैर-मुस्लिम क्षेत्रों के साथ क्या सम्बन्ध होगा ? (घ) अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिये जो आवश्यक सुरक्षाएँ दी गई हों, उन्हें कैसे, किस द्वारा और किसके बल पर लागू किया जाएगा ? (ङ) मुस्लिम राज्य या राज्यों में कौन-कौन से क्षेत्र शामिल होंगे ? (च) उनकी आय के साधन और स्थिति क्या होगी ? (छ) प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों आदि के विषय किसके आधीन होंगे ?"

१९४० के पश्चात् पाकिस्तान मुस्लिम लीग की विचारधारा-रूपी मेहराब का केन्द्र-बिन्दु बन गया। इस विचार का कई सूत्रों की ओर से विरोध हुआ किन्तु मुस्लिम लीग ने सभी मूल्यों पर इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त किया। आँग्ल-भारतीय नौकरशाही ने जिन्ना को उसकी इस माँग के लिये प्रोत्साहित किया।

पाकिस्तान की माँग के कारण—जिन कारणों से पाकिस्तान की माँग पैदा हुई, उनका यहाँ कुछ उल्लेख करना उचित होगा। (१) पहले यह बताया जा चुका है कि कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ मिलकर मिले-जुले मन्त्रिमण्डल बनाने से इनकार कर दिया था। मुस्लिम लीग ने इस कारण मुस्लिम अल्प-संख्यकों पर काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों के तथाकथित अत्याचारों का बहुत हल्ला मचाया।

(२) मुस्लिम लीग ने जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में काँग्रेस के जन-सम्पर्क के आन्दोलन पर भी बड़ा ऐतराज़ किया। वह मुसलमानों को अपना इजारा समझती थी। जन-संपर्क आन्दोलन के बारे में सर मुहम्मद इकबाल ने २० मार्च, १९३७ को श्री जिन्ना को लिखा था—"आपने आल इण्डिया नेशनल कन्वेशन में पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा दिया गया भाषण पढ़ा होगा। और जहाँ तक भारतीय मुसलमानों का सम्बन्ध है, इसकी आधारभूत नीति को आपने पूरी तरह समझा होगा। इसलिए मेरा सुझाव है कि आल इण्डिया नेशनल कन्वेशन का करारा जवाब दिया जाए। आप भारतीय मुसलमानों का यह राजनैतिक विचार कि वे देश में एक पृथक् राजनैतिक इकाई हैं,अधिक से अधिक स्पष्ट और प्रबल शब्दों में दोहराएँ।" अक्तूबर, १९३७ में मुस्लिम लीग के लखनऊ अधिवेशन में श्री जिन्ना ने कहा—"मैं चाहता हूँ कि मुसलमान स्थिति पर विचार करें और एक सुनिश्चित और एक-सी नीति को अपनाकर जो सारे भारत में मानी जाए, अपने भाग्य का स्वयं फैसला करें।"

(३) यह भी बतलाया गया है कि मुस्लिम मध्यवर्ग भारत में अपने भविष्य के बारे में निश्चित नहीं था। वे महसूस करते थे कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दू हमसे बढ़कर हैं। संयुक्त भारत में हमारा कोई अच्छा भविष्य नहीं है। इन्हीं लोगों ने पाकिस्तान का शोर मचाया जिसमें इन्हें बड़ी-बड़ी नौकरियाँ मिलनी निश्चित थीं।

(४) मुसलमानों ने वर्धा शिक्षा योजना और विद्या मन्दिर योजना को भी पसन्द नहीं किया। उन्हें भय था कि इससे उनके धर्म पर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना है।

(५) कुछ मुसलमानों का यह विचार था कि अगर भारत में एक मुस्लिम राज्य स्थापित हो जाए तो उससे आगे सब इस्लामी राज्यों को एक झंडे के तले लाने का स्वप्न पूरा हो सकता है। पाकिस्तान एक ऐसा केन्द्र हो सकता है जिससे विदेशी दासता से मुसल-

मानों को मुक्त करने के लिए आन्दोलन शुरू किया जा सकता है।

(६) मुसलमान अपने प्रति सवर्ण हिन्दुओं के आम रवैये को बहुत बुरा महसूस करने लगे। वे समझते थे कि हिन्दुओं के 'मुझे मत छूना' रवैये का मतलब यह था हिन्दू मुसलमानों को अपने से छोटा समझते थे। मुसलमान अपने आपको हिन्दुओं से अच्छा मानते थे और वे हिन्दुओं द्वारा सामाजिक बहिष्कार के रवैये को सहन नहीं कर सकते थे।

(७) कुछ हिन्दू महासभाई नेताओं के विचारों ने भी मुस्लिम लीगियों को उत्तेजित किया। श्री वी० डी० सावरकर ने १९३७ में हिन्दू राष्ट्र का नारा लगाया और कांग्रेस को हिन्दू-विरोधी और मुस्लिम-पक्षपाती बताया। आपने कांग्रेस का बहिष्कार करने और देश में सारी शक्ति अपने हाथ में ले लेने की हिन्दुओं से अपील की। सावरकर ने कहा कि भारत में दो पृथक् राष्ट्र हिन्दू और मुसलमान हैं। मुसलमान यह महसूस करने लगे कि इस वातावरण में हिन्दुओं से दबकर रहना पड़ेगा जिनका देश में प्रबल बहुमत है।

(८) यह भी बताया जाता है कि चैकोस्लोवाकिया के सूडेटन आन्दोलन से प्रभावित होकर मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग पेश की।

(९) भारत के ब्रिटिश अफसरों ने भी मुसलमानों को अपनी पाकिस्तान की माँग पेश करने के लिए प्रेरित किया।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मार्च, १९४२ के क्रिप्स प्रस्तावों द्वारा मुस्लिम लीग के पाकिस्तान-सम्बन्धी दावे को स्वीकार कर लिया गया। उक्त प्रस्तावों में "ब्रिटिश भारत के किसी भी ऐसे प्रान्त के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया गया, जो अपनी वर्त्तमान स्थिति को स्थिर रखने के लिए नये संविधान को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है, कि यदि वह चाहे तो अपना निर्णय करके इसमें सम्मिलित हो जाए। इस प्रकार के सम्मिलित न होने वाले प्रान्तों के लिए, यदि वे ऐसा चाहें तो सम्राट् की सरकार एक नये संविधान को स्वीकार करने के लिए तत्पर होगी तथा उनको भारत संघ के समान उसी प्रकार के पूर्ण अधिकार दिए जाएँगे। इसीलिए भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने क्रिप्स प्रस्तावों को भारतीय एकता की विचारधारा की दृष्टि से घातक चोट के रूप में वर्णित किया।"

कांग्रेस के प्रस्ताव में कहा गया था कि पहले ही किसी प्रान्त के संघ में शामिल न होने के नये सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना भारतीय एकता के विचार के लिए गहरी चोट होगा और इससे प्रान्तों में और गड़बड़ पैदा होगी और उसमें भारतीय रियासतों के भारतीय संघ में प्रविष्ट होने में और भी कठिनइयाँ आ सकती हैं।

श्री जिन्ना के अनुसार, क्रिप्स प्रस्तावों में पाकिस्तान की जो कल्पना थी वह बड़ी अस्पष्ट थी और उसके पूरा होने में भी बाधाएँ थीं। आल इण्डिया मुस्लिम लीग के इलाहाबाद के अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए ४ अप्रैल, १९४२ को श्री जिन्ना ने कहा था—"क्रिप्स प्रस्तावों में अल्पसंख्यकों को देश से अलग होने का जो अधिकार बताया जाता है, वह भ्रम मात्र है क्योंकि सब प्रान्तों में हिन्दू बहुमत के कारण अखिल भारतीय यूनियन के पक्ष में फैसला हो जाएगा और बंगाल तथा पंजाब में मुसलमान हिन्दू अल्पसंख्यकों की दया पर निर्भर होंगे। क्योंकि वहाँ के हिन्दू हिन्दुस्तान के साथ रहने के लिए

पूरी कोशिश करेंगे। मुस्लिम लीग की कार्यसमिति ने ११ अप्रैल, १९४२ को निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया--"कार्यसमिति को इस बात पर हैरानगी है कि भारत में दो या अधिक स्वतन्त्र संघों की स्थापना के लिए उपबन्ध करके परोक्ष रूप से पाकिस्तान की सम्भावना स्वीकार कर ली गई है पर समिति को यह खेद है कि ब्रिटिश सरकार के उन प्रस्तावों में जिनमें बुनियादी बातें दी गई हैं कोई परिवर्त्तन करने की छूट नहीं दी गई और कोई वैकल्पिक प्रस्ताव नहीं माँगे गये। क्रिप्स मिशन के लौटने के बाद मुस्लिम लीग का इतिहास पाकिस्तान की अधिकाधिक बढ़ती हुई माँग का इतिहास है। मुस्लिम लीग ने यह घोषित किया था कि जो योजना मुस्लिम भारत की पाकिस्तान की माँग को स्वीकार नहीं करती, उसका विरोध किया जाएगा। और जो राजनैतिक दल भारत में लोकतन्त्री राज्य बनाना चाहता है उसका मुस्लिम लीग से कोई समझौता नहीं हो सकता।

डाक्टर श्यामा प्रसाद मुखर्जी के अनुसार, "क्रिप्स प्रस्तावों से भारत की एकता और आजादी सदा के लिए खत्म हो जाएगी। तब भारत न केवल भारतीय प्रान्तों के, जो मुख्यतः धार्मिक आधार पर बने होंगे, संघर्ष का अखाड़ा बन जाएगा बल्कि विदेशी राष्ट्रों को भी षड्यन्त्र करने और फूट के बीज बोने के लिए बहुत गुंजायश मिल जायेगी।" सर विजय प्रसाद सिंह राय के अनुसार, "क्रिप्स मिशन से (१) महात्मा गांधी और कांग्रेस का रुख अधिक कठोर हो गया, (२) श्री जिन्ना और मुस्लिम लीग पाकिस्तान की माँग पर और दृढ़ हो गये; (३) श्री सी० राजगोपालाचार्य मद्रास में अपने कुछ अनुयायियों के साथ कांग्रेस से अलग हो गये; (४) कांग्रेस के अलावा अन्य राजनैतिक दलों में निराशा की भावना पैदा हो गई।" डाक्टर लाल बहादुर के अनुसार, "क्रिप्स प्रस्तावों में प्रान्तों के संघ में शामिल न होने का उपबन्ध निःसन्देह विनाशकारी था। एक ओर तो इसने पाकिस्तान की माँग को बढ़ावा दिया और दूसरी ओर इसने इसके विरोध की गुप्त भावनाओं को जगा दिया। इसलिए क्रिप्स प्रस्ताव में भारत के दो सम्प्रदायों में तनावपूर्ण सम्बन्धों के अंकुर विद्यमान थे।" (मुस्लिम लीग, पृष्ठ २९६)।

डा० लतीफ़ की योजना--डा० लतीफ़ ने भारत को साँस्कृतिक इकाइयों में बाँटने तथा पुनः संगठित करने की एक योजना बनाई। वे इस बात के पक्ष में थे कि जनसंख्या का बड़े पैमाने पर तबादला किया जाय, जिससे कि इकाइयाँ समान जाति वाली हो सकें। मुसलमानों के लिए उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी राज्यों के अतिरिक्त डा० लतीफ़ ने उनके लिए दो अन्य राज्य बनाने के सम्बन्ध में अपना सुझाव दिया। "उत्तर प्रदेश तथा बिहार में रहने वाले मुसलमानों के लिए एक केन्द्रीय प्रदेश बनाने की योजना बनाई गई, जो पटियाला से लखनऊ तक फैली हुई हो तथा रामपुर जिसके मध्य में आ जाए। इस राज्य का नाम "दिल्ली लखनऊ राज्य" रखे जाने का प्रस्ताव किया गया।" उसके ही शब्दों में "विन्ध्य तथा सतपुड़ा की पहाड़ियों के नीचे मुसलमान उत्तर में विभिन्न आबादियों में रहते हैं तथा उनकी जनसंख्या १ करोड़ २ लाख से भी अधिक है। उनके लिए भी एक इकाई बनानी होगी। यह इकाई हैदराबाद तथा बरार के संयुक्त प्रदेश में कुछ थोड़ा-सा दक्षिणी प्रदेश मिला कर बनाई जा सकती है। उक्त दक्षिणी प्रदेश करनूल तथा कुडप्पा से लेकर मद्रास नगर तक होगा। मुसलमानों में एक साम्प्रदायिक विचारधारा है। वे लोग बीजापुर के मार्ग से पश्चिमी तट का मार्ग चाहते हैं। यह थोड़ा प्रदेश, जो समुद्र तक फैला

हुआ है, बहुसंख्यक मुसलमानों की समुद्री तथा व्यवसायी जाति के बसान के लिए आवश्यक है, जो युगों से मालाबार तथा कोरोमण्डल तटों पर रहती आई है।" डा० लतीफ़ इस पक्ष में था कि कलकत्ता तथा मद्रास की बन्दरगाहें मुस्लिम इकाइयों को दे दी जाएँ।

अलीगढ़ योजना—अलीगढ़ योजना को प्रोफेसर ज़फरुल हसन तथा प्रो० मुहम्मद अफ़ज़ल हसन कादरी ने तैयार किया था । इस योजना के अनुसार बरार तथा कर्नाटक हैदराबाद को पुनः वापिस दिए जाने का प्रस्ताव था। भारत के सभी उन नगरों को जिनकी जनसंख्या ५०,००० से अधिक थी, ऐसे नगर स्वीकार कर लिया जाएगा, जहाँ से संसद् के सदस्यों का निर्वाचन होता हो तथा उन्हें स्वतन्त्र राज्य सत्ता का बहुत-सा अधिकार दे दिया जाएगा। भारत के विभाजन के पश्चात् मुसलमानों को एक पृथक् जाति के रूप में स्वीकार किए जाने की व्यवस्था की गई थी तथा उन्हें अपनी पृथक् संस्था रखने की अनुमति प्रदान की गई थी।

ऐडवर्ड थाम्पसन का जिन्ना से वार्तालाप हुआ, जिसमें एक देश में दो जातियाँ होने के परिणामों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया गया। थाम्पसन ने जिन्ना से कहा—"मि० जिन्ना, दो जातियाँ जो परस्पर एक दूसरे के सामने रहेंगी—प्रत्येक प्रान्त में, नगर में, देहात में।" जिन्ना का उत्तर इस प्रकार था—"दो जातियाँ प्रत्येक प्रान्त में, प्रत्येक नगर में तथा प्रत्येक ग्राम में आमने-सामने रहेंगी। यही एक मात्र हल है।" थाम्पसन ने उतर दिया—"यह अत्यन्त भयानक हल है, मि० जिन्ना।" जिन्ना का उत्तर इस प्रकार था—"यह एक भयंकर हल है, किन्तु यही एकमात्र हल है।" (Enlist India for Freedom, p. 52)।

राजगोपालाचार्य का फ़ार्मूला—१९४४ में राजगोपालाचार्य ने महात्मा गाँधी की स्वीकृति से मुसलमानों की माँगों को पूरा करने के लिये अपना फार्मूला पेश किया। इस योजना में पाकिस्तान के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था। इस फार्मूले के अनुसार मुस्लिम लीग को भारत की स्वतन्त्रता के लिये काँग्रेस की माँग को समर्थन प्रदान करना था। अन्तरिम काल में अस्थायी सरकार बनाने के सम्बन्ध में मुस्लिम लीग को काँग्रेस के साथ सहयोग देना था । युद्ध के पश्चात् एक आयोग बनाए जाने की व्यवस्था किए जाने का सुझाव दिया गया था, जिसके अनुसार उन मिले-जुले उत्तर-पश्चिमी तथा उत्तर-पूर्वी भारतीय प्रदेशों को अलग करना था, जिनमें मुसलमान बहुमत में हैं। इन प्रदेशों के निवासियों की इच्छा जानने के लिये मत-संग्रह किया जाएगा कि क्या वे लोग हिन्दुस्तान से पृथक् होना चाहते हैं अथवा नहीं । यदि हिन्दुस्तान से अलग होने का उन्होंने निश्चय कर लिया तो सुरक्षा, यातायात आदि के सम्बन्ध में समझौता करना होगा। वे शर्तें दोनों दलों के लिये तभी बन्धनस्वरूप होंगी, यदि ब्रिटिश सरकार देश का प्रशासन-कार्य भारतीयों के हाथों में हस्तांतरित कर दे। जिन्ना ने राजाजी का फ़ार्मूला अस्वीकार कर दिया। उसने "अंगहीन, अनेक भुजाओं वाले तथा कीड़ों से खाए हुए पाकिस्तान के उपहार की निन्दा की।" उसने घोषणा की कि वह सिन्ध, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, बलोचिस्तान, बंगाल तथा आसाम इन छः प्रान्तों से कम किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करेगा। इन प्रान्तों के इलाकों में कुछ फेर-फार के सम्बन्ध में बात-चीत के लिये उसने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी । साथ ही वह इस बात के लिये भी तैयार न हुआ

कि मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशों में रहने वाले गैर-मुस्लिमों को मुसलमानों के साथ मत देने की अनुमति दी जाए।

मन्त्रिमण्डल मिशन (Cabinet Mission)—द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर प्रान्तों में चुनाव सम्पन्न हुए। मुस्लिम लीग ४९५ मुस्लिम स्थानों में से ४४६ स्थान प्राप्त करने में सफल हो गई। यह स्पष्ट था कि मुस्लिम लीग ने शक्ति प्राप्त कर ली थी तथा पाकिस्तान की माँग पर उसने सफलता प्राप्त की थी। इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री एटली ने घोषणा की कि "ब्रिटिश सरकार पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भारत के अधिकार को स्वीकार करती है। साथ ही भारत को इस बात का भी अधिकार है कि वह ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में रहे अथवा नहीं।" उसने यह भी घोषणा की कि अल्पमत को बहुमत के मार्ग में प्रतिरोध उत्पन्न करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। उसने सरकार के इस निश्चय की घोषणा की कि मन्त्रिमण्डल का एक मिशन भारत भेजा जाएगा जिसका कार्य भारतीय समस्या के हल के सम्बन्ध में सुझाव देना होगा। मन्त्रिमण्डल मिशन भारत में मार्च, १९४६ में पहुँचा। मिशन के सदस्यों ने विभिन्न दलों के नेताओं से भेंट की। क्योंकि वे राजनैतिक दलों को किसी एक सामान्य समझौते के लिये तैयार न कर सके, इसलिये उन्होंने १६ मई, १९४६ को अपने प्रस्ताव प्रकाशित कर दिए। मुस्लिम लीग की पाकिस्तान के लिये माँग पर ध्यानपूर्वक परीक्षा करने के पश्चात् मिशन इस परिणाम पर पहुँचा कि एक अधिकार-सम्पन्न मुस्लिम राज्य की स्थापना अव्यवहार्य है। साम्प्रदायिक समस्या के लिये पाकिस्तान एक स्वीकार्य हल नहीं है। भारत के अनेक स्वतन्त्र राज्यों के संघ के रूप में सुझाव दिया गया। संघीय सरकार को बहुत कम अधिकार प्रदान किए गये। प्रान्तों के समूहीकरण के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई। काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग में प्रान्तों के समूहीकरण के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो गया। काँग्रेस का विचार यह था कि प्रान्तों का समूहीकरण एक ऐच्छिक बात है। लीग का विचार था कि यह आवश्यक है। अन्त में ६ दिसम्बर, १९४६ को ब्रिटिश सरकार ने लीग के पक्ष में अपनी व्याख्या घोषित की।

मन्त्रिमण्डल मिशन योजना में अन्तरिम सरकार के निर्माण के सम्बन्ध में कुछ बाधाएँ उपस्थित हुईं। १० जून, १९४६ को लार्ड वेवल ने काँग्रेस के छः, मुस्लिम लीग के पाँच तथा अल्पमतों के तीन प्रतिनिधियों को निमन्त्रित किया। काँग्रेस ने इस अधिकार की माँग की कि छः प्रतिनिधियों की सूची में एक मुस्लिम राष्ट्रीय प्रतिनिधि को सम्मिलित करने की अनुमति दी जाय। उसकी माँग के अस्वीकार किये जाने पर काँग्रेस ने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। मुस्लिम लीग ने माँग की कि उसे काँग्रेस के बिना ही सरकार के निर्माण करने की अनुमति दी जाय। लार्ड वेवल ने इस विचार को स्वीकार नहीं किया तथा उसने सरकारी अफसरों की "काम चलाऊ" सरकार नियुक्त कर दी। जिन्ना ने ब्रिटिश सरकार पर दोषारोपण किया तथा २९ जुलाई १९४६ को मुस्लिम लीग ने मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति वापिस ले ली। इसने निश्चय किया कि पाकिस्तान की प्राप्ति के लिये तथा अंग्रेजों के आधीन वर्त्तमान पराधीनता से तथा हिन्दुओं के सम्भावित प्रभुत्व से छूटने के लिये सीधी कार्रवाई का एक कार्यक्रम तैयार किया जाए।

६ अगस्त, १९४६ को लार्ड वेवल ने काँग्रेस को केन्द्र में अन्तरिम सरकार बनाने

का निमन्त्रण दिया तथा उसने यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग ने १६ अगस्त, १९४६ का दिन सीधी कार्रवाई के दिन के रूप में मनाने के लिये निश्चित किया। लीग के इस कार्य को सफल करने के लिये बंगाल के लीगी मन्त्रिमण्डल ने १६ अगस्त का दिन सार्वजनिक अवकाश के रूप में घोषित कर दिया। उस दिन कलकत्ता तथा सिलहट में बहुत रक्तपात हुआ। कलकत्ता के इस महान् हत्याकाण्ड के पश्चात् नोआखाली तथा तिपराह में रक्तपात हुआ। अपहरण, बलात्कार, इस्लाम में ज़बर्दस्ती धर्म-परिवर्त्तन तथा परिवारों की निराश्रयता की अनेक घटनाएँ हुईं।

२ सितम्बर, १९४६ को वेवल ने अन्तरिम सरकार के सदस्यों को वायसराय भवन के कौंसिल-कक्ष में आज्ञाकारिता की शपथ ग्रहण करवाई। जब यह कार्य भीतर चल रहा था तब बाहिर भीड़ में प्रतिद्वन्द्वी दल इस प्रकार के नारे लगा रहे थे—"हिन्दुस्तान की विजय हो, कांग्रेस कमेटी ज़िन्दाबाद, तथा कांग्रेस समाप्त हो, पाकिस्तान ज़िन्दाबाद।'

लीग अन्तरिम सरकार में अपना कार्य करने के लिये प्रविष्ट होने के लिये उत्सुक थी। यद्यपि मुस्लिम लीग ने अन्तरिम सरकार के अन्य सदस्यों के साथ सहयोग की भावना से कार्य करने का अश्वासन नहीं दिया तथा विधान सभा के विचार-विनिमय में सम्मिलित होने की स्वीकृत भी प्रदान नहीं की, तथापि लार्ड वेवल ने लीग के मनोनीत पाँच सदस्यों को ले लिया।

संविधान सभा की पहली बैठक ९ दिसम्बर, १९४६ को हुई। मुस्लिम लीग ने इसका बहिष्कार किया तथा संविधान सभा के प्रस्तावों को "सामर्थ्य से बाहिर, नियम-विरुद्ध तथा गैर-कानूनी" घोषित किया।

बिहार, गढ़मुक्तेश्वर, लाहौर तथा रावलपिण्डी में दंगे हो गए। मुसलमानों ने हलाकू तथा चंगेज़खान के दिनों को पुनः लाने की धमकी दी। लीग आन्दोलनों को दबाने के लिये पंजाब में कुछ भी नहीं किया गया तथा उस प्रान्त में शान्ति तथा कानून को भंग होने दिया गया। इस प्रकार के कानून भंग के वातावरण में २० फरवरी, १९४७ को इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री ने कहा कि अंग्रेज सरकार भारतीयों के हाथों में जून, १९४८ से पूर्व ही शक्ति का हस्तांतरण कर देगी। यह भी घोषित किया गया कि ब्रिटिश सरकार को यह सोचना होगा कि उक्त तिथि पर ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय सरकार के अधिकारों को किसे सौंपा जाय, चाहे सामूहिक रूप में ब्रिटिश भारत के लिये किसी प्रकार की केन्द्रीय सरकार को अथवा कुछ प्रदेशों में विद्यमान प्रान्तीय सरकारों को अथवा किसी अन्य ऐसे मार्ग को अपनाया जाए, जो सर्वाधिक न्याय-संगत प्रतीत हो तथा भारतीय लोगों के सर्वाधिक हितों में हो।

लार्ड माउण्टबेटन की ३ जून, १९४७ वाली योजना में भारत तथा पाकिस्तान इन दो पृथक् उपनिवेशों की स्थापना की व्यवस्था की गई थी तथा १५ अगस्त, १९४७ के दिन ब्रिटिश सरकार को भारत से हट जाना था। बंगाल तथा पंजाब के प्रान्तों का विभाजन होना था। ब्रिटिश संसद् ने भारतीय-स्वतन्त्रता अधिनियम जुलाई १९४७ में स्वीकृत किया तथा १४ अगस्त, १९४७ को एम० ए० जिन्ना को पाकिस्तान का गवर्नर-जनरल घोषित कर दिया गया तथा इस प्रकार पाकिस्तान ने एक वास्तविकता का रूप धारण किया।

Questions for Revision

1. Trace briefly the origin and history of communal electorates in India since 1906.

2. "It is probable that the far-reaching consequences of this decision (weighted separate representation of Muslims in the legislatures) and the difficulties which it would create at a later stage were not fully foreseen." Discuss.

3. Examine the proposition that the introduction of communal representation in India in 1909 introduced an unhealthy element in the body politic of India which ultimately involved a surgical operation.

4. What factors led to the establishment of Pakistan ?

5. Trace the history of the movement for the establishment of Pakistan in India.

अध्याय २३

आधुनिक भारत के नेता

(Leaders of Modern India)

हमारे देश में राष्ट्र के विकास को ठीक तरह से समझने के लिये आधुनिक भारत के नेताओं के जीवन और कार्यों का अध्ययन उचित होगा और इस अध्याय में उस पर प्रकाश डाला गया है।

दादा भाई नौरोजी (१८२५-१९१७)—दादा भाई नौरोजी ने ६१ वर्ष भारत की सेवा की—४० साल काँग्रेस की स्थापना के पहले और २१ साल उसके बाद। आप स्थायी रूप से इंग्लैंड में बस गए थे और वहाँ हाउस आफ कामन्स के सदस्य चुने गए थे। कुछ समय तक आप बड़ौदा के मन्त्री रहे। आपने इंग्लैंड में ब्रिटिश इण्डिया सोसायटी की स्थापना की थी, जिसका उद्देश्य भारत के पक्ष में प्रचार करना था।

आप तीन बार १८८६, १८९३ और १९०६ में काँग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। दूसरी बार, अर्थात् १८९३ में आपको काँग्रेस का अध्यक्ष इस कारण चुना गया था कि आप कामन सभा के सदस्य चुने गए थे। उस अवसर पर आपने अंग्रेजों को समझाया था कि वे शिक्षित भारतवासियों को अपनी ओर खींचने की बजाए अपने विरोध में न खड़ा करें। आपने यह आशा प्रकट की थी कि हमारा यह विश्वास झूठा नहीं सावित होगा कि इंग्लैंड न्याय से स्वभावत: प्रेम करता है।

आप १९०६ में इसलिए काँग्रेस के अध्यक्ष चुने गए, चूँकि नरम दली लोग यह महसूस करते थे कि वही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनका गरम दल वालों द्वारा विरोध किये जाने की सम्भावना नहीं है। उस समय देश में बड़ी उत्तेजना थी। बंगाल में विभाजन-विरोधी आन्दोलन चल रहा था। स्वदेशी और बायकाट की हवा गरम थी। १९०६ में भी दादा भाई नौरोजी को अंग्रेजों के न्याय में विश्वास था। आपने १९०६ के अध्यक्षीय भाषण में ये शब्द कहे थे—"हमारा भविष्य हमारे अपने हाथ में है। यदि हम अपने प्रति और अपने देश के प्रति सच्चे हैं और अपनी उन्नति तथा सुधार के लिए सब कुर्वानी करते हैं तो मुझे जरा भी सन्देह नहीं कि अंग्रेज जैसे न्याय-प्रिय लोगों के साथ हमारा व्यवहार और वात-चीत व्यर्थ नहीं गई है। इसी विश्वास ने मुझे सब कठिनाइयों के मुकावले में सहारा दिया है।" पर इस वात से इनकार नहीं किया जा सकता कि काँग्रेस के मंच से सबसे पहले स्वराज्य माँगने का श्रेय दादा भाई नौरोजी को ही है। कलकत्ता अधिवेशन में उनके अध्यक्षीय भाषण में स्वराज्य पर ही वल दिया गया था। आपने कहा था—'हम मेहरवानी के लिए नहीं कहते। हम तो सिर्फ इंसाफ चाहते हैं। अपने अधिकारों आदि के बारे में बहुत लम्बी-चौड़ी वातें करने के बजाए सारी बात एक शब्द में कही जा सकती है—स्वशासन या स्वराज्य जैसा ब्रिटेन में या उसके उपनिवेशों में है।"

१९०६ में उनकी अध्यक्षता में स्वशासन, बायकाट आन्दोलन, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा पर निम्नलिखित चार प्रस्ताव स्वीकार किये गये :—

(१) **स्वशासन**—निश्चय किया गया कि इस काँग्रेस की राय में वही शासन-

प्रणाली भारत में लागू की जाए जो ब्रिटेन के स्वशासी उपनिवेशों में है और इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए यह कांग्रेस अनुरोध करती है कि निम्नलिखित सुधार अभी किये जाएँ :

(क) जो परीक्षाएँ सिर्फ इंग्लैंड में होती हैं वे एक साथ इंग्लैंड और हिन्दुस्तान दोनों में हों और सब ऊँची नियुक्तियाँ, जो भारत में की जाती हैं, प्रतियोगिता परीक्षाओं द्वारा ही की जाएँ।

(ख) मद्रास और बम्बई के गवर्नरों की कौंसिलों में भारतीयों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो।

(ग) केन्द्रीय और प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिलों का विस्तार किया जाए जिससे जनता का अधिक अच्छा और सचमुच कारगर प्रतिनिधित्व हो सके और देश के वित्तीय और दूसरे प्रशासन पर अधिक नियन्त्रण हो सके।

(घ) स्थानीय और म्युनिसिपल कमेटियों की शक्तियाँ बढ़ाई जाएँ और उन पर सरकारी नियन्त्रण इतने से अधिक नहीं होना चाहिए जितना इंग्लैंड में लोकल गवर्नमेंट पर होता है।

(२) **बायकाट आन्दोलन**—यह निश्चय किया गया कि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि इस देश के प्रशासन में इसकी जनता की कोई आवाज नहीं है और उसके आवेदनों पर सरकार उचित विचार नहीं करती, इस कांग्रेस की यह राय है कि बंगाल में उसके विभाजन का विरोध करने के लिये जो बायकाट आन्दोलन शुरू किया गया है, वह कानूनन ठीक था और है।

(३) **स्वदेशी**—निश्चय किया गया कि यह कांग्रेस स्वदेशी आन्दोलन का हार्दिक समर्थन करती है और देश के लोगों से अपील करती है कि वे स्वदेशी उद्योगों को बढ़ावा दें और विदेशी माल के मुकाबले में कुछ मँहगा होने पर भी स्वदेशी माल खरीदें।

(४) **राष्ट्रीय शिक्षा**—निश्चय किया गया कि इस कांग्रेस की राय में वह समय आ गया है जब लड़कों और लड़कियों दोनों के लिये राष्ट्रीय शिक्षा के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए और साहित्य, विज्ञान तथा यांत्रिक विषयों की ऐसी शिक्षा-प्रणाली बनानी चाहिए जो देश की आवश्यकताओं के लिये ठीक और राष्ट्रीय आधार पर तथा राष्ट्रीय नियन्त्रण में हो।

दादा भाई नौरोजी पहले भारतीय नेता थे जिन्होंने भारतीय जनता का ध्यान इस ओर खींचा कि देश पर ब्रिटिश शासन होने के कारण भारत की सम्पत्ति बड़ी तेजी से ब्रिटेन जा रही है। आपने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "*पावर्टी एण्ड ब्रिटिश रूल इन इण्डिया*" में अपने विचार प्रकट किए। दादा भाई नौरोजी ने १९०५ में जे० डी० सण्डरलेंड को इस प्रकार लिखा था—"भारत का हाल बड़ा दुःखदायी है। उसकी दशा गुलाम की सी है, बल्कि उससे भी बुरी है। उसका हाल ऐसा है कि उसे लगातार लूटा जा रहा है और लूट का माल देश से बाहर भेज दिया जा रहा है। अंग्रेजों के आने से पहले भारत को लूटने के लिये जो हमले हुए उनमें हमलावर यहाँ से चले जाते थे और बीच में बहुत समय तक शान्ति रहती थी जिसमें देश की हालत सुधर जाती थी और वह फिर धनी और समृद्ध हो जाता था। पर आज यह बात नहीं है। ब्रिटिश आक्रमण लगातार जारी है, और लूट

भी बिना रुके चल रही है और असल में तो वह बढ़ रही है और इस तरह लूटे गये भारतीय राष्ट्र को अपनी हालत सुधारने का कोई मौका नहीं है। डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार, दादा भाई नौरोजी ने बताया था कि किस तरह १८९३-९४ से आबादी १४ फीसदी बढ़ी, पर सरकार का प्रशासन का खर्च १६ फीसदी बढ़ा, पर १८८४-८५ से आबादी १८ फीसदी बढ़ी थी और खर्चा १७ फीसदी। अकेला सैनिक खर्चा १७ करोड़ से बढ़कर ३२ करोड़ हो गया था जिसमें से सात करोड़ इंग्लैंड में खर्च किया जाता था। वैलबाई कमीशन ने सैनिक खर्चा इंग्लैंड और भारत के बीच बाँटने की जो सिफारिश की थी, वह शाब्दिक रूप से तो मानी गई पर उसकी भावना की अवहेलना कर दी गई क्योंकि इंग्लैंड ने उसमें से कुछ खर्चा तो दिया पर अंग्रेज सैनिकों की तनख्वाह इतनी बढ़ा दी कि उस खर्चे की तिगुनी राशि इंग्लैंड ने वापिस ले ली।

डाक्टर पट्टाभी सीतारमैया के अनुसार, दादा भाई नौरोजी का नाम भारतीय देशभक्तों की सूची में सबसे पहले आता है। उनका काँग्रेस की स्थापना के समय से ही इससे सम्बन्ध रहा और अपने जीवन के अन्तिम दिन तक वह इसकी सेवा करते रहे और उन्होंने इसे शिकायतें दूर कराने वाली एक मामूली संस्था से उठाकर स्वराज्य प्राप्ति के एक निश्चित उद्देश्य के लिये काम करने वाली एक राष्ट्रीय सभा बना दिया। सच तो यह है कि ऐसे आदमी की सेवाओं का कुछ पृष्ठों में बयान करना असम्भव है, जिसने लगातार भारत की उन्नति के लिये काम किया, जिसकी कलम कभी नहीं रुकी और जिसे भगवान् ने ७० वर्ष से अधिक बहुत बड़ी आयु दी। दादा भाई अपने पीछे न केवल अपने समर्पित जीवन का आदर्श छोड़ गये हैं बल्कि अपनी धेवतियाँ भी छोड़ गये हैं, जो उन द्वारा डाली गई महान् परम्पराओं को आगे बढ़ाती हैं। सी० वाई० चिन्तामणि के अनुसार, ६१ वर्षों तक इंग्लैंड में और भारत में दिन और रात प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थितियों में और ऐसी निराशाजनक दशाओं में भी, जिनमें और किसी आदमी का दिल टूट जाता, दादा भाई ने अटल भाव से पूर्ण निःस्वार्थ भाव और शक्ति से मातृभूमि की सेवा की। वह महान् आत्मा थे और दूसरे के प्रति बड़े उदार विचार रखते थे और उनका किसी से व्यक्तिगत द्वेष नहीं होता था। उच्चतम व्यक्तिगत चरित्र और महान् जन-सेवा, इन दोनों की दृष्टि से दादा भाई नौरोजी अपने देशवासियों के लिये सबसे ऊँचा आदर्श थे। भारत के सार्वजनिक जीवन में बहुत से उज्ज्वल रत्न और निःस्वार्थ देश-भक्त हुए हैं। हमारे जमाने में उनमें से किसी की भी तुलना दादा भाई नौरोजी से नहीं की जा सकती। गोखले के अनुसार, अगर मनुष्य में कहीं दिव्यता हो सकती है तो वह दादा भाई नौरोजी में थी।

गोपाल कृष्ण गोखले (१८८६-१९१५)––गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म १८८६ में कोल्हापुर में हुआ था। उनमें दिल और दिमाग की योग्यताएँ अद्भुत थीं और उन्होंने जीवन में बड़ी तेजी से उन्नति की। आप १८ वर्ष की आयु में ग्रेजुएट हुए, २० में प्रोफेसर हुए, २२ में बम्बई लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य और ३९ में इण्डियन नेशनल काँग्रेस के सभापति हुए। आप में कठिन परिश्रम करने का बड़ा सामर्थ्य था। आपका ज्ञान विस्तृत, विविध और यथार्थ था। बात को सीधे और स्पष्ट रूप में कहने में आप बड़े कुशल थे। चिन्तामणि के अनुसार, जो गोखले को अपना गुरु मानते थे, "गोखले बौद्धिक दृष्टि से

इतने ईमानदार थे कि वे पहले अपने आपसे अच्छी तरह जिरह किए बिना कभी कोई राय प्रकट नहीं करते थे।"

उन्होंने अपना जीवन अध्यापक के रूप में और जस्टिस रानाडे के अनुयायी के रूप में शुरू किया था, और डाक्टर जकारिया ने ठीक कहा है कि गोखले के रूप में रानाडे को जैसा शिष्य मिला था वैसा उपयुक्त शिष्य कभी किसी गुरु को नहीं मिला होगा। गोखले ने अपने गुरु की भावना को ग्रहण किया, और वे कभी रानाडे द्वारा निर्धारित मृदुता और मधुर तर्कसंगतता के रास्ते से नहीं हटे। आप डैकन एजूकेशन सोसाइटी के सदस्य बन गये, और शीघ्र ही फरगुसन कालेज के प्रिंसिपल हो गये। लगभग २० वर्ष तक आप सिर्फ ७०) रुपये मासिक की तनख्वाह पर काम करते रहे। १८८७ में आप पूना सार्वजनिक सभा के तिमाही अखबार के सम्पादक बन गये। बाद में आप डैकन सभा के आननेरी सेक्रेट्री बने। १८९७ में आप भारतीय व्यय पर वेलबाई कमीशन के सामने गवाही देने इंग्लैंड गए। नमक टैक्स से गरीब आदमियों को जो परेशानी भुगतनी पड़ती थी, उसके कारण आपने उस टैक्स की आलोचना की। आपने देश के ऊँचे पदों पर भारतीयों को नियुक्त न करने की सरकार की नीति की आलोचना की। आपने बंगाल के विभाजन की निन्दा की और ये कटु शब्द कहे, "तो मैं इतना ही कह सकता हूँ कि नौकरशाही के साथ जनता के हित की दृष्टि से सहयोग करने की सारी आशा सदा के लिये खत्म हुई।" १९०५ में आप भारत की ओर से प्रचार करने के लिये इंग्लैंड गए। आप दक्षिणी अफ्रीका गए, और वहाँ आपने महात्मा गाँधी को उनके काम में मदद दी। और उनके ही सुझाव पर महात्मा जी ने इस देश में आकर अपना सार्वजनिक जीवन शुरू करने का निश्चय किया। १९०५ में गोखले ने गुजारा भर लेकर और सख्त अनुशासन के नियमों के प्रति तथा साम्राज्य के प्रति निष्ठा के आधीन रहते हुए, मातृभूमि की सेवा करने के लिये प्रतिज्ञा करते हुए सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को ट्रेनिंग देने के लिये सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी की स्थापना की। इस सोसाइटी की संविधान की प्रस्तावना में गोखले ने इस प्रकार लिखा, "अब हमारे काफी देशवासियों को इस काम में धार्मिक भावना से अपने आपको खपाने के लिये आगे बढ़ना चाहिए। सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिक रूप दिया जाना चाहिए। देश का प्रेम दिल में इस तरह भर जाना चाहिए कि उसके सामने और सब बातें महत्त्वहीन मालूम हों।"

गोखले को सदा उन भूखे, दुबले किसानों का ध्यान रहता था, जो दो रोटियों के लिये सुबह से शाम तक मेहनत करते थे और जिनकी पार्लियामेंट में कोई आवाज़ नहीं थी और जो उन सब बोझों को सहने के लिये तैयार थे जिन्हें भगवान् और मनुष्य उनके ऊपर डालना चाहें।

भारत के राष्ट्रीय विकास के इतिहास में गोखले के स्थान के विषय में अलग-अलग विचार हैं। भारत के गरम-दलीय तो उन्हें कमजोर दिलवाला नरम-दलीय कहते थे जो ब्रिटिश सरकार के हाथों में जान-बूझकर हथियार बनने को तैयार थे। और दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी उन्हें छिपा हुआ राजद्रोह-पक्षपाती समझते थे। असलियत यह है कि वे न क्रान्तिकारी थे और न प्रतिक्रियावादी थे। दोनों चरम मार्गों से नफरत करते थे। वे एक रचनात्मक नेता थे जो भारत की जनता के अधिकारों और आजादियों के लिये लड़ते थे पर वे भारत सरकार की कठिनाइयों को नज़रन्दाज करने को भी तैयार नहीं थे। वे सरकार से

कहते थे कि वह भारतीयों के दृष्टिकोण को समझे और भारतीयों से वह सावधानी से आगे बढ़ने को कहते थे। यह ठीक कहा गया कि गोखले जनता की अकांक्षाएँ वायसराय को बताते थे और सरकार की कठिनाइयाँ कांग्रेस के सामने रखते थे। जनता उनकी नरम नीति को बुरा कहती थी और सरकार उनकी गरम नीति की बुराई करती थी। उनका कार्य दोनों पक्षों को मिलाने का कार्य था। उनका विचार यह था कि एक दूसरे से ईर्षा और घृणा करने से ब्रिटेन और भारत दोनों को हानि है, और सद्भावना और स्वस्थ सहयोग से बहुत कुछ लाभ हो सकता है। गोखले ने लिखा था, "जो अंग्रेज यह समझता है कि भूतकाल की तरह भविष्य में भी भारत पर बहुत अधिक दिन शासन किया जा सकता है और जो भारतीय यह समझता है कि हमें इस साम्राज्य से बाहर होकर, जिसके आज हम एक हिस्सा हैं, अपना रास्ता बनाना चाहिए, दोनों ही मौजूदा हालत की यथार्थताओं को अपर्याप्त रूप से समझते हैं।"

गोखले कानून और व्यवस्था की स्थापना को बड़ा महत्त्व देते थे और इस काम के लिए भारत सरकार को असाधारण शक्तियाँ देने को तैयार थे। यद्यपि इण्डियन प्रेस एक्ट, १९१० भारत सरकार का बड़ा उग्र कदम था और देश में लोकमत ने उसकी निन्दा की थी तो भी आपने केन्द्रीय विधान सभा में उस बिल का समर्थन किया था।

मिण्टो-मार्ले के सुधारों को पास कराने में गोखले ने जो कुछ किया वह प्रसिद्ध है। आपने इण्डियन नेशनल कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में उन सुधारों को सरकार द्वारा भारतीय जनता को दी गई बड़ी और उदार रियायतें बताया। आपका यह विचार था कि जनता अव्यवस्था और गड़बड़ी में दिलचस्पी नहीं रखती; अगर वे इस काम में पड़ते हैं तो सदा कोई न कोई असन्तोष का कारण होगा। अकलमन्दी का रास्ता यह है कि दमन करने के बजाए स्थिति का विश्लेषण किया जाए और गड़बड़ के कारण को हटा दिया जाए। गोखले ने कहा था—"एक ही तरीका है जिससे सरकार के प्रति असन्तोष दूर किया जा सकता है और वह यह है कि सरकार स्थिरता और साहस से मेल-मिलाप की नीति अपनावे।" उन्होंने १९०९ के सुधारों के निर्माता लार्ड मिण्टो तथा मार्ले की जिन शब्दों में प्रशंसा की थी उनसे भी यही ढंग प्रकट होता है। आपने कहा था "मेरा पक्का विश्वास है कि आपने और लार्ड मार्ले ने भारत को अराजकता की ओर जाने से बचा लिया है क्योंकि कोई सरकार कितनी भी ताकतवर हो पर वह किसी जाति की आकाँक्षाओं को दमन द्वारा दबाकर नहीं रख सकती और न रख सकेगी।"

नरम दलीय विचारधारा के अनुसार, आप भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए वैधानिक तरीके अपनाने के पक्षपाती थे। व्यक्तिगत रूप से उन्हें क्रान्तिकारी तरीकों में कोई विश्वास नहीं था। वे न केवल स्वयं वैसे विचार रखते थे पर अपने देशवासियों को भी उसी मार्ग पर चलाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने १९०५-१९०८ की अवधि में देश के सब भागों की यात्रा की। निजी बात-चीत और सार्वजनिक विचार-विनिमय द्वारा आपने लोगों को क्रान्तिकारी तरीकों की निरर्थकता समझाने का यत्न किया। आपने देश के भावी विकास पर गैर-कानूनी कार्यों का बुरा असर पड़ने की बात समझाई और कहा सरकार के कार्यों के खिलाफ स्मरण-पत्र, याचिकाएँ, आवेदन और शान्तिपूर्ण प्रदर्शन ही सरकार के विरुद्ध, विरोध-प्रदर्शन के एकमात्र कानून-सम्मत साधन हैं। आपने कहा था कि हमारा

लक्ष्य आकस्मिक या हिंसक उथल-पुथल से प्राप्त नहीं किया जा सकता बल्कि एक-एक करके कदम उठाने से ही हासिल किया जा सकता है।

गोखले बीसवीं शताब्दी के शुरू में नरम दलीय विचारधारा के सच्चे नमूने थे। वे दिल से देश का भला चाहते थे और सरकार की गलतियों और मूर्खताओं पर उसकी आलोचना करने को तैयार रहने पर भी जहाँ सम्भव होता वहाँ उसका समर्थन करते। वे भारत की आजादी की लड़ाई संसदीय संस्थाओं के जरिये लड़ना चाहते थे। वे जनता को राजनैतिक संस्थाओं से सम्बन्धित करके भारतीय प्रशासन का आधार बड़ा करना चाहते थे पर वे अंग्रेजों के हाथ से सत्ता छीनने के लिए क्रान्तिकारी उपाय प्रयोग नहीं करना चाहते थे। इसके बावजूद वे अपने जमाने के बहुत बड़े देशभक्तों में से थे। प्रोफेसर शाहानी के अनुसार, गोखले का सार्वजनिक जीवन भारत की आधुनिक नरम दलीय राजनैतिक विचारधारा का पूरा लेखा-जोखा था। इस विचारधारा को अधिकतर आपने ही बनाया और प्रभावित किया था और अधिकतर उदासीन और आसान जिन्दगी पसन्द करने वाले भारतवासियों द्वारा या उद्दण्ड अराजकतावादियों द्वारा या हठी और सहानुभूतिशून्य सरकारी अफसरों द्वारा और क्रुद्ध तथा विरोधी ब्रिटेन द्वारा पैदा की गई चिन्ताजनक अवस्थाओं में जोर-शोर से इसे कायम रखा।

हाईलैण्ड के अनुसार, गोखले जो कुछ सम्भव था, उसे करने में विश्वास करते थे; वे प्रथम कोटि के रचनात्मक नेता थे। जरूरतमन्दों की सेवा के लिए पूर्व और पश्चिम को मिलाने वाले, सबसे बढ़कर वे एक आदर्शवादी थे, भविष्य-द्रष्टा थे, अन्तर-जातीय सद्भावना और सहयोग के नये युग के पैगम्बर थे। वी० एच० रदरफोर्ड के अनुसार, वे ऊपर से नीचे तक कूटनीतिज्ञ थे और यह जानते थे कि किस तरह सरकार को नाराज किए बिना राष्ट्रीय माँगों को रखा जाए। तिलक के अनुसार, गोखले भारत का हीरा, महाराष्ट्र का रत्न और मजदूरों के राजा थे। महात्मा गांधी के अनुसार, "सर फीरोजशाह मुझे हिमालय की तरह अगम्य मालूम हुए, लोकमान्य महासागर की तरह लगे जिसमें आदमी आसानी से नहीं घुस सकता, पर गोखले गंगा के समान थे जो लोगों को अपने पास बुलाते थे। राजनीति के क्षेत्र में मेरे हृदय में गोखले के जीवन-काल में जो स्थान था और अब भी है, वह अनुपम रहा।" लाला लाजपतराय के अनुसार, गोखले कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं में सबसे ऊँचे और अच्छे थे। और उनकी देशभक्ति बहुत ऊँचे ढंग की थी।

बाल गंगाधर तिलक (१८५६-१९२०)—बाल गंगाधर तिलक का जन्म २३ जुलाई, १८५६ को हुआ था और आपकी मृत्यु १ अगस्त, १९२० को हुई। आपका जन्म महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आप कट्टर हिन्दू और हिन्दू धर्मशास्त्रों के पण्डित थे। आपने १८७९ में कानून की डिगरी प्राप्त की और आगरकर के साथ मिल कर जनता को सस्ती शिक्षा देने के लिए एक स्कूल चलाया। उनके चलाए हुए पूना न्यू इंग्लिश स्कूल ने थोड़े ही समय में बड़ी तरक्की की। दूसरे कार्यकर्त्ताओं के साथ मिलकर 'केसरी' और 'मराठा' अखबार शुरू किए गए। आपका डैकन ऐजुकेशनल सोसाइटी और फर्गुसन कालेज की स्थापना में भी हाथ था। आपने आगरकर और गोखले का साथ छोड़ दिया क्योंकि उनके साथ आपकी पटरी नहीं बैठी। आप ऊपर बताए गए दोनों अखबारों के मालिक हो गए और अपने विचारों के प्रचार के लिए उनका प्रयोग करने लगे।

पूना में आपने कानून की कक्षाएँ चलायीं और बहुत दिन तक यही आपकी जीविका का मुख्य साधन रहा।

आपने महाराष्ट्र के हिन्दुओं में वीरता की भावना पैदा करने के लिए गौ-हत्या विरोधी सोसाइटियाँ, अखाड़े और लाठी क्लब खोले जिससे वे लोग देश की आजादी के लिए कुर्बानी कर सकें। आपने गणपति उत्सव संगठित किया और ऐसा करने में आपका उद्देश्य नौजवानों में धार्मिक और देश-प्रेम का उत्साह भरना था। उन्हें साहस, उत्साह और अनुशासन की एक साथ शिक्षा मिलती। गणपति उत्सव हर साल और अधिक लोकप्रिय होता गया, और इसने लाखों महाराष्ट्रवासियों को एक मंच पर इकट्ठा कर दिया। इसने उनमें एकता की भावना पैदा की। इसने उनमें एक नया उत्साह जगाया। तिलक ने १८९५ में शिवाजी आन्दोलन शुरू किया। आपका उद्देश्य भारत के नौजवानों को शिवाजी के पद-चिह्नों पर चलने के लिए प्रेरित करना था, जिससे भारत को विदेशियों की राजनैतिक दासता से छुटकारा दिलाया जा सके। शिवाजी उत्सव पर भाषण, लाठियों के मुकाबले, जलूस, कथा और कीर्तन होते थे। शिवाजी ने अफजलखां की जो हत्या की थी, उसके बारे में तिलक ने कहा था—"शिवाजी ने अच्छे आशय से दूसरों के लाभ के लिए अफजलखां की हत्या की थी। अगर हमारे मकान में चोर घुसें और हममें उन्हें भगाने की ताकत न हो तो हमें निस्संकोच उन्हें बन्द कर देना चाहिए और जिन्दा जला देना चाहिए।"

१८९७ में तिलक पर मुकदमा और सजा—१८९७ में तिलक को राजद्रोह के लिए गिरफ्तार किया गया और जज स्ट्रेची द्वारा १८ महीने की सख्त सजा दी गई। उनका मुकदमा सुनने वाली जूरी में ६ यूरोपियन और ३ हिन्दुस्तानी थे और सब यूरोपियनों ने उन्हें दोषी ठहराया, पर सब हिन्दुस्तानियों ने उन्हें निर्दोष ठहराया।

१९०८ में सजा—१९०८ में आप पर राज-द्रोह के लिए मुकदमा चलाया गया और आपको ६ साल कैद की सजा दी गई। जूरी में ७ यूरोपियन और दो हिन्दुस्तानी थे। सब यूरोपियनों ने उन्हें दोषी ठहराया और सब हिन्दुस्तानियों ने उन्हें निर्दोष ठहराया। तिलक को १९०८ से १९१४ तक बर्मा की माँडले जेल में ६ वर्ष काटने पड़े।

तिलक ने सर वेलेंटाइन चिरोल पर मानहानि का मुकदमा चलाया और वे उसके लिए खुद इंग्लैण्ड गए। भारत सरकार और ब्रिटिश अफसरों ने पूरी तरह चिरोल की सहायता की। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि वे मुकदमा हार गए।

जब १९१४ में पहला महायुद्ध शुरू हुआ, तब उन्होंने भारत के लोगों से अंग्रेजी सरकार को ज्यादा मदद देने के लिए कहा। जब आपने ऐसा कहा तब आप ब्रिटिश सरकार से भी ऐसी ही आशा करते थे। तिलक दो साल तक इस नीति पर चलते रहे। सरकार की ओर से उदारता के बजाए भारत के सरकारी अधिकारियों ने उनके शुरू किए हुए होम-रूल-आन्दोलन में सब तरह के रोड़े अटकाए। नतीजा यह हुआ कि तिलक ने सरकार की खुलेआम आलोचना शुरू कर दी। उनका यह निश्चित कथन था कि यदि भारत के लोगों को होम-रूल का आश्वासन न दिया जाए तो उन्हें युद्ध में ब्रिटिश सरकार की मदद नहीं करनी चाहिए।

राष्ट्रभाषा-विषयक विचार—तिलक यह सुझाव रखने वाले पहले काँग्रेसी नेता थे

कि देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा हो। दिसम्बर १९१५ में नागरी प्रचारिणी सभा के एक सम्मेलन में आपने कहा कि देवनागरी न केवल सब आर्य भाषाओं की लिपि होनी चाहिए, बल्कि वह राष्ट्रभाषा की भी लिपि होनी चाहिए।

तिलक एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् थे। काम में लगे रहने पर भी उन्होंने वेदों की प्राचीनता के बारे में दो ग्रंथ लिखे, जिनके नाम 'ओरायन' तथा 'आर्कटिक होम आफ दि वेदाज़' हैं। जान हापकिन्स विश्वविद्यालय के डाक्टर ब्लूमफील्ड ने 'ओरायन' को उस साल का साहित्यिक क्षेत्र में सनसनी पैदा करने वाला ग्रंथ बताया था। इसी प्रकार तिलक की रचना 'गीता रहस्य', जो उन्होंने माण्डले जेल में लिखी थी, एक महान् रचना है, और दार्शनिक विचारणा की उनकी सबसे बड़ी देन मानी जाती है। इस पुस्तक में तिलक ने गीता का नया अर्थ पेश किया। आपने इस पुराने विचार का खण्डन किया था कि मुक्त आत्मा का प्राणियों के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। तिलक ने भारत के सामने एक नया आदर्श रखा और यह आदर्श था, जनता की निःस्वार्थ सेवा का आदर्श।

अवज्ञा का दर्शन (Philosophy of Defiance)—तिलक की एक बड़ी देन यह थी कि उन्होंने भारत की जनता को अवज्ञा का दर्शन सिखाया। वह उस युग में पैदा हुए थे जिसे काला युग कहा जा सकता है। विदेशी शासन के प्रबल प्रभाव ने जनता को लाचार कर दिया था। गदर के असफल हो जाने से जनता का अंग्रेजी राज्य से लड़ने का हौसला टूट गया था। यह ठीक है कि कांग्रेस की स्थापना १८८५ में हुई थी। पर ब्रिटिश सरकार ने इसे कोई गम्भीर बात न समझा था। शुरू में इसे हानिरहित और नरम विचारों वाली संस्था समझा गया था। यह राज-भक्ति का प्रस्ताव पास करती थी और ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा और समृद्धि की प्रार्थना करती थी। कांग्रेस द्वारा पास किए गए प्रस्तावों में विरोधी आलोचना का एक शब्द भी नहीं होता था। सर फिरोज शाह मेहता, जस्टिस रानाडे और गोखले जैसे देशभक्तों की देशभक्ति में कोई संदेह नहीं कर सकता था, पर उनकी दृष्टि सीमित थी। नरम दल वाले भारत में प्रशासन की कमियाँ बताते थे, पर वे अंग्रेजी सत्ता को चुनौती देने से हमेशा डरते थे। नतीजा यह था कि उनके प्रचण्ड भाषण का ब्रिटिश शासकों पर कोई असर नहीं पड़ता था। उन्हें मालूम था कि उनकी आग जलाती नहीं और उनकी तनी हुई तलवारों में धार नहीं है। नरमदलियों के भाषणों का एक नमूना सर फीरोजशाह मेहता के निम्नलिखित भाषण में मिलेगा जो उन्होंने १९०५ में कांग्रेस अधिवेशन में दिया था—"मैं महादेव गोविन्द रानाडे की तरह प्रयत्नवादी हूँ। मैं मनुष्य द्वारा ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति में विश्वास करता हूँ। मैं ब्रिटिश शासन को तथा दुनिया के एक कोने पर मौजूद एक छोटे से द्वीप की अपने से इतने भिन्न और दूर स्थित महाद्वीप पर हकूमत होने को ईश्वरीय इच्छा मानता हूँ।" ब्रिटिश राज्य को ईश्वरीय इच्छा मानने वाले सर फिरोजशाह मेहता अकेले ही नहीं थे। लाखों हिन्दुस्तानी ऐसा ही मानते थे और इस बात से पता चलता है कि जब तिलक ने भारत में ब्रिटिश शासन के सच्चे रूप के बारे में लोगों को जगाने का आन्दोलन शुरू किया तब उनके सामने कितना कठिन काम था।

तिलक का यह विचार था कि कांग्रेस की नीति बदलनी चाहिए। कांग्रेस को सत्ता को चुनौती देना सीखना होगा। उसे देश की आजादी हासिल करने के लिये कुर्बानी को

तैयार रहना चाहिए। वह यह नहीं चाहते थे कि भारत की आजादी हासिल करने के लिये लोग हिंसक बनें, पर यदि शान्तिपूर्ण तरीकों से हिन्दुस्तान आजाद नहीं हो सकता, तो हिंसा करने में भी कोई हानि न थी। उनका यह विचार था कि साध्य साधन को उचित बना देता है। उन्होंने स्वदेशी का और हर विदेशी चीज का वहिष्कार करने का कार्यक्रम पेश किया। वे यह नहीं चाहते थे कि काँग्रेस छोटी-छोटी बातों के लिये लड़े। वे चाहते थे कि देश की आजादी के लिये लड़ा जाये। उन्होंने काँग्रेस का कार्यक्रम बदलने के लिये नेशनल पार्टी की स्थापना की। यह सच है कि १९१४ तक नरम दल वालों को अपनी मनमानी करने की आजादी रही—खास तौर से १९०८ से १९१४ तक जब तिलक माण्डले जेल में वन्द थे। पर जब वह वाहर आए तब नरमदली उनका मुकाबला न कर सके। उन्हें बड़ी सफलता मिली। काँग्रेस हर साल प्रस्ताव पास करके अपना उद्देश्य भारत की जनता के लिये स्वशासन प्राप्त करना घोषित करने लगी। उन्होंने काँग्रेस को ब्रिटिश सरकार की प्रशंसक से बदलकर ब्रिटिश साम्राज्य की विद्रोही बना दिया। यह ठीक ही कहा गया है कि महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू स्वराज्य का विशाल भवन लोकमान्य तिलक द्वारा रक्खी गई बुनियादों पर ही खड़ा कर सके।

तिलक के भाषणों में आग होती थी। वे जो कुछ कहते थे, बेधड़क कहते थे। उन्हें 'भारतीय अशान्ति का पिता' कहा गया है। ब्रिटिश सरकार उन्हें सब से अधिक खतरनाक व्यक्ति समझती थी। बम्बई के गवर्नर ने भारत मन्त्री को इस प्रकार लिखा था—"तिलक मुख्य षड्यन्त्रकारियों में से है, या सब से मुख्य षड्यन्त्रकारी है। उसने भारत में ब्रिटिश शासन की सब कमजोरियों का बड़ी सावधानी से अध्ययन किया है। उसके गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव, पैसा-फंड और राष्ट्रीय स्कूल, इन सबका एक ही उद्देश्य है—अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंका जाए।"

तिलक के हृदय में अंग्रेजी शासन के खिलाफ जो आग थी उसका पता उनके भाषणों के कुछ अंशों से लग सकता है। १९०६ में भाषण करते हुए तिलक ने कहा था—"आपमें से बहुत से हथियारों को पसन्द नहीं करते, पर अगर आप में सक्रिय विरोध की ताकत नहीं है तो क्या आप में आत्म-त्याग करने की यह शक्ति भी नहीं है कि इस विदेशी सरकार को अपने ऊपर शासन करने में सहायता न दें। यह बायकाट है और जब हम यह कहते हैं कि बायकाट या बहिष्कार राजनैतिक हथियार है, तब हमारा यही मतलब होता है। हम उन्हें मालगुजारी जमा करने और शान्ति कायम रखने में सहायता नहीं देंगे, हम उन्हें भारत से बाहर भारत के जन, धन से लड़ने में सहायता नहीं देंगे। हमने उन्हें न्याय कार्य करने में सहायता नहीं देनी, हम अपना अलग रास्ता पकड़ेंगे और हम अपना अलग रास्ता बनायेंगे और जब समय आएगा तब हम टैक्स नहीं देंगे। अगर आप मिल-जुलकर यह कर सकते हैं तो कल से ही आप आजाद हैं।"

तिलक अच्छे वक्ता नहीं थे। उनकी आवाज में घरघराहट थी, और वह बहुत ऊँचाई तक नहीं जा सकती थी, फिर भी वे बड़े प्रभावकारी ढंग से बोलते थे, और उनके भाषण साफ और सीधे होते थे, और वे जिस बात पर बल देना चाहते थे, उससे कभी इधर-उधर नहीं होते थे। उनकी आदतें बड़ी सरल और मितव्ययी थीं। वे प्रदर्शनों से बचते थे पर तब भी उन्हें प्रदर्शनों में रहना पड़ता था। वे आन्दोलन और अशान्ति

का जीवन बिताते थे। उन्हें सरकार और अपने राजनैतिक विरोधियों दोनों से लड़ना पड़ता था। एक दृष्टिकोण से उनका जीवन बाधाओं का जीवन था। अपनी कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने अपने मन की शान्ति कायम रखी। अपने बुरे से बुरे दिनों में भी वे प्रसन्न रहे, और दूसरों के लिये प्रेरणा के स्रोत बने रहे। उन्होंने अंग्रेजी के राजनैतिक शब्दों के लिये बहुत से पर्यायवाचक शब्द बनाये; उन्हीं में से एक 'नौकरशाही' शब्द मराठी और हिन्दी को उनकी देन है।

रामगोपाल के अनुसार, "महात्मा गांधी ने तिलक की मृत्यु के बाद जितने आन्दोलन किए वे सब तिलक ने पहले ही किये थे। लगान न देने पर आन्दोलन, सरकारी नौकरी का बहिष्कार, शराब बन्दी, स्वदेशी इन सबका तिलक ने प्रचार किया था। उन्होंने १८९७ में ही पूर्ण आजादी की बात कही थी।" पुनः, "उनका जीवन दिव्य जीवन था और उनके देशवासियों ने उन्हें न केवल लोकमान्य की पदवी दी बल्कि तिलक भगवान् कहकर भी उन्हें पुकारा। वे चारों ओर के अंधेरे में मशालची की तरह सामने आए।"

१९०८ में लोग 'तिलक महाराज की जय' और 'छत्रपति तिलक महाराज की जय' के नारे लगाते थे। उन्हें शिवाजी की तरह महान् माना जाता था। १९०८ में बम्बई के उपद्रवों के दिनों में एक तग़मा बनाया गया था जिसके एक ओर शिवाजी की मूर्ति थी और दूसरी ओर तिलक की। शिवाजी और तिलक के नाम बहुधा एक दूसरे के साथ बोले जाते थे, और तिलक को वह आदमी समझा जाने लगा जो अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से निकालेगा। स्वामी श्रद्धानन्द के अनुसार, "महाराज तिलक का राजनैतिक कार्य करने वाले प्रथम कार्यकर्त्ताओं में बहुत ऊँचा स्थान है। उन्होंने सबसे पहले राजनैतिक एकता के सिद्धान्त का प्रचार किया। मातृभूमि की सेवा के लिये और किस वीर पुरुष ने इतने कष्ट सहे हैं जितने इस महापुरुष ने। क्या मातृभूमि की सेवा करने वाले सैनिक इस बूढ़े सेनापति के आगे सिर नहीं झुकायेंगे?"

१९०८ में मार्निंग लीडर ने तिलक के बारे में यह लिखा था—"इंग्लैंड में बहुत ही थोड़े आदमी होंगे, जो यह समझ सकें कि पूना के राष्ट्रीय नेता श्री बालगंगाधर तिलक की गिरफ्तारी का भारत में वास्तव में क्या अर्थ है। उनका निजी प्रभाव देश पर और सब राजनीतिज्ञों से बढ़कर है। वे अपने दक्षिण के सबसे प्रमुख व्यक्ति हैं और बम्बई से लेकर बंगाल की खाड़ी तक प्रत्येक गरम विचारों वाला उनकी एक तरह की धार्मिक भावना से पूजा करता है। सूरत में नेशनल कांग्रेस की फूट उनका ही काम थी। उन्होंने ही इसकी योजना बनाई, उन्होंने ही इसका प्रचार किया और उन्होंने ही उस असाधारण आन्दोलन को दिशा दी, जिसके खिलाफ नौकरशाही अब अपने सब साधनों को इकट्ठा कर रही है। वे एक साथ विचारक भी हैं और योद्धा भी।

तिलक और गोखले की तुलना—इण्डियन नेशनल कांग्रेस का इतिहास लिखने वाले डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया ने इन शब्दों में तिलक और गोखले की तुलना करने की कोशिश की है—"तिलक और गोखले दोनों ऊँचे दर्जे के देशभक्त थे। दोनों ने जीवन में बड़ी कुर्बानियाँ की थीं पर उनके स्वभाव एक दूसरे से बहुत भिन्न थे। अगर हम उस समय की भाषा का प्रयोग करें तो गोखले नरम विचारों के थे और तिलक गरम विचारों के। गोखले का लक्ष्य मौजूदा संविधान को सुधारना था, तिलक उसे नये सिरे से बनाना

चाहते थे। गोखले को आवश्यक रूप से नौकरशाही के साथ मिलकर काम करना था, तिलक को उससे आवश्यक रूप से लड़ना था। गोखले जहाँ हो सके वहाँ सहयोग और जहाँ जरूरी हो वहाँ विरोध के पक्षपाती थे। तिलक रुकावट डालने की नीति को पसन्द करते थे। गोखले को प्रशासन और उसके सुधार की मुख्य चिन्ता थी, तिलक को राष्ट्र और उसकी उन्नति का विचार था। गोखले का आदर्श प्रेम और त्याग, तिलक का आदर्श सेवा और कष्ट-सहन था। गोखले का तरीका विदेशियों को अपने पक्ष में करने का यत्न करना था, तिलक का तरीका उन्हें हटाना था। गोखले दूसरों की सहायता पर निर्भर थे, तिलक अपनी सहायता आप करना चाहते थे। गोखले उच्च वर्गों और शिक्षित लोगों को प्रेरित करते थे, तिलक आम जनता को। गोखले का अखाड़ा था कौंसिल-भवन, तिलक का मंच था पंचायत-घर। गोखले का उद्देश्य था स्वशासन, जिसके लिये लोगों को अंग्रेजों द्वारा पेश की गई कसौटियों पर खरा उतर कर अपने को योग्य बनाना था, तिलक का उद्देश्य था स्वराज्य, जो हर हिन्दुस्तानी का जन्मसिद्ध अधिकार है और जिसे वे विदेशी से लेकर रहेंगे। गोखले अपने जमाने के स्तर पर थे। तिलक अपने जमाने से बहुत आगे थे।

महात्मा गाँधी (१८६९-१९४८)—भारतीय राष्ट्र के पिता महात्मा गाँधी का जन्म काठियावाड़ के पोरबन्दर स्थान में २ अक्तूबर, १८६९ को हुआ था। ७९ साल की आयु में उन्हें दिल्ली में गोली से उड़ा दिया गया। उनके पिता पोरबन्दर और राजकोट में दीवान थे। १२ वर्ष की आयु में उनका विवाह हो गया था। १९ साल की आयु में वे बैरिस्टरी पढ़ने इंग्लैण्ड चले गए। भारत से जाने से पहले उन्होंने अपनी माता से यह प्रतिज्ञा की कि मैं माँस, शराब और स्त्रियों से दूर रहूँगा।

बैरिस्टरी पास करने के बाद गाँधीजी राजकोट में वकालत करने लगे और वहाँ से बम्बई चले गये। बम्बई में रहते हुए गाँधीजी का राजचन्द्ररावजी भाई से घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ। राजचन्द्ररावजी भाई का उन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। असल में गाँधी जी ने सत्य और अहिंसा का पहला पाठ राजचन्द्रराव से ही सीखा।

गाँधीजी एक मुस्लिम फर्म की तरफ से मुकदमे के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गये। दक्षिण अफ्रीका में उनके राजनैतिक जीवन का निर्माण हुआ। दक्षिण अफ्रीका में ही उन्होंने अपने सत्याग्रह के हथियार को आजमाया। उनमें संघर्ष का नेतृत्व करने के लिये आत्म-विश्वास पैदा हो गया। उस देश में ही उन्होंने अपने देशवासियों को भय को छोड़ने, बुराई का सच्चाई से मुकाबला करने और कभी कदम पीछे न हटाने की शिक्षा भी दी।

गाँधीजी को १९०६ में काम करने का मौका मिला, जब दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने एशियाटिक रजिस्ट्रेशन एक्ट पास किया। इस कानून के अनुसार सब एशियाई लोगों के लिए जरूरी था कि वे अपना नाम रजिस्टर करवाएँ और अपने अँगूठों के निशान दें। इसमें जो अपमान था उसे सहना हिन्दुस्तानियों के लिये असम्भव था। गाँधीजी ने इस कानून के खिलाफ विरोध-प्रदर्शन ही नहीं किया बल्कि वे एक डैपुटेशन भी इंग्लैण्ड ले गये, पर इन बातों का कोई फल नहीं निकला। गाँधीजी के नेतृत्व में हिन्दुस्तानियों ने अपने को रजिस्टर कराने या अँगूठों का निशान देने से बिल्कुल इनकार कर दिया। नतीजा

यह हुआ कि हजारों हिन्दुस्तानियों को जेल में डाल दिया गया। गाँधीजी को दो महीने की कैद हुई। चूँकि यह नया ही आन्दोलन था और सरकार को कोई रास्ता दिखाई नहीं दिया, इसलिये समझौता किया गया। हिन्दुस्तानियों ने अपनी इच्छा से अपने आपको रजिस्टर्ड करवाना स्वीकार कर लिया और गाँधीजी ने सबसे पहले रजिस्ट्रेशन के लिये अपने आपको पेश किया पर जब ट्राँसवाल के अधिकारियों ने समझौते के अनुसार काम नहीं किया तब दोबारा संघर्ष करना पड़ा। हिन्दुस्तानियों के साथ होने वाले व्यवहार पर हिन्दुस्तान में बहुत रोष था। इसके बाद ट्राँसवाल में मार्च (March) हुआ। गाँधीजी के नेतृत्व में २००० आदमियों ने ट्रांसवाल पर मार्च किया। यह मार्च एक महान् घटना थी। यह सत्य का असत्य के खिलाफ, न्याय का अन्याय के खिलाफ, अहिंसा का हिंसा के खिलाफ मार्च था। एक जाँच कमीशन बैठाया गया और अन्त में वह एशियाटिक कानून रद्द कर दिया गया। पोल टैक्स रद्द कर दिया गया। हिन्दुस्तानियों में होने वाली शादियाँ मंजूर की गई।

दक्षिण अफ्रीका में विजय हासिल करके महात्मा गाँधी १९१४ में भारत आए। उस समय उन्हें अंग्रेजों की न्यायप्रियता में पूरा विश्वास था। उन्होंने हिन्दुस्तानियों से यह अपील की कि अंग्रेजी सरकार की बिना शर्त मदद की जाए। पर १९१८ के बाद उनके मन में ब्रिटिश शासन के आदर्शों के बारे में शक पैदा होने लगे। जनता के विरोध के बावजूद रौलेट एक्ट पास होने से उनके मन पर बड़ा असर पड़ा। उनका यह पक्का विश्वास हो गया कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन शैतानी शासन है।

सितम्बर १९२० में कलकत्ता में काँग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ और इसी अधिवेशन से गाँधी-युग की शुरूआत होती है। गाँधीजी के नेतृत्व में काँग्रेस जनता की अधिकाधिक प्रतिनिधि होती गई और वह स्पष्ट आर्थिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक कार्यक्रम अपनाती रही और यह सब कार्यक्रम एक आदमी की प्रतिभा के परिणाम थे।

महात्मा गाँधी ने अपने असहयोग आन्दोलन को खिलाफत आन्दोलन के साथ मिला दिया। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता में विश्वास करते थे। कुछ समय तक इस ऊपरी सहयोग के बावजूद यह मालूम हुआ कि दिलों की एकता पैदा नहीं हुई है। हिन्दुओं और मुसलमानों में मतभेद पैदा हो गया। मालाबार में मोपला विद्रोह ने हिन्दुओं की आँखें खोल दीं। बम्बई में जिस दिन प्रिंस आफ वेल्स आया उस दिन दंगे हो गये। फरवरी १९२२ में उत्तर प्रदेश में गोरखपुर के पास चौरीचौरा में भयंकर दंगा हो गया। वहाँ एक भीड़ ने २१ सिपाहियों और एक थानेदार को थाने में बन्द करके ज़िन्दा जला दिया। नतीजा यह हुआ कि गाँधीजी ने असहयोग आन्दोलन रोक दिया। सरकार ने उन्हें कैद कर लिया और ६ साल की सादी कैद की सजा दी।

कौंसिल-प्रवेश के बारे में काँग्रेस में फूट पड़ गई। मोतीलाल नेहरू और चितरंजनदास इस पक्ष में थे कि काँग्रेस कौंसिल में जाए और सरकार से लड़े। पर कुछ समय बाद समझौता हो गया और स्वराज्य पार्टी को गाँधीजी का आशीर्वाद मिल गया।

उसके बाद से गाँधीजी न केवल काँग्रेस पर बल्कि देश की सारी राजनीति पर हावी रहे। उनकी स्थिति सर्वथा अनुपम थी। १९३१ में वे दूसरी राउन्ड टेबल कान्फ्रेंस

में भाग लेने लन्दन गये पर ब्रिटिश सरकार और श्री जिन्ना के रवैये के कारण खाली हाथ वापिस आए, उन्होंने कई बार अनेक कारणों से आमरण अनशन किए । हिन्दुस्तान को उनके नेतृत्व में १५ अगस्त, १९४७ को आजादी मिली । ३० जनवरी, १९४८ को एक धर्मान्ध हिन्दू ने उनकी हत्या कर डाली ।

महात्मा गाँधी को ठीक ही राष्ट्रपिता कहा गया है । वे हर दृष्टि से आधुनिक भारत के बनाने वाले थे । उनके नेतृत्व में ही हिन्दुस्तान ने आजादी हासिल की । यह सच है कि तिलक ने गाँधीजी से पहले ही यह कहा था कि भारत में नरम दल वालों की भीख माँगने की नीति के स्थान पर ब्रिटिश सरकार के खिलाफ सख्त नीति अपनाई जाए पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि गाँधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रवादी आन्दोलन थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों के आन्दोलन से बढ़ कर जन-आन्दोलन बन गया । उन्होंने इस उद्देश्य पर पहुँचने के लिये कई तरीके अपनाए, उन्होंने असहयोग आन्दोलन चलाया, सिविल नाफरमानी आन्दोलन चलाया, उन्होंने देश के कानूनों को तोड़ा । उनके ही नेतृत्व में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया, उन्होंने अनशन किया, गिरफ्तार हुए और ब्रिटिश साम्राज्य की ताकत को चुनौती दी । पर यह सब उन्होंने एक उद्देश्य से किया और वह था इस देश की आजादी । नगेन्द्रनाथ गुप्त ने भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन में महात्मा गाँधी की देन का इन शब्दों में उल्लेख किया है—"महात्मा गाँधी के आन्दोलन ने कुछ ऐसे आदमियों को प्रकाश में ला दिया है जो हाल के जमाने में हिन्दुस्तान के महत्तम लोग हैं, जो किसी भी देश में किसी भी समय महान् समझे जाएँगे। अगर महात्मा गाँधी पैगम्बर हैं तो वे निस्सन्देह उनके शिष्य हैं । भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को दो भागों में बाँटा जा सकता है । एक वह जो महात्मा गाँधी के कांग्रेस में शामिल होने से पहले था और दूसरा वह जिसमें वे इसके सबसे प्रमुख नेता बन गये । पहले की अवस्था में कांग्रेसी लोग आन्दोलन और लेक्चरबाजी तक सीमित रहते थे । अपने जन्म-सिद्ध अधिकार की बातें दोहराते थे । होमरूल की माँग और सरकारी कार्यों की आलोचना करते थे । वैधानिक सुधारों तक ही वे सीमित थे, उनमें से सबसे बड़े लोग ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कुर्बानी करते थे । बाकी लोग सिर्फ देखते और सुनते थे । यह अवस्था कितने ही समय तक चलती रहती और इससे हिन्दुस्तान की आजादी की आशा न पैदा होती । इसके बाद महात्मा गाँधी आए और अपना ट्राँसवाल का अनुभव, अपना आध्यात्मिक दृष्टिकोण, अपना मीठा स्वभाव और अपनी दृढ़ संकल्प-शक्ति लेकर आए । हिन्दुस्तान में उनकी पुकार की इन्तजार करने वाले दिल पहले मौजूद थे और उन्होंने फौरन यह समझ लिया कि आगे कैसा संघर्ष होने वाला है । तब से भारत में राष्ट्रीय आजादी का संघर्ष बढ़ता ही गया और आज यह सारे राष्ट्र में फैल गया है । यह बड़ा शानदार रिकार्ड है जिसमें स्त्रियों ने भी पुरुषों के साथ मिलकर कुर्बानियाँ कीं । पहले जैसी सावधानी और डर हमेशा के लिये दूर हो गये । जेलखाना कोई जलालत की चीज न रहा, और कष्ट सहने में कोई संकोच या अनिच्छा नहीं दिखाई दी । नर-नारियों में शहीद होने की भावना भर गई ।"

महात्मा गाँधी साम्प्रदायिक एकता पर बड़ा जोर देते थे । उनका विश्वास था कि मुसलमानों और हिन्दुओं को देश में भाई-बहिनों की तरह मिलकर रहना चाहिए और

ऐसा करने की कोशिश करते हुए ही जब भारत में खिलाफत आन्दोलन के बाद भारत के कई हिस्सों में मुसलमानों द्वारा किये हुए हिन्दुओं पर जुल्मों के कारण मुसलमानों और हिन्दुओं के सम्बन्ध बिगड़ गए तब महात्मा गाँधी ने सितम्बर १९२४ में २१ दिन का अनशन किया। १९४६ और १९४७ में मुस्लिम लीग की सीधी कार्रवाई की नीति के परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक हालत खराब हो गई। तब अगस्त १९४६ में कलकत्ते की मारकाट हुई। नोआखली में उससे भी बुरा हाल हुआ। बिहार और गढ़मुक्तेश्वर (यू० पी०) में उसकी प्रतिक्रिया हुई। फिर रावलपिंडी, लाहौर आदि में दंगे हुए। जब अगस्त, १९४७ में भारत का विभाजन हुआ, तब हिन्दू और मुसलमानों में बड़ी भारी मारकाट हुई। इससे महात्मा गाँधी को बड़ी तकलीफ पहुँची। १५ अगस्त, १९४७ को दिल्ली में हकूमत हिन्दुस्तानियों को सौंपने के समारोह में हिस्सा लेने के बजाय महात्मा गांधी ने पूर्वी बंगाल में नोआखली जाने का फैसला किया। नंगे पाँव वे गाँव-गाँव में घूमे और उन्होंने वहाँ शान्ति कायम करने की कोशिश की। अपने जीवन की परवाह नहीं की जिसे कोई भी मुसलमान किसी भी समय खत्म कर सकता था। वहाँ शान्ति कायम करने के बाद आप बिहार आये और आपने हिन्दुओं से कहा कि मुसलमानों को जो डर के मारे भाग गये हैं फिर यहाँ बसाओ। इसके बाद आप कलकत्ता गए, और वहाँ आपने मुसलमानों के खिलाफ लोगों का गुस्सा शान्त किया। महात्मा गांधी के ७२ घंटे के उपवास से कलकत्ते का वातावरण बदल गया। लार्ड माउन्टबेटन के शब्दों में, "जो काम ५० हज़ार हथियारबन्द सिपाही नहीं कर सकते थे वह महात्माजी ने कर दिया है। उन्होंने शान्ति कायम कर दी है। वे अकेले ही सीमा सेना हैं।" कलकत्ते के बाद महात्मा गांधी दिल्ली आए। यहाँ हिन्दुओं ने मुसलमानों को दिल्ली से निकालने का फैसला कर रखा था। लाखों शरणार्थी पश्चिमी पाकिस्तान से दिल्ली आये थे और वे कहते थे कि मुसलमानों को निकाल कर हमारे लिए जगह बनाओ। अगर कुछ दिनों तक महात्मा गाँधी दिल्ली न आते तो वे अपने उद्देश्य में सफल हो जाते। महात्मा गाँधी ने हिन्दुओं को मुसलमानों को बाहर नहीं निकालने दिया, उन्होंने उपवास कर लिया और हिन्दुओं से कहा कि वे मुसलमानों को दिल्ली में रहने दें। मुसलमानों की मसजिदें उन्हें वापस कर दी गई और उन्हें शान्ति से रहने दिया गया।

महात्मा गांधी एक महान् समाज-सुधारक थे। उन्होंने भारत में हरिजनोद्धार के काम का बीड़ा उठाया और इसमें सारी जिंदगी लगा दी। उन्होंने हिन्दुओं से कहा कि हरिजनों के खिलाफ पुरानी भावनाओं को छोड़ो, उनकी पूजा के लिए मन्दिर खोलो। वे स्वयं हरिजनों में जाकर रहे। ये लोग पहले अछूत कहलाते थे। गांधीजी ने इन्हें हरिजन कहकर पुकारा। हरिजन नाम से उन्होंने एक अखबार भी निकाला, जिसका वे संपादन करते रहे। वे छुआछूत को हिन्दू समाज पर अभिशाप समझते थे। आजादी के बाद बनाये गए भारत के शासन-विधान में उसे खतम कर दिया गया। उनका खयाल था कि गरीब हिन्दुस्तानियों की जिन्दगी सुधारने के लिए शराब पीने को रोकना होगा और इसीलिए वे शराब-बन्दी के हामी थे। वे यह जानते थे, कि शराब-बन्दी की नीति से सरकार को करोड़ों रुपये की हानि होगी, पर वे देश के ऊँचे हितों को देखते हुए यह कुर्बानी करने को तैयार थे। वे स्त्रियों के अधिकारों के समर्थक थे और उन्हें पुरुषों के बराबर का दर्जा

देना चाहते थे। बहुत-सी स्त्रियों ने भी उनके साथ काम किया और उनमें से कुछ आज देश में बड़े ऊँचे पदों पर हैं।

गाँधीजी का विश्वास था कि शिक्षा की मौजूदा पद्धति भारत जैसे गरीब मुल्क के लिए ठीक नहीं। वे ज्यादा उपयोगी शिक्षा-पद्धति के पक्ष में थे। उनकी देखरेख में ‘बुनियादी तालीम की योजना बनाई गई, जिसके अनुसार लिखने-पढ़ने के साथ बच्चों को कोई कला भी सिखाई जाती।

महात्मा गाँधी स्वदेशी के पक्ष में थे। सच तो यह है कि उनका अंग्रेजों के खिलाफ यह एक हथियार था। वे यह मानते थे कि हिन्दुस्तानियों के विदेशी वस्तुओं का बायकाट करने से अंग्रेजों को झुकाया जा सकेगा। मानचेस्टर और लंकाशायर की मिलों के बन्द होने से अंग्रेजों को जरूर आर्थिक हानि पहुँची। स्वदेशी अपनाने से भारत की जनता को लाखों रुपयों का लाभ हुआ। महात्मा गांधी ने खादी को सबसे अधिक महत्त्व दिया क्योंकि इससे इस देश के गरीब आदमी की आमदनी बढ़ सकती थी।

महात्माजी पश्चिमी देशों की तरह भारत में उद्योग फैलाने के पक्ष में नहीं थे। वे छोटे उद्योगों के समर्थक थे। उनका कहना था कि इससे गरीबों का भला हो सकता है।

महात्माजी मजदूरों के समर्थक थे पर वे हड़तालों को अच्छा नहीं समझते थे क्योंकि इससे देश की हानि होती है।

मूल्यांकन (Estimate)—भारत के राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद के अनुसार, "महात्मा गाँधी ने भारतीय राजनीति को बहुत भारी चीज दी है। जब वे १९१५ में आखिरी तौर से दक्षिण अफ्रीका से भारत लौट आए तब काँग्रेस ३० साल से मौजूद थी। काँग्रेस ने राष्ट्रीय चेतना को जगाया था और कुछ दूर तक उसे संगठित किया था। पर यह जाग्रति अधिकतर अंग्रेजी पढ़े-लिखे मध्य वर्गों तक सीमित थी और जनता तक नहीं पहुँची थी। उन्होंने इसे आम जनता तक पहुँचाया और एक जन-आन्दोलन खड़ा कर दिया। महात्मा गाँधी का आन्दोलन ऊपर-नीचे और दायें-बायें सब तरफ चला। उन्होंने ऐसे सवाल भी उठाए जो पूरी तरह राजनीतिक नहीं थे, बल्कि जिनका बहुत बड़े जन-समूह के जीवन से बड़ा निकट सम्बन्ध था। पर महात्मा गाँधी की सबसे बड़ी देन यह नहीं है कि उन्होंने भारत की जनता में चेतना पैदा कर दी और उन्होंने इतने बड़े पैमाने पर संगठित किया जितने पर कभी संगठित नहीं हुए थे। मुझे लगता है कि भारतीय राजनीति को और शायद दुनिया के सारे पीड़ित इंसानों को उनकी सबसे बड़ी देन वह अनोखा तरीका है जो उन्होंने बुराई से लड़ने के लिए बताया और इस्तेमाल किया। उन्होंने हमें बतलाया कि जबर्दस्त ब्रिटिश साम्राज्य से बिना हथियारों के कैसे लड़ा जा सकता है। उन्होंने हमें और दुनिया को युद्ध की जगह एक नैतिक साधन दिया है। उन्होंने राजनीति को बड़ी-बड़ी बातों और असत्य से उठाकर एक ऊँचे आदर्शवाद पर पहुँचा दिया जिसमें लक्ष्य चाहे जितना अच्छा हो पर शुद्ध साधनों के अलावा और किसी तरह के साधन किसी भी हालत में उचित नहीं ठहराये जा सकते। उन्होंने सत्य को राजनीति में भी सबसे ऊँचा रखा। चाहे उस समय इसका प्रभाव कितना ही हानिकारक मालूम देता हो उनका स्पष्ट बात कह देना और हमारी अपनी कमजोरियाँ हमारे तथाकथित दुश्मनों के सामने जान-बूझकर बता देना दोस्तों और दुश्मनों दोनों के सामने एक-सी पहेली रहा है। पर

उनका विचार यह है कि हमारी ताकत हमारी कमजोरी को छिपाने में नहीं है बल्कि इसे जानने और इसका मुकाबला करने में है। जहाँ अज्ञान से हिंसा के द्वारा अस्थायी लाभ होता दिखाई देता है वहाँ अहिंसा का सख्ती से पालन अनुभव के वाद न केवल सबसे सीधा रास्ता बल्कि सबसे समझदारी की नीति सिद्ध हुआ है। उनकी शिक्षाओं के नैतिक और आध्यात्मिक जोश ने जनता को तुरन्त अपनी ओर आकर्षित कर लिया। जनता ने समझ लिया कि जब चारों ओर अंधेरा था तव उसने हमें कष्ट और गुलामी से निकलने का रास्ता वताया। जब हम विल्कुल लाचार महसूस कर रहे थे तब उसने सत्य और अहिंसा के जरिये हमें हमारी ताकत महसूस कराई।"

Questions for Revision

1. Describe briefly the contribution made by Dadabhai Naoroji to the growth of the National movement and examine the statement that "he took it (the Indian National Congress) through the whole gamut of evolution, from the humble position of being a people's organ seeking redress of administrative grievances to that of a national assembly working for the definite object of attaining Swaraj."

2. Narrate briefly the contribution made by the following leaders to the growth of Indian nationalism : Lokamanya Tilak and Gokhale.

3. "A faint-hearted moderate." "A seditionist in disguise." How far do you agree with these views about G. K. Gokhale ? Give your own estimate of the contribution he made to the Indian national struggle.

4. Give an estimate of the character and methods of Lokmanya Tilak and discuss his contribution to the growth of the nationalist movement in India.

5. "The Father of Indian Unrest." "A Prince of Patriots." How far do you agree with these views about Bal Gangadhar Tilak ? Give your own estimate of the contribution he made to the Indian national movement.

6. Compare Tilak and Gokhale in respect of their aims and methods and bring out clearly their distinctive contribution to the national movement.

7. Describe briefly the contribution of Mahatma Gandhi to the struggle of India for her national independence.

8. What did Gandhiji do for the social and economic progress of the country ? How far has his work been of lasting value ?

9. "Gandhiji was a practical idealist." How far is this a correct estimate of the great leader ?

अध्याय २४

वित्त का विकेन्द्रीकरण

(Decentralisation of Finance)

यह बात सर्वविदित है कि १८३३ के चार्टर अधिनियम के स्वीकृत होने तक प्रान्तों नें वित्त के सम्बन्ध में बहुत-सी स्वतन्त्रता का उपभोग किया। १८३३ के अधिनियम के द्वारा वित्त का केन्द्रीकरण हुआ। इस अधिनियम के द्वारा इस बात की व्यवस्था की गई कि, "किसी सरकार को नये पद अथवा नये वेतन अथवा भत्ते की स्वीकृत्ति का अधिकार नहीं होगा जब तक गवर्नर-जनरल की पूर्ण-स्वीकृति न प्राप्त हो जाए।" भारतीय वित्त व्यवस्था १८५३ तथा १८५८ के अधिनियमों की स्वीकृति के पश्चात् भी भारत सरकार के हाथों केन्द्रित रही। प्रान्तों को प्रान्तीय राजस्व पर भी किसी प्रकार का अधिकार प्रदान नहीं किया गया। वे केवल भारत सरकार की ओर से व्यवस्था करने वाले प्रतिनिधि थे। करों के साधन, करों का धन, उनके इकट्ठे करने का उपाय तथा व्यय का अधिकार इन सब के विषय में केन्द्र से निर्देशन प्राप्त होता था। करों के इकट्ठे करने के सम्बन्ध में प्रान्तों की कोई भी रुचि नहीं थी। सर विलियम हण्टर के कथनानुसार, "प्रति वर्ष के अन्त में प्रत्येक स्थानीय सरकार कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को आगामी १२ मास के व्यय का अनुमानित-पत्र प्रस्तुत करती थी। गवर्नर-जनरल सारे भारत के अनुमानित राजस्व की तुलना करके प्रत्येक स्थानीय सरकार को उतना धन देते थे, जितना उसकी स्थानीय सेवाओं के लिए प्रदान किया जा सकता था।" स्ट्रैचे के कथनानुसार, "ब्रिटिश भारत के सब प्रान्तों से प्राप्त राजस्व को एक ही निधि समझा जाता था, जिसमें से व्यय की स्वीकृति का अधिकार केवल कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को ही था। प्रान्तीय सरकारों को नये व्यय स्वीकृत करने का कोई अधिकार प्रदान नहीं किया गया। वे बिना मुख्य सरकार की स्वीकृति तथा ज्ञान के ऐसी कानून की धाराएँ स्वीकृत कर सकती थीं, जिनसे लाखों लोगों के हितों पर अत्यन्त प्रभाव पड़ता हो। वे प्रशासन की पद्धति में परिवर्तन कर सकती थीं जिससे राज्य को गम्भीर परिणामों का सामना करना पड़ता था। वे दृष्टान्त के रूप में (तथा यह ऐसा मामला है जो वस्तुतः हुआ) भू-राजस्व-निर्धारण के अधिकार को बदल सकते थे पर किसी प्रकार का छोटा अथवा बड़ा सुधार का कार्य पूरा नहीं कर सकते थे, जिसके लिए धन के वास्तविक व्यय की आवश्यकता हो। यदि दो स्थानीय मण्डियों के मध्य में एक सड़क पर २० पौण्ड व्यय करना आवश्यक हो जाता अथवा किसी घुड़साल के पुनर्निर्माण की समस्या होती, जो गिर चुकी हो, अथवा १० शिलिंग मासिक पर एक नौकर नियुक्त करने का प्रश्न हो तब भी उक्त विषय को भारत सरकार की आज्ञाओं के लिए सूचित करना आवश्यक होता था।" एक अलोचक का कहना है कि, "सार्वजनिक आय का वर्गीकरण एक ऐसा तमाशा बन चुका था जिसमें उसी को लाभ होता था, जो बहुत अधिक शोर करे तथा कोई भी कारणों की ओर ध्यान नहीं देता था। स्थानीय बचत के स्थानीय लाभ न होने के कारण अपव्यय को दूर करने के सम्बन्ध में होने वाला उत्साह

बहुत कम हो जाता था तथा यदि स्थानीय आय से स्थानीय बचत के साधनों में कोई प्रगति न होती, तो सार्वजनिक राजस्व के विकास के सम्बन्ध में रुचि अत्यन्त निम्न स्तर की हो जाती थी।"

यह बात सब ओर से स्वीकार की गई है कि इस पद्धति में खामियाँ थीं तथा इसमें परिवर्तन की आवश्यकता थी। जनरल डिकन्स तथा मि० लेंग के प्रयत्नों से स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। १८६७ में स्ट्रैचे ने इस पद्धति को संशोधित करने के लिए एक पद्धति बनाई। इस पद्धति के आधार पर लार्ड मेयो ने विकेन्द्रीकरण के मार्ग की ओर प्रथम पग रखा।

(१) **मेयो का प्रस्ताव** (Mayo's Resolution)—१८७० के प्रस्ताव के द्वारा निम्न व्यय की मदों तथा उनसे प्राप्त होने वाले राजस्व को प्रान्तीय सरकारों के नियन्त्रण में हस्ताँतरित कर दिया गया तथा इसके साथ ही कुछ निश्चित केन्द्रीय वार्षिक अनुदान भी प्रान्तीय सरकारों को दिए जाने की व्यवस्था की गई:—जेल, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा, डाक्टरी सेवाएँ, छपाई, सड़कें, फुटकर सार्वजनिक सुधार तथा दीवानी भवन। यदि किसी प्रकार का घाटा होता था, उसे स्थानीय करों अथवा व्यय में कटौती के द्वारा प्राप्त कर लिया जाता था। वर्ष के अन्त में कोई धन प्रान्तीय सरकारों के पास शेष रह जाता था, तो वह केन्द्रीय सरकार को नहीं प्राप्त होता था, अपितु वह उसी प्रान्तीय सरकार के पास ही रह जाता था। प्रान्तीय सरकारों को अधिकार दिए गए कि कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़ कर वे ऐसी नियुक्तियाँ कर सकती थीं, जो २५०) रुपये मासिक से अधिक की न हों तथा उनके धन की व्यवस्था अनुदानों में से की जा सकती हो। लार्ड मेयो ने आशा की कि उक्त प्रस्ताव का परिणाम बहुत ध्यान तथा कम व्यय से सन्तोषपूर्ण होगा। इससे आर्थिक पद्धति में निश्चयात्मक भावना उत्पन्न होगी, जो अब तक अनुपस्थित रही है तथा इससे केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के मध्य कार्य तथा भावना में पहले की अपेक्षा भी अधिक एकता, सामंजस्य उत्पन्न होगा।" इस प्रस्ताव को पूर्ण रूप से कार्यान्वित कर देने से स्थानीय सरकार के विकास, नगरपालिकाओं के संस्थान तथा भारतीयों और यूरोपियनों के सम्बन्ध प्रशासन के विषय में पूर्व की अपेक्षा दृढ़ होंगे।

१८७० की पद्धति का मुख्य दोष यह था कि केन्द्रीय अनुदान १८७०-७१ में विभिन्न प्रान्तों में व्यय के आधार पर दिए जाते थे। विद्यमान विषमताओं को दूर करने तथा प्रान्तों को उनकी वास्तविक आवश्यकताओं के आधार पर अनुदान देने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। डा० ज्ञानचन्द के कथनानुसार, "वह प्रान्त, जिसके व्यय का स्तर केन्द्रीय सरकार राज-कर सम्बन्धी अथवा उसके अर्धविकसित तथा हाल में मिलाए जाने से पिछड़े होने के कारण कम होता था, अपने कम व्यय, अधिक संघर्ष न कर सकने, अथवा पिछड़े होने के कारण, दण्डित किया जाता था।" रमेशचन्द्र दत्त का अभियोग यह था कि लार्ड मेयो ने करों के सामान्य बोझे में और भी वृद्धि कर दी। प्रत्येक प्रान्त ने अपने राजस्व की वृद्धि के लिए नये कर, विशेष रूप से भूमि पर कर लगाए गए। इसका परिणाम यह हुआ कि भूमि पर राज्य की माँग बढ़ गई। यह बंगाल में स्थाई व्यवस्था की भावना के विरुद्ध था तथा अन्य प्रान्तों के सम्बन्ध में इसके कारण १८५५ तथा १८६४ में स्वीकृत किराए (लगान) सम्बन्धी पैमाइश का सिद्धान्त तोड़ दिया गया। (विक्टोरिया

युग में भारत, पृ० २५७)। यह कहा गया है कि केन्द्रीय करों को प्रान्तीय करों से पृथक् कर देने की प्रथा वर्तमान राज्यों में लगभग विश्वजनीन थी। साथ ही लार्ड मेयो की पद्धति का परिणाम यह हुआ कि व्यय में पर्याप्त कमी हुई। राबर्ट्‌स के मतानुसार, लार्ड मेयो को आरम्भ में बहुत घाटा हुआ, किन्तु उसने पर्याप्त बचत छोड़ी। उसने अनुमान के आँकड़ों को परम्परागत अविश्वसनीय पाया, किन्तु जब उसने यह कार्य छोड़ा तब इस सम्बन्ध में पूर्ण रूप से विश्वास किया जा सकता था। जब उसने कार्य-भार संभाला तब हिसाब-किताब का कार्य पर्याप्त शेष था तथा आँकड़ों का कार्य भी अपूर्ण था, किन्तु जब उसने यह कार्य छोड़ा, तब वे सब कार्य नियमित तथा पूर्ण थे। (ब्रिटिश भारत, पृ० ४१७)।

(२) **लिटन द्वारा परिवर्तन** (Lytton's Change)—१८७७ में लार्ड लिटन की सरकार ने विकेन्द्रीकरण के मार्ग पर दूसरा पग उठाया। भूमि राजस्व, चुँगी, स्टाम्प, सामान्य प्रशासन, स्टेशनरी, कानून तथा न्याय आदि कई व्यय की मदें प्रान्तीय सरकारों को हस्तांतरित कर दी गईं। इस बात की भी व्यवस्था कर दी गई कि अनुमानित आय से अधिक आय होने की अवस्था में भारत सरकार के साथ उस प्रान्तीय सरकार को आधा-आधा भाग प्राप्त होगा। इस प्रकार घाटे की स्थिति में भी दोनों सरकारें इसी प्रकार सम्मिलित रूप से आधा-आधा भाग परस्पर वहन करेंगी।

(३) **रिपन, १८८२** (Ripon)—अगला परिवर्तन १८८२ में लार्ड क्रोमर ने लार्ड रिपन के समय में किया था। उसने राजस्व विभाग में केन्द्रीय, विभाजित तथा प्रान्तीय इन विभागों को आरम्भ किया। इसके द्वारा उसने सब प्रकार के आय के साधनों को तीन प्रणालियों में बाँट दिया। केन्द्रीय मदों में होने वाली आय को केन्द्रीय सरकार को देने का निश्चय किया गया। प्रान्तों को अपने नियन्त्रण में होने वाले समस्त विभागों की आय प्राप्त करने की व्यवस्था की गई। विभाजित मदों में होने वाली समस्त आय को लगभग बराबर-बराबर भागों में केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के मध्य बाँटने का निश्चय किया गया। प्रान्तीय बजटों के घाटे की अवस्था में केन्द्रीय सरकार ने राजस्व के कुछ निश्चित भाग का प्रान्तों को देना स्वीकार कर लिया। यह व्यवस्था पाँच वर्षों के लिए की गई तथा उसे १८८७, १८९२ तथ १८९७ में पुनः लागू कर दिया गया।

प्रिंसिपल सी० एल० आनन्द के कथनानुसार, "तब तक चली हुई पद्धति की अपेक्षा इस पद्धति का लाभ यह था कि इसके द्वारा प्रान्तीय सरकारों ने न केवल प्रान्तीय राजस्व के सम्बन्ध में सीधी रुचि लेनी प्रारम्भ की, अपितु उन्होंने अपने प्रान्त में होने वाली केन्द्रीय आय की महत्त्वपूर्ण मदों के सम्बन्ध में भी रुचि ली।" बंगाल के उपराज्यपाल ने इस पद्धति के दोषों का वर्णन इन शब्दों में किया है: "मुझे अवश्य कहना चाहिए कि मैं उस उपाय की निन्दा करता हूँ, जिसके द्वारा प्रति पाँच वर्षों के पश्चात् इन नियमों में बार-बार परिवर्तन होता था। प्रान्तीय भेड़ को पृष्ठ पर फेंक दिया जाता था, उसके बालों को अच्छी प्रकार काटा जाता था, उसकी ऊन साफ कर दी जाती थी तथा उसे काँपते रहने के लिये विवश कर दिया जाता था, जब तक उसकी ऊन पुनः न उत्पन्न हो जाए।" एक प्रान्तीय ठेके का सामान्य इतिहास इस प्रकार है—दो वर्षों तक ऐंठा जाता था तथा कार्य का स्थगन, दो वर्षों के लिये पुनः सामान्य रूप से शक्ति धारण तथा एक वर्ष तक शेष रुपयों का हिसाब-किताब, जिससे यह आशंका प्रकट होती है कि यदि धन का व्यय न हुआ,

तो केन्द्रीय सरकार उसे प्रकट अथवा अप्रकट रूप से संशोधन के समय हस्तगत कर लेगी। यह सब गलत है, यदि यह आचारिक पतन नहीं। मेरा कथन है कि केन्द्रीय सरकार प्रति पाँच वर्षों में अच्छी प्रकार से काट-छाँट भले ही न करे। यह बात स्थानीय प्रशासन के लिये अत्यन्त लाभदायक होगी यदि भारत सरकार प्रत्येक अवसर पर इस सम्बन्ध में ध्यान दे। यही एकमात्र उपाय है जिससे आर्थिक निश्चिन्तता की भावना, जो इसके मुख्य उद्देश्यों में से एक है तथा जिसे १८७० में प्रस्तुत किया गया था, को सुरक्षित किया जा सकता है।"

(४) **कर्जन**—१९०४ में लार्ड कर्जन ने १८८२ की स्थायी व्यवस्था के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। यद्यपि राजस्व के केन्द्रीय, विभाजित तथा प्रान्तीय मदों के पुराने वर्गीकरण को जारी रखा गया, तथापि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के भागों को संशोधित किया गया। पूर्ण रूप से केन्द्रीय मदों का व्यय पूर्ण रूप से भारत सरकार करती थी। विभाजित मदों का व्यय भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों में बँट जाता था। व्यवस्था को अर्ध-स्थायी घोषित कर दिया गया तथा उसमें संशोधन उसी अवस्था में सम्भव था, यदि वह पूर्ण रूप से अन्यायपूर्ण समझा गया हो अथवा अत्यन्त आवश्यक परिस्थितियाँ हों।

विकेन्द्रीकरण आयोग (Decentralisation Commission)—विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में १९०७ में एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। उसने केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के सम्बन्धों में छान-बीन की। उसने वित्तीय क्षेत्र में निम्नलिखित आवश्यक सिफारिशें कीं—

(क) गवर्नर-जनरल को प्रान्तों के लिये दिए जाने वाले राजस्व में हस्तक्षेप न करना चाहिए।

(ख) वर्गीकरण प्रान्तों की आवश्यकताओं के अनुसार निश्चित किया जाए।

(ग) राजस्व की मुख्य मदों में से निश्चित भाग के रूप में अवशेष लिया जाना चाहिए।

(५) **१९१२ का प्रस्ताव** (Resolution of 1912)--भारत सरकार ने विकेन्द्रीकरण आयोग की सिफारिशों को सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया तथा १८ मई, १९१२ को प्रान्तीय अर्थ के विषय में एक प्रस्ताव स्वीकृत किया। भारत सरकार उत्सुक थी कि वह प्रान्तीय सरकारों के साथ अपने सम्बन्धों को यथासम्भव दृढ़ कर सके। तथापि प्रान्तीय व्यवस्था को स्थायी घोषित करने से पूर्व उन्होंने यह आवश्यक समझा कि वे कुछ तथाकथित विषमताओं तथा समीकरण की जाँच करें। विभिन्न प्रान्तों को दिए जाने वाले विषम व्यवहार के सम्बन्ध में भारत सरकार का विचार यह था "यदि यह कहीं सत्ता रखता है, तो यह ऐतिहासिक तथा आवश्यक है······जब कि इसकी सत्ता ही संदिग्ध है। एक शताब्दी के चौथाई भाग के झगड़ने से लगभग समानता की भावना स्थापित हो गई है, जिसे मौखिक अनुमानों से परिवर्तित नहीं किया जा सकता।" डा० ज्ञानचन्द के कथनानुसार, "१९११ की व्यवस्था में किसी प्रकार की समता--सही अथवा लगभग--नहीं थी।" किन्तु भारत सरकार इसी अनुमान पर कार्य करती है कि विभिन्न प्रांतों के मध्य में अनुमानित समता विद्यमान थी। कुछ आवश्यक परिवर्तन करने के पश्चात् भारत सरकार ने प्रांतीय व्यवस्थाओं को स्थायी कर दिया। कुछ प्रांतों में निश्चित रकम बहुत अधिक थी।

भारत सरकार ने प्रांतीय व्यवस्था को संशोधित किया तथा कुछ अन्य मदों को पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से प्रांतीय कर दिया। निश्चित रकमों को आनुपातिक रूप से कम कर दिया गया। भारत सरकार की बचत में से प्रांतों को एकमुश्त अनुदानों के संबंध में विकेन्द्रीकरण आयोग की सिफारिशों के अनुसार संशोधन कर दिया गया। आयोग ने तीन सिद्धांतों को अपनाने की सिफारिश की थी, जिससे दान की पद्धति के दोषों को दूर किया जा सके। वे सिद्धान्त यह थे कि प्रान्तीय सरकारों की इच्छा के सम्बन्ध में यथोचित ध्यान दिया जाए; अनुदानों के उद्देश्य सभी प्रान्तों में एक जैसे न हों तथा अनुदानों के सम्बन्ध में अधिक केन्द्रीय हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। साथ ही भारत सरकार ने प्रान्तीय बजटों के नियन्त्रण के सम्बन्ध में संशोधित नियमों को जारी किया। भविष्य के लिये यह निश्चय किया गया कि नियन्त्रण विभाजित मदों के सम्बन्ध में तथा राजस्व-व्यय के योग के सम्बन्ध में सीमित होगा। प्रान्तीय सरकारों को इस बात के अधिकार दिए जाने का निश्चय किया गया कि वे भारत सरकार के पास शेष रकमों में से अधिक प्राप्त कर सकते हैं तथा कुछ निश्चित अवस्थाओं के आधीन घाटे के बजट की व्यवस्था कर सकते हैं।

यह कहा जाता है कि १९१२ के प्रस्ताव के द्वारा किए गये परिवर्त्तनों के होते हुए भी बहुत से दोष इस पद्धति में रह गये। प्रान्तीय व्ययों में होने वाली विषमताओं को नहीं हटाया गया। प्रान्तों को करों तथा उधार के सम्बन्ध में स्वतन्त्र अधिकार प्रदान नहीं किए गये। विभाजित मदों अथवा दान की पुरानी पद्धति को जारी रहने दिया गया, किंतु इन दोषों के होते हुए भी यह घोषणा की गई कि प्रान्तों के साथ की गई प्रान्तीय व्यवस्थाएँ नित्यता से जुड़ी हुई हैं।

(६) **मैस्टन व्यवस्था** (Meston Settlement)—१९१८ में भारतीय वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट छप जाने के पश्चात् नई नीति का प्रारम्भ किया गया। रिपोर्ट के लेखकों ने सिफारिश की थी कि प्रान्तों के पास उनकी आय के स्वतन्त्र साधन होने चाहिएँ। इससे विभाजित मदों तथा केन्द्रीय अर्थ से प्रान्तीय अर्थ को पृथक् रखने की पद्धति को समाप्त कर दिया गया। इस पृथकता के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में दो सूचियाँ इस प्रकार तैयार की गईं कि प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों को उलझने का कम से कम अवसर प्राप्त हो। यदि किसी विषय में कोई सन्देह उत्पन्न हो कि अमुक विषय एक प्रांतीय विषय है अथवा केन्द्रीय, तब इसका अंतिम निश्चय कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल द्वारा होगा। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विषयों के मध्य में भेद-भाव का सिद्धान्त यह है कि जहाँ प्रान्तेतर हितों का महत्त्व हो, तब उक्त विषय केन्द्रीय समझा जाए तथा दूसरी ओर वे सब विषय, जिनमें किसी विशेष प्रान्त के हित अन्तर्हित हों; प्रान्तीय हैं। केन्द्र के लिए ४७ विषय घोषित किए गये तथा उनमें से अत्यन्त आवश्यक ये थे—सुरक्षा, विदेशी मामले, रेलें, नौपरिवहन, डाक तथा तार, चुंगी, आय कर सेवा आदि। ५२ विषय प्रान्तीय सूची में सम्मिलित किए गये तथा उनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ये थे—शिक्षा, स्थानीय स्वशासन, मैडिकल-प्रशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा स्वच्छता, सिंचाई, भूमि-कर, अकाल सहायता, कृषि, वन, शिल्प, पुलिस, न्याय आदि। क्योंकि विषयों के विभाजन के कारण केन्द्रीय सरकार को घाटा रहता था, इसलिये लार्ड मैस्टन के सभापतित्व में एक प्रान्तीय सम्बन्ध-समिति नामक समिति बनाई गई जिसका कार्य ऐसे सुझाव देना था कि किस प्रकार घाटे

की पूर्ति की जाए। मैस्टन समिति ने सिफारिश की कि प्रान्तीय सरकारों को भारत सरकार को कुछ-न-कुछ धनराशि भेंट करनी चाहिए, जिससे बजट को आय-व्यय की दृष्टि से समता वाला बनाया जा सके। ऐसा अनुमान लगाया गया कि घाटा लगभग १० करोड़ का होगा। प्रान्तों के लिये यह आवश्यक नहीं था कि वे समान धनराशि दें। विभिन्न प्रान्तों के द्वारा विभिन्न वर्षों में विभिन्न धनराशि देने को कहा गया। एक अन्य सूची के द्वारा स्थायी अनुपात की तालिका दी गई, जिसके अनुसार प्रान्त पर केन्द्रीय घाटे को दूर करने के सम्बन्ध में कर लगाने की व्यवस्था की गई थी।

निम्नलिखित सारिणी द्वारा पता चलेगा कि १९२१-२२ में प्रान्तों ने केन्द्रीय सरकार को क्या-क्या धन राशि दी—

प्रान्त	**अंशदान (लाख रुपयों में)**
मद्रास	३४८
बम्बई	५६
बंगाल	६३
पंजाब	१७५
उत्तर प्रदेश	२४०
आसाम	१५
बर्मा	६४
सी० पी० तथा बरार	२२

मैस्टन व्यवस्था के विरुद्ध एक सामान्य शिकायत थी तथा सरकारी और ग़ैर-सरकारी लोगों ने समान कठोरता के साथ अबुद्धिमत्ता तथा नई पद्धति का विरोध किया। जाँच समिति ने भी पद्धति के विरुद्ध लिखा। इस बात की सर्वसम्मत तथा जोरदार माँग की गई कि यदि इस प्रकार की व्यवस्था को समाप्त नहीं किया जा सकता तो इसमें संशोधन अवश्य किया जाए। तथापि भारत सरकार के अर्थ सदस्य सर ब्लैकेट ने १९२८-२९ के अपने बजट में प्रान्तीय धनराशि न दिए जाने के सम्बन्ध में पूर्ण तथा अन्तिम निर्णय की घोषणा कर दी।

यद्यपि १९१९ के सुधारों के आधीन प्रान्तीय सरकारों की स्थिति काफी सुधर गई तथापि उन पर बहुत-सी बन्दिशें थीं। उन्हें अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारियों को भारत मन्त्री के निर्देशन के अनुसार रखना पड़ता था। वे उनकी नियुक्ति तथा वेतन के सम्बन्ध में विवश थे। उनके कर लगाने के अधिकार भी बहुत सीमित थे। उन्हें इस बात का अधिकार भी नहीं दिया गया कि वे अपने राजस्व की जमानत पर धन उधार ले सकें। प्रान्तीय सरकारों ने इन बन्धनों के विरुद्ध रोष प्रकट किया तथा इच्छा प्रकट की कि स्वतन्त्र प्रान्तीय हिसाब-किताब तथा निरीक्षण के विभाग स्थापित किए जाएँ।

१९३५ के सुधार (Reforms of 1935)--१९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता को आरम्भ किया। इस अधिनियम के द्वारा संघीय सरकार तथा प्रान्तों में तीन प्रकार के अधिकारों के वर्गीकरण की व्यवस्था की गई। फेडरल सरकार को अधिकार दिया गया कि वह उन विषयों पर कानून बनाए, जिन्हें फेडरल सूची में दिया गया है। प्रान्तीय विधान सभाओं को अधिकार दिया गया कि वे

प्रान्तीय सूची के अन्तर्गत विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाएँ। सम्मिलित सूची में वे विषय थे जिनके सम्बन्ध में फेडरल तथा प्रान्तीय विधान-मण्डलों के द्वारा कानून स्वीकृत हो सकते थे। तथापि बहुत से बन्धन प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था पर जारी रहे। यह ठीक है कि उन्हें कुछ सीमाओं में उधार लेने का अधिकार दिया गया, किन्तु उनके कर लगाने के सम्बन्ध में कुछ शर्तें लगा दी गईं। निएमेयर रिपोर्ट के अनुसार, प्रान्तों को केन्द्रीय सरकार की ओर से वित्तीय सहायता प्रदान की गई, जिससे वे अपना घाटा पूरा कर सकें। रिपोर्ट ने इस बात की भी सिफारिश की कि आयकर की आय की भी आधी धनराशि प्रान्तों में बाँट दी जाए।

नया संविधान (New Constitution)––यह बात उल्लेखनीय है कि भारत के नये संविधान के अधीन भी, जो १९५० में लागू किया गया, भारत के विभिन्न राज्यों को वित्तीय क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रयोग करने की अनुमति नहीं दी गई है।

संघ तथा राज्य के आर्थिक साधनों का वर्गीकरण भारत सरकार के १९३५ के अधिनियम के अनुसार किया गया है। कुछ कर तथा चुंगी आदि लगाने के अधिकार एकमात्र संघ को दिये गए हैं। कुछ ऐसे कर भी हैं जिन्हें लगाने का अधिकार तो संघ को है, किन्तु उन्हें इकट्ठा करने तथा वितरण का कार्य राज्य करते हैं। कुछ करों को लगाने तथा इकट्ठा करने का कार्य संघ सरकार स्वयं कर सकती है, किन्तु उनका बँटवारा उन्हीं राज्यों में कर दिया जाता है, जहाँ वे इकट्ठे किए जाते हैं। कुछ करों को संघ लगाता है तथा इकट्ठा करता है, किन्तु उनका बँटवारा संघ तथा राज्यों में होता है। इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि संघ राज्यों को अनुदान दे सके।

वे कर, जिनका सम्बन्ध एकमात्र संघ से है, ये हैं—चुँगी, निगम कर, व्यक्तियों तथा कम्पनियों का सम्पत्ति कर, आयकर पर अतिरिक्त कर, संघीय सूची के सम्बन्ध में शुल्क, तम्बाकू तथा भारत में उत्पन्न सब वस्तुओं पर, मनुष्य के प्रयोग के लिये मादक द्रव्यों, अफीम तथा अन्य पेय पदार्थों को छोड़कर––चुँगी।

कुछ कर ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध केवल राज्यों के साथ है। वे हैं––भूमि कर, कृषि-सम्बन्धी आय पर कर, कृषियोग्य भूमि पर उत्तराधिकार शुल्क, भूमि तथा भवनों पर कर, खनिज अधिकारों, अफ़ीम तथा भारतीय मादक पदार्थ (पटुआ) पर कर, बिजली के प्रयोग तथा बिक्री पर कर, चुँगी, सड़कों के द्वारा अथवा देश की नदियों द्वारा ले जाए गये यात्रियों तथा माल पर कर, वाहनों, वाणिज्य, व्यापार, खेल-तमाशों पर कर तथा बिक्री कर आदि।

विनिमय-पत्रों, वहन-पत्रों, इंशोरेंस पालिसियों, हिस्सों आदि के हस्तांतरित करने तथा दवाइयों तथा प्रसाधन सामग्री पर जिसमें मादक पदार्थ भी सम्मिलित हैं, कर लगाने का अधिकार तो संघ सरकार को है, किन्तु उनके इकट्ठा करने तथा समुचित व्यवस्था वे राज्य करते हैं, जिनकी सीमा अथवा क्षेत्र में वे लगाये जाते हैं।

निम्नलिखित करों को संघ सरकार लगाती तथा इकट्ठा करती है, किन्तु उन्हें उन राज्यों को दे दिया जाता है, जिनमें उन्हें लगाया जाना अभीष्ट हो––कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर, कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के सम्बन्ध में भूसम्पत्ति कर, रेलवे, वायु मार्ग अथवा समुद्री मार्ग के द्वारा ले जाए जाने वाले माल

अथवा यात्रियों पर लगने वाली चुँगी, रेलवे तथा माल पर लगने वाले भाड़े पर कर, विभिन्न हिस्सों के हस्तांतरण (स्टाक एक्सचेंज) पर लगने वाले कर तथा समाचार-पत्रों की बिक्री तथा विज्ञापनों पर लगने वाले कर।

निम्नलिखित कर संघ द्वारा लगाये तथा इकट्ठे किये जाते हैं, किन्तु उनकी धनराशि संघ तथा राज्यों में कुछ निश्चित अनुपात में बाँट दी जाती है––कृषि-सम्बन्धी आय को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर कर, हवाई तथा प्रसाधन सामग्री के अतिरिक्त चुँगी कर, जो संघ सूची के अन्तर्गत हैं। राष्ट्रपति को तब तक के लिये आयकर के संघ तथा राज्यों में बाँटने का अधिकार दिया गया है, जब तक अर्थ-आयोग इसका निश्चय नहीं करता। संघीय चुँगी-करों का वितरण संसद् द्वारा किये जाने की व्यवस्था की गई है।

संविधान की २७५ वीं धारा के द्वारा इस बात की व्यवस्था की गई है कि संघ सरकार प्रति वर्ष उन राज्यों को अनुदान देगी, जिन्हें संसद् सहायता की आवश्यकता के योग्य समझे। ये अनुदान विशेष रूप से अनुसूचित तथा आदिम जातियों के लिये हैं। आसाम के लिये कुछ विशेष सहायता की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी बंगाल, बिहार, आसाम तथा उड़ीसा के राज्यों को दस वर्षों के लिये अस्थायी सहायता की व्यवस्था की गई है, जिससे उन्हें उनकी पटसन की उपज के उपलक्ष में निर्यात कर का भाग उसी प्रकार दिया जा सके, जिस प्रकार वे संविधान के लागू होने से पहले प्राप्त किया करते थे।

प्रो० बी० आर० मिश्र के कथनानुसार, "साधनों के बँटवारे की उपपत्ति का क्रम कर्त्तव्यों के बँटवारे के सिद्धान्तों में लागू किया जाता है।" प्रो० सेलिगमन इस प्रकार के तीन सिद्धान्तों का वर्णन करता है—योग्यता का सिद्धान्त, अनुकूलता का सिद्धान्त तथा पर्याप्तता का सिद्धान्त। योग्यता तथा अनुकूलता कर के प्रकार तथा उसकी व्यवस्था पर निर्भर करती है। "इस बात की परवाह नहीं कि एक योजना कितनी ही भली भावना से बनाई गई है अथवा कितनी पूर्णता के साथ वह न्याय के अव्यवहारिक सिद्धान्तों से मेल खाती है। यदि पद्धति ठीक प्रशासनिक ढंग से नहीं चलती, तो उसका असफल होना निश्चित है। योग्यता तथा अनुकूलता की समस्याएँ कर के विस्तृत अथवा संकुचित आधारों पर निर्भर करती हैं।" पुनश्च, "योग्यता, अनुकूलता तथा पर्याप्तता के सिद्धान्तों से मेल खाते हुए भारत में वित्तीय वितरण की पद्धति निश्चित करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। वैधानिक, स्वाभाविक तथा आर्थिक विचारों के कारण इसके मार्ग मे असंख्य तथा अपार कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। एक पद्धति, जिसमें स्पष्ट रूप से योग्यता तथा अनुकूलता की भावना हो, पर्याप्तता के सिद्धान्त के कारण टूट जाएगी। एक ऐसी पद्धति, जो अपने आप में पूर्ण रूप से स्वीकार्य होने का दावा रखती है, वह विभिन्न राज्यों के विरोधी दावों के सम्बन्ध में सन्तोषजनक समाधान नहीं कर पाती। इसलिये आर्थिक बँटवारे के सम्बन्ध में, जो भारत सरकार तथा अन्य प्रदेशों में किया जाता है, समझौते की भावना से ही कार्य किया जाता है। इस प्रकार के समझौते केन्द्र की ओर से राज्यों को दिये गये अंशदान के रूप में अथवा राज्य की ओर से केन्द्र के प्रति सहायता अथवा विभक्त राजस्व के रूप में अथवा संघ की ओर से राज्यों को सहायता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

Questions for Revision

1. Narrate the history of financial decentralisation since 1861.

2. Trace the history of financial relations between the Government of India and the Provincial Governments from 1877 to 1935.

3. What, if any, were the defects in the scheme of apportionment of financial resources between the Centre and the Provinces under the Government of India Act of 1919 ?

4. Examine the financial relations of the Government before 1919 and how was the position affected by the Meston Award ?

अध्याय २५

न्यायपालिका का विकास

(The Growth of the Judiciary)

भारत में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से लेकर न्यायपालिका के विकास का इतिहास बहुत लम्बा है तथा यहाँ इस सम्बन्ध में विकास के क्रम में कुछ उल्लेखनीय तथा महत्त्वपूर्ण बातों का ही वर्णन सम्भव है। इसका आरम्भ १६०० में हुआ तथा इसका सबसे ताजे विकास का दृष्टान्त भारत के नये संविधान में उपलब्ध है। सन् १६०० के आज्ञा-पत्र के द्वारा अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। साथ ही उसके द्वारा उक्त कम्पनी को नियम, कानून, आज्ञाएँ तथा अध्यादेश बनाने के अधिकार प्राप्त हो गए; जिससे कम्पनी की अच्छी सरकार बनाई जा सके। उसे अधिकार दिया गया कि वह यात्रा में नियुक्त सभी कर्मचारियों तथा अधिकारियों पर, जिसमें मिल मालिक, नाविक, अध्यापक आदि सभी सम्मिलित थे, फौजी कानून को लागू कर सके। तथापि मृत्यु-दण्ड केवल उसी अवस्था में क्रियान्वित किया जा सकता था जब इस सम्बन्ध में पंच-निर्णय हो। बाद में इंग्लैंड सरकार ने कम्पनी को ही आज्ञाएँ देने का अधिकार दे दिया। १६२३ में कम्पनी को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह आज्ञाओं को कारखाने के प्रधानों तथा अन्य प्रमुख अफसरों पर लागू कर सके।

१६६१ के आज्ञा-पत्र के द्वारा गवर्नर तथा कौंसिल को इस बात का अधिकार दिया गया कि "उक्त गवर्नर तथा कौंसिल से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों के सब मामलों का दीवानी अथवा फौजदारी शासन के कानूनों के अनुसार न्याय करें तथा तदनुसार निर्णय करें।"

१६६९ के आज्ञा-पत्र के द्वारा बम्बई कम्पनी को प्रदान कर दिया गया तथा उसे (कम्पनी को) अधिकार दिया गया कि वह अधिकारियों के द्वारा अंग्रेजी कानूनों के अनुसार न्याय-व्यवस्था कर सके।

१६८३ तथा १६८६ के आज्ञा-पत्रों के द्वारा अंग्रेजी कम्पनी को न्याय के लिए निर्दिष्ट स्थानों पर अदालतें स्थापित करने का अधिकार दिया गया, जिससे वाणिज्यिक तथा समुद्री मामलों का निर्णय किया जा सके।

१६८७ में मद्रास नगरपालिका निगम के मेयर तथा मुखियों को एक अदालत के रूप में संगठित किया गया तथा उसे दीवानी तथा फौजदारी मुकदमे सुनने का अधिकार दिया गया। उनके निर्णयों के विरुद्ध कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल की सेवा में अपील ले जाई जा सकती थी।

१७२६ में तीनों प्रेजीडेंसी नगरों में मेयरों की अदालतें स्थापित की गईं। गवर्नर तथा कौंसिल के प्रति तथा कुछ मुकदमों में कौंसिल-स्थित सम्राट् के प्रति मुकदमे ले जाए जाने की अनुमति दी गई। कौंसिल-स्थित राज्यपालों की अदालतें समस्त अपराधों की सुनवाई के लिए संगठित की गईं। केवल भारी षड्यन्त्र की सुनवाई का उन्हें अधिकार नहीं था।

मेयरों के न्यायालयों की स्थापना से न्याय-व्यवस्था में कुछ भी सुधार नहीं हुआ। इन न्यायालयों पर कम्पनी के कर्मचारी सभापतित्व करते थे। उनसे यह आशा नहीं की जाती थी कि वे उन मामलों में निष्पक्ष निर्णय दे सकें जिनमें कम्पनी अथवा कम्पनी के कर्मचारी फँसे हों। न्यायाधीश भारत के कानून से अधिक जानकार नहीं थे।

यह बात उल्लेखनीय है कि अंग्रेजों के द्वारा स्थापित न्यायालयों के अतिरिक्त देशी न्यायालय भी कार्य करते थे। देशी कानून व्यवस्था की पृष्ठभूमि में यह सिद्धान्त था कि सब प्रकार के अधिकारों—चाहे वे न्याय-सम्बन्धी हों, अथवा आर्थिक हों अथवा फौजी हों—को एक ही व्यक्ति के अधिकार में रखा जाए। दिल्ली सम्राट् का नवाब डिपुटी इन सबका मुख्याधिकारी था। वह दीवान तथा नाज़िम दोनों था। नाज़िम के रूप में वह फौजदारी अधिकार अधिक रखता था तथा पुलिस का भी नियन्त्रण करता था। दीवान के रूप में वह राजस्व एकत्र करता था तथा दीवानी न्यायालयों की व्यवस्था की देख-रेख करता था।

नवाब के आधीन जमींदारों को दीवानी तथा फौजदारी अधिकार थे। फौजदारी अदालतों में मुस्लिम कानून की व्यवस्था होती थी। दीवानी अदालतों में हिन्दू तथा मुस्लिम कानूनों का प्रयोग किया जाता था।

जब अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को मुगल सम्राट् से १७६५ में दीवानी का अधिकार प्राप्त हुआ, तब क्लाइव ने द्वैध-शासन का आरम्भ किया। बंगाल के नवाब ने मुस्लिम कानून के अनुसार न्याय की व्यवस्था जारी रखी। कम्पनी ने दीवानी न्याय तथा राजस्व इकट्ठा करने का कार्य अपने हाथों में लिया। तथापि यह कार्य भारतीय न्यायाधीशों ने किया। जब १७७२ में द्वैध-शासन समाप्त कर दिया गया, तब वारेन हेस्टिंग्ज ने एक योजना बनाई जिसके आधीन न्याय की सम्पूर्ण व्यवस्था तथा राजस्व इकट्ठा करने का कार्य अंग्रेज अफसरों की देख-रेख में रखा गया। प्रत्येक जिले को एक कलैक्टर के आधीन रखा गया तथा दीवान दीवानी अदालत का अधिकारी होता था। इस न्यायालय के विरुद्ध कलकत्ता में सदर दीवानी अदालत में अपील की जा सकती थी। इस अदालत में गवर्नर तथा उसकी कौंसिल के सदस्य होते थे। इस कार्य में भी देशी अफसर सहायता देते थे। इस प्रकार प्रत्येक जिले में एक फौजदारी अदालत स्थापित की गई। इसमें एक काजी, एक मुफ्ती तथा दो मौलवी होते थे, जिनके साथ कलैक्टर केवल इसलिए बैठता था जिससे वह भी कार्रवाई देख सके। इस अदालत के विरुद्ध सदर निज़ामत-अदालत में अपील की जा सकती थी। यह अदालत भी गवर्नर तथा उसकी कौंसिल की देख-रेख में थी।

रैगुलेटिंग अधिनियम (Regulating Act)—१७७३ के रैगुलेटिंग अधिनियम के द्वारा बंगाल में एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था की गई। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा तीन अवर न्यायाधीशों की व्यवस्था की जानी थी तथा उनके लिए कम से कम बैरिस्टरी का ५ वर्ष का अनुभव आवश्यक था। उन सब की नियुक्ति करने का अधिकार सम्राट् को था। सर्वोच्च न्यायालय को कलकत्ता निवासियों तथा बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा प्रान्त के ब्रिटिश प्रजाजनों तथा उनके सेवकों के दीवानी, फौजदारी, धर्म-सम्बन्धी, जल सेना तथा न्याय के मुकद्दमों को सुनने का अधिकार दिया गया। कुछ

विशेष परिस्थितियों के ग्राधीन उनके निश्चय के विरुद्ध कौंसिल-स्थित सम्राट् की सेवा में ग्रपील ले जाई जा सकती थी।

यह पहले ही वताया जा चुका है कि रैगुलेटिंग ग्रधिनियम में कई वातों के सम्वन्ध में चर्चा नहीं की गई थी। इसका परिणाम गड़वड़ तथा विरोध हुग्रा। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने कम्पनी के न्यायालयों के ग्रधिकार को स्वीकृत करने से इनकार कर दिया। वे भारतीयों की प्रथाग्रों तथा विश्वासों के सम्वन्ध में पूर्ण रूप से ग्रपरिचित थे तथा परिणामस्वरूप उनके निर्णयों का स्वागत नहीं किया जाता था। न्यायाधीशों ने देश में ग्रंग्रेजी कानून को प्रचलित कर दिया। वे कानून कुछ मामलों में तो इतने पक्षपातपूर्ण थे कि लोग उनसे भयभीत हो उठे। लार्ड मैकॉले के कथनानुसार, सर्वोच्च न्यायालय का शासन भय का राज्य था, "ऐसा भय, जो रहस्यपूर्ण था, क्योंकि जिसे सहन किया गया था, उससे ग्रधिक भयानक की ग्राशा की जाती थी। कोई व्यक्ति नहीं जानता था कि इस प्रशिक्षित न्यायालय से ग्रौर ग्रागे क्या ग्राशा की जा सकती थी, यह ग्ररव महासागर के भी पार से ग्राया था, जैसे कि भारतीय रहस्यपूर्ण भय से समुद्र को पुकारा करते थे। इसमें ऐसे न्यायाधीश थे, जिनमें से एक भी उन लाखों करोड़ों लोगों की प्रथाग्रों से परिचित न था, जिन पर वे ग्रधिकार का दावा करते थे। उसके रिकार्ड भी ग्रज्ञात पद्धति से रखे जाते थे, इसके वाक्य ग्रज्ञात ध्वनियों से पुकारे जाते थे। किसी मराठा ग्राक्रमण से सुरक्षा के द्वारा ऐसी निराशा का प्रसार नहीं हुग्रा था, जैसे ग्रंग्रेज वकीलों के इस प्रवेश मार्ग से हुग्रा, पूर्ववर्ती एशियाई तथा यूरोपीय दमनकर्ताग्रों का सम्पूर्ण ग्रन्याय सर्वोच्च न्यायालय के न्याय की ग्रपेक्षा एक ग्राशीर्वाद के रूप में प्रकट हुग्रा।"

१७८१ का अधिनियम (Act of 1781)—यह ग्रधिनियम इसीलिए स्वीकृत किया गया था, जिससे सर्वोच्च न्यायालय के कुछ दोषों को दूर किया जा सके। ऐसा नियम बनाया गया था कि सर्वोच्च न्यायालय का किसी भी विषय में कोई भी ग्रधिकार-क्षेत्र न हो, जिसका सम्बन्ध राजस्व ग्रथवा राजस्व इकट्ठा करने के सम्वन्ध में ग्रधिनियमों ग्रादि से हो।

यह घोषणा की गई कि कोई व्यक्ति बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में किसी भूमि ग्रथवा किराए सम्बन्धी ग्रधिकार ग्रथवा रुचि के कारण उच्चतम न्यायालय के ग्रधिकार-क्षेत्र से प्रभावित नहीं होगा ग्रथवा इस प्रकार के किराए की देनदारी के लिए जामिन वनने के कारण।

किसी व्यक्ति के कम्पनी ग्रथवा कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल ग्रथवा इंग्लैंड के निवासी के द्वारा नौकरी पर लगाए जाने के कारण उसे उत्तराधिकार ग्रथवा दाय भाग के विषयों में सर्वोच्च न्यायालय के ग्रधिकार-क्षेत्र में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। जब तक कि दोनों पक्षों में इस विषय में सहमति न हो, तब तक कोई भी दीवानी मुकदमा सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। न्याय विभाग के किसी ग्रधिकारी के विरुद्ध उस रूप में किसी व्यक्ति के प्रति किसी भूल ग्रथवा चोट के कारण कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती थी।

यह घोषणा की गई कि गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल पर सम्मिलित ग्रथवा पृथक् रूप से सर्वोच्च न्यायालय के ग्रधिकार में "गवर्नर-जनरल तथा कौंसिल की स्थिति

में अथवा सार्वजनिक स्थिति में किसी प्रकार के कार्य, आज्ञा अथवा परामर्श के सम्बन्ध में कार्रवाई नहीं की जा सकती।"

कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल की लिखित आज्ञा उनके द्वारा किए गए सब कार्यों का पर्याप्त न्यायोचित कारण समझा जा सकता है।

अंग्रेजी कानून भारतवासियों के सम्बन्ध में लागू न होने की व्यवस्था की गई। उत्तराधिकार तथा भूमि, किराए, माल, ठेके तथा दलों के पारस्परिक कार्य व्यवहार में मुसलमानों के सम्बन्ध में मुस्लिम कानूनों तथा प्रथाओं के अनुसार तथा हिन्दुओं के विषय में हिन्दुओं के कानूनों तथा प्रथाओं के अनुसार निर्णय किए जाने की व्यवस्था की गई। अन्य सब मामलों में प्रतिवादी के कानूनों तथा प्रथाओं के अनुसार निर्णय किया जाता था।

सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया कि वह न्याय व्यवस्था के लिए कार्रवाई, नियम तथा आज्ञाएँ जारी कर सकता है। उन नियमों तथा आज्ञाओं को ब्रिटिश सरकार के द्वारा अस्वीकृत अथवा संशोधित किया जा सकता था।

१७८१ के अधिनियम के द्वारा दीवानी तथा फौजदारी अदालतों की सत्ता कम्पनी के अधिकार-क्षेत्र में स्वीकृत कर ली गई।

गवर्नर-जनरल तथा कौंसिल, एडवोकेट जनरल तथा सब वे व्यक्ति, जो उनकी आज्ञा के अनुसार कार्य कर रहे हों, उनके विरुद्ध, सर्वोच्च न्यायालय की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने अथवा आज्ञा का विरोध करने के कारण किसी प्रकार की कार्रवाई नहीं की जा सकती थी।

यह बात ठीक ही कही गई है कि यद्यपि १७८१ के अधिनियम के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार कम कर दिये गये थे, तथापि भारत की अन्य किसी अदालत से इसका अधिकार तथा प्रतिष्ठा बढ़-चढ़ कर थी।

आमिल (Amils)—यह बात उल्लेखनीय है कि १७७४ में कलैक्टरों को वापिस बुला लिया गया तथा दीवानी न्याय की व्यवस्था के लिए उनके स्थान पर आमिल ले लिये गये। राजस्व के प्रबन्ध का कार्य सबसे पूर्व प्रान्तीय अदालतों को तथा बाद में राजस्व समितियों को दिया गया। १७८८ में १६ दीवानी अदालतें खोली गईं तथा प्रत्येक के ऊपर व्यवस्था के रूप में एक अधिकारी अफसर नियुक्त किया गया।

कार्नवालिस के सुधार, १७८४-९३ (Reforms of Cornwallis)—यहाँ प्रसंगवश लार्ड कार्नवालिस के सुधारों के सम्बन्ध में वर्णन करना उचित होगा। जब वह इंग्लैंड से आया, तब उसे इस प्रकार के निर्देश मिले कि "राजस्व के इकट्ठा करने की व्यवस्था तथा पुराने कानूनों तथा देश की स्थानीय प्रथाओं के अनुसार न्याय-व्यवस्था के लिये स्थाई नियम बनाए जाएँ।"

उसने दीवानी तथा फौजदारी न्याय के कार्यों को राजस्व इकट्ठा करने तथा उसकी व्यवस्था करने के कार्यों के साथ मिला दिया। उसने कलक्टरों के प्रबन्ध में दीवानी अदालतों की प्रतिष्ठा की। उसने निज़ामत अदालत को मुर्शिदाबाद से कलकत्ता में स्थानांतरित कर दिया। यद्यपि कलक्टरों को न्याय तथा राजस्व सम्बन्धी कार्य दिये गये थे तथापि अदालतों को अलग रखा गया।

१७९३ में कलक्टर को न्याय-सम्बन्धी अधिकारों से वंचित कर दिया गया। माल

अदालतें भी तोड़ दी गईं। उनके कार्य दीवानी अदालतों को दे दिए गये, जिन पर अध्यक्षता करने के लिये गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त नियमित कर्मचारियों को अधिकार प्रदान किया गया।

दीवानी अपील की चार प्रान्तीय अदालतें स्थापित की गईं। प्रत्येक में तीन न्यायाधीश होते थे, जिन्हें अपने-अपने डिवीजन की सर्किट अदालत पर भी अध्यक्षता करनी पड़ती थी। उनके निर्णयों के विरुद्ध मुख्य दीवानी अदालतों तथा मुख्य निजामत अदालत तक अपीलें ले जाई जा सकती थीं। मुकदमा करने वालों से कोई फीस नहीं ली जाती थी। न्याय सबको प्राप्य था।

यह बात उल्लेखनीय है कि कार्नवालिस पद्धति को पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसे बम्बई तथा मद्रास में लागू किया गया। कुछ समय के पश्चात् कुछ परिवर्त्तन किए गये। १७९५ में मुकदमा चलाने वालों पर फीस लगाई गई। मुकदमेबाजी को कम करने के लिये न्याय को मँहगा कर दिया गया। १७९७ में ५०००) रुपये तक के मुकदमों के सम्बन्ध में प्रान्तीय अपील वाली अदालतों को अपील का अन्तिम अधिकार प्रदान कर दिया गया। १८०१ में तीन न्यायाधीशों को मुख्य अदालतों पर अध्यक्षता करने के लिये नियुक्त किया गया। १८०७ में यह संख्या बढ़ाकर चार कर दी गई।

विलियम बैंटिङ्क का कार्य, १८२८-१८३५ (Work of William Bentinck)–प्रसंगवश लार्ड विलियम बैण्टिङ्क के द्वारा न्याय-सम्बन्धी व्यवस्था के सम्बन्ध में किए गये कार्य की चर्चा करनी अभीष्ट प्रतीत होती है। उसने अपील की प्रान्तीय अदालतों को तोड़ दिया। ये अदालतें उन सदस्यों के लिये आराम करने के स्थान बन चुकी थीं, जो उच्च उत्तरदायित्वों के लिये अयोग्य समझे जाते थे। उसने बंगाल प्रैजीडेंसी को २० डिवीजनों में बाँटा, जिनमें से प्रत्येक पर माल तथा सरकार का एक-एक कमिश्नर नियुक्त किया। १८३१ में, कमिश्नर के सैशन कार्य को दीवानी न्यायाधीशों को हस्तांतरित कर दिया गया। इस प्रकार जिला तथा सैशन न्यायाधीश का पद अस्तितव में आया। जिला जज के मजिस्ट्रेटी कार्यों को कलक्टरों को हस्तांतरित कर दिया गया। नियुक्तियाँ करने के सम्बन्ध में भी विलियम बैण्टिङ्क ने लार्ड कार्नवालिस की नीति को बदल दिया। लार्ड कार्नवालिस ने न्याय विभाग में सभी ऊँचे पदों को यूरोपियनों के लिये सुरक्षित करने की नीति जारी कर दी थी। विलियम बैण्टिङ्क ने देशी मुन्सिफों तथा मुख्य अमीनों के अधिकारों को बढ़ा दिया तथा उनके वेतन भी बढ़ा दिए।

अभिलेख न्यायालय (Recorders' Courts)—१७९७ में रिकार्ड की अदालतें स्थापिल की गईं। इन अदालतों में मेयर, तीन वरिष्ठ सदस्य, तथा एक रिकार्ड करने वाला होते थे। रिकार्ड करने वाले की नियुक्ति सम्राट् के द्वारा होती थी। इन अदालतों को दीवानी, फौजदारी, पादरियों तथा जल सेना के सम्बन्ध में कार्यक्षेत्र अधिकार दिए गये। उन्हें अधिकार दिए गये कि वे उन मुकदमों की सुनवाई कर सकें, जिन्हें पहले मेयरों की अदालतें सुन सकती थीं। उनका अधिकार-क्षेत्र मद्रास तथा बम्बई सरकारों तथा देशी रियासतों में उन रियासतों के अधिकारों की अनुमति से ब्रिटिश इलाकों के ब्रिटिश प्रजाजनों तक विस्तृत कर दिया गया था। तथापि ये न्यायालय बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रहे। उनके अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को दे दिए गए।

प्रार्थना के न्यायालय (Courts of Requests)—१७५३ के अधिकार-पत्र के द्वारा प्रार्थना की अदालतें स्थापित की गईं। इन अदालतों को अधिकार दिया गया कि वे उन मामलों का निर्णय कर सकें, जिनमें ऋण, कर अथवा विवादास्पद धनराशि २० रुपये से अधिक नहीं है। १७९७ में उनके अधिकारों में वृद्धि की गई तथा वे ८० रुपये तक के मुकदमों की सुनवाई कर सकते थे। प्रार्थना की अदालतों के स्थान पर प्रेजीडैन्सी नगरों में छोटे मामलों की अदालतें स्थापित की गईं। ये न्यायालय अब भी जारी हैं।

शान्ति के न्यायाधीश (Justices of Peace)—१७२६ के अधिकार-पत्र द्वारा मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता में शान्ति के न्यायाधीशों को नियुक्त किया गया। उन्हें अधिकार दिया गया कि वे संक्षिप्त अधिवेशन कर सकें। १७७३ के रेगुलेटिंग अधिनियम के द्वारा कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को शान्ति के न्यायाधीश बना दिया गया। गवर्नर-जनरल तथा कौंसिल को निर्देश दिया गया कि वे अपने अधिवेशन रिकार्ड की अदालतों के समान फोर्ट विलियम के किले में कर सकें। १७७३ के अधिनियम के आधीन स्थापित सर्वोच्च न्यायालय को इसके कार्य पर देख-रेख करने तथा नियन्त्रण रखने का अधिकार दिया गया। जब मद्रास तथा बम्बई में सर्वोच्च न्यायालय स्थापित हो गये, तब उनके न्यायाधीशों को भी अपनी-अपनी प्रैजीडेंसियों में शान्ति के न्यायाधीश बना दिया गया।

१७९३ में संसद् के एक अधिनियम द्वारा कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह कम्पनी के नियमित कर्मचारियों तथा अन्य ब्रिटिश निवासियों में से शान्ति के न्यायाधीश नियुक्त कर सके। १८०७ में मद्रास तथा बम्बई के राज्यपालों तथा कौंसिलों को उन नगरों के लिये ही शान्ति के न्यायाधीश के रूप में कार्य करने का अधिकार दिया गया। १८३२ में तीनों प्रेजीडेंसियों की सरकारों को अधिकार दिया गया कि वे किसी व्यक्ति को, जो विदेशी न हो, शान्ति का न्यायाशीश नियुक्त कर सकें। प्रैजीडेंसियों के विभिन्न नियमों द्वारा शान्ति के न्यायाधीशों के अधिकारों को निश्चित किया गया। उन नियमों में कुछ अतिरिक्त नियम संसद् के अधिनियमों के द्वारा बनाए गये। निम्नलिखित व्यक्ति उनके कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत थे––

१. सभी व्यक्ति, जिन्होंने सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र में अपराध किए हों।

२. सभी ब्रिटिश प्रजाजन जो प्रैजीडेंसी के किसी भाग में रहते हों।

३. सभी व्यक्ति जिन्होंने समुद्री सीमा में अपराध किए हों।

हाईकोर्ट (High Courts)—१८६१ में भारतीय हाइकोर्ट अधिनियम स्वीकृत हुआ। इसके द्वारा कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में हाईकोर्ट स्थापित किए गये तथा उनमें सर्वोच्च न्यायालय, मुख्य दीवानी अदालत तथा मुख्य निजामत अदालत मिला दी गईं। उसी अधिनियम के आधीन १८८६ में एक हाईकोर्ट की स्थापना की गई। १८६५ के हाई कोर्ट अधिनियम द्वारा कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह हाई कोर्टों की स्थानीय कार्यक्षेत्रीय सीमाओं में कुछ परिवर्त्तन कर दे। १९११ के भारतीय हाई कोर्टों के अधिनियम द्वारा जजों की अधिकाधिक संख्या १५ से २० कर दी गई। इसके द्वारा सम्राट् को सामान्य अधिकार प्राप्त हो गया कि वह अन्य स्थानों पर भी अतिरिक्त हाई कोर्टों की स्थापना कर सकेगा। कौंसिल-स्थित गवर्नर-जन-

रल अस्थायी न्यायाधीशों को दो वर्षों के लिये नियुक्त कर सकता था। १९१६ में पटना में एक हाई कोर्ट स्थापित किया गया तथा १९१९ में लाहौर में। १९३६ में नागपुर में एक हाई कोर्ट न्याय-कमिश्नर के स्थान पर स्थापित किया गया। अवध में एक मुख्य अदालत स्थापित की गई। न्याय-कमिश्नर की अदालतें उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा सिंध में स्थापित की गईं।

प्रिवी कौंसिल (Privy Council)--१८३३ में संसद् के एक अधिनियम द्वारा प्रिवी कौंसिल की एक न्याय-समिति स्थापित की गई। जनवरी १९५० तक भारत के लिये यह अपील का सर्वोच्च न्यायालय था, यद्यपि १९४८ में उसके कुछ अधिकार ले लिये गए। वास्तव में इसमें वही न्यायाधीश होते थे, जो ब्रिटिश संसद् के ऊपरी सदन (House of Lords) में अपीलें सुनते थे, किन्तु दोनों न्यायालयों की कार्य-पद्धति अलग-अलग थी। न्याय कमेटी निर्णय नहीं देती थी। वह केवल सम्राट् को किसी विशेष प्रकार से निर्णय करने के लिये परामर्श देती थी। लार्ड सभा नियमित निर्णय देती थी। लार्ड सभा पहले निश्चयों से बाध्य थी तथा किसी वैधानिक कार्रवाई से पूर्व बुरा निर्णय दिया जा सकता था। प्रिवी कौंसिल अपने पुराने निर्णयों से बाध्य नहीं थी।

न्याय समिति एक से अधिक वर्गों में बैठती थी। तीन सदस्यों से कोरम हो जाता था। प्रिवी कौंसिल अपने निर्णयों में अपने सदस्यों की मतभेद रखने वाली सम्मतियों को प्रकाशित नहीं करती थी। दीवानी मुकदमों में १०,००० की राशि से अधिक के मुकदमों की अपील की जा सकती थी। जब किसी नीचे की अदालत की अन्तिम आज्ञा के विरुद्ध कोई व्यक्ति अथवा पार्टी अपील करती थी, तब निश्चित रूप से उसमें कोई न कोई वास्तविक कानूनी समस्या अथवा प्रश्न होता था। अन्य दशा में प्रिवी कौंसिल में अपील तभी ले जाई जा सकती थी, जब हाई कोर्ट प्रमाणित करता था कि मुकदमा अपील के योग्य है। अपील करने की विशेष अनुमति देने का अधिकार भी होता था। फौजदारी मामलों में अपील का अधिकार किसी निर्णय की आज्ञा अथवा हाई कोर्ट द्वारा दिए गये दण्ड की आज्ञा, जो उसके प्रारम्भिक फौजदारी अधिकार-क्षेत्र के आधार पर दिया गया हो, अथवा किसी ऐसे फौजदारी मुकदमे में, जिसमें कोई कानूनी प्रश्न हो, में अंकित होता था। प्रिवी कौंसिल फौजदारी मामलों में अपील के लिये विशेष अधिकारों का प्रयोग तब तक नहीं करती थी, "जब तक ऐसा प्रकट न कर दिया जाए कि किसी कानूनी कार्य-शैली की उपेक्षा अथवा स्वाभाविक न्याय के सिद्धान्तों के कुछ उल्लंघन अथवा किसी अन्य उपाय से कहीं गम्भीर अन्याय हो गया है।" १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम के द्वारा भारत के संघीय न्यायालय के निश्चयों के विरुद्ध अपीलें की जा सकती थीं।

भारत का फेडरल न्यायालय (Federal Court of India)–१९३५ के भारत सरकार के अधिनियम के द्वारा भारत के फेडरल न्यायालय की स्थापना करने की व्यवस्था गई थी। ऐसा न्यायालय आवश्यक था, क्योंकि १९३५ के अधिनियम के द्वारा एक फेडरल पद्धति की व्यवस्था की गई थी, जिसमें अधिकारों का वर्गीकरण किया गया था। इस बात की सदैव सम्भावना रहती थी कि केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तों में कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी संघर्ष हो। ऐसे मामलों को निश्चय करने के लिए ऐसी अदालत आवश्यक थी।

अधिनियम के द्वारा इस बात की व्यवस्था की गई कि फेडरल न्यायालय में भारत

के मुख्य न्यायाधीश तथा सम्राट् के द्वारा नियुक्त अधिक से अधिक छः न्यायाधीश होंगे। गवर्नर-जनरल को अधिकार था कि वह कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश तथा कार्यवाहक न्यायाधीश की नियुक्ति अस्थायी रिक्त स्थानों की पूर्त्ति के लिए कर सके। ऐसी व्यवस्था थी कि न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु तक कार्य करेंगे तथा उन्हें अपने पद से तब तक नहीं हटाया जा सकता, जबतक उनके विरुद्ध दुर्व्यवहार, मन अथवा शरीर की असमर्थता का अभियोग न हो। केवल वही व्यक्ति फेडरल न्यायालय के न्यायाधीश बन सकते थे, जो कम से कम पाँच वर्षों के लिए हाई कोर्ट के न्यायाधीश अथवा कम से कम दस वर्षों के लिए इंग्लैंड के बैरिस्टर अथवा स्काटलैंड के एडवोकेट अथवा हाई कोर्ट के दस वर्ष तक वकील रह चुके हों। मुख्य न्यायाधीश के लिए १५ वर्षों का अनुभव आवश्यक था। फेडरल न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्तों को सम्राट् निश्चित करते थे तथा उनके कार्यकाल में उनमें कोई ऐसा परिवर्तन नहीं किया जा सकता था, जिससे उन्हें किसी प्रकार का घाटा हो। उनके वेतन तथा भत्ते भारत के राजस्व में से प्राप्त किए जाने की व्यवस्था थी।

फेडरल न्यायालय का स्थान दिल्ली था। मुख्य न्यायाधीश गवर्नर-जनरल की स्वीकृति से अन्य स्थान भी निश्चित कर सकता था, किन्तु ऐसा नहीं किया गया।

फेडरल अदालत तीन प्रकार के अधिकार-क्षेत्र रखती थी—मौलिक, अपील सम्बन्धी तथा परामर्श वाले। उसका मौलिक कार्यक्षेत्र कोई ऐसा विवाद होता था, जो संघ तथा प्रान्त अथवा प्रान्तों के मध्य में अथवा संघीय राज्य अथवा राज्यों के बीच में उनके कानूनी अधिकारों के सम्बन्ध में हो। इस प्रकार एक मुकदमा सीधा संघीय अदालत में ले जाया जा सकता था, यदि किसी प्रान्त, राज्य तथा फेडरल राज्य में कोई विवाद उठ खड़ा हो। जब फेडरल अदालत अपने मौलिक कार्यक्षेत्रों के अधिकार का प्रयोग करती थी, तो वह केवल घोषणात्मक निर्णय घोषित करती थी।

अपील-सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में फेडरल न्यायालय प्रान्तों तथा संघीय राज्यों के हाई कोर्टों के निर्णयों पर अपील सुनता था। यदि किसी प्रान्त का हाई कोर्ट यह प्रमाणित करता था कि उसके द्वारा दिए गए निर्णय में १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम की कुछ धाराओं की व्याख्या का प्रश्न है अथवा उसके आधीन कौंसिल-स्थित किसी आज्ञा की व्याख्या की गई है, तब फेडरल न्यायालय को कोई अपील ले जाई जा सकती थी। यदि किसी प्रान्त का हाई कोर्ट कोई प्रमाण-पत्र नहीं देता था तब उसके निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। फेडरेशन में सम्मिलित न होने वाले राज्यों के हाई कोर्टों से होने वाली अपीलों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति थी।

यह बात मौलिक रूप से सुझाई गई थी कि फेडरल न्यायालय के अतिरिक्त एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए जिसका कार्य प्रिवी कौंसिल के स्थान पर विभिन्न प्रान्तों के हाई कोर्टों से अपीलें सुनना हो, किन्तु ऐसा कहा गया कि इससे एक अत्यन्त कठिन स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। फेडरल न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय के अपने-अपने कार्यक्षेत्रों के सम्बन्ध में झगड़ पड़ने तथा उससे अवांछनीय दृश्यों के उत्पन्न होने की सम्भावना थी। ऐसी वस्तु कठिनता से अभीष्ट थी। परिणामस्वरूप अधिनियम में एक ऐसी धारा बनाई गई, जिसके द्वारा फेडरल न्यायालय प्रान्तों के

हाई कोर्टों के विरुद्ध ऐसे मामलों में भी अपील सुन सकते थे, जिनमें संविधान की व्याख्या के सम्बन्ध में कोई प्रश्न विचाराधीन न था । इस धारा के अनुसार ही १९४७ की फेडरल अदालत (कार्यक्षेत्र के विस्तार के सम्बन्ध में) अधिनियम स्वीकृत हुआ ।

इस अधिनियम पर गवर्नर-जनरल ने ५ जनवरी, १९४८ के दिन अपनी स्वीकृति प्रदान की। इस अधिनियम के द्वारा दीवानी मुकदमों में फेडरल अदालत के अपील-संबंधी कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विस्तार की व्यवस्था की गई। यह सीमा १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की २०६ वीं धारा के आधीन पूर्ण रूप से प्राप्त की गई थी तथा इससे ऐसे मुकद्दमों की सीधी अपीलों को खत्म करने की व्यवस्था की गई थी, जो हाई कोर्टों से प्रिवी कौंसिल को विशेष अनुमति से अथवा उसके बिना की गई हों । तथापि इस व्यवस्था से उन अपीलों के साथ किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया, जो प्रिवी कौंसिल के पास विचाराधीन थीं अथवा जिनके सम्बन्ध में प्रिवी कौंसिल की ओर से पहले से ही विशेष अनुमति दी जा चुकी थी ।

भारत सरकार के १९३५ के अधिनियम की व्याख्या के लिए फेडरल अदालत अपील की सबसे बड़ी अदालत नहीं थी। इस बात की व्यवस्था की गई कि अपीलें फेडरल अदालत से प्रिवी कौंसिल में ले जाई जा सकें। इस प्रकार जब फेडरल न्यायालय अपने मौलिक कार्यक्षेत्र में अपने निर्णय देता था, तब प्रिवी कौंसिल में अधिकार के रूप में अपील ले जाई जा सकती थी। तथापि यदि फेडरल न्यायालय अपील-सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के अनुसार अपना निर्णय देता था, ऐसी अवस्था में प्रिवी कौंसिल में अधिकार के रूप में अपील न की जा सकती थी, अपितु प्रिवी कौंसिल अथवा फेडरल न्यायालय की अनुमति से ही ऐसा किया जा सकता था। प्रिवी कौंसिल के अपीलों के स्वीकार करने के सम्बन्ध में कार्य-पद्धति के अपने नियम थे। जब तक किसी मामले में कानून का कोई वास्तविक प्रश्न न हो, तब तक प्रिवी कौंसिल अपील करने की स्वीकृति प्रदान नहीं करती थी ।

फेडरल न्यायालय अपने परामर्श-सम्बन्धी अधिकारों का भी प्रयोग करता था। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह फेडरल न्यायालय को उसके विचार के लिए अथवा उसकी सम्मति प्राप्त करने के लिए कोई प्रश्न भेज सकता था। यथोचित सुनवाई के पश्चात् फेडरल न्यायालय गवर्नर-जनरल को सूचित करता था। कई अवसरों पर गवर्नर-जनरल इस अधिकार का प्रयोग करता था। जब कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग में प्रान्तों के आवश्यक वर्गीकरण के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हुआ, तब ऐसा प्रस्ताव किया गया कि इस मामले को फेडरल न्यायालय में भेज देना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं किया गया ।

फेडरल न्यायालय तथा प्रिवी कौंसिल के द्वारा घोषित कानून भारत के सब न्यायालयों के लिए मानना आवश्यक था ।

सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court)—भारत के नये संविधान के अनुसार जो २६ जनवरी, १९५० को लागू किया गया, प्रिवी कौंसिल तथा फेडरल न्यायालय इन दोनों को तोड़ दिया गया तथा उनका स्थान भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने ले लिया। संविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा अधिक

से अधिक सात न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई। तथापि संसद् उनकी संख्या में वृद्धि कर सकती है। इस प्रकार की व्यवस्था की गई है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को अपने कर्त्तव्य के पालन में स्वतन्त्र बना दिया गया है। इस न्यायालय को भी तीन विषयों में बहुत से अधिकार दिए गए हैं—मौलिक, अपील सम्बन्धी तथा परामर्शदाता रूप में। मौलिक अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय भारत सरकार तथा एक अथवा अधिक राज्यों के मध्य में अथवा भारत सरकार तथा एक अथवा अधिक राज्य तथा एक अथवा अधिक राज्यों के, तथा दो अथवा दो से अधिक राज्यों के मध्य में किसी विवाद की सुनवाई कर सकता है, यदि कानूनी अधिकार सम्बन्धी कोई प्रश्न उसमें विचाराधीन है। सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार है कि वह मौलिक अधिकारों के पालन के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के प्रार्थना-पत्र पर निर्देश अथवा आज्ञा दे सके।

सर्वोच्च न्यायालय के अपील-सम्बन्धी अधिकारों पर तीन शीर्षकों के आधीन चर्चा की जा सकती है। वैधानिक मामलों में भारत के किसी हाई कोर्ट के निर्णय या डिग्री अथवा अन्तिम आज्ञा के विरुद्ध अपील की जा सकती है, भले ही वे निर्णय दीवानी, फौजदारी अथवा किसी और कार्रवाई से सम्बन्धित हों तथा यदि हाई कोर्ट यह प्रमाणित कर दे कि मामले में संविधान का व्याख्या-सम्बन्धी कोई गम्भीर प्रश्न अन्तर्हित है। यदि हाई कोर्ट इस प्रकार के प्रमाण-पत्र की अनुमति नहीं देता, तो सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि अपील करने की विशेष अनुमति प्रदान कर दे यदि उसे इस बात का सन्तोष हो जाए कि इसमें संविधान की व्याख्या के सम्बन्ध में कोई विशेष कानूनी प्रश्न अन्तर्हित है। अन्य ऐसे मामलों में सर्वोच्च न्यायालय में हाई कोर्ट के दीवानी निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती है, जिनमें विचाराधीन धनराशि २०,००० रुपये से अधिक है तथा हाई कोर्ट इस बात को प्रमाणित कर दे। जिन अवस्थाओं में हाई कोर्ट में निचली अदालतों के विरुद्ध अपील की गई हो, तब हाई कोर्ट को यह भी प्रमाणित करना होगा कि विचाराधीन विषय में महत्त्वपूर्ण कानूनी समस्या अन्तर्हित है। उसी अवस्था में ही अपील की अनुमति दी जा सकती है। फौजदारी मामलों में सर्वोच्च न्यायालय में हाई कोर्ट के निर्णयों के विरुद्ध तभी अपील की जा सकती है, जब हाई कोर्ट ने अपील करने पर किसी रिहा किए हुए अभियुक्त की रिहाई की आज्ञा को बदल दिया हो तथा उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया हो अथवा किसी ऐसे मामले को वापिस ले लिया हो, जिसमें उसके आधीन किसी अदालत ने अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दे दिया हो अथवा हाई कोर्ट यह प्रमाणित कर दे कि मुकदमा सर्वोच्च न्यायालय में अपील के लिए उपयुक्त है। संसद् को इस बात का अधिकार है कि वह कानून के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे अतिरिक्त अधिकार प्रदान कर दे कि वह हाई कोर्ट के निर्णयों के विरुद्ध भारतवर्ष की सीमा में किसी फौजदारी मुकदमे की अपील ऐसी शर्तों तथा सीमाओं के अनुसार सुन सकेंगे जिनका उल्लेख कानून में होगा।

भारत के फेडरल न्यायालय के समान सर्वोच्च न्यायालय को भी परामर्शदाता अधिकार-क्षेत्र दिए गए हैं। संविधान में इस बात की व्यवस्था है कि यदि किसी समय राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत हो कि कानून अथवा तथ्य-सम्बन्धी कोई प्रश्न उठ खड़ा है अथवा खड़ा हो सकता है तथा वह इतने महत्त्व का है कि सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति जानना आवश्यक है, तब वह न्यायालय से इस सम्बन्ध में सम्मति ले सकते हैं तथा न्याया-

लय इस प्रकार की सुनवाई करने के पश्चात् जिसे वह उचित समझे, राष्ट्रपति को अपनी सम्मति दे सकता है। यह स्पष्ट नहीं है कि सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति राष्ट्रपति के लिए आवश्यक रूप से मान्य है अथवा नहीं।

सर्वोच्च न्यायालय अपनी इच्छानुसार भारत की सीमा में किसी अदालत अथवा ट्रिब्यूनल के निर्णय, डिग्री, दण्ड अथवा आज्ञा के विरुद्ध अपील करने की विशेष अनुमति प्रदान कर सकता है।

संसद् के द्वारा बनाए गए किसी कानून की धाराओं अथवा सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा संविधान की धारा १४२ के आधीन बनाए गए किन्हीं नियमों को छोड़कर सर्वोच्च न्यायालय को इस बात का अधिकार है कि वह अपने द्वारा घोषित किसी निर्णय अथवा आज्ञा के सम्बन्ध में समीक्षा कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों की वृद्धि के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई है। सर अल्लादी कृष्ण स्वामी अय्यर के मतानुसार, "भारत संघ के सर्वोच्च न्यायालय को संसार के किसी भी सर्वोच्च न्यायालय की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं।"

Questions for Revision

1. Trace the development of the system of judicial administration under the rule of the East India Company.

3. Critically examine the judicial and administrative reforms associated with the name of Lord Cornwallis.

3. Describe the judicial system of India and point out its shortcomings.

4. Trace the development of judicial system in India and state the arguments for and against the separation of executive and judicial functions.

5. Describe the organization and functions of the Federal Court and discuss the place it occupied in the Indian Constitution.

6. What provisions have been made in the constitution for the independence of the judiciary.

अध्याय २६

भारत में स्थानीय स्वराज्य का विकास
(Growth of Local Self-Government in India)

टाक्याविल के मतानुसार, "स्वतन्त्र राष्ट्र की शक्ति स्थानीय संस्थाओं से बनती है। एक राष्ट्र के लिये स्वतन्त्र सरकार की पद्धति की स्थापना कर सकना सम्भव है, किन्तु नगरपालिका संस्थाओं के बिना इसमें स्वतन्त्रता की भावना नहीं हो सकती।" इस वक्तव्य की सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता तथा स्वतन्त्र भारत में यह विचार करना वांछनीय है कि स्थानीय स्वराज्य की पद्धति का इस देश में किस प्रकार विकास हुआ, इसकी वर्त्तमान स्थिति क्या है तथा देश की आवश्यकता के सम्बन्ध में इसमें कैसे सुधार किया जा सकता है।

भारत में नगरपालिका सरकार के प्रारम्भिक प्रयत्न मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई में किये गये। १६८७ में डायरैक्टरों के कोर्ट ने एक आज्ञा के द्वारा मद्रास नगर के यूरोपीय तथा भारतीय सदस्यों के एक निगम संगठित करने के सम्बन्ध में निर्देश दिया, किन्तु यह निगम ज्यादा न चल सका।

१७७३ के रैंग्युलेटिंग अधिनियम के आधीन गवर्नर-जनरल ने कम्पनी के कर्मचारियों तथा अन्य ब्रिटिश निवासियों को शान्ति के न्यायाधीश (Justices of Peace) के रूप में मनोनीत किया। उन्हें अधिकार दिया गया कि वे कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई की गलियों की स्वच्छता तथा मरम्मत के लिये उन कार्यों के लिये पैमाइश करने तथा शराब की बिक्री के लिये लाइसेंस प्रदान करने के लिये इंस्पैक्टरों की नियुक्ति करें। ऐसी व्यवस्था करने का कारण यह था कि प्रेज़ीडेंसी नगरों की स्वच्छता की स्थिति असन्तोषजनक थी। सार्वजनिक नालियों का प्रयोग सब प्रकार के कूड़े-करकट तथा गन्दगी के लिये किया जाता था। गलियों में अस्थि-पंजर सड़ने तथा दुर्गन्ध-युक्त होने के लिये छोड़ दिये जाते थे। एक अवसर पर तो मनुष्य की लाश को, जो एक मकान के मुख्य द्वार पर फेंकी गई थी, गीदड़ों के शिकार के लिये दो रातों के लिये पड़ा रहने दिया गया।

१८१७ तथा १८३० के मध्य मद्रास तथा कलकत्ता में इस प्रकार के संकुचित प्रयत्न किये गये कि लाटरी की विधि से काम के पैसे चुकाये गये तथा इन नगरों के निर्माण में बहुत कुछ कार्य इस रुपये से किया गया। कार्य के पूरा होने पर सड़कें तथा नालियाँ शान्ति के न्यायाधीशों को सौंप दी जाती थीं, ताकि वे अपने कर निर्धारण में से उनकी देख-रेख रखें, किन्तु देख-रेख के लिये भी रुपया कभी पूरा नहीं होता था तथा प्रान्तीय सरकार शेष आवश्यक रुपया देती थी। केवल बम्बई में गाड़ियों तथा छकड़ों के लिये सड़कें बनाने के लिये एक कर लगाया गया। शान्ति के न्यायाधीश एक संस्था के रूप में अपने कार्य में अधिक रुचि न लेते थे। उनके अधिकार धीरे-धीरे मुख्य मजिस्ट्रेट में केन्द्रित हो गये जिसे कलकत्ता में पुलिस सुपरिन्टैण्डैण्ट करों के इकट्ठा करने में तथा संरक्षण के कार्य का निरीक्षण करने में उन्हें सहायता देते थे। तथापि किसी लोकप्रिय सरकार का पता नहीं चलता।

१८४० में कलकत्ता के लिये एक अधिनियम स्वीकृत हुआ तथा १८४१ में एक अधिनियम मद्रास के लिये स्वीकृत हुआ। इन अधिनियमों के द्वारा वे साधन विस्तृत हो गये जिनके लिये नगरपालिकाओं की मालगुजारी का प्रयोग किया जाना था। नगर के निवासियों को करों के लगाने तथा इकट्ठा करने का नियंत्रण प्रदान किया गया। तथापि इन अधिनियमों से कुछ भी परिणाम नहीं निकला। जनता की ओर से इस सम्बन्ध में कोई सुनवाई नहीं हुई। १८४५ में बम्बई के लिये एक अधिनियम स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम द्वारा सब प्रकार के प्रशासनीय अधिकार एक संरक्षण बोर्ड में केन्द्रित कर दिये गये, जिसमें दो यूरोपियन तथा तीन भारतीय न्यायाधीश थे तथा इसका अध्यक्ष पुलिस का प्रमुख मजिस्ट्रेट था।

प्रेज़ीडेंसी नगर (Presidency Towns)—प्रेज़ीडेंसी नगरों की सफ़ाई के सम्बन्ध में एक ताजा प्रयत्न १८५६ में किया गया जब XXIV तथा XXV संख्यक अधिनियम स्वीकार किये गये। प्रथम अधिनियम के द्वारा प्रेज़ीडेंसी नगरों के संरक्षण तथा सुधार के सम्बन्ध में कार्रवाई की गई। दूसरे अधिनियम के द्वारा करों के भली-भाँति लगाने तथा उन्हें इकट्ठा करने के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई। प्रत्येक नगर में तीन कमिश्नरों की नियुक्ति के लिये विशेष अधिनियम स्वीकृत किये गए। १८५६ के कलकत्ता अधिनियम में गैस-बत्तियों तथा नालियों के सम्बन्ध में विशेष धाराएँ रखी गईं। १८५८ के बम्बई अधिनियम द्वारा प्राप्य रकम प्राप्त करने के सम्बन्ध में अधिकार प्रदान किये गये। तथापि उपर्युक्त कानून बन जाने के पश्चात् भी नगर गन्दे बने रहे तथा कानूनों की सत्ता केवल कागज पर ही बनी रही।

कमिश्नर तथा शान्ति के न्यायाधीशों के मध्य झगड़े होते थे, किन्तु सफाई के संबंध में काफी कार्य हुआ। बम्बई में सफाई की दशा बड़ी भयंकर थी तथा मृत्यु संख्या भी बहुत बढ़ गई। १८५५ के अधिनियम के द्वारा न्यायाधीशों का एक निगम संस्था का रूप दे दिया गया तथा उसे बजट पर भी नियन्त्रण प्राप्त हुआ, किन्तु व्यवस्था-सम्बन्धी सारे अधिकार ऊँचे वेतन वाले सरकारी अधिकारी के हाथों में थे। लेखे सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिये एक विशेष लेखा नियन्त्रक की नियुक्त की गई। क्राफोर्ड के नगरपालिका के कमिश्नर तथा डा० ड्यूलैट के स्वास्थ्याधिकारी नियुक्त किये जाने के पश्चात्, स्वच्छता का कार्य उत्साहपूर्वक होने लगा। सारे प्रशासन-कार्य को कठोर कर दिया गया। कमिश्नर के विरुद्ध भारी आन्दोलन हुआ। लेखा-परीक्षक आयुक्त के आधीन होने के कारण लेखे का नियंत्रण करने में असफल रहा। लम्बे वाद-विवाद के पश्चात् बम्बई निगम की सदस्य संख्या कम करके ६४ कर दी गई। इसमें से १६ सरकार द्वारा मनोनीत थे, १६ का निर्वाचन न्यायाधीशों ने किया तथा सीधे रूप से करदाताओं द्वारा ३२ सदस्यों का निर्वाचन हुआ। कमिश्नर के हाथों नियन्त्रण-सम्बन्धी पूरे अधिकार केन्द्रित थे। कौंसिल द्वारा लेखे की साप्ताहिक जाँच की व्यवस्था की गई। वेतन-प्राप्त आय-व्यय निरीक्षक हिसाब की मासिक जाँच करते थे। बम्बई इस बात का दावा कर सकता था, कि उसका व्यवस्थापक दृढ़ था तथा सरकारी विषयों में उस पर एक समिति का दृढ़ नियन्त्रण था, जो निगम के प्रति उत्तरदायी थी। उस समिति के आधे सदस्य ऐसे थे जो करदाताओं द्वारा निर्वाचित होते थे (विस्तार के लिये १८७२ के बम्बई नगरपालिका अधिनियम को देखिए)। कल-

कत्ता निगम के सम्बन्ध में सरकार को १८९९ में इसलिए हस्तक्षेप करना पड़ा, क्योंकि सफाई की व्यवस्था अत्यन्त चिन्ताजनक थी। १८९९ में कलकत्ता निगम के लिये एक अधिनियम स्वीकृत हुआ। इस नये अधिनियम के आधीन केवल आधे आयुक्तों का चुनाव करदाताओं द्वारा होने की व्यवस्था थी, शेष की नियुक्ति किये जाने का निश्चय किया गया था। इनमें बंगाल व्यापार तथा कलकत्ता व्यापार संघ द्वारा चार-चार व्यक्तियों की, बन्दरगाह आयुक्तों द्वारा २ की तथा स्थानीय सरकार के द्वारा १५ की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। कलकत्ता निगम के अधिकारों में करों के दर निश्चित करना तथा सामान्य कार्य करना था। प्रबन्ध का कार्य अध्यक्ष में केन्द्रित था। एक सामान्य समिति के लिये व्यवस्था की गई जिसमें अध्यक्ष तथा १२ आयुक्त थे। सामान्य समिति को अधिकार दिया गया कि वह ऐसे विषयों का निर्णय करे, जो निगम के लिये निश्चय करने में अत्यन्त विस्तृत थे, किन्तु जो इतने आवश्यक हों, जिन्हें केवल अध्यक्ष के निर्णय के लिये न छोड़ दिया जाए।

मद्रास के सम्बन्ध में १८८१ में निर्वाचन प्रणाली शुरू की गई। करदाताओं को ३२ सदस्यों में से १६ का चुनाव करना होता था, किन्तु अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष वेतनभोगी अफसर होते थे, जिनकी नियुक्ति सरकार करती थी। मद्रास निगम को अधिकार दिया गया कि वह बजट तथा ऋण लेने के सम्बन्ध में कार्रवाई करे, किन्तु हिसाब की विस्तृत जाँच करने का कार्य दो सरकारी आय-व्यय निरीक्षकों पर छोड़ दिया गया। नालियों तथा जल-व्यवस्था के लिए नये कर लगाए गए। क्योंकि मद्रास एक बड़ा व्यापार केन्द्र था, इसलिए वहाँ सदैव रुपये की कमी रहती थी। १९०४ में एक नया नगरपालिका अधिनियम कलकत्ता के ढंग पर स्वीकार किया गया। करदाताओं द्वारा निर्वाचित आयुक्तों की संख्या घटा दी गई। नगर में व्यापारिक हितों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया। १९१८ तक सभी प्रेज़ीडेंसी नगरों की लगभग एक जैसी सरकार थी। सभी निगमों के मतदाता सीमित थे, उन्हें ऋण के लिए विस्तृत अधिकार प्राप्त थे, उनकी अर्थव्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण तथा उनका प्रबन्धाधिकारी एक दृढ़ व्यक्ति हुआ करता था, जो एक सरकारी अफसर होता था।

अन्य नगर (Non-Presidency Towns)——प्रेज़ीडेंसी नगरों के अतिरिक्त अन्य नगरों के लिए १८४२ से पूर्व नगरपालिका के कानून के सम्बन्ध में व्यवहार रूप में कोई प्रयत्न नहीं किया गया। बंगाल में उस वर्ष एक अधिनियम स्वीकृत हुआ, किन्तु व्यवहार में वह एक मृत-पत्र के समान अप्रयुक्त रहा। १८५० में एक और अधिनियम स्वीकृत हुआ, जो सारे ब्रिटिश भारत पर लागू किया गया। यह अधिनियम अनुमति के ढंग का था। किसी भी प्रान्त की सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह इस अधिनियम को किसी नगर में भी लागू कर सकती है, यदि उसे इस बात का सन्तोष हो जाए कि उस नगर के निवासी उसे चाहते हैं। उस अवस्था में सरकार को अधिकार दिया गया कि वह मजिस्ट्रेट की नियुक्ति कर दे तथा उतने निवासियों को कमिश्नर बना दे, जितनों की आवश्यकता हो। उन्हें नियम बनाने के विस्तृत अधिकार प्रदान किए गए। इसी अधिकार के आधीन चुंगी कर लगाए गए। इस अधिनियम तथा बाद के प्रान्तीय अधिनियमों के आधीन सब प्रान्तों में बहु-संख्या में नगरपालिकाओं की स्थापना की गई। अधिकतर प्रान्तों में

आयुक्तों को मनोनीत किया गया तथा स्वराज्य के दृष्टिकोण से ये अधिनियम बहुत आगे न जा सके।

मेयो प्रस्ताव (Mayo's Resolution)—१८७० के पश्चात् ही स्वराज्य की दिशा में वास्तविक प्रगति सम्भव हो सकी। लार्ड मेयो की सरकार ने १८७० के अपने प्रस्ताव में अर्थ के विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में शिक्षा, सफाई तथा सार्वजनिक निर्माण आदि में लगे हुए धन की व्यवस्था में स्थानीय रुचि तथा पथ-प्रदर्शन के सम्बन्ध में और अधिक कार्रवाई करने की आवश्यकता पर बल दिया। विभिन्न प्रान्तों में १८७१ तथा १८७४ के मध्य नये नगरपालिका अधिनियम स्वीकृत किए गए। इन अधिनियमों में चुनाव सम्बन्धी सिद्धान्तों को विस्तृत किया गया। १८७० की नीति के परिणाम १८८२ के स्थानीय स्वराज्य सम्बन्धी प्रस्ताव में इस प्रकार वर्णित किए गए। १८७० से लेकर उल्लेखनीय प्रगति की जा चुकी थी। स्थानीय करों तथा अन्य प्रकार से बहुत-सी आय प्राप्त की जा चुकी थी तथा कुछ प्रान्तों में आय का प्रबन्ध स्थानीय संस्थाओं को स्वतन्त्रतापूर्वक सौंप दिया गया। नगरपालिकाएँ संख्या तथा उपयोगिता की दृष्टि से बढ़ चुकी थीं, किन्तु देश के विभिन्न भागों में अब भी अपेक्षाकृत काफी प्रगति होनी शेष थी, जितनी कि स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार संभव प्रतीत होती थी। बहुत से स्थानों पर स्थानीय स्वराज्य के लिए अपनाई गई सेवाओं को केन्द्रीय प्रशासन के हाथों में सुरक्षित किया गया, जब कि प्रत्येक स्थान पर पुलिस के सम्बन्ध में नगरपालिकाओं पर भारी धनराशि का बोझ डाला गया, जिस पर उनका कुछ भी नीति-सम्बन्धी नियन्त्रण न था।

रिपन का १८८१ का प्रस्ताव (Ripon's Resolution of 1881)—अगला पग लार्ड रिपन के वायसराय-काल में उठाया गया। उसे भारत में स्थानीय स्वराज्य का पिता पुकारा जाता है। स्थानीय स्वराज्य के सम्बन्ध में उसका प्रस्ताव देश में स्थानीय स्वराज्य के विकास में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। १८७० के प्रस्ताव के स्थानीय अर्थ के लाभकारी प्रभावों का उल्लेख करने के पश्चात् १८८१ के प्रस्तावों में कहा गया कि भारत सरकार ने विचार किया कि वह समय आ गया है जब लार्ड मेयो की सरकार के विचार को विकसित करने के लिए आगे के पग उठाए जाएँ। इस बात पर बल दिया गया कि प्रान्तीय सरकारों के साथ अर्थ-सम्बन्धी समझौते करते समय स्थानीय स्वराज्य के प्रश्न की उपेक्षा नहीं करनी चहिए। प्रान्तीय सरकारों को निर्देश किया गया कि वे पर्याप्त धनराशि स्थानीय संस्थाओं को हस्तांतरित कर दें। स्थानीय संस्थाओं को उन विषयों के उत्तरदायित्व सौंपने की भी व्यवस्था की गई, जो मुख्य रूप से स्थानीय स्थिति से सम्बन्धित थे।

भारत सरकार ने स्थानीय सरकारों को निर्देश दिया कि "वे प्रान्तीय, स्थानीय तथा नगरपालिका के अधिनियमों की ध्यानपूर्वक जाँच करें। इस जाँच का उद्देश्य यह मालूम करना था कि आय के किन साधनों को प्रान्तीय मदों से स्थानीय मदों में हस्तांतरित कर दिया जाए जिससे उनकी व्यवस्था नगरपालिकाएँ कर सकें। दूसरे, इस बात की खोज करनी थी कि कौन-कौन सी मदों को स्थानीय संस्थाओं को आसानी से दिया जा सकता था। केवल वही मदें हस्तांतरित किए जाने का विचार किया गया था, जिन्हें लोग समझ सकते थे तथा जिनकी सराहना वे कर सकते थे। जाँच का तीसरा उद्देश्य ऐसे पग

उठाना था जो अधिक स्थानीय स्वराज्य के आश्वासन के लिए आवश्यक थे।"

१८८१ के प्रस्ताव के अनुसार भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को पत्र लिखे। इन पत्रों में भारत सरकार ने व्यय की उन मदों का इशारा किया, जिन्हें स्थानीय संस्थाओं को नियन्त्रण के लिए हस्तांतरित किया जा सकता था। स्थानीय सरकारों को निर्देश दिया गया कि वे अन्य मदों की भी जाँच करें, जिससे उन्हें भी स्थानीय संस्थाओं को सौंप दिया जाए। भारत सरकार ने सिफारिश की कि मजिस्ट्रेट अथवा कलैक्टर जिला कमेटियों के प्रधान हों तथा सहायक अथवा उप-मजिस्ट्रेट अधीनस्थ समितियों के प्रधान हों। इन सब समितियों में ग़ैर-सरकारी सदस्यों की संख्या आधी से कम तथा दो-तिहाई से अधिक न होनी चाहिए थी। स्थानीय सरकारों से कहा गया कि "ऐसी आशा करना निराशाजनक होगा कि स्थानीय सरकार का वास्तविक विकास होगा यदि स्थानीय संस्थाओं को विस्तार के सम्बन्ध में छान-बीन अथवा हस्तक्षेप का फल भोगना पड़ा।" उन्हें यह बात भी स्पष्ट कर दी गई कि "कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल उत्सुक हैं कि स्थानीय संस्थाओं को यथा-सम्भव कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाए।"

प्रान्तीय सरकारों ने न केवल १८८१ के प्रस्ताव के अन्तर्गत नीति को स्वीकृत किया अपितु उन्होंने अपनी योजनाएँ भारत सरकार को प्रस्तुत कीं। भारत सरकार ने अगला पग उठाने का निश्चय किया। १८८२ में एक अन्य प्रस्ताव जारी किया गया।

१८८२ का प्रस्ताव (Resolution of 1882)—१८८२ के अपने प्रस्ताव में लार्ड रिपन ने यह स्पष्ट करने का विशेष कष्ट उठाया कि स्थानीय स्वराज्य का विस्तार नगरपालिका के प्रशासन में योग्यता के दृष्टिकोण से भले के लिए कोई विशेष परिवर्तन नहीं प्रस्तुत करेगा। उसके अपने ही शब्दों में, "यह व्यवस्था एकमात्र प्रशासन में सुधार के लिए प्रस्तुत तथा समर्पित नहीं की जा रही है। राजनैतिक तथा लोकप्रिय शिक्षा के साधन स्वरूप यह मुख्य रूप से ग्राह्य है।" गवर्नर-जनरल की सम्मति थी कि जब कुछ समय के पश्चात् अधिक स्थानीय ज्ञान प्राप्त कर लिया गया तथा अधिक स्थानीय रुचि उत्पन्न हो गई, "तभी वास्तव में संशोधित योग्यता आएगी।" किन्तु इस नये क्षेत्र में प्रारम्भिक असफलताओं का होना जरूरी था। यदि सरकार के अधिकारी स्थानीय समितियों के विकास को प्रोत्साहित करें तथा उनका समर्थन करते, तब ऐसी आशा की जाती थी कि असफलता का युग शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा तथा कुछ वास्तविक प्रगति हो सकेगी।

(२) भारत के गवर्नर-जनरल ने यह सामान्य अभियोग मानने से इनकार कर दिया कि भारत के लोग स्वराज्य के सिद्धान्त के प्रति उदासीन हैं। दूसरी ओर उसकी यह सम्मति थी कि शिक्षा के जन्म के साथ-साथ बुद्धिमान तथा सार्वजनिक भावना के लोगों में वृद्धि होना आवश्यक है तथा उनकी सेवाएँ स्थानीय कार्य के प्रबन्ध के लिए लाभ-पूर्वक उपयोग में लाई जाएँगी। इस शिकायत के सम्बन्ध में कि पहले अनुभव उत्साह-वर्धक नहीं हैं, गवर्नर-जनरल मन में यह विचार रखते थे कि पद्धति का सन्तोषजनक तरीके से परीक्षण नहीं किया गया। ऐसी आशा प्रकट की गई कि यदि गैर-सरकारी सदस्यों में अधिक विश्वास रखा गया तब स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में अधिक योग्यता तथा सुधार होगा।

(३) लार्ड रिपन ने उस सामान्य दिशा का इशारा किया, जिस पर कुछ आगे पग उठाये जाने थे, जिससे कि स्थानीय स्वराज्य के क्षेत्र में कुछ वास्तविक तथा क्रियात्मक प्रगति की जा सके। सिफारिशों का पहला भाग मौलिक सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखता था। स्थानीय सरकारों को निर्देश दिया गया कि वे प्रत्येक जिले में स्थानीय बोर्डों के जाल को बिछा दें तथा उनकी प्रगति को जारी रखें। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड का कार्य-क्षेत्र इतना कम रखने की व्यवस्था थी कि बोर्ड के सदस्यों की ओर से स्थानीय ज्ञान तथा स्थानीय रुचि को सुरक्षित किया सकता था। गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ाने की तथा सरकारी सदस्यों की संख्या सम्पूर्ण सदस्य संख्या के एक-तिहाई से अधिक न करने की व्यवस्था की गई।

(४) जहाँ कहीं सम्भव था, स्थानीय सरकारों को स्थानीय बोर्डों के सदस्यों के लिए चुनाव प्रणाली को आरम्भ करने की योजना बनाई गई। यद्यपि लार्ड रिपन ने सभी स्थानों के लिए चुनाव की पद्धति को अपनाने की आज्ञा नहीं दी, उसने आशा प्रकट की कि चुनाव की पद्धति अन्त में व्यवहार्य होकर रहेगी। उसकी अपनी इच्छा थी कि चुनाव की प्रणाली अधिकाधिक स्थानों पर आरम्भ कर दी जाए, जहाँ स्थानीय परिस्थितियाँ इस बात के लिये अनुकूल हैं। किन्तु ऐसा तभी सम्भव था जब कि सरकारी अफसर इस सिद्धान्त को बिना किसी भावना से स्वीकार करते तथा उसे सफल बनाने के लिए कटिबद्ध हो जाते। उस अवस्था में प्रत्येक सहायक डिवीजनल अधिकारी को ऐसे प्रार्थियों की सूची तैयार करने की कार्रवाई करनी थी, जो स्थानीय बोर्ड के सदस्य बनने की योग्यता रखते हों तथा उसको उस विशेष क्षेत्र के निवासियों को किसी निश्चित दिन मिलने के लिए उनके समीप ही किसी सुविधाजनक स्थान पर व्यवस्था भी करनी थी। उस अवसर पर उसे सरकार के उद्देश्य के सम्बन्ध में तथा उनके कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में व्याख्यापूर्वक समझाना होता था। विचाराधीन क्षेत्र के लिए निश्चित संख्या के अनुसार वह उन नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने के लिए कहता था। कुछ ही वर्षों में जब बोर्ड के सदस्य यह समझें कि उनके हाथों में वास्तविक शक्ति तथा उत्तरदायित्व हैं, तब सरकारी हस्तक्षेप अनावश्यक हो जाएगा। मतदाताओं को चुनावों के विषय में पूर्ण स्वतन्त्र किए जाने का निश्चय किया गया।

(५) भारत सरकार की सिफारिशों का दूसरा भाग स्थानीय बोर्डों पर सरकार के नियन्त्रण की मात्रा के सम्बन्ध में था। कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल की यह सम्मति थी कि "नियन्त्रण भीतर से होने के स्थान पर बाहर से होना चाहिए। सरकार को स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में संशोधन तथा जाँच करनी चाहिए किन्तु उन पर किसी प्रकार का आदेश न थोपना चाहिए।"

(६) सरकारी नियन्त्रण दो उपायों से प्रयुक्त किया जा सकता है। प्रथम, स्थानीय बोर्डों के कुछ कार्यों के वैधानिक रूप देने के लिए सरकार की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक कर दिया गया। दृष्टान्त के रूप में ऋण लेने तथा कर लगाने आदि के सम्बन्ध में कार्रवाई करना आदि। आरम्भ में ऐसे विषयों की संख्या अधिक थी, किन्तु ज्यों-ज्यों स्थानीय बोर्डों को अधिक अनुभव प्राप्त हो जाए, विषयों की संख्या कम की जा सकती थी। द्वितीय, स्थानीय सरकार को इस बात में हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया गया कि

वे किन्हीं विशेष मामलों में बोर्ड की कार्रवाई को पूर्ण रूप से रद्द कर सकते थे अथवा संकट के समय में अथवा उनके लगातार कर्त्तव्य की उपेक्षा करने की स्थिति में वे अस्थायी रूप से बोर्ड को स्थगित कर सकते थे। बोर्ड के पूर्ण रूप से तोड़ने अथवा स्थगित करने के अधिकार का प्रयोग भारत सरकार की स्वीकृति से ही हो सकता था। पथ-प्रदर्शन के लिए इन शब्दों में सामान्य सिद्धान्त अंकित किया गया "सरकार के व्यवस्थापक अधिकारियों का यह सामान्य कर्त्तव्य स्थानीय बोर्डों की कार्रवाइयों की देख-रेख करना, विचारणीय विषयों तथा उनकी ओर से हो रही कर्त्तव्य की उपेक्षा की ओर से अनुचित सरकारी दवाव अथवा गैर-कानूनी, पक्षपात-पूर्ण अथवा बिना किसी हेतु के कार्य करने के सम्बन्ध में उनका ध्यान आकर्षित करना था।"

(७) लार्ड रिपन के अनुसार, "यह अधिक सुविधाजनक रहेगा कि वे स्थानीय बोर्डों के नियन्त्रण का निरीक्षण करें। उन्हें कार्रवाई में वास्तविक भाग नहीं लेना चाहिए।" उसे ऐसा प्रतीत होता था कि "जब तक प्रमुख प्रवन्धाधिकारी नगरपालिका तथा जिला कमेटियों के अध्यक्ष हैं, तब तक इन कमेटियों को इस प्रकार अपने गैर-सरकारी सदस्यों को प्रभावशाली प्रशिक्षण देने अथवा गैर-सरकारी सदस्यों को स्थानीय कार्यों में किसी प्रकार की वास्तविक रुचि लेने का बहुत कम अवसर प्राप्त होता है। गैर-सरकारी सदस्यों को इस बात की अनुमति होनी चाहिए कि वे इस बात का अनुभव करें कि वास्तविक अधिकार उनके हाथों में है तथा उन्हें वास्तविक उत्तरदायित्वों को निभाना है।" क्योंकि सरकारी अध्यक्षों के कारण यह बात सम्भव नहीं थी, गवर्नर-जनरल ने इच्छा प्रकट की कि "गैर-सरकारी लोगों को यथासम्भव तथा जहाँ तक व्यवहार्य हो, स्थानीय बोर्डों के अध्यक्ष रूप में कार्य करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए।" यह भी सम्भव था कि एक योग्य अध्यक्ष किसी विशेष क्षेत्र में उपलब्ध न हो, किन्तु सरकार की नीति यह होनी चाहिए कि वह कम से कम सरकारी अध्यक्ष रखे। एक सरकारी अध्यक्ष को कार्रवाई में अपने मताधिकार का प्रयोग करने की छूट न थी। लार्ड रिपन ने बतलाया कि देशी लोगों को बड़े साहबों की लगातार उपस्थिति के कारण ज्यादा परेशान नहीं करना चाहिए।

(८) अध्यक्ष के चुनाव के वैध किए जाने के लिए स्थानीय सरकार की स्वीकृति आवश्यक थी तथा सरकार चाहे तो इस सम्बन्ध में अनुमति देने से इनकार कर सकती है।

(९) स्थानीय सरकारों को निर्देश दिया गया कि उन्हें स्थानीय बोर्डों को स्थानीय कर तथा लाइसेंस शुल्क आदि लगाने तथा प्राप्त करने आदि के सम्बन्ध में पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त होना चाहिए। प्रान्तीय राजस्व से स्थानीय बोर्डों को एकमुश्त अनुदान दिए जाने की व्यवस्था की गई।

(१०) जिला इंजीनियर का कार्य स्थानीय संस्थाओं को उनके भवनों की संभाल तथा उनकी देख-रेख के कार्य में सहायता देना था, किन्तु इंजीनियर का कार्य उनके सेवक के रूप में कार्य करना था तथा उनके स्वामी के रूप में नहीं। स्थानीय बोर्डों को कार्यों के प्रारम्भ करने तथा निर्देशन में स्वतन्त्र छोड़ दिया गया।

यह अभीष्ट प्रतीत होता है कि स्थानीय स्वराज्य के विषय में लार्ड रिपन के महत्त्व पर कुछ व्यक्तियों के विचार दे दिए जाएँ। प्रो० एम० वेंकटरंगैया के शब्दों में, "उच्च अधिकारियों के द्वारा इस सम्बन्ध में की गई घोषणाओं में यह एक महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेख-

नीय स्थायी प्रकार की रचना है तथा भारतीय स्थानीय संस्थाओं में आगे होने वाले सभी विकास कार्यों का मूलभूत आधार है। यह स्थानीय स्वराज्य के विस्तार के लिये अत्यंत प्रभावशाली ढंग से अपने पक्ष को प्रस्तुत करता है तथा इस सम्बन्ध में उठाए जा सकने वाले सभी आक्षेपों का उत्तर देता है। यह इस सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप के प्रयोग में होने वाली सभी कठिनाइयों के प्रकार पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालता है तथा उन पर विजय प्राप्त करने के उपायों का सुझाव देता है। भारत सरकार के द्वारा प्रकाशित प्रस्ताव तथा बाद में इंग्लैंड में अधिकारियों के द्वारा की हुई घोषणाएँ लम्बे भले ही हों, किन्तु इस प्रस्ताव के अन्तर्गत कारणों की संख्या तथा शक्ति में उनसे कोई वृद्धि नहीं होती। सबसे बढ़कर यह प्रस्ताव इसलिए मूल्यवान है, क्योंकि इससे उन आशाओं तथा भावनाओं को निश्चित तथा व्यावहारिक रूप प्राप्त हो गया था, जो अब तक अस्पष्ट थीं। इसने एक निश्चित पथ-प्रदर्शन किया तथा उन सब प्रान्तीय सरकारों के लिये एक स्पष्ट मार्ग निर्दिष्ट कर दिया, जो स्थानीय स्वराज्य की प्रगति के लिये वास्तव में रुचि रखते थे।" (मद्रास प्रेजीडैंसी में स्थानीय बोर्डों का विकास, पृ० ४७।)

डी०ई० वाचा के मतानुसार, रिपन के प्रस्ताव के द्वारा "लार्ड रिपन के, जो अच्छा तथा उदार मन वाला था, वायसराय पद को भारत के इतिहास में ऐसा स्थान प्रदान कर दिया है, जो कभी भी नहीं भुलाया जा सकता। राज्य-पत्र के द्वारा जनता को स्थानीय स्वराज्य का योग्य उपहार भेंट किया गया, जिसे वे आजतक अत्यन्त हार्दिकता तथा कृतज्ञता की भावनाओं से उपभोग कर रहे हैं। इससे निश्चित रूप से साम्राज्य के समस्त भागों में कुछ अनावश्यक आर्थिक तथा प्रशासनीय परिवर्तन हुए तथा इसके द्वारा निश्चित रूप से स्थानीय सरकार के लिये प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में अपनाए जाने वाले विस्तृत सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया।" (बम्बई नगरपालिका सरकार का उदय तथा विकास, पृ० २६२)।

रिपन के प्रस्ताव का कितना ही महत्त्व क्यों न हो, किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि प्रान्तीय सरकारों तथा भारत सरकार दोनों ने प्रस्ताव में निश्चित की गई नीति का पालन नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि ३६ वर्षों के व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी, जब १९१८ में एक अन्य प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, कोई विशेष प्रगति स्थानीय स्वराज्य के क्षेत्र में नहीं हुई। लार्ड कर्ज़न जैसे व्यक्ति स्थानीय स्वराज्य के शत्रु थे। भारत में ब्रिटिश नौकरशाही इस बात के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ थी कि स्थानीय संस्थाएँ अपने कार्य में किसी प्रकार से भी सफल न हों। इस प्रकार लार्ड रिपन की शुभ कामनाओं के होते हुए भी इस देश की अवस्था में किसी प्रकार का सुधार नहीं हुआ।

विकेन्द्रीकरण आयोग (Decentralisation Commission)—यहाँ प्रसंगवश विकेन्द्रीकरण आयोग की सिफारिशों के सम्बन्ध में उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस आयोग ने ग्राम पंचायतों के महत्त्व पर बल दिया तथा उनके पुनस्संस्थापन तथा विकास के लिए विशेष कार्रवाई अपनाने के सम्बन्ध में सिफारिश की गई थी। इसके द्वारा स्थानीय संस्थाओं पर सरकार के नियन्त्रण के कम करने की सिफारिश की गईथी। इस बात की भी सिफारिशें की गई थीं कि स्थानीय संस्थाओं को आय के अधिक साधन प्रदान किए जाएँ। यद्यपि सरकार ने आयोग की सिफारिशों के सम्बन्ध में अपनी सहमति

प्रकट की, तथापि व्यवहार रूप में कुछ भी नहीं किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश जिलों में स्थानीय सरकार जिला अधिकारी के अनेक कार्यों में से एक कार्य बना रहा। इस बात का कोई उचित प्रयत्न नहीं किया गया कि स्थानीय संस्थाओं के प्रशासन कार्य को लोगों की इच्छा के अनुसार किया जाए। अनेक नगरों में नगरपालिकाएँ केवल सरकारी अध्यक्षों के निश्चयों को पुष्टि प्रदान करती थीं। यहाँ तक कि जब उपाध्यक्षों की नियुक्ति होती थी तब भी वे केवल अधिकारियों के निर्देशों का अनुकरण करती थीं। इस बात में कोई आश्चर्य नहीं यदि साइमन कमीशन ने इस सम्बन्ध में यह लिखा हो, "वास्तव में कुछ नगरपालिकाओं के अतिरिक्त भारत में ऐसी कोई संस्था नहीं जिसे हम सुधार युग से पूर्व ब्रिटिश ढंग के स्थानीय स्वराज्य के रूप में स्वीकार करें।"

१९१८ का प्रस्ताव (Resolution of 1918)—अगस्त १९१७ में ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि भारत में अंग्रेज़ी शासन का उद्देश्य देश के लोगों को उत्तरदायी सरकार देना था तथा सरकार को इस उद्देश्य की उन्नतिशील पूर्ति के लिये पग उठाना था। १९१८ में भारत सरकार ने स्थानीय स्वराज्य के सम्बन्ध में एक आवश्यक प्रस्ताव जारी किया। उस प्रस्ताव का मौलिक सिद्धान्त यह था कि उत्तरदायी संस्थाएँ तब तक दृढ़ मूल वाली नहीं होंगी जब तक उनका आधार विस्तृत न हो तथा राजनैतिक शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ विद्यालय स्थानीय स्वराज्य के क्षेत्र में मत का बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयोग तथा प्रशासनिक शक्ति का योग्यतापूर्वक प्रयोग करना है। प्रस्ताव के अनुसार सामान्य नीति यह होनी चाहिए कि स्थानीय संस्थाओं से सब प्रकार के अनावश्यक नियन्त्रण को धीरे-धीरे हटा दिया जाए। सरकार का कार्य सरकार के योग्य कार्यक्षेत्र को स्थानीय संस्थाओं के लिये योग्य कार्यक्षेत्र से अलग करना था। प्रस्ताव के द्वारा कुछ सिद्धान्त बना लिये गए जिससे स्थानीय संस्थाओं पर यथासम्भव पूर्ण लोकप्रिय नियन्त्रण रखा जा सके। इस बात का प्रस्ताव किया गया कि सब स्थानीय बोर्डों में निर्वाचित बहुमत स्थापित किया जाए तथा नगरपालिकाओं में सरकारी अध्यक्ष के स्थान पर निर्वाचित अध्यक्ष की नियुक्ति की जाए। देहाती संस्थाओं में भी यथासम्भव इसी प्रकार किए जाने का निश्चय किया गया। अल्पमतों के प्रतिनिधित्व के लिये मनोनीत करने की पद्धति अपनाई गई। चुनाव योग्यता सम्बन्धी नियम इतने शिथिल कर दिए गए कि चुनाव-क्षेत्र वास्तव में करदाताओं के प्रतिनिधि हो गए। इस प्रस्ताव के द्वारा देहातों के सामाजिक जीवन के विकास के अपनाने के सम्बन्ध में बल दिया गया। सरकार के द्वारा ग्राम पंचायतों के विकास को प्रोत्साहित किए जाने का निश्चय किया गया। इस प्रस्ताव पर जो सामयिक कार्रवाई की गई वह यह थी कि ज़िला अफ़सर को पंजाब को छोड़ कर शेष प्रान्तों में अपने कर्त्तव्य से मुक्त कर दिया गया।

१९१८ के भारतीय वैधानिक सुधारों के विवरण में देश में तत्कालीन स्थानीय सरकार की पद्धति की जाँच-पड़ताल की गई तथा उससे यह परिणाम निकाला गया कि सम्पूर्ण पद्धति में शैक्षणिक सिद्धान्त तात्कालिक परिणामों की इच्छा के अनुसार गौण कर दिए गए हैं। इस सम्बन्ध में यह कहा गया कि स्थानीय संस्थाओं में यथासम्भव पूर्ण लोकप्रिय नियन्त्रण होना चाहिए तथा उन्हें बाह्य नियन्त्रण से यथासम्भव अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

द्वैध-शासन के आधीन (Under Dyarchy)—१९१९ के भारत सरकार अधिनियम के द्वारा स्थापित सरकार की द्वैध-शासन प्रणाली के आधीन स्थानीय सरकार के विभाग को भारतीय मन्त्री के हाथों में हस्तांतरित कर दिया गया तथा वह उसके सम्बन्ध में प्रान्तीय विधान-मण्डलों के प्रति उत्तरदायी था। यह स्वाभाविक ही था कि भारतीय मन्त्रियों को स्थानीय स्वराज्य के विकास के लिये यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिए। यह सत्य है कि रुपये की कमी के कारण उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं। अर्थ विभाग के कार्यकारिणी के एक कौंसिलर सदस्य के आधीन होने के कारण, जिसे राष्ट्र-निर्माण-योजनाओं से कोई भी सहानुभूति न होती थी, प्रान्तों में वास्तविक रूप से अधिक कार्य न हो सका। लगभग प्रत्येक प्रान्त में विधान-मण्डल ने स्थानीय संस्थाओं को विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण राजनैतिक उत्तरदायित्वों के लिए प्रभावशाली प्रशिक्षण-भूमि बनाने के लिए प्रयत्न किया। इन अधिनियमों की सामान्य प्रवृत्ति एक जैसी थी। व्यावहारिक रूप से सभी अधिनियमों का उद्देश्य मतदाता की योग्यता को शिथिल करना तथा चुनाव तत्त्वों को इतना अधिक विस्तृत करना था कि उसे स्थानीय मामलों में नीति का तात्कालिक निर्णायक बना दिया जाए तथा व्यवस्था-सम्बन्धी निर्देश को सरकारी हाथों में हस्तांतरित कर दिया जाए। प्रत्येक प्रान्त में ग्राम पंचायतों के विकास के लिये कानून पास किए गए। सब मिलाकर सरकारी नियन्त्रण को ढीला करने तथा स्थानीय संस्थाओं को जनता की प्रतिनिधि संस्थाएँ बनाने के उद्देश्य से प्रयत्न किया गया।

प्रान्तीय स्वराज्य (Provincial Autonomy)—प्रान्तीय स्वराज्य के आधीन भी वही प्रणाली चलती रही। स्थानीय स्वराज्य का विभाग भारतीय मन्त्री के हाथों में ही रहा। वह इस तथ्य के कारण दृढ़ स्थिति में था कि अर्थ सुरक्षित विषय न था। स्थानीय स्वराज्य के क्षेत्र में देश की स्वतन्त्रता तथा नये संविधान के लागू होने के पश्चात् भी कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं किया गया।

वर्त्तमान पद्धति में दोष (Defects in the Present System)—भारत की स्थानीय संस्थाओं को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। उनके कार्यों के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवस्था तथा नीति-सम्बन्धी प्रत्येक प्रकार का नियन्त्रण है। इससे, निस्सन्देह, स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों की ओर से सब प्रकार के कार्य आरम्भ करने की भावना नष्ट हो जाती है। जनता की ओर से कार्य आरम्भ करने की भावना के बिना, हम स्थानीय संस्थाओं की मृत समितियों में उत्साह प्रदान नहीं कर सकते। धन-सम्बन्धी बड़ी बाधा तो है ही। स्थानीय संस्थाओं के पास साधन पर्याप्त नहीं होते कि वे अपने कर्त्तव्यों को इस प्रकार निभा सकें कि वे जनता के जीवनों में पूर्णता तथा समृद्धि में वृद्धि कर सकें। राजस्व के नए साधनों को खोजना होगा तथा सरकार को अनुदानों तथा ऋण लेने के सम्बन्ध में उदार नीति का अनुकरण करना होगा। स्थानीय संस्थाओं के कार्य में जनता की रुचि का भी अभाव है। सब प्रकार के वर्त्तमान आन्दोलन के द्वारा जनता पर देश के राष्ट्रीय जीवन में स्थानीय संस्थाओं के महत्त्व पर बल देना चाहिए। इस विषय पर पुस्तकों की भी अत्यधिक न्यूनता है। इसका परिणाम यह होता है कि लोगों को स्थानीय समस्याओं के सम्बन्ध में पूर्ण अज्ञान होता है। यह आशा की जाती है कि कुल मिलाकर सम्पूर्ण देश के हित में केवल सामान्य लोग ही नहीं अपितु अधिकारी वर्ग भी स्थानीय संस्थाओं के कार्य में

विशेष रुचि लेंगे। हमें यह न भूलना चाहिए कि स्थानीय स्वराज्य की उत्साहपूर्ण पद्धति के बिना प्रजातन्त्र की नींवें कमजोर तथा डाँवाडोल हो जाती हैं।

Questions for Revision

1. Trace the growth of Local Self-Government in India.

2. What is Local Self-Government ? Narrate briefly the growth of Local Self-Government during the last fifty years in India.

3. What is the importance of Ripon's Resolution on Local Self-Government.

4. "It is not primarily with a view to improvement in administration that the measure is put forward and supported. It is chiefly desirable as an instrument of political and popular education." (Ripon's Resolution on Local Self-Government).

5. Narrate briefly the evolution of municipalities and district boards in India and describe briefly their powers and functions.

अध्याय २७

भारत में समाचार-पत्रों का इतिहास
(The History of the Press in India)

भारत में समाचार-पत्रों का इतिहास ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दिनों में अंग्रेजों से आरम्भ होता है। १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आंग्ल-भारतीयों तथा यूरोपियनों ने अपनी पत्र-पत्रिकाएँ आरम्भ कीं। इन पत्रों के दो उद्देश्य थे, सूचना तथा रोचकता। इन पत्रों में समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं से विस्तृत उद्धरण होते थे, जो इंग्लैंड तथा यूरोप में प्रकाशित होते थे।

वारेन हेस्टिंग्ज़ तथा हिक्की (Warren Hastings and Hicky)—बंगाल गज़ट एक साप्ताहिक पत्र के रूप में १७८० में हिक्की ने चालू किया। प्रारम्भ से ही पत्रिका के प्रबन्धकों के साथ वारेन हेस्टिंग्ज़ की विरोधी भावना आरम्भ हुई, जो उस समय बंगाल का गवर्नर-जनरल था। पत्रिका ने श्रीमती वारेन हेस्टिंग्ज़ तथा वारेन हेस्टिंग्ज़ की सामान्य नीति की आलोचना की। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने मि० हक्की के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की। मि० हिक्की को कैद किया गया तथा १७८२ में पत्रिका को बन्द कर देना पड़ा। मि० हिक्की एक अत्यन्त साहसी व्यक्ति था। वह समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का महान् समर्थक था। वह भारत में पत्रकारिता के इतिहास का अग्रदूत था। निम्नलिखित शब्दों में मानव हिक्की का कुछ भाव मिलता है, "मि० हिक्की समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता को अंग्रेज की सत्ता तथा एक स्वतन्त्र सरकार के लिए आवश्यक समझता है। प्रजाजनों को स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे अपने सिद्धान्त तथा सम्मतियाँ घोषित कर सकें तथा प्रत्येक वह कार्य, जो इस सिद्धान्त पर किसी प्रकार का दबाव डालता है, समुदाय के लिये घातक तथा अत्याचारपूर्ण है।"

कार्नवालिस तथा डुएन (Cornwallis and Duane)—अपने पूर्वाधिकारी के समान प्रेस के सम्बन्ध में लार्ड कार्नवालिस की अपनी कठिनाइयाँ थीं। मि० डुएन ने जो "इण्डियन वर्ल्ड" के सम्पादक थे, ऐसी सामग्री लिखी जिसे कार्नवालिस सहन न कर सका। परिणामस्वरूप, डुएन को बन्दी बना लिया गया तथा उसका अपमान किया गया। मि० डुएन तथा गवर्नर-जनरल के मध्य अनेक वर्षों तक खींचतान होती रही तथा अन्त में डुएन को देश-निकाला देकर यूरोप भेज दिया गया।

१७९६ में मेकेनली ने, जो टेलिग्राफ़ का सम्पादक था, एक लेख को प्रकाशित करके अधिकारियों को नाराज़ कर दिया। उस लेख में उसने कुछ सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध कुछ आरोप लगाये थे। उसी वर्ष कलकत्ता गज़ट के सम्पादक पर अभियोग लगाया गया। उसका कारण यह था कि उसने कुछ पत्र-व्यवहार का उल्लेख किया था, जो डायरैक्टरों की कमेटी तथा फ्रांसीसी गणतन्त्र के मध्य हुआ था।

लार्ड वैल्ज़ली, १७९८-१८०५ (Lord Wellesley)—जब लार्ड वैल्ज़ली ने सरकार की बागडोर सँभाली, तब स्थिति संकटपूर्ण थी। प्रत्येक के मन में फ्रांसीसी आक्रमण का खतरा भरा हुआ था। सुलतान टीपू फ्रांसीसियों के साथ परामर्श कर रहा था

जिससे अंग्रेजों को भारत से निकाला जा सके। मराठे, जिन्होंने निज़ाम के ऊपर अपनी विजय प्राप्त कर ली थी, भविष्य के सम्बन्ध में महत्त्वाकांक्षापूर्ण स्वप्न देख रहे थे। ऐसा अनुभव किया गया कि भारत में अंग्रेजों की सुरक्षा के हितों में समाचार-पत्रों पर कड़ी देख-रेख आवश्यक होगी। इसमें आश्चर्य नहीं कि १७९९ में देश में प्रकाशित होने वाले सभी समाचार-पत्रों पर सैंसर (Censor) स्थापित कर दिया गया। यह निर्देश किया गया कि समाचार-पत्रों पर सम्पादकों तथा पत्र-स्वामियों के नाम प्रकाशित हों। सरकार ने "बंगाल किरकारु' के सम्पादक चार्ल्स मैक्लीन के विरुद्ध कार्रवाई की। अन्त में सम्पादक को इंग्लैंड भेज दिया गया। सरकार का यह विचार था कि मि० मैक्लीन ने "न्यायालय की कार्रवाई के सम्बन्ध में एक सार्वजनिक प्रकाशन के माध्यम से तथा एक सार्वजनिक अधिकारी के व्यवहार की निन्दा करते हुए अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया है।" मैक्लीन ने भी उत्तर में इसी प्रकार की कार्रवाई की। इंग्लैंड में होते हुए उसने उस आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया जिसके कारण अन्त में लार्ड वैल्ज़ली को त्याग-पत्र देना पड़ा। लार्ड मिण्टो (१८०८-१८१३) के समय में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया।

लार्ड हेस्टिंग्ज़ १८१३-२३ (Lord Hastings)—लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने स्वतन्त्र समाचार-पत्रों के द्वारा ग्रहण किये हुए महत्त्वपूर्ण भाग की प्रशंसा की तथा परिणामस्वरूप अपने न्यायपूर्ण कार्य करने के सम्बन्ध में समाचार-पत्रों को प्रोत्साहित किया। आरम्भ में उसने १८१३ में सैन्सर के सम्बन्ध में नियमों में थोड़ा-सा परिवर्तन किया। पाँच वर्षों के पश्चात् उसने कुछ शिकायतें प्राप्त होने पर सैंसर का पद उड़ा दिया। तथापि, इसका यह अभिप्राय नहीं कि भारत में समाचार-पत्र पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गये। उसी वर्ष नये नियम प्रकाशित किये गए। इन नियमों के अनुसार सम्पादकों को इंग्लैंड में भारतीय अधिकारियों के आचरण पर आलोचना करने से रोक दिया गया। इसके साथ ही स्थानीय प्रशासन के राजनैतिक लेन-देन के सम्बन्ध में विचार प्रकट करने तथा समाचार-पत्रों में कौंसिल, न्यायाधीशों तथा कलकत्ता के बिशप के सार्वजनिक व्यवहार के सम्बन्ध में तीखी टिप्पणियाँ देने, देशी लोगों में चौंकाने अथवा सन्देह उत्पन्न करने की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में चर्चा करने, जिससे उनके धर्म में हस्तक्षेप की भावना उत्पन्न हो, अंग्रेजी तथा अन्य समाचार-पत्रों से ऐसे उद्धरण पुनः प्रकाशित करने जिससे भारत में ब्रिटिश अधिकार अथवा यश पर प्रभाव पड़े, तथा परोक्ष धोखा देने अथवा व्यक्तियों पर निजी टिप्पणियाँ देने, जिससे समाज में विरोध बढ़े, से भी रोक दिया गया।"

बकिंघम (Buckingham)—१८१८ में सैन्सर खत्म करने का एक परिणाम यह हुआ कि नये समाचार-पत्र अस्तित्व में आए। जे० एस० बकिंघम ने १८१८ में 'कलकत्ता जरनल' निकला। वह एक अत्यन्त साहसी तथा निडर व्यक्ति था। उसने सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, मद्रास के गवर्नर तथा कलकत्ता के मुख्य बिशप तक को नहीं छोड़ा। हिक्की तथा डुएन के समान, उसे देश से निकाल दिया गया। उस महापुरुष ने अपने लिये इंग्लैंड में नाम कमाया।

मनरो की सिफारिशें (Munro's Rocommendations)—भारत सरकार ने सर टामस मनरो को भारत में समाचार-पत्रों की जाँच करने तथा उस पर विवरण देने के लिए नियुक्त किया। उसने सम्पूर्ण समस्या का अध्ययन किया तथा सरकार को अपनी

सिफारिशें प्रस्तुत कीं। उसका विचार यह था कि यूरोप के समाचार-पत्रों की समस्या गंभीर नहीं थी। उसके विचार में, "जहाँ तक यूरोपियनों का संबंध है, वे चाहे नौकरी में हों अथवा नहीं, समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता अथवा पाबंदी उनके लिए कम लाभ अथवा हानि कर सकते हैं तथा उन पर गंभीर ध्यान देने की आवश्यकता भी नहीं।" तथापि उसने उनके लिए सैंसर बनाए रखने की तथा सम्पादकों अथवा समाचार-पत्रों के लोगों को देश से निकाला देने के अधिकार को जारी रखने की सिफारिश की। भारतीय समाचार-पत्रों के विषय में मनरो ने अपनी चिन्ता तथा भय प्रकट किया। उसके विचार में, "किन्तु खतरे के दूर होने पर भी उसकी सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। यह भारतीय सेना को प्रभावित तथा भ्रष्टाचार से युक्त कर सकता है तथा ब्रिटिश शक्ति के उखाड़ने के सम्बन्ध में उससे कार्य लिया जा सकता है। इससे लोगों में स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों का प्रचार अवश्य होना चाहिए तथा उन्हें इस बात का प्रोत्साहन मिलना चाहिए कि विदेशियों को, जो उन पर राज्य कर रहे हैं, देश-निकाला दे दिया जाए तथा राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करनी चाहिए। स्वतन्त्र समाचार-पत्र तथा अजनबी लोगों का महत्त्व ऐसी वस्तुएँ हैं जो असंगत हैं तथा जो देर तक इकट्ठी नहीं रह सकतीं।"

१८२३ के नियम (Regulations of 1823)—भारत सरकार ने मनरो की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा इन नये नियमों को रजिस्ट्रेशन के लिए सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख मार्च १८२३ में प्रस्तुत किया। इन नियमों में इस बात की व्यवस्था की गई कि कोई छापाखाना स्थापित नहीं किया जाएगा तथा कोई समाचार-पत्र अथवा पुस्तक प्रकाशित नहीं की जाएगी, जब तक सरकार से उसके सम्बन्ध में लाइसैंस प्राप्त नहीं किया जाएगा। सब समाचार-पत्रों तथा पुस्तकों को जो लाइसैंस की प्रथा के आधीन प्रकाशित की जाएँगी, पहले सरकार के पास निरीक्षण के लिए प्रस्तुत किया जायगा। सरकार को अधिकार था कि वह किसी समाचार-पत्र अथवा पुस्तक का प्रसार बन्द कर सकती है। उसके लिए उसे केवल सरकारी गजट में एक सूचना देनी होगी। यद्यपि राजा राममोहन राय तथा द्वारकानाथ ठाकुर जैसे लोगों ने उन नियमों का विरोध किया, वे नियम रजिस्टर कर दिए गए तथा १५ अप्रैल, १८२३ से जारी कर दिए गए।

"भारतीय समाचार-पत्रों का मुक्ति-प्रदाता ("Liberator of the Indian Press")—१८२३ में बने हुए नियम १८३५ तक जारी रहे, जब उन्हें सर चार्ल्स मैटकाफ ने रद्द कर दिया। उसने यह पग उस समय उठाया, जब वह गवर्नर-जनरल के रूप में कार्य कर रहा था। उसे इस कार्य में लार्ड मैकाले ने सहायता दी, जो उस समय भारत सरकार का विधि सदस्य था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाचार-पत्र उतने ही स्वतन्त्र हो गए जितने कि इंग्लैंड के समाचार-पत्र। इस कार्रवाई का एक प्रभाव यह हुआ कि अंग्रेजी कम्पनी ने सर चार्ल्स मैटकाफ को भारत से वापिस बुला लिया। तथापि कलकत्ता की जनता ने उसके सम्मान में एक हॉल बनवा दिया।

१८५७ का लाइसैंसिंग अधिनियम (Licensing Act of 1857)—भारतीय समाचार-पत्र १८३५ से १८५७ तक स्वतन्त्र रहे। जब १८५७ में गदर हुआ, तब यह आवश्यक समझा गया कि देश में समाचार-पत्रों पर पाबन्दियाँ लगाई जाएँ। तदनुसार १८५७ का १५ वाँ अधिनियम स्वीकृत किया गया जिससे छापेखानों की स्थापना को

नियमित किया जा सके तथा प्रकाशित पुस्तकों तथा समाचार-पत्रों के प्रसार पर पाबन्दी लगा दी जाए। ये पाबन्दियाँ अस्थायी प्रकार की थीं तथा परिणामस्वरूप उन्हें विद्रोह के शीघ्र पश्चात् ही वापिस ले लिया गया।

१८६० में "दि बंगाली" तथा "अमृत बाजार पत्रिका" बंगाल में तथा "अखबार ए-आम" लाहौर में साप्ताहिक पत्रों के रूप में आरम्भ हुए।

१८६७ का अधिनियम (Act of 1867)—१८३५ का अधिनियम जिसे सर चार्ल्स मैटकाफ ने कानून का रूप दिया था, उसे १८६७ के २५ वें अधिनियम के रूप में रद्द कर दिया गया। नये अधिनियम का उद्देश्य छापेखानों तथा समाचार-पत्रों को नियमित करना था तथा ब्रिटिश भारत में प्रकाशित पुस्तकों की प्रतियाँ सुरक्षित करना तथा उन पर पाबन्दियाँ लगाना था। १८६७ का अधिनियम अब भी जारी है, यद्यपि कुछ संशोधन उसमें किए गए हैं।

१८७८ का भारतीय भाषा समाचार-पत्र अधिनियम (Vernacular Press Act, 1878)—यह बात भली प्रकार से ज्ञात है कि लार्ड लिटन एक महान् साम्राज्यवादी था तथा उसकी प्रगतिशील नीति द्वितीय अफगान युद्ध के दुःखद अन्त के लिए उत्तरदायी थी। निस्सन्देह उसका भारतीयों ने व्यापक रूप से विरोध किया। लार्ड लिटन ने भी उत्तर में चोट की। १३ मार्च, १८७८ को लार्ड लिटन ने भारतीय राज्य सचिव (Secretary of State) को एक तार भेजा कि वह तार द्वारा एक ऐसे प्रैस-कानून पर अपनी स्वीकृति दे, जो १८७० के आयरलैंण्ड के दमन अधिनियम की शैली पर बनाया गया था। उसके लिए उसने ये कारण उपस्थित किए, "भारतीय समाचार-पत्रों की बढ़ती हुई हिंसा भावना तथा विद्रोह-भावना का स्पष्ट समर्थन।" उसे दूसरे दिन बिल के लिए स्वीकृति प्राप्त हो गई। ज्योंही स्वीकृति प्राप्त हुई बिल को कुछ ही घण्टों में कानून का रूप दे दिया गया। कानून भारतीय भाषा समाचार-पत्र अधिनियम के नाम से प्रसिद्ध हुआ, यद्यपि उसे मुँह बन्द करने वाला अधिनियम के नाम से पुकारा गया। भारतीय भाषा समाचार-पत्र अधिनियम के द्वारा मजिस्ट्रेट को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह प्रान्तीय सरकार की पूर्व-स्वीकृति से किसी मुद्रक तथा प्रकाशक को जमानत जमा करने की आज्ञा दे तथा उससे इस प्रकार का प्रतिज्ञा-पत्र भरवा सके कि वह ऐसी किसी वस्तु का मुद्रण तथा प्रकाशन नहीं करेगा जिससे सरकार के प्रति घृणा की भावना भड़के अथवा भारत की जातियों में परस्पर वैमनस्य बढ़े। सरकार को इस बात का भी अधिकार दिया गया कि वह ऐसी दशा में जमानत अथवा छापेखाने की मशीन आदि को जब्त कर दे यदि उसमें ऐसी सामग्री का प्रकाशन होता है, जो अवाञ्छनीय हो। मुद्रक को इस बात का विकल्प दिया गया था कि वह सरकारी सैंसर (Censor) को प्रूफ भेजे तथा ऐसी सब सामग्री को हटा दे, जो अस्वीकृत हो तथा इस प्रकार वह कानून के पंजे से बच सकता था। भारतीय भाषा समाचार-पत्र अधिनियम आयरलैंण्ड के दमन अधिनियम से भी बहुत बुरा था।

देशी प्रैस अधिनियम के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार थे। एक ओर अंग्रेजों ने सामान्य रूप में तथा भारत सरकार ने विशेष रूप से इस अधिनियम की आवश्यकता पर बल दिया, दूसरी ओर भारतीयों ने यथासंभव तथा पूर्ण शक्ति से इसकी निन्दा की। सर ए० आर्बथनाट का विचार था कि इस अधिनियम के परिणामस्वरूप राज्यविद्रोहात्मक

तथा अवज्ञापूर्ण लेख लिखे जाने बन्द हो गए तथा सम्मति के समुचित प्रकाशन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हुआ। एस० एन० बैनर्जी के कथनानुसार, "पन्द्रह मास के भीतर मद्रास को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में देशी समाचार-पत्रों पर बंधन लग गया।" कलकत्ता के टाउनहाल में एक भारी सभा हुई। "यह सभा भारत में होने वाली सर्वाधिक सफल सभाओं में से एक थी। इसने देशी प्रैस अधिनियम के लिए मृत्यु की घण्टी बजाई।" सर फ़िरोज़शाह महता ने भी टाइम्ज़ आफ इण्डिया में एक लेख लिखकर अधिनियम की आलोचना की। उन्होंने स्पष्ट किया कि भारतीय समाचार-पत्र ब्रिटिश शासन के प्रति अवज्ञाकारिता के दोषी नहीं हैं। इसके सम्बन्ध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता था कि भारतीय समाचार-पत्र कभी-कभी क्रोधपूर्ण पारस्परिक अभियोग लगाने, बढ़ा-चढ़ा कर सामान्य अनुमान लगाने तथा विशेष व्यक्तियों पर लांछन लगाने के दोषी हो जाते थे, किन्तु इस प्रकार का प्रचार किसी भारतीय पाठक को विद्रोही नहीं बनाता था क्योंकि भारतीय पाठक ऐसे समाचार-पत्रों को प्रायः अपने देशी विचार तथा भावनाओं की स्वाभाविक जानकारी के आधार पर ही पढ़ते थे। कठोर किन्तु न्यायपूर्ण सरकारी आलोचना तथा ऐसे अधिकारों के दुरुपयोग, जिनके कारण विद्रोह तथा असन्तोष का प्रचार हो सकता हो—के मध्य किसी प्रकार की रेखा खींचना सदैव कठिन होता था। यदि ऐसे मामलों में योग्य न्यायाधीश वही व्यक्ति हों, जिन पर कि आलोचना की गई हो, तब वे अतिमानव थे, यदि ऐसे समय तथा अवसरों पर तथा धीरे-धीरे सब प्रकार की शत्रुतापूर्ण आलोचना जब्ती की सीमा में न आ जाए। यदि देशी समाचार-पत्र अनैतिकता अथवा लम्पटता के अपराधी हों, तो अनुमति देने की प्रणाली केवल अपनी कुटिल प्रवृत्तियों को भड़का तथा बढ़ा देगी तथा इसीसे दयानतदारी से पूर्ण तथा उपयोगी आलोचना का उन्मूलन हो जाएगा, विशेष रूप से ऐसे समाचार-पत्र के सम्बन्ध में, जो अभी शैशव में हो।

"मध्यम श्रेणी के तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति, जिनके कार्य अभी स्वभाव के रूप में कठोर नहीं हुए, इस क्षेत्र से बिना किसी प्रकार के संघर्ष के अवकाश प्राप्त कर लेंगे। हिंसापूर्ण तथा किसी प्रकार के सिद्धान्त पर न चलने वाले आन्दोलनकारी उपद्रव अथवा बाधा पहुँचाने में प्रवृत्त होंगे। इससे उनके अस्तित्व को ही पोषण मिलता रहेगा। तथा एक ओर जनता का गम्भीर तथा समुचित राजनैतिक विकास अनिश्चित समय के लिए रुक जाएगा तथा सरकार सब प्रकार से ऐसे विश्वस्त साधनों से वञ्चित हो जाएगी, जिससे उसके प्रति जनता की वास्तविक भीतरी भावनाओं तथा विचारों के सम्बन्ध में पूर्ण सूचना प्राप्त हो सके। इस प्रकार स्वतन्त्र तथा मित्रतापूर्ण आलोचना से वञ्चित हो जाने के कारण वह कठिनता से अपना मार्ग नीचतापूर्ण चापलूसी अथवा अशिष्टता से निकालेगी।"

मोदी के कथनानुसार, "इस अधिनियम की कोई भी आवश्यकता न थी। यह अत्यधिक दमनकारी था तथा कुटिलता पर आधारित था। यह एक ड्राकोनियन ढंग का कानून था जिसका अधिकांश १८७० के आयर्लैण्ड के बलपूर्वक अधीनता वाले अधिनियम पर आधारित था तथा कई बातों में तो वह उससे भी अधिक कड़ा था जिसे विशेष आवश्यकता के समय उपयोग करने के लिए बनाया गया था।" पुनश्च, "सम्भवतः इस अधिनियम का सबसे बुरा प्रभाव यह हुआ कि इसके क्षेत्र में से सभी अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों को

अलग कर दिया गया, यद्यपि बहुत से मामलों में वे सबसे अधिक दोषी थे। जैसे कि मि० आर्थर हॉबहाउस ने, जो अपने समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध वकील थे, कहा था कि अंग्रेज़ ही सरकार के सम्बन्ध में बुरी से बुरी बातें कहते हैं तथा लगातार उन्हें कहते रहते हैं। उसने इस प्रकार के भेद-भाव की निन्दा की तथा कहा कि यह सर्वाधिक उल्लेखनीय तथा अकेला वर्णन है, जो हमारी सम्पूर्ण नीति की प्रचलित रीति से पृथक् है तथा जिसे केवल दुर्व्यवहार-ग्रस्त श्रेणी के लोगों से खतरे के प्रबल प्रमाण के द्वारा ही न्यायसंगत ठहराया जा सकता है।"

सर अर्सकिन पैरी, जो राज्य सचिव की कौंसिल के सदस्य थे, ने कहा : "कोई भी साम्राज्यवादी विधान-निर्माता प्रेस पर नियन्त्रण के लिए इससे अधिक विषैला शस्त्र नहीं बना सकता। वास्तव में यह अधिनियम भारत के प्रेस के भविष्य के लिए घातक था।"

१८८० में इंग्लैंड में मन्त्रिमण्डल में परिवर्त्तन हुआ। डिज़रैली की अनुदार सरकार को सामान्य निर्वाचनों में पराजय प्राप्त हुई तथा ग्लैडस्टौन भारी उदार बहुमत के द्वारा अधिकार को प्राप्त हुए। इंग्लैण्ड में सरकार में परिवर्त्तन का एक परिणाम यह हुआ कि लार्ड लिटन को भारत से वापिस बुला लिया तथा लार्ड रिपन को उसका उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया। लार्ड रिपन के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के होते हुए भी भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्र वाले अधिनियम को शीघ्र ही रद्द न किया जा सका तथापि यह १८८२ में रद्द कर दिया गया। यद्यपि भारतीयों ने लार्ड रिपन की प्रशंसा उसके सद्भावनापूर्ण व्यवहार के लिए की, तथापि अंग्रेज़ प्रसन्न न थे। प्रो० डॉडवैल के अनुसार, भारतीय समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता भारत में ब्रिटिश सरकार के हितों के लिए अवश्य घातक थी। स्वतन्त्र भारतीय समाचार-पत्रों के लिए आवश्यक था कि वह सरकार की त्रुटियों तथा आदेशों की आलोचना करते तथा इस प्रकार उसे निन्दित करते।

१९०८ का समाचार-पत्र (अपराधों के भड़काने वाला) अधिनियम (The Newspapers (Incitement to Offences) Act, 1908)—यह बात अच्छी प्रकार से विदित है कि लार्ड कर्ज़न के द्वारा बंगाल के विभाजन तथा उसकी भारत-विरोधी नीति का यह परिणाम हुआ कि सारे देश में बहुत आन्दोलन हुआ। अंग्रेज़ों को देश से बाहर खदेड़ने के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, स्थिति गम्भीर होती गई। परिणामस्वरूप जून १९०८ में समाचार-पत्र (अपराधों के भड़काने वाला) अधिनियम स्वीकृत किया गया। भारत सरकार के कानून सदस्य के शब्दों में अधिनियम का उद्देश्य उन समाचार-पत्रों के अस्तित्व को समाप्त करना था, जिनमें हत्या के लिए किसी प्रकार की प्रेरणा अथवा भावना अथवा १९०८ के विस्फोटक सामग्री अधिनियम के आधीन कोई अपराध अथवा हिंसापूर्ण कार्य के लिये प्रेरणा पाई जाए।

इस अधिनियम के द्वारा ज़िला मजिस्ट्रेट को अधिकार दिया गया था कि वह ऐसे छापाखाने को ज़ब्त कर सकता है, जिसमें ऐसा समाचार-पत्र प्रकाशित होता हो, जो हिंसा को भड़काने वाला हो। उसे सदस्यों से यह कहना पड़ा कि वे इस बात का कारण बताएँ कि आज्ञाओं को आवश्यक क्यों न बनाया जाय। यदि साक्षी सुनने पर मजिस्ट्रेट को सन्तोष हो जाए कि समाचार-पत्र ने अपराध किया है तब उस वैकल्पिक अथवा शर्त वाले कानून को पूर्ण बना दे। इस बात की व्यवस्था की गई कि आज्ञा के पूर्ण बनाए जाने की तिथि के

१५ दिनों की अवधि में हाईकोर्ट को अपीलें ले जाई जा सकें। सरकार को अधिकार दिया गया कि वह समाचार-पत्र के मुद्रक अथवा प्रकाशक की घोषणा को १८६७ के अधिनियम के आधीन समाप्त कर दे।

१९०८ के अधिनियम की कठोर धाराओं के अनुसार, युगान्तर, संध्या तथा बन्देमातरम् ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया। यद्यपि १९०८ के अधिनियम के आधीन सरकार के हाथों में विस्तृत अधिकार थे, किन्तु सरकार का कहना था कि छापाखानों के द्वारा विरोधात्मक साहित्य को बन्द करना सम्भव नहीं था। परिणामस्वरूप भारतीय छापाखाने वाला अधिनियम १९१० में स्थिति का सामना करने के लिए स्वीकृत किया गया।

१९१० का भारतीय मुद्रणालय अधिनियम—(The Indian Press Act, 1910)—१९१० के अधिनियम के द्वारा मजिस्ट्रेट को अधिकार दिया गया कि कम-से-कम ५००) तथा अधिक-से-अधिक २०००) रुपये की ज़मानत समाचार-पत्रों के मुद्रणालयों के मुद्रकों तथा समाचार-पत्रों के प्रकाशकों से प्राप्त कर सके। स्थानीय सरकार को अधिकार दिया गया कि समाचार-पत्रों के वर्त्तमान मुद्रणालयों तथा समाचार पत्रों के प्रकाशकों से कम-से-कम ५००) तथा अधिक-से-अधिक ५०००) की सिक्युरिटी जमा करा सके। मजिस्ट्रेट को अधिकार दिया गया कि वह किसी ज़मानत के जमा करने के सम्बन्ध में उचित कार्रवाई कर सके अथवा इस सम्बन्ध में पूर्व प्रकाशित किसी आज्ञा को किन्हीं विशेष कारणों से रद्द अथवा परिवर्तित कर सके।

१९१० के अधिनियम के द्वारा, "आपत्तिजनक परिभाषा" निश्चित कर दी गई, जिसके आधार पर सरकार किसी भी ज़मानत के रुपये को सम्राट् के पक्ष में ज़ब्त घोषित कर सकती थी। ऐसे सब प्रकार के प्रयत्न—प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष––जिनके द्वारा सम्राट् की सुरक्षा सेनाओं में लगे हुए व्यक्तियों को विद्रोह के लिए प्रोत्साहित किया जाय अथवा लोगों को क्रान्तिकारी कार्यों के लिए धन देने को तंग किया जाए अथवा उन्हें रोका जाए कि वे क्रान्तिकारी अपराधों की खोज अथवा दण्ड देने के लिए सहायता न दें––आपत्तिजनक विषय की परिभाषा में सम्मिलित कर लिये गए। विद्रोहात्मक प्रकाशन की परिभाषा इतनी व्यापक कर दी गई कि उसमें भारतीय नरेशों, न्यायाधीशों, व्यवस्था अधिकारियों तथा सार्वजनिक कर्मचारियों के विरुद्ध रचनाओं को भी सम्मिलित किया जा सके। इस परिभाषा की चौथी धारा को इस प्रकार लिखा गया कि समाचार-पत्रों को सरकार की कार्रवाई की स्वतन्त्र आलोचना का बहुत कम अवकाश मिल सके। इस बात का निश्चय करने का अधिकार––कि किसी विशेष प्रकाशन के द्वारा चौथी धारा का उल्लंघन होता है अथवा नहीं—प्रान्तीय सरकार को दिया गया, साधारण अदालतों को नहीं।

इसके अतिरिक्त यदि किसी मुद्रणालय अथवा समाचार-पत्र की जमानत ज़ब्त की जाती थी तथा मुद्रणालय के मुद्रक तथा समाचार-पत्र के प्रकाशक १८६७ के अधिनियम के आधीन नवीन घोषणा-पत्र लेना चाहते थे, उस दशा में मजिस्ट्रेट के पास उनमें से प्रत्येक को कम-से-कम १०००) का तथा अधिक-से-अधिक १००००) का रक्षा धन जमा करना होता था। यदि सरकार की सम्मति में प्रेस अथवा समाचार-पत्र धारा चार का उल्लंघन करे तो सम्राट् द्वारा उसकी सिक्युरिटी ही ज़ब्त हो सकती थी।

इस अधिनियम के द्वारा चुंगी तथा डाकखाने के अधिकारियों को अधिकार दिया गया कि वे किसी माल अथवा पार्सल आदि को रोक सकते हैं, जिसके सम्बन्ध में यह सन्देह हो कि उसमें आपत्तिजनक सामग्री है, तथा वे उसे प्रान्तीय सरकार को भिजवा सकते थे। इस प्रकार की व्यवस्था कर दी गई कि वे हाई कोर्ट को अपील कर सकें। ऐसी अपीलें सुनने का अधिकार तीन न्यायाधीशों के विशेष न्यायाधिकरण को था। ऐसी अपील प्रान्तीय सरकार के द्वारा ज़ब्ती की आज्ञा के दो मास के भीतर ही की जा सकती थी।

१९१० के अधिनियम की आलोचना (Criticism of the Act of 1910)—१९१० के भारतीय मुद्रणालय अधिनियम ने भारतीय समाचार-पत्रों का मुँह बन्द कर दिया। देश के कोने-कोने में आन्दोलन हुआ। भारतीय समाचार-पत्र संघ ने नये विधान की न्यूनताओं को प्रकट किया तथा सरकार की अन्यायपूर्ण आज्ञाओं से समाचार-पत्रों तथा मुद्रणालयों की रक्षा करने का प्रयत्न किया। इस विधान का प्रयोग प्रथम महायुद्ध के समय बलपूर्वक किया गया। १९१९ में यह बताया गया कि १९१० के विधान के द्वारा ३५० से अधिक मुद्रणालयों को दण्डित किया गया। जमानत की माँग के कारण ३०० समाचार-पत्रों से ४०,००० पौण्ड से अधिक धनराशि की माँग की गई। ४०० से अधिक प्रकाशनों को दण्डित किया गया। सिक्युरिटी की माँग के कारण २०० से अधिक मुद्रणालय तथा १३० समाचार-पत्र आरम्भ न हो सके। अमृत बाज़ार पत्रिका, बाम्बे क्रानिकल, दि हिन्दू, दि ट्रिब्यून, दि पन्जाबी, हिन्दवासी आदि पर अधिनियम की कठोरताओं का प्रभाव पड़ा। यद्यपि जनता ने अभियोगों के सम्बन्ध में पक्षपातहीन जाँच की माँग की, तथापि उनकी माँग स्वीकार न की गई।

कलकत्ता हाई कोर्ट के विशेष न्यायालय ने "मुहम्मदअली बनाम सम्राट्" नामक मुकद्दमे की सुनवाई की तथा मुख्य न्यायाधीश जैन्किन्ज़ तथा न्यायाधीश स्टीफ़न ने अपने निर्णयों में विशेष निन्दात्मक वाक्य जोड़ दिए। मुख्य न्यायाधीश के कथनानुसार, "उपबन्ध चार की धाराएँ अत्यन्त विस्तृत हैं तथा इसकी भाषा इतनी व्यापक है, जितना कि मानव-युक्ति उसे बना सकती है। निस्संदेह मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक ओर तो निश्चयात्मक आश्वासन की विभिन्न मात्राओं का सम्पूर्ण विस्तार है तथा दूसरी ओर असम्भवता की सीमाएँ हैं। यह देखना कठिन है कि किस सीमा तक इस प्रकरण का लागू किया जाना एक चतुर मन के द्वारा प्रकट में व्यापक नहीं होगा। वे लोग निश्चयपूर्वक लिखने में उन विषयों को हस्तगत करेंगे, जो स्वीकृति के योग्य हो। जनता के उस तुच्छ भाग पर आघात करना, जो दुःख तथा दूसरों की लज्जा पर आश्रित रहता है, इस विस्तृत जाल के क्षेत्र में ही अन्तर्गत है, किसी वर्ग अथवा श्रेणी की प्रशंसा सम्भवतः खतरे से खाली न हो। बहुत सा ऐसा साहित्य, जिसे प्रामाणिकता का साहित्य कहा जा सकता है, उसे भी निस्संदेह पकड़ में लाया जा सकता है।" पुनश्च, महाधिवक्ता ने स्वीकार किया है तथा जैसे कि मैं अत्यन्त औचित्यपूर्वक विचार करता हूँ, यह लघु पुस्तिका विद्रोहपूर्ण नहीं है तथा यह भारतीय फौजदारी कानून की किसी धारा का उल्लंघन नहीं करती, किन्तु उसने मेरी सम्मति में औचित्यपूर्वक यह पक्ष रखा है कि समाचार अधिनियम की धाराएँ फौजदारी कानून से कहीं अधिक विस्तृत हैं तथा उसने तर्क प्रस्तुत किया है कि प्रमाण का दबाव प्रार्थी पर पड़ता है। इसलिए पुस्तिका कितनी ही प्रशंसा के योग्य हो, तथापि यदि प्रार्थी,

अधिनियम के विरुद्ध स्थापित नहीं कर सकता, उसका प्रार्थनापत्र अवश्य अस्वीकृत हो जाना चाहिए। तथा यह प्रतिकूलता क्या है ? प्रार्थी के लिये यही पर्याप्त नहीं है कि पुस्तिका के शब्दों के कारण ब्रिटिश भारत में सम्राट् की प्रजा के किसी भाग अथवा वर्ग के विरुद्ध मान-हानि अथवा घृणा की भावना उत्पन्न नहीं की जाती अपितु उसे और अधिक आगे बढ़ाना चाहिए तथा दिखाना चाहिए कि यह उनके लिये असम्भव है कि वे इस प्रकार की प्रवृत्ति रखें, चाहे वह स्पष्ट हो अथवा अस्पष्ट अथवा चाहे वह अनुमान, सुझाव, संकेत अथवा रूपक के रूप में हो । यही पर्याप्त नहीं क्योंकि हम देखते हैं कि विधान-मण्डल ने इसमें सबको व्याप्त करने वाली वाक्शैली 'अथवा इसके विपरीत' रख दी है। उसने निम्नलिखित शब्दों में अपने कथन का उपसंहार किया—"इस प्रकार मि० मुहम्मदअली ने अपनी पुस्तक खो दी, किन्तु उसने अपनी विशेषता स्थिर रखी तथा वह उस कलंक से मुक्त है, जिसकी उसे आशंका थी तथा यह बात निस्संदेह उसके लिये कुछ शान्तिदायक होगी, जब हम, जैसा कि हमें अवश्य करना चाहिये, उसके वर्त्तमान प्रार्थना-पत्र को रद्द करते हैं।"

न्यू इण्डिया प्रिंटिंग वर्क्स के मुकदमे में न्यायाधीश अब्दुल रहीम ने चौथी धारा के क्षेत्र तथा सरकार के स्वेच्छानुसार प्रयोग करने के योग्य अधिकारों के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किए, यदि "सामान्य रूप से कहा जाए तो धारा की शर्तें अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक हैं--इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। उनके द्वारा स्थानीय सरकार को इतना स्वेच्छापूर्ण, बन्धनमुक्त तथा व्यापक अधिकार है कि मुद्रणालय की व्यवस्था तथा समाचार-पत्रों का प्रकाशन देश में अत्यन्त संदिग्ध कार्य हो गया है। एक मुद्रणालय में भले ही अत्यधिक उपयोगी तथा प्रशंसनीय साहित्य का मुद्रण हो रहा हो अथवा प्रायः पूर्णरूप से दोष-हीन तथा किसी प्रकार के अविवादास्पद ढंग का प्रकाशन वहाँ चल रहा हो, तथापि उसे जब्त किया जा सकता है, यदि ऐसे मुद्रणालय में प्रकाशित सामग्री सरकार के द्वारा अधिनियम के अर्थों में आपत्तिजनक समझी जाए। इस बात पर सन्देह किया जा सकता है कि क्या यह देश में किसी मुद्रणालय के लिये सम्भव है कि वह छपने वाली सामग्री पर ऐसा योग्य निपुण निरीक्षण रख सके कि ऐसी प्रत्येक सामग्री को निकाल सके, जो धारा ४ के विस्तृत जाल के अन्तर्गत आ सकती हो।

इसी प्रकार समाचार-पत्र सरकार के प्रति निष्ठा की भावना में अनुकूलता-
पूर्वक दृढ़ हो सकता है, उसकी सामान्य नीति सब प्रकार की निन्दा से परे हो सकती है,
सम्पादक भी भावना की हार्दिकता तथा औचित्य के सम्बन्ध मे किसी प्रकार के आक्षेप की
गुंजायश न भी हो। किन्तु यदि कोई पत्र अथवा अन्य लेख असावधानी से प्रकाशित हो
जाए, जो धारा चार की किसी भी सीमा के अन्तर्गत आ जाता है, सरकार चाहे तो बिना
किसी मुकदमे अथवा किसी चेतावनी के रक्षा धन जब्त कर सकती है। इस प्रकार अन्त में
स्वयं समाचार-पत्र को ही समाप्त कर सकती है। देश में सार्वजनिक जीवन पर एक पत्रिका
का प्रभाव सामूहिक रूप से लाभकारी होते हुए भी सरकारी कार्रवाई के लिये बाधा स्वरूप
नहीं है। ऐसी कल्पना की जा सकती है कि स्थानीय सरकार इस कानून के आधीन किसी
ऐसे अधिकार का प्रयोग बिना किसी विशेष भेद-भाव के नहीं करेगी, किन्तु इस प्रकार के
असीमित अधिकारों को शासन विभाग में केन्द्रित करना उस स्वतन्त्रता पर गम्भीर अति-

क्रमण है, जिसका उपयोग समाचार-पत्र भारत में इस अधिनियम की स्वीकृति से पूर्व करते थे।"

फर्रुखअली बनाम सम्राट् के मामले में सर अलफ्रैड केन्सिंगटन ने, जो पंजाब के मुख्य न्यायाधीश थे, इस प्रकार अपने विचार प्रकट किए—"जिस प्रकार का लेख हमारे सम्मुख है, इसका मूल्यांकन करने में हमें अवश्य इतनी अधिक सीमा तक इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सरकार अपनी उस विस्तृत जानकारी के आधीन, जिसके अनुसार भारत में भूतल के नीचे कुछ हो सकता था, जिसके सम्बन्ध में हम कठिनता से औचित्य-पूर्वक हस्तक्षेप कर सकते थे, जब तक कि यह स्पष्ट न था कि विचाराधीन लेख के सम्बन्ध में कुछ प्रत्यक्ष गलतफहमी थी।" गुलाम कादिरखान बनाम सम्राट् के मामले में उसी न्यायाधीश ने इस प्रकार विचार प्रकट किए—"अधिनियम के द्वारा हमको हस्तक्षेप करने के असाधारण अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु ये अधिकार अत्यन्त सीमित हैं। हमें व्यवस्था के अनुसार इस बात का अधिकार प्राप्त है, कि हम जब्ती की आज्ञा को रद्द कर सकें, किन्तु और कोई परिवर्त्तन न करें। हमारे अधिकारों के इस निर्माण में, यह बात हमारे लिए स्पष्ट नहीं, चाहे हम ऐसा करने की इच्छा भी करें, कि हम इससे अधिक और कुछ न करें—या तो प्रार्थना पत्र अस्वीकृत कर दें अथवा जब्ती की आज्ञा को रद्द कर दें।"

न्यायाधीश टी० वी० शेषगिरि अय्यर के कथनानुसार, "इसकी पहली घृणित विशेषता यह थी कि इसके द्वारा शासन विभाग की स्वेच्छापूर्ण कार्रवाई की व्यवस्था प्रकाशन, सुनवाई तथा अपील करने के अधिकार के स्थान पर कर दी गई। दूसरे, इसके द्वारा स्पष्ट रूप से धर्म शास्त्र के इस पहले सिद्धान्त का उल्लंघन किया गया कि अभियुक्त को निर्देश दिया गया कि वह प्रमाणित करे कि वह निरपराध था। तृतीय, यद्यपि अपील करने की धारा रखी गई, तथापि कलकत्ता तथा मद्रास हाईकोर्टों में यह बात कही गई कि हाई कोर्ट को अधिकार नहीं कि वह शासन विभाग के स्वेच्छापूर्ण अधिकारों को चुनौती दे सके। इसके साथ ही इस व्यवस्था में इस प्रकार की भी धारा थी, जिससे बुद्धिमान वर्ग का प्रभावपूर्ण अपमान किया जा सके, क्योंकि पत्रकारों से कहा जाता था कि वे सिक्युरिटी जमा करें, जिसका निश्चय शासन-विभाग की इच्छा पर निर्भर करता था, इससे पूर्व कि वह कोई समाचार-पत्र प्रकाशित कर सकें। इस अपमान को कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति पसन्द नहीं कर सकता था तथा परिणामस्वरूप इस अधिनियम के कारण देश में बहुत असन्तोष हुआ।"

"कामरेड" वाले मामले में, महाधिवक्ता (Advocate General) ने इस प्रकार तर्क प्रस्तुत किया, "मैं स्वीकार करता हूँ कि यह पुस्तिका अपने प्रकृत रूप में विद्रोह-पूर्ण नहीं तथा यह दण्ड संहिता के क्षेत्र से पूर्ण रूप से बाहिर है तथा मैं यह मानने को भी प्रस्तुत हूँ कि प्रार्थी की भावना भी अच्छी थी, किन्तु भारतीय समाचार-पत्र-अधिनियम दण्ड संहिता का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। चौथे उप-विभाग की धाराएँ अत्यन्त विस्तृत हैं तथा प्रार्थी पर इस बात का उत्तरदायित्व है कि वह इससे विपरीत इस पक्ष की स्थापना करे कि पुस्तिका के लिए किसी भी परिस्थिति में उपविभाग के क्षेत्र में आना असंभव है।"

१९१९ के भारत सरकार के अधिनियम की स्वीकृति के पश्चात् तथा सुधारों के लागू होने पर सर तेज बहादुर सप्रू को प्रथम भारतीय कानून सदस्य के रूप में नियुक्त

किया गया। उनके नेतृत्व में एक समिति १९१० के अधिनियम के प्रभाव की जाँच करने के लिए नियुक्त की गई। समिति का विवरण यह था कि अधिनियम को रद्द कर दिया जाए। समिति की सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया।

१९३१ का भारतीय समाचार-पत्र (संकटकालीन अधिकार) अधिनियम (The Indian Press (Emergency Powers) Act, 1931)–१९२० से १९३० तक भारतीय समाचार पत्रों के क्षेत्र में कोई भी उल्लेखनीय बात न हुई। तथापि इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने १९२९ में अपने लाहौर अधिवेशन में देश की मुक्ति के लिए प्रबल आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय कर लिया। उस प्रस्ताव के अनुसार २६ जनवरी स्वतन्त्रता दिवस के रूप में घोषित किया गया तथा १९३० में नागरिक अवज्ञा आन्दोलन पूर्ण रूप से प्रारम्भ हो गया। स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भारतीय समाचार पत्रों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इसके द्वारा ब्रिटिश सरकार की भूलों को नंगा किया गया। नेताओं की गिरफ्तारियों तथा जनता पर लाठीचार्ज के समाचारों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। ऐसे वातावरण में १९३१ में भारतीय समाचार पत्र (संकटकालीन अधिकार) अधिनियम स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम का उद्देश्य ऐसी सामग्री के प्रकाशन पर रोक लगाना था जिससे हत्या अथवा हिंसा को प्रोत्साहन मिलता था। इस प्रकार की व्यवस्था की गई कि मुद्रणालयों के व्यवस्थापक जमानत जमा कर सकें। प्रान्तीय सरकारों को अधिकार दिया गया कि कुछ अवस्थाओं में मुद्रणालय का रक्षा धन जब्त कर लिया जाए। यदि मुद्रक नये घोषणा-पत्र के लिये प्रार्थना-पत्र देता, तो उस अवस्था में मजिस्ट्रेट उसे अपनी इच्छानुसार कम-से-कम १०००) तथा अधिक-से-अधिक १००००) रु० की जमानत जमा करने का आदेश दे सकता था। यदि पहली जमानत की जब्ती तथा नयी जमानत के जमा करने पर भी समाचार-पत्र आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशित करता, तो उस अवस्था में प्रान्तीय सरकार नई धनराशि भी जब्त कर सकती थी। जो धाराएँ मुद्रणालय के व्यवस्थापकों पर लागू होती थीं वे समाचार-पत्रों के प्रकाशकों पर भी उसी प्रकार समान रूप से लागू होती थीं।

इस अधिनियम की ग्यारहवीं धारा के अनुसार प्रान्तीय सरकार अथवा मजिस्ट्रेट के द्वारा माँगे हुए रक्षा धन के जमा किए बिना मुद्रणालय चलाना अथवा समाचार पत्र प्रकाशित करना दण्डनीय अपराध समझा जाता था। यदि कोई मुद्रणालय जमानत जमा न करता और अपना कार्य करता रहता तो उस अवस्था में उसे सम्राट् के पक्ष में जब्त किया जा सकता था तथा मुद्रक का घोषणा-पत्र रद्द किया जा सकता था।

कोई मजिस्ट्रेट किसी भी व्यक्ति को समय-समय पर समाचार-विज्ञप्ति (News Sheet) अथवा विज्ञप्तियाँ प्रकाशित करने का अधिकार प्रदान कर सकता था। प्रान्तीय सरकार के द्वारा इस कार्य के लिए अधिकृत कोई भी पुलिस अधिकारी ऐसी अनधिकृत समाचार-विज्ञप्ति अथवा समाचार-पत्र पर जहाँ कहीं भी वह उपलब्ध हो, अधिकार कर सकता था। अनधिकृत समाचार-विज्ञप्तियों तथा समाचार-पत्रों को मजिस्ट्रेट के सम्मुख प्रस्तुत करना होता था तथा उन्हें नष्ट किए जाने की आज्ञा दी जा सकती थी। सरकार को अनधिकृत समाचार-विज्ञप्तियों तथा समाचार-पत्रों को प्रकाशित करने वाले अनधिकृत मुद्रणालयों पर अधिकार करने तथा उन्हें जब्त करने का अधिकार प्रदान किया गया।

अनधिकृत समाचार-विज्ञप्तियों तथा समाचार-पत्रों को बेचने के अपराध के लिए जुर्माने रहित अथवा सहित छः मास का कारावास दिया जा सकता था। प्रान्तीय सरकार को अधिकार दिया गया कि वह कुछ प्रकाशनों को सम्राट् के पक्ष में जब्त किए जाने अथवा उसके लिए वारण्ट जारी करने की भी आज्ञा दे सकती है। चुंगी कार्यालयों को अधिकार दिया गया कि वे कुछ निश्चित प्रकाशनों वाले ऐसे पैकेटों को उस समय रोक सकें, जब ब्रिटिश भारत में उनका आयात किया जा रहा हो। किसी अनधिकृत समाचार-विज्ञप्ति अथवा समाचार-पत्र को डाक के द्वारा नहीं भेजा जा सकता था तथा सरकार को अधिकार दिया गया कि वह ऐसी वस्तुओं को डाक के द्वारा भेजने से रोक ले। इस प्रकार की व्यवस्था की गई कि जब्ती की आज्ञा को रद्द करने के लिए हाई कोर्ट को प्रार्थना-पत्र भेजे जाएँ। ऐसे प्रार्थना-पत्र सुनने का अधिकार हाई कोर्ट के विशेष बेंचों को ही दिया गया जिसमें तीन न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई थी।

यह बात स्पष्ट है कि १९३१ के भारतीय मुद्रणालय (संकटकालीन अधिकार) अधिनियम के द्वारा दिए गए अधिकार अपनी प्रकृति तथा कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से व्यापक थे। प्रान्तीय सरकारों ने उन अधिकारों का प्रयोग सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सुविख्यात नताओं के नाम तथा चित्र प्रकाशन को रोकने में यह कहकर किया कि इस प्रकार के चित्र आन्दोलन को प्रोत्साहित करते हैं।

अन्य लगी हुई पाबन्दियों के अन्तर्गत कांग्रेस के किसी भी आन्दोलन के प्रकाशन पर रोक, जिसमें गिरफ्तार हुए लोगों के सन्देश, जेल-स्थित लोगों की ओर से सन्देश प्रकाशित करना अथवा ऐसा करने का प्रयत्न करना, राजनैतिक घटनाओं के अतिरंजित वर्णन, सभाओं तथा जलूसों तथा अन्य ऐसी कार्रवाइयों की सूचना तथा विवरण प्रकाशित करना, जिनसे सविनय अवज्ञा आन्दोलन को प्रगति प्राप्त हो अथवा उसकी प्रगति के सम्बन्ध में किसी प्रकार का बल प्राप्त हो, आदि थे। १९३१ के अधिनियम के आधीन ब्रिटिश सरकार ने बहुत से समाचार-पत्रों के विरुद्ध कार्रवाई की। 'बाम्बे क्रानिकल' के मुद्रक तथा प्रकाशकों को हार्निमन के एक लेख छापने पर ३०००) रु० ज़मानत जमा करने को कहा गया। 'आनन्द बाज़ार पत्रिका' के मुद्रक तथा प्रकाशक प्रत्येक से एक-एक हजार रुपये का रक्षाधन जमा करने की माँग की गई। 'अमृत बाज़ार पत्रिका' से ६०००) रु० की सिक्युरिटी माँगी गयी। कलकत्ता की 'लिबर्टी' ने ६०००) रुपया जमा किये। फ्री प्रैस जर्नल से ६०००) रु० की सिक्युरिटी ली गई तथा बाद में बम्बई सरकार के द्वारा ज़ब्त कर ली गई। सामूहिक रूप से एक प्रकार से देश में भय का राज्य था।

१९३२ का विदेश-सम्बन्ध अधिनियम (The Foreign Relations Act of 1932)–१९३१ के अध्यादेश (ordinance) के स्थान पर १९३२ का विदेश सम्बन्ध अधिनियम स्वीकार किया गया। इसका उद्देश्य ऐसे प्रकाशनों को दण्डित करना था, जो ब्रिटिश सरकार तथा मित्र विदेशी राष्ट्रों के अच्छे सम्बन्धों में हस्तक्षेप उत्पन्न करें। इस कानून की आवश्यकता तब पड़ी, जब समाचार-पत्रों ने भारत की सीमाओं के समीपवर्ती कुछ राज्यों के प्रशासन की आलोचना की। इस अधिनियम के द्वारा इस प्रकार व्यवस्था की गई कि जहाँ भारतीय दण्ड संहिता के २१ वें अध्याय के आधीन कोई अपराध भारत की सीमा से बाहर समीपवर्ती राज्य के शासक के विरुद्ध किया जाता अथवा इस प्रकार के

शासक के प्रमुख मन्त्री के पुत्र अथवा संगी के विरुद्ध होता था, उस अवस्था में कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल इस प्रकार के अपराध की लिखित शिकायत कर सकता था अथवा किसी अन्य व्यक्ति को इस कार्य के लिये अधिकृत कर सकता था। ऐसी स्थिति में कोई भी अदालत, जो इस प्रकार के अपराधों की सुनवाई कर सकने में अधिकृत हो, ऐसी शिकायतों के विरुद्ध यथोचित कार्रवाई कर सकती थी। कोई भी पुस्तक, समाचार-पत्र तथा कोई अन्य मसविदा, जिसमें इस प्रकार की अपमानजनक सामग्री हो, जिससे ब्रिटिश सरकार तथा इस प्रकार के राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ने का डर हो, उसे विद्रोहात्मक साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता था।

जनवरी १९३३ में चार अध्यादेश जारी किए गए जिनके द्वारा कानून तथा शांति की रक्षा के लिये कुछ अधिकार हस्तगत किए गये तथा विशेष रूप से मुद्रणालय अधिनियम के प्रभाव अनुभाग को इतना विस्तृत कर दिया गया जिससे सविनय अवज्ञा आन्दोलन (Civil Disobedience Movement) को प्रोत्साहित करने वाली किसी सामग्री के प्रकाशन के विरुद्ध कार्रवाई की जा सके।

भारतीय राज्य (सुरक्षा) अधिनियम, १९३४ (The Indian States (Protection) Act, 1934)—इस अधिनियम का उद्देश्य देशी राज्यों के प्रशासन पर ब्रिटिश भारत के समाचार-पत्रों में अकारण आक्रमणों को रोकना तथा ब्रिटिश भारत में अधिकारियों को इस प्रकार के अधिकार प्रदान करना था, जिनके द्वारा ऐसे समूहों तथा प्रदर्शनकारियों को, जो अर्ध-फौजी पद्धति में संगठित हों तथा जिनका उद्देश्य भारतीय रियासतों में प्रविष्ट होना तथा असन्तोष फैलाना हो, दण्डित किया जा सके।

उक्त सभी कानून १९३९ तक लागू रहे, जब संसार का द्वितीय महायुद्ध छिड़ा। संकटपूर्ण स्थिति का सामना करने के लिये भारत सरकार को विवश होकर भारत सुरक्षा अधिनियम स्वीकार करना पड़ा। सरकार ने भारत-सुरक्षा नियम भी बनाए। इन नियमों से सरकार को भारतीय मुद्रणालयों तथा समाचार-पत्रों को छः वर्षों तक नियन्त्रण में रखने के अधिकार प्राप्त हो गये। उन समाचार-पत्रों के विरुद्ध कार्रवाई की गई, जिन्होंने उक्त नियमों तथा कानूनों का उल्लंघन करने का साहस किया। यह अधिनियम तथा नियम द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर अधिकारहीन हो गए।

प्रेस ट्रस्ट आफ़ इण्डिया लिमिटिड (The Press Trust of India Ltd.)—भारतीय पत्रकारिता की सबसे उल्लेखनीय घटना प्रेस ट्रस्ट आफ़ इण्डिया का १९४८ में निर्माण था। इस संगठन ने भारत को तथा भारत से समाचार देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। ऐसा रायटर के साथ एक समझौते के आधार पर किया गया। इस समझौते के द्वारा भारतीय समाचार-पत्रों को अपने भीतरी समाचारों के देने तथा इकट्ठा करने पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त हो गया। प्रेस ट्रस्ट ऐसा संगठन है जिसमें लाभ प्राप्ति का उद्देश्य नहीं है तथा इसकी सदस्यता का अधिकार प्रत्येक भारतीय समाचार-पत्र को प्राप्त है। पिछले कुछ ही वर्षों में यह रायटर से स्वतन्त्र हो गया है।

समाचार-पत्र कानून जाँच समिति, १९४८ (Press Laws Enquiry Committee, 1948)—भारत सरकार ने एक समाचार-पत्र कानून जाँच समिति की स्थापना की, जिसके प्रधान श्री गंगानाथ झा थे। समिति से कहा गया कि विद्यमान सब भारतीय

समाचार-पत्र कानूनों को इकट्ठा करके इस बात की सिफ़ारिशें करे कि उन कानूनों में किस प्रकार के परिवर्तन किए जाएँ। केन्द्रीय विधान सभा ने भी कुछ सदस्यों को समिति में मनोनीत किया। अखिल भारतीय सम्पादक सम्मेलन ने भी तीन सम्पादकों के नामों की सिफ़ारिश की। समिति ने निम्नलिखित सिफ़ारिशें कीं :

(१) भारतीय दण्ड संहिता की धारा १५३ अ (वर्गों में शत्रुता बढ़ाना) में यह व्याख्या जोड़ दी जाए कि उक्त धारा के आधीन सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन का पक्ष लेना अपराध नहीं है, यदि इस प्रकार के पक्ष लेने से कोई हिंसा कार्य नहीं होता।

(२) १९३४ के भारतीय रियासतों के सुरक्षा अधिनियम को रद्द करना।

(३) १९३२ के विदेश सम्बन्ध अधिनियम को वापिस लेना।

(४) समाचार-पत्रों के विरुद्ध संकटकालीन विधान के आधीन कार्रवाई करने से पूर्व प्रान्तीय सरकारों को समाचार-पत्र परामर्शदात्री समिति अथवा इस प्रकार की समिति से परामर्श करना चाहिए।

(५) १९३१ के भारतीय समाचार-पत्र अधिनियम को रद्द किए जाने की सिफ़ारिश की गई, किन्तु यह भी सुझाव दिया गया कि अधिनियम की कुछ धाराएँ, जिन्हें देश के सामान्य कानून में स्थान नहीं मिलता, उक्त कानून में यथोचित स्थानों में सम्मिलित कर दी जाएँ।

(६) विद्रोह से सम्बन्धित भारतीय दण्ड संहिता की धारा १२४ अ को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया जाए कि वह केवल उन कार्यों अथवा शब्दों पर लागू हो जिनसे अशान्ति को प्रोत्साहन मिलता हो अथवा ऐसा होने की संभावना हो।

(७) भारतीय दण्ड संहिता की १४४ वीं धारा समाचार-पत्रों पर लागू न हो तथा आवश्यकता पड़ने पर अलग व्यवस्था की जाए, जिससे सम्भावित खतरों के आवश्यक मामलों में समाचार-पत्रों के साथ कार्रवाई की जा सके।

(८) कानून में ऐसी आवश्यक धाराएँ जोड़ी जाएँ, जिससे अदालतें लगातार कानून तोड़ने, कुछ विशेष अवधि के लिए मुद्रणालय अथवा समाचार-पत्र बन्द किए जाने की आज्ञा दे सकें।

भारतीय संविधान (The Indian Constitution)—भारतीय संविधान के जो २६ जनवरी, १९५० के दिन लागू हुआ, १९वें अनुच्छेद के द्वारा विचार-स्वातन्त्र्य का अधिकार न्यायालयों की दृष्टि में इतना विस्तृत था कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती थी, जो हत्या तथा अन्य हिंसापूर्ण अपराधों का समर्थन करते थे। परिणामस्वरूप जून, १९५१ में प्रथम संशोधन अधिनियम स्वीकृत हो गया। इसमें इस प्रकार की व्यवस्था की गई कि भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार उन सब कानूनों की शर्त पर ही है, जिनके द्वारा राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के सम्बन्ध, सार्वजनिक शान्ति, सज्जनता, आचार, अदालत का अपमान, मानहानि तथा अपराध करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने वाले समस्त कार्यों पर पाबन्दियाँ लगाना है।

समाचार-पत्र (आपत्तिजनक सामग्री) अधिनियम, १९५१ (The Press (Objectionable Matter) Act, 1951)—संसद् में प्रथम संशोधन बिल पर वाद-

विवाद के समय, भारत सरकार ने वचन दिया कि वह एक ऐसा समाचार बिल प्रस्तुत करेगी जो १९३१ के भारतीय समाचार-पत्र अधिनियम के आपत्तिजनक अंशों से मुक्त होगा तथा जो भारत के नये संविधान के अनुकूल होगा। ऐसा बिल संसद् में ३१ अगस्त, १९५१ को प्रस्तुत हुआ तथा उसका नाम "समाचार पत्र (अपराधों को भड़काना) बिल" था। उसका नाम आगे जाकर परिवर्तित कर दिया गया, जिससे उसे १९०८ वाले इसी नाम के अधिनियम से अलग किया जा सके। इस प्रकार का संशोधित बिल संसद् के द्वारा स्वीकृत हुआ तथा अक्तूबर, १९५१ में उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई।

अधिनियम के उद्देश्यों तथा कारणों के अनुसार नये कानून का निर्देश हिंसा के प्रोत्साहन के विरुद्ध अथवा अन्य अत्यन्त गम्भीर अपराधों, तोड़-फोड़ तथा अश्लील सामग्री के प्रकाशन को रोकने के सम्बन्ध में किया गया था। किसी भी समाचार-पत्र पर पहले ही से पाबन्दी नहीं लगाई गई। किसी भी समाचार-पत्र के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती थी, जब तक किसी आपत्तिजनक सामग्री के प्रकाशन के द्वारा उसने इसकी स्वतन्त्रता का वस्तुतः हनन न किया हो। अन्याय अथवा पक्षपात के कारण किसी समाचार-पत्र से रक्षाधन नहीं माँगा जा सकता था। ऐसा तभी किया जा सकता था जब आपत्तिजनक सामग्री के प्रकाशन द्वारा समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता के वास्तविक दुरुपयोग का प्रमाण प्राप्त हो। ऐसी दशा में भी ज़मानत अथवा उसकी ज़ब्ती की व्यवस्था का उत्तरदायित्व व्यवस्थापक अधिकारियों पर न डालकर सैशन जज पर डाला गया। सैशन जज भी पूरी कार्रवाई के पश्चात् ही इस प्रकार की आज्ञा दे सकता था। उसे सरकार तथा मुद्रणालय के मुद्रक तथा समाचार-पत्र के सम्पादक इन सबकी सुनवाई करनी पड़ती थी। प्रकाशक अथवा मुद्रक इस अधिकार की माँग कर सकते थे कि उनकी विशेष न्यायाधिकरण के द्वारा सुनवाई की जाए तथा ऐसे मामलों के निर्णयों में ऐसे विशेष अनुभवी व्यक्ति भाग लें, जिनमें किसी अनुभवी पत्रकार अथवा सार्वजनिक मामलों से सम्बन्धित किसी सभा का सम्बन्ध हो। प्रत्येक मामले में सभी मुख्य बातों के स्पष्टीकरण के लिए हाई कोर्ट में अपील करने की भी अनुमति दी जा सकती थी। ज़मानत का रुपया भी अत्यधिक न रखे जाने की व्यवस्था की गई तथा किसी भी दशा में अधिकृत व्यक्ति के द्वारा उल्लिखित सीमा से अधिक नहीं हो सकता था। इस बात की भी व्यवस्था की गई कि ज़मानत वापिस भी की जा सकती है, यदि ज़मानत की तिथि से दो वर्षों तक मुद्रणालय, समाचार-पत्र तथा विज्ञप्ति के विरुद्ध कोई कार्रवाई न की गई हो। दो-तरफा जुर्माने न लेने के लिए भी व्यवस्था की गई। अधिनियम के द्वारा दण्डयोग्य अपराध अथवा ऐसे अपराध के बहकाव के लिए विचार योग्य होना तथा उसके लिए ज़मानत की व्यवस्था की गई। इस अधिनियम के द्वारा मुद्रणालय तथा समाचार-पत्र सम्बन्धी सभी अन्य कानून रद्द कर दिए गए। यह अधिनियम भी दो वर्षों के लिए स्वीकृत किया गया तथा इस सम्बन्ध में १९५३ में संसद् में पुनः विचार करने का निश्चय किया गया।

यह बात अभीष्ट प्रतीत होती है कि "आपत्तिजनक सामग्री" की परिभाषा निश्चित की जाए, क्योंकि यह परिभाषा अधिनियम में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अधिनियम की धारा तीन के अनुसार "आपत्तिजनक" सामग्री का अर्थ ऐसे शब्द, चिह्न अथवा दर्शनीय स्मृति-पत्र हैं, जिनसे किसी व्यक्ति को उभाड़ा अथवा प्रोत्साहित किया जाए,

भारत अथवा किसी राज्य अथवा किसी क्षेत्र की अधिकृत सत्ता में कानून के द्वारा स्थापित सरकार को निन्दित करने अथवा उलटने के लिए हिंसापूर्ण कार्रवाई करने की प्रेरणा दी जाए अथवा किसी व्यक्ति को हत्या, बहकाव अथवा हिंसापूर्ण अपराध के लिए उभाड़ा तथा प्रोत्साहित किया जाए अथवा किसी व्यक्ति को भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं अथवा आवश्यक सेवा कार्यों में विघ्न डालने, अथवा संघ की किसी भी सशस्त्र सेना के सैनिक अथवा पुलिस कर्मचारी को अपने कर्त्तव्य के प्रति वफ़ादार होने से रोका जाए, अथवा सेनाओं तथा पुलिस की भरती के लिए किसी को उपेक्षित किया जाए अथवा किसी सैनिक शक्ति के अनुशासन को प्रभावित किया जाए अथवा भारत के निवासियों के विभिन्न वर्गों में शत्रुता अथवा घृणा की भावना उत्पन्न की जाए अथवा जो बहुत गन्दा अथवा अश्लील है अथवा जिससे किसी से दबाव अथवा अस्पष्ट रूप से अनैतिक कार्य किया जाए। यह बात सर्वविदित है कि जब यह बिल वैधानिक चर्चा का विषय बन रहा था तब समाचार-पत्रों के द्वारा ज़ोरदार आन्दोलन किया गया। तथापि सरकार ने समाचार-पत्रों को यह आश्वासन दिया कि वह उन अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करेगी तथा उक्त विषय पर दो वर्षों के पश्चात् पुनः विचार-विनिमय किया जाएगा।

अधिनियम की अवधि १९५४ में दो वर्षों के लिए बढ़ा दी गई तथा अब उसे समाप्त कर दिया गया है।

प्रैस-आयोग (The Press Commission)—भारत सरकार ने २३ सितम्बर, १९५२ को एक प्रैस आयोग की स्थापना की, जिसके ११ सदस्य थे। आयोग के अध्यक्ष न्यायाधीश जी० एस० राजाध्यक्ष थे। आयोग ने अपनी रिपोर्ट अगस्त, १९५४ में दी।

आयोग ने एक अखिल भारतीय समाचार-पत्र कौंसिल की स्थापना की सिफ़ारिश की। कौंसिल में २५ सदस्यों की व्यवस्था की गई थी, जिसमें १३ अथवा अधिक का अपने क्षेत्र में ख्यातिप्राप्त श्रमजीवी पत्रकार होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त इसके लिए एक अध्यक्ष की व्यवस्था की गई थी, जो या तो हाई कोर्ट का विद्यमान अथवा अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश हो। उसे मनोनीत करने का अधिकार भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश को दिया गया था। प्रैस कौंसिल के निम्नलिखित उद्देश्य थे—

(१) समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना तथा समाचार-पत्रों को उनकी स्वतन्त्रता बनाए रखने में सहायता प्रदान करना।

(२) पत्रकारिता के आपत्तिजनक व्यवहार की निन्दा करना तथा सभी सम्भावित उपायों से एक ऐसी संहिता का निर्माण करना, जिसमें सर्वोच्च व्यावसायिक आदर्श हों।

(३) किसी भी ऐसी विकसित स्थिति का ध्यान रखना जिससे सार्वजनिक हित तथा महत्त्व के समाचारों की प्राप्ति तथा प्रसार पर किसी प्रकार का बन्धन अथवा रोक लगा दी जाने की सम्भावना हो।

(४) पत्रकारिता के व्यवसाय में प्रवृत्त लोगों में उत्तरदायित्व तथा सार्वजनिक सेवा की भावना के विकास को प्रोत्साहित करना।

(५) समाचार-पत्रों में ऐसी स्थिति का अध्ययन करना, जिससे एकाग्र भावना

अथवा एकाधिकार की भावना की ओर प्रवृत्ति हो तथा यदि आवश्यकता हो तो उसके दूर करने के लिए उपायों का सुझाव देना।

(६) कम से कम वर्ष में एक बार ऐसी रिपोर्ट प्रकाशित करना, जिनमें समाचार-पत्रों के कार्य तथा विकास की समीक्षा हो तथा जिनमें ऐसे तत्त्वों का उल्लेख हो जो उन्हें प्रभावित कर रहे हों।

(७) व्यवसाय के लिए भर्ती की पद्धतियों, शिक्षा तथा प्रशिक्षण में सुधार करना तथा इनके लिए समाचार-पत्र संस्था आदि उचित साधनों की व्यवस्था करना।

प्रैस के रजिस्ट्रार को समाचार-पत्रों के विस्तार पर दृष्टि रखनी होगी। यदि वह इस परिणाम पर पहुँचे कि किसी विशेष क्षेत्र में अथवा किसी एक भाषा में एकाधिकार छा गया है, तब उसे प्रैस परिषद् का ध्यान इस ओर खींचना होगा। तब परिषद् उस एकाधिकार के सम्बन्ध में जाँच करेगी कि क्या ऐसा सार्वजनिक हितों के विरुद्ध तो नहीं अथवा कोई ऐसी नीति तो नहीं चलाई गई, जो अभीष्ट न हो तथा इसलिए अपनाई गई हो, जिससे स्पर्धा तथा प्रतियोगिता की भावना को पृथक् किया गया हो तथा इस परिस्थिति का सामना करने के लिए किन उपायों का, यदि वे आवश्यक हैं, प्रयोग किया जाए। समाचार-पत्रों के कागज की व्यवस्था के सम्बन्ध में राज्य-व्यापार-निगम के निर्माण का सुझाव दिया गया। इसका कार्य इसके आयात पर एकाधिकार प्राप्त करना था तथा भारतीय कागज के कारखानों के सम्पूर्ण माल पर उचित आधार पर अधिकार करना तथा आयात किए गए काग़ज के साथ इसे एक ही भाव पर बेचना था।

आयोग ने सिफ़ारिश की कि समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं का प्रकाशन एक केन्द्रीय उत्तरदायित्व होना चाहिए तथा वर्ग पहेली आदि प्रतियोगिताओं पर रोक लगानी चाहिए। इसने समाचार-पत्रों के लिए मूल्य पृष्ठ तालिका को अपनाने की सिफारिश की तथा यह भी सुझाव दिया कि विज्ञापनों को कुल स्थान के ४०% से अधिक स्थान नहीं मिलना चाहिए। आयोग ने एक क्षेत्रीय समाचार-पत्रों का समर्थन किया तथा सिफ़ारिश की कि एक से अधिक संस्करणों की अवस्था में हिसाब-किताब के मामले में प्रत्येक इकाई को अलग-अलग कर देना चाहिए। जब इस प्रकार की परम्परा में बहुत से समूह अन्तर्गत हों, तब प्रत्येक समूह को अन्य से पृथक् कर दिया जाए। विज्ञापन के सम्बन्ध में एक कठोर संहिता अपनाए जाने के विषय में प्रकाशकों के एक संगठन की सिफ़ारिश की गई। आयोग ने समाचार उद्योग को नियमित करने के लिए एक विधान बनाने की सिफ़ारिश की जिसके द्वारा कपटपूर्ण विज्ञापन देने पर जुर्माना तथा जेल की व्यवस्था का सुझाव दिया गया।

आयोग ने भारतीय समाचार-पत्रों में स्वामित्व के सम्बन्ध में बढ़ती हुई केन्द्रीय भावना को देखा तथा अनुभव किया कि इस बात का खतरा है कि भविष्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति बढ़ सकती है। प्रस्तावित प्रैस कौंसिल को पाँच वर्षों की समाप्ति पर समाचार-पत्रों के स्वामित्व के सब परिणामों की समीक्षा उस समय में होने वाली परिस्थितियों के आधार पर करने तथा तदनुसार सिफ़ारिशें करने का सुझाव दिया गया।

समाचार एजेंसियाँ राज्य के स्वामित्व अथवा नियन्त्रण में नहीं होनी चाहिएँ तथा राज्य की ओर से इन्हें मिलने वाली सहायता में किसी प्रकार का बन्धन नहीं होना

चाहिए। राज्य का सम्पादन की दृष्टि से अथवा व्यवस्था की दृष्टि से एजेंसी के नियन्त्रण में किसी प्रकार का अधिकार अथवा भाग नहीं होना चाहिए।

आयोग ने सिफ़ारिश की कि सार्वजनिक निगम इस प्रकार का बनाया जाय, जिसका आधार विद्यमान संगठन हो किन्तु जिस पर ट्रस्टियों के बोर्ड का नियंत्रण हो तथा जिस बोर्ड के अध्यक्ष की नियुक्ति भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश करें। इस निगम का कार्य प्रैस ट्रस्ट आफ़ इण्डिया की व्यवस्था करना होगा। युनाइटेड प्रेस आफ़ इण्डिया के संगठन के सम्बन्ध में किसी प्रकार के परिवर्तनों का सुझाव नहीं दिया गया। बोर्ड में कर्मचारियों को प्रतिनिधित्व दिए जाने की भी सिफ़ारिश की गई।

Questions for Revision

1. Give a critical sketch of the history of the Indian Press and state how the Press has moulded political opinion in India.

2. In the light of the oft-repeated saying that the "Press is People's Parliament always in session," bring out the influence of Indian Press on constitutional and national advancement during the latter half of the 19th century and the first quarter of the 20th century.

3. What were the main stages in the evolution of the Press in India from the time of Warren Hastings?

4. Trace the history of the evolution of the Indian Press.

5. Review the policy of the Government of India towards the Press from 1878 onwards.

अध्याय २८

शिक्षा का इतिहास
(History of Education)

जब अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत के विभिन्न भागों में प्रदेशों को हस्तगत किया तब उसे पता चला कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों--दोनों की अपनी-अपनी शिक्षण-संस्थाएँ थीं, जो उनके धर्म के साथ सम्बन्धित थीं। पण्डित अपनी पाठशालाओं में हिन्दुओं को संस्कृत पढ़ाते थे तथा मौलवी मस्जिदों में मुसलमानों को पढ़ाते थे। आरम्भ में कम्पनी ने भारतीय पद्धति को निर्बाध रूप से चलने दिया तथा भारतीय नरेशों के द्वारा दिए गए धर्मस्व (endowments) का समादर किया। तथापि वारेन हेस्टिंग्ज ने कलकत्ता मदरसा की स्थापना की, जिससे मुसलमान नवावज़ादों के लड़कों को राज्य में उत्तरदायित्वपूर्ण तथा अच्छे पदों के लिए प्रशिक्षित किया जा सके। आरम्भ किए गए विषयों में धर्म-शिक्षा, तर्क, छन्द, व्याकरण, कानून, प्राकृतिक दर्शन शास्त्र, ज्योतिष, रेखा-गणित तथा गणित थे। कुछ वर्षों के पश्चात् जान ग्रोवन ने, जो बंगाल प्रेज़ीडैंसी का चैपलिन था, सरकार से प्रार्थना की कि वह उन प्रान्तों के निवासियों को अंग्रेजी पढ़ाने के लिए स्कूल स्थापित करे। उसकी प्रार्थना की ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। तथापि कुछ वर्षों के पश्चात् एक अन्य शिक्षण-संस्था बनारस में स्थापित की गई, "जिसमें हिन्दुओं को कानून, साहित्य तथा धर्म की शिक्षा की रक्षा तथा वृद्धि के लिए उसी प्रकार प्रशिक्षित किया जा सके जिस प्रकार मुसलमानों के लिए पूर्वोक्त मदरसा खोला गया था। विशेष रूप से इसका उद्देश्य यूरोपीय न्यायाधीशों के लिए हिन्दू सहायकों का प्रबन्ध करना था।"

१७९२-९३ में, जब हाउस आफ कामन्स में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आज्ञा-पत्र को पुनः जारी करने के सम्बन्ध में वाद-विवाद हुआ, तब विल्बरफोर्स ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें ऐसे पग उठाने पर वल दिया गया था, जिनसे भारतीयों में उपयोगी ज्ञान की वृद्धि के लिए कुछ किया जा सके। उसने सुझाव दिया कि स्कूल के अध्यापकों तथा मिशनरियों को भारत में भेजा जाए। विल्बरफोर्स के प्रस्ताव का विरोध किया गया तथा इस बात को पुष्ट कर दिया गया कि हिन्दुओं की भी "अन्य लोगों के समान विश्वास तथा आचार की अच्छी पद्धति है।" यह बात भी कही गई कि उन्हें अपने अधिकृत ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार का ज्ञान देना भ्रमपूर्ण है।

कुछ वर्षों के पश्चात्, कम्पनी के एक डायरेक्टर चार्ल्स ग्राण्ट ने एक स्मृति-पत्र (Memorandum) प्रस्तुत किया, जिसमें उसने भारतीय लोगों की निम्न स्तर की आचारिक अवस्थाओं पर शोक प्रकट किया। उसने कम्पनी से उनकी अवस्था सुधारने के लिए उन्हें अंग्रेजी भाषा का ज्ञान देने का परामर्श दिया, जिसके सम्बन्ध में उसका विचार था कि वह एक ऐसी चाबी है, जो उनके लिए नये विचारों का संसार खोल देगी। जिस प्रकार मुस्लिम शासकों ने भारतीयों को फारसी सिखाई थी, उसी प्रकार अंग्रेजों को भारतीयों को अंग्रेजी सिखानी चाहिए। उसके अपने ही शब्दों में, "सरकार के लिए यह बहुत आसान

होगा कि वह सामान्य व्यय पर प्रान्तों के विभिन्न स्थानों पर ऐसे शिक्षण-केन्द्र स्थापित करे जहाँ अंग्रेजी पढ़ने-लिखने की व्यवस्था हो। अनेक व्यक्ति, विशेष रूप से नवयुवक उससे लाभ उठायेंगे तथा अध्यापन-कार्य में प्रयुक्त आसान पुस्तकों से विभिन्न विषयों पर कुछ सामान्य सचाई की बातें प्राप्त हो सकेंगी।…हिन्दू, कुछ ही समय में, स्वयं अंग्रेजी के अध्यापक बन जाएँगे तथा सार्वजनिक कार्य-व्यवहार में हमारी भाषा, जो राजनैतिक कारणों में जरूरी है, अगली पीढ़ी तक सम्पूर्ण देश में फैल जाएगी। इस योजना की सफलता के लिए किसी बात की कमी नहीं है। कमी है तो केवल सरकार के हार्दिक संरक्षण की।"

१८११ में, लार्ड मिण्टो ने भारत में साहित्य तथा विज्ञान की उपेक्षा के सम्बन्ध में दुःख प्रकट किया तथा विद्यमान कालेजों में सुधार तथा अतिरिक्त नये कालेजों की स्थापना के सम्बन्ध में कुछ सुझाव दिए। १८१३ के चार्टर अधिनियम में एक धारा डाल दी गई, जिसमें यह कहा गया कि "कम से कम एक लाख रुपये की राशि अलग रख दी जाएगी तथा भारत के ब्रिटिश प्रदेशों में साहित्य के पुनरुद्धार तथा सुधार में तथा वैज्ञानिक ज्ञान के प्रारम्भ तथा वृद्धि के लिए व्यय की जाएगी।"

राजा राममोहन राय ने एक ऐसी संस्था की स्थापना करने के लिए एक संगठन बनाया, जहाँ हिन्दू यूरोपीय भाषाओं तथा विज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। हिन्दू कालेज की स्थापना १८१७ में हुई। १८१८ में कलकत्ता के मुख्य पादरी ने एक संस्था की स्थापना की, जिसके द्वारा नवयुवक ईसाइयों को प्रचारक बनाने तथा हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अंग्रेजी भाषा का ज्ञान देने के लिए व्यवस्था की जाए। राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में एक संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना का विरोध किया तथा किसी भी व्यक्ति ने इस विरोध के विषय में कुछ भी चिन्ता न की। कम्पनी के डायरेक्टर इस बात पर प्रसन्न थे कि उन्हें प्रशासन कार्य में सहायता के लिए प्रशिक्षित भारतीयों के प्राप्त होने की आशा थी। उनके अपने ही शब्दों में, "इस अत्यन्त अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त करने के साधन स्वरूप हम मुख्य रूप से उन पर निर्भर करते हैं कि वे यूरोपीय साहित्य तथा विज्ञान से परिचय प्राप्त कर लें, जो सुसभ्य यूरोप के विचारों तथा भावनाओं से भरा हुआ है। उनकी ग्रहण शक्ति वन्य कृषि के समान है तथा विशेष रूप से उन्हें आचारिक तथा सामान्य धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों में शिक्षण प्राप्त हुआ है।"

एल्फ़िन्स्टन ने अपने १८२३ के कार्य-विवरण में इस बात की प्रेरणा की कि अंग्रेजी तथा यूरोपीय विज्ञानों के अध्यापन के लिए स्कूल खोले जाएँ। भारतीय मामलों के कमिश्नर को भेजे हुए एक पत्र में एल्फ़िन्स्टन ने लिखा, "मैं उच्च वर्ग के लोगों को ऊँची शिक्षा देना सामान्य जनता को घटिया प्रकार की शिक्षा देने की अपेक्षा अच्छा समझता हूँ। शिक्षा की सब से आवश्यक शाखा वह है जो यहाँ के निवासियों को सार्वजनिक नौकरी के लिए तैयार करे। यदि किसी प्रकार अंग्रेजी का ज्ञान उनके लिए विस्तृत किया जा सकता है, जिन्हें विचार के लिए कम से कम समय है तो ऐसी स्थिति में ज्ञान की वृद्धि दस गुना अधिक हो जाने की आशा है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति, जिसने अंग्रेजी के द्वारा विज्ञान से परिचय प्राप्त कर लिया है, वह अपनी भाषा के माध्यम से अपने देशवासियों में उस ज्ञान का संचार कर सकेगा।" उसने बम्बई में एक स्कूल की स्थापना करने का सुझाव दिया, जहाँ अंग्रेजी का "साहित्यिक रूप से" अध्ययन करने की व्यवस्था हो तथा साथ ही उसी भाषा में इति-

हास, भूगोल तथा विज्ञान में शिक्षा दी जा सके। एल्फिस्टन ने इन्हीं पद्धतियों पर एक स्कूल की पहले ही स्थापना कर ली थी। १८३३ में उसने पूना में भी ऐसा ही स्कूल स्थापित किया। १८३४ में बम्बई में एल्फिस्टन कालेज आरम्भ किया गया। इस बात की आशा की गई कि "बुद्धि तथा आचार की दृष्टि से सुयोग्य व्यक्तियों का वर्ग भारत के सरकारी प्रशासन में ऊँची नौकरी के लिए प्रशिक्षित किया जा सकेगा।"

इस समय तक अंग्रेजी के अध्ययन की माँग काफी बढ़ चुकी थी। अंग्रेजी पुस्तकें सहस्रों की संख्या में बिक रही थीं। संस्कृत तथा अरबी की पुस्तकों की वास्तव में कुछ भी माँग नहीं थी। लोकप्रिय माँग को सन्तुष्ट करने के लिए कलकत्ता मदरसा तथा कलकत्ता के संस्कृत कालेज में अंग्रेजी कक्षाएँ आरम्भ कर दी गई। आगरा कॉलेज में भी, जो १८१८ में स्थापित हुआ था, ऐसा ही किया गया। इतना सब होने पर भी ओरिएण्टल कॉलेज लोकप्रिय न हो सका। वहाँ वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होनी चाहिए अथवा फारसी अथवा अरबी। अंग्रेजी के पक्षपातियों का कहना था कि समस्त शिक्षा अंग्रेजी में देनी चाहिए। प्राच्य भाषाओं के पक्षपाती कहते थे कि कि शिक्षण प्राच्य भाषाओं के द्वारा होना चाहिए। इस वाद-विवाद की समाप्ति के लिए सरकार ने एक कमेटी की नियुक्ति कर दी। प्राच्य-भाषा के पक्षपातियों में सरकार के बहुत से बड़े अधिकारी थे तथा कुछ समय तक उनके विचार का प्रभुत्व रहा। जब १८३५ में लार्ड मैकाले को समिति के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया गया, तब उस समय दोनों पक्ष इतने बराबर बंटे हुए थे कि संकटपूर्ण स्थिति प्रस्तुत हो गई। लार्ड मैकाले ने एक टिप्पणी लिखी, जिससे प्राच्यवादियों की स्थिति कमज़ोर पड़ गई। उसने १८१३ के चार्टर के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया, जिसके द्वारा साहित्य के पुनरुद्धार तथा प्रगति के लिए कुछ धनराशि की व्यवस्था की गई थी जिससे भारतीयों में विज्ञान के ज्ञान को प्रारम्भ किया जा सके। उसका कहना था कि साहित्य शब्द का अभिप्राय केवल अरबी तथा संस्कृत साहित्य ही नहीं है, क्योंकि वह अब तक किसी ऐसे प्राच्यवादी से नहीं मिला था, "जो इस बात से इनकार कर सके कि किसी एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय का एक कक्ष भारतवर्ष तथा अरब के सम्पूर्ण देशी साहित्य के समान मूल्यवान है।" उसका तर्क यह था कि अंग्रेजी भाषा शासक वर्ग के द्वारा बोली जाती है। ऐसी आशा है कि वह सम्पूर्ण पूर्व के समुद्रों तक वाणिज्य की भाषा बन जाए। वह इस परिणाम पर पहुँचा कि सरकार इस सम्बम्ध में स्वतन्त्र है कि वह अपनी धनराशि को संस्कृत तथा अरबी की अपेक्षा जानने योग्य अच्छे ज्ञान में व्यय करे। "न तो कानून की भाषाओं के रूप में और न धर्मों की भाषाओं के रूप में संस्कृत अथवा अरबी का कोई ऐसा विशेष दावा है जिससे हमें प्रोत्साहन प्राप्त हो सके" तथा "यह सम्भव है कि देश के वासियों को पूर्ण रूप से अंग्रेजी का अच्छा विद्वान् बनाया जा सके।" हमें इस उद्देश्य के लिए प्रयत्न करने चाहिएँ। लार्ड मैकाले ने भारत में आने से पूर्व हाउस आफ़ कामन्स में ऐसे विचार प्रकट किए थे। उसके अपने ही शब्दों में, "क्या हमें भारतीयों को अपने आधीन बनाए रखने के लिए अज्ञानी बनाए रखना है? अथवा क्या हम यह विचार करते हैं कि हम बिना महत्त्वाकांक्षा को जाग्रत किए ज्ञान दे सकते हैं? अथवा क्या हम महत्त्वाकांक्षा जाग्रत करना चाहते हैं तथा उसके लिए कोई अधिकृत साधन नहीं जुटा सकते? यह भी सम्भव है कि भारतवर्ष की जनता का मन हमारी पद्धति के आधीन विशाल हो जाए, जब

तक यह उस पद्धति को अत्यन्त पुराना नहीं कर देता, अच्छी सरकार से हम अपने प्रजाजनों को अच्छी सरकार की योग्यता में शिक्षित कर सकें तथा यूरोपीय ज्ञान में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात्, वे कभी भविष्य में यूरोपीय संस्थाओं की माँग उपस्थित करें। क्या ऐसा दिन कभी आएगा, यह मैं नहीं जानता। जब भी यह दिन आए, यह अंग्रेजी इतिहास के लिए सब से अधिक गर्व वाला दिन होगा। राजदण्ड हम से छिन जाए। सफलता हमारे शस्त्रों के लिए अस्थायी सिद्ध हो सकती है। किन्तु कुछ विजयें ऐसी हैं, जिनके पश्चात् किसी प्रकार की विपरीत भावना की सम्भावना नहीं। यह एक ऐसा साम्राज्य है, जिसमें नाश के सभी स्वाभाविक कारणों का अभाव है। यहां शान्तिपूर्ण युक्ति की बर्बरता पर विजय है। यह साम्राज्य हमारी कलाओं तथा हमारे आचार का तथा साहित्य और कानूनों का नष्ट न होने वाला साम्राज्य है।"

लार्ड विलियम बैंण्टिङ्क ने, जो तत्कालीन गवर्नर-जनरल था, लार्ड मैकाले के परामर्श को स्वीकार कर लिया। ७ मार्च, १८३५ के दिन एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसमें निम्नलिखित बातों पर बल दिया गया :

१. "ब्रिटिश सरकार का बड़ा उद्देश्य भारतीयों में अंग्रेजी साहित्य तथा विज्ञान की वृद्धि होनी चाहिए तथा शिक्षा के लिए जितनी धनराशि की व्यवस्था है, उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग केवल अंग्रेजी शिक्षा पर ही किया जा सकता है।"

२. "प्राच्य विद्याओं के कॉलेज तोड़े न जाएँ, किन्तु शिक्षा प्राप्ति के समय उनके विद्यार्थियों के पालन-पोषण का भार खत्म कर देना चाहिए।"

३. "सरकार का पैसा प्राच्य पुस्तकों के मुद्रण पर व्यय नहीं होना चाहिए।"

४. "इसके पश्चात् सरकार का सारा रुपया भारतीयों को अंग्रेजी साहित्य तथा विज्ञान के ज्ञान देने में ही व्यय होना चाहिए।"

एच. एच. विल्सन के अनुसार, "शिक्षा के लिए प्राप्य समस्त धन को अंग्रेजी शिक्षा पर व्यय करने के सम्बन्ध में कलकत्ता के मुसलमानों की ओर से एक प्रार्थना-पत्र दिया गया, जिस पर ८००० के लगभग व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे तथा जिनमें नगर के सभी प्रतिष्ठित मौलवियों तथा अन्य देशी लोगों के हस्ताक्षर थे। इस प्रार्थना-पत्र में सामान्य सिद्धान्तों पर आपत्ति की गई थी तथा यह कहा गया था कि सरकार का स्पष्ट उद्देश्य भारत-निवासियों का धर्म-परिवर्तन है तथा वे एकमात्र अंग्रेजी को प्रोत्साहन देते हैं, मुस्लिम तथा हिन्दू अध्ययन पद्धति को निरुत्साहित करते हैं, क्योंकि वे लोगों को ईसाई होने के लिए प्रेरित करते हैं।" मुसलमानों के भ्रम का निवारण करने के लिए लार्ड बैण्टिङ्क ने पूर्ण निष्पक्षता की नीति की घोषणा की। "सब स्कूलों तथा कॉलेजों में विद्यार्थियों के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप तथा अन्यायपूर्ण गुप्त व्यवहार, शिक्षा पद्धति के साथ ईसाइयत की स्पष्ट तथा अस्पष्ट शिक्षा को निश्चित रूप से रोक देना चाहिए।"

यहाँ प्रसंगवश शिक्षा के क्षेत्र में ईसाई मिशनों के द्वारा किए गये कार्य का वर्णन करना अभीष्ट प्रतीत होता है। १७१६ में, डैनिश मिशनरियों ने अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए एक संस्था खोली। १७१७ में उन्होंने मद्रास में दो निःशुल्क स्कूल स्थापित किए। उन्होंने अन्य स्थानों पर भी अंग्रेजी स्कूल खोले। कारे, मार्शमैन तथा वार्ड जैसे मिशनरियों ने १७९३ में सिरामपुर में अपना कार्य आरम्भ किया। १८२० तक मिशनरी संस्थाएँ इस

क्षेत्र में बहुत कार्य कर रही थीं, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य लोगों को शिक्षित करना न था, अपितु उनमें ईसाइयत का प्रचार करना था। मिशनरियों ने अनुभव कर लिया कि अंग्रेजी भाषा का विस्तार देश में ईसाइयत के विस्तार में सहायक होगा। बम्बई में विल्सन कॉलेज तथा मद्रास में क्रिश्चियन कॉलेज आरम्भ किए गये। १८५३ में आगरा में सेंट जान कॉलेज स्थापित हुआ। मसूलीपट्टम तथा नागपुर में भी मिशनरी कॉलेज स्थापित किए गये। इन संस्थाओं में बाइबल श्रेणी को आवश्यक कर दिया गया। डा० डफ़ के कथनानुसार, "एक बड़ा उद्देश्य तो यह था कि नवयुवकों को यथासम्भव हमारे सामान्य विकसित साहित्य तथा विज्ञान का ज्ञान दिया जाए, किन्तु एक अन्य तथा अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह था कि ईसाइयत का पूर्ण ज्ञान उसके प्रमाणों तथा सिद्धान्तों के साथ प्रदान किया जाए। इसलिए हमारा उद्देश्य था एक उपयोगी धर्मनिरपेक्ष शिक्षा तथा निश्चित धार्मिक शिक्षा को अविभाज्य तथा एकरसतापूर्ण पद्धति से परस्पर मिला दिया जाए।"

१८८४ के एक सरकारी प्रस्ताव के द्वारा इस बात की व्यवस्था की गई, कि सार्वजनिक नौकरियों के सम्बन्ध में उन लोगों को प्राथमिकता दी जाएगी जिन्हें पश्चिमी विज्ञान की शिक्षा से शिक्षित किया गया है तथा जो अंग्रेजी भाषा की जानकारी रखते हैं। लार्ड आकलैण्ड के कथनानुसार, "मैं इसे अपना मुख्य उद्देश्य बनाऊँगा कि मैं अँग्रेजी भाषा के माध्यम से उन अधिकाधिक विद्यार्थियों को यूरोपीय साहित्य, दर्शन शास्त्र तथा विज्ञान में पूर्ण शिक्षा दूंगा, जो उसे ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हों।"

१८५४ का वुड का प्रेषित-पत्र (Wood's Despatch of 1854)—कम्पनी के डायरैक्टरों को भेजे गये सर चार्ल्स वुड के प्रेषित-पत्र को भारत में अंग्रेजी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण राजकीय आज्ञा-पत्र वर्णित किया गया है। इसके द्वारा शिक्षा की एक सुविस्तृत तथा पूर्ण पद्धति प्रस्तुत की गई, जो अब तक की प्रस्तावित शिक्षा-पद्धतियों की अपेक्षा बढ़-चढ़कर थी। इसमें शिक्षा का उद्देश्य यूरोप की कलाओं, विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, तथा साहित्य का एकीकरण था। इसके द्वारा भारतीय भाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहित किए जाने की व्यवस्था का सुझाव था। जहाँ कहीं भी इसके लिए माँग प्रस्तुत हो, वहाँ अंग्रेजी भाषा के शिक्षण का प्रबन्ध किया जाना था। अंग्रेजी भाषा तथा भारतीय भाषाओं, इन दोनों, को यूरोपीय ज्ञान के एकीकरण का माध्यम मान लिये जाने की व्यवस्था थी। ऐसा अनुभव किया गया कि भारत में विश्वविद्यालयों की स्थापना का समय आ गया है जिससे विधिवत् तथा उदार शिक्षा के पाठ्यक्रम को, शैक्षणिक उपाधियाँ देने के द्वारा, जो इस बात का प्रमाण थी कि विज्ञान तथा कलाओं की विभिन्न शाखाओं मे योग्यता प्राप्त कर ली गई है, प्रारम्भ किया जाय। यह निश्चय किया गया कि लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर विश्वविद्यालय स्थापित किए जाएँ। प्रत्येक विश्वविद्यालय के लिए एक कुलपति, एक उप-कुलपति तथा सीनेट की व्यवस्था किए जाने का प्रस्ताव किया गया। सीनेट का कार्य विश्वविद्यालय निधियों का प्रबन्ध करना तथा परीक्षाओं की व्यवस्था करने के लिए नियमादि बनाना था। विभिन्न विषयों के लिये प्राध्यापक रखने की व्यवस्था की गई। इन विषयों में कानून, नागरिक इंजीनियरिंग तथा प्राच्य भारतीय भाषाएँ उल्लेखनीय हैं। सबसे पूर्व कलकत्ता तथा बम्बई के विश्वविद्यालयों को देश के प्रथम विश्वविद्यालयों के रूप में स्थापित करने की योजना बनाई गई। मद्रास में भी, अथवा किसी अन्य स्थान पर

विश्वविद्यालय खोलने की योजना रखी गई, जहाँ पर अनेक संस्थाएँ विद्यमान थीं, जिनमें से उपाधियों के लिए ठीक प्रकार से प्रशिक्षित प्रार्थी प्राप्त हो सकें। ऐसा नियम बनाया गया कि स्वीकृत संस्थाओं का सरकारी निरीक्षक समय-समय पर निरीक्षण करते रहेंगे। ऐसी आशा की गई कि शिक्षण-संस्थाओं में परस्पर स्वस्थ स्पर्धा की भावना विकसित होगी तथा विश्वविद्यालयों की उपाधियों की विभिन्न शाखाओं तथा विषयों में श्रेणियाँ तथा उच्च स्थान-प्राप्ति उच्च शिक्षित नवयुवकों के प्रयत्नों को ऐसे अध्ययन में अग्रसर करेंगी जो जीवन के विभिन्न प्रगतिशील व्यवसायों की सफलता-प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

इस प्रेषित-पत्र में ऐसी संस्थाओं की स्थापना की भी सिफारिश की गई, जिनमें सब प्रकार के स्कूलों के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा सके। विद्यमान सरकारी स्कूल तथा कालेज जारी किए जाने का तथा आवश्यकता पड़ने पर उनकी संख्या में वृद्धि करने का निश्चय किया गया। नये मिडल स्कूल खोलने की भी योजना बनी। प्रारम्भिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिए जाने का निश्चय किया गया। निजी प्रयत्नों की सहायता करने के लिए सहायता में अनुदान की पद्धति चलाए जाने का भी सुझाव प्रस्तुत किया गया। तथापि ये अनुदान तभी प्राप्त हो सकते थे, जब धार्मिक तटस्थता के सिद्धान्त का पालन किया जाए। छात्रवृत्तियों की व्यापक पद्धति आरम्भ किए जाने की व्यवस्था की गई। सरकार के द्वारा स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित किए जाने का प्रस्ताव किया गया। प्रत्येक प्रान्त में सार्वजनिक शिक्षा के निदेशक की नियुक्ति किए जाने का भी निश्चय किया गया। उसकी सहायता के लिए निरीक्षक, सहायक निरीक्षक तथा उप-निरीक्षकों की नियुक्ति पर भी विचार किया गया। प्रो० डॉडवैल के अनुसार, विभाग के अधिकारी मुख्य रूप से प्रशासक होते थे तथा परिणामस्वरूप शिक्षा एक नित्य-प्रशासन का विषय बन गया।

हण्टर आयोग, १८८२ (The Hunter Commission, 1882)—१८८२ में लार्ड रिपन ने १८५४ के प्रेषित-पत्र के सिद्धान्तों के कार्यान्वित किए जाने की जाँच करने के सम्बन्ध में तथा उसमें निर्धारित की गई नीति को बल देने के लिए आवश्यक सुझाव देने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की। हण्टर आयोग ने बहुत सी उपयोगी सूचनाओं को इकट्ठा किया तथा निम्नलिखित सिफारिशें कीं—

(१) उच्च शिक्षा की संस्थाओं के प्रबन्ध तथा सीधे समर्थन से राज्य के क्रमिक हाथ खींचने के सम्बन्ध में तर्क देते हुए आयोग ने अनुभव किया कि इस प्रकार धीरे-धीरे तथा सावधानी से पीछे हटना चाहिए। कालेज अथवा माध्यमिक स्कूल को भारतीयों को सौंप दिए जाने की व्यवस्था की गई थी, यदि इस प्रकार के हस्तांतरण से शिक्षा के हित के सम्बन्ध में इस प्रकार के उचित उज्ज्वल भविष्य की आशा हो तथा किसी प्रकार की हानि की आशंका न हो।

(२) कालेजों को सामान्य तथा विशेष अनुदानों के लिए व्यवस्था किए जाने का प्रस्ताव किया गया।

(३) बड़े कालेजों में वैकल्पिक पाठ्यक्रम का प्रस्ताव किया गया।

(४) कालेजों की फीसों तथा फीसों से छुटकारा मिलने के सम्बन्ध में कुछ सामान्य सिद्धान्तों पर चलने के लिए व्यवस्था की गई।

(५) छात्रवृत्तियों के लिए नियम बनाने का प्रस्ताव किया गया।

(६) इस प्रकार के प्रयत्न करने का सुझाव दिया गया कि एक आदर्श पाठ्य-पुस्तक का निर्माण किया जाए जिसमें स्वाभाविक धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का आधार लिया गया हो तथा उसे सभी सरकारी तथा गैर-सरकारी कालेजों में पढ़ाया जाए।

(७) प्रत्येक सरकारी तथा सहायता-प्राप्त कालेज में प्रिंसिपल अथवा किसी एक प्राध्यापक पर इस बात का उत्तरदायित्व डालने का सुझाव दिया गया कि वह कालेज की प्रत्येक श्रेणी को प्रत्येक सत्र में मनुष्य तथा नागरिक के कर्त्तव्यों पर कई व्याख्यान दे।

(८) मुसलमानों में शिक्षा के प्रोत्साहन के सम्बन्ध में विशेष प्रयत्न किये जाने की सिफारिश की गई।

(९) सरकार के शिक्षाधिकारियों के द्वारा सभी प्रारम्भिक स्कूलों के निरीक्षण तथा पथ-प्रदर्शन के लिए व्यवस्था किए जाने का सुझाव दिया गया।

(१०) आयोग ने छात्रों की शारीरिक तथा मानसिक शिक्षा पर बल दिया।

(११) आयोग के अनुसार प्राइमरी शिक्षा के लिए अधिकतम प्रोत्साहन की आवश्यकता थी। प्रान्तीय राजस्व का एक भाग विशेष रूप से प्राइमरी शिक्षा के लिए सुरक्षित किया जाना चाहिए। प्राइमरी शिक्षा राज्य, जिला बोर्डों तथा नगरपालिकाओं के द्वारा दी जानी चाहिए। माध्यमिक शिक्षा को स्थानीय अथवा निजी संस्थाओं के माध्यम से प्रोत्साहन मिलना चाहिए। सभी माध्यमिक स्कूल यथासम्भव निजी प्रबन्ध को सौंप दिए जाने चाहिए।

भारत सरकार ने आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा देश में शिक्षा की प्रगति की समीक्षा के रूप में एक वार्षिक विवरण की तैयारी के लिए निर्देश दिया गया। आगामी कुछ दशाब्दियों में उच्च शिक्षा ने शीघ्र गति से प्रगति की।

जनवरी १९०२ में लार्ड कर्जन ने एक आयोग की नियुक्ति की जिसका कार्य ब्रिटिश भारत में स्थापित विश्वविद्यालयों की अवस्थाओं तथा भविष्य की गतिविधि के सम्बन्ध में जाँच करना, उनके संविधान तथा कार्य के सम्बन्ध में किन्हीं सुझावों पर विचार करना तथा सूचित करना, विश्वविद्यालय के शिक्षण के स्तर को ऊँचा करने के लिये यथोचित उपायों की सिफ़ारिश करना तथा ज्ञान की प्रगति के लिए प्रयत्न करना था। आयोग ने निम्न सिफारिशें कीं—

१. पुराने विश्वविद्यालयों के कानूनी अधिकारों को विस्तृत कर दिया जाए तथा सब विश्वविद्यालयों को शैक्षणिक संस्थाओं के रूप में स्वीकृत किया जाए। प्रत्येक विश्वविद्यालय की स्थानीय सीमाओं को और अधिक भली प्रकार निश्चित किया जाए तथा ऐसे पग उठाये जाएँ कि सी० पी० तथा यू० पी० में सम्बद्ध कालेजों को कलकत्ता सूची में से हटा दिया जाए।

२. सीनेट, सिंडीकेट तथा फैकल्टियों को पुनः संगठित किया जाए तथा पहले की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण बना दिया जाए।

३. सम्बद्धता नियम इस प्रकार के बनाये जाएँ कि किसी संस्था को सम्बन्ध प्रदान न किया जाय जब तक कि पूर्ण सूचना प्राप्त न हो तथा एक बार प्रविष्ट संस्था को सम्बद्धता के लिए अभीष्ट योग्यता के स्तरों से नीचे न गिरने दिया जाए। सिंडीकेट को समय-

समय पर अपने आपको इस सम्बन्ध में सन्तुष्ट कर लेना चाहिए।

४. प्रत्येक कालेज के लिए विधिवत् संगठित प्रबन्धकर्त्री समिति होनी चाहिए।

५. छात्रों के निवास तथा अनुशासन के सम्बन्ध में ध्यान दिया जाए।

६. सभी विषयों में परीक्षाओं के पाठ्यक्रम तथा प्रणाली के सम्बन्ध में रिपोर्ट के अनुसार परिवर्त्तन किया जाए।

१९०४ का विश्वविद्यालय अधिनियम (The Universities Act of 1904)–लार्ड कर्ज़न की सरकार ने रैले आयोग की सिफ़ारिशों को स्वीकार कर लिया तथा उन्हें १९०४ के विश्वविद्यालय अधिनियम में कार्यान्वित कर दिया। अधिनियम के अनुसार विश्वविद्यालयों की प्रबन्धकर्त्री सभाओं का पुनः संगठन किया गया। विश्वविद्यालयों की सीनेट में कम से कम ५० तथा अधिक से अधिक १०० सदस्यों की व्यवस्था की गई। निर्वाचित हुए फैलो की संख्या कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के लिए २० तथा शेष दो के लिये १५,१५ निश्चित की गई। सिंडीकेटों को अधिकृत रूप से स्वीकृति प्रदान की गई तथा उनमें विश्वविद्यालय के अध्यापकों को समुचित प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। विश्वविद्यालय के साथ सम्बद्धता की शर्तों को स्पष्ट रूप से अंकित किया गया तथा उन्हें दृढ़तापूर्वक अपनाए जाने पर बल दिया गया। विश्वविद्यालय को अधिकार दिये गये कि छात्रों की शिक्षा के लिये विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों तथा अध्यापकों की नियुक्ति की जा सके तथा इस प्रकार के सब कार्य किये जाएँ जिससे अध्ययन तथा अनुसन्धान को प्रगति प्राप्त हो सके। सरकार को भी कुछ अधिकार प्रदान किये गये, जिनमें सीनेटों के द्वारा बनाये जाने वाले नियमों के सम्बन्ध में कुछ निर्देश दिये गये थे तथा गवर्नर-जनरल को अधिकार था कि वह विश्वविद्यालयों की प्रादेशिक सीमाओं का निश्चय कर दे।

चिरोल के कथनानुसार, "जैसा कि एक वायसराय के आधीन सम्भावना थी, जो एक महान् निरंकुशवादी था तथा जिसे सरकारी मशीन में अत्यधिक विश्वास था, १९०४ के अधिनियम का मुख्य उद्देश्य विश्वविद्यालयों पर सरकार के नियन्त्रण को कठोर करना था तथा प्रथमतया उनकी सीनेटों पर नियन्त्रण करना था, जो अब भी प्रशासक संस्थाओं के रूप में कार्य कर रही थीं। इस सम्बन्ध में उनके सदस्यों की संख्या के योग में कमी की गई तथा कुलपति के द्वारा मनोनीत किये जाने वाले सदस्यों की संख्या में बहुत सी वृद्धि की गई तथा उनमें प्रान्तीय शिक्षा संचालकों को पदेन स्थान दिया गया। सिण्डीकेटों में,जो व्यवस्था संस्थाएँ थीं, इस बात की ऊपरी व्यवस्था की गई कि कालेजों के अध्यापकों की पर्याप्त संख्या उनमें आ सके, किन्तु ऐसा कोई अध्यापक इसके लिये अधिकारी न हो सकता था जब तक कि वह सीनेट का सदस्य न हो। विद्यमान कालेजों में देख-रेख सम्बन्धी अधिक अधिकार तथा नये कालेजों की सम्बद्धता के लिये अधिक कठोर शर्तों को लगाया जाना–ये ऐसे पग थे, जो ठीक दिशा की ओर उठाये गये थे। किन्तु उन्हें बहुत देर से लागू किया गया। इसमें बढ़ते हुए स्कूलों की संख्या के सम्बन्ध में कोई नियन्त्रण नहीं लगाया गया, जिनके कारण वे नींवें सड़ रही थीं, जिन पर एक गम्भीर कालेज-शिक्षा का निर्माण किया जा सकता था। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम तथा विश्वविद्यालय की परीक्षाओं की प्रणालियों के सम्बन्ध में कार्रवाई करने के लिये नई कमेटियाँ बनाई गईं। किन्तु यह सब भी

केवल सीनेट से ही उत्पन्न था। वस्तुतः सरकार के अनुमोदन के बिना इसके पश्चात् कुछ भी नहीं किया जा सकता था।

भारत में इस अधिनियम के सम्बन्ध में सार्वजनिक सम्मति अत्यन्त आलोचनापूर्ण थी, क्योंकि सीनेट में निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या बहुत कम थी, तथा संख्या को सीमित करने के कारण इस बात की सम्भावना रहती थी कि यूरोपियनों का बहुमत रखा जाए। विश्वविद्यालय के द्वारा शैक्षणिक कार्यों की व्यवस्था करने के सम्बन्ध में प्राप्त अधिकार महत्त्वपूर्ण नहीं समझे गए, क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था का पहले अधिनियमों में प्रयोग नहीं किया गया था। कालेजों को सम्बद्ध करने के विषय में विश्वविद्यालय के नये नियमों को शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय निजी प्रयत्नों के लिये बाधक समझा गया।

यद्यपि लार्ड कर्ज़न ने विश्वविद्यालयों को राज्य के विभागों में परिवर्तित करने अथवा "कालेजों तथा स्कूलों को नौकरशाही जंजीरों से बाँधने" की सब इच्छाओं के उत्तरदायित्व लेने से इनकार कर दिया, तथापि अधिनियम के स्वीकृत करने का मुख्य परिणाम यह हुआ कि विश्वविद्यालयों की सीनेटों तथा सिण्डीकेटों पर यूरोपियनों का अधिकार हो गया तथा उन्हें "संसार के पूर्णतम सरकारी विश्वविद्यालयों का रूप दे दिया गया।" इसको कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने स्वीकार किया। लार्ड कर्ज़न की इच्छा थी कि वे विश्वविद्यालय शिक्षा के सम्बन्ध में राज्य के उत्तरदायित्व तथा नियन्त्रण का प्रयोग करें।

भारतीय विरोध का कारण बढ़ता हुआ यह विश्वास था कि लार्ड कर्ज़न इस पर तुला हुआ था कि नवयुवक भारतीयों के लिए उच्च शिक्षा के लिए प्राप्त अवसरों को सीमित किया जाए। फ्रेज़र के मतानुसार, "शिक्षित भारतीयों का यह हार्दिक विचार था कि वायसराय विश्वविद्यालय की पद्धति पर चोट करना चाहते थे।" उसी लेखक के कथनानुसार लार्ड कर्ज़न के वायसराय कार्यकाल का सबसे बड़ा मतभेद, जिसने भारतीय विचारधारा के नेताओं में कटुता उत्पन्न की तथा जिसके कारण वायसराय भारतीय शिक्षित वर्ग में सर्वाधिक अप्रिय हो गया, १९०४ का अधिनियम था।

१९१३ का संकल्प (Resolution of 1913)--१९१३ में एक सरकारी संकल्प प्रकाशित हुआ तथा इससे उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में नीति का स्पष्टीकरण हुआ। भारत के लिए सम्बद्ध विश्वविद्यालयों से अधिक देर तक सम्बद्ध-विच्छेद करना युक्तिसंगत न होने के कारण, यह आवश्यक था कि ऐसे क्षेत्र को सीमित कर दिया जाए, जिस पर ऐसे विश्वविद्यालयों का नियन्त्रण होगा। प्रत्येक प्रान्त में नये शैक्षणिक तथा आवास विश्वविद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया गया। ढाका, अलीगढ़ तथा बनारस में शैक्षणिक विश्वविद्यालय स्थापित किए जाने का निश्चय किया गया। रंगून, पटना तथा नागपुर में सम्बद्ध विश्वविद्यालय स्थापित किए जाने का निश्चय किया गया। महायुद्ध के छिड़ जाने के कारण इस प्रस्ताव के कार्यान्वित किए जाने में देर हो गई, किन्तु बनारस तथा पटना में क्रमशः १९१६ तथा १९१७ में विश्वविद्यालय आरम्भ हो गए।

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (Calcutta University Commission)--भारत सरकार ने लार्ड चैम्सफोर्ड के समय में सैडलर आयोग की नियुक्ति की जिसका कार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं की सुविस्तृत जाँच करना था। विचारणीय

विषयों में कालेज तथा विश्वविद्यालय शिक्षा के सभी पक्ष सम्मिलित थे। माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं को भी आयोग के कार्यक्षेत्र से अलग नहीं किया गया था। आयोग से यह आशा की गई थी कि वह कलकत्ता विश्वविद्यालय की नीति-निर्माण में सहायता के लिए अन्य भारतीय विश्वविद्यालयों के संगठन तथा कार्य का अध्ययन करे। आयोग ने १९१९ में एक बृहत् विवरण प्रस्तुत किया, जिसमें माध्यमिक शिक्षा तथा विश्वविद्यालय की प्रत्येक समस्या पर विचार किया जा सके। सैडलर आयोग की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं—

(१) विश्वविद्यालय की इण्टरमीडिएट श्रेणियाँ माध्यमिक संस्थाओं को हस्तांतरित की जानी थीं तथा विश्वविद्यालय में प्रवेश का समय विद्यमान इण्टरमीडिएट था।

(२) माध्यमिक तथा इण्टरमीडिएट शिक्षा का नियन्त्रण माध्यमिक शिक्षा के बोर्ड ने करना था, विश्वविद्यालय ने नहीं।

(३) भारत सरकार को कलकत्ता विश्वविद्यालय के साथ अपने विशेष सम्बन्ध को समाप्त करना था तथा बंगाल सरकार ने उसका स्थान लेना था।

(४) उपाधि पाठ्यक्रम की अवधि इण्टरमीडिएट के पश्चात् तीन वर्ष चाहिए। ऑनर्स कोर्स तथा पास कोर्स की व्यवस्था की गई।

(५) कलकत्ता नगर के शैक्षणिक साधनों को संगठित किया जाना था, जिससे वास्तविक शैक्षणिक विश्वविद्यालय की भावना उत्पन्न की जाए तथा ढाका विश्वविद्यालय का कार्य शीघ्रातिशीघ्र पूरा किए जाने का सुझाव दिया गया। फुटकर कालेजों को इस प्रकार संगठित किए जाने का परामर्श दिया गया, जिससे नए विश्वविद्यालय केन्द्रों के क्रमिक विकास को उच्च शिक्षण को कुछ स्थानों पर केन्द्रित करने के द्वारा प्रोत्साहन दिया जाए।

(६) स्त्री शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाना निश्चित हुआ तथा इस उद्देश्य के लिए एक बोर्ड की स्थापना करने का प्रस्ताव किया गया।

(७) विश्वविद्यालय के लिए सरकारी नौकरी की पद्धति अनुकूल होने के कारण विश्वविद्यालयों में अध्यापन सेवा का संगठन आवश्यक था।

(८) औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण की समस्याओं को जिनमें अध्यापकों, वकीलों, डाक्टरों, इन्जीनियरों, स्थापत्य कलाविशारदों तथा जमींदारों की समस्याएँ सम्मिलित थीं, विश्वविद्यालय द्वारा हाथ में लिए जाने का निश्चय हुआ तथा इस सम्बन्ध में अनेक सुधार प्रस्तावित किए गए।

(९) शिक्षा का माध्यम अधिकतर विषयों के लिए हाई स्कूल तक भारतीय भाषा ही रखने का ही निश्चय किया गया, किन्तु बाद के वर्षों के लिए अंग्रेजी माध्यम की सिफारिश की गई।

(१०) परीक्षा प्रणाली में पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता थी। भारत सरकार ने एक बिल का मसविदा तैयार किया, जिसमें कमीशन की सिफारिशों को लागू करने का निश्चय किया गया। तथापि आर्थिक कठिनाइयाँ मार्ग में थीं। १९२० में आयोग की सिफारिशें भारत सरकार के द्वारा प्रान्तीय सरकार को भेजी गईं। ढाका तथा लखनऊ विश्वविद्यालय १९२० में एकात्मक अध्यापन आदर्शों पर आरम्भ किए गए। इलाहाबाद

विश्वविद्यालय १९२१ में तथा दिल्ली विश्वविद्यालय १९२२ में उक्त आदर्शों पर आरम्भ किए गए।

१९१९ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार शिक्षा का विभाग प्रान्तीय विधान-मण्डलों के प्रति उत्तरदायी भारतीय मंत्रियों को सौंप दिया गया। तथापि भारत सरकार उच्च शिक्षा की सामान्य नीति का नियन्त्रण तथा पथ-प्रदर्शन करती रही। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के आधीन सम्पूर्ण विश्वविद्यालय शिक्षा प्रान्तीय सरकारों के नियन्त्रण में कर दी गई। इसका एकमात्र अपवाद ऐसे विश्वविद्यालय थे जिनका कार्य-क्षेत्र दो प्रान्तों में था।

शिक्षा के लिए सार्जेण्ट योजना (Sergeant Scheme of Education)—यह योजना भारत सरकार के शिक्षा-परामर्शदाता सर जान सार्जेण्ट ने तैयार की। इसके द्वारा ६ से १४ वर्ष के बालकों के लिए देशव्यापी निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा को आरम्भ करने का निश्चय किया गया। इस योजना पर २०० करोड़ रु० वार्षिक व्यय का अनुमान लगाया गया। बेसिक शिक्षा को दो भागों में बाँट दिया गया—निम्न स्तर, जिसमें पहले पाँच वर्ष तथा उच्च स्तर, जिसमें तीन वर्ष का समय रखा गया। प्राइमरी स्तर के पश्चात् सभी बालकों के लिए हाई स्कूल जाने की अनुमति नहीं थी। केवल उन्हीं विद्यार्थियों को आगे पढ़ने की अनुमति मिलने का प्रस्ताव था जो उच्च शिक्षा से कुछ लाभ उठा सकें। लगभग प्रत्येक पाँच बालकों में से एक के सम्बन्ध में हाई स्कूल में प्रवेश की आशा की गई थी। स्कूलों को चलाने की व्यवस्था यथासम्भव सार्वजनिक धनराशि से प्रस्तावित की गई। कालेजों में प्रवेश के सम्बन्ध में भी पावन्दियाँ लगाने का सुझाव रखा गया। इण्टरमीडिएट पाठ्यक्रम को हाई स्कूल पाठ्यक्रम में मिला देने का निश्चय किया गया। कालेज-शिक्षण की अवधि तीन वर्ष के लिए प्रस्तावित की गई। सम्पूर्ण देश में एक राष्ट्रीय युवक आन्दोलन आरम्भ किए जाने का सुझाव दिया गया। उस आन्दोलन का उद्देश्य नवयुवकों को अपने शरीर बनाने तथा अपने देश की सेवा करने की शिक्षा देना था।

राधाकृष्णन आयोग, १९४९ (Radhakrishnan Commission, 1949)—भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत सरकार ने १९४८ में एक विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति की, जिसके सभापति सर राधाकृष्णन थे। आयोग को निम्न विषयों पर सिफारिशें करने के लिए निर्देश दिया गया :—

१. भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा तथा अनुसन्धान के उद्देश्य।

२. भारत में विश्वविद्यालयों के विधान, नियन्त्रण, कार्यों तथा कार्य-क्षेत्रों के सम्बन्ध में आवश्यक समझे जाने वाले तथा अभीष्ट परिवर्तन तथा उनका भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों से सम्बन्ध।

३. विश्वविद्यालयों की आर्थिक व्यवस्था।

४. विश्वविद्यालयों तथा उनके नियंत्रण में चलने वाले कालेजों में शिक्षण तथा परीक्षाओं के ऊँचे स्तर को बनाए रखना।

५ विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम तथा उनकी अवधि।

६. विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम में प्रवेश का स्तर तथा उसके लिए स्वतन्त्र विश्वविद्यालय प्रवेशिका परीक्षा की उपयोगिता की सम्भावना तथा भारतीय संविधान की

धारा २३ (२) के अन्तर्गत मौलिक अधिकार के विरुद्ध पक्षपातपूर्ण व्यवहार से अलग रहना।

७. विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम।

८. भारतीय सभ्यता, इतिहास, साहित्य, भाषाओं, दर्शन तथा अर्थ में विस्तृत अध्ययन की व्यवस्था।

९. प्रादेशिक तथा अन्य आधार पर अधिक विश्वविद्यालयों की आवश्यकता।

१०. विश्वविद्यालयों तथा उच्च अनुसन्धान के संस्थानों में ज्ञान की सभी शाखाओं में विस्तृत अनुसन्धान का सामंजस्यपूर्ण एकीकरण, जिससे प्रयत्न तथा साधन व्यर्थ न जाएँ।

११. विश्वविद्यालयों में धार्मिक शिक्षा।

१२. दिल्ली, अलीगढ़ तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयों की विशेष समस्याएँ।

१३. अध्यापकों की योग्यताएँ, सेवा के नियम, वेतन, सुविधाएँ, कार्य तथा अध्यापकों के द्वारा मौलिक अनुसन्धान का प्रोत्साहन।

१४. छात्रों का अनुशासन, होस्टल, ट्यूटोरियल कार्य का संगठन तथा कोई अन्य विषय, जो विश्वविद्यालय शिक्षा तथा उच्च अनुसन्धान के सभी पक्षों की पूर्ण तथा विस्तृत जाँच के लिए आवश्यक तथा संगत हो।

सम्पूर्ण देश का भ्रमण करने, लोगों से भेंट करने, विभिन्न क्षेत्रों से स्मृति-पत्र प्राप्त करने तथा उन पर विचार करने के पश्चात् आयोग ने १९४९ में निम्नलिखित सिफारिशें कीं—

आयोग ने सिफारिश की कि शान्तिनिकेतन तथा जामिया मिलिया को आदर्श मान कर ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाए। विवरण में शिक्षा के लिए कम धनराशि देने के सम्बन्ध में आलोचना की गई। उसके अनुमान में यह धनराशि सम्पूर्ण राजस्व के ५% से अधिक नहीं थी। आयोग ने छात्रवृत्तियों तथा सहायता के सम्बन्ध में भी धनराशि की मात्रा काफी बढ़ाने पर बल दिया, जिससे निर्धन छात्रों को हानि न उठानी पड़े। कालेजों को एक हजार छात्रों से अधिक का प्रवेश करने से रोक दिया गया। जिन क्षेत्रों में संघीय भाषा मातृभाषा न हो, वहाँ संघीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने की सिफारिश की गई। यदि संघीय भाषा मातृ-भाषा एक ही हो, उस दशा में छात्रों को कोई अन्य भारतीय, प्राच्य अथवा भारतीय भाषा लेने की सिफारिश की गई। शैक्षणिक स्तरों के लिए शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी को शीघ्र हटाए जाने के लिए शीघ्रता न किए जाने की भी सिफारिश की गई। आयोग ने इस सम्बन्ध में कोई अवधि निश्चित नहीं की। किन्हीं जातिगत अथवा वर्गगत धार्मिक विचारों पर बल नहीं दिया गया। सहशिक्षा के सम्बन्ध में कहा गया कि माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर तथा पुनः कालेज स्तर पर अपनाई जा सकती है। आयोग ने अध्यापकों के स्तर उन्नत करने के सम्बन्ध में पर्याप्त बल दिया। अध्यापकों के चार वर्गों का उल्लेख किया गया—प्राध्यापक, रीडर, अध्यापक तथा शिक्षक। एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पदोन्नति के लिए योग्यता को एकमात्र आधार स्वीकार किया गया।

Questions for Revision

1. Give a short history of the spread of Western education in India.

2. Trace the history of education in India during the 19 th century, bringing out the part played by the Government of India, Christian Missions and indigenous private enterprise.

3. What were the issues between the Orientalists and the Occidentalists regarding the education of Indians during the time of Lord William Bentinck ?

4. Discuss the main stages in the development of education in India since 1833.

5. "So education grew slowly and though it was a limited and perverted process, it opened the doors and windows of the mind to new ideas and dynamic thoughts." In the light of this statement of Pandit Nehru, trace the growth of education in India since 1900 and make your own proposals for reform.

6. Trace the history of the growth of university education in India lince 1854.

7. Trace the educational policy of the British government after 1858. What were the guiding principles and did they, in your opinion, further the cause of true education ?

8. Describe the main stages in the development of educational policy from 1833 to 1917, stressing its reaction on the people.

9. Point out the various factors that have influenced the growth and evolution of our great vernacular literature of today.

अध्याय २९

धार्मिक और सामाजिक विकास

(Religious and Social Development)

१९वीं शताब्दी में तथा इसके पश्चात् भारत ने धार्मिक तथा सामाजिक इन दोनों क्षत्रों में बहुत प्रगति की। यह मध्य युग से नये युग की ओर परिवर्त्तन का युग था। भारतीय मन में पश्चिम से होने वाले सम्पर्क के परिणामस्वरूप विप्लव तथा हलचल मच गई थी तथा बहुत से क्षेत्रों में प्रगति हुई।

राजा राममोहन राय, १७७४-१८३३ (Raja Ram Mohan Roy)—धार्मिक तथा सामाजिक विकास के क्षेत्र में राजा राम मोहनराय का नाम सबसे अग्रणी है। १७७४ में उनका जन्म पुराने विचारों के सम्पन्न बंगाली ब्राह्मण परिवार में हुआ था। जब वे मुश्किल से १५ वर्ष के थे, तब उन्होंने बंगला में एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी, जिसमें उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, जिसके सम्बन्ध में उनका कहना था कि वह वेदों में नहीं है। नवयुवक राम मोहनराय को इसके लिए काफी कष्ट उठाने पड़े। उन्हें कट्टरपंथी परिवार से निकाल दिया गया तथा उन्हें देश-निकाले के रूप में अपना जीवन व्यतीत करना पड़ा। तथापि उन्होंने ईश्वरप्रदत्त परिस्थितियों से पूर्ण लाभ उठाया। उन्होंने दूर-दूर तक यात्रा की तथा इस प्रकार बहुत-सा अनुभव तथा ज्ञान संचित किया। वे अरबी तथा फारसी पहले से ही जानते थे तथा अब उन्होंने संस्कृत की भी योग्यता प्राप्त कर ली। उन्होंने अंग्रेज़ी, फ्रेंच, लैटिन, हिब्रू तथा ग्रीक का भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया। क्योंकि वे संसार के महत्त्वपूर्ण धर्म-ग्रन्थों का मूल रूप में अध्ययन करने में समर्थ थे, इस कारण वे संसार के सब महत्त्वपूर्ण धर्मों की तुलना करने में सफल हो गए। विश्व-धर्म की उनकी धारणा किन्हीं संश्लिष्ट सिद्धान्तों पर आधारित नहीं थी, अपितु विभिन्न धर्मों के गम्भीर ज्ञान पर ही आधारित थी।

१८०५ में राजा राम मोहनराय बंगाल में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेवा में सम्मिलित हुए तथा १८१४ तक वे इसी कार्य में लगे रहे। नौकरी से अवकाश प्राप्त करके वे कलकत्ता में स्थायी रूप से रहने लगे तथा उन्होंने पूर्ण रूप से अपने आपको जनता की सेवा में लगाया। १८१४ में उन्होंने आत्मीय सभा को आरम्भ किया। १८२८ में उन्होंने ब्राह्म समाज की स्थापना की। वे १८३१ में एक विशेष कार्य के सम्बन्ध में—दिल्ली के मुगल सम्राट् के पक्ष का समर्थन करने के लिए—इंग्लैंड गए। वे उसी कार्य में व्यस्त थे कि ब्रिस्टल में २७ सितम्बर, १८३३ में उनका देहान्त हो गया। उन्हें मुगल सम्राट् की ओर से राजा की उपाधि दी गई।

अपने सब कार्यों में राजा राम मोहनराय को स्वदेश-प्रेम तथा अशिक्षितों तथा निर्धनों के लिए अत्यधिक सहानुभूति की भावना से प्रेरणा प्राप्त होती थी। अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह के सम्भव होने के कारण उन्होंने अपने देशवासियों में राजनैतिक जाग्रति की भावना के प्रोत्साहित करने के लिए जनमत को शिक्षित किया।

उन्होंने सब सम्भव उपायों से लोगों की नैतिक अवस्था को उन्नत करने के लिए यथासम्भव प्रयत्न किया।

यद्यपि वे अपने युग के सबसे बड़े प्राच्य भाषाओं के ज्ञाताओं में से एक थे, तथापि उनका विश्वास और मन्तव्य था कि भारत की प्रगति केवल उदार शिक्षा के द्वारा होगी, जिसमें पाश्चात्य विद्या तथा ज्ञान की सभी शाखाओं की शिक्षण-व्यवस्था हो। उन्होंने ऐसे लोगों का पूर्ण समर्थन किया, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा तथा पश्चिमी विज्ञानों के अध्ययन का भारत में आरम्भ किया तथा अन्त में वे अपने प्रयत्नों में सफल हुए। उन्होंने हिन्दू कालेज की स्थापना में सहायता दी। यह संस्था उन दिनों की सर्वाधिक आधुनिक संस्था थी।

राजा महोदय ने समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता के लिए भी संघर्ष किया। उन्होंने स्वयं एक बंगाली पत्रिका 'सम्वाद कौमुदी' आरम्भ की तथा उसका सम्पादन भी किया। यह पत्रिका भारतीयों के द्वारा सम्पादित सबसे पुरानी पत्रिकाओं में से थी। उन्होंने १८३३ के समाचार-पत्र नियमों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन चलाया। उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय को एक स्मृतिपत्र दिया, जिसमें उन्होंने समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता के लाभों पर अपने विचार प्रकट किए। समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता के लिए उनके द्वारा चलाए गए आन्दोलन के द्वारा ही १८३५ में समाचार-पत्रों के अन्तिम छुटकारे के लिए मार्ग बना।

राजा महोदय ने सती प्रथा को मिटाने के लिए भी प्रयत्न किया। उन्होंने इस अमानवीय प्रथा के विरुद्ध निरन्तर आन्दोलन चलाया। यह आन्दोलन समाचार-पत्रों तथा मंच, दोनों माध्यमों से चला। इसका विरोध इतना अधिक था कि एक अवसर पर तो उनका जीवन ही खतरे में था। तथापि वे अपने शत्रुओं के आक्रमणों से नहीं घबराये। उनके पूर्ण तथा निरन्तर समर्थन का ही प्रभाव था, जिसके कारण लार्ड विलियम बैण्टिङ्क १८२९ में सती प्रथा को बन्द करने में समर्थ हो सके। जब कट्टर लोगों ने इंग्लेंड में प्रिवी कौंसिल में प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किया, तब उन्होंने भी अपने प्रगतिशील मित्रों तथा साथी कार्यकर्त्ताओं की ओर से ब्रिटिश संसद् के सम्मुख अपना विरोधी प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किया। उन्हें प्रसन्नता हुई जब प्रिवी कौंसिल ने सती-प्रथा के समर्थकों के प्रार्थना-पत्र को अस्वीकृत कर दिया। सती प्रथा के मिटने से राजा महोदय संसार के मानवता-वादी सुधारकों की सर्वप्रथम पंक्ति में आ गये।

१८३१ से १८३३ तक अपने इंग्लैंड प्रवास-काल में राजा ने ब्रिटिश भारत की प्रशासनिक पद्धति में सुधार के लिए आन्दोलन किया। ब्रिटिश संसद् के द्वारा भारतीय मामलों पर परामर्श लिए जाने वाले वे प्रथम भारतीय थे। हाउस आफ कामन्स की प्रवर समिति के समक्ष अपना साक्ष्य देते हुए उन्होंने भारतीय प्रशासन की प्रायः सभी शाखाओं के सम्बन्ध में अपने सुझाव दिये। राजा महोदय के राजनैतिक विचार बेकन, ह्यूम, बैन्थम ब्लैकस्टोन तथा मान्टेस्क्यू जैसे यूरोपीय दार्शनिकों के द्वारा प्रभावित थे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निबटारे के सम्बन्ध में एक कांग्रेस के माध्यम के द्वारा सुझाव प्रस्तुत किया, जिसमें सम्बन्धित देशों की संसदों से एक जितने सदस्य लिए जाने का निश्चय हुआ।

अन्य सब बातों से पूर्व राजा राम मोहनराय एक धार्मिक सुधारक तथा सत्य के

अन्वेषक थे। ईसाइयत, इस्लाम तथा हिन्दुत्व के अध्ययन से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि सब धर्मों में अद्वैतवाद सम्बन्धी सिद्धांतों का प्रचलन है। मुसलमान उन्हें मुसलमान समझते थे, ईसाई उन्हें ईसाई ससझते थे, अद्वैतवादी उन्हें अद्वैतवादी मानते थे तथा हिन्दू उन्हें वेदान्ती स्वीकार करते थे। वास्तव में परम्परा के अनुसार वे इनमें से कोई भी नहीं थे! वे सब धर्मों की मौलिक सत्यता तथा एकता में विश्वास करते थे। उन्हें यह स्वीकार न था कि किसी प्रकार की पूजा की आलोचना की जाए। ब्राह्म समाज में पूजा इस प्रकार की जाती थी, जिससे सब विश्वासों, प्रेरणाओं तथा मतों वाले लोगों में एकता के सम्बन्ध दृढ़ हों। राजा महोदय एक अवतार नहीं थे, अपितु एक सुधारक थे, जो इस बात का प्रयत्न करते थे कि जो कुछ भी सत्य तथा पवित्र है, इसे अपना लिया जाए अथवा ग्रहण कर लिया जाए तथा जो कुछ नकली अथवा मिथ्या विश्वासमूलक है, उसे त्याग दिया जाए। उनके विचारों का पश्चिम में अद्वैतवादियों तथा आस्तिकों ने स्वागत किया।

राजा को "नये युग का अग्रदूत" ठीक ही कहा गया है। मोनियर विलियम के अनुसार, "राजा महोदय सम्भवत: तुलनात्मक धर्म-शास्त्र के प्रथम सच्चे अन्वेषक थे।" सील (Seal) के अनुसार, "राजा विश्व मानवता के विचार के सन्देशवाहक थे। वे मानवतावादी, पवित्र तथा सरल थे तथा वे विश्व-इतिहास में विश्व-मानवता का दिग्दर्शन करते थे।" मिस कोलेट के कथनानुसार, "इतिहास में राम मोहनराय ऐसे जीवित पुल के समान हैं, जिस पर भारत अपने अपरिमित भूतकाल से अपने अपरिमित भविष्य की ओर चलता है। वे एक ऐसे वृत्त-खण्ड थे, जो प्राचीन जातिवाद तथा अर्वाचीन मानवता, अन्धविश्वास तथा विज्ञान, अनियन्त्रित सत्ता तथा प्रजातन्त्र, स्थिर रिवाज तथा अनुदार प्रगति, भयावने अनेक देवताओं में विश्वास तथा पवित्र, यद्यपि अस्पष्ट आस्तिकता के बीच की खाई को ढके हुए थे।" नन्दलाल चैटर्जी के अनुसार, "राजा राममोहनराय अविनष्ट भूतकाल तथा उदित होते हुए भविष्य, स्थिर अनुदारता तथा क्रान्तिकारी सुधार, अन्ध परम्परागत पृथकता तथा प्रगतिशील एकता के मध्य मानव सम्बन्ध स्थापित करने वाले थे। संक्षेप में वे प्रतिक्रिया तथा प्रगति के मध्य-बिन्दु थे।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार, राम मोहनराय ने भारत में आधुनिक युग का सूत्रपात किया। उन्हें भारतीय पुनर्जागरण का पिता तथा भारतीय राष्ट्रवाद का प्रवर्त्तक भी कहा जाता है। उनके सामाजिक और धार्मिक सब विचारों के पीछे अपने देशवासियों की राजनैतिक उन्नति करने की भावना मौजूद रहती थी। आपने लिखा था कि मुझे खेदपूर्वक यह कहना पड़ता है कि हिन्दुओं की वर्त्तमान पद्धति उनके राजनैतिक हितों की दृष्टि से ठीक नहीं है। जात-पात के भाव ने उन्हें राजनैतिक भावना से शून्य कर दिया है। सैंकड़ों-हजारों धार्मिक कृत्यों और शुद्धता के नियमों ने उन्हें कोई भी कठिन काम करने के अयोग्य बना दिया है। मैं समझता हूँ कि यह आवश्यक है कि उनके राजनैतिक लाभ और सामाजिक सुविधा के लिये उनके धर्म में कुछ परिवर्त्तन हो।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में माडरेट (Moderates) लोगों की तरह राजा राम मोहनराय भी यह मानते थे कि भारत में ब्रिटिश शासन ईश्वर की देन है। इससे देश के लोगों को लाभ भी होगा। वे देश की पूर्ण आजादी के पक्षपाती न थे। वे यह मानते थे कि भारतीयों को धीरे-धीरे प्रशासन में अधि-

काधिक भाग दिया जाना चाहिये। वे केवल उन राजनैतिक माँगों के पक्ष में थे जिनके लिये उनके देशवासी पहले भी योग्य थे। वे सबके लिये पूर्ण नागरिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे।

राजा राम मोहनराय का काम इस देश को भविष्य में राजनैतिक प्रगति के लिए तैयार करना था। सामाजिक तथा धार्मिक त्रुटियों को दूर करके उन्होंने भारतवासियों को राजनैतिक चेतना के लिये तैयार किया। वे इस क्षेत्र में निस्सन्देह अगुआ थे और उन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का पिता कहना उचित है।

ब्राह्म समाज (The Brahma Samaj)—राजा राम मोहनराय ने १८२८ में ब्राह्मसमाज की स्थापना की। यह उनकी १८१४ की आत्मीय सभा की पराकोटि थी। ब्राह्मसमाज के ट्रस्ट में, जो १८३० में बनाया गया था, राजा राममोहनराय ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वे भगवान् की एकनिष्ठ पूजा स्थापित करने की ही महत्त्वाकांक्षा रखते हैं। वह पूजा हार्दिक पूजा थी, हाथ की नहीं; आत्म-बलिदान की थी, आत्मा के अधिकार की नहीं। ब्राह्मसमाज ने एक ईश्वर की पूजा का तथा मनुष्य के भ्रातृत्व का समर्थन किया। इसने सब धर्मों तथा सब धर्मशास्त्रों के प्रति आदर-भावना की प्रतिष्ठा की। सब धर्मावलम्बियों को उसी मन्दिर में भ्रातृत्व की भावना से पूजा करने का निमन्त्रण दिया गया।

राजा राम मोहनराय की आकस्मिक मृत्यु के पश्चात् ब्राह्म समाज बिना किसी संगठन, विधान, सदस्यता, वचन-बद्धता अथवा प्रतिज्ञा के रह गया। वह युग शक्तिहीनता का था, किन्तु महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के प्रयत्नों से उसका पुनरुद्धार हुआ। १८४३ में ब्राह्म समाज में सम्मिलित होने के पाँच वर्षों में ही महर्षि ने संगठन में नया जीवन फूंका तथा नियमित प्रार्थना प्रणाली का आरम्भ किया जिसमें उपासना, स्तुति तथा प्रार्थना का समावेश था।

केशवचन्द्र सेन भी ब्राह्म समाज के प्रभावशाली सदस्य थे। तथापि उन्होंने ईसाई तथा वैष्णव शिक्षाओं पर अधिक बल दिया। इससे ब्राह्म समाज में फूट पड़ गई। ब्राह्म समाज के दो भाग—साधारण ब्राह्म समाज तथा आदि ब्राह्म समाज के नाम से प्रसिद्ध हुए। केशवचन्द्र ने नये धर्म का संगठन किया, जिसका नाम नव विधान समाज पड़ा तथा जिसमें उन्हें अवतार समझा जाता था। केशव के कार्य के सम्बन्ध में यह कहना पर्याप्त है कि उसने १८७२ के विवाह अधिनियम को स्वीकार कराने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। १८७८ का कूच-बिहार विवाह मुकद्दमा उनके जीवन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। उनकी पुत्री १४ वर्ष से कम आयु की थी तथा उसका विवाह कूच-बिहार के महाराज से किया गया, जो १६ वर्ष से छोटा था। जनता ने केशव के इस कार्य का विरोध किया तथा उसे ब्राह्म समाज से निकालने के लिए सार्वजनिक सभाएँ की गईं।

यह बात कहने की आवश्यकता नहीं कि ब्राह्म समाज पर पाश्चात्य विचारों के प्रति हिन्दुओं के दृष्टिकोण को परिवर्तित करने के लिए उत्तरदायित्व है। इसका प्रभाव जनता के जीवन पर अनेक प्रकार से पड़ा। अब भी भारत के विभिन्न भागों में ब्राह्म समाज के अनुयायी तथा संस्थाएँ हैं।

प्रार्थना-समाज (Prarthana Samaj)—१८४९ में, जिस वर्ष पंजाब को अंग्रेजी

राज्य में मिलाया गया, महाराष्ट्र में परमहंस सभा नामक सभा का प्रारम्भ हुआ। उसका प्रभाव सीमित था तथा वह शीघ्र ही टूट गई।

डा० आत्माराम पांडुरंग ने एक और संगठन का आरम्भ किया जिसका उद्देश्य विचार-युक्त प्रार्थना तथा समाज-सुधार था। सभा का नाम प्रार्थना-समाज था। इस सभा ने मज़दूर लोगों में रात्रि पाठशालाएँ तथा कन्याओं की शिक्षा के लिए महिला सभाएँ चलाईं। इसने पण्ढरपुर में एक अनाथाश्रम तथा एक मानसिक रोगों का अस्पताल चलाया। इसने एक दलित जाति संघ की स्थापना की, जिससे दलित जातियों की अवस्था को सुधारा जा सके। समाज में दो प्रमुख सदस्य सर आर० जी० भण्डारकर तथा जस्टिस रानाडे थे। रानाडे पर दक्षिण-शिक्षा-सभा का उत्तरदायित्व था। उन्होंने जनता की शिक्षा के लिए महान् प्रयत्न किए। गोखले ने भारत सेवक संघ तथा एन० एम० जोशी ने समाज-सुधार संघ की स्थापना की जिनका उद्देश्य सामाजिक तथ्यों को इकट्ठा करना तथा सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करना था जिससे समाज-सेवा के प्रश्न पर सार्वजनिक मत का निर्माण किया जाए तथा जनता के लिए जीवन तथा कार्य-सम्बन्धी अच्छी तथा प्रतिष्ठित अवस्थाएँ प्राप्त की जाएँ।

थियासोफिकल सोसाइटी (The Theosophical Society)—इस संस्था की स्थापना मैडम ब्लावत्स्की तथा कर्नल अल्काट ने १८७५ में संयुक्त राज्य में की। १८७९ में दोनों भारत में आए तथा उन्होंने सभा का मुख्य कार्यालय मद्रास के समीप अडयार में स्थापित किया। श्रीमती ऐनी बेसेंट के समय में थियासोफिकल सोसाइटी महत्त्वपूर्ण बन गई। वे १८८९ में संस्था में सम्मिलित हुईं तथा १८९३ में भारत आईं। भारत में आने पर उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन सभा के लिए अर्पित कर दिया। उन्होंने अपने उद्देश्य की निम्न शब्दों में व्याख्या की—"भारतीय कार्य में सब से पूर्व हिन्दुत्व, जोरोष्ट्रियन धर्म—इन प्राचीन धर्मों का तथा लंका और बर्मा में बुद्ध धर्म का पुनरुद्धार, पुष्टि तथा विकास करना है। इससे एक नया आत्म-सम्मान, अतीत में एक गर्व की भावना, भविष्य में विश्वास, तथा एक निश्चयात्मक परिणामस्वरूप देश-प्रेम से युक्त जीवन की महान् भावना तथा जातीय पुनर्निर्माण का आरम्भ आदि भावनाओं का संचार हुआ।" आपने बनारस में केन्द्रीय हिन्दू स्कूल की स्थापना की, जो आगे जाकर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ।

रामकृष्ण मिशन (Ramakrishna Mission)—यह मिशन १८९६ में श्री रामकृष्ण परमहंस की स्मृति में स्वामी विवेकानन्द के द्वारा आरम्भ किया गया। मिशन की सारे भारत में शाखाएँ हैं तथा इसने देश में बहुत-सा मानवतापूर्ण कार्य किया है। रामकृष्ण के शिष्य ब्राह्म समाज के सम्पूर्ण कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करते, किन्तु वे सब उदार विचारक हैं तथा वे कट्टर सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ नहीं। उसके शिष्य दो दलों में विभक्त हैं—प्रथम वे जो विवाह नहीं करते तथा अपना जीवन भगवान तथा मनुष्यों की सेवा में लगा देते हैं। द्वितीय दल के अनुयायी संसार में रहते हैं तथा अपनी आजीविका कमाते हैं, किन्तु वे अपने जीवनों को रामकृष्ण की शिक्षाओं के अनुसार नियमित करते हैं। वे शाब्दिक परिभाषा में समाज-सुधारक नहीं हैं, किन्तु वे कई उपायों से समाज के पुनर्निर्माण में सहायता दे रहे हैं। रामकृष्ण मिशन ने बहुसंख्यक स्कूल, अनाथालय तथा औषधालय खोल रखे हैं।

देव समाज (The Dev Samaj)—देव समाज की स्थापना १८८७ में सत्यानन्द अग्निहोत्री ने की। इस आन्दोलन का केन्द्र-स्थान लाहौर में था। इस संस्था ने जनता के लिए स्कूल खोले। इस संगठन का महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि यह संस्था निरीश्वरवादी है।

आर्य समाज (Arya Samaj)—स्वामी दयानन्द आर्य समाज के प्रवर्त्तक थे। गुजरात के एक संपन्न ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर उन्होंने सत्य की खोज में अपना घर छोड़ दिया। वे सारे भारत में घूमे और उन्होंने अनेक स्थानों पर अध्ययन किया। पर उन्हें अपनी असली शिक्षा स्वामी विरजानन्द के चरणों में मिली। अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने अपना शेष सारा जीवन वैदिक धर्म के प्रचार और हिन्दू धर्म के सुधार में लगाया। १८७५ में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की, जो अन्त में एक बहुत बड़ा धार्मिक सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी आन्दोलन बन गया। बाद में सारे देश में बहुत से स्कूल और कालेज खोले गए जो देश में प्रबल राष्ट्रवाद के केन्द्र बन गए। आर्य समाज ने देश को लाला लाजपतराय और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे महान् नेता दिए। ब्रिटिश सरकार डी० ए० वी० कालेजों और स्कूलों तथा गुरुकुलों को राजद्रोह के अड्डे तथा देशभक्तों और क्रान्तिकारियों के अड्डे समझती थी। आर्य समाज ने छुआछूत, स्त्रियों की शिक्षा, जात-पांत के भेद-भाव को कम करने, विधवा-विवाह के समर्थन और बाल-विवाह के विरोध के लिए बहुत काम किया। आर्य समाज ने हिन्दुओं को प्रचण्ड और आक्रामक बना दिया। शुद्धि आन्दोलन से बहुत से लोग हिन्दू बन गए।

स्वामी दयानन्द ने अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रवाद बढ़ाया। उन्होंने जनता में अपने भविष्य के प्रति भरोसा पैदा किया। हिन्दुओं में से कुरीतियों को दूर करके उन्होंने उन्हें आजादी की लड़ाई के लिए तैयार किया। इस प्रकार उन्होंने वही काम किया जो राजा राममोहन राय ने किया था। वे शायद पहले भारतीय थे जिन्होंने स्वदेशी और 'भारत भारतीयों के लिए' का संदेश सुनाया। उन्होंने भारत के प्राचीन गौरव का वर्णन किया और भारतवासियों से कहा कि वे अपने भूतकाल पर अभिमान करें और वैसा ही भविष्य बनाएँ। उनका शुरू किया हुआ आन्दोलन जनता का आन्दोलन बन गया और उससे उनके अनुयायियों में नया प्राण और नया जीवन पैदा हो गया। स्वामी दयानन्द निर्भय आदमी थे। वे सत्य में विश्वास करते थे। उनका आदर्श वाक्य था 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं। उन्होंने वही रचनात्मक कार्य किया जो बाद में महात्मा गाँधी ने किया।

आर्य समाज की स्थापना १८७५ में हुई। यद्यपि इसके संस्थापक की मृत्यु १८८३ में हो गई, इसके अनुयायियों ने संस्थापक के कार्य को जारी रखा। शीघ्र ही हिन्दू समाज के सुधार-कार्य में यह आगे आ गया। इसने शुद्धि का कार्य आरम्भ किया अर्थात् अन्य धर्मावलम्बियों को हिन्दू धर्म की शरण में लाया गया तथा अन्य धर्मों में गए हुए हिन्दुओं को पुनः शुद्ध करके हिन्दू धर्म में लाया गया। इसने बहुसंख्या में स्कूल तथा कालेज आरम्भ किए। देश के राष्ट्रीय जीवन में इसने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। महात्मा हंसराज, गुरुदत्त विद्यार्थी तथा लाला लाजपतराय आर्य समाज के महान् अनुयायी थे। महात्मा हंसराज डी० ए० वी० कालेज लाहौर के संस्थापक प्रिंसिपल थे। यह कालेज उत्तर भारत में सबसे बड़ी

शिक्षण-संस्थाओं में से एक था। डी० ए० वी० कालेज, लाहौर के अतिरिक्त डी० ए० वी० कालेज प्रबन्धकर्त्री सभा ने बहुत से स्कूल तथा कालेज आरम्भ किए। १८९२ में आर्य समाज दो दलों में बँट गया—डी० ए० वी० कालेज विभाग तथा गुरुकुल विभाग। महात्मा हंसराज पहले दल के नेता तथा स्वामी श्रद्धानन्द दूसरे दल के नेता थे। गुरुकुल पार्टी ने १९०२ में प्रसिद्ध गुरुकुल काँगड़ी को आरम्भ किया, जो विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो चुका है। इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं कि आर्य समाज ने शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है तथा अब भी ले रहा है। करोड़ों नवयुवकों तथा नवयुवतियों के जीवनों को ढालने का उत्तरदायित्व इस पर है।

इस्लाम (Islam)—बहुत देर तक मुसलमानों ने भारत में आए हुए अंग्रेजों के साहस से लाए गए परिवर्तनों के अनुसार अपने को ढालने से इनकार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे समाज में नए परिवर्तनों के द्वारा अप्रभावित रहे। सर सैय्यद अहमद (१८१७-१८९८) मुसलमानों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने में सफल हो सके। उसने मुसलमानों से उनके राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक तथा धार्मिक विचारों में परिवर्तन करने को कहा तथा पूर्व तथा पश्चिम में कामचलाऊ एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह इंग्लैंड गया तथा वहाँ से वापिस आने पर उसने १८७५ में अलीगढ़ में एम० ए० ओ० कालेज आरम्भ किया। यह सत्य है कि आरम्भ में उसका पर्याप्त विरोध हुआ, किन्तु अन्त में यह स्कूल १९२० में मुस्लिम विश्वविद्यालय में विकसित हो गया। सर सैय्यद ने यह भी प्रयत्न किया कि वह अंग्रेजी साहित्य तथा वैज्ञानिक ग्रंथों का उर्दू में अनुवाद तैयार करे। वह पर्दा उड़ाने तथा स्त्रियों की शिक्षा का पक्षपाती था। उसने "तहजिल-उल-अख्लाक" नामक पत्रिका के द्वारा अपने विचारों का प्रचार किया। यह बात सत्य है कि उसके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मुसलमानों में परिवर्तन हो गया। मुसलमानों ने अपनी जाति की सेवा करने के लिए अनेक संस्थाएँ अथवा अंजुमन बनाए। मुसलमानों के दृढ़ विचार वाले समाचार-पत्र अस्तित्व में आए। अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का जन्म, वृद्धि तथा विकास तथा अंग्रेज सरकार के द्वारा प्राप्त सहायता से मुसलमान दिन प्रति दिन शक्तिशाली होते गए।

यहाँ प्रसंगवश अहमदिया आन्दोलन के सम्बन्ध में भी उल्लेख कर देना उपयुक्त प्रतीत होता है। इस आन्दोलन को मिर्ज़ा गुलाम अहमद ने प्रारम्भ किया। मिर्ज़ा ने पंजाब के जिला गुरदासपुर में कादियाँ के स्थान पर जन्म लिया था। उसका दृष्टिकोण अनुदार तथा प्रतिक्रियावादी था। वह पर्दा हटाने का विरोधी था। उसने इस्लामी तलाक तथा बहुपत्नी विवाह के कानून का पोषण किया। १९०८ में मिर्जा की मृत्यु के पश्चात् इस आन्दोलन की व्यवस्था एक खलीफा के द्वारा की गई। तथापि १९१४ में फूट पड़ गई। एक दल लाहौरी दल के नाम से तथा दूसरा दल कादियानी दल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कादियानी दल का विचार था कि उनके आन्दोलन का संस्थापक एक अवतार था किन्तु लाहौरी दल का यह विचार था कि संस्थापक इस्लाम में केवल एक सुधारक थे।

सिख (The Sikhs)—सिखों पर भी देश में होने वाले वातावरण का प्रभाव पड़ा। उन्होंने मुख्य खालसा दीवान की स्थापना की तथा अमृतसर में खालसा कालेज

का प्रारम्भ किया। सिखों ने गुरुद्वारों का सुधार तथा भ्रष्ट महन्तों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए शिरोमणि गुरद्वारा प्रबन्धक कमेटी की स्थापना की। सिख अपने उद्देश्य में सफल हो गए। वे देश के भिन्न-भिन्न भागों में बहुत से स्कूल तथा कालेज प्रारम्भ करने में सफल रहे हैं।

पारसी (The Parsees)—१८५१ में पारसियों ने रहनुमाई मज़दयास्नान सभा अथवा धार्मिक सुधार संघ की स्थापना की। इसका उद्देश्य पारसियों की सामाजिक अवस्थाओं का पुनरुद्धार तथा जोरोस्ट्रियन धर्म को उसकी प्राचीन पवित्रता पुनः दिलवाना था। के० आर० कामा ने पारसियों में शिक्षा के प्रसार के सम्बन्ध में उल्लेखनीय कार्य किया। बी० एम० मालाबारी ने भी अपनी जाति की बहुत सेवा की। १९१० में एक जोरोस्ट्रियन सम्मेलन हुआ।

ईसाइयत (Christianity)—१९ वीं शताब्दी में ईसाइयों ने शिक्षा के प्रसार तथा भारतीयों को ईसाइयत में परिवर्तित करने का बहुत प्रयत्न किया। १८१३ के चार्टर अधिनियम में यह अंकित था कि इस देश का यह कर्त्तव्य है कि भारत में उपयोगी धर्म तथा आचारिक सुधार की प्राप्ति को प्रोत्साहन दिया जाए तथा भारत जाने तथा इस परोपकार के कार्य को पूर्ण करने के लिए वहाँ रहने के इच्छुक लोगों को कानून के द्वारा सुविधाएँ प्रदान की जाएँ। परिणामस्वरूप प्रेजीडैन्सियों में बिशप नियुक्त किए गए। बहुसंख्या में उच्चवर्ण के शिक्षित हिन्दुओं को ईसाई धर्म में प्रविष्ट किया गया। केरे, डफ्फ, ग्राण्ट, मार्शमैन तथा डा० फ़ोरमेन जैसे मिशनरियों ने लोगों को ईसाई बनाने में बहुत कार्य किया। यद्यपि उनका मुख्य कार्य भारतीयों को ईसाई बनाना था, किन्तु उन्होंने देश में शिक्षा-प्रसार के लिए उल्लेखनीय कार्य किया। ईसाइयत का एक और प्रभाव यह था कि भारतीय धर्मों ने अपने आपको इस प्रकार सुधारा जिससे वे अपने आपको ईसाइयत के आक्रमण से बचा सकें। उच्च वर्ण के हिन्दुओं ने भी दलित जातियों के प्रति अपने व्यवहार में परिवर्त्तन कर दिया।

सामाजिक विकास—सती (Social Developmenti : Sati)—१९वीं शताब्दी का सब से महत्त्वपूर्ण सामाजिक सुधार सती-प्रथा अथवा हिन्दू विधवाओं को पतियों की चिता पर जलाये जाने की प्रथा का बन्द किया जाना था। सती प्रथा एक अत्यन्त प्राचीन प्रथा थी। यद्यपि यह सारे भारत में समान रूप से प्रचलित न हो सकी, तथापि बंगाल, राजपूताना तथा दक्षिण भारत की विजयनगर रियासत में यह प्रथा मुख्य रूप से प्रचलित थी। सती प्रथा सैद्धान्तिक रूप में एक धार्मिक कर्त्तव्य नहीं था, किन्तु केवल एक महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय कार्य समझा जाता था, जिसका उद्देश्य आगामी जीवन में सुफल प्राप्त करना था। ऐसा विश्वास था, कि एक विधवा चिता पर जलने से अपने पूर्वजों को पवित्र कर देती है, अपने पति के पापों को दूर कर देती है तथा आने वाले युगों के लिए अपने लिए शान्ति प्राप्त करती है। ऐसा विश्वास कियां जाता था कि वह मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में रहती है।

महत्त्वपूर्ण प्रमाणों अथवा दृष्टान्तों की पूर्ण शक्ति तथा कल्पित कहानियों के आधार पर सती को एक उच्च चरित्र तथा वर्ग वाली स्त्री समझा जाता था, जो अपने पवित्र कार्य से परिवर्तित होकर प्रायः एक कर्त्तव्य मात्र के रूप में विद्यमान थी। विधवा

पर प्रबल सामाजिक दबाव डाला जाता था कि वह अपने पति के साथ अपने आपको भी जला ले। हिन्दुओं में विधवाओं की स्थिति भी एक ऐसा तत्त्व था, जिसके द्वारा इस रीति को प्रोत्साहन तथा बल प्राप्त हुआ। हिन्दू विधवा का जीवन दुःख से भरा हुआ था। उससे यह आशा की जाती थी कि वह दिन में केवल एक बार खाना खाए। उसे बिस्तर पर सोने की आज्ञा नहीं थी। उसे अच्छे वस्त्र पहनने की भी अनुमति नहीं थी। उसे आत्म-त्याग का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। कई स्थानों पर उसका सिर मुँडवा दिया जाता था। ऐब डुबो के कथनानुसार, "विधवा को सदा के लिए वैधव्य का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उसे समाज से अलग कर दिया जाता था। उसे अपमानपूर्ण वचनों से सम्बोधित किया जाता था। उसे किसी प्रकार की शान्ति प्राप्त नहीं होती थी, सिवाए इसके कि वह अपने वैवाहिक जीवन की कठिनाइयों का स्मरण कर सके।"

यह कहना कठिन है कि सती संस्कार कहाँ तक स्वेच्छा से किया जाता था। यह सत्य है कि ऐसे बहुत से दृष्टान्त मिलते हैं जहाँ स्त्रियों ने अपने पारिवारिक स्वाभिमान के कारण चिताओं पर प्रसन्नतापूर्वक स्वयं अपना बलिदान किया। राजपूताना का इतिहास ऐसे दृष्टान्तों से भरा हुआ है। तथापि अधिकाँश दृष्टान्तों में विधवाओं के लिए व्यवहार रूप में कोई अन्य विकल्प नहीं था। ब्राह्मणों तथा सम्बन्धियों के द्वारा उन्हें आत्म-बलिदान के लिए बाध्य किया जाता था। ऐसी स्त्रियाँ भी थीं, जो सती होना चाहती थीं, किन्तु जो ऐसा करने में अपने आपको अत्यन्त कमजोर समझती थीं। ऐसी अवस्थाओं में, एक बार एक स्त्री के सती होने की अपनी इच्छा प्रकट करने पर उसे अपनी इच्छा को वापिस लेने की अनुमति नहीं दी जाती थी। सती के वास्तविक रूप को दृष्टान्तों से समझना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

एवर्ट के पुलिस सुपरिन्टेंडेंट ने निम्नलिखित एक रिपोर्ट लिखी—"सामान्य रूप से ऐसी कल्पना की जाती है कि सती संस्कार स्वेच्छापूर्वक तथा विधवा की स्वीकृति से होता है तथा वह बार-बार जलने की अपनी इच्छा के लिए अनुरोध करती है। वह अपने सम्बन्धियों के तर्कों तथा प्रार्थनाओं का भी ध्यान नहीं करती। किन्तु ऐसा विचार करने के लिए बहुत से कारण हैं कि सती होने की स्वेच्छापूर्ण घटना बहुत कम घटित होती है। बहुत कम संख्या में विधवाएँ आत्म-बलिदान के लिए प्रस्तुत होती हैं, जब तक कि उन पर ऐसा करने के लिए बल का प्रयोग नहीं किया जाता अथवा उन्हें ऐसी प्रेरणा नहीं की जाती। ये सब उपाय हिन्दू-महिलाओं के बहुमत की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। एक विधवा, जो अपने पति की चिता में भाग लेने के प्रथम इशारे से ही उत्पन्न स्वाभाविक भय से भयभीत हो जाती, वह धीरे-धीरे क्रमशः अन्त में अनिच्छापूर्वक अपनी स्वीकृति देने के लिए विवश हो जाती थी, क्योंकि उक्त घटना के दुःख से व्याकुल होकर तथा बिना किसी सखी के, जो उसे परामर्श दे सके अथवा उसकी रक्षा कर सके, उसमें इतनी शक्ति नहीं रह जाती थी कि वह तर्क अथवा बल से अपने आस-पास के भूखे ब्राह्मणों तथा ऐसी इच्छा वाले सम्बन्धियों का विरोध कर सके।......इस भ्रांतावस्था में कुछ घण्टे शीघ्र ही बीत जाते हैं तथा विधवा जलकर भस्म हो जाती है, इससे पूर्व कि वह कुछ समय प्राप्त करके इस सम्बन्ध में कुछ सोच सके। भले ही वह अपने पति के प्रति पूर्ण उदासीनता की भावना तथा उत्कृष्ट तर्क के कारण

अपमे निर्णय पर अटल रहते हुए अपने सम्बन्ध में लोगों के तर्कों का मुकावला कर सके, पर इससे उसका बहुत कम लाभ होगा क्योंकि लोग अपने प्रदर्शन से निराश नहीं होंगे तथा एक गाँव की सारी जनसंख्या उसे नदी तट की ओर जवरदस्ती खींचकर ले जाने में तथा उसे चिता में डालने के लिए कटिबद्ध हो जायगी। इन परिस्थितियों में दस विधवाओं में से नौ को जला दिया जाता है।"

ऐब डुबो ने एक सती का निम्नलिखित नाटकीय वर्णन किया है—१७९४ में तंजौर जिले के पुट्टपेटाह गाँव में वैश्य जाति के एक प्रभावशाली व्यक्ति की मृत्यु हुई।" उसकी पत्नी ने, जो लगभग तीस वर्ष की आयु की होगी, अपने परलोकगत पति के साथ चिता में साथ जलने की इच्छा घोषित की। यह समाचार दूर-दूर तक फैल गया तथा असंख्य लोग इस दृश्य को देखने के लिए इकट्ठे हो गए। जव संस्कार की सव तैयारियाँ पूर्ण हो गई तथा विधवा ने सुन्दर तथा मूल्यवान वस्त्रों तथा आभूषणों से अपने आपको विभूषित कर लिया, लोग मृतक शरीर को उठाने के लिए आगे बढ़े, जो एक पवित्र स्थान में रखा हुआ था। मृतक शरीर के पीछे विधवा की विभूषित पालकी थी। श्मशान घाट तक के मार्ग में उसे दर्शकों ने घेर रखा था जो उसके प्रति अपने हाथों को स्मृति में उठाते थे तथा प्रसन्नता के नारों से आकाश को गुंजा रहे थे। उसे लोग इस प्रकार से देख रहे थे, मानो वह इन्द्र के स्वर्ग लोग में पहुँच चुकी हो तथा जनता उसकी प्रसन्नता से स्पर्धा कर रही थी।

"ज्यों-ज्यों अर्थी का जलूस धीरे-धीरे आगे वढ़ा, दर्शक-गण, विशेष रूप से महिलाएँ उसे उसके भाग्य पर बधाई देने के लिए उसके समीप आने लगीं तथा यह आशा करने लगीं कि उक्त उल्लेखनीय भाग्य तथा ममता के कारण, जो उसमें पूर्व ज्ञान का गुण भर देगा, वह उन्हें भावी जीवन की प्रसन्नतापूर्ण वस्तुओं के सम्बन्ध में पूर्व सूचना देगी। उसने अपनी कृपालु तथा प्रियदर्शन आकृति से एक स्त्री के लिए घोषणा की कि वह बड़े भाग्य वाली होगी। एक अन्य स्त्री को उसने कहा कि वह बहुत से ऐसे बच्चों की माता होगी जो संसार में सुखी तथा सम्पन्न होंगे। तीसरी के लिए उसने वताया कि वह अपने पति के साथ सुखपूर्वक अनेक वर्ष पर्यन्त दीर्घ जीवन व्यतीत करेगी तथा उसका पति उसे बहुत प्यार करेगा तथा उसका पालनपोषण करेगा। उसने चौथी को यह बताया कि उसके परिवार को बहुत आदर तथा गौरव प्राप्त होगा···इत्यादि।

"उस सारे जलूस में, जो बहुत लम्बा था, विधवा का व्यवहार शान्त रहा। उसका रूप गम्भीर, शान्त तथा मुस्कराहट से भरा हुआ था, किन्तु ज्योंही वह श्मशान घाट पहुँची, जहाँ उसे अत्यन्त भयावने प्रकार से अपने प्राणों का बलिदान करना था, तब यह देखा गया कि उसकी दृढ़ता एकाएक जाती रही।···उसने चिता पर टकटकी लगा कर भयपूर्वक देखना आरम्भ कर दिया। उसका मुख अत्यन्त पीला हो गया। उसके अंग अकड़ गए तथा उनमें कँपकँपी होने लगी। ब्राह्मण जो संस्कार कर रहे थे तथा उसके निकट सम्बन्धी शीघ्र ही उसकी ओर दौड़े तथा उन्होंने उसे धर्य स्थिर रखने के लिए प्रोत्साहित किया तथा उसकी शिथिल होती हुई भावना को पुनः स्थिर करने की प्रेरणा की, किन्तु इस सबका कुछ प्रभाव न हुआ। वह भाग्यहीन स्त्री, घबराई हुई तथा विचलित थी तथा

उसने उन लोगों के सब उपदेशों के प्रति अपने कान बहरे कर लिये तथा गम्भीर शान्ति धारण किए रही।

"तब उसे विवश किया गया कि वह अपनी पालकी छोड़ दे। क्योंकि वह कठिनता से चल सकती थी, इसलिए उसके सम्बन्धियों ने उसे चिता के समीप सरोवर तक जाने के लिए धकेला। उसने अपनी सब वस्तुओं तथा आभूषणों के साथ पानी में डुबकी लगाई तथा तत्पश्चात् उसे उस चिता के पास ले जाया गया, जिस पर उसके पति के मृत शरीर को रखा गया था। चिता को सब ओर से ब्राह्मणों ने घेर रखा था। प्रत्येक के हाथ में एक जलती हुई मशाल थी तथा दूसरे हाथ में घी का कटोरा। उसके सम्बन्धी तथा मित्र, जिनमें से कुछ बन्दूकों, तलवारों तथा अन्य शस्त्रों से सुसज्जित थे, उसके समीप ही दो पंक्तियों में उसे घेर कर खड़े थे तथा उत्सुकतापूर्वक इस भयावनी दुःखान्त घटना का अन्त देखने की प्रतीक्षा में थे। उन्होंने मुझे बताया कि यह सशस्त्र सेना इसलिए वहाँ थी कि यदि उसे मृत्यु का भय भागने के लिए प्रेरित करे, तो वे न केवल उसे ऐसा करने से रोकें, अपितु यदि दया तथा सहानुभूति के कारण कोई व्यक्ति उसे यह पवित्र कार्य करने से रोके, तो वे लोग उसे भी भय दिखावें। बेचारी विधवा के सब हीरे जवाहरात शीघ्र ही उतार लिये गये तथा उसे मृतक के समान ही चिता पर खींचकर ले जाया गया। वहाँ रीति तथा परम्परा के अनुसार उसे तीन बार चिता की परिक्रमा कराई गई...दूसरी ही परिक्रमा में उसकी सारी शक्ति जाती रही तथा वह बेहोश हो गयी...तब अन्त में उस संज्ञाहीन तथा बेहोश स्त्री को अपने पति के मृत शरीर पर डाल दिया गया। उस क्षण नारों के शोर से आकाश गुंजायमान हो गया। ब्राह्मणों ने अपने घी आदि के बरतन सूखी लकड़ी पर खाली कर दिये तथा जलती हुई मशालों से उसे आग लगा दी तथा आँख की झपक में ही सारी चिता प्रज्वलित हो गई।"

कैप्टन स्लीमैन ने अपने भ्रमणों तथा संस्मरणों में एक और वर्णन किया है, "स्नान करने के पश्चात् उसने एक पान माँगा तथा उसे खा लिया। तब वह खड़ी हुई तथा अपने सबसे बड़े पुत्र के कन्धे पर एक बाहु तथा भाँजे पर दूसरा बाहु रखकर आग के समीप पहुँची। मैंने सब ओर सन्तरी खड़े कर दिए थे तथा कोई भी व्यक्ति चारों ओर पाँच पगों तक उसके समीप नहीं जा सकता था। ज्योंही वह खड़ी हुई, चिता को आग लगा दी गई तथा क्षण भर में ही चिता भड़क उठी। दूरी लगभग १५० गज़ की थी। वह शान्त तथा मुस्कान भरे मुख से आई तथा उसने अपनी आँखें ऊपर उठाकर कहा, "मेरे प्रियतम, इन्होंने मुझे आपसे पाँच दिन तक क्यों पृथक् कर रखा है?" सन्तरियों तक उसके समर्थक आकर रुक गए। उसने एक बार गढ़े का चक्कर लगाया, वह थोड़ी देर रुकी तथा कुछ प्रार्थना करते हुए उसने अग्नि में कुछ फूल फेंके। तब वह जान बूझकर ऊपर आई तथा चिता के किनारे के समीप पहुँची, ज्वाला के केन्द्र में प्रविष्ट हुई, बैठी तथा इस प्रकार पीछे की ओर झुकी जैसे कोई आराम कुर्सी पर बैठता हो। बिना किसी चीख अथवा पीड़ा के एक भी चिह्न का प्रदर्शन किए वह अग्नि की भेंट हो गई।"

चाहे सती होना ऐच्छिक था अथवा आवश्यक, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह एक भयानक प्रथा थी। ब्रिटिश शासन से पूर्व इसे बन्द करने के प्रयत्न किए गए थे। पुर्तगीज़ वायसराय अल्बुकर्क ने गोआ में सती प्रथा को १५१० में बन्द कर

दिया। कुछ मुगल सम्राटों ने भी इस प्रथा के विरुद्ध आज्ञाएँ प्रकाशित कीं। अन्तिम पेशवा बाजीराव ने सती प्रथा को निरुत्साहित किया। डच, फ्रांसीसी तथा डेन्मार्क वासी भी इसके विरुद्ध थे। तथापि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की समस्या गम्भीर थी। कम्पनी ने घोषणा की थी कि वह हिन्दुओं तथा मुसलमानों के विश्वासों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करेगी। वारेन हेस्टिंग्ज ने सती के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया। कार्नवालिस के समय में एक अंग्रेज न्यायाधीश ने अपनी इच्छा से सती पर रोक लगा दी। जब उसने सरकार के पास आज्ञा के लिए यह सामान्य मामला भेजा तब उसे कहा गया कि उसे भविष्य में अपने आपको इससे अलग रखना चाहिए। लार्ड वैल्ज़ली ने इस प्रश्न को निज़ामत अदालत के पास भेजा। किन्तु जजों ने सती प्रथा को मिटाने के लिए परामर्श नहीं दिया। तथापि उन्होंने हिन्दू कानून के द्वारा लगाई गई सीमाओं को कठोरता से पालन करने की सिफारिश की। लार्ड मिण्टो ने इस समस्या का हल नहीं किया। १८१२ में एक अन्य मजिस्ट्रेट ने इस मामले की ओर अधिकारियों का ध्यान आकर्षित किया। उसे कहा गया कि वह निजामत अदालत के न्यायाधीशों के विचार का अनुसरण करे। इस बात से स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण हो गई, जिसका वर्णन इन शब्दों में किया गया है—"१८१३ से पूर्व पुलिस को किसी प्रकार के हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था तथा विधवाओं का बलिदान कानूनी अथवा गैर-कानूनी रूप से होता था, किन्तु उस समय हिन्दुओं को मालूम था कि सरकार इस प्रथा को भययुक्त मानती है तथा उस पर रोक लगाने के स्थान पर वह इस प्रथा को निरुत्साहित करने तथा क्रमशः हटाने के लिए प्रयत्नशील रहेगी। अब स्थिति बदल गई है। पुलिस अफसरों को हस्तक्षेप करने की आज्ञा है। इस आज्ञा का उद्देश्य यह निश्चय करना है कि प्रथा शास्त्रों के नियमानुसार हो रही है तथा ऐसी स्थिति में उसे पूर्ण किए जाने की अनुमति दी जाती है। इस प्रकार विधवाओं के जलाए जाने में सरकार के द्वारा आज्ञा की स्वीकृति प्राप्त है तथा यह कठिनता से आश्चर्य का विषय हो सकता है कि ऐसे बलिदानों की संख्या दुगुनी हो जाए, जब कि शासक वर्ग की स्वीकृति शास्त्रों की सिफारिश के साथ-साथ प्राप्त हो जाती है।"

बहुत से अफसरों ने सती प्रथा को बन्द करने के लिए प्रयत्न किया तथा प्रेरणा भी की, किन्तु सरकार को इस कार्य में इसलिए संकोच हुआ कि लोगों के विरोध का डर था। राजा राममोहन राय जैसे लोग इस पक्ष में थे कि जनमत को सती प्रथा के विरुद्ध शिक्षित किया जाए। तैयार किए गए प्रार्थना-पत्र में उन्होंने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए—"ऐसी बहुत सी घटनाएँ हुई हैं, जब कि स्त्रियों को उनके उत्तराधिकारियों ने प्रेरणा की कि वे अपने पतियों की चिता में अपने आपको जला दें, क्योंकि उन लोगों का स्वार्थ उनके नाश में था। कुछ अन्य स्त्रियों के दृष्टान्त देखने और सुनने में आए हैं, जिन्हें अपने मृत पतियों की चिता पर जबरदस्ती जलाए जाने के लिए विवश किया गया, तथा जो दुःख के पहले क्षणों में उत्तेजना के कारण भयभीत हो गईं तथा जिन्हें रस्सियों और हरे बाँसों से बाँधे रखा गया, जब तक कि वे अग्नि-ज्वाला में जल न गईं। इसी प्रकार कुछ विधवाओं को अग्नि-ज्वालाओं से भागते हुए उनके सम्बन्धियों ने पुनः पकड़कर उन्हें मृत्यु की शरण में अर्पित किया।"

१८२३ में ब्रिटेन की सरकार ने भारत सरकार से नये सिरे से इस समस्या को

सुलझाने के लिए कहा, किन्तु कुछ समय तक कुछ भी न हुआ। जब लार्ड विलियम बैंटिक गवर्नर-जनरल बने, तब उन्होंने अपने अफसरों तथा देश के सार्वजनिक नेताओं से परामर्श किया तथा अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँचे कि इस बुराई को अवश्य बन्द कर देना चाहिए। ४ दिसम्बर, १८२९ को बंगाल में सती प्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। ऐसा घोषित किया गया कि जो व्यक्ति स्वेच्छा से सती होने वाली स्त्री की भी सहायता करेंगे, वे भी दण्डयोग्य मनुष्य वध-सम्बन्धी अपराध के अपराधी होंगे। इसी प्रकार के विधान मद्रास तथा बम्बई प्रेजीडैन्सियों में भी स्वीकृत हुए।

विद्रोह की आशंका व्यर्थ प्रमाणित हुई। गवर्नर-जनरल के विरोधियों में इतना साहस न था कि वे चुनौती को स्वीकार कर सकते। बहुत से बंगाली लोगों ने प्रिवी कौंसिल को प्रार्थना-पत्र भेजा कि सरकार उनके अधिकारों तथा स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप कर रही है, किन्तु प्रार्थना-पत्र अस्वीकार कर दिया गया तथा विषय समाप्त हो गया। कुछ लेखकों ने ब्रिटिश सरकार की निन्दा की कि उन्होंने पहले ही इस सम्बन्ध में कोई कार्रवाई क्यों न की। तथापि यह बात न भूलनी चाहिए कि सरकार को नाजुक मामलों में सावधानतापूर्ण नीति का अवश्य अनुसरण करना चाहिए। जब सती प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार होने में सफलता प्राप्त न हुई, तभी इस प्रकार की प्रतिरोधी कार्रवाई करने का निश्चय किया गया। इसके अतिरिक्त वैन्टिङ्क के समय से पूर्व स्वयं अंग्रेजी कम्पनी की स्थिति इस देश में बहुत दृढ़ न थी।

ब्रिटिश सरकार ब्रिटिश भारत में सती प्रथा को हटाने से ही सन्तुष्ट न हुई। भारतीय रियासतों में भी सती प्रथा के बन्द करने के प्रयत्न किए गए तथा वे अन्त में सफल हुए। कुछ मामलों में इस प्रथा को बन्द करने के लिए केवल दबाव ही पर्याप्त समझा गया। कुछ मामलों में यह प्रथा तब बन्द हुई, जब कोई रियासत कुछ अस्थायी समय के लिए ब्रिटिश नियन्त्रण के आधीन आई, जब कि उसका राजा अल्प-वयस्क होता था। कुछ मामलों में जब कोई राजा अंग्रेजी कम्पनी के साथ किसी सन्धि में सम्मिलित होता था, तो सती प्रथा को हटाना भी इसके लिए पूर्ववर्ती शर्त बन जाती थी। राजपूताना की रियासतों में भी यह प्रथा बन्द हो गई। एक-एक करके राजपूताना की रियासतों ने ब्रिटिश दबाव को स्वीकार कर लिया। एक भारतीय नरेश की मृत्यु पर अन्तिम सती की घटना १८६१ में हुई, किन्तु १८५० तक संघर्ष जीत लिया गया था तथा १८६१ में सती प्रथा केवल अन्तिम साँसें ले रही थी।

बाल-हत्या का उन्मूलन (Abolition of Infanticide)—बाल-हत्या की प्रथा राजपूतों में विशेष रूप से उल्लेखनीय थी। वे लोग अविवाहित कन्या को अपने परिवार के लिए अपमानजनक समझते थे तथा वे अपनी कन्याओं के लिए उपयुक्त पतियों को ढूंढना भी कठिन पाते थे। टाड के कथनानुसार, "यद्यपि धर्म इस अत्याचार का अधिकार प्रदान नहीं करता, तथापि राजपूतों में विवाह के लिए जो नियम हैं, वे दृढ़तापूर्वक बाल-हत्या को प्रोत्साहन देते हैं। न केवल एक ही जाति के परिवार में अन्तर्विवाह पर पावन्दी है अपितु उसी कवीले में भी इस प्रकार का बन्धन है।" यह कठिनाई और भी इस बात से बढ़ गई कि राजपूत परम्परा के अनुसार कन्या के विवाह के अवसर पर अत्यधिक रुपये की माँग की जाती थी। मुखिया तथा जमींदार लोगों को निरन्तर पुरोहित तथा भाट लोग

स्मरण कराते रहते थे कि उनके पूर्वज विवाह-भोजों पर कितनी उदारता तथा दानशीलता का परिचय देते थे। कन्या का जन्म उत्तरदायित्व समझा जाता था तथा इस प्रकार शिशु-हत्या की प्रथा प्रचलित हो गई।

१७९५ में बंगाल के XXI कानून के आधीन शिशु-हत्या को हत्या घोषित कर दिया गया। इतना होने पर भी यह प्रथा जारी रही। कन्याओं को अफीम देकर अथवा गला घोंटकर जन्म लेते ही मार दिया जाता था। कभी-कभी माता को बच्चे को भूखा मारने पर विवश किया जाता था।

कन्या-वध की कुप्रथा का अन्त प्रचार तथा दृढ़ कार्रवाई के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने किया। अपराधियों को चेतावनी दी गई कि यदि वे अपराध करेंगे, तो उनके विरुद्ध कार्रवाई की जाएगी।

राजा राम मोहनराय ने बहुपत्नी विवाह तथा कुलीनता की बुराइयों के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठायी। केशवचन्द्र सेन के प्रयत्नों से १८७२ का देशी विवाह अधिनियम स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम के द्वारा उन लोगों के लिए बालविवाह की प्रथा बन्द कर दी गई, बहुपत्नी विवाह को अपराध घोषित किया गया, विधवा विवाहों तथा अन्तर्जातीय विवाहों की स्वीकृति दी गई, जो उस अधिनियम के आधीन ऐसा करने के लिए प्रस्तुत थे। आर्य समाज ने भी इस सुधार के कार्य में प्रबल आन्दोलन चलाया। एम० बी० मालाबारी ने, जो पारसी सुधारक थे, बाल-विवाह के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। १८९१ में प्रसिद्ध आयु की स्वीकृति वाला अधिनियम स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम के द्वारा आयु की अवधि १० वर्ष से १२ वर्ष कर दी गई। आलोचकों का कहना है कि यह अधिनियम "१८५८ के सम्राज्ञी के उस घोषणा-पत्र का उल्लंघन था जिसके द्वारा उसने अपनी सरकार की ओर से यह प्रतिज्ञा की थी कि भारतीय प्रजाजनों के धर्मों में हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन किया जायगा।" १९०१ में बड़ौदा सरकार ने बाल-विवाह विरोधी अधिनियम स्वीकार किया। इस अधिनियम के द्वारा विवाह के लिए लड़कियों की कम-से-कम आयु १२ वर्ष तथा लड़कों की कम-से-कम आयु की अवधि १६ निश्चित की गई। १९३० में प्रसिद्ध शारदा अधिनियम स्वीकृत हुआ। इस अधिनियम का उद्देश्य ऐसे विवाहों को निरुत्साहित करना था, जो १८ वर्ष से कम के लड़कों तथा १४ वर्ष से कम की लड़कियों में हैं। यह अधिनियम हिन्दुओं के विरोध तथा सरकार के उदासीन होने के कारण एक मृत-प के रूप में विद्यमान रहा है।

विधवा-विवाह—हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में एक आन्दोलन प्रार किया गया। इस आन्दोलन को सती प्रथा के विरोध तथा समर्थन में हुए युग में बल प्र हुआ। बाबू श्यामचन्द्रदास की पुत्री जल गई तथा उन्होंने भारत के पण्डितों से सार्वज रूप से परिपत्र भेजकर यह प्रश्न पूछा—"क्या एक शूद्र की विधवा कन्या का, जिसने अ पति को नहीं जाना तथा जो अपने पति के मृत शरीर की चिता के साथ सती होने का त्वपूर्ण कार्य न कर सके, अथवा वैधव्य के जीवन की कठिनाइयों को सहन न क, शास्त्रों की दृष्टि में पुनर्विवाह करना विधिवत् है।" पण्डितों ने परस्पर इकट्ठे मिल र्चा की तथा उन्होंने अनुमति का एक प्रमाण-पत्र दे दिया। तथापि यह

स्पष्ट कर दिया गया कि ऐसी अनुमति केवल शूद्रों को प्राप्त हो सकती है, उच्च वर्ण के हिन्दुओं को नहीं।

महान् संस्कृत विद्वान् पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए प्रबल आन्दोलन किया। उन्होंने शास्त्रों से उद्धरण यह प्रमाणित करने के लिए उद्धृत किए कि हिन्दू शास्त्रों के द्वारा विधवा पुनर्विवाह निषिद्ध नहीं है। बहु-संख्या में हस्ताक्षर इकट्ठे किए गए तथा सरकार को प्रार्थना-पत्र भेजे गए। अन्त में १८५६ में एक कानून स्वीकृत किया गया, जिसके द्वारा विधवाओं के पुनर्विवाह को वैध कर दिया गया। यह घोषित कर दिया कि पुनर्विवाहित विधवाओं की सन्तानें वैध मानी जाएँगी। कानून के स्वीकृत हो जाने के पश्चात् बहु-संख्या में विधवाओं के पुनर्विवाह हुए। ब्राह्म समाज ने भी विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में समर्थन किया। आर्य समाज भी इस सम्बन्ध में पिछड़ा न रहा। महाराष्ट्र में पं० विष्णुशास्त्री ने हिन्दू विधवाओं के हित के लिए बहुत-सा कार्य किया। रानाडे ने भी इस कार्य में सहायता प्रदान की। सर आर० जी० भण्डारकर, आगरकर तथा डी० के० कर्वे ने इस सम्बन्ध में बहुत-सा कार्य किया है। कर्वे ने स्वयं १८९९ में एक ब्राह्मणी विधवा के साथ पुनर्विवाह किया। उन्होंने पूना में एक विधवा-आश्रम का आरम्भ किया। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन ने भी इस सम्बन्ध में बहुत-सा कार्य किया है।

महिलाओं की शिक्षा के लिए मैडिकल कालेज भी स्थापित किए गए हैं। लेडी डफ़रिन निधि के द्वारा महिलाओं को डाक्टर, हस्पताल-सहायक, नर्स तथा दाइयों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। भारतीय महिलाओं को मतदान का अधिकार भी प्राप्त हो चुका है। उनका कार्य काँग्रेस तथा महात्मा गाँधी और पं० नेहरू के समान नेताओं की मनोवृत्ति के कारण आसान हो गया है।

ईसाई मिशनरियों के आक्रमण से भारतीयों की रक्षा करने के विचार से आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा अन्य संस्थाओं ने दलित जातियों के सुधार के लिए बहुत कार्य किया। १९०६ में भारत में दलित जाति मिशन संस्था की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य दलित जातियों——जैसे महार, चम्बार, परहाई, नामशूद्र, ढेढ़——तथा अछू समझे जाने वाली अन्य जातियों की सामाजिक तथा आध्यात्मिक दशा को शिक्षा वृद्धि, नौकरी देने, उनकी धार्मिक अयोग्यता को दूर करने, उदार धर्म के सिद्धान्तों का उन प्रचार करने, निजी चरित्र तथा अच्छे नागरिक बनाने के द्वारा उन्नत करना था। महात्मा गाँधी ने अपने समय का बहुत-सा भाग हरिजनों की दशा सुधारने में व्य किया। उनका पत्र "हरिजन" इसी कार्य के लिए प्रवृत्त था। भारत के नये संविध के द्वारा छूतछात को अपराध मान लिया है। सरकार भी विशेष छात्रवृत्तियों तथ न्य सुविधाओं के द्वारा पिछड़ी जातियों के लिए बहुत कुछ कर रही है।

Questions for Revision

1. Indicate the chief features of the great religious ments in India in the 19th century and add an estimate of th fluence on society and politics.

2. Trace the progress of social reforms upto 1935 through government and popular agency.

3. Discuss the principal measures of social and educational reforms introduced by the British in India during the nineteenth century.

4. The second half of the 19th century was marked by a strong wave of reforming activities in religion and society. Elucidate this statement.

5. Describe the contribution of any one of the following to the social and cultural changes in contemporary India: The Arya Samaj, the Christian Missions, the Ramakrishna-Vivekanand Mission.

6. Give an account of the life and work of Raja Ram Mohan Roy. It has been said that with him began the phase which has the closest affinities with the thought of West. Comment.

7. Examine the claims of Raja Ram Mohan Roy to be regarded as the father of modern India.

अध्याय ३०

आँग्ल-अफ़ग़ान सम्बन्ध

(Anglo-Afghan Relations)

अफ़ग़ानों के साथ भारत सरकार के सम्बन्धों के विषय में, हम अहमदशाह अब्दाली के साथ वर्णन से आरम्भ करते हैं। उसका पुत्र तैमूर मिर्ज़ा एक दुर्बल शासक था। १७९३ में उसकी मृत्यु होने पर उसके पश्चात् ज़मानशाह गद्दी पर बैठा। पाँच वर्षों के समय में उसने अपनी स्थिति को संभाल लिया तथा शक्ति के शिखर पर पहुँचने में समर्थ हो गया। लाहौर से उसने अपने पूर्वजों की भाँति स्थिति से लाभ उठाने का निश्चय किया तथा भारत के मध्य की ओर दृष्टिपात किया। यद्यपि उसे सफलता का अधिक अवसर नहीं था तथापि ज़मानशाह के द्वारा आक्रमण की आशा से “ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में अशान्ति की स्थिति जारी रही।” यह सामान्य ज्ञान का विषय है कि भारत में सभी असन्तुष्ट वर्गों ने ज़मानशाह को भारत पर आक्रमण करने का निमन्त्रण दिया। लार्ड वैल्ज़ली को “उस राजकुमार की भावनाओं पर पूर्ण ध्यान युक्त आँख रखने को कहा गया, क्योंकि उसकी प्रतिभा तथा फौजी शक्ति तथा आर्थिक साधनों ने उसे एक प्रबल शत्रु बना दिया था।” वैल्ज़ली को भारी फौज इकट्ठी करनी पड़ी, जिससे वह नवाब ज़मानशाह के सम्भावित आक्रमण का सामना कर सके। तथापि अफ़ग़ानिस्तान और फ़ारस के मध्य संकट की स्थिति उपस्थित हो गई तथा परिणामस्वरूप ज़मानशाह का ध्यान उस ओर परिवर्तित हो गया। अन्त में ज़मानशाह को गद्दी से उतार दिया गया, उसे अधिकार में कर लिया गया तथा उसे अन्धा कर दिया गया। वह बुखारा तथा हेरात की ओर भागने में सफल हो गया। अन्त में वह पंजाब में लुधियाना की ओर भाग गया। जीवन का शेष भाग उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बन्दी के रूप में व्यतीत कर दिया।

ज़मान के पश्चात् महमूद अफ़ग़ानिस्तान का शासक बना। वह फ़तह ख़ान के हाथों में केवल एक कठपुतली था। राज्य में अराजकता थी तथा शासन के तीन वर्षों के पश्चात् महमूद को शाहशुजा ने देश से निकाल दिया।

शाहशुजा ने १८०३ से १८०९ तक शासन किया। उसे भी आराम से समय व्यतीत करने का अवसर प्राप्त न हुआ। केयी के अनुसार, “शाह शुजा के साधन सीमित थे तथा उसके गुण इतने विरोधी स्वभाव के थे कि वह ऐसे कठिन समय की माँग का सामना करने के योग्य नहीं था। उसमें उत्साह की कमी थी, उसमें प्रयत्नों की कमी थी, उसमें न्याय की कमी थी तथा सबसे बढ़कर उसे धन की आवश्यकता थी।” उसने फ़तहख़ान तथा अन्य सरदारों को क्रुद्ध करने की मूर्खता की। सिन्ध १८०५ में जीत लिया गया किन्तु उसके अपने देश में संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई। अन्त में गण्डमक के समीप एक स्थान पर फ़तहख़ान ने उसे पराजित कर दिया। १८०९ में महमूदशाह को पुनः गद्दी पर बिठा दिया गया। शाह शुजा लुधियाना चला गया, जहाँ वह कम्पनी का पैंशनर बन गया। यद्यपि महमूदशाह पुनः गद्दी पर बिठा दिया गया तथा वह सात वर्षों (१८०९-

१६) तक शक्तिशाली रहा, वह एक बहुत दुर्बल शासक था। वह केवल फ़तहख़ान के हाथों में कठपुतली मात्र था। वह अधिकारों का अभिलाषी था, जिनसे वह जीवन के आनन्द को पूर्ण रूप से भोग सके तथा सरकार की चिन्ता का भार दूसरों पर डालने का इच्छुक था। दुर्भाग्य से महमूदशाह फ़तहख़ान को गिरफ्तार करवाने में सफल हो गया। उसने उसे अन्धा करवा दिया तथा क़त्ल करवा कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। इससे देश में अराजकता फैल गई तथा यह स्थिति १८१८ से १८२६ तक जारी रही।

१८२६ में दोस्त मुहम्मद काबुल की गद्दी पर बैठने में सफल हो गया। वह एक वीर, धार्मिक प्रकृति का तथा साहसी शासक था। उसने १२ वर्षों (१८२६-१८३८) तक सफलतापूर्वक राज्य किया। शाह शुजा ने १८३४ में राज्यगद्दी पर पुनः अधिकार करने का प्रयत्न किया किन्तु दोस्त मुहम्मद उसके लिए अधिक शक्तिशाली था। दोस्त मुहम्मद पेशावर को सिखों से हरा बैठा तथा अनेक प्रयत्नों के करने पर भी वह उसे वापिस लेने में असमर्थ रहा।

दोस्त मुहम्मद की स्थिति अत्यन्त दृढ़ न थी। "उत्तर में बल्ख़ में विद्रोह हो रहे थे, दक्षिण में कन्धार में उसके भाइयों में से एक उसका विरोध कर रहा था, पूर्व में रणजीतसिंह पेशावर में उसे भयभीत कर रहा था तथा उसके समर्थन में शाहशुजा तथा ब्रिटिश सरकार पृष्ठभूमि पर थे। पश्चिम की ओर हेरात में महमूदशाह तथा कामरान फ़ारस के साथ मिलकर षड्यन्त्र कर रहे थे तथा रूस दूर से यह सब देख रहा था।" दोस्त मुहम्मद कम्पनी के साथ सन्धि करने को तभी तैयार था, यदि ब्रिटिश सरकार रणजीतसिंह से पेशावर उसे वापिस दिलवाने की प्रतिज्ञा करे तथा उसके विरुद्ध शाह शुजा की सहायता न करे।

प्रथम अफ़ग़ान युद्ध (The Afghan War I)—इस अवसर पर एक नई स्थिति उत्पन्न हुई। रूस मध्य एशिया में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा था। उसका फ़ारस के शासक पर बहुत प्रभाव था। ब्रिटिश विदेश मन्त्री लार्ड पामर्स्टन को रूसी शक्ति से चिढ़ थी। वह इस विषय में दृढ़ विचार का था कि किसी भी मूल्य पर रूस की शक्ति को बढ़ने न दे। मुहम्मद मिर्ज़ा फ़ारस का राजा हो गया। वह रूसी सरकार का भारी मित्र था। परिणामस्वरूप फ़ारस पर रूस का नियन्त्रण अत्यधिक था। रूसी सरकार के भड़काने पर फ़ारस के शाह ने सचमुच हेरात के चारों ओर घेरा डाल दिया। तथापि पोटिंगर के प्रयत्नों से हेरात का घेरा उठा लिया गया।

१८३६ में दोस्त मुहम्मद ने लार्ड आकलैण्ड के गवर्नर-जनरल के रूप में भारत आने पर बधाई का पत्र भेजा। उसने रणजीतसिंह के विरुद्ध ब्रिटिश सहायता की माँग की। आकलैण्ड ने इसका स्पष्ट उत्तर यह दिया कि, "ब्रिटिश सरकार अन्य स्वतन्त्र राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति में विश्वास नहीं करती।" ब्रिटिश विदेश मन्त्री लार्ड पामर्स्टन ने भारत सरकार को रूस की बढ़ती हुई शक्ति पर नियन्त्रण रखने के लिए सभी आवश्यक कार्रवाई करने का निर्देश किया। जून १८३६ में कम्पनी के डायरैक्टरों की गुप्त समिति ने लार्ड आकलैण्ड को निर्देश दिया कि "उसके लिए अफ़ग़ानिस्तान की घटनाओं के विकास में अब तक किए गए प्रयत्नों की अपेक्षा अधिक ध्यानपूर्वक कार्रवाई करना अभीष्ट है तथा रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को उस दिशा में शीघ्र ही रोकने तथा नियन्त्रित करने की आवश्यकता है क्योंकि यदि एक बार वह प्रभाव स्थापित हो गया, तो उसका

प्रभाव हमारी भारतीय सीमाओं तथा प्रदेशों की सुरक्षा की दृष्टि से तथा भारतीय सम्बन्धों की दृष्टि से घातक तथा बाधक सिद्ध हो सकता है। इस अत्यन्त आवश्यक प्रश्न को सुलझाने के सम्बन्ध में हम तुम्हारी इच्छानुसार कार्रवाई करने पर विश्वास करते हैं––चाहे काबुल के दोस्त मुहम्मद को एक गुप्त प्रतिनिधि भेजा जाए जिससे वह केवल घटनाओं की प्रगति पर ध्यान रखता रहे अथवा उसके साथ किसी प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किए जाएँ, चाहे वे सम्बन्ध राजनैतिक हों अथवा प्रथम केवल व्यापारिक हों। इनके अतिरिक्त आपको जो भी कार्रवाई अभीष्ट प्रतीत हो उसे करने के लिए आप स्वतन्त्र हैं, जिससे रूसी साहस की प्रतिक्रिया की जा सके, यदि सीमाओं पर आपके प्रतिनिधियों से प्राप्त सूचनाओं से आपका सन्तोष हो जाए अथवा इसके पश्चात् मैकनील के फ़ारस पहुँचने पर यदि यह सूचना प्राप्त हो कि वह अवसर आ गया है, जब आपको अफ़ग़ानिस्तान के मामलों में निश्चित रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए। ऐसा हस्तक्षेप निस्संदेह आवश्यक होगा, चाहे उस दशा में फ़ारस के महत्त्व के विस्तार को रोकने के लिए अथवा रूसी प्रभाव के बढ़ते हुए खतरे के विरुद्ध सामयिक प्रतिकार करने के लिए कोई कार्रवाई की जाए।''

लार्ड आकलैण्ड ने काबुल भेजे जाने के लिए महान् यात्री तथा साहसी एलैक्ज़ैण्डर बर्न्स का निर्वाचन किया। प्रकट रूप से यह घोषणा की गई कि वह सिन्ध के डेल्टे से चलेगा तथा उस नदी के महत्त्व की नौ-संचालन की दृष्टि से खोज करेगा। उसे निर्देश दिया गया कि वह मार्ग में नदी की चौड़ाई तथा गहराई को मापे। बर्न्स पंजाब तथा पेशावर के मार्ग से गुजरा। जब वह काबुल पहुँचा, तब दोस्त मुहम्मद ने उसका समुचित स्वागत किया। उसने उसे कहा कि वह अपनी सरकार से इस बात की सिफ़ारिश करे कि वह महाराजा रणजीतसिंह से पेशावर प्राप्त करने में उसकी सहायता करे। उसने इस बात का भी प्रस्ताव किया कि यदि पेशावर के विषय में उसकी इच्छा स्वीकार कर ली गई, तो वह ब्रिटिश सरकार के साथ समझौता करने के लिए प्रस्तुत होगा। बर्न्स ने दोस्त मुहम्मद के विचारों से लार्ड आकलैण्ड को अवगत कराया तथा उसे कहा कि वह पेशावर को अफ़ग़ानों को देने के लिए रणजीतसिंह पर जोर दे। बर्न्स का निजी विचार यह था कि महाराजा रणजीतसिंह पेशावर को हस्तगत करने के सम्बन्ध में कोई गम्भीर हस्तक्षेप नहीं करेगा, क्योंकि सिन्ध पार के प्रदेश को सम्भाले रखना उसके लिए मँहगा सौदा हो रहा है। लार्ड आकलैण्ड, मैकनाटन तथा कालविन ने महाराजा रणजीतसिंह पर किसी प्रकार का दबाव डालने से इनकार कर दिया। जब भारत सरकार के विचार दोस्त मुहम्मद को विदित हुए, तब उसकी बर्न्स के प्रति आदर-भावना कम होने लगी तथा उसने रूसी प्रतिनिधि का स्वागत किया, जो पहले से ही काबुल में था। अपने उद्देश्य को असफल पाकर बर्न्स ने अप्रैल १८३८ में काबुल से प्रस्थान किया।

लार्ड आकलैण्ड का अगला कदम यह था कि उसने महाराजा रणजीतसिंह तथा शाह शुजा के साथ जून १८३८ में त्रिदलीय सन्धि की। इस सन्धि का उद्देश्य सिख तथा ब्रिटिश सैनिकों की सहायता से शाह शुजा को अफ़ग़ानिस्तान की गद्दी पर बिठाना था।

सेना फ़िरोजपुर में इकट्ठी हुई। क्योंकि महाराजा रणजीतसिंह ने ब्रिटिश सेनाओं को पंजाब में से गुजरने देने से इनकार कर दिया, इसलिए यह निश्चय किया गया कि सेनाएँ बहावलपुर, सिन्ध, बलोचिस्तान तथा बोलान और खोजक दर्रों से गुजरें। डा०

वी० ए० स्मिथ के अनुसार, "इस योजना के द्वारा गम्भीर नीतिमत्ता की सभी शर्तों का उल्लंघन किया गया तथा यह योजना एक बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ की अपेक्षा एक पागल व्यक्ति की थी।" सिन्ध में से सेनाओं का गुजरना सिन्ध के अमीरों के साथ १८३२ में हुई सन्धि का उल्लंघन था। अप्रैल में कन्धार तथा जुलाई में गज़नी पर अधिकार कर लिया गया। अगस्त, १८३९ में दोस्त मुहम्मद ने काबुल से प्रस्थान किया तथा शीघ्र ही शाह शुजा ने वहाँ प्रवेश किया। तथापि जनता में किसी प्रकार का उत्साह नहीं था। केयी के अनुसार, "यह श्मशान यात्रा के जलूस के समान स्थिति थी। ऐसा कोई लक्षण नहीं प्रतीत होता था कि एक राजा अपने लौटाए प्रदेशों की राजधानी में प्रविष्ट हुआ हो।" दोस्त मुहम्मद ने हथियार डाल दिए तथा उसे एक बन्दी के रूप में कलकत्ता भेज दिया गया।

इस समय बहुत-सी भूलें की गईं। लार्ड आकलैण्ड ने काबुल में सेना के सेनापति के रूप में जनरल एल्फ़िस्टन की नियुक्ति की, यद्यपि मुख्य सेनापति ने जनरल नाट के नाम की सिफारिश की थी। बालाहिसार एक भारी किला था, जहाँ अँग्रेजी सेनाएँ पहले ही ठहरी हुई थीं, किन्तु उस स्थान को शाहशुजा के हरम के लिए खाली कर दिया गया। इससे आवश्यक रूप से ब्रिटिश सेनाओं पर अफ़ग़ानों के आक्रमण की सम्भावना बढ़ गई। शाहशुजा ने अपने आपको अफ़ग़ानिस्तान के लोगों के हृदय जीतने के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से अयोग्य सिद्ध किया। वह अपने देश के लोगों में अत्यन्त अप्रिय था। सबसे अच्छा मार्ग यह होता कि देश से शाहशुजा के साथ ही सेनाएँ वापिस हटा ली जातीं। लार्ड आकलैण्ड अपनी पराजय प्रकट रूप से स्वीकार करने को तैयार न था। असन्तोषजनक परिस्थितियाँ जारी रहने दी गईं।

अफ़ग़ानिस्तान के लोगों को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने के कारण कष्ट भोगने पड़े। केयी के अनुसार, दोहरी सरकार, जिसे स्थापित किया गया था, सम्पूर्ण जाति के लिए एक शाप बन रही थी।

काबुल में विद्रोह हो गया। भीड़ ने अपने हाथों कानून ले लिया तथा बर्न्स पर आक्रमण करके उसे कत्ल कर दिया। यह सब होते हुए भी अफ़ग़ानिस्तान में ब्रिटिश अफसरों ने चुस्ती से तथा उत्साहपूर्वक हस्तक्षेप नहीं किया। दोस्त मुहम्मद का पुत्र मुहम्मद अकबरखां अफ़गानों का नेता बन गया। उसके साथ बातचीत आरम्भ कर दी गई, किन्तु अफ़ग़ानों ने बिना शर्त हथियार डालने की माँग की। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया स्थिति अधिकाधिक गम्भीर हो गई। मैकनाटन ने प्रयत्न किया कि वह अकबरखां के साथ किसी समझौते पर पहुँच सके। वह अपने प्रयत्न में असफल हुआ, क्योंकि उसकी नीति कुटिल थी। मैकनाटन भी लोगों के द्वारा कत्ल कर दिया गया। सन्धि करने के पश्चात् ब्रिटिश सेनाओं ने लौटना आरम्भ कर दिया। वे कुल १६,००० व्यक्ति थे। अधिकांश व्यक्तियों ने अपने प्राण गँवा दिए। लौटना एक प्रकार का सर्वनाश हो गया तथा सर्वनाश ने एक कत्लेआम का रूप धारण कर लिया। अकबरखां के हाथों १२० व्यक्तियों के अतिरिक्त, जो युद्ध बन्दी थे, केवल एक व्यक्ति, जिसका नाम डा० ब्राइडन था, जलालाबाद सुरक्षित तथा सकुशल पहुँच गया।

जब अफ़ग़ानिस्तान में हुई दुर्घटना का समाचार भारत तथा इंग्लैंड पहुँचा, तब लार्ड आकलैण्ड को वापिस बुलाए जाने की माँग की गई। उसके पश्चात् फरवरी १८४२

में लार्ड एलेनबरा गवर्नर-जनरल बनकर आया। आरम्भ में एलेनबरा ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओं तथा साम्राज्य को त्रिदलीय सन्धि का समर्थन करने के लिए खतरे में न डालेगी। केवल वही मार्ग ग्रहण किया जाएगा, जो सैनिक विचारों के कारण आवश्यक होगा। ब्रिटिश सेना की प्रसिद्धि की पुनः स्थापना अफ़ग़ानों पर निश्चयात्मक आक्रमण तथा किसी अन्य उपाय के प्रयोग द्वारा किए जाने का निश्चय किया गया। जब उसे जनरल इंग्लैंड की पराजय तथा पामर द्वारा गज़नी के हथियार डालने का समाचार प्राप्त हुआ, उसने काबुल तथा कन्धार खाली करने की आज्ञाएँ जारी कर दीं। अनेक फौजी अफसरों ने उसकी आज्ञाओं का विरोध किया। वह दृढ़ता का खाली प्रदर्शन बनाए रखने में, तथा काबुल की निर्णयात्मक पुनर्विजय की विश्वव्यापी माँग के सन्तुष्ट करने में तथा वापिस हटने से पूर्व बन्दियों को प्राप्त करने में सफल हो गया। पोलक ने अकबरखां पर खुर्द काबुल के दर्रे के समीप निर्णायक विजय प्राप्त की। वह काबुल में प्रविष्ट हुआ तथा उसने बालाहिसार के दुर्ग पर ब्रिटिश पताका फहराई। नाट भी उनके साथ सम्मिलित हुआ। अंग्रेजों के साथ किए गए अत्याचारों का बदला लेने के लिए ब्रिटिश फौज ने काबुल के बड़े बाजार को बारूद से उड़ा दिया। तत्पश्चात् ब्रिटिश फौजों ने अफ़ग़ानिस्तान से प्रस्थान किया।

अक्तूबर १८४२ में लार्ड एलेनबरा ने निम्नलिखित घोषणा की, "गवर्नर-जनरल सहर्ष किसी ऐसी सरकार को स्वीकृत करेगा, जिसे अफ़ग़ान स्वयं स्वीकृत करेंगे, तथा जो पड़ोसी राज्यों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने के लिए अभिलाषी होगी तथा इसके योग्य होगी। प्रकृति द्वारा निजी साम्राज्य के लिए प्रदत्त सीमाओं से सन्तुष्ट होते हुए भारत सरकार अपने समस्त पूर्ण प्रयत्न सामान्य शान्ति की स्थापना तथा उसके बनाए जाने में लगाएगी। साथ ही उसका यह भी प्रयत्न होगा कि वह अपने राज्यों तथा उनके मुखियों, उनके मित्रों तथा अपने कर्त्तव्य-परायण प्रजाजनों की रक्षा, समृद्धि तथा सुख का पूर्ण ध्यान रखे।"

दोस्त मुहम्मद को कलकत्ता से रिहा कर दिया गया तथा उसे काबुल जाने की अनुमति दे दी गई। वह काबुल की गद्दी पर १८६३ तक बना रहा।

प्रथम अफगान युद्ध की आलोचना (Criticism of First Afghan War)—(१) प्रथम अफगान युद्ध पूर्ण रूप से असफल रहा। यद्यपि बीस सहस्र प्राण न्योछावर हुए तथा १५० लाख स्टर्लिंग का व्यय हुआ, तथापि न ब्रिटिश सरकार तथा न ही भारत सरकार को कुछ भी लाभ हुआ। दोस्त मुहम्मद को युद्ध के पश्चात् राजगद्दी पुनः प्राप्त हो गई। ऐसा अनुभव किया गया कि उसका अन्य विकल्प कुछ भी नहीं है। भारत सरकार अफगानिस्तान के किसी भी प्रदेश पर अपना नियन्त्रण नहीं रख सकी। लार्ड एलेनबरा की गर्वोक्ति यह थी कि विजेता अंग्रेज अपने साथ गजनी से सोमनाथ के वे द्वार लाये, जो ११वीं शताब्दी में गजनी का महमूद ले गया था। उसका दावा था कि "८०० वर्षों के अपमान का अन्त में बदला ले लिया गया है।" केयी के अनुसार, यह घोषणा "बिल्कुल गलत थी। यह अत्यन्त विचारहीनता के ढंग की एक मूर्खता थी क्योंकि इससे किसी को प्रसन्न नहीं किया जा सका तथा बहुत से व्यक्तियों का अपमान हो गया।" इसकी

न तो हिन्दुओं ने कोई परवाह की, क्योंकि वे द्वार वास्तविक नहीं थे तथा भारतीय मुसलमानों की भावनाओं को इससे कष्ट पहुँचा।

(२) केयी ने प्रथम अफगान युद्ध की असफलता पर निम्न विचार प्रकट किए हैं, "इतिहास के पृष्ठों में अन्य कोई भी असफलता इतनी पूर्ण तथा आत्यन्तिक नहीं है, जिस प्रकार यह अङ्कित है। संसार के इतिहास में ऐसी बड़ी तथा प्रभावशाली शिक्षा कहीं भी नहीं मिलती। यह बात तथ्यों से प्रकट है कि इस नाश वाले युद्ध पर भारतवर्ष के रहने वालों को, जिनके हम सेवक हैं, १५० लाख धनराशि का व्यय सहन करना पड़ा। यह सारा भार भारत के राजस्व पर पड़ा तथा देश बाद में अनेक वर्षों तक इस भार से चीखता चिल्लाता रहा।" ब्रिटिश सरकार अपनी सीमाओं पर एक मित्र शक्ति के बनाए रखने में असफल रही। भारी धन के अपव्यय तथा मानव रक्त की हानि के पश्चात् अंग्रेजों ने अनुभव किया कि "अफगानिस्तान का प्रत्येक कस्बा तथा गाँव शत्रुओं से रोमांचित है।"

(३) ट्राटर के अनुसार, "आकलैण्ड की नीति की पूर्ण असफलता, जैसे कि वह गैर-कानूनी तथा भयङ्कर भूलों से युक्त है, मुख्य रूप से उन सेनापतियों की भावना का परिणाम है जो उनके कार्य के लिए अनुपयुक्त है। मैकनाटन प्रसन्नतापूर्ण विश्वास भावना, एल्फिन्स्टन का शारीरिक तथा मानसिक नाश, शैल्टन की मूर्खतापूर्ण इच्छा, नागरिक तथा सैनिक शक्तियों के मध्य घातक मतभेद, सेल के द्वारा सामयिक सहायता का रोकना ये सब बातें लार्ड आकलैण्ड के अधूरे साधन तथा दुर्भाग्यपूर्ण समय की अल्पव्ययिता, जिसके द्वारा वह इस प्रकार का नाटकीय साहस पूर्ण करना चाहता था, मूर्खता तथा भूल से प्रारम्भ हुई।" केयी के अनुसार, अफगानिस्तान में अंग्रेजों की नीति गलत थी तथा "हमारे राजनीतिज्ञों की बुद्धिमत्ता मूर्खता है, हमारी सेनाओं की शक्ति उनकी दुर्बलता है, जो एक अपवित्र उद्देश्य के लिए भार स्वरूप है।"

(४) आलोचकों का कहना है कि लार्ड आकलैंड के पास नवम्बर १८३८ में अफगानिस्तान में ब्रिटिश फौजें भेजने का कोई उचित कारण नहीं था। ब्रिटिश असहमति फारस निवासियों के द्वारा हिरात के घेरे के सम्बन्ध में रूसियों की सहायता थी। तथापि घेरा सितम्बर १८३८ में उठा लिया गया। हिरात से फारस की सेनाओं के पीछे हटने के पश्चात् अंग्रेजों के लिए अफगानिस्तान में हस्तक्षेप के लिए कोई भी कारण नहीं था।

(५) यह भी कहा जाता है कि अफगानों के एक स्वतन्त्र शासक के रूप में दोस्त मुहम्मद को पूर्ण अधिकार था कि वह रूस के साथ किसी प्रकार का समझौता कर लेता। ब्रिटिश सरकार को इस सम्बन्ध में विरोध करने का कोई अधिकार नहीं था। इसके साथ ही रूस के प्रतिनिधि को काबुल से ब्रिटिश सरकार के दबाव के कारण वापिस बुला लिया गया। जब यह सब कुछ युद्ध के आरम्भ से पूर्व पूर्ण हो चुका, तब लार्ड आकलैण्ड को अवश्य बताना चाहिए कि उसने युद्ध का प्रारम्भ क्यों किया।

(६) एलैक्ज़ैण्डर, बर्न्स तथा अन्य लोगों के अधिकार के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दोस्त मुहम्मद एक योग्य शासक था। शाह शुजा का उसके सामने कोई भी मुकाबला न था। लार्ड आकलैण्ड की ओर से यह मूर्खतापूर्ण कार्य था कि उसने दोस्त मुहम्मद के स्थान पर शाह शुजा को काबुल की गद्दी पर बिठाने का निश्चय किया।

(७) केयी के अनुसार, लार्ड आकलैण्ड ने जो अपनी सेनाएं अफगानिस्तान भेजीं, यह भी राजनैतिक तथा फौजी औचित्य के प्रत्येक विचार के प्रतिकूल था। ऐसे लोग भी थे जो केवल आवश्यकता को ही कारण न मानकर उच्च स्तर पर इस विषय के पक्ष का पोषण कर रहे थे, उन्होंने इसकी असफलता के निश्चय की घोषणा कर दी, क्योंकि उसके मूल में अन्याय का कलंक था। यह, निस्सन्देह, एक प्रयोग था, जो समान रूप से भगवान् तथा मनुष्य की क्षमाशीलता पर आधारित प्रयोग था। इसलिए भले ही ऊपर से सफलता दृष्टिगोचर होती हो, किन्तु अन्त में असफलता तथा अपमान की प्राप्ति निश्चित थी। ड्यूक आफ विलिंगटन, लार्ड वैल्ज़ली, सर चार्ल्स मैटकाफ़ तथा अन्य लोगों ने लार्ड आकलैण्ड की नीति की असफलता के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर दी थी। ड्यूक आफ वैलिंगटन के अनुसार, "सिन्ध को पार करने का परिणाम, अफगानिस्तान में सरकार को एकबार बसाने का विचार उस देश में निरन्तर जाना होगा।" इन्नेस के कथनानुसार, प्रथम अफगान युद्ध सम्भवतः "भारत में अंग्रेजों के सम्पूर्ण इतिहास में सबसे बड़ी और भयानक भूल थी।"

(८) डा० वी० ए० स्मिथ के अनुसार, लार्ड आकलैण्ड को इतना भी ध्यान न आया कि वह सचाई को देख सके तथा वह बुद्धिहीन परामर्शदाताओं के परामर्श पर केवल ६ वर्ष पुरानी सन्धियों के बल पर विजय प्राप्त करने के लिए चले और मूर्खतापूर्ण नीति का अनुकरण करने के लिए, ऐसी नीति को जारी रखने के लिए, जब उसमें किसी प्रकार के तर्क तथा कारण नहीं रह गये थे, दूरदर्शिता के सिद्धान्तों का उल्लंघन करने के लिए, सहस्रों जीवनों के साथ उन्हें अयोग्य सेनापति के हाथ में सौंपकर खिलवाड़ करने के लिए, तथा अन्त में चुपचाप संसद् की सूचना के लिए दिए जाने वाले मूल पत्रों में परिवर्तन करने के लिए प्रयत्न करे।

(६) यह बात उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश सरकार को इस बात का कोई अधिकार नहीं था कि वह अपनी सेनाएँ सिन्ध में से गुजारे। न केवल ब्रिटिश सेनाएँ सिंध में से गुजरीं अपितु उस प्रदेश को सैनिक आक्रमणों के लिए मूल स्थान बनाया गया। इसी कारण लार्ड एलेनबरा के समय में सिन्ध के अंग्रेजी राज्य में आसानी से मिलाए जाने में सुविधा हो सकी।

जान लारेंन्स की पूर्ण अप्रगति की नीति (John Lawrence's Policy of masterly inactivity)—भारत सरकार ने दोस्त मुहम्मद के साथ गद्दी पुनः मिलने के समय से लेकर १८६३ में उसकी मृत्युपर्यन्त मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखे। जब उसकी मृत्यु हुई, तब उसके पीछे १६ बच्चे थे तथा पूर्व की भाँति उत्तराधिकार के लिए उनमें परस्पर संघर्ष आरम्भ हो गया तथा देश में अराजकता छा गई। दोस्त मुहम्मद ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में शेरअली को निर्वाचित किया था तथा उसने अन्य प्रतिद्वन्द्वियों, विशेष रूप से मुहम्मद अफजल तथा मुहम्मद आजिम खान, के विरुद्ध भारत सरकार से सहायता करने के लिए कहा। यह सत्य है कि लारेंन्स ने काबुल के शासक के रूप में शेरअली को स्वीकृति प्रदान कर दी, किन्तु उसने अफगानों के आन्तरिक मामलों में पड़ने से इनकार कर दिया। लारेंन्स को स्मरण था कि किस प्रकार १८५७ में दोस्त मुहम्मद ने सच्चे हृदय से उससे यह प्रार्थना की थी कि वह उसके पुत्रों में निश्चित रूप से

होने वाले संघर्ष में भाग न लें तथा उन्हें स्वयं परस्पर लड़ने दें तथा उनमें जो भी जीत जाए, उसे शासक के रूप में स्वीकार कर लें।

वायसराय की सहानुभूति शेरअली के साथ थी, किन्तु शस्त्रों तथा धन से उसका समर्थन करना एक मँहगी तथा खतरनाक भूल हो सकती थी। इससे शेरअली के अपने अनुयायियों के उसके विरुद्ध हो जाने की सम्भावना थी। इससे अंग्रेज भारत के आर्थिक हितों के लिए घातक उलझनों में फँस जाते। इससे रूस को भी अफगानों के मामले में हस्तक्षेप करने का अच्छा बहाना मिल जाता। जान लारेंस अफगानों को अधिकतर लोगों तथा विशेष रूप से अपने समय के अंग्रेजों की अपेक्षा अच्छी प्रकार से जानता था। वह जानता था कि पूर्ण निष्पक्षता अफगान जाति के विश्वास तथा हितचिन्ता को प्राप्त करने के लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। वह १८५५ की सन्धि का सम्मान करता था, जिसके द्वारा अंग्रेज अफगान प्रदेश का सम्मान करने तथा उसमें हस्तक्षेप न करने के लिए बाध्य थे। लारेंस ने काबुल में अपने वकील को फटकार बतलाई कि उसने क्यों आजिमखान के साथ मित्रता गाँठ ली है। जब अफजलखान काबुल का स्वामी बन गया, तब लारेंस ने उसे हिरात तथा कन्धार का शासक मानने से इनकार कर दिया। लारेंस ने अफजलखान को इस प्रकार लिखा—"यदि श्रीमान् अपनी शक्ति को काबुल में सञ्चित करना चाहते हैं तथा ब्रिटिश सरकार के सचमुच मित्र तथा सहयोगी बनना चाहते हैं, मैं आपको उसी प्रकार स्वीकार करने को तत्पर हो जाऊँगा, किन्तु मैं अमीर शेरअलीखान के साथ विद्यमान सम्बन्धों को तोड़ नहीं सकता।"

ब्रिटिश सरकार को भेजे गए पत्रों में लारेंस ने बार-बार लिखा कि वह उपर्युक्त नीति का अनुसरण करने के लिए दृढ़-संकल्प है। उसकी नीति यह थी कि "वास्तविक शासकों के प्रति मित्रता तथा उनके घरेलू कलहों में कठोरतापूर्वक अहस्तक्षेप। इस प्रकार हम अफगानिस्तान में अपना प्रभाव अधिक बनाए रखने के योग्य होंगे, अपेक्षाकृत इसके कि हम अपनी सेनाएँ भेजें—यह आवश्यकता केवल उसी अवसर के लिए सोची जा सकती है, जब सभी अफगान कबीले हमारे विरुद्ध संगठित होकर एक हो जाएँ तथा जिससे हमारा आर्थिक ढाँचा लड़खड़ा जाए।"

१८६८ तक शेरअली के भाग्य में परिवर्तन हो गया। अफजलखान १८६७ में मर गया तथा उसका उत्तराधिकारी आजिमखान भी भगोड़ा हो गया। अफगानिस्तान के लोगों की आँखों में शेरअली अपनी विजयों के कारण सही शासक बन गया। लारेंस ने भी उसके प्रति अपने व्यवहार में परिवर्तन कर दिया। उसने न केवल उसे सफलता पर बधाई दी अपितु एकता तथा सद्भावना के सम्बन्ध बनाए रखने के लिए उसे सहायता भी प्रस्तुत की। यथासम्भव वे बन्धन भी दृढ़ किए जाने थे। बहुत सी बन्दूकें शेरअली को सौंप दी गईं। लारेंस ने उसे सूचना दी कि छः लाख रुपये की और धनराशि उसे अर्पित की जाएगी तथा वह अंग्रेजों की उस इच्छा का चिह्न होगी कि वे "सम्पूर्ण अफगानिस्तान में एक दृढ़, न्यायपूर्ण तथा दयायुक्त सरकार को स्थापित देख सकें।" लारेंस केवल यह चाहता था कि "स्थिर विश्वास, कृतज्ञता तथा सद्भावना" बनी रहे। उसने इस सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली कि वह शेरअली से व्यक्तिगत रूप से भेंट कर सके।

तथापि शेरग्रली तथा लारेंस परस्पर न मिल सके क्योंकि लारेंस शेरग्रली के भारत में पहुँचने से कुछ मास पूर्व ही भारत से रवाना हो गया।

लारेंस के कथनानुसार, "ग्रफगान साहसी, कठोर तथा स्वतन्त्र है, जिस देश में वह रहता है, वह भी उल्लेखनीय रूप से शक्तिशाली तथा ऊसर है, ग्रसामान्य रूप से गोरिल्ला युद्ध के ग्रनुकूल है। ये लोग तब तक मुकाबला करने से नहीं रुक सकेंगे, जब तक इन्हें विजय की ग्राशा है तथा जब ये पराजित हो जाएँगे तब भी इनमें ऐसी लचक है कि जब कभी उन्हें ग्रवसर प्राप्त होगा कि संघर्ष को पुनः चालू कर सकें, तो वैसा करने को तत्पर हो जाएँगे। यदि हम ग्रफगानिस्तान में प्रवेश करते हैं, चाहे उन्हें उनके मुखियों के द्वारा की गई तथाकथित भूलों के लिए ग्रथवा ग्रपनी सीमाग्रों को सुधारने के लिए, वे ग्रपनी पूर्ण शक्ति के साथ यथासम्भव निश्चित रूप से हमें रोकने का प्रयत्न करेंगे। हम उन्हें मित्र के रूप में चाहते हैं शत्रुग्रों के रूप में नहीं। दूसरी दशा में वे हमारे लिए ग्रत्यन्त खतरनाक हैं।" तथा "जहाँ तक कूटनीति ग्रौर केवल कूटनीति का सम्बन्ध है, हमें ग्रपनी पूर्ण शक्ति के ग्रनुसार ग्रफगानों को ग्रपने साथ करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। हमें, जहाँ तक मेरा विचार है, उनके साथ किसी प्रकार की ग्राक्रमणात्मक तथा सुरक्षात्मक सन्धि नहीं करनी चाहिए—यह हमारी ग्रनेक वर्षों से इच्छा रही है, किन्तु इसके विरुद्ध तर्क यह है कि यदि हम ऐसी सन्धि करें, तब हमें ग्रपने ग्रापको बाध्य करना चाहिए कि उन्हें ग्रपने पड़ोसियों पर किसी प्रकार के ग्राक्रमण करने से रोकें तथा उन पर होने वाले ऐसे ग्राक्रमणों को रोकें, जब कि यह हमारे लिए प्रायः ग्रसम्भव होगा कि हम ऐसी शिकायतों के लाभों का निश्चय कर सकें। हम इस प्रकार लगातार ग्रपने ग्रापको ऐसी स्थिति में पाते हैं कि हम किसी भी पक्ष को सन्तुष्ट नहीं कर पाते तथा यहां तक कि हम ग्रपने ग्रापको बाध्य पाते हैं कि हम उन कारणों की रक्षा कर सकें, जिनमें ग्रफगानों को दोषी समझा जा सकता था।"

लारैन्स की दृढ़ भावना के ग्राधीन फायरब्राण्ड पार्टी के लिए सफलता के कोई ग्रवसर न थे। भले ही वे ऊँचा चिल्लाएँ, किन्तु उनकी ग्रोर कोई ध्यान नहीं दिया गया। उन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों में से कुछ थे—सर बार्टल फ्रेयर तथा सर हेनरी रालिन्सन। लारैन्स ने ग्रफ़ग़ानिस्तान या कलात में ग्रग्रगामी नीति के सभी प्रस्ताव व्यर्थ समझ कर ग्रलग रख दिये क्योंकि न उनसे रूस की प्रतिक्रिया की जा सकती थी तथा वे स्वयं भारत की भलाई के लिए भी खतरनाक थे। संसार में सबसे ग्रधिक शक्तिशाली प्राकृतिक सीमाग्रों के द्वारा, जिनके चारों ग्रोर मरुस्थल तथा विषम पहाड़ियाँ हैं, तथा जहाँ बम्बई ग्रौर कराची के समुद्र के रूप में मोर्चों के लिए ग्रनुकूलता है, तथा जहाँ की सेना सुदृढ़, शक्तिशाली तथा सब प्रकार के शस्त्रों से सज्जित है तथा जो कि किसी भी स्थान को रेल ग्रथवा सड़क के मार्ग से भेजी जा सकती है, जहाँ के लोग सुशासित, करों के कम बोझ से दबे हुए तथा सामान्य रूप से सन्तुष्ट हैं, लारैन्स जानता था कि ग्रंग्रेज उत्तर-पश्चिम की ग्रोर से प्रतीत होने वाले खतरे का सामना करने में समर्थ हैं।

कोयटा की ग्रोर बढ़ने के सम्बन्ध में लारैन्स ने इसे महान् फौजी भूल माना तथा इसे ग्रफ़ग़ानिस्तान के लिए प्रबल खतरे से कम स्वीकार नहीं किया। जब रूसियों ने बुखारा तथा मध्य एशिया के ग्रन्य स्थानों पर ग्रधिकार किया तब लारैन्स ने ग्रपना दिमाग ठंडा

रखा तथा रूस के आगे बढ़ने में किसी प्रकार के खतरे को देखने से इनकार कर दिया। उसका यह विचार था कि भारत में ब्रिटिश शासन के लिए वास्तविक खतरा सीमा के पार कहीं नहीं है, अपितु स्वयं भारत में है। उसके विचार में भारत पर रूसी आक्रमण की कोई आशा नहीं थी तथा यह उसी प्रकार असंभावित प्रतीत होता था जैसे इंग्लैंड पर फ्रांसीसी आक्रमण।

जनवरी १८६९ में लारेन्स ने इस प्रकार लिखा, "हम किसी उच्च ब्रिटिश अधिकारी को बिना किसी सेना दल के अथवा उसके साथ अफ़ग़ानिस्तान के मामलों में प्रगतिपूर्ण हस्तक्षेप अथवा हमारी अपनी सीमा के बाहर उस देश में किसी स्थान पर ज़बरदस्ती अथवा शान्तिपूर्ण अधिकार का विरोध करते हैं, क्योंकि हमारा यह विचार है कि ऐसा कदम वर्तमान परिस्थितियों में क्रोध, आज्ञा का उल्लंघन तथा घृणा को अफ़ग़ानों के हृदयों में घर कर देगा। हमारी शक्ति को, चाहे वह आक्रमण के लिए हो अथवा सुरक्षा के लिए, इससे तनिक भी बल नहीं मिलेगा। हम इसे अराजनैतिक तथा अबुद्धिमत्तापूर्ण मानते हैं, जिससे रूस की कठिनाइयों में किसी प्रकार कमी होती हो, यदि वह शक्ति गम्भीरतापूर्वक भारत पर आक्रमण करने का विचार करे क्योंकि हमें निश्चित रूप से उन्हें कम करना चाहिए, यदि हम अपनी सीमा छोड़ बैठें तथा किसी अन्य देश में मध्यमार्ग में उसका सामना करना पड़े तथा संभवतः हमें विरोधी अथवा उत्तेजित जन-संख्या के मध्य में उनका सामना करना पड़े। हम इस प्रकार की सीमाओं का अनुमान नहीं लगा सकते कि कहाँ तक इस प्रकार के विचार हमारे लिए ये बाधाएँ प्रस्तुत करेंगे। हम भारतीयों पर अतिरिक्त कर लगाने की आवश्यकता का विरोध करते हैं, तथा वे उन्हें सहन करने के लिए रज़ामन्द नहीं क्योंकि वे उन परिस्थितियों को समझते तथा उनकी सराहना करते हैं। हम यह विचार करते हैं कि वे उद्देश्य, जो हमारे हृदय में हैं, वे हमारी सीमाओं पर दृढ़ता तथा तैयारी के व्यवहार से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। इसके लिए हमें सब प्रकार का ध्यान देना होगा तथा व्यावहारिक तथा गम्भीर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें अपने उन सभी साधनों का विस्तार करना होगा, जिन पर हम प्रभावपूर्ण तथा तात्कालिक नियंत्रण का प्रयोग कर सकते हैं।

लारैन्स ने भारत में ब्रिटिश सामाज्य की सुरक्षा के लिए कुछ निश्चित कार्रवाइयों को अपनाने के लिए सुझाव दिए। उसने इस बात का पक्ष लिया कि उन सभी साधनों का ध्यानपूर्वक संरक्षण किया जाए, चाहे वे आचार-सम्बन्धी हों अथवा भौतिक हों, जिनसे अंग्रेज बाह्य अथवा भीतरी तूफान का सामना करने के लिए समर्थ हो सकें। वह अफ़वाहों का खण्डन करने तथा अनावश्यक खतरों को रोकने के लिए इस पक्ष में भी था कि रूस के साथ इस प्रकार का स्पष्ट तथा मित्रतापूर्ण समझौता कर लिया जाए। वह चाहता था कि रूसी सरकार को दृढ़ किन्तु विनीत भाषा में बता दिया जाए कि उसे अफगानिस्तान अथवा भारत की सीमा पर स्थित किन्हीं अन्य राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करना चाहिए।

लारैन्स पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो चुका था कि अफगान उन लोगों के शत्रु होंगे जो हस्तक्षेप करेंगे तथा उन लोगों के मित्र होंगे जो, सिवाए उस परिस्थिति के कि जब उन पर आक्रमण किया गया हो, हस्तक्षेप नहीं करेंगे। यदि ऐसी नीति का अनुसरण किया गया, तब अफगान रूसी के बढ़ने का डट कर मुकाबला करेंगे। उन्हें रूसियों के साथ भारत की लट में भाग प्राप्त करने के वचन पर मिलने के लिए फुसलाया जाना भी संभव था। उसका

विश्वास था कि अफ़गान रूसी सन्देशों को प्राप्त करने में उद्यत न होंगे। वह स्वयं रूस के साथ सीधी बातचीत करने को तैयार था, किन्तु वह यह स्पष्ट कर देना चाहता था कि इस प्रकार की बातचीत के साथ फौलादी अस्त्र तथा सेनाएँ भी हैं।

यदि सामान्य युद्ध छिड़ जाए तथा रूस यूरोप में विरोधी ब्रिटिश-सेनाओं अथवा शक्तियों के द्वारा रोका न जा सके तथा वह भारत की ओर बढ़े तब वह इसे किसी भी दशा में अफ़गानिस्तान में उसका सामना करने को प्रस्तुत न था। उसका अभिप्राय अपने सैनिकों का अपव्यय तथा शत्रुओं के हाथों में खेलना था। अफगान ऐसे आगे बढ़ने के प्रति भड़के हुए होंगे यद्यपि वे सामयिक शरण लेने के कारण ऊपर से दबे हुए होंगे। उस अवस्था में वह उन्हें धन तथा सामग्री से सहायता देगा, किन्तु लोगों से नहीं। इस प्रकार शक्तिशाली होने पर वे प्रगति में बाधा उपस्थित कर सकते हैं अथवा रूसियों का बढ़ना रोक सकते हैं। यदि रणचण्डी ब्रिटिश-सैनिकों के हृदय फौलाद के बना दे तभी निर्णयात्मक रूप से रूसी आक्रमण को दबाया जा सकता है। लारैन्स की अफगान नीति का यही सारांश था। उसकी नीति को एक बार उसके मित्र लेखक ने "एडिनबरा रिव्यू" में "पूर्ण शिथिलता" वाली कहकर वर्णन किया था। इस भावना में सत्य तथा असत्य दोनों का मिश्रण है।

यह प्रश्न, कि एक सरकार को कब स्वीकृति देना उचित होगा, यह प्रत्येक की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यदि अफ़गानिस्तान जैसी राजगद्दी के लिए मुकाबले की आवश्यकता हो, तो नैतिक स्वीकृति, जिसमें भौतिक समर्थन का निषेध है, बहुत कम महत्त्व की है। शेरअली को ब्रिटिश स्वीकृति उसे उसके राज्य गँवाने से न रोक सकी। यद्यपि भारत सरकार ने आजिमखान को स्वीकृति प्रदान कर दी, किन्तु इससे वह काबुल की राजगद्दी पर स्थिर नहीं रह सका। युद्ध-सामग्री की सहायता के हस्तक्षेप के द्वारा किसी शासक को राजगद्दी पर बनाए रखना, जिसे उसकी प्रजा स्वीकार न करें, यह एक भयानक नीति थी, जो विद्यमान सन्धियों के द्वारा निषिद्ध थी। यह बात उल्लेखनीय है कि लारेंस की अफ़गानिस्तान के प्रति नीति को लार्ड मेयो तथा लार्ड नार्थब्रुक जैसे उसके उत्तराधिकारियों ने जारी रखा। जब इस नीति को लार्ड लिटन ने बदल दिया, तब विनाशकारी परिणाम हुए। लार्ड मेयो ने लारेंस को ये शब्द लिखे—"मुझे विश्वास है कि जब आपने शेरअली को धन तथा शस्त्र गत दिसम्बर में भेजे, तब आपने ऐसी नीति की नींव रखी जो इसके पश्चात् हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी होगी। मैं इसे जारी रखना चाहता हूँ।" लार्ड नार्थब्रुक ने अफ़ग़ानिस्तान के प्रति भिन्न नीति अपनाने की अपेक्षा त्यागपत्र देना अधिक अच्छा समझा।

लार्ड मेयो, १८६९-७२ (Lord Mayo)—यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि सर जॉन लारेंस ब्रिटिश सरकार से शेरअली से मिलने के लिए अनुमति प्राप्त कर चुका था। तथापि वह अमीर से न मिल सका, क्योंकि वह भारत से उससे पहले ही रवाना हो गया, जबकि अमीर उसके देश में आने की व्यवस्था करता। लारेंस के द्वारा व्यवस्थित भेंट मार्च १८६९ मे अम्बाला में हुई, जब कि शेरअली तथा लार्ड मेयो परस्पर मिले। इस भेंट में शेरअली ने दोनों देशों के मध्य निश्चित सन्धि के लिए कहा। उसने निश्चित वार्षिक आर्थिक सहायता, शस्त्रों की सहायता, अपने छोटे पुत्र अब्दुल्ला जान की याकूब

खान के स्थान पर उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकृति के लिए भी कहा तथा यह आश्वासन भी माँगा कि ब्रिटिश सरकार उसे तथा उसके परिवार को काबुल की राजगद्दी के लिए सहयोग प्रदान करे। लार्ड मेयो नें अनुभव किया कि उसके लिए अमीर को कृतार्थ करना सम्भव न था। वह अफ़गानिस्तान के विषय में लारेंस की नीति पर दृढ़तापूर्वक चलने के लिए दृढ़-संकल्प था। लार्ड मेयो ने शेरअली को यह स्पष्ट कर दिया कि "किसी भी परिस्थिति में कोई भी ब्रिटिश सैनिक सीमा पार करके उसे अपने विद्रोही प्रजाजनों को पीड़ित करने में सहायता न देगा तथा कोई भी यूरोपीय अफसर उसके नगरों में रेजीडेंट के रूप में न रखे जाएँगे, तथा किसी निश्चित समय के लिए कोई निश्चित धनराशि अथवा भत्ता या आर्थिक सहायता न दी जाएगी, तथा कोई ऐसी सन्धि नहीं की जायगी जिससे उसे अथवा उसके उत्तराधिकारी को किसी भी परिस्थिति में अफ़ग़ानिस्तान के शासकों के रूप में स्वीकार किया जाएगा।" तथापि लार्ड मेयो ने शेरअली को अपने अधिकार में सब प्रकार की यथाशक्ति नैतिक सहायता देने का वचन दिया। इसके साथ ही उसने उसे आवश्यकता पड़ने पर धन, शस्त्र, युद्ध-सामग्री तथा देशी मज़दूर पहुँचाने का भी वचन दिया तथा पेशावर के कमिश्नर तथा अफ़गानिस्तान में हमारे देशी प्रतिनिधियों के माध्यम से उसके साथ बिना किसी रोक के पत्र-व्यवहार करने में भी अपनी स्वीकृति प्रदान की। अपनी ओर से शेरअली ने इस बात का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया कि वह व्यापार के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की इच्छाओं का पालन करेगा। इतना होने पर भी शेरअली जब काबुल लौटा, तो उसे इस बात का विश्वास था कि उसे अपने अंग्रेज मित्रों के नैतिक समर्थन के कारण उनसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं, अपितु उसे उनसे बहुत लाभ की ही आशा थी।

लार्ड नार्थब्रुक, १८७२-७६ (Lord Northbrook)—यह बात ठीक ही कही गई है कि लार्ड नार्थब्रुक की अफ़ग़ान नीति लारेंस की नीति से अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण थी। मार्च, १८७४ में डिज़रैली इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री तथा सैलिसबरी भारत मन्त्री बना। दोनों इस पक्ष में थे कि काबुल में एक ब्रिटिश रैजीडेंट होना चाहिए। लार्ड नार्थब्रुक ने यह मानने की अपेक्षा त्यागपत्र देना पसन्द किया। लार्ड नार्थब्रुक ने भी अमीर के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखे। उसने भारत मन्त्री से इस बात की अनुमति माँगी कि शेरअली को धन तथा युद्ध-सामग्री के रूप में सहायता दी जाए।

लार्ड लिटन (Lord Lytton)—जब अनुदार ब्रिटिश सरकार ने लार्ड लिटन को भारत भेजा, तब वह अपने साथ शेरअली के सम्बन्ध में निश्चित, समतापूर्ण तथा व्यावहारिक समझौते के लिए निर्देश लाया। उसे इस बात का अधिकार दिया गया कि वह अमीर को लगभग वे सभी शर्तें प्रदान कर दे, जो उसने पहले माँगी थीं। उसके छोटे पुत्र को स्वीकृत किए जाने का निश्चय किया गया। लिटन को इस बात की भी अनुमति दी गई कि वह सन्धि अथवा किसी अन्य रूप से विदेशी आक्रमण की अवस्था में ब्रिटिश समर्थन की लिखित प्रतिज्ञा अथवा वचन भी उसे दे दे। तथापि ये सब शर्तें शेरअली के लिए तभी स्वीकृत हो सकती थीं, यदि वह हिरात में ब्रिटिश रैंजीडेंट रखने की स्वीकृति प्रदान कर दे।

अमीर से कहा गया कि वह एक मिशन से भेंट करे, जिसे "भारत की सम्राज्ञी"

उपाधि की घोषणा करनी थी। शेरअली ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। इसके साथ ही शेरअली कोई भी आश्वासन न दे सका।

लिटन का विचार था कि इंग्लैंड तथा रूस के मध्य में अफगानिस्तान "दो लोहे के बर्तनों के मध्य में एक मिट्टी का छोटा-सा पात्र है। यदि अमीर इंग्लैंड का एक मित्र बनकर रहे तो उसकी फौजी शक्ति उसके आसपास फैलाई जा सकती है, जैसे वह एक लोहे का गोल घेरा हो तथा यदि वह हमारा शत्रु बन गया, तो वह उसे एक काने के समान तोड़ सकेगी।" लार्ड लिटन अफगानिस्तान के खण्ड-खण्ड करने के पक्ष में भी था, जिससे वह देश एक प्रबल शक्ति न बन सके। डिज़रैली एक महान् साम्राज्यवादी था तथा लार्ड लिटन ने अफगानिस्तान के विषय में उनकी नीति का पालन किया।

जून १८७८ में, जब बर्लिन की कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तब जनरल स्टोलटाफ़ काबुल के लिए रवाना हो गया। शेरअली ने उसे रोकने का प्रयत्न किया। उसने प्रार्थना की तथा विरोध किया, किन्तु इन दोनों बातों की उपेक्षा कर दी गई। रूस के ज़ार ने धमकी दी कि यदि जनरल के साथ कोई भी छेड़-छाड़ की गई तो वह शेरअली को उत्तरदायी समझेगा। शेरअली को अपनी महान् इच्छाओं के विरुद्ध स्वीकारोक्ति करनी पड़ी। उसे रूस के साथ सन्धि करने के लिए विवश किया गया, जिसके द्वारा उसने दोनों देशों के मध्य स्थायी तथा नित्य मित्रता बनाए रखने की स्वीकृति प्रदान कर दी। जब लिटन को पता चला कि रूसी प्रतिनिधि-मण्डल काबुल पहुँचा है, उसने शेरअली को ब्रिटिश राजदूत को भी स्वीकार करने को कहा, किन्तु शेरअली ने उस माँग को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। यद्यपि रूसी राजदूत अपनी सरकार की आज्ञानुसार काबुल से वापिस चला गया, तथापि लार्ड लिटन स्थिति में परिवर्त्तन के कारण लाभ उठाने में असफल रहा। लार्ड लिटन तथा सैलिसबरी दोनों ने इस बात के लिए आग्रह किया कि शेरअली को ब्रिटिश रैजीडैंट अवश्य रखना चाहिए। लार्ड लिटन के मतानुसार, "मैं उसे रूस के हाथों में कठपुतली बनने के लिए कभी अनुमति प्रदान नहीं करूंगा। इससे पूर्व कि उसका उपयोग किया जा सके, ऐसी कठपुतली को तोड़ना मेरा कर्त्तव्य होगा।"

यदि हम इस विषय की गम्भीरतापूर्वक जाँच-पड़ताल करें, तो यह स्वीकार करना होगा कि शेरअली एक स्वतन्त्र देश का शासक था तथा इसलिए वह बाध्य नहीं था कि वह ब्रिटिश रैज़ीडैंट के लिए स्वीकृति प्रदान करे। ब्रिटिश सरकार का इस बात के लिए जबरदस्ती करना उचित नहीं था। इस सबके होते हुए भी लिटन ने हठ किया कि शेरअली को ब्रिटिश दूत को स्वीकार करना चाहिए। लार्ड लिटन का पत्र काबुल में १७ अगस्त, १८७८ को पहुँचा, जबकि अब्दुल्ला जान की मृत्यु हुई। शेरअली इतना अप्रसन्न था कि लार्ड लिटन को उत्तर भेजने में देरी हो गई। साथ ही अमीर ने रूसी दूत से परामर्श किया, जो उस समय काबुल में था। इन सब बातों से लिटन को क्रोध आया। उसने सर नेविल चैम्बरलेन को किसी काम के लिए पेशावर भेजा, किन्तु उसे अली मस्जिद से आगे नहीं जाने दिया गया। यह बात लार्ड लिटन की सरकार के लिए असह्य थी। अमीर को नवम्बर १८७८ में एक चुनौती दी गई, जिसमें उससे पूर्ण तथा उपयुक्त क्षमा-याचना की माँग की गई तथा उसे ब्रिटिश दूत के लिए स्वीकृति देने को कहा गया। इसका कोई उत्तर नहीं

आया। ब्रिटिश फौजों को चुनौती की अवधि के समाप्त होते ही अफगानिस्तान के प्रदेश में प्रविष्ट होने की आज्ञा दी गई।

जब उसके देश पर आक्रमण किया गया, शेरअली ने रूसी सरकार को सहायता के लिए कहा। दुर्भाग्य से उसे रूसी सरकार ने उस समय धोखा दिया। अपने आपको विवश पाकर शेरअली भाग गया तथा फरवरी १८७९ में मर गया। उसके पुत्र ने ब्रिटिश सरकार के साथ बातचीत आरम्भ कर दी तथा मई १८७९ में प्रसिद्ध गण्डमक की सन्धि को अन्तिम रूप दिया। याकूबखान ने विदेशों के साथ अपने सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार के परामर्श तथा इच्छानुसार रखना स्वीकार कर लिया। उसे काबुल में एक स्थायी रैंजीडैण्ट को स्वीकार करना पड़ा। उसे दर्रा कुर्रम ब्रिटिश सरकार को देना पड़ा। अपनी ओर से ब्रिटिश सरकार ने गद्दी के लिए उसका समर्थन करने का वचन दिया तथा सैनिकों, धन तथा युद्ध-सामग्री के द्वारा सहायता करने का भी आश्वासन दिया। यह निश्चय हुआ कि ब्रिटिश सेनाएँ अफगानिस्तान से हटा ली जाएँगी। पी० ई० राबर्ट्स के अनुसार, यह सन्धि लिटन की अफगान नीति में सबसे अलग-थलग थी। डिज़रैली के अनुसार, इस सन्धि के द्वारा भारत सरकार को एक वैज्ञानिक तथा उपयुक्त सीमा प्राप्त हुई, किन्तु यह व्यवस्था थोड़ी देर के लिए ही चल सकी।

अफगानिस्तान के लोग काबुल में ब्रिटिश रैंजीडैन्ट तथा हिरात में एक प्रतिनिधि की उपस्थिति सहन न कर सके। याकूब के ब्रिटिश सरकार पर आश्रित होने के कारण वह अपने देशवासियों की दृष्टि में गिर गया। नया अमीर परिवर्तनशील, कमजोर तथा चरित्रहीन था। मेजर कवागनारी ब्रिटिश रैंजीडैण्ट के रूप में अपने पद के उपयुक्त न था। वह ऐसा व्यक्ति न था जो नाजुक स्थिति का मुकाबला कर सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके काबुल आने के डेढ़ मास से कम के समय में मेजर कवागनारी को अफगान सेनाओं ने कत्ल कर दिया। यह कहना सम्भव नहीं कि याकूब इस विषय में कितना उत्तरदायी था, किन्तु कवागनारी की हत्या के कारण गण्डमक की सन्धि समाप्त हो गई। ब्रिटिश सेनाएं अफगानिस्तान में शीघ्र ही भेजी गईं। अफगानों को अक्तूबर, १८७९ में चरासियाब के स्थान पर पराजित किया गया। याकूब को राज्य-बन्दी के रूप में भारत भेजा गया। ब्रिटिश सरकार ने निश्चय किया कि अफगानिस्तान को विभक्त कर दिया जाए।

तथापि इस समय अब्दुर्रहमान घटना-स्थल पर प्रकट हुआ। वह दोस्त मुहम्मद के पोतों में से एक था। कई वर्ष तक वह रूसी सरकार के पैन्शनर के रूप में रह चुका था। १८८० में उसने अपने भाग्य की परीक्षा करनी चाही तथा वह अफगानिस्तान के लिए रवाना हो गया। बिना किसी प्रकार का समय नष्ट किए लिटन ने अब्दुर्रहमान को अफगानिस्तान के अमीर के रूप में स्वीकृत करने का निश्चय कर दिया, किन्तु इससे पूर्व कि वह ऐसा कर सकता, उसे १८८० में इंग्लैंड वापिस बुला लिया गया, क्योंकि इंग्लैंड की सरकार में परिवर्तन हो गया था।

लार्ड रिपन ने अब्दुर्रहमान को अफगान के अमीर के रूप में इस शर्त पर स्वीकृत किया कि वह इंग्लैंड को छोड़कर अन्य किसी विदेशी शक्ति के साथ किसी प्रकार के राजनैतिक सम्बन्ध न रखेगा तथा पिशीन और सिब्बी के जिलों को ब्रिटिश सरकार अपने

अधिकार में रखेगी। अमीर को भारत सरकार की ओर से कुछ वार्षिक सहायता देने का निश्चय किया गया। अफगानिस्तान के विदेशी मामलों के भारत सरकार के हाथों में होने के कारण यह आवश्यक नहीं समझा गया कि काबुल में ब्रिटिश रैजीडैंट को रखा जाए। यह समझौता कुछ देर तक चलता रहा। अब्दुर्रहमान के लम्बे शासन-काल में ब्रिटिश सरकार ने अफगानिस्तान के साथ अपने सम्बन्धों को अत्यंत सुखी बनाए रखा। जब अयूब खान ने अब्दुर्रहमान के अधिकारों को चुनौती दी, तब उसे माईवण्ड तथा कन्धार के स्थानों पर पराजित किया गया। लार्ड रिपन के द्वारा ब्रिटिश सेनाएँ अफगानिस्तान से हटा ली गईं।

द्वितीय अफगान युद्ध की आलोचना (Criticism of Second Afghan War)—लार्ड लिटन की अफगानिस्तान के प्रति उसकी नीति के कारण निन्दा की गई तथा इसका परिणाम द्वितीय अफगान युद्ध के रूप में हमारे सामने आया। कुछ लोगों के अनुसार वह आक्रमणात्मक युद्ध था जो अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल हुआ। लार्ड हार्डिंगटन के अनुसार, "लिटन ऐसी भारतीय नीति का निर्माता था, जो भारतीयता से ओतप्रोत थी।" ग्लैडस्टोन ने लार्ड लिटन की नीति की इन शब्दों में निन्दा की, "हमने भूल से १८३८ में अफगानिस्तान के साथ युद्ध किया। भूल करना मनुष्य का कार्य है इसलिए वह क्षम्य है। किन्तु हमने दूसरी बार भी इसी आधार पर भूल की तथा उसका कोई कारण न था। यह भूल प्रत्येक विचारणीय चेतावनी के होते हुए भी दोहराई गई तथा यह कार्यकुशल एवं दक्ष अधिकारियों के होते हुए भी की गई। लोकोक्ति रूप में यह कहा जाता है कि इतिहास अपने आपको स्वयं दोहराता है तथा ऐसा अवसर कठिनता से ही प्रस्तुत हुआ है, जिसमें इस प्रकार की पहचान के लिए वर्तमान तथा पूर्व के युद्ध की अपेक्षा और समीपतर मार्ग हो। भगवान् अनिष्ट से रक्षा करे। भगवान् ऐसे विनाश के दोहराए जाने से हमें बचाए, जो हमारे देश पर १८४१ में आया।"

यद्यपि डिज़रैली तथा सैलिसबरी ने लार्ड लिटन का सार्वजनिक समर्थन किया किन्तु उन्होंने चैम्बरलेन को भेजे जाने को पसन्द न किया। डिज़रैली के मतानुसार, लिटन की नीति पूर्ण रूप से उन परिस्थितियों के अनुकूल उचित है, जिनमें रूस आक्रान्ता था, किन्तु रूस हमारा आक्रान्ता नहीं। उसने अपनी विरोधी स्थिति को सच्चे मन के साथ छोड़ दिया है, किन्तु यह कार्य उसने गौरवपूर्ण तरीके से नहीं किया तथा यदि लिटन केवल शान्त रहता तथा मेरी आज्ञाओं का पालन करता, मुझे कोई सन्देह नहीं कि रूस की शिक्षा के अनुसार शेरअली भी उसी प्रकार नीतिज्ञ होता।

लार्ड सैलिसबरी के अनुसार लिटन ने ब्रिटिश सरकार के हाथों को प्रारम्भ से ही मजबूर किया। उसने केवल भारत का ही ध्यान किया तथा उसने ब्रिटिश सरकार की यूरोप तथा तुर्की में विदेशी नीति को प्रतिपादित किया। उसने दो बार आज्ञाओं का उल्लंघन किया, एक बार दर्रा खैबर पर कार्रवाई करते हुए तथा दूसरी बार मिशन भेजने में। इस सम्बन्ध में उसने उन आवश्यक तथा बार-बार की आज्ञाओं के भी विरुद्ध कार्य किया, जिनके अनुसार उसे कहा गया था कि उसे वैसा तब तक न करना चाहिए, जब तक ब्रिटिश सरकार को रूस से प्रतीक्षित पत्र न मिल जाए। सैलिसबरी ने लिटन के व्यवहार की सख्त शिकायत की। डिज़रैली के मतानुसार लिटन को "कहा गया था कि वह तब तक प्रतीक्षा करे, जब तक हम रूस से अपने प्रतिवाद का उत्तर नहीं प्राप्त कर लेते। मैं इस सम्बन्ध

में काफी दृढ़ था, तथा इस सम्बन्ध में मेरी सम्मति के लिए प्रबल कारण थे। उसने हमारी आज्ञाओं का उल्लंघन किया। मुझे लार्ड सैलिसबरी ने आश्वासन दिया था कि किसी भी परिस्थिति में दर्रा खैबर के सम्बन्ध में कार्रवाई नहीं करनी चाहिए। कोई भी वस्तु मुझे ऐसे पग उठाने के लिए प्रेरित नहीं कर सकती थी। उसे कहा गया कि वह कन्धार के मार्ग से मिशन भेजे। उसने उसे दर्रा खैबर के मार्ग से भेजा है।''

द्वितीय अफगान युद्ध की कुछ भी आलोचना क्यों न हो, यह नहीं कहा जा सकता कि युद्ध पूर्ण रूप से बिना किसी परिणाम के हुआ। शेरअली को जिसका झुकाव रूस की ओर था, निकाल दिया गया तथा उसके स्थान पर अब्दुर्रहमान को गद्दी पर बिठाया गया, जो भारत सरकार के साथ मैत्री के सम्बन्ध रखता था। काबुल में रूस के प्रभाव पर अंकुश रखा गया। कलात का नवाब भी ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण में आ गया। बलोचिस्तान का प्रान्त निर्मित किया गया। कोयटा भी ब्रिटिश सरकार के हाथों में ही रहा।

१८८४ में रूसियों ने मर्व पर अधिकार किया। इसे ब्रिटिश सरकार ने पसन्द नहीं किया। मार्च १८८५ में, प्रसिद्ध पन्जदेह घटना घटी। रूस तथा अफगान सेनाओं में संघर्ष हो गया। युद्ध का तात्कालिक खतरा हो गया। तथापि भारत के वायसराय लार्ड डफरिन के प्रयत्नों से स्थिति को बचा लिया गया। अब्दुर्रहमान ने संयम से व्यवहार किया। प्रारम्भ में ग्लैडस्टोन ने पंजदेह पर रूसी आक्रमण को ऐसा आक्रमण बताया जो बिना किसी भड़काने के किया गया था। तथापि उसने इस विषय को डैन्मार्क के बादशाह को पंच-निर्णय के लिए भेजना मान लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध टल गया। रूसियों ने पंजदेह को अपने नियन्त्रण में रखा, किन्तु अमीर अब्दुर्रहमान को सूल फकीर दर्रा प्राप्त हो गया। रूस तथा अफगानिस्तान के मध्य सीमा-रेखा बाद में निश्चित हो गई तथा जुलाई १८८७ में उसे पुष्टि प्राप्त हो गई।

१९०१ में अब्दुर्रहमान की मृत्यु हो गई तथा उसके पश्चात् हबीबुल्लाह गद्दी पर बैठा। कुछ समय के लिए नवाब तथा भारत सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध मित्रतापूर्ण न थे। तथापि मार्च १९०५ में गलतफहमी का निवारण हो गया तथा अमीर ने अपनी सहायता राशि लेनी आरम्भ कर दी। अमीर पर रूस की ओर झुकाव रखने के सम्बन्ध में सन्देह किया गया। १९०७ में प्रसिद्ध ऑांग्ल-रूसी प्रतिनिधि सम्मेलन बुलाया गया। रूस ने इस बात को स्वीकार किया कि अफगानिस्तान उसके प्रभावाधीन क्षेत्र में नहीं है। रूस ने अफगानिस्तान के साथ भारत सरकार के माध्यम से अपने सम्बन्धों का निर्वाह करना स्वीकार कर लिया। तथापि ये शर्तें अमीर के द्वारा पुष्ट न की गईं। १९१० में हबीबुल्ला की हत्या कर दी गई। उसकी प्रजा ने उसके देशवासियों को पश्चिमी बनाने की नीति को स्वीकार नहीं किया।

उसके पुत्र अमानुल्लाह का ब्रिटिश सरकार की ओर मित्रतापूर्ण झुकाव न था। इससे तीसरा अफगान युद्ध हुआ। अमानुल्लाह ब्रिटिश प्रदेश में प्रविष्ट हो गया तथा उसकी सेनाओं ने उन सब को नष्ट करना आरम्भ कर दिया, जो भी उसके मार्ग में आया। यद्यपि प्रारम्भ में पराजय हुई तथापि भारतीय सेना आक्रमणकारियों को खदेड़ने में सफल हो गई। रावलपिंडी की सन्धि से तीसरा अफगान युद्ध समाप्त हुआ। इस सन्धि पर अगस्त

१९१९ में हस्ताक्षर हुए। नवम्बर १९२१ में एक अन्य सन्धि हुई। इन दोनों सन्धियों का स्पष्ट परिणाम यह निकला कि अफगानिस्तान अपने विदेशी मामलों में पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। ब्रिटिश सरकार अफगानिस्तान को किसी प्रकार की आर्थिक सहायता देने को बाँध्य नहीं रही। १९२२ में लन्दन में अफगान मन्त्री तथा काबुल में ब्रिटिश मन्त्री नियुक्त किया गया।

अफगानिस्तान के लोगों ने अमानुल्लाह के सुधारों के सम्बन्ध में दोष प्रकट किया तथा परिणामस्वरूप उसे विवश किया गया कि वह राजगद्दी छोड़ दे। कुछ देर के लिए शक्ति बच्चा सक्का के हाथों में आई तथापि मुहम्मद नादिरशाह ने शान्ति स्थापित की। वह अफगानिस्तान का बादशाह बना। जब कभी उस देश में कोई अशान्ति हुई, तब भारत सरकार ने अफगानिस्तान के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया।

Questions for Revision

1. Discuss the causes of the First Afghan War and examine the extent to which Auckland was responsible for the disaster to the British forces.

2. "The first Afghan War was a wild parrying of an imagined stroke by Russia." Discuss.

3. Trace the course of the events leading to the First Afghan War. Discuss in this connection the policy and activity of Lord Auckland and his responsibility for the disastrous results of the war.

4. Distinguish the different phases of British policy towards Afghanistan in the 19th century, describing the object and relative success of each phase.

5. Describe the policy and masterly inactivity as pursued by John Lawrence and its consequences.

6. "Lord Northbrook's policy deserves far more than that of Sir John Lawrence to be called masterly inactivity." Elucidate the statement.

7. Would you condemn the Second Afghan War as a war of aggression ? Make out a case in defence of your view.

अध्याय ३१

भारतीय रियासतें

(The Indian States)

सर विलियम ली वार्नर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "भारत की देशी रियासतें" में १९१९ के माँटफ़ोर्ड सुधारों के प्रचलन तक तीन युगों का उल्लेख किया है। प्रथम युग में अंग्रजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रिङ्ग फेंस नीति का अनुकरण किया तथा यह युग १७५७ से १८१३ तक रहा। दूसरा युग १८१३ से १८५७ तक चला तथा उसका नाम लेखक ने "आधीन अलगाव की नीति रखा"। तीसरा युग १८५८ से १९१९ तक चला तथा उसका नाम "आधीन संघ" रखा।

१. रिङ्ग-फेंस नीति, १७५७-१८१३ (Ring-fence Policy)—ली वार्नर के मतानुसार, इस काल में अंग्रेजों का यथासम्भव प्रयत्न रहा कि वे अपने मर्यादित घेरे में रहें तथा उससे आगे वे नरेशों के साथ परस्पर सम्वन्ध टालते रहें। अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी उस समय बहुत शक्तिशाली नहीं थी। वह इस स्थिति में नहीं थी कि वह भारतीय रियासतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर सके। न उसके पास इतनी शक्ति थी और न साधन कि वह भारतीय रियासतों को पराजित कर सके। वह केवल भारत में स्थित महत्त्वपूर्ण शक्तियों में से एक थी। अन्य शक्तियाँ मराठे, फ्रांसीसी, निज़ाम तथा मैसूर का सुलतान थे। इस स्थिति का परिणाम यह था कि जब कभी कम्पनी किसी भारतीय रियासत के साथ सन्धि में प्रविष्ट होती, तब वह समता तथा परस्पर कार्य के आधार पर ऐसा करती थी।

कुल मिलाकर कम्पनी ने रियासतों के विषय में अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया। पिट के भारतीय अधिनियम में यह अंकित था कि ब्रिटिश सरकार भारत-स्थित अपने अधिकारियों के द्वारा भारतीय रियासतों के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करती। तथापि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कुछ अवसरों पर कम्पनी को भारतीय रियासतों के मामले में हस्तक्षेप करना पड़ा। इस प्रकार, वारेन हेस्टिंग्ज़ ने प्रथम मराठा युद्ध तथा द्वितीय मैसूर युद्ध लड़े। इसी प्रकार लार्ड कार्नवालिस ने तृतीय मैसूर युद्ध लड़ा तथा उसके आधे प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया। लार्ड वैल्ज़ली को चौथा मैसूर युद्ध तथा द्वितीय मराठा युद्ध लड़ने पड़े। उसने हैदराबाद तथा अवध को विवश किया कि वे कम्पनी के साथ सहायता-समझौतों में सम्मिलित हो जाएँ। लार्ड मिण्टो ने १८०९ में अमृतसर की सन्धि महाराजा रणजीत सिंह के साथ की तथा सिस-सतलुज रियासतों को सुरक्षा प्रदान की, जिनका अस्तित्व ही महाराजा रणजीत सिंह के कारण खतरे में था।

इस युग के सम्बन्ध में ली वार्नर कहता है, "जब इन ५६ व्यस्त वर्षों की घटनाओं के सम्बन्ध में हम विचार करते हैं, तब कम्पनी की चिन्ता स्पष्ट हो जाती है। १७६४ में बक्सर का युद्ध हुआ, जब अवध मेजर मुनरो के पैरों पर पड़ा था, किन्तु तो भी उसे अंग्रेजी

राज्य में नहीं मिलाया गया; रुहेलों का युद्ध हुग्रा, जिसके पश्चात् वारेन हेस्टिंग्ज़ जीत गया तथा उसने ग्रवध के वजीर को कुछ प्रदेश दिए; मराठों का पहला युद्ध हुग्रा, जिसकी समाप्ति *सल्बाई की सन्धि (१७८२)* से हो गई; तथा चार मैसूर के युद्ध हुए, जिनसे ग्रँग्रेजों के साथियों ने मुख्य लाभ प्राप्त किया, जब कि पहला मैसूर का हिन्दू वंश हैदरग्रली की राख से तथा टीपू के प्रदेशों से वृद्धि को प्राप्त हुग्रा।"

इस युग के सम्बन्ध में पन्निकर दो बातों की ग्रोर, विशेष रूप से भारतीय रियासतों के साथ ग्रंग्रेजी कम्पनी के सम्बन्ध में, इशारा करते हैं।

(१) "मैसूर को छोड़कर सब सन्धियाँ समता के ग्राधार पर की जाती हैं। कम्पनी ने इसी प्रकार के बड़प्पन ग्रथवा साम्राज्यवादी ग्रधिकार का दावा नहीं किया तथा सन्धियाँ ग्रपने ग्रापमें केवल यही प्रकट करती हैं कि कम-से-कम उन रियासतों के विषय में, जिन्हें नहीं जीता गया, एक प्रकार की लेने ग्रौर देने की भावना थी।"

(२) "इनमें से प्रत्येक सन्धि सर्वाधिक गम्भीर रूप से इस बात का ग्राश्वासन प्रदान करती है कि शासक का ग्रपनी प्रजा पर पूर्ण ग्रधिकार होना चाहिए, तथा यह पूर्ण रूप से रियासत के मामलों में हस्तक्षेप करने के दावों का पूर्ण बल से खण्डन करती है।" (भारतीय रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति का परिवर्तन, १७७४-१८५८)

२. आधीन अलगाव की नीति, १८१३-१८५८ (Policy of Subordinate Isolation)—इस युग में कम्पनी ने सब भारतीय रियासतों को ग्रपने ग्राधीन कर दिया, जब कि उसने स्वयं उन्हें सहायता समझौते के लिए विवश कर दिया। भारतीय रियासतों को देश में कम्पनी को सबसे बड़ी शक्ति स्वीकार करने पर विवश किया गया।

उन्हें या तो धन ग्रथवा पर्याप्त प्रदेश देना पड़ता, जिससे कम्पनी ग्रावश्यकता के ग्रनुसार सैनिक शक्ति राज्य में स्वयं रख सके ग्रथवा ग्रपनी सेना राज्य के बाहर भी रख सके। सहायता सन्धि में सम्मिलित होने वाले राज्य को गैर-ग्रंग्रेज तथा यूरोपीय कर्मचारियों को ग्रपनी सेवा से ग्रलग करना पड़ा। वह ब्रिटिश सरकार के माध्यम के सिवा किसी प्रकार विदेशी सम्बन्धों को नहीं कर सकता था। ग्रन्य शक्तियों के साथ ग्रपने सब प्रकार के झगड़ों में रियासतों को ब्रिटिश सरकार को सरपंच के रूप में स्वीकार करना पड़ता था। ब्रिटिश सरकार को इसके बदले में राज्य की प्रादेशिक पूर्णता के सम्बन्ध में ग्राश्वासन देना पड़ता था। सहायक पद्धति के सम्बन्ध में लिखते हुए सर थामस मुनरो ने विचार प्रकट किया कि, "यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि प्रत्येक देश की सरकार, जिसमें यह सहायक पद्धति रहती है उसे कमजोर तथा पीड़ित बनाए, समाज के उच्च वर्गों में सब ग्रादर योग्य भावनाग्रों को बुझा सके, जिससे कि सब लोगों को नीचे की ग्रोर गिराया जा सके ग्रौर उन्हें निर्धन बनाया जा सके।" "लन्दन टाइम्ज़" ने १८५३ में इस प्रकार लिखा, "ऐसा कहा गया है कि हम इन राजाग्रों को बिना उत्तरदायित्व के उनका संरक्षण करते हैं। हमारा लोहे का हाथ उनकी शारीरिक ग्रथवा मानसिक दुर्बलता, उनके दोषों तथा ग्रपराधों के होते हुए भी उन्हें राजगद्दी पर बनाए रखता है। इसका यह परिणाम है कि प्रबल ग्रराजकता छा रही है जिसके कारण राजस्व का वितरण कैम्प के स्वार्थी लोगों के माध्यम से होता है। यह धारणा वास्तव में स्वीकृत प्रतीत होती है, सरकार जनता के लिए नहीं है, ग्रपितु जनता बादशाह के लिए

है। जब तक कि हमें बादशाह की निष्ठा सुरक्षित रूप से प्राप्त है, तब तक हम अपने समस्त कर्त्तव्य का पालन करते हैं, जो हमें भारत के स्वामियों के रूप में उस प्रजा के प्रति पालन करने चाहिएँ, जो वास्तव में हमारी है।"

लार्ड हेस्टिंग्ज़ मध्य भारत की १४५, काठियावाड़ की १४५ तथा राजपूताना की २० रियासतों को सहायक पद्धति में लाया। उसने आधीनता तथा अलगाव का नीति का अनुसरण किया, किन्तु वह भारतीय रियासतों के अंग्रेजी राज्य में मिलाए जाने के विरुद्ध था। उसके उत्तराधिकारी उसके इस विचार से सहमत न थे तथा उन्होंने सिन्ध, पंजाब, अवध तथा अन्य छोटी रियासतों को अंग्रेजी राज्य में मिला दिया। लार्ड डलहौज़ी की सम्मति थी कि लार्ड हेस्टिंग्ज़ भूल पर था जब उसने छोटे राज्यों को आश्रय दिया तथा कुशासन को रोकने का एकमात्र मार्ग यह था कि उन्हें अंग्रेजी राज्य में मिला दिया जाए। उसने रचनात्मक जागीरदारी की पद्धति का आरम्भ किया तथा उत्तराधिकारी के अभाव में सम्पत्ति के राजा को मिलने तथा लय की नीति का प्रारम्भ किया, जिसके द्वारा उसने सतारा, नागपुर, तंजौर, जैतपुर तथा झाँसी को अंग्रेजी राज्य में मिलाया।

उस लय की नीति का अभिप्राय यह था कि स्वाभाविक उत्तराधिकारियों के न होने पर स्वतन्त्र रियासतों की अधिकृत सत्ता, विशेष रूप से ब्रिटिश सरकार के द्वारा बनाई गई अथवा आधीन अवधि के लिए नियन्त्रित रियासतें ब्रिटिश महान् सत्ता के पक्ष में व्यपगत (lapse) हो जाती थीं। ब्रिटिश सरकार उन रियासतों के उस अधिकार को स्वीकार न करती थी, जिसके द्वारा वे उत्तराधिकारी को गोद ले सकें, यद्यपि ऐसी परम्परा काफी लम्बे समय तक विद्यमान रही। तथापि लय की नीति "संरक्षित मित्रों" पर लागू न होती थी। कुछ भारतीय रियासतों के प्रशासन के दोषों का उल्लेख करते हुए लार्ड डलहौज़ी ने घोषणा की, "ब्रिटिश सरकार बुद्धिमत्तापूर्ण तथा गम्भीर नीति का प्रयोग करते हुए इस बात के लिए बाध्य है कि जैसे समय-समय पर अवसर प्रस्तुत हों, वह प्रदेश अथवा राजस्व के हस्तगत करने के उचित अवसरों को न छोड़े, अथवा उपेक्षित करे, चाहे वे आधीन राज्यों के सब प्रकार के उत्तराधिकारियों के अभाव के कारण लय से उत्पन्न हों, अथवा स्वाभाविक उत्तराधिकारियों के न होने से, जहाँ उत्तराधिकार केवल सरकार की स्वीकृति से प्राप्त हो, जिसके द्वारा गोद लेने का संस्कार हिन्दू कानून के अनुसार किया जा सके, सरकार कर्त्तव्य के रूप में तथा नीति के रूप में ऐसे प्रत्येक अवसर पर पवित्रता सहित तथा सत्यनिष्ठा से कार्य करने के लिए बाध्य है। जब कभी सन्देह की एक छाया भी प्रकट की जा सकती है, ऐसा दावा शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए।"

श्री गुरुमुख निहालसिंह के अनुसार, १८५७ के विद्रोह के लिए पर्याप्त रूप से राज्यों को ब्रिटिश राज्य में सम्मिलित करने तथा सहायक सन्धियों की दोनों नीतियों को इस दोष के लिए उत्तरदायित्व परस्पर अवश्य विभक्त करना चाहिए।

दूसरे युग के सम्बन्ध में कर्नल लुआर्ड कहते हैं—"यह युग रियासतों के ब्रिटिश सरकार के साथ सम्बन्ध के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग ने अर्ध-स्वतन्त्र इकाइयों के आमूल परिवर्तन के दर्शन किए। उनमें से कुछ स्पष्ट रूप से विरोधी हैं, अधिकांश दिल से कुढ़े हुए हैं, तथा सभी सन्दिग्ध तथा क्रोधयुक्त हैं···पग-पग पर अपनी इच्छा के विरुद्ध कम्पनी अपनी रिङ्ग फेंस तथा अहस्तक्षेप की नीति को छोड़ने के लिए अपने

निष्ठुर भाग्य से खिंची हुई थी तथा इस प्रकार आधीन सम्बन्ध की पद्धति से सहकारी भाईचारे की बुद्धिमत्तापूर्ण तथा उदार नीति की ओर—जो आज दृढ़ स्थिति में है—बढ़ रही थी।" (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५)

३. **अधीनस्थ संघ की नीति** (Policy of Subordinate Union)—भारतीय रियासतों के साथ भारत सरकार के सम्बन्धों के इतिहास में विद्रोह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। यह बात सब ओर से स्वीकृत की गई कि विद्रोह के महत्त्वपूर्ण कारणों में से एक कारण डलहौज़ी की वह नीति थी, जिसके आधीन वह किसी-न-किसी बहाने भारतीय रियासतों को ब्रिटिश राज्य में सामूहिक रूप से मिलाना चाहता था। विद्यमान परिस्थितियों का प्रतिकार करने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में भारत सरकार की नीति में परिवर्तन किया जाए। परिणामस्वरूप सम्राज्ञी की १८५८ की उद्घोषणा में यह घोषणा की गई कि ब्रिटिश सरकार भविष्य में भारतीय रियासतों को अपने राज्य में नहीं मिलाएगी। "हम भारत के देशी राजाओं के प्रति यह घोषणा करते हैं कि हम उन सब सन्धियों तथा इकरारनामों को स्वीकार करते हैं, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अथवा उसकी ओर से किए गए तथा हम उन पर पूर्ण रूप से पाबन्द रहेंगे। हम यह भी चाहते हैं कि वे भी उन पर चलें। हम अपने वर्तमान इलाके में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं चाहते। हम देशी राजाओं के अधिकारों, गौरव तथा प्रतिष्ठा को अपने समान समझेंगे।" भारतीय शासकों को गोद लेने का अधिकार देने की व्यवस्था की गई यदि उनके पश्चात् उनका कोई पुत्र गद्दी पर बैठने के लिए न हो। किसी रियासत को ब्रिटिश राज्य में इस कारण मिलाए जाने पर पाबन्दी लगा दी गई कि शासक का कोई पुत्र न हो। भारतीय रियासतों को सनदें देने का निश्चय किया गया। भारतीय शासकों को १६० सनदें दी गईं। उन्हें आश्वासन दिया गया कि उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचाई जाएगी, "जब तक वे सम्राट् के प्रति आज्ञाकारी हैं तथा सन्धियों, अनुदानों तथा निश्चयों की शर्तों के प्रति आज्ञाकारी हैं, जिनके द्वारा ब्रिटिश सरकार के साथ उनका लागू होना प्रमाणित होता है।" किन्तु सनदों की स्वीकृति से पूर्व लार्ड कैनिंग ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत सरकार देशी सरकार के द्वारा अनुचित अवस्था में पग उठाए जाने अथवा अराजकता तथा दंगों की अवस्था में समुचित कार्रवाई करने से नहीं चूकेगी तथा यदि किसी देशी रियासत के अस्थाई प्रबन्ध को भी ब्रिटिश सरकार द्वारा संभालने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तो सरकार वैसा करने से भी नहीं चूकेगी।···न ही आश्वासन से हमारा अधिकार समाप्त हो जाएगा, जिसके द्वारा हम किसी रियासत की यात्रा कर सकेंगे अथवा समझौतों अथवा सन्धियों के उल्लंघन अथवा आज्ञा न मानने की अवस्था में ऊँचे से ऊँचे जुर्माने अथवा सम्पत्ति की जब्ती से भी नहीं चूकेंगे।" प्रो० डॉडवैल के शब्दों में, "इन सनदों का महत्त्व यह था कि रियासतों को भी भारतीय पद्धति का अभिन्न अंग समझ लिया गया। अब उनकी स्थिति केवल ऐसी अस्थायी सरकारों की नहीं थी जो ऐसे राजनैतिक अवसरों की प्रतीक्षा में हों जिनसे उनकी क्रमिक समाप्ति को उचित ठहराया जा सके। राजाओं को अब उस दृष्टि से नहीं देखा जाता था कि उन्हें ऐसे समझौते के लिए विवश किया जा सके जो बराबरी का न हो। वे अब साम्राज्य के सदस्य बन गए थे तथा उनकी नई स्थिति को इच्छापूर्वक स्वीकार किया गया था। (कैम्ब्रिज हिस्ट्री

ग्राफ इण्डिया, भाग ६) यह घोषणा की गई कि कम्पनी के द्वारा भारतीय रियासतों के साथ सन्धियाँ जारी रहेंगी।

गदर के कारण भारत सरकार तथा भारतीय जनता के सम्बन्ध कटु हो गए थे। ब्रिटिश लोग विद्रोह के दिनों में यूरोपियनों की नृशंस हत्याओं को भूलने के लिए उद्यत न थे तथा यही बात समान रूप से भारतीयों के विषय में सत्य थी। इन परिस्थितियों में भारत-स्थित ब्रिटिश सरकार देश में कुछ ऐसे साथियों की आवश्यकता समझती थी जो भारतवासियों के विरुद्ध हों; ऐसे व्यक्ति उसे भारतीय राजाओं में ही प्राप्त हो सकते थे। भारतीय रियासतों के प्रति पुराने द्वेष तथा सन्देह की नीति छोड़ दी गई। उन्हें अलग रखने के स्थान पर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें इकट्ठा करने के लिए प्रयत्न किया, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय रियासतों को पूर्व की अपेक्षा कार्य करने की अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। कई अवसरों पर ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रियासतों पर अपने प्रभुत्व के सम्बन्ध में घोषणा की।

भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व (British Paramountcy in India)—लार्ड कैनिंग ने १८५८ में इस प्रकार घोषणा की : "इंग्लैंड का साम्राज्य सारे भारत में एक ऐसा शासक है, जिसके सम्बन्ध में कोई किसी प्रकार का प्रश्न नहीं किया जा सकता तथा जो सारे भारत में प्रभुत्वशाली शक्ति है। इंग्लैंड के प्रभुत्व में एक वास्तविकता है, जो पहले कभी विद्यमान नहीं रही तथा जिसके सम्बन्ध में अनुभव नहीं किया जा सकता, किन्तु जिसे राजा लोग उत्सुकतापूर्वक स्वीकार करते हैं।" इसी प्रकार के वक्तव्य लार्ड मेयो, लार्ड लिटन, लार्ड लैंसडाउन, लार्ड मिण्टो तथा लार्ड रीडिंग ने दिए। १९०९ में, लार्ड मिण्टो ने कहा, "हमारी नीति देशी रियासतों के मामलों में कुछ अपवादों को छोड़कर हस्तक्षेप न करने की है, किन्तु उनकी भीतरी स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में आश्वासन देने तथा बाह्य आक्रमणों से उनकी रक्षा का भार उठाने का स्वाभाविक परिणाम यह है कि साम्राज्य कौंसिल ने अपने प्रशासन को सामान्य दृढ़ता के लिए कुछ सीमा तक उत्तरदायित्व को अपने ऊपर ले लिया था तथा वह बुरे शासन के लिए अव्यक्त रूप से उत्तरदायित्व लेने को उद्यत न था। ऐसे कुछ निश्चित विषय हैं, जिनमें भारत सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह सामूहिक रूप से राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के लिए कार्रवाई करे। इसके साथ ही साथ शक्तिशाली राज्य की अन्य शक्तियों जैसे रेलों, तार तथा अन्य साम्राज्यवादी ढंग की सेवाओं के हितों का भी ध्यान रखना उसके लिए आवश्यक है। किन्तु रियासतों के साथ सर्वोच्च सरकार का सम्बन्ध एक प्रकार का आधिपत्य है।"

लार्ड रीडिंग ने मार्च १९२६ में हैदराबाद के निजाम को इस प्रकार लिखा—"भारत में ब्रिटिश सामाज्य का प्रभुत्व सर्वोच्च है तथा इसलिए भारतीय रियासत का कोई भी शासक ब्रिटिश सरकार के साथ यथोचित रूप से समान स्तर से बातचीत करने में न्यायसंगत नहीं। इसका महत्त्व न केवल सन्धियों तथा समझौतों पर आधारित है, अपितु उसकी सत्ता उनसे स्वतन्त्र रूप से भी विद्यमान है तथा विदेशी शक्ति तथा नीतियों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों में तो यह विशेष रूप से ऐसी ही है। यह ब्रिटिश सरकार का अधिकार तथा कर्त्तव्य है कि भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में सब प्रकार की सन्धियों अथवा निश्चयों का आदर करते हुए शान्ति तथा सुव्यवस्था को बनाए रखे। पुनः मैं आप

श्रीमान् को स्मरण कराना चाहता हूँ कि अन्य शासकों के साथ ही हैदराबाद के शासक ने भी १८६८ में एक सनद प्राप्त की, जिसमें भारत सरकार की उस इच्छा की घोषणा की गई थी कि उसके घर तथा सरकार की पूर्ण रक्षा की जाए। इसकी एक मात्र शर्त यह है कि सम्राट् अथवा साम्राज्य के प्रति उसकी लगातार वफादारी की भावना बनी रहे तथा हैदराबाद के मसनद पर किसी प्रकार का उत्तराधिकार वैध नहीं जब तक कि सम्राट् उसको स्वीकार न करे तथा यह बात भी ध्यान योग्य है कि विवादग्रस्त उत्तराधिकार के विषय में ब्रिटिश सरकार ही एक मात्र सरपंच है। राजा विभिन्न अंशों में जिस प्रकार के भीतरी अधिकार का उपभोग करते हैं, यह सब इस उत्तरदायित्व के सर्वोच्च अधिकारों पर निर्भर करता है।"

राज-पत्र की विज्ञप्ति संख्या १७०० ई० तिथि २१ अगस्त, १८९१ में भारतीय रियासतों की स्थिति को इन शब्दों में वर्णन किया गया है—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का भारत सरकार पर सम्राज्ञी के प्रतिनिधि रूप में एक ओर तथा सम्राज्ञी के प्रभुत्व के आधीन देशी रियासतों का दूसरी ओर कोई भी सरोकार नहीं। भारत सरकार के अत्यन्त प्रभुत्व का होना दूसरे (भारतीय रियासतों) की आधीनता को प्रकट करता है। १९०० के सरकार के एक प्रस्ताव में इस प्रकार कहा गया है, "जब गवर्नर-जनरल की सम्मति में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी महत्त्वशाली रियासत के शासक के अधिकारों, प्रतिष्ठाओं, शक्तियों अथवा सुविधाओं, जिन्हें उसे प्राप्त करने का अधिकार है अथवा एक उत्तराधिकारी, राजकुमार अथवा शासक के किसी अन्य परिवार के सदस्य को अयोग्य निश्चित करना, जिसे अपनी रियासत के कानून तथा प्रथा के अनुसार उत्तराधिकार का अधिकार है, गवर्नर-जनरल एक जाँच आयोग की नियुक्ति करेगा जो मामले के तथ्यों की पड़ताल करेगा तथा उस सम्बन्ध में अपना परामर्श देगा, जब तक कि वह शासक स्वयं यह नहीं चाहे कि आयोग की नियुक्ति नहीं की जाएगी।" यदि शासक आयोग की नियुक्ति में सहमत न होता, तब उसका भाग्य डूब गया समझना चाहिए।

सर्वश्रेष्ठ साम्राज्य तथा भारतीय रियासतों के मध्य सम्बन्ध के विषय में बटलर कमेटी ने कहा कि "वह एक जीवित, विकासशील ऐसा सम्बन्ध है जिसे परिस्थितियों तथा नीति ने बनाया, तथा जो इतिहास, कल्पना तथा वर्त्तमान तथ्यों का मिश्रण है।" १८७७ की एक अधिकृत घोषणा में कहा गया कि "प्रभुत्व एक धीरे-धीरे विकासशील वस्तु है··· जिसका रूप आंशिक रूप से विजय, आंशिक रूप से सन्धि से तथा आंशिक रूप से व्यवहार से बनता है।···"

भारत सरकार ने अपने प्रभुत्व के सम्बन्ध में कई अन्य अवसरों पर भी बल दिया। १८७६ में सम्राज्ञी विक्टोरिया ने अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् "कैसरे हिन्द" की उपाधि धारण की। उस अवसर पर लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक दरबार लगाया तथा सभी भारतीय रियासतों के शासकों को उसमें सम्मिलित होना पड़ा। ऐसा कहा जाता है कि बड़ी रियासतों के शासकों ने इस बात का विरोध किया कि उनका स्तर तथा प्रतिष्ठा गिराई गई है किन्तु उन्हें विवश किया गया कि वे ब्रिटिश सम्राट् के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता की शपथ लें तथा कम्पनी के द्वारा की गई सन्धियों तथा समझौतों के अनुसार व्यवहार किए जाने वाले दावे को छोड़ दें अथवा भूल जाएँ।

ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रियासतों की आधीन स्थिति पर बल दिया, यद्यपि उन रियासतों को अपनी निरन्तर सत्ता के सम्बन्ध में आश्वासन दिए गए। इस युग में कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल भारत सरकार के राजनैतिक विभाग के द्वारा भारतीय रियासतों पर पूर्ण नियन्त्रण के अधिकार का प्रयोग करते थे। वास्तव में भारतीय नरेशों को कार्य करने की कोई स्वतन्त्रता न थी। वे रैंजीडैन्टों के नियन्त्रण में थे। रैंजीडैन्ट रियासत में ब्रिटिश हितों को देखता तथा नरेश को मित्रतापूर्ण परामर्श देता था। वह सर्वोच्च शक्ति (सम्राट्) अथवा रियासत के मध्य में संचार के माध्यम के रूप में कार्य करता था। वास्तव में वही वास्तविक शासक तथा राजा का स्वामी था। पणिक्कर के अनुसार, "वे सब लोग, जिन्हें भारतीय रियासतों का निजी अनुभव है, जानते हैं कि रैंजीडेंसी की कुसकुसाहट भी रियासत की गरज है तथा ऐसा कोई विषय नहीं, जिस पर रैंजीडेंट अपना परामर्श देने में अपने आपको योग्य नहीं समझता।" उसका परामर्श प्रायः एक आज्ञा का रूप होता था।

ब्रिटिश सरकार का दावा था कि उन्हें सब उपाधियों, प्रतिष्ठा, तोपों की सलामी तथा अन्य प्राथमिकताओं की स्वीकृति तथा उपयोग के सम्बन्ध में नियन्त्रण करने का पूर्ण अधिकार है। कोई भी नरेश ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति के बिना विदेशी उपाधियों को स्वीकार नहीं कर सकता था। वह स्वयं भी किसी को उपाधि का दान नहीं कर सकता था। किसी राजा के लिए तोपों की सलामी के सम्बन्ध में भी ब्रिटिश सरकार ही निश्चय करने का अधिकार रखती थी।

सर्वोच्च शक्ति ही राजाओं को गद्दी से उतारने तथा कुछ परिस्थितियों में गद्दी छोड़ने तक के लिए विवश करने के सम्बन्ध में अधिकार का प्रयोग करती थी, जैसा कि बड़ौदा तथा मणिपुर के सम्बन्ध में हुआ। यह अभीष्ट प्रतीत होता है कि इन दो मामलों के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहे जाएँ।

बड़ौदा का मामला (Baroda)—बड़ौदा के मामले में, १८७० में भाई की मृत्यु पर मल्हारराव गायकवाड़ बड़ौदा की गद्दी पर बैठा। रियासत के प्रशासन का स्तर गिर गया। १८७४ में भारत सरकार ने एक जाँच आयोग की नियुक्ति की जिसका कार्य उस विषय में जाँच करना तथा सुधार के सम्बन्ध में सुझाव देना था। नरेश ने उसका विरोध किया। भारतीय सरकार ने इन शब्दों में उत्तर दिया—

"यह हस्तक्षेप, यद्यपि सन्धियों की भाषा के द्वारा पूर्ण रूप से न्याय्य ठहरता है, अन्य आधारों पर भी आश्रित है। आप श्रीमान् ने ठीक ही कहा है कि "ब्रिटिश सरकार निस्सन्देह भारत में प्रभु शक्ति है तथा देशी रियासतों का अस्तित्व तथा उनकी सम्पन्नता इसकी पोषक कृपा तथा दयालु सुरक्षा पर निर्भर है।" बड़ौदा रियासत के विषय में यह विशेष रूप से सत्य है। प्रथम तो इसकी भौगोलिक स्थिति ब्रिटिश प्रदेश के साथ मिली हुई है तथा द्वितीय, रियासत की सुरक्षा के लिए, शासक की व्यक्तिगत रक्षा के लिए तथा उसके उचित अधिकारों को लागू करने के लिए एक सहायक ब्रिटिश सेना को रखा जाता है।

"मेरे मित्र, मैं गलती की मदद करने के लिए ब्रिटिश सेनाओं की नियुक्ति के सम्बन्ध में स्वीकृति नहीं दे सकता। एक सरकार की ओर से किया गया कुशासन, जिसे

ब्रिटिश शक्ति स्थापित करती है उस उत्तरदायित्व में कुशासन ही है, तथा इसके लिए ब्रिटिश सरकार भी समान रूप से उत्तरदायी है। इसलिए ब्रिटिश सरकार का अधिकार ही नहीं अपितु परम कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इस बात को देखे कि ऐसी अवस्था में एक रियासत का प्रशासन सुधर जाता है तथा अनुचित कार्रवाइयाँ बन्द हो जाती हैं।

"ब्रिटिश सरकार की कभी भी यह इच्छा नहीं रही कि वह बड़ौदा के प्रशासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करे। न ऐसा करने की मेरी अब भी इच्छा है। इस रियासत की सरकार का तात्कालिक उत्तरदायित्व इस समय गायकवाड़ पर है तथा ऐसा ही जारी रहना चाहिए। उसे बड़ौदा का सर्वशक्तिसम्पन्न अधिकारी स्वीकार किया गया है तथा अपने सर्व-सम्पन्न अधिकारों का प्रयोग करने के लिए वह उत्तरदायी है। इस सम्बन्ध में उसे अपने कर्त्तव्यों तथा बन्धनों का, जो ब्रिटिश सरकार तथा अपनी प्रजा के प्रति हैं, ध्यान रखना चाहिए। यदि इन कर्त्तव्यों का पालन न किया गया, यदि इस प्रकार की अव्यवस्था तथा दुर्व्यस्था को छूट दी गई तथा यदि बड़ौदा राज्य की प्रजा के प्रति पर्याप्त न्याय न किया गया, यदि जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा न की गई, अथवा यदि देश तथा जनता के सामान्य कल्याण की निरन्तर उपेक्षा की गई, तो ब्रिटिश सरकार निश्चय ही इस सम्बन्ध में इस प्रकार हस्तक्षेप करेगी, जो उसके विचार में इन बुराइयों को दूर करने के लिए तथा एक अच्छी सरकार की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। ऐसा सामयिक हस्तक्षेप, निःसन्देह बुरी सरकार को रोकने के लिए, जिसका परिणाम राज्य का नाश भी हो सकता है, स्वयं गायकवाड़ के लिए प्रजा के प्रति कर्त्तव्य की अपेक्षा एक मित्रतापूर्ण कार्य है।"

आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि देश के प्रशासन में बहुत-सी बुराइयाँ थीं। भारत सरकार ने नरेश को चेतावनी दी कि वह १८ मास के भीतर कुछ सुधार लागू करे, नहीं तो उसे राजगद्दी से हटा दिया जाएगा। इस समय वायसराय को सूचना प्राप्त हुई कि उक्त नरेश ने रैजीडैण्ट को विष देने का प्रयत्न किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि शासक को गिरफ्तार किया गया तथा कार्य से अलग कर दिया गया। उसकी सुनवाई एक आयोग ने की, किन्तु कोई सर्वसम्मत निश्चय न हो सका। ऐसा होते हुए भी, भारत सरकार ने उसे गद्दी से उतार दिया। गायकवाड़ परिवार के किसी अन्य नवयुवक को गद्दी पर बिठाया गया।

मणिपुर के मामले में (१८९१), मणिपुर नरेश को एक विद्रोही के द्वारा अपनी रियासत के बाहर खदेड़ दिया गया। इस विद्रोह का नेता सेनापति नाम का उसका भाई था। युवराज रियासत से अनुपस्थित था, किन्तु वह शीघ्र ही लौट आया तथा उसने राज्य का उत्तरदायित्व संभाला। भारत सरकार मणिपुर नरेश को राज्य-कार्य संभलवाने को उद्यत न थी क्योंकि वह शासन के अनुपयुक्त प्रतीत होता था। भारत सरकार ने युवराज के उत्तराधिकार को स्वीकार कर लिया था किन्तु वह सेनापति को राज्य से हटाना चाहती थी। इस उद्देश्य के लिए आसाम का मुख्य आयुक्त मणिपुर गया किन्तु उसे पकड़ लिया गया तथा उसका सिर काट दिया गया। भारत सरकार यह सहन न कर सकी। राज्य में फौजें भेजी गईं। युवराज तथा सेनापति बन्दी बना लिये गए, उन पर हत्या तथा विद्रोह का मुकदमा चलाया गया तथा उन्हें फाँसी दी गई। भारत सरकार ने १८९१ में घोषणा की कि प्रत्येक उत्तराधिकार के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति प्राप्त

करना आवश्यक है तथा कोई भी उत्तराधिकार वैध नहीं जब तक कि उसकी स्वीकृति प्रदान न की गई हो। मणिपुर के मामले में निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चित किए गए—

(१) भारत सरकार को उत्तराधिकार के सम्बन्ध में निश्चय करने का तथा नरेश के विरुद्ध विद्रोह के मामले में हस्तक्षेप करने का निस्सन्दिग्ध अधिकार है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में लागू नहीं होंगे।

(३) सरकारी आज्ञाओं का विरोध करना विद्रोह समझा जायगा।

(४) सर्वोच्च शक्ति को अधिकार है कि वह उन व्यक्तियों को दण्डित कर सके, जो उसके प्रतिनिधियों की हत्या कर देते हैं जबकि वे उन पर सौंपे गए अधिकारों के अनुसार अपने कानूनी कर्त्तव्यों का पालन कर रहे हों।

शासकों के लिए उत्तराधिकार कर देना आवश्यक होगा। ब्रिटिश सरकार केवल विशेष कारणों से उन करों के देने से मुक्ति प्रदान कर सकती है। भारतीय रियासतों के लोगों को भारत से बाहर जाने के लिए भारत सरकार से अनुमति-पत्र के लिए प्रार्थना करनी होती थी। दोहरी आज्ञाकारिता के सम्बन्ध में सम्राट् के प्रति आज्ञाकारिता की भावना का अधिक महत्त्व था।

भारत सरकार का शस्त्रों तथा अन्य शस्त्र-सामग्री के लाइसेंसों के सम्बन्ध में पूर्ण नियन्त्रण था। पटियाला का मामला उनकी असहाय अवस्था को प्रकट करता है। १९२६ में पटियाला सरकार ने भारत सरकार से प्रार्थना की कि वह २५ पिस्तौलें देने के सम्बन्ध में अनुमति प्रदान करे। इसका उत्तर यह दिया गया कि रियासत के अधिकारियों को इस बात का स्पष्ट कारण देना चाहिए कि जब उनके पास पहले से ही ४८ पिस्तौल हैं, तब वे २५ और पिस्तौल क्यों चाहते हैं।

दीवानों, मुख्य मन्त्रियों तथा रियासत के अन्य अफसरों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भारत सरकार के राजनैतिक विभाग से स्वीकृति प्राप्त करनी आवश्यक थी।

ब्रिटिश सरकार अपने अधिकार का प्रयोग ऐसी अवस्था में करती थी, जब कोई नरेश कम आयु वाला हो अथवा किसी रियासत के शासक को अस्थायी रूप से रियासत के कार्य से अथवा रियासत से स्थायी रूप से अलग किया गया हो।

ब्रिटिश सरकार कम आयु वाले राजकुमारों पर उनकी शिक्षा आदि का नियन्त्रण करने के लिए अपने संरक्षण के अधिकार का पूर्ण प्रयोग करती थी। लार्ड कर्जन इस सम्बन्ध में हठी था कि यह भारत सरकार का कर्त्तव्य है कि वह इस विषय में अपने आपको सन्तुष्ट कर ले कि नवयुवक नरेश उस प्रकार की शिक्षा तथा प्रशिक्षण प्राप्त कर रहा है, जो उसे शासन करने के लिए योग्य बनाए, पूर्व इससे कि उसे रियासत पर शासन करने का अधिकार दिया जाए।

रियासत में किसी महत्वपूर्ण कानून के लिए भी यह आवश्यक था कि भारत सरकार से पहले इस सम्बन्ध में स्वीकृति प्राप्त कर ली जाए। रीजैन्सी की अवस्था में तो सर्वोच्च सत्ता को बहुत से अधिकार तथा रियासतें प्राप्त थीं। इस समय में बहुत-सी नई प्रथाएँ स्थापित की गई। रियासतों को इस अधिकार से वंचित रखा गया कि वे अपने सिक्के चला सकें। इस प्रकार की नीति बड़ौदा, मैसूर, ट्रावनकोर, अलवर तथा जयपुर

आदि के सम्बन्ध में अपनाई गई, किन्तु भारतीय नरेशों ने इस विषय में क्रोध प्रकट किया।

सर्वोच्च सत्ता को यह भी अधिकार था कि वह भारतीय रियासतों के प्रजाजनों से राज्य प्रशासन के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र ले सके। प्रायः सर्वोच्च सत्ता तभी हस्तक्षेप करती थी, जब कहीं भीषण स्थिति उपस्थित हो जाती थी।

शासकों को किसी विदेशी राज्य अथवा प्रजाजन से सीधे सम्बन्ध रखने की अनुमति नहीं थी। वे अपने प्रदेशों में उनके राजदूत प्रतिनिधियों का स्वागत भी नहीं कर सकते थे। रियासत के सभी विदेशी हितों को भारत सरकार के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता था।

जब से भारत सरकार का कार्य सम्राट् ने अपने हाथ में ले लिया था, तब से इस बात के प्रयत्न किए गए थे कि भारतीय नरेशों को अपने वश में किया जाए तथा उन्हें देश की सरकार के साथ सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया जाए। १८६१ में महाराजा पटियाला को भारतीय विधान परिषद् के एक सदस्य के रूप में मनोनीत किया गया। लार्ड लिटन ने सुझाव प्रस्तुत किया कि एक भारतीय प्रिवी कौंसिल स्थापित की जाए, जिसमें सरकार को सहायता देने के लिए बड़े भारतीय नरेश हों। लार्ड कर्जन ने "राज्य करने वाले रियासती नरेशों की एक परिषद्" बनाने का प्रस्ताव किया। लार्ड मिण्टो ने साम्राज्यवादी परामर्शदात्री परिषद् बनाने का सुझाव रखा। लार्ड हार्डिंग ने रियासतों में उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करने के लिए नरेशों का एक सम्मेलन बुलाया। माँटेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट में स्थायी "नरेश परिषद्" स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया था।

चैम्बर ऑफ प्रिंसेस (Chamber of Princes)—१९१९ के भारत सरकार के अधिनियम के स्वीकृत होने के शीघ्र ही बाद ब्रिटिश सरकार ने एक घोषणा चैम्बर ऑफ प्रिंसेस की स्थापना के सम्बन्ध में की। यह मण्डल १९२१ में स्थापित किया गया। इसमें कुल १२० सदस्य थे। उनमें से १२ सदस्य १२७ रियासतों का प्रतिनिधित्व करते थे। शेष १०८ अपने-अपने अधिकार के कारण सदस्य थे। ३२७ रियासतों को किसी प्रकार का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हो सका। कुछ महत्त्वशाली भारतीय इसमें सम्मिलित न हुए। सामान्य रूप से इसका अधिवेशन वर्ष में एक बार हुआ करता था तथा वायसराय उसका सभापतित्व करता था। चैम्बर अपने चांसलर का चुनाव करता था, जो वायसराय की अनुपस्थिति में सभाओं का सभापतित्व करता था। चांसलर चैम्बर की स्थायी समिति का प्रधान होता था। स्थायी समिति के अधिवेशन दिल्ली में वर्ष में दो अथवा तीन बार होते थे, जिनमें भारतीय रियासतों के आवश्यक प्रश्नों पर विचार-विनिमय किया जाता था। प्रतिवर्ष स्थायी समिति नरेन्द्र-मण्डल को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती थी। नरेश लोग जब कभी चैम्बर के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए जाते थे, तब वे परस्पर भी अनौपचारिक रूप से विचार-विनिमय के लिए सम्मेलन करते थे।

चैम्बर एक ऐसी संस्था थी जो जान-बूझकर, परामर्श देने तथा लेने के लिए बनाई गई। साइमन कमीशन ने इसके महत्त्व के सम्बन्ध में अपने विवरण में इस प्रकार कहा है—"चैम्बर ऑफ प्रिंसेस की स्थापना सम्राट् तथा रियासतों के सम्बन्ध के विस्तार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, क्योंकि इससे पूर्व नीति में निश्चित रूप से उल्लंघन होता है, जिसके अनुसार सम्राट् का यह उद्देश्य था कि वह भारतीय रियासतों की संगठित कार्-

वाई अथवा सम्मिलित विचार-विनिमय को निरुत्साहित करे तथा प्रत्येक रियासत को उसके पड़ौसियों से अलग इकाई के रूप में ग्रहण करे। वह सिद्धान्त, निस्सन्देह भारत की रियासतों के नरेशों को परस्पर सम्मेलन तथा सहयोग की भावना प्रदान करता रहा है, किन्तु यह दूसरी धारणा तब तक स्थायी रूप ग्रहण नहीं कर सकी जब तक चैम्बर की स्थापना नहीं हुई। मण्डल के द्वारा सम्राट् तथा राज्य के सम्बन्ध रखने वाले तथा ब्रिटिश भारत के साथ सम्पर्क के अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में विचारों के आदान-प्रदान का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ।"

बटलर कमेटी (Butler Committee)––१९२७ में भारत सरकार तथा भारतीय रियासतों के पारस्परिक सम्बन्धों की जाँच तथा आवश्यक सिफारिशें करने के लिए बटलर कमेटी नियुक्त की गई। बटलर कमेटी की सिफारिशें निम्नलिखित थीं—

(१) वायसराय ही सम्राट् की ओर से रियासतों के साथ कार्य-व्यवहार करने के लिए प्रतिनिधि हो, न कि कौंसिल-स्थित गवर्नर-जनरल।

(२) सम्राट् तथा राजाओं के सम्बन्धों को, ब्रिटिश भारत में नई सरकार को, जो विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी हो, राजाओं की सहमति के बिना हस्तांतरित न किया जाए।

(३) रियासतों की परिषद् बनाने के सम्बन्ध में योजना अस्वीकृत कर दी जाए।

(४) किसी रियासत के प्रशासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार वायसराय के निश्चय पर छोड़ दिया जाए।

(५) रियासतों तथा ब्रिटिश भारत में उत्पन्न होने वाले झगड़ों के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए विशेष समितियों की नियुक्ति की जाए।

(६) रियासतों तथा ब्रिटिश भारत के मध्य में आर्थिक सम्बन्धों की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की जाए।

(७) इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों से प्राप्त हुए, राजनैतिक अफसरों की नियुक्ति तथा प्रशिक्षण पृथक् होना चाहिए।

बटलर कमेटी की सिफारिशों के सम्बन्ध में प्रत्येक विचारधारा के भारतीयों ने आलोचना की। चिन्तामणि के मतानुसार, "बटलर कमेटी का प्रारम्भ बुरा हुआ, उसकी नियुक्ति का समय भी प्रतिकूल था, उसके विचारणीय विषय भी अनुकूल नहीं थे, उसके सदस्य भी बुरे थे तथा उसकी जाँच करने की पद्धति भी बुरी थी। इसकी रिपोर्ट भी तर्क तथा परिणामों की दृष्टि से बुरी थी।" सर एम० विश्वेश्वरैया के कथनानुसार, "बटलर समिति के विवरण में भारतीय रियासतों के निवासियों के भविष्य के सम्बन्ध में कोई इशारा नहीं है। उनके सुझाव असहानुभूतियुक्त, अनैतिहासिक तथा कठिनता से वैधानिक अथवा कानूनी हैं···उनके दृष्टिकोण में कोई नवीन विचारधारा नहीं। निश्चित रूप से उसमें प्रेरणा, विश्वास तथा आशाप्रद कुछ नहीं।"

बटलर समिति के लेखकों ने भारतीय रियासतों तथा ब्रिटिश ताज में सीधे सम्बन्ध के सिद्धान्त के विषय में घोषणा की। ऐसा समझा गया कि भारतीय रियासतों का सम्बन्ध भारत सरकार के साथ न होकर ब्रिटिश ताज के साथ है। यह सिद्धान्त इसलिए प्रस्तुत किया गया था, जिससे ब्रिटिश भारत तथा भारतीय रियासतों के मध्य में चीन की दीवार

खड़ी की जाए। वास्तव में सीधे सम्बन्ध का सिद्धान्त १९१७ से धीरे-धीरे बनाया जा रहा था; जब कि भारत को क्रमश: उत्तरदायी सरकार देने के सम्बन्ध में ऐतिहासिक घोषणा की गई। इसका प्रथम चिह्न भारतीय रियासतों के सम्बन्धों को प्रान्तीय सरकारों से केन्द्रीय सरकार को हस्तांतरित करते समय देखा गया। एक प्रेरणापूर्ण पत्र इन्दौर के महाराजा ने लिखा, "श्रीमान् नरेश के सन्धि-सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार के साथ हैं, जो भारत में श्रीमान् वायसराय के द्वारा सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में बने हुए हैं।" उत्तरदायी सरकार की स्थापना के साथ, ब्रिटिश भारत इन्दौर के सम्बन्ध में ऐसे सहयोगी राज्य की स्थिति को उसी प्रकार प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार ग्वालियर तथा हैदराबाद हैं, जो एक दूसरे से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं तथा इन दोनों में ब्रिटिश सरकार के माध्यम में परस्पर जोड़ने वाला सम्बन्ध भी है।" डा० ए० बी० कीथ तथा सर लज़ली स्कॉट न भी सीधे सम्बन्ध का समर्थन किया था। डा० कीथ के विचार में, "यह उल्लेख करना आवश्यक है कि भारतीय रियासतों के सम्बन्ध, चाहे वे किसी प्रकार भी व्यवहृत होते हैं, निश्चित रूप से ताज के साथ के सम्बन्ध हैं तथा भारत सरकार के साथ नहीं तथा यह तथ्य भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के सम्बन्ध में आवश्यक कठिनाई प्रस्तुत करता है। यह स्पष्ट है कि यह ताज के लिए सम्भव नहीं कि वह किसी सन्धि के आधीन भारतीय रियासतों की स्वीकृति के बिना भारत सरकार को उत्तरदायी सरकार के आधीन इसके अधिकार हस्तांतरित कर दे।"

सर लैज़ली स्कॉट एक प्रसिद्ध वकील था तथा उसे बटलर समिति के सम्मुख अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए नरेशों की स्थायी समिति ने नियुक्त किया था। "ला त्रैमासिक समीक्षा" में दिए गये अपने एक लेख में सर लैज़ली ने पाँच मुख्य बातों का निर्देश किया, जिनमें से कुछ को सत्य स्वीकार किया जा सकता है तथा शेष को प्रत्यक्ष रूप में छलपूर्ण, जिसके द्वारा भारत में ब्रिटिश सत्ता को सदा के लिए स्थापित रखा जा सके तथा रियासतों को संयुक्त संविधान से अलग रखा जा सके। उसके दो बड़े तर्क ये थे कि राजाओं तथा ताज में होने वाले समझौते अथवा सन्धियाँ दो सम बल वाले राज्यों में थीं न कि कम्पनी तथा ब्रिटिश भारत की सरकार में तथा राजाओं ने वे समझौते अथवा सन्धियाँ करते हुए ब्रिटिश ताज को आत्मविश्वास प्रदान किया था तथा ताज किसी अन्य तृतीय पक्ष को उन सन्धियों तथा समझौतों को हस्तांतरित अथवा प्रदान नहीं कर सकता था। ब्रिटिश सरकार ने, एक सर्वोच्च सत्ता के रूप में उन सब रियासतों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया था तथा भारत में रहने का वचन दिया था, चाहे जिस भी फौजी तथा समुद्री शक्ति की आवश्यकता उस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए अपेक्षित हो। ब्रिटिश सरकार उन सेनाओं को किसी अन्य सरकार को अथवा किसी विदेशी शक्ति को, जैसे फ्रांस अथवा जापान को अथवा ब्रिटिश भारत तक को भी नहीं सौंप सकती थी। भारतीय राजा इस धारणा से बहुत प्रसन्न थे, क्योंकि इससे उनकी भारत सरकार के नियन्त्रण से अपने आपको उस समय अलग करने की इच्छा को सहायता प्राप्त होती थी, जबकि उक्त सरकार भारतीयों के हाथों में आए।

१९३५ के भारत सरकार के अधिनियम के आधीन अखिल भारतीय फेडरेशन—लन्दन में १९३० में हुए प्रथम गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर भारतीय नरेशों ने एक

अखिल भारतीय फैडरेशन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जिसमें भारतीय प्रान्त तथा भारतीय रियासतों को मिला देने की व्यवस्था की गई थी। १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम के द्वारा इस प्रकार के संघ की व्यवस्था की गई। उक्त अधिनियम के आधीन भारतीय रियासतों को संघीय विधान-मण्डल में अपनी जनसंख्या तथा क्षेत्रफल के अनुपात से भी अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ जबकि ब्रिटिश भारतके लिए २५० स्थान दिए गये,भारतीय रियासतों को १२५ स्थान प्राप्त हुए। राज्य परिषद् में रियासतों को कुल २६० स्थानों में से १०४ सदस्य भेजने का अधिकार प्राप्त हुआ। जबकि प्रांतों के प्रतिनिधियों के निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी, रियासतों के प्रतिनिधियों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था हुई कि उन्हें अपनी-अपनी उन-उन रियासतों के शासक मनोनीत करेंगे। जबकि प्रान्तों का संघ में सम्मिलित होना आवश्यक तथा स्वयंसिद्ध था, भारतीय रियासतों को इस बात का विकल्प दिया गया कि वे संघ में सम्मिलित हों अथवा नहीं। जबकि संघीय सरकार का नियन्त्रण प्रान्तों पर एक जैसा होने की व्यवस्था की गई थी, भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में उक्त नियन्त्रण विभिन्न भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में उनके संघ में सम्मिलित होते समय तथा सम्राट् के द्वारा स्वीकृत होने पर विभिन्न शासकों के द्वारा की गई सन्धियों की शर्तों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होने की व्यवस्था थी। १९३५ के अधिनियम की संघीय योजना मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस दोनों ने अस्वीकार कर दी। ब्रिटिश सरकार ने भी उसे जबर्दस्ती लागू करने के लिए विशेष प्रयत्न नहीं किया। साथ ही संसार के द्वितीय महायुद्ध के १९३९ में आरम्भ हो जाने के कारण सम्पूर्ण योजना ही स्थगित कर दी गई। युद्ध की अवधि में भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं किया गया। तथापि समय-समय पर उन्हें आश्वासन दिए जाते रहे कि उनकी इच्छा के विरुद्ध कांग्रेस के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं किया जाएगा। १२ मई, १९४६ को मन्त्रिमण्डल के प्रतिनिधियों ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार किसी भी अवस्था अथवा परिस्थिति में किसी भारतीय सरकार को रियासतों की उच्च सत्ता हस्तांतरित नहीं करेगी। तथापि यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि जिस समय ब्रिटिश भारत में एक स्वशासन करने वाली सरकार अथवा सरकारें अस्तित्व में आई, उस समय ब्रिटिश सरकार के लिए रियासतों के साथ किए गये समझौतों को निभाना सम्भव नहीं होगा। उस अवस्था में वे सब अधिकार जो उच्च शक्ति को रियासतों की ओर से प्राप्त हैं, उन्हें वापिस कर दिए जायेंगे।

"राजनैतिक प्रबन्ध, जो रियासतों तथा ब्रिटिश ताज अथवा ब्रिटिश भारत के साथ है, इस प्रकार समाप्त कर दिया जाएगा। इस रिक्तता को भरने के लिए या तो रियासतें ब्रिटिश भारत की उत्तरदायी सरकार अथवा सरकारों के साथ संघीय सम्बन्ध स्थापित करेंगी अथवा उस अथवा उनके साथ विशिष्ट राजनैतिक प्रबन्धों में उन्हें प्रविष्ट होना होगा।"

कैबिनट मिशन की योजना में रियासतों की समस्या पर विस्तृत विचार नहीं था। संविधान सभा में रियायतों के प्रतिनिधियों की संख्या का, जिस अवस्था में रियासतों के प्रतिनिधि इसके कार्य में हिस्सा लेंगे, उसका, बाद में बनने वाले संघ में रियासतों की स्थिति का सवाल बाद में राजाओं और संविधान सभा तथा भारत के मुख्य राजनैतिक

दलों के बीच समझौते से तय होना था। संविधान सभा ने रियासतों से बातचीत करने के लिए जो समिति बनाई थी उसमें, और राजाओं की वार्ता समिति में रियासतों के प्रतिनिधि चुनने के तरीके पर, विभिन्न रियासतों में स्थानों के बँटवारे पर और संविधान सभा में उनके हिस्सा लेने के अन्य मामलों पर समझौता हो गया था। उस फैसले के अनुसार विभिन्न रियासतों के प्रतिनिधियों ने संविधान सभा में स्थान ग्रहण किये।

१९४७ के इण्डियन इण्डिपेंडेंस एक्ट में यह था कि भारतीय रियासतों पर ब्रिटिश ताजा का अधिराज्य (Suzerainty) समाप्त होता है और इसके साथ उस तारीख को लागू सब संधियाँ और समझौते भी समाप्त होते हैं। इस उपबन्ध के परिणामस्वरूप भारतीय रियासतें बिल्कुल आजाद हो गईं और भारत तथा पाकिस्तान की सरकारों को पिछली भारत सरकार के अधिकार उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं हुए। उस एक्ट में रियासतों की समस्या नये डोमीनियनों के हल करने के लिए छोड़ दी गई थी। पर एक्ट बनाने वालों ने यह नहीं सोचा था कि रियासतें स्वतन्त्र हो जायेंगी, और इस तरह भारत की एकता को खत्म करेंगी। इंग्लैंड के अटार्नी-जनरल सर हार्टले शाक्रास ने पार्लियामेन्ट में कहा था कि हम रियासतों को १५ अगस्त को अलग अन्तर्राष्ट्रीय सत्ताओं के रूप में स्वीकार नहीं करने वाले हैं। इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री श्री एटली ने कहा था कि—"हमारे सम्बन्धों में एक विशेष बात यह है कि रियासतों को सारे भारत से अलग कोई अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई है। इन संधियों और समझौतों के खत्म हो जाने पर रियासतें फिर अपनी आजादी हासिल कर लेंगी, पर वे भौगोलिक दृष्टि से भारत का हिस्सा हैं और उनके शासक तथा जनता अपने ब्रिटिश भारत में रहने वाले भारतीय भाइयों से कम देशभक्त नहीं हैं। मैं यह समझता हूँ कि यदि क्राउन के साथ उनके सम्बन्ध खत्म होने के कारण वे शेष भारत से अलग द्वीपों की तरह रह जायें तो यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी। उनके मौजूदा सम्बन्ध खत्म होने का यह परिणाम नहीं होना चाहिए। सच तो यह है कि पहले ही कुछ राज्यों ने नये डोमीनियनों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा प्रकट कर दी है और कुछ के प्रतिनिधि भारत की संविधान सभा में मौजूद हैं। ब्रिटिश सरकार को आशा है कि सभी रियासतें एक या दूसरे डोमीनियन के साथ ब्रिटिश कामनवेल्थ में अपना उचित स्थान प्राप्त करेंगी।"

काँग्रेस ने ३ जून की योजना के बाद रियासतों की समस्या को जिस तरह हल किया, उस पर विचार करने से पहले काँग्रेस की १९४७ से पहले की नीति पर विचार कर लेना वांछनीय है। १९३२ में काँग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया गया था—

"काँग्रेस रियासतों में भी वही राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक आजादी चाहती है जो वह बाकी भारत में चाहती है, और रियासतों को भारत का अखण्ड भाग समझती है। पूर्ण स्वराज्य, जो काँग्रेस का लक्ष्य है, रियासतों समेत सारे भारत के लिए है, क्योंकि स्वतन्त्र होने पर भी भारत की अखण्डता और एकता कायम रहनी चाहिए। इसलिए काँग्रेस रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन और नागरिक स्वतन्त्रता की गारण्टी चाहती है, और इस समय इनमें से बहुत-सी रियासतों में मौजूद पिछड़ी हुई अवस्थाओं और स्वतन्त्रता के अभाव पर दुःख प्रकट करती है।" इस नई नीति का परिणाम यह हुआ

कि रियासतों और प्रान्तों का स्वतन्त्रता आन्दोलन मिलकर एक हो गया।

१५ जून, १९४७ को काँग्रेस महासमिति ने रियासतों के प्रति अपनी नीति निर्धारित की। जो राजा संविधान सभा में शामिल नहीं हुए थे उन्हें उसमें शामिल होने और स्वतन्त्र भारत के वैधानिक ढाँचे के निर्माण में, जिसमें रियासतें फैडरेशन की अन्य इकाइयों के साथ बराबर की हिस्सेदार होंगी, सहयोग देने के लिए अपील की गई। काँग्रेस ने रियासतों से यह भी कहा कि वे उत्तरदायी शासन की दिशा में तेजी से आगे बढ़ें जिससे भारत में तेजी से बढ़ती हुई स्थिति से बहुत पीछे न रह जायें, और अपने प्रजाजनों में सन्तोष और आत्म-विश्वास पैदा कर सकें। काँग्रेस ने राजाओं का स्वाधीन होने का दावा अस्वीकार कर दिया। उसने कहा कि रियासतों की प्रजा के बारे में फैसले करते हुए प्रजा की आवाज ही मुख्य होनी चाहिए। काँग्रेस के प्रस्ताव में यह कहा गया था:

"काँग्रेस महासमिति भारत में किसी रियासत का अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने और शेष भारत से अलग-थलग रहने का अधिकार स्वीकार नहीं करती। यह भारतीय इतिहास की धारा और आज भारतीय जनता के उद्देश्यों से इनकार करना होगा।

"काँग्रेस महासमिति को विश्वास है कि रियासतों के राजा मौजूदा स्थिति को पूरी तरह समझेंगे और अपनी प्रजा के साथ पूरा सहयोग करते हुए लोकतन्त्रीय इकाइयों के रूप में भारतीय संघ में शामिल होंगे और इस तरह अपनी प्रजा का और सारे भारत का हित साधन करेंगे।

"काँग्रेस महासमिति ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिपादित रूप में सर्वोच्चता या पैरामाउन्टसी के विचार से सहमत नहीं है पर यदि उसे स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी उस सर्वोच्चता के खत्म हो जाने से पैदा होने वाले परिणाम बहुत सीमित हैं। रियासतों और भारत सरकार के बीच मौजूद विशेषाधिकार और दायित्वों पर सर्वोच्चता के खत्म होने से कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। अधिकारों और दायित्वों को अलग-अलग विचार करना होगा, और उन्हें परस्पर समझौते द्वारा परिवर्तित करना होगा। भारत सरकार और रियासतों के बीच मौजूदा सम्बन्ध सर्वोच्चता के खत्म होने से खत्म नहीं हो जायेगा। उसके खत्म होने से रियासतें आजाद नहीं हो जायेंगी। मई १२ के मेमोरेन्डम और मई १६, १९४६ के वक्तव्य की आधारभूत भावना की दृष्टि से तथा सारी दुनिया में माने जाने वाले जनता के अधिकारों की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि रियासतों की प्रजा की अपने विषय में किये जाने वाले फैसले में मुख्य आवाज होनी चाहिए। प्रभुसत्ता प्रजा में निवास करती है और यदि सर्वोच्चता के खत्म होने से क्राउन के साथ रियासतों के सम्बन्ध खत्म हो जाते हैं तो भी प्रजा के सहज (Inherent) अधिकारों पर उससे कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सकता।"

उस अवसर पर पण्डित नेहरू ने कहा था कि रियासतों की आजादी का दावा साबित नहीं किया जा सकता क्योंकि आजादी किसी रियासत की घोषणा मात्र पर निर्भर नहीं है बल्कि मूलतः अन्य राज्यों द्वारा उसे स्वीकार किए जाने पर निर्भर है। ब्रिटिश क्राउन की सर्वोच्चता खत्म होने से रियासतें स्वाधीन नहीं हो जातीं, भारत सरकार में एक सहज सर्वोच्चता निहित है जो खत्म नहीं हो सकती। भारत में प्रभावी सत्ता में वह सर्वोच्चता सहज रूप से मौजूद है जो भूगोल, इतिहास, प्रतिरक्षा आदि कारणों से कायम रहती है

ग्रौर इन्हीं कारणों से वह तब पैदा हुई थी जब ब्रिटिश लोग भारत में प्रभुसत्ता हो गये थे। श्री नेहरू ने कहा कि रियासतों के सामने सिर्फ दो रास्ते हैं—या तो वे इण्डियन यूनियन में शामिल हो जाएँ ग्रौर इसमें बराबरी के हिस्सेदार बन जाएँ ग्रथवा भारतीय संघ की सर्वोच्चता में रहें चूंकि वे शून्य में नहीं रह सकते। कोई तीसरा रास्ता ग्रर्थात् स्वाधीन होना या किसी विदेशी ताकत से सम्बन्ध रखना सम्भव नहीं है। श्री नेहरू ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीय संघ कोई सर्वोच्चता या ग्रधिराज्य नहीं चाहता पर वह रियासतों को किसी विदेशी शक्ति से समझौते करने देने को तैयार नहीं है। हम भारत में किसी रियासत में कोई ऐसी चीज़ नहीं होने देना चाहते जो रक्षा की दृष्टि से, विदेशी शक्तियों के साथ सम्पर्क की दृष्टि से भारत की सुरक्षा पर बुरा ग्रसर डाले। ग्रन्त में श्री नेहरू ने यह चेतावनी दी, "मैं यह कहना चाहता हूँ कि हम भारत में किसी रियासत की स्वाधीनता स्वीकार नहीं करेंगे ग्रौर किसी विदेशी शक्ति द्वारा इस तरह की ग्राज़ादी स्वीकार किया जाना ग्रमैत्रीपूर्ण कार्य माना जाएगा।"

रियासतों का भारत में प्रवेश—काँग्रेस भारतीय रियासतों की समस्या को सफलतापूर्वक हल कर सकी ग्रौर इसका श्रेय सरदार पटेल, लार्ड माउण्टबेटन ग्रौर श्री वी० पी० मेनन को है। सरदार पटेल के सुझाव पर रियासत मंत्रालय बनाया गया ग्रौर वे स्वयं उसके ग्रध्यक्ष हुए। एक प्रवेश लिखत (Instrument of Accession) तैयार की गई जो राजाग्रों को स्वीकार्य थी। उन्हें प्रतिरक्षा, विदेशी सम्बन्ध ग्रौर संचार साधन—ये तीन ही विषय भारतीय संघ को सौंपने थे ग्रौर मामलों में उनकी स्वायत्तता स्वीकार की गई। सरदार पटेल ने राजाग्रों को यह स्पष्ट कर दिया कि काँग्रेस रियासतों के भीतरी मामलों में किसी भी तरह दखल नहीं देना चाहती। ग्रापने भारतीय राजाग्रों की देशभक्ति से भी इन शब्दों में ग्रपील की—"भारत के इतिहास में हम एक महत्त्वपूर्ण जगह खड़े हैं। मिल-जुल कर हम इस देश को बहुत ऊँचा उठा सकते हैं ग्रौर ग्रलग-ग्रलग रहने से हमें नई मुसीबतों का खतरा रहेगा। मुझे ग्राशा है कि रियासतें यह ध्यान रखेंगी कि सामान्य हित की दृष्टि से सहयोग करने के ग्रलावा दूसरा रास्ता ग्रराजकता ग्रौर गड़बड़ी का है जो छोटे-बड़े सबको बरबाद कर देगा। ऐसा न हो कि भावी पीढ़ियाँ हमें यह कहकर गालियाँ दें कि हमें मौका मिला था पर उसे पारस्परिक लाभ के लिए प्रयोग में नहीं ला सके। इसके बजाय हम ग्रभिमानपूर्वक ग्रपने पीछे दोनों पक्षों के हितकारी सम्बन्ध छोड़ जाएँ जिससे यह पवित्र देश संसार के राष्ट्रों में ग्रपना ऊँचा स्थान प्राप्त कर सके ग्रौर यह शान्ति ग्रौर समृद्धि का घर बन सके।" २५ जुलाई, १९४७ को नरेन्द्र-मण्डल में भाषण करते हुए लार्ड माउण्टबेटन ने भी सरदार पटेल की ग्रपील दोहराई ग्रौर रियासतों को सलाह दी कि वे १५ ग्रगस्त, १९४७ से पहले किसी एक डोमीनियन में शामिल हो जाएँ। ग्रापने कहा कि ग्रंग्रेजी शासन में जो समन्वित प्रशासन (Coordinated Administration) पैदा हुग्रा है, यदि उसका स्थान न भरा गया तो उससे ग्रराजकता पदा होगी। ग्रौर उससे बड़ी हानि रियासतों को ही होगी, कोई भी रियासत ग्रकेली नहीं रह सकती। फैडरेशन को सौंपने के लिए जो विषय प्रस्तावित किए गए हैं, वे ऐसे विषय हैं जिन्हें कोई रियासत स्वयं नहीं सम्भाल सकती। रियासतों ने पहले ग्रपने विदेशी सम्बन्धों या ग्रपनी प्रतिरक्षा का काम नहीं सम्भाला ग्रौर भविष्य में भी इसे संभालने की स्थिति में वे नहीं

होंगी। संचार साधन सारे उप-महाद्वीप के प्राण-संचार कायम रखने के साधन हैं। ये तीनों विषय ऐसे हैं जो उनकी ओर से उनकी सुविधा और फायदे के लिए एक अधिक बड़े संगठन द्वारा संचालित किए जायेंगे। लार्ड माउण्टबेटन ने उन बातों पर भी बल दिया जिन पर रियासतों को किसी डोमीनियन में प्रवेश करते समय विचार करना चाहिए। "कुछ ऐसी भौगोलिक बाध्यताएँ हैं जिनसे बचकर नहीं चला जा सकता। रियासतों का बहुत बड़ा भाग भारत से जुड़ा हुआ है।" अन्त में आपने कहा, "मैं किसी रियासत से अपनी आन्तरिक स्वाधीनता का बलिदान करने के लिए नहीं कह रहा। मेरी योजना से आपको वह पूर्ण व्यावहारिक स्वाधीनता रहती है जिसका आप प्रयोग कर सकते हैं और उन सब विषयों से आप मुक्त हो जाते हैं जिनका आप खुद प्रबन्ध नहीं कर सकते। आप जैसे अपनी प्रजा से, जिसके कल्याण की आप पर जिम्मेवारी है, दूर नहीं हो सकते, उसी तरह डोमीनियन सरकार से भी, जो आपकी पड़ोसी है, दूर नहीं हो सकते।" इन सब प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि १५ अगस्त, १९४७ तक जूनागढ़, हैदराबाद और काश्मीर को छोड़कर १३६ सलामी वाली और पूर्ण क्षेत्राधिकार वाली रियासतें भारतीय संघ में शामिल हो गईं। १५ अगस्त को लार्ड माउण्टबेटन ने सरदार पटेल को यह श्रद्धांजलि अर्पित की "रियासत मंत्रालय के अध्यक्ष और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ सरदार वल्लभ भाई पटेल के प्रयत्नों से एक ऐसी योजना बनाई गई जो मुझे रियासतों तथा भारतीय डोमीनियन के लिए एकसी लाभदायक प्रतीत हुई। यह भारत सरकार की तरह रियासतों के राजाओं और सरकारों की यथार्थवाद और उत्तरदायित्व की भावना की बड़ी भारी विजय है कि एक ऐसी प्रवेश लिखत तैयार की जा सकी जिसे दोनों पक्ष स्वीकार करने को तैयार हुए और वह इतनी सरल और सीधी थी कि तीन सप्ताह से भी कम समय में लगभग सब सम्बन्धित रियासतों ने उसे स्वीकार कर लिया।"

जूनागढ़, काठियावाड़ में एक छोटी-सी रियासत थी। इसकी बहुसंख्यक आबादी हिन्दू थी पर शासक मुसलमान था। परिणाम यह हुआ कि सत्ता-हस्तांतरण से पिछले दिन मुस्लिम शासक ने पाकिस्तान में प्रवेश-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। रियासत की प्रजा ने शासक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, सब जगह उपद्रव फैल गये। हालत इतनी खराब हो गई कि शासक का जीवन संकट में पड़ गया, और वह पाकिस्तान भाग गया। मजबूर होकर राज्य के मुस्लिम दीवान ने ९ नवम्बर, १९४७ को भारत सरकार से प्रार्थना की कि वह कानून और व्यवस्था कायम करने के लिए बीच में पड़े। फरवरी १९४८ में राज्य में रैफरेण्डम हुआ और वह पूरी तरह भारत में प्रवेश के पक्ष में था। रियासत के प्रतिनिधियों ने अपने प्रदेश को काठियावाड़ के संयुक्त राज्य में विलीन करने का निश्चय किया और २० जनवरी, १९४९ को उसका विलय हो गया।

हैदराबाद सबसे बड़ा राज्य था। इसका क्षेत्रफल ८२,३१३ वर्गमील और आबादी १·८६ करोड़ थी। आबादी का ८९ प्रतिशत हिन्दू था और उसका शासक मुसलमान था। यह रियासत भारतीय संघ के बीचों-बीच थी और चारों ओर से उससे घिरी हुई थी। भारत सरकार ने हैदराबाद के निजाम से १५ अगस्त, १९४७ से पहले भारत डोमीनियन में शामिल होने को कहा पर निजाम रजाकारों और इत्तिहाद-उल-मुसलमीन के नियन्त्रण में था जिसका नेता कासिम रिज़वी था। परिणाम यह हुआ कि वह निमन्त्रण अस्वीकार कर

दिया गया। पर निजाम ने २९ नवम्बर, १९४७ को भारत सरकार के साथ यथापूर्व समझौता (Standstill Agreement) किया। लार्ड माउण्टबेटन ने हैदराबाद की समस्या का हल निकालने के लिए सब तरह के प्रयत्न किए पर उन्हें कामयाबी नहीं हुई। निजाम तर्कसंगत मार्ग पर चलने को तैयार नहीं था, पाकिस्तान की मदद से निजाम ने भारत सरकार से लड़ने के लिए सेना खड़ी करने की कोशिश की। परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार ने रियासत के खिलाफ पुलिस कार्रवाई करने का निश्चय किया। पुलिस कार्रवाई १३ सितम्बर, १९४८ को शुरू हुई और तीन दिन के भीतर निजाम ने हथियार डाल दिए। निजाम को गद्दी से हटाया गया पर कुछ समय के लिए रियासत में सैनिक प्रशासन कायम कर दिया गया। पहली नवम्बर, १९४८ को हैदराबाद भारतीय संघ में शामिल हो गया। बाद में वहाँ लोकतन्त्रीय सरकार बनाई गई जिसमें निजाम वैधानिक अध्यक्ष हुआ।

कश्मीर का क्षेत्रफल ८४,४७१ वर्गमील और आबादी ४४ लाख थी। तीन-चौथाई आबादी मुसलमान थी और शेष हिन्दू, सिख या बौद्ध थे। रियासत का राजा हिंदू था। महाराजा लार्ड माउण्टबेटन की सलाह के बावजूद १५ अगस्त, १९४७ से पहले किसी भी डोमीनियन में शामिल नहीं हुआ। लार्ड माउण्टबेटन ने महाराजा को यह सलाह दी थी कि वह रेफरेण्डम, मत संग्रह, चुनाव या यदि ये तरीके व्यवहार्य न हों तो प्रतिनिधि सार्वजनिक सभाओं के द्वारा अपनी प्रजा की इच्छा बिना जाने किसी डोमीनियन में शामिल न हो। उसे यह आश्वासन दिया गया कि वह पाकिस्तान में शामिल हुआ तो भारत सरकार इसे अमैत्री पूर्ण कार्य नहीं समझेगी। इसके वावजूद महाराजा हिचकिचाता रहा। वह भारत और पाकिस्तान दोनों के साथ यथापूर्व समझौते करना चाहता था। वास्तव में उसने सिर्फ पाकिस्तान के साथ यथापूर्व समझौता किया। इसके बावजूद, पाकिस्तान ने आवश्यक वस्तुओं को कश्मीर पहुँचने से रोक दिया और १५ अगस्त, १९४७ के तुरन्त बाद रियासत पर सीमान्त हमले संगठित किये। जव कबायली लोग, जिन्हें पाकिस्तान मदद दे रहा था, श्रीनगर पर कब्जा करने वाले थे, तब महाराजा ने भारत सरकार से सहायता माँगी और २६ अक्तूबर, १९४७ को प्रवेश लिखत पर हस्ताक्षर कर दिये। भारतीय सेना कश्मीर गई और उसने रियासत के अधिकतर हिस्से से आक्रान्ता को खदेड़ दिया। यह बात उल्लेखनीय है कि भारत सरकार ने कश्मीर के प्रवेश को अस्थायी रूप से स्वीकार किया था। भारत के गवर्नर-जनरल ने यह स्पष्ट कर दिया था कि "भारत सरकार की यह नीति है कि जिस रियासत में प्रवेश के सवाल पर विवाद रहा हो, उसमें प्रवेश के प्रश्न का फैसला रियासत की जनता की इच्छाओं के अनुसार ही हो और उसके अनुसार मेरी सरकार की यह इच्छा है कि कश्मीर में कानून और व्यवस्था स्थापित होने पर और उसकी भूमि से आक्रान्ता के हट जाने पर प्रवेश के प्रश्न पर फैसला जनता से पूछकर किया जाय।"

कश्मीर की समस्या अब भी वड़ी जटिल है और अब भी भारत तथा पाकिस्तान में उसपर झगड़ा चल रहा है। अब तक इस समस्या के हल करने के प्रयत्न बेकार हुए हैं। जम्मू-कश्मीर नेशनल कान्फ्रेंस और कश्मीर की संविधान सभा, इन दोनों ने अपना भारत में प्रवेश का फैसला घोषित किया है। राज्य में लोकतन्त्री सरकार स्थापित हो चुकी है

जिसमें युवराज कर्णसिंह वैधानिक अध्यक्ष है पर वह सदरे रियासत कहलाता है।

रियासतों का एकीकरण और लोकतन्त्रीकरण (Integration and Democratisation of States)—रियासतों का भारत में प्रवेश रियासतों की समस्या का आंशिक हल ही था। रियासतों की प्रजा बेचैन थी और प्रशासन में हिस्सा लेना चाहती थी। भारत सरकार भी उनकी आकांक्षाओं के प्रति अनुकूल रुख रखती थी। रियासतों के प्रशासन को आधुनिक बनाने की आवश्यकता थी। रियासतों के एकीकरण, लोकतन्त्रीकरण और आधुनिकीकरण का कार्य एक साथ किया गया। एकीकरण में छोटी-छोटी रियासतों का पड़ोसी प्रान्तों या राज्यों में विलय करना था या रियासतों के द्वारा उन्हें बड़ी राजनैतिक इकाइयों में गूँथना था। इस प्रकार कुछ बड़ी इकाइयाँ बनानी थीं। एकीकरण में सारे भारत के लिए एक ऐसा केन्द्र बनाना था जो अखिल भारतीय कार्रवाई वाले मामलों में प्रान्तों और रियासतों में एक ही तरह दक्षता-पूर्वक कार्य कर सके। रियासतों सम्बन्धी ह्वाइट पेपर के शब्दों में, "लक्ष्य यह था कि देश के सब तत्त्वों का एकीकरण करके स्वतन्त्र और लोकतन्त्री भारत बनाया जाय।"

(१) जहाँ तक बहुत छोटी रियासतों को पास की रियासतों या प्रान्तों में विलीन करने का प्रश्न था, सबसे पहले उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतों को विलीन किया गया। इन रियासतों की संख्या ३९ थी और आबादी ७० लाख और क्षेत्रफल ५६ हजार वर्गमील था। अलग-अलग ये रियासतें इतनी छोटी थीं कि उनमें आधुनिक प्रशासन-पद्धति सम्भव नहीं थी। उनके विलय के लिए सरदार पटेल ने १४ और १५ दिसम्बर, १९४७ को बात-चीत की। विलय समझौतों के अनुसार, इन रियासतों के राजाओं ने अपनी रियासतों के शासन की सारी शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार डोमीनियन सरकार को सौंप दिए और १ जनवरी, १९४८ को उनका प्रशासन सौंपना स्वीकार किया। १ जनवरी, १९४८ को ये रियासतें उड़ीसा और मध्यप्रांत का हिस्सा बन गईं। १६ दिसम्बर, १९४७ को सरदार पटेल ने कहा—"पर यह बात हर किसी को स्पष्ट होनी चाहिए कि लोकतन्त्र और लोकतन्त्री संस्थाएँ भी वहीं दक्षतापूर्वक कार्य कर सकती हैं जहाँ वे प्रदेश जिनमें वे व्यवहार में आ रही हैं, काफ़ी आजाद अस्तित्व रखते हों। जहाँ छोटा या अलग-अलग होने के कारण, किसी पड़ौसी आजाद प्रदेश के साथ, चाहे वह प्रान्त हो या बड़ी रियासत हो, दैनिक जीवन के प्रायः सभी आर्थिक मामलों में अटूट सम्बन्ध के कारण अपनी आर्थिक सम्भावनाओं को कार्य रूप देने के लिए आवश्यक साधनों की अपर्याप्तता के कारण, प्रजा के पिछड़ेपन के कारण और सारे प्रशासन का भार उठाने में असमर्थ होने के कारण कोई राज्य शासन को आधुनिक प्रणाली अपनाने में असमर्थ है, वहाँ स्पष्ट रूप से लोकतन्त्रीकरण और एकीकरण दोनों की आवश्यकता है।" हम उन भारतीय राजाओं की देशप्रेम की भावना को श्रद्धांजलि अर्पित किये बिना नहीं रह सकते जिन्होंने खुशी से और स्वेच्छया अपनी शक्तियाँ छोड़ दीं।

अगला विलय १७ दक्षिणी राज्यों का हुआ। उन्हें मार्च १९४८ में बम्बई में विलीन किया गया। कोल्हापुर को बाद में विलीन किया गया। इस प्रकार १०,८९० वर्गमील क्षेत्र और २७ लाख आबादी बम्बई प्रान्त में शामिल हो गई। जून १९४८ में २८९ गुजरात की रियासतें बम्बई प्रान्त में विलीन की गईं। इन रियासतों में १७,९८०

वर्गमील क्षेत्र और २७ लाख आबादी थी। मई १९४९ में बड़ौदा को बम्बई प्रान्त में विलीन किया गया। इसमें ८२३६ वर्गमील क्षेत्र और ३० लाख आबादी थी।

कुछ छोटी-छोटी रियासतें पंजाब में, बंगनपल्ली, पुडुकोट्टाई और सेन्डूर मद्रास में, कूचबिहार पश्चिमी बंगाल में, खासी हिल की रियासतें आसाम में और टिहरी-गढ़वाल, बनारस तथा रामपुर यू० पी० में १९४८ और १९४९ में विलीन की गईं।

प्राय: सब रियासतों के विलय समझौते एक ही थे। विलीन रियासतें जिन प्रान्तों में शामिल हुईं, उनका हिस्सा बन गईं। विलीन रियासतों की प्रजा को प्रान्तीय विधानमण्डलों में प्रतिनिधित्व दिया गया। भारत के अन्य प्रान्तों की तरह उन पर भी गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट १९३५ संशोधित रूप में लागू किया गया।

(२) रियासतों के एकीकरण का एक और रूप यह था कि उन्हें मिलाकर केन्द्र-शासित क्षेत्र बना दिया गया। हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश, कच्छ, बिलासपुर, भोपाल, त्रिपुरा और मनीपुर इस तरह के क्षेत्र थे। पूर्वी पंजाब की २१ रियासतों को, जिनमें १०,६०० वर्गमील क्षेत्र तथा १० लाख आबादी थी, मिलाकर हिमाचल प्रदेश संघ बनाया गया। इस संघ का उद्घाटन १५ अप्रैल, १९४८ को हुआ। विन्ध्य प्रदेश बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड की ३५ रियासतों को मिलाकर बनाया गया जिनका क्षेत्रफल २४,६०० वर्गमील और आबादी ३६ लाख थी। विन्ध्य प्रदेश को अप्रैल १९४८ में बनाया गया, जिसमें उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल बना, पर बाद में पहली जनवरी १९५० को इसका शासन भारत सरकार ने सम्भाल लिया। कच्छ जिसका क्षेत्रफल १०,२४९ वर्गमील था और आबादी ५ लाख थी, मई १९४८ में चीफ कमिश्नर का प्रान्त बना दिया गया। पंजाब में बिलासपुर रियासत को भारत सरकार ने १२ अक्तूबर, १९४८ को सम्भाल लिया। भोपाल राज्य भारत सरकार ने पहली जून, १९४९ को, तथा त्रिपुरा रियासत १५ अक्तूबर, १९४९ को अपने शासन में ले ली।

(३) रियासतों के एकीकरण का एक और रूप रियासती संघों का निर्माण था। ये संघ रियासतों में रहने वाले लोगों के भौगोलिक, भाषा-सम्बन्धी, सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों का उचित ध्यान रखते हुए बनाए गए। इनके शासक राजप्रमुख कहलाने लगे।

१५ फरवरी, १९४८ को सौराष्ट्र संघ बना। इस संघ में २२२ रियासतें थीं और इसका क्षेत्रफल २१,४५१ वर्गमील और इसकी आबादी ४१ लाख थी। इस संघ की मुख्य रियासतें नवा नगर और भावनगर थीं। संधि-पत्रों के अनुसार इन रियासतों ने अपने क्षेत्रों को मिलाकर एक करने और उनमें साझी कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका बनाने का निश्चय किया। राजाओं की एक परिषद् बनाई गई जो राजमण्डल कहलाती थी। वे राजा इस राजमण्डल के प्रधान और उप-प्रधान का चुनाव करते थे। प्रधान संघ का राजप्रमुख कहलाता था। सारी कार्यपालिका शक्ति राजप्रमुख में निहित की गई, पर उसे सहायता और सलाह देने के लिए मन्त्रि-परिषद् बनाई गई। दूसरे शब्दों में, वह वैधानिक प्रमुख की तरह कार्य करता था। सन्धि-पत्र में राजाओं की निजी थैलियाँ निश्चित कर दी गई थीं और उन्हें निजी सम्पत्ति, वैयक्तिक विशेषाधिकारों और उत्तराधिकार की गारण्टी दी गई थी।

१८ मार्च, १९४८ को अलवर, भरतपुर आदि को मिलाकर मत्स्य संघ का निर्माण किया गया। विन्ध्य प्रदेश ४ अप्रैल, १९४८ को बना। राजस्थान संघ १८ अप्रैल, १९४८ को वना। ग्वालियर, इन्दौर और मालवा को मिलाकर मध्यभारत संघ २८ मई, १९४८ को बना। इसका क्षेत्रफल ४६,७१० वर्गमील और आवादी ८० लाख थी। पटियाला और पूर्वी पंजाव रियासत संघ (पेप्सू) जिसमें पटियाला, नाभा, कपूरथला आदि सात बड़ी रियासतें थीं, २० अगस्त, १९४८ को वना। इसका क्षेत्रफल १०,०९९ वर्गमील और आवादी ३५ लाख थी। राजस्थान संघ तीन चरणों (Stages) में वना। पहला राजस्थान संघ जिसमें मेवाड़ और राजपूताना की नौ और छोटी रियासतें थीं, १८ अप्रैल, १९४८ को वना। अप्रैल १९४८ में जयपुर,जोधपुर, जैसलमेर और बीकानेर को शामिल करके संघ का पुनर्गठन किया गया। १५ मई, १९४९ को मत्स्य संघ राजस्थान में मिला दिया गया। ट्रावंनकोर-कोचीन संघ १ जुलाई, १९४९ को वना। इसका कुल क्षेत्रफल ९,१५५ वर्गमील और आवादी ९३ लाख थी।

इस प्रकार यह एकीकरण का काम पूरा हुआ और देश की जनता ने खुशी और प्रसन्नता अनुभव की।

राजाओं के शासन में रियासतों में निरंकुश सरकारें थीं। रियासतों के प्रशासन में जनता की कोई भी आवाज़ नहीं थी। राजा अपनी मनमानी करते थे। सरकारी आमदनी और राजाओं की अपनी आमदनी में कोई भेद नहीं किया जाता था। पर भारत के आजाद होने और राज्यों के एकीकरण के वाद ऐसी अवस्था नहीं रह सकती थी। रियासतों की जनता प्रशासन में हिस्सा माँगती थी और भारत सरकार की उनके साथ पूरी सहानुभूति थी। स्वभावतः जव रियासतों का प्रान्तों में विलय हुआ तब विलीन रियासतों के लोगों को उस प्रान्त की जनता के समान ही अधिकार प्राप्त हो गए। जब भारत सरकार ने केन्द्र-शासित प्रदेश वनाए तब इन रियासतों के लोगों को भी प्रशासन से सम्बन्धित किया गया। जव रियासतों के संघ बनाए गए तब उनमें पूरा उत्तरदायी शासन स्थापित किया गया। यह ठीक है कि केन्द्र-शासित प्रदेश के लोगों को अपने प्रशासन पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त नहीं है पर दूसरी रियासतों की प्रजा को उत्तरदायी शासन दिया गया। रियासतों में विधानमण्डल बनाए गए और मन्त्रिमण्डल उनके प्रति उत्तरदायी वनाए गए। राजप्रमुख रियासतों के वैधानिक अध्यक्ष हुए।

राज्य-पुनर्गठन-आयोग (The States Reorganisation Commission)– दीर्घकाल से भाषाओं के आधार पर भारत के प्रान्तों के पुनर्गठन की माँग थी। ऐसा समझा गया कि विद्यमान प्रान्तों को ब्रिटिश सरकार ने किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं बनाया अपितु उनकी स्थापना समय-समय पर आवश्यकतानुसार की गई। १९४२ में भाषावार-प्रान्त-समिति, जो दर समिति के नाम से प्रसिद्ध है, स्थापित की गई ताकि वह इस सम्बन्ध में विचार करे। इस समिति ने इस विचार का विरोध किया। इसका विचार यह था कि राष्ट्रीयता तथा उपराष्ट्रीयता दो भावना-प्रधान अनुभव हैं,जो एक दूसरे के आधार पर विकसित होते हैं। एक कमेटी, जिसमें जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल तथा डा० पट्टाभिसीतारमैय्या लिये गए, दर कमेटी के निश्चयों की परीक्षा करने के लिए बनाई गई। श्रीरामुलु के देहान्त के परिणामस्वरूप आन्ध्र में स्थिति अत्यन्त तनावपूर्ण हो गई तथा भारत सर-

कार ने न्यायाधीश वा[illegible] को इस सम्बन्ध में प्रतिवेदन देने के लिए नियुक्त किया। इन परिस्थितियों के आधीन आन्ध्र में प्रथम भाषाई प्रान्त स्थापित हुआ। इससे भाषाई प्रान्तों के समर्थकों को प्रेरणा मिली तथा अन्त में प्रधान मन्त्री नेहरू ने २२ दिसम्बर, १९५३ को संसद् में एक वक्तव्य दिया कि एक समिति नियुक्त की जायगी जिसका उद्देश्य भारतीय संघ के राज्यों के पुनर्गठन की समस्या पर "गम्भीरता-पूर्वक तथा बिना किसी पक्षपात" के विचार करना होगा, "जिससे कि प्रत्येक निर्वाचित इकाई तथा राष्ट्र की जनता के कल्याण की सामूहिक रूप से वृद्धि की जा सके।" आयोग की नियुक्ति भारत सरकार के गृह मन्त्रालय के एक प्रस्ताव के द्वारा की गई। श्री फजल अली आयोग के अध्यक्ष नियुक्त किए गए तथा उसके अन्य दो सदस्य थे, पं० हृदयनाथ कुंजरू तथा सरदार के० एम० पणिक्कर। "आयोग समस्या की अवस्थाओं, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विद्यमान अवस्था तथा अन्य सभी आवश्यक तथा सम्बन्धित तत्त्वों की जाँच-पड़ताल करेगा। वे किसी ऐसे प्रस्ताव पर विचार करेंगे, जो इस प्रकार के पुनर्गठन से सम्बन्धित हो। सरकार आशा करती है कि आयोग प्रथम बार विस्तार में नहीं जाएगा अपितु उन विस्तृत सिद्धांतों के आधार पर अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करेगा, जिनसे समस्या का समाधान हो सके…" पुनश्च, किसी क्षेत्र की भाषा तथा संस्कृति का असन्दिग्ध महत्त्व है, क्योंकि वे जीवन के आदर्श अथवा साँचे का प्रतिनिधित्व करती हैं। राज्यों के पुनर्गठन पर विचार करते समय कुछ और तत्त्व भी हैं, जिन्हें ध्यान में रखना होगा। इस सम्बन्ध में प्रथम आवश्यक विचार यह है कि भारत की एकता तथा सुरक्षा को स्थिर तथा दृढ़ रखा जाए। वित्तीय, आर्थिक तथा प्रशासनिक विचार भी लगभग उतने ही आवश्यक हैं, तथा उन पर केवल प्रत्येक राज्य के दृष्टिकोण से ध्यान न कर, सम्पूर्ण जाति के लिए ध्यान करना चाहिए। भारत को अपनी आर्थिक, साँस्कृतिक तथा नैतिक प्रगति के लिए एक महान् शान्तिपूर्ण योजना में प्रवृत्त होना है। एक ऐसी राष्ट्रीय योजना के सफलतापूर्ण आयोजन में हस्तक्षेप करने वाले परिवर्त्तन राष्ट्रीय हितों के लिए हानिकारक होंगे।"

आयोग ने ३० सितम्बर, १९५५ को अपना प्रतिवेदन भारत सरकार को प्रस्तुत कर दिया तथा इसे जनता के लिए १० अक्तूबर, १९५५ को समाचार-पत्रों में प्रकाशित कर दिया गया। आयोग की सिफारिशों के अनुसार भारत संघ में वर्त्तमान २७ तथा तीन केन्द्र-प्रशासित प्रदेशों के स्थान पर १६ राज्य होंगे। जो राज्य समाप्त हो जाएँगे, वे इस प्रकार हैं—ट्रावनकोर, कोचीन, मैसूर, कुर्ग, सौराष्ट्र, कच्छ, मध्यभारत, भूपाल, विन्ध्य-प्रदेश, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश, अजमेर तथा त्रिपुरा। कुछ अवस्थाओं में सम्पूर्ण राज्य तथा कुछ अन्य अवस्थाओं में कुछ राज्यों के अंश पड़ोसी राज्य अथवा राज्यों में मिला दिए जाएँगे। पेप्सू तथा हिमाचल प्रदेश पंजाब के भाग बन जाएँगे। आयोग ने नये सोलह राज्यों के नामों की इस प्रकार सिफारिश की—मद्रास, केरल, कर्नाटक, हैदराबाद, आन्ध्र, बम्बई, विदर्भ, मध्यप्रदेश, राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, आसाम, उड़ीसा तथा जम्मू व कश्मीर। दिल्ली, मणिपुर, अंडमान तथा निकोबार केन्द्र-प्रशासित प्रदेश रहेंगे। सभी 'ग' भाग के राज्य तोड़ दिए गए। 'क' तथा 'ख' भाग के राज्यों में भेद-भाव की भावना हटा दी गई।

आयोग ने राजप्रमुखों के पद को हटाने की सिफारिश की। भाषाई अल्पसंख्यकों

के लिए विशेष संरक्षणों की सिफारिश की गई। अल्पसंख्यकों को अधिकार दिया गया कि वे प्राथमिक विद्यालय स्तर तक अपनी मातृभाषा से शिक्षा ग्रहण कर सकें। राष्ट्रीय एकता तथा अच्छे प्रशासन के हित में आयोग ने कुछ अखिल भारतीय सेवाओं के पुनः संगठन की सिफारिश की। वे सेवाएँ ये हैं—इंजीनियरों की अखिल भारतीय सेवा, भारतीय वन सेवा, भारतीय मैडिकल तथा स्वास्थ्य सेवा। इसी दृष्टिकोण के कारण आयोग ने सिफारिश की कि अखिल भारतीय सेवाओं में प्रविष्ट होने वालों का ५०% उक्त राज्य से बाहर का हो तथा केन्द्र और राज्यों से नियमित तबादलों की व्यवस्था तथा प्रबन्ध होना चाहिए। हाई कोर्ट के न्यायाधीशों में से कम से कम एक-तिहाई राज्य के बाहिर से लिये जाने चाहिएँ जिससे प्रशासन में विश्वास की भावना बढ़े तथा ग्राम्य प्रवृत्तियों को रोकने में सहयोग प्राप्त किया जा सके। आयोग ने हिन्दी को छोड़कर अन्य भारतीय भाषाओं के लिए प्रोत्साहन की आवश्यकता पर बल दिया। इस बात की भी सिफारिश की गई कि निकट भविष्य में कुछ समय तक विश्वविद्यालयों तथा उच्च ज्ञान की संस्थाओं में हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं को सरकारी तथा शैक्षणिक उद्देश्यों के लिए ग्रहण किए जाने के पश्चात् भी अंग्रेजी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना जारी रखना चाहिए।

आयोग के अनुसार पंजाब की भाषागत विषमता तथा संचार-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पंजाबी-भाषा-भाषी प्रान्त के निर्माण का समर्थन नहीं करतीं। इस प्रकार के राज्य का निर्माण उक्त क्षेत्र के आर्थिक जीवन में विशृङ्खलता उत्पन्न कर सकता है। पंजाबी-भाषा-भाषी प्रान्त का दावा उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसमें प्रदेश के रहने वालों के सामान्य समर्थन का अभाव दृष्टिगोचर होता है तथा इससे विरोध के उन कारणों में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आएगी, जिनके कारण पृथक् पंजाबी-भाषा-भाषी प्रान्त की माँग पैदा हुई है। पंजाबी प्रान्त न ही भाषा समस्या को और न ही साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाएगा। दूसरी ओर इसके कारण विद्यमान भावनाएँ और भी उत्तेजित हो सकती हैं। पेप्सू तथा हिमाचल प्रदेश इतने छोटे हैं कि इस रूप में इनका जारी रहना उचित प्रतीत नहीं होता। एक ओर पेप्सू तथा हिमाचल प्रदेश के पारस्परिक आर्थिक तथा प्रशासनिक सम्बन्धों का ध्यान रखते हुए तथा दूसरी ओर वर्तमान पंजाब का ध्यान रखते हुए, पंजाब में इन दो राज्यों का विलय युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

अपनी पूछताछ में आयोग ने १५२,२५० स्मृति-पत्र, प्रार्थना-पत्र तथा पत्र प्राप्त किए। अयोग ने ३८,००० मील यात्रा की तथा इसने ९,००० से अधिक लोगों से भेंट की, जिसका उद्देश्य यह प्रयत्न करना था कि जनमत का पूर्ण विश्लेषण कर लिया जाए। आयोग का प्रतिवेदन २६७ मुद्रित पृष्ठों में है। इसमें दो ऐसी टिप्पणियाँ भी सम्मिलित हैं, जो मतभेद प्रकट करती हैं। ये दोनों टिप्पणियाँ आयोग के अध्यक्ष श्री फजल अली तथा सरदार के० एम० पणिक्कर की हैं। प्रथम टिप्पणी में नये पंजाब में हिमाचल प्रदेश को मिलाए जाने का विरोध किया गया है तथा दूसरी टिप्पणी में उत्तर प्रदेश को अविभाज्य रूप में स्थिर रखे जाने का विरोध किया गया है।

कमीशन की सिफारिशों के खिलाफ बहुत आन्दोलन हुआ। स्वार्थी लोगों ने देश में अराजकता पैदा करने की कोशिश की। महाराष्ट्र वालों ने बम्बई शहर के सवाल पर बहुत

शोर मचाया। काँग्रेस हाई कमांड ने कहा, यदि सब सम्बन्धित पक्ष सहमत हों तो हम कमीशन की सिफारिशों में परिवर्त्तन करने को तैयार हैं। लम्बी बात-चीत चली और कमीशन की सिफारिशों में बहुत से परिवर्त्तन किए गए। पर बम्बई शहर की समस्या हल न हुई। जब राज्य पुनर्गठन बिल पार्लियामेन्ट में भेजा गया तब भी महाराष्ट्र के लोग असन्तुष्ट थे पर जब बिल पर लोकसभा में विचार हो रहा था तब वह निश्चय किया गया कि बम्बई को द्विभाषी राज्य बनाया जाए, जिसमें महाराष्ट्र और सौराष्ट्र का सारा क्षेत्र आ जाए। यह बिल लोक सभा और राज्य सभा दोनों में पास हो गया और ३१ अगस्त, १९५६ को इसे राष्ट्रपति की अनुमति मिल गई।

राज्य पुनर्गठन अधिनियम, १९५६, ने १४ राज्यों और ६ संघीय क्षेत्रों (Union Territories) की स्थापना की। 'क', 'ख', 'ग', तथा 'घ' भाग के राज्यों में भेदभाव की भावना को हटा दिया गया। डीलिमिटेशन आयोग (Delimitation Commission) की नियुक्ति के लिए व्यवस्था की गई। क्षेत्रीय परिषद अधिनियम, १९५६ ने क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना की है।

Questions for Revision

1. Review the changes in the politics of the British Indian Government towards the native states from Warren Hastings to Lord Curzon.

2. Summarize the policy of the British Indian Government towards the Indian States upto 1919.

3. "To pursue schemes of conquest and extension of territory in India are measures repugnant to the wish, the honour and the policy of this nation." (Pitt's India Act, 1784). How far and with what results was the East India Company's Government able to live upto this formula ?

4. Trace the various stages in the history of the relations of the Indian States with the Government of India.

5. "Though the Company had never claimed the Princes' allegiance, the Crown did." Illustrate this change.

6. Describe the change in the relationship between the Indian States and the Crown from 1858 to 1919.

7. Trace the history of relationship between the Paramount Power and the Indian States between 1858 and 1919.

8. Analyse the position of the Indian States between 1937 and 1946 and account for the same.

9. Explain the basis and development of the principles of paramountcy in the relations of the Government of India with the princes since 1858.

10. What is meant by "Paramountcy of the Crown" ? Discuss the problems created by the lapse of Paramountcy. How have these problems been solved since August 1947 ?

11. Trace the emergence of Paramountcy as the State policy of the British towards the Indian States.

12. Examine the statement : "Paramountcy is paramount."

13. "The native chief has become by our policy an integral factor in the imperial organisation of India. I claim him as a colleague and partner." (Lord Curzon in 1899). Trace carefully the idea of partnership between the British Government in India and the Indian States in the period after 1858.

14. Critically examine the theory of "Personal contact" between the Indian princes and the Crown as depicting the relations between the two.

15. Discuss the composition, powers and significance of the Chamber of Princes.

16. Compare the policy of the national Government of India under the leadership of Sarder Patel towards the Indian States with that of the British Government from 1914 to 1947.

17. Discuss the various ways by which the Indian States have been brought into a more organic relationship with the rest of the country.

18. "The policy of the Government of India towards Indian States has been governed by the objective which they, as the first popular government of the country set before themselves, namely, the integration of all elements in a free, united and democratic India." Discuss.

19. Explain the history of the Government of India towards the Indian states after the achievement of independence and discuss its results.

20. Discuss the case for and against the creation of states on linguistic basis in India.